वर्ष १०

अंक १

क्रमांक १०९

पौष संवत् १९८५

जनवरी सन १९२९

वैदिक धर्म.

वैदिक तत्त्वज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।

संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।

स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

ज्येष्ठ ब्रह्म।

यो भूतं च भव्यं च सर्वं [illegible]ाधितिष्ठाति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै [illegible]ाय ब्रह्मणे नमः॥

अथर्व. १०।८।१

"(यः) जो (भूतं भव्यं च) भूतकालीन और भविष्य कालीन (सर्वं) सब जगत् का (अधितिष्ठति) अधिष्ठाता है और (यस्य) जिसकी (स्वः) अपनी सत्ताही (केवलं) केवल सदा रहती है (तस्मै) उस ज्येष्ठ ब्रह्मके लिये नमस्कार है।"

परब्रह्म संपूर्ण जगत् का केवल एक मात्र ईश है और वह ही सर्वोपरि सदा रहता है, उसके ऊपर कोई अन्य नहीं है। इस परब्रह्मको-इसी श्रेष्ठ ब्रह्मको ही नमस्कार करना योग्य है। सबके लिये यही एक परम उपास्य देव है।

अवरे
रही है

स्वाध्याय मंडल ।

प्लेग ।

औंधमें इस वर्ष इन दिनोंमें प्लेग का उद्भव हुआ है । लोग ग्राम छोडकर बाहर जाने लगे हैं और बडी चिन्तामें पडे हैं । इसका परिणाम स्वाध्याय मंडल और भारत मुद्रणालयके कार्य पर बहुत हुआ है । कर्मचारियों की उपस्थिति पहिले जहां४० तक रहती थी वहां इस समय बीस सेभी कम होगई है। इस कारण मुद्रण और प्रकाशनमें बडा विघ्न हुआ है । अंक छापनेमें और भेजनेमें देरी हो रही है, आशा है कि इसके लिए पाठक क्षमा करेंगे ।

महाभारत ।

महाभारत कर्ण पर्व (अंक ६५ से ७०) तैयार है और इसी मासमें ग्राहकोंके पास भेजा जायगा । डाकवालोंनें खुला पैकिंग करनेका नियम किया था, इस नियमके विरुद्ध लिखा पढी चल रही है । इस कारण किसीके पास अंक नहीं भेजे गये थे । खुला पैकिंग करने से अंक खराब होंगे और बंद पैकिंग करनेसे डाकव्यय तीन गुणा लगेगा । इस प्रकार दोनों तर्फ हानी है । किसीकी हानि न हो इसलिये लिखा पढी कर रहे हैं अभी उचित उत्तर आया नहीं है । उनका उचित उत्तर न भी आया तो इस मासमें ग्राहकोंके पास अंक अवश्य भेजे जांयगे । हमारा डा. व्य. का तीन गुणा नुकसान हुआ तो भी हम अच्छी प्रकार पैकींग करके ही ग्राहकों के पास अंक भेज देंगे ।

वेदकी पढाई ।

वेदकी पढाई के लिये स्वाध्याय मंडलमें प्रतिवर्ष एक दो विद्यार्थी लेनेका निश्चय हुआ है । अनुभव के लिये इस वर्ष एकही विद्यार्थी लेनेका संकल्प किया है । जो वेद अर्थज्ञान पूर्वक पढनेके इच्छुक हैं वे इस अवसरसे लाभ उठावें। जो संस्कृत पढे हुए हैं, अर्थात् जिनको संस्कृत व्याकरणका बोध अच्छी प्रकार है और जिनका हस्ताक्षर उत्तम सुपाठ्य है वेही इस विषयमें पत्र व्यवहार करें । जो संस्कृत नहीं जानते और जिनका हस्ताक्षर ठीक नहीं है उनको नहीं लिया जायगा ।

सुलेख हस्ताक्षर वाले ही चाहिये इसका कारण यह है कि वेदके संशोधनसे जो मुद्रणार्थ प्रतिलिपी बनायी जाती है वह दुर्बोध अक्षरोंसे लिखी जाय तो कुच्छ लाभकारी नहीं होती । इस लिये सुलेखक हो लिये जायगे ।

जो आना चाहते हैं वे अपनी संस्कृतकी योग्यता और अपने हस्ताक्षरके साथ पत्र व्यवहार करें । यहांसे आनेके विषयमें आज्ञा लेकर ही अपने स्था'से चलें । हमारी आज्ञा लेनेके विनाही जो यहां [illegible]वेंगे उनका प्रबंध करनेके हम जिम्मे वार नहीं [illegible]

[illegible]नवाले विद्यार्थी वेदके विषयमें श्रद्धा रखने वाले हों, उनको स्वाध्याय मंडल का संशोधन का कार्य करना होगा और प्रतिदिन नियत समय पढाई होगी ।

प्लेग का भय दूर होनेके पश्चात् ही विद्यार्थी लिये जांयगे, उससे पूर्व नहीं । वेद पढाईका पांच वर्षका अध्ययन क्रम होगा । और जो विद्यार्थी स्वाध्याय मंडलके व्यय से रहेंगे उनको पांच वर्ष यहां रहना होगा । इस समयमें वेदकी चार संहिताओंके चुने हुए सूक्तोंकी पढाई होगी तथा आगे स्वाध्याय करनेका मार्ग अच्छी प्रकार बताया जायगा । जो विद्यार्थी अप[illegible] धर्म ग्रंथके संशोधना[illegible]र्थ अपना जीवन देनेके इच्[illegible] [illegible] वेही इस [illegible] पत्रव्यवहार करें ।

प्रबंध कर्ता—
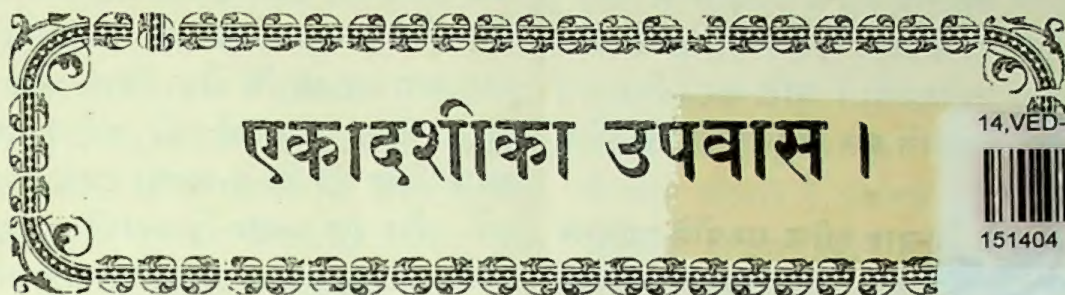
एकादशीका उपवास।

एकादशी के दिन सारे भारतमें सनातनी हिन्दु उपवास करते हैं। इस उपवासकी प्राचीन प्रथाको वे बडे आदर की दृष्टिसे देखते हैं। परन्तु आधुनिक शिक्षाके प्रभावके बहावमें बहते हुए लोक इसको एक प्रकारका अज्ञानी लोकोंका ढकोसला मानते हैं। वे प्रायः कहते हुए सुने जाते हैं कि "उपवास क्यों करना चाहिए, यह एकमात्र अंध विश्वास के परिणामके सिवाय और कुछ नहीं है। अज्ञानी बेसमझ लोकोंने यह ढोंग रच रखा है। क्या कभी उपवाससे भी ईश्वर मिलता है? और यदि मिलता है, तो फिर हमें कुछ करनेकी जरुरत ही नहीं। हमने भौतिक शास्त्रों द्वार संसारके कण कणका पता लगा लिया है। ऐसी ऐसी उपवासोंकी झूठीमूठी कल्पनाओंके आदरके लिए हमारे पास फुरसत नहीं है" इत्यादि इत्यादि।

परन्तु यदि ये नवशिक्षित लोक आरोग्य, बल, दीर्घायु और सहनशीलता आदिमें उन भोले भाले अज्ञानी लोकोंसे अधिक बढे चढे होते, तो तो उनके मुखसे यह निन्दा शोभा देती और यह कुछ अर्थ भी रखती। पर यदि गौरसे देखा जाए तो ये उपवास करनेवाले लोक जितने मजबूत और नीरोगी हैं, उसका सौ वां भाग भी उपवासकी निन्दा करनेवाले नवशिक्षित लोक नहीं दिखाई देते। इतनाही नहीं बलिक वे उपवास करनेवाले पुराने लोक दीर्घायु होते हुए नवशिक्षितोंकी तरह अकाल हीमें मृत्युका शिकार भी नहीं बन रहे, ऐसा भी हम प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं!! यह अनुभव हमें बतलाता है कि अवश्यमेव नव शिक्षितों की कहींपर भूल हो रही है।

रोग-निवारक।

जिन अनेक बातों की निन्दा नवशिक्षितों के मुख से सुनाई दे रही है उनमेंसे एक उपवास और खास करके एकादशी का उपवास भी है। आजकल युरोप अमेरिका आदिके डाक्टरोंका ध्यान इस उपवास की ओर खिंच रहा है। और इतनाही नहीं उनके मत इसके सर्वथा अनुकूल हो रहे हैं। यह एक बडे भारी हर्ष का चिन्ह है। वे कहते हैं कि उपवास एक बडा भारी रोगप्रतिबन्धक है। उनके मतकी प्रतिध्वनि आजकल भारतमें भी गूंज रही है। और इसलिए उपवास के विषयमें यदि कुछ लिखा जाए तो उसे लोक शायद पढें भी। आजसे १०-१५ वर्ष पूर्व उपवास एक हंसीका विषय बना हुआ था। वह बिकट स्थिति अब दूर होगई है।

युरोप और अमेरिकाके लगन से खोज करने वाले डाक्टरों की लगातार खोजने यह बात बिलकुल सिद्ध कर दी है कि उपवास रोग का निवारक आरोग्य वर्धक और मज्जा तन्तुओंमें चैतन्य उत्पन्न करनेवाला है।

उपवास (Fasting) पर अंग्रेजीमें आजकल बहुत सी पुस्तकें निकली हैं। और अंग्रेजी जानने वालों के पढनेमें वे आई भी होंगी। उनमें इतनी बात युरोप और अमेरिकन डॉक्टरोंने सिद्ध कर दी है। अतः उपवास में उपरोक्त गुण हैं ऐसा मानकर चलनेमें किसी प्रकारकी विप्रतिपत्ति प्रतीत नहीं होती।

महात्मा गान्धी इस उपवासके बहुत बडे भक्त हैं। उन्होंने आजकल बहुत उपवास किए हैं, और उनका

इस विषयमें ऐसा अनुभव है कि उपवास से शरीर निर्मल तथा रोगमुक्त हो जाता है। भविष्यमें रोग होने की संभावना नहीं रहती। बुद्धि तर (Fresh) हो जाती है। उन्होंने अपने इस अनुभवको स्वचरित्र में उद्धृत किया है।

इस प्रकार अनेक विचार शील पुरुषोंने उपवास से होने वाले लाभ लिखे हैं। अतः उपवास करना आरोग्य की दृष्टि से बहुत लाभप्रद है यह निर्विवाद सिद्ध है। यदि आधुनिक शिक्षित वर्गको परमेश्वर की भक्ति के लिए उपवास न करना हो तो वे बेशक न करें, पर आरोग्य की भी उन्हें जरूरत नहीं है, ऐसा कोई भी मानने को तैयार न होगा। अतः आरोग्य की दृष्टि से उपवास की महत्ता वे अवश्य ही स्वीकारेंगे।

प्रचलित उपवास के प्रकार और उनकी उत्पत्ति।

इस बातके सिद्ध हो जाने पर कि उपवास आरोग्य प्रद है; यह बात स्वयं सिद्ध हो जाती है कि आरोग्य की इच्छा वाले को उपवास जरूर करना चाहिए। परन्तु अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उपवास कब करना चाहिए ?

आजकलकी प्रचलित प्रणाली का यदि अवलो-कन किया जाय तो हमें मालूम पडेगा कि उपवास तिथियों और वारोंमें बटे हुए हैं। वारों के उपवास प्रायः प्रत्येक वारके पीछे लगे हुए हैं। यदि यह कहा जाय कि वारोंके सब उपवास करने चाहिए तो सप्ताह में कोई एक दिनभी ऐसा नहीं होगा जिस दिन उपवास न करके भोजन किया जा सके। परन्तु तिथि सम्बन्धी उपवासों के विषयमें यह बात नहीं है क्योंकि तिथियोंमें उपवासकी तिथियां केवल चतुर्थी, एकादशी और शिवरात्री ये तीन ही हैं। अतः प्रत्येक पक्षके शेष बारह दिन भोजन किया जा सकता है। वारों के और तिथियोंके उपवासमें उक्त भेद यहां ध्यान में रखना चाहिए।

विष्णु-भक्ति

प्राचनी पुस्तकोंमें एकादशी के महात्म्यका वर्णन उपलब्ध होता है। इस दिनके उपवाससे विष्णु प्रसन्न होता है ऐसा वैष्णव ग्रन्थोंमें लिखा हुआ है। शैव और वैष्णव, ऐसा भेद प्रबल हो जाने पर यह बात असंभव थी कि शैव, विष्णु की प्रीतिके लिए करने योग्य उपवासों को करें। अतः यह बात स्वाभाविक थी कि वे अपना स्वतंत्र उपवास शुरू करें, और इस प्रकार शिवरात्री का एक और नया उपवास शुरू हुआ। गणपतिके अनुयायियोंने चतुर्थी का उपवास शुरू किया। यह सब होते हुए भी अबतक उपवास का मूलतत्व लोकों के स्मृति पथसे दूर नहीं हुआ था। शैव और गाणपत्योंके अपने अपने उपवास की तिथियों के बदल लेने परभी एकादशी के उपवासमें किसी प्रकारकी भी बाधा उपस्थित नहीं हो सकी थी। अत एव इन सबके लिए चाहे कोई बहाना हो अथवा न हो, एकादशी का उपवास एक आवश्यकता होगया है। शैव और वैष्णव एकादशीके उपवास को अवश्य करते हैं, चाहे अन्य उपवासों को करें या न करें। इस प्रकार हम देखते हैं कि एकादशीके उपवासमें अवश्य कोई महत्व है जिसको अवश्य मालूम करना चाहिए।

तिथि और वार के उपवास।

प्राचीन ग्रन्थोंमें जितना तिथियों के उपवासों का, और उनमें भी खास करके एकादशीके उपवासके महत्वका वर्णन पाया जाता है, उतना वारोंके विषय में नहीं मिलता। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि वारोंके उपवास तिथियोंके उपवास के पीछे निकले हैं।

एकादशीके उपवास को रखने वाले के लिए एकादशी का ज्ञान आवश्यक है। इसी प्रकार चतुर्थी, प्रदोष और शिवरात्री किस दिन आती हैं यह भी जानना जरूरी है। इनका ज्ञान रखनेके दोही मार्ग हो सकते हैं। एक तो यह कि स्वयं पंचाङ्ग देखले, और दूसरा यह कि ब्राह्मणसे जाकर पूछ ले। तिथी सम्बन्धी उपवासों को ठीक समय पर करनेके लिए तिथि ज्ञान परमावश्यक है। आजकल तो नवीन शिक्षा के प्रभाव के कारण सुशिक्षित जनभी तिथि ज्ञानसे वञ्चित होते हैं। तिथिज्ञान की कठिनाईके

दूर करनेके लिए वारोंका उपवास शुरु हुआ था और उपास्य भिन्न भिन्न होने से ही प्रत्येक वारके उपवास होने लगे। शंकरका सोमवार, देवी का मंगलवार, विठोबाका बुधवार,दत्तात्रय का गुरुवार, लक्ष्मी का शुक्रवार, शनिका शनिवार और सूर्यका रविवार; इस प्रकार उन उन देवताओं के अनुयायियोंने अपने देवता के वारों पर उपवास करने शुरू कर दिए, और एवं वारों के उपवास की पद्धति प्रारंभ हुई। जबतक एक देव का भक्त दूसरे देवके वारमें उपवास नहीं करता रहा, तबतक लोकोंको सप्ताह में एक ही उपवास करना पडताथा। ऐसी दशामें एकादशीका उपवास न भी किया जाय तोभी लोकोंके आरोग्य में किसी प्रकार की क्षति पहोंचने की संभावना नहीं हो सकतीथी। परन्तु जब भिन्न भिन्न देवोंके उपासकोंमें अपनेअपने देव विषयक स्पर्धा दूर होगई और सब देव समान पूजाभाव की दृष्टिसे देखे जाने लगे,तो भक्तोंने प्रायः सभी देवोंके वारोंमें उपवास करने शुरु कर दिए। इसका फल यह हुवा कि सप्ताहमें भोजन करने के दिनोंकी अपेक्षा उपवासके दिनोंकी संख्या बढ गई!! और इस प्रकार शरीरको आवश्यक खोराकभी मिलनी बन्द हुई और लोकोंमें अशक्ति बढने लगी।

उपरोक्त कारणसे तिथियोंके उपवास कम होगए और वारोंके उपवास बढगए। तिथियोंके उपवासका उद्देश्य लोकोंने वारोंके उपवास के झगडे में पडकर भुला दिया और " उपवास से ईश्वर साक्षात्कार होता है " इस बातने लोकोंके दिमागमें घर बना लिया। यही कारण है जिसने कि आजकल उपवासमें लोकों की अश्रद्धा पैदा कर दी है।

पुराने ढर्रे के लोग जो कोई धार्मिक बात करते हैं उसका उन्हें मूल तत्त्व मालूम नहीं होता। वे श्रद्धा वश उसे करते जाते हैं। इसी लिए आजतक भी उपवास तो जारी हैं पर उसके तत्त्व विवेचनका कोई कष्ट नहीं उठाता।

अबतक के विवेचनसे पाठक समझ गए होंगे कि तिथियोंके उपवास वारोंसे पुराने हैं और सर्वमान्य उपवास सिर्फ एकादशीका ही है। इसे सश्रद्ध लोक आजभी करते हैं। तिथिके अन्य दो ऐच्छिक उपवास भी हैं, पर वे सबके लिए आवश्यक नहीं हैं। वारों के उपवास आधुनिक हैं इतना ही नहीं अपितु उनमें एकभी ऐसा नहीं जोकि तिथियों के उपासके बराबर तत्त्व रखता हो। अब यह विचारना है कि वे तत्त्व कोनसे हैं, जिनके कि कारण तिथियों के उपवास अपना विशेष महत्व रखते हैं जो कि वारों के उपवास को प्राप्त नहीं हो सकते।

चन्द्रका सम्बन्ध।

चन्द्रकी कलाओंकी वृद्धि और क्षय वानस्पतिक जगत् और प्राणी जगत् के अंगरस की सत्व वृद्धि और सत्वक्षय से सम्बन्ध रखते हैं। यह बात वेदादि शास्त्रोंमें तो कही ही है, पर वर्तमान समयमें युरोप और अमेरीकाके शास्त्रज्ञ भी इस बातको थोडीसी समझने लगे हैं। इस बातका आरोग्यतासे सम्बन्ध होनेसे तिथिओंके उपवास का सम्बन्ध जैसा आरोग्यतासे है, वैसा वारोंके उपवासका नहीं, यह बात यहां ध्यान देने योग्य है। तिथिओंका चन्द्रमाकी कला वृद्धि तथा क्षयसे जैसा सम्बन्ध है वैसा वारों का नहीं। क्योंकि अमुक तिथिको अमुक कोनेमें चन्द्रमाकी स्थिति होनेसे उस स्थिति के कारण होनेवाला शरीरमें फर्क उस उस तिथि को ही होगा। अतः उस ही तिथिको उपवास करनेसे यदि फायदा होना होगा तो हो सकेगा। यह भेद वारों और तिथियोंके उपवास में है, जो कि लक्ष्य देने योग्य है।

यह बात तो विश्वविदित ही है कि चन्द्र और सूर्य के आकर्षणके भेदानुसार प्रतिदिनके ज्वार भाटेके समयमें अन्तर होता रहता है। ज्वार के समय काटे गए वृक्षोंके अंगरसमें जल तत्त्व अधिक जानेसे उस लकडीमें कीडे जलदी लगने की संभावना होती है। और इसके प्रतिकूल वह भाटे के समयमें काटे गए वृक्षोंमें नहीं है। इसका अनुभव आर्द्र प्रदेशों में अधिक तथा शुष्क प्रदेशोंमें कम प्राप्त होता है। इस प्रकार हम जान सकते हैं कि वानस्पतिक् तथा प्राणी जगत्में चन्द्र सूर्यके आकर्षण का प्रभाव पडता रहता है। पूर्णिमा और अमावास्याको ज्वार भाटेका प्रमाण सबसे अधिक होता

है। क्योंकि इस दिन सूर्य चन्द्र समरेखामें होते हैं। अमावास्याको तो दोनोंके एकही स्थान पर होनेसे आकर्षणका प्रमाण बहुत होता है। अष्टमीके दिन आकर्षण सबसे कम होता है क्योंकि उस दिन वे समकोणमें होते हैं। अतः भरतीका प्रमाण अष्टमीको कमसे कम और पूर्णिमाको उससे अधिक तथा अमावास्याको सबसे अधिक होता है। यहांसे फिर कम होते होते अष्टमीको बिलकुल कम हो जाता है। वृक्षोंके काटनेके उदाहरण में यह बात स्पष्ट कर दी है कि ज्वारभाटके चढाव उतराव के अनुसार उनमें सडांद उत्पन्न होती है। आम, बांस आदि अशक्त जातिके वृक्षोंपर इसका अधिक प्रभाव पडता है। साग, सीसम, कीकर आदि स्वाभाविक मजबूत जातिके वृक्षोंपर इतना नहीं पडता। जैसा प्रभाव वानस्पतिक जगत् पर पडता है वैसाही उससे भी अधिक प्रमाणमें मनुष्य जगत् पर पडता है क्योंकि मनुष्यका शरीर अधिक नाजुक है। साथ ही मनुष्यके मनका संबन्ध चंद्रमा से विशेष है। वेदोंमें मन का सम्बन्ध चन्द्रमासे स्थान स्थान पर दिखाया गया है। कितनेक वर्णनोंमें तो सोम आदि शब्द वनस्पति, चन्द्र और मनके लिए समान रीतिसे प्रयुक्त कीए हुए मिलते हैं। मन का देवता चन्द्र माना गया है। दुर्बल मन वाले मनुष्योंकी मानसिक दुर्बलता चन्द्रके क्षय वृद्धिके अनुसार घटती बढती रहती है। इत्यादि बातोंसे सिद्ध होता है कि मनुष्यका चन्द्रमा के क्षय वृद्धिसे अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध है। ग्रामीण लोक वृक्ष काटने के लिए ज्वारभाटेके विचारार्थ ब्राह्मणके पास आते हैं और यथाशक्ति भाटे के समय लकडी काटते हैं। इसी प्रकार साधारण लोकों की यह भी समझ है कि अमावास्या पूर्णिमा के दिनोंमें रोग अपने जोर पर होता है और इनके निकल जानेपर कम होने लगता है। *

यह सर्व साधारण की समझ यहांपर इसलिए दी है कि जिससे अज्ञानी लोकोंका अनुभव क्या है यह बात हमारे ध्यानमें आसके। यद्यपि अज्ञानी लोकोंका कथन शास्त्र नहीं होता तथापि उन्हें उस पर अटल विश्वास होता है।

न्यूटन को शास्त्रों का ज्ञान था पर उसका अनुभव देशके गडरियों को था। अतएव भेडोंको छोटी छोटी झाडियोंमें दौडते देखकर उन्होंने न्यूटन से कहा कि एक घण्टे के अन्दर वर्षा पडने वाली है। न्यूटन को इस पर विश्वास न हुआ पर अन्तमें घर पहुंचनेके पूर्व ही वह भीग चुका था! यह शास्त्र ज्ञान और अनुभवमें अन्तर है। अत एव विचारक लोक सर्व साधारणके अनुभवको संशोधनके समय बहुत मूल्य देते हैं।

हमें बहुत वर्षों के निरीक्षण से जो अनुभव मिला है वह इस प्रकार है-

अनुभव.

(१) द्वादशीसे लेकर तृतीया तक की मृत्युसंख्या और तिथियोंकी अपेक्षा अधिक है। और इन्हीं तिथियोंमें कृष्ण पक्षमें शुक्ल पक्षसे भी अधिक है।

(२) द्वादशी से तृतीया के बीचमें यदि रोग शुरु होगया तो वह इन तिथियों के न गुजर जाने तक हलका नहीं पडता। और उससे जिसकी मृत्यु होनी होती है उसकी इन्हीं तिथियोंमें ही हो जाती है।

(३) उपरोक्त तिथियों के निकल जानेपर चतुर्थी से एकादशी तक रोग साधारण हालतमें होता है और जिस रोगीने अच्छा होना होता है वह अच्छा भी हो जाता है।

(४) दीर्घ रोगी प्रायः इन्हीं (द्वादशीसे तृतीया-तक) तिथियोंमें मरते हैं। अथवा उनका रोग विशेष बढ जाता है।

(५) इन तिथियोंमें औषधिका फायदा बहुत ही कम होता है। अतः नई दवा प्रारंभ करनी हो तो इन तिथियोंके निकल जानेपर करनी चाहिए।

(६) बडे शहरोंमें द्वादशी से तृतीयातक मृत्यु संख्या अधिक और चतुर्थीसे एकादशी तक कम होती है।

---

* यहां भारत सम्राट के अस्वास्थ्यका वृत्तही देखिये, उनका अस्वास्थ्य अमावास्या तक ही बढता गया था, पश्चात् रोग्य प्राप्त होने लगा।

(७) रोगके दिनोंमें रोगी होनेकी संख्या तथा मरनेकी संख्याभी इन्हीं तिथियोंमें अधिक होती है।

सारांश यह है कि चन्द्र और सूर्य के आकर्षणसे शरीरमें जो जीवन रसकी गतिमें न्यूनाधिक परिणाम होता है, वह रोगी आदमीओं के लिए हानिकर होता है। जो समर्थ अथवा नीरोगी हैं उनके शरीरमें भी उन दिनोंमें रोग बीज वृध्दिको प्राप्त होते हैं। और शुक्ल पक्षकी अपेक्षा कृष्ण पक्षमें यह बात और भी अधिक होती है।

सूर्यकी जीवन शक्ति।

सूर्य से पृथिवीपर आनेवाली जीवन शक्ति में यदि जराभी कमी हुई तो मनुष्यकी आरोग्यता घटने लग जाती है। सूर्यपर थोडेसे दाग उठनेपर हवापर, वर्षापर तथा मनोवृत्तिपर अनिष्ट परिणाम होने शुरु हो जाते हैं। १०-१५ दिन आकाशमें बादल रहे कि अनेक रोग बढने शुरु हो जाते हैं। एकादशीसे अमावास्यातक सूर्य मण्डल पर चन्द्रका आक्रमण होनेसे रोज ही सूर्यकी जीवन विद्युत् पृथिवीपर कम आनी शुरू हो जाती है। अतः ये दिन अशक्त रोगियोंके लिए घातक होते हैं। अमावास्या के निकल जानेपर सूर्य मण्डलपर से चन्द्रमा भी हटने लग जाता है और सूर्यसे उत्तरोत्तर जीवन शक्ति अधिकाधिक मिलने लगती है। अतः तृतिया के बादका सप्ताह अधिक लाभकर होता है।

सूर्य मालिकामें सूर्य और चन्द्र क्रमशः धनशक्ति और ऋणशक्ति के केन्द्र हैं। उपनिषद् और वेदमें इन ग्रह सम्बन्धी ऐसे वर्णन अनेक तरह से मिलते हैं। आधुनिक भौतिक शास्त्रज्ञोंने सूर्यको जीवन शक्तिका पुंज सिद्ध किया है। अर्थात् वह धन शक्ति का केन्द्र है। चन्द्रकी स्थिति इसके विपरीत है। चन्द्र परतः प्रकाशित होने से वह प्रकाश का ऋण सूर्यसे लेता है। इस प्रकार सूर्य उत्तमर्ण (ऋण देने वाला) और चन्द्रमा अधमर्ण (ऋण लेने वाला) है। अमावास्याके दिन यह ऋण शक्तिवाला चन्द्र सूर्यकी आडमें आजाता है अथवा सूर्य और पृथिवी के बीचमें आजाता है जिससे इस दिन सूर्य से जीवन शक्ति सबसे कम मिलती है। खग्रास यानि सम्पूर्ण सूर्यग्रहण इसी दिन होता है। और उसदिन करोडों सूक्ष्माणु जीव मरते हैं ऐसा आधुनिक शास्त्रज्ञोंने ठहराया है। प्रत्येक आमावास्याको भी सूर्यसे जीवन शक्ति इसी कारण कम आती है।

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। ऋग्वेद।

"सूर्य इस स्थावर जंगम की आत्मा है।" यदि यह बात सत्य है तो वह स्थावर जंगमको जीवनशक्ति देता है यह बातभी सर्वथा सत्य है। कृष्ण पक्षमें दशमी के बाद चन्द्र सूर्य के पास पास आने लगता है और आमावास्याको तो बिलकुल सूर्य और पृथिवीके बीचमें आ डटता है। और इस प्रकार जीवन शक्ति आने देने में प्रतिबन्धक बनता है। इस प्रकार कृष्ण पक्ष का दूसरा सप्ताह रोगीके लिए विशेष हानिकारक होता है। अमावास्या के आनेपर जो सर्वसाधारण में भय फैलता है उसका कारण यही है। शुक्लपक्षके दूसरे सप्ताह की अपेक्षा कृष्ण पक्षका दूसरा सप्ताह रोगीओं के लिए अधिक भयावह होता है। यह तत्व यदि सर्व साधारण की समझमें आगया हो और इस कारण उन्होंने ऊपर दीए अनुसार अपना दृढ विश्वास बना लिया हो तो वह विनाकारण नहीं कहा जा सकता।

पूर्णिमा को भरती की मात्रा अधिक होता है और आमावास्याको उससे भी अधिक होता है। इसके साथ साथ अमावास्याको सूर्य से जीवन शक्ति कम प्रमाण में मिलती है। इसलिए प्रत्येक पक्ष का दूसरा सप्ताह रोगबीजों की वृद्धि करने वाला होता है। और कृष्ण पक्षका द्वितीय सप्ताह शुक्ल पक्षके द्वितीय सप्ताह से उपरोक्त कारणों से रोगीओं के लिए अधिक कष्टप्रद होता है। भरती के समय वृक्षों में उनके अंगरस का प्रवाह जड से चोटी की ओर होता है और भाटे के समय इससे विपरीत अर्थात् चोटीसे जडकी तरफ उतरता प्रवाह होता है। अतएव भरतीके समय काटे गए वृक्षों में कीडे अधिक और भाटे के समय काटे गए वृक्षों में कम लगते हैं। मनुष्य के शरीरमें खून के प्रवाह परभी ऐसा ही विलक्षण प्रभाव पडता है।

उपरोक्त कारणों से यह बात सुगमतासे समझमें आसकती है कि अष्टमी के दिन सूर्य से मिलने वाली जीवन शक्ति सबसे अधिक पूर्ण तथा निर्दोष होती है । आकर्षण से होने वाले अनिष्ट परिणाम सबसे कम इसी दिन होते हैं । चतुर्थीसे अष्टमीतक इष्ट परिणाम चढती कलापर होते हैं और इससे आगे अनिष्ट परिणाम चढती कलापर होते हैं । अतः इन होनेवाले अनिष्ट परिणामोंमें रोगबीजों की वृद्धि से रक्षण के उपाय की योजना आवश्यक है और इसी उपायकी योजना को एकादशी का उपवास साधता है ।

उपवास से निर्दोषता ।

शुक्ल और कृष्ण पक्षकी एकादशीके दिन कठोर अर्थात् निराहार उपवास करनेसे शरीर का मल मूलसे दूर हो जाता है । रोगबीज नष्ट हो जाते हैं और प्रकृति निर्दोष हो जाती है । आगामी सप्ताहमें आनेवाली प्रतिकूल परिस्थिति शरीरको हानि नहीं पहुंचा सकती । सर्व साधारण जनता के लिए १५ दिनमें यह एक कडा उपवास आरोग्य रक्षाके लिए पर्याप्त है । परन्तु जिनकी शारीरिक रचना अधिक कमजोर होती है और जो बारबार रोगके शिकार बनते रहते हैं उनके लिए एक और शिवरात्री का ऐच्छिक उपवास रखा हुआ है । यह उपवास पूर्णिमाके पास नहीं है; इससे यह बात पाठकों को स्पष्ट पता लग सकती है कि अमावास्या जितनी भयङ्कर पूर्णिमा नहीं है। प्रदोष नामका जो आधा उपवास है वह भी त्र्ययोदशीको ही रखा गया है । अमावास्याके बीत जानेपर शुक्ल पक्षमें आनेवाली विनायकी चतुर्थीको पूर्ण उपवास, और पूर्णिमा के बाद कृष्ण पक्षमें आनेवाली संकष्टिचतुर्थीको आधाउपवास ऐच्छिक हैं । एकादशीके उपवास को छोडकर शेष उपवास चाहे करो या न करो पर एकादशी का उपवास अवश्य करो ऐसा ग्रन्थकारोंका कटाक्ष प्रतीत होता है । तिथियोंके उपवास इतने ही हैं । इनकी योजना कैसे की गई है यह बात अब जरा देखिए-

महिनेका प्रारंभ शुक्लपक्ष ।

(१) विनायकी चतुर्थी - इस दिनके उपवाससे, द्वादशीसे अमावास्या, और आगे तृतीयातक सूर्यसे जीवन शक्ति कम मिली हुई होनेसे जो कुछ शरीरमें मल जमा हुआ होगा वह कम हो जाएगा । और आगे मिलने वाली अधिक निर्दोष जीवन शक्तिसे अधिक लाभ उठाया जा सकेगा । इससे आगे दशमीतक कोई उपवास नहीं है ।

(२) एकादशी का उपवास—आनेवाले सप्ताहमें प्रतिकूल परिस्थितिसे रक्षा करनेके लिए इस दिन पूर्ण उपवास करना चाहिए ।

(३) प्रदोष का उपवास-सदोष प्रकृतिवाले लोकोंके लिए प्रतिकूल सप्ताहमें आधा उपवास । अब पूर्णिमा जानेके बाद-

कृष्णपक्ष ।

(१) संकष्टि चतुर्थी-प्रतिकूल सप्ताहके गुजर जानेपर उससे हुए हुए दोष निवारणार्थ आधा उपवास । इसके बाद दशमीतक कोई उपवास नहीं है ।

(२) एकादशीका उपवास – आनेवाले प्रतिकूल सप्ताहमें होने वाले अनिष्ट परिणामसे बचनेके लिए पूर्ण लङ्घन ।

(३) प्रदोषका उपवास – आधा उपवास, यह सदोष प्रकृतिवालों के लिए है ।

(४) शिवरात्री का उपवास – अमावास्याके पास विशेष प्रतिकूल परिस्थिति हटानेके लिए पूर्ण लङ्घन ।

शुक्ल पक्षकी अपेक्षा कृष्ण पक्षमें अमावास्याके पास एक अधिक उपवास जिस कारण रखा गया है वह पाठकोंके लक्ष्यमें आही गया होगा । साधारण प्रकृतिसे अच्छी प्रकृति वाले मनुष्यको एकादशी का उपवास पर्याप्त है । परन्तु दुर्बल शारीरिक स्थितिवालों के लिए उपरोक्त सर्व योजना की गई है । अर्थात् वह ऐच्छिक है।

उपवाससे शरीरमें रोगबीजोंका नाश होता है और उससे आरोग्य बढता है; इसी बातको लक्ष्यमें रखकर चन्द्र सूर्य की गतिसे होनेवाले अनिष्ट प्रभा-

वोंके समयमें उपवासोंकी व्यवस्था की गई है, ताकि उन अनिष्ट प्रभावोंसे बचा जा सके।

तिथियोंके उपवासोंमें जो तत्व समाया हुआ है वह वारोंके उपवासोंमें नहीं। क्यों कि चन्द्र सूर्यके आकर्षणानुकर्षणसे वारोंका कोई संबन्ध नहीं। वारोंका ज्ञान अति सुगम होनेसे वे सर्व साधारणको ज्ञात रहते हैं। अतः वारोंके उपवास अधिक प्रचलित हो सकते हैं पर इससे तिथियोंके उपवासका महत्त्व न तो घटही सकता है और नहीं वारोंको प्राप्त हो सकता है।

जो पुराने लोक ये उपवास करते हैं वे बहुधा कम बिमार पडते हैं। इसका कारण अब पाठकोंको स्पष्ट हो ही गया होगा। नवीन संस्कृतिसे सम्पन्न, प्राचीन पद्धति का उपहास करने वाले तथा दिनमें ६ वार खानेवाले लोक बार बार रोगी पडते हैं। इसके प्रतिकूल भोले भाले पुराने ढांचेके लोक कठोर उपवास करके रोगको आने तक का अवसर नहीं देते। इतनाही नहीं वे तन्दुरस्तभी अधिक होते हैं।

यूरोपीयन लोकोंको दिनमें ६ वार खाते देखकर हमारे लोक भी वैसा करने लग गए हैं। प्रातः काल चाय,कॉफी तथा लघु आहार;दुपहरमें भोजन;देढबजे कुछ खाना; चार बजे फिर चाय; सात बजेके करीब पुनः भोजन; और रातमें फिर चाय; ऐसा क्रम एक दम साहब बने हुए हमारे देशके कुछ लोकोंने जारी कर रखा है। परन्तु उन्हें यह बात स्मरण नहीं रही कि साहेबोंका देश ठण्डा होनेसे वहां भूख अधिक लगती है। वैसी स्थिति यहां की नहीं है। इसका नाम है अन्धानुकरण!

दो समय भोजन।

हमारे शास्त्रों में केवल एक या दो समय खाना ही प्रशस्त माना है। बाल्यावस्थामें अंगवृद्धि होनेसे बच्चोंको चार समय खाना पडता है। बडोंको सिर्फ दोही समय खाना चाहिए। वृद्धों को एक ही वार खाना उचित है। परन्तु अन्धानुकरण शील लोकों को भला यह बात कैसे पसंद पड सकती है। वे तो दिनमें ६ वार खाएगें, और चाय तो जितनीवार दिल चाहा उतनीवार पीएगें। वह अन्धश्रद्धा अच्छी है वा यह अन्धविश्वास? इस प्रश्न पर आईए जरा विचार करके देखें।

मुंह में लार उत्पन्न होती है और वह दांतोंमें अटकनेवाले अन्न को धीरे धीरे दूर करती रहती है। पहिला अवशिष्ट अन्न दांतोंसे दूर होनेसे पूर्व ही यदि द्वितीयवार अन्न खा लीआ जाए तो पूर्व के अन्न कणों पर नवीन अन्न कणों की तह चढ जाएगी, और नीचेका अन्न सडने लगेगा। इसी लिए दिनमें कई दफा खाने वालों के दांत कभी अच्छे नहीं होते। एकभी साहबके दांत अच्छे नहीं होते। सब युरोपीयनों के दांतों में कीडे लगे हुए होते हैं। इसका कारण दिनमें कई वार खाना ही है।

दांत।

सर्व देशों की मानवजातिमें केवल हिन्दुओंके ही दांत उत्तम होते थे। और अभीतक जिनपर नवीन संस्कृति का प्रभाव नहीं पडा उनके दांत अच्छे हैं। आजकल दिवसानुदिवस दांतों के रोग बढते जा रहे हैं। ब्रशका उपयोग करने से मसूडे छिलते हैं और उनमेंसे निकलते हुए खूनमें दंत कृमि घुस जाते हैं। इस प्रकार दंत रोग बढते चले जा रहे हैं।

अपचन से भी दांत रोग बढता है। दांतोंमें ज्यों ही यह विष बढा कि वह जठरमें जाकर और भी अपचन बढाता है। इस प्रकार परस्पर एक दूसरे को बढाते हुए क्षय रोगतक पहोंचा देते हैं। परन्तु इस नाश का कारण हमारा अपना ही आचार है, यह किसि के ध्यानमें भी नहीं आता। जवान पुरुष यदि दो समय खाने का तथा एकादशीको उपवास का नियम करलें तो यह आफत टल सकती है। परन्तु आजकल तो जो उपवास भी करते हैं उनकी भी गरदन पर चाय सवार रहती है! यह सब घातक प्रकार हैं। आरोग्य के लिए उपवास कैसे करना चाहिए यह सविस्तर विवेचन करेंगे। उपवास केवल जीभ से ही सम्बन्ध नहीं रखता। अन्य इन्द्रियोंकाभी साथ साथ सम्बन्ध है।

व्रतोंकी योजना ।

सनातन धर्ममें उपवास और व्रतों की जो अत्यन्त प्राचीन योजना है, वह इतनी सहेतुक, बुद्धि पुरःसर तथा दूरदर्शितासे विचार की गई है कि उसका तत्व ध्यानमें आते ही प्राचीन योजकों की जितनी प्रशंसा की जाए उतनी थोडी मालूम होती है। हमारे बहुतसे धार्मिक तेहवार तिथियोंसे सम्बन्ध रखते हैं। प्रत्येक तहेवारका उसके दिनकी तिथिसे सम्बन्ध दिखाना इस छोटेसे लेखमें असंभव है, तथापि यह विषय यहां थोडासा दिखाना आवश्यक होनेसे " दशमी, एकादशी, और द्वादशी " इन तीनका सम्बन्ध दिखाएगें और उनसे क्या बोध हमें मिलाता है वह देखेंगे—

विजया दशमी ।

दशमी तिथि का सबसे बडा तहेवार " विजया दशमी " है। दशमी का मतलब " दश+शमी " है। अर्थात् ५ ज्ञानेन्द्रियां और ५ कर्मेन्द्रियां, इन दशका शमन करना। दशों इन्द्रियोंको स्वाधीन रखना, उन्हें विक्षिप्त न होने देना, यह ही " दश+शमी " या दशमी का साध्य है। यदि दश इन्द्रियां स्वाधीन हुई यानि हमारे दिव्य रथके ये दस दिव्य घोडे हमारे काबुमें आगए तो इस " दशरथ " को हम बेधडक इष्ट स्थान पर पहुंचा सकेंगे। जहां पर मनुष्यने पहोंचना है वहांपर वह सरलतासे पहुंच जाएगा। और अतएव यह दशमी " विजया दशमी " कहलाती है। इस दशरथ से " राम " यह प्रचण्ड शक्ति निर्माण होती है जोकी इन दश इन्द्रियों के भोग भोगने वाले " दश मुख " पर विजय प्राप्त करती है। दशरथ इन दशेंन्द्रियोंको संमयसे धर्म मार्गपर सत्कार्य करनेके लिए लाने वाला है। दूसरी और दशमुख इनही दशेन्द्रियोंको स्वच्छन्द छोडकर अधर्म मार्गपर नंगा नाच नचाने वाला है। इन दोनों का युद्ध सनातन है। अन्तमें दशरथके रामका विजय होता है। दशमुखके संसार विजयी इन्द्रजित् का विजय नहीं होता। सारांश रूपमें विजया दशमीका यह तत्व है।

संयमी एकादशी ।

इन दशेन्द्रियोंके काबु आजानेपर ग्यारहवें मनको काबुमें लाना संभव है। यह कार्य दशमीके बाद एकादशीको किया जाता है। वस्तुतः ग्यारहों इन्द्रियोंको काबुमें लानेका प्रयत्न प्रतिदिन करना उचित है पर यदि कोई मनुष्य पक्षमें एकही दिन करना चाहे तो वह " ग्यारह " इस संख्याको बताने वाली ' एकादशी ' को ही करे। क्यों कि इस दिन आरोग्यकी मर्यादा समाप्त होती है और अनारोग्यकी प्रारंभ होती है। यह बात पूर्व दिखाई जा चुकी है। अतः एकादशीका उपवास बहुत महत्त्वशाली है।

वामन द्वादशी ।

दशमीसे दशेन्द्रियों का दमन करके आत्मसंयमसे विजय प्राप्त करने की जब योग्यता बढाली तो फिर सब इन्द्रियोंके राजा मनके शमनका अनुष्ठान एकादशीको किया। इस प्रकार हमारे इन्द्रियों पर पूर्ण स्वामित्व प्राप्त कर लेनेपर अब आगे क्या करना चाहिए यह वामन द्वादशी के दिन बताया गया है।

वामन अत्यन्त छोटा, आयुमें छोटा, आकार में छोटा, जिसमें कोई भी शारीरिक और पाशविक शक्ति नहीं मानता ऐसा अहिंसावादी कुमार है। जो कि दशमी और एकादशी के गुप्त तत्वोंको आत्मसात् करके अद्वितीय आत्मिक शक्तिसे प्रभावशाली बन गया है। उस अहिंसापूर्ण निःशस्त्र सत्याग्रही बालवीरके सामने बली सम्राट् की शस्त्रास्त्रोंसे सज्जितप्रचंड पाशविक शक्ति, संपूर्ण साम्राज्यके मदके साथ लडखडा जाती है। बली नाम वाले विदेशी सम्राट् की सेना तथा सब शस्त्रास्त्र निरुपयोगी ठहरते हैं। यह दशमी एकादशी के द्वारा दिखाए गए आत्मसंयमके तप का प्रभाव है। पहिलेकी कडक तपस्यासे ऐसा आत्मिक बल बढता है यह इससे पता चलता है।

आत्माकी सोलह कलाएं हैं। अतः उसका नाम षोडशी भी है। इन सोलह कलाओंमें ११ इन्द्रियोंका संयम होजानेसे आत्माकी ११ कलाएं प्रका-

शित होने लगीं। मनसे अगली एकही १२ वीं कला द्वादशीको चमकी। इतनी आत्मिक शक्तिसे प्रभावित हुए हुए निःशस्त्र अहिंसामय सत्याग्रही वीरने पाशविक शक्तिसे बलपर आश्रित बलोंके सच कहो तो "बल" के साम्राज्य को उलटा डाला। आत्मिक शक्तिके विकास का यह चमत्कार है!! यह बात इन दो तीन तिथियोंके तेहवारोंके पारस्परिक संबन्धको ध्यानमें लानेसे पाठकोंके लक्ष्यमें आसकती है। प्रारंभसे लेकर इस प्रकारका यह सम्बन्ध बडा मझेदार है पर उसका विचार कभी स्वतंत्र लेखमें कीआ जाएगा। यहां पर केवल एकादशी का ही अगला पिछला सम्बन्ध देखना था; अतः इतना विवेचन प्रकृतस्थलके लिए पर्याप्त है।

एकादशेन्द्रियोंका संयम कर शारीरिक पाशविक शक्ति पर आत्मिक शक्तिके विजय संपादनकी सूचना रूप यह एकादशी का उपवास किया जाता है। यह इस विवेचना का सार है, यह पाठकोंको लक्ष्यमें लाना चाहिए।

सब इन्द्रियों का उपवास।

उपरोक्त विवेचनसे यह पता लगता है कि एकादशीके दिन अन्न न लेते रहनेसे यह केवल एकेन्द्रिय का ही उपवास हो जाता है। अर्थात् जो इन्द्रिय अन्न खाती है और जो पचाती है उन्हींका कार्य इस दिन बन्द रहता है। इस एक इन्द्रियको छोडकर अन्य १० इन्द्रियां हैं। उसको भी इसदिन उपवास करना चाहिए। अर्थात् विश्रान्ति देनी चाहिए। तभी वास्तविक एकादशी का उपवास सफल हो सकता है।

परन्तु यदि ठीक ठीक देखा जाए तो मानना पडेगा कि आजकल खानेकी इन्द्रिय कोभी विश्राम नहीं मिलता। इसका कारण यह है कि वर्तमान समयमें निरशनके दिनभी खानेके लिए इतने अधिक पदार्थों का निर्माण होगया है कि उस एक खानेकी इन्द्रिय काभी बराबर उपवास होने नहीं पाता। निरशन यानि "न खाना, न उपभोग करना"। परन्तु निरशनके अनन्त पदार्थ उत्पन्न होजानेसे " उपवासके दिन खाने योग्य अन्न" ऐसे ऐसे चमत्कारिक वाक्य प्रयुक्त होने लगगए हैं !! आजन्म ब्रह्मचारी मनुष्यका लडका, अविवाहित कुमारिकाका पति, चिरंजीव की मृत्यु, जैसे ये वाक्य हैं ठीक ऐसे ही "निरशन के खानेके पदार्थ" यह है। परन्तु यह पद्धति आज कल चालु है। वस्तुतः यदि देखा जाए तो जो लोक अशक्त थे या जिनसे उपवास होना अशक्य था उनही के लिये यह रियायत थी कि वे थोडासा फलाहार कर सकते हैं। और इसी उद्देश्यसे इन निरशन के पदर्थों की योजना की गई थी। जहां पहिले एकादशीका उपवास अजीर्णादि शमन के लिए किया जाता था वहां आजकल इन निरशनके पदर्थोंके खानेसे उलटी अजीर्ण होनेकी संभावना हो चली है !! धर्म नियमोंके अनर्थ कारक उलटे रास्ते पर लेजानेवाले उदाहरणों को देखनेके लिए यही एक उदाहरण पर्याप्त है। अन्यत्र देखनेकी कोई जरूरत नहीं मालूम देती !!

(अपूर्ण)

हिंदु समाज समर्थ कैसे बनेगा ?

(ले० श्री महादेवशास्त्री दिवेकर । अनुवादक— पं० भोलानाथ राव)

प्रकरण पांचवां ।

(मनोबल विचार)

अवतारका अन्ध विश्वास ।

यदि हम भलीभांति हिन्दू समाजके मानसिक विचारोंका अभ्यास करने लगें तो हमें विदित होगा कि हिंदू समाज अवतार प्रिय है । कोई भी कठिन कार्य ईश्वरीय अवतारी पुरुष ही कर सकता है, ईश्वरी अवतारके बिना अन्यायका प्रतिकार व दुर्जन दंडन हो हि नहीं सकता, ईश्वर पर दृढ विश्वास करके अवतारी पुरुषों की वाट जोहते हुए मनुष्य को स्वस्थ रहना चाहिये इसी प्रकार की विचारसरणी जगह जगह फैली हुई है। कलिप्रभाव दैववाद और जिज्ञासा मारक वेदान्तने जिस प्रकार हिंदू समाज को क्रियाशून्य कर रखा है उसी प्रकार अवतार कल्पना ने भी हिंदू समाजमें दुर्बलता का बीज बो रखा है। इसी बात का सूक्ष्म रूपसे हम इस प्रकरण में विचार करेंगे ।

" ममैवांशो जीवभूतः सनातनः " प्रत्येक मनुष्य ईश्वरका अंश है और गीतावचन प्रमाण द्वारा प्रत्येक ईश्वर अंश को अपने कर्मों द्वारा नर से नारायण होनेका अधिकार है । शास्त्रका कहना है कि मनुष्य अपने कर्तृत्व से ही ईश्वर भाव अथवा स्वामीभाव प्राप्त करता है । योगवासिष्ठ में भी स्पष्ट लिखा है कि कोई भी प्राणि विशेष प्रयत्न द्वारा इन्द्रत्व को भी प्राप्त कर सकता है । श्री समर्थ ने तो यहां तक कह डाला है कि संसारमें दूसरा देवता कोई है ही नहीं " जो अचूक यत्न करता है वही देव है" सारांशमें कि यत्न से मनुष्य ईश्वर बन जाता है कारण कि वह स्वयं ही ईश्वरका अंश है । हिंदु समाज आज इस सिद्धांत को भूलकर कर्तव्य करने की अपेक्षा नामस्मरण करने में ही अपने को धन्य समजता है। कोई भी कर्ता पुरुष यदि देश के सन्मुख आया कि उसे अवतार कोटिमें ढकेलकर उसकी जयंती मानना, मिष्टान्न भोजन करना और जयजयकार करके ताली बजाना ही मुख्य समजा जाता है। कर्ता पुरुष, साधु, महात्मा क्या कहते हैं और हम लोग क्या करते हैं इसकी जवाबदारी हिंदुसमाज अपने ऊपर नहीं लेता । व्यास, वाल्मीकि, ज्ञानेश्वर, तुकाराम, रामदास विशेष क्या यहांतक कि तिलक और गांधीको भी अवतार कोटीमें ढकेलकर कर्तव्यशून्य बनकर जयजयकार युक्त केवल ताली बजाने की ही हिंदुसमाज का स्वभाव हो गया है ।

किसी भी मनुष्यने यदि तप और विद्याके प्रभाव से उन्नति की; कि हिंदुसमाज उसे देवताका स्वरूप समझने लगता है । और उसके बराबर कार्य करने में अपनेको अशक्य समझता है । मोरोपंतने आर्य छंदकी रचना उच्च कोटीकी की इसका क्या कारण? तो उत्तर मिलता है कि वे ईश्वरके अवतार थे । तुकाराम व रामदास को भी ईश्वर का अवतार मानते हैं। विशेष क्या, वेदांत बतलाकर ज्ञान जिज्ञासा नष्ट करनेवाले साधारण साधु संतोंको भी लोग ईश्वरका अवतार मान बैठते हैं। अवतार कल्पना का ढोंग तो हिंदु समाज में इतना फैल गया है कि अवतार के सिवा उनमें कर्तृत्व शक्ति ही नहीं देख पडती और बिना उसके मानेभी नहीं देख पडती ।

मनुष्य को अवतार कोटी में मानना ही गुलामगिरी का द्योतक है। हिंदु समाज तो स्वयं ही गुलामगिरी की गति में पडा हुआ है। कर्तव्य शाली मनुष्य को अवतार मानकर स्वयंकुछ भी न करनेके समान

दूसरी गुलामगिरी ही नहीं है। हरिदास व पौराणिक लोग रामायण व महाभारत की बातें बतलाते हैं और उसके सुनने से पुण्य होता है यही समाज का अन्ध विश्वास है। असली तत्व पर कोई भी ध्यान नहीं देता और उसके अनुसार कोई भी नहीं ध्यान देता। सूर्य देवता है ऐसा कहने से उपास्य व उपासक का नाता होता है और यदि उसे तेजोगोलक कहते हैं तो शोध्य शोधक के भाव का नाता उत्पन्न होता है। यह बात लक्ष्य करने लायक है। जहां देवता कि कल्पना हुई कि वहां दैववादका प्रभाव व कर्तृत्वका प्रभाव दिखताई देता है। पाश्चात्य शोध को देखने से विदित होगा कि उन लोगोंने देवताओं को मनुष्यकी सेवा करनेको लगा रखा है। पृथ्वी को यदि देवता मानते हो तो उसकी उपासना उसे अच्छी तरह जोतने व खोदने सेही हो सकती है। यह तत्व जिस प्रकार पाश्चात्यों को ज्ञात है उस प्रकार हिंदुओं को ज्ञात नहीं है। इसी कारण वे जिसे देवता मानते हैं उसका जयजयकार करके तालियें बजाकर भजन ही करते रहतेहैं ।

कर्ता मनुष्य देव स्वरूप है और उनके दर्शनों से पुण्य होता है ऐसी कल्पना सुशिक्षित हिंदुओं में भी देखी जाती है। तिलक और गांधी के दर्शन करने में और उनके नाम का जयजयकार करने में और उनका अवतार माननेमें समाज जितनाउत्साह दिखाता है उतना ही यदि उनके कहे हुए कार्यों में दिखाए तो वह अतिशय लाभ दायक हो। हिंदु समाज की दुर्बलता को नष्ट करने के लिये मनुष्यों के मस्तिष्कों में से जब अवतार का अन्ध विश्वास हटाया जावेगा तभी हिन्दू समाज के कर्ता मनुष्यों को अवतार मानने की मानसिक गुलामगिरी नष्ट होगी।

अब हमें यह देखना है कि शास्त्रों में अवतार के विषय में क्या लिखा है। वेदान्तशास्त्र में शुद्ध सत्व प्रधान मायाही ईश्वर की उपाधी मानी गई है और मलिन सत्व प्रधान अविद्या जीव की उपाधि मानी गई है। जीव अविद्या के आधीन रहता है पर ईश्वर माया को अपने हाथ में रखकर अपनी दासी बनाए रखता है। जीव अज्ञ अल्पशक्तिमान है तो ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है। पूर्व जन्मार्जित पाप पुण्य द्वारा जीवको पंच महाभूतात्मक शरीर प्राप्त होता है। पाप पुण्य व धर्माधर्म के फल सब को भोगने पडते हैं। परंतु ईश्वर को पापपुण्य व धर्माधर्म कुछ नहीं लगता इस कारण से उसे पंचभौतिक शरीर की प्राप्ति नहीं होती। ईश्वर का शरीर मायामय है वह उसे स्वेच्छा से धारण कर सकता है व छोड सकता है। भागवतके दशमस्कंध में ब्रह्मदेवने ईश्वर का वर्णन आगे लिखे हुए अनुसार किया है।

" अस्यापि देववपुषो मदनुग्रहस्य स्वेच्छामयस्य नतु भूतमयस्य कोपि " इस श्लोक में " स्वेच्छामयस्य नतु भूतमयस्य" ये पद बडे महत्व केहैं। इस पद से यह सिद्ध होता है कि ईश्वर का कैसा शरीर है। राम, कृष्ण परमेश्वर के अवतार हैं ऐसा कहा जाता है। उनका शरीर भी मायामय था इसी कारण उनके शरीरसे अद्भुत बाललीला हुई। मानवी शरीर पापपुण्यानुरूप होता है पर ईश्वर शरीर साधु असाधु के पाप पुण्यानुरूप होता है ऐसा शास्त्रसिद्धांत है।

समान सत्ता वालों में साधक बाधक व्यवहार होता है। अर्थात् भक्ताभक्त जिस व्यवहारिक सत्तामें होते हैं उसी सत्तामें व्यवहार करने के लिये ईश्वर मायामय शरीर धारण करता है। उसी को सगुण विग्रह कहते हैं। ईश्वर सगुण विग्रह भक्ताभक्तों को उनके पाप पुण्य का फल देने के लिये पैदा होता है। और उस कार्य के पूरा होनेपर ईश्वर उस सगुण विग्रह का उपसंहार करता है। सामान्य रीति से इस प्रकार से अवतार कल्पना शास्त्रोंमें दी हुई है। इससे यही सिद्ध होता है कि सच्चा अवतार राम कृष्ण ही का था। ऐसे ही अवतारों की जयंती मनानी चाहिये। ईश्वर अवतार की जयंती व मनुष्यों की श्राद्धतिथि और संन्यासियों की पुण्यतिथि का उत्सव मनाना चाहिये।

आजकल यह देखा जाता है कि समाज में जयंती व पुण्यतिथि मनाने का बडा जोर शोर है। तिलक जयंती, गांधी जयंती,गोखले जयंती व शिव जयंती ऐसे अनेक ही उत्सव मनाये जाते हैं। इन

मनुष्योंको अवतार बनाने की दृष्टि से तो यह उत्सव बडे लाभ दायक हैं, हिंदू समाज का मन निवृत्ति-मार्ग की ओर लगने का यह एक अच्छा साधन है। तिलक,गांधी, गोखले, शिवाजी,अहिल्याबाई,रानाडे इनको अवतार मानकर हिंदू जातिको नमस्कार करना ही चाहिये। परंतु जिन्हें हिंदुसमाज की दुर्बलता का नाश करना है, उन्हें तो भविष्य में मनुष्यों की जयंतियें नहीं मनानी चाहिये। हम यह बात अत्याग्रह व नम्रपन से कहते हैं। इसका अर्थ कोई भी महाशय विपरीत न समझें। यह बात नहीं है कि हमारा आदर उपर के कहे हुए मनुष्यों के प्रति नहीं है। हम स्वच्छ हृदयसे कहते हैं कि विद्वान, राजकरणी, कर्तृत्वशाली, पराक्रमी इनके प्रति हमारे हृदय में अत्यंत आदर व पूज्य भावना है। परंतु हम इन लोगों के लिये देवता व अवतार मानने के लिये प्रस्तुत नहीं हैं। इन्हीं लोगों की तरह बहुत से कर्तृत्वशाली, पराक्रमी पुरुषों का जन्म इस संसार में हुआ। उन लोगों के कर्तृत्व से ही उनकी कीर्ति हुई। तुम लोग भी उसी प्रकार बनने की चेष्टा करो। तुम भी ईश्वर के अंश हो ऐसा स्फूर्तिदायक संदेश हिंदू समाज के सन्मुख रख कर जयंती और अवतार की कल्पना को कम करना चाहिये।

जयंतियों की भांति पुण्यतिथियों में भी कमी करनी चाहिये। तिलक और "चिपळूणकर की पुण्यतिथि मनाने से पुण्य होता है" यह कल्पना घातक है। तिलक, चिपळूणकर, रानडे, गोखले संन्यासी नहीं थे। इस कारण इन लोगों की पुण्यतिथि न मनाकर श्राद्धतिथि मनानी चाहिये। श्राद्धतिथि के दिवस परलोक में गए हुए मनुष्यों के कर्तृत्व का स्मरण करके उसी प्रकार कार्य करनेकी प्रतिज्ञा करनी चाहिये। यही कारण है कि हमारा कहना है कि तिलक,गोखले इत्यादि लोगों की पुण्यतिथि न मना कर श्राद्ध तिथि मनानी चाहिये व उसी के अनुसार कार्यक्रम होना चाहिये।

निवृत्तपरायण हिन्दू समाज को प्रवृत्तिपरायण बनाने के लिये हमें जोजो करना उचित है वह सब करना ही पडेगा। अवतार कल्पनासे दुर्बलताकी वृद्धि किस प्रकार होती है यह उपर लिखे विवेचन द्वारा भली भांति लक्ष में आसकता है। बहुतसे लोग ऐसा भी प्रश्न उपस्थित करेंगे कि यदि हम ऐसे कर्तव्य शाली पुरुषों को अवतार कोटिमें रखें तो तुम्हारा क्या बिगडता है? इसका उत्तर इतना ही है कि हमारी कोई भी हानि नहीं है परंतु हिंदू समाज मात्र की इससे बडी भारी हानि हो रही है क्योंकि विभूति के माने अवतार नहीं हैं। गीताके दसवें अध्याय में सर्व विभूतियोंके बारे में कहा है। उनमें चंद्र, सूर्य, सामवेद, समुद्र, अग्नि, पीपल, सिंह, मगर, गंगा, धैर्य, क्षमा, मार्गशीर्ष मास, द्यूत इसी प्रकारकी बहुतसी विभूतियें हमारे सामने उपस्थित हैं। इन सब विभूतियों को यदि हम देव व ईश्वर का अवतार ही मानलें तो कायदे के अनुसार हम द्यूत की पृथा को बंद नहीं कर सकते, सिंह सरकस के मैदान में नहीं लाया जा सकता और यदि पीपलके पेडकी जड इतनी बड गई हो कि वह यदि किसी घर की नींव तक पहुंच कर उसे गिराने की चेष्टा कर रही हो तो उसे काट नहीं सकते कारण कि सर्व वस्तु ईश्वर अवतार की कोटि में हैं। दसवें अध्याय का बारी की से विचार करने से यह सिद्ध होता है कि उस समयकी प्रत्येक विशेष वस्तु, विशेष बात मैं ही हूं ऐसा भगवंतो को बताना था। उपसंहार में "यद्यद्विभूतिमत्सत्वं" ऐसा उपसंहार किया है। सत्वजात जो जो वस्तु जात विशेष गुणों से युक्त हैं वह सब विभूति कही कालम में दर्ज हैं। इससे हमें यह पता चलेगा कि अवतार व विभूति में क्या अंतर है। प्रत्येक मनुष्य ईश्वर का अंश है। प्रत्येक विशेष मनुष्यनें, प्रत्येक विशेष बात में ईश्वर की विभूति होते हैं ऐसा ध्यान रखते हुए प्रत्येक मनुष्य यदि विभूतिवान बनने का प्रयत्न उत्साह से करेगा तभी हिन्दू समाज का तारण हो सकता है। विभूति विस्तार योगमें "रामः शस्त्रभृतामहं। वृष्णीनां वासुदेवोस्मि" ऐसा लिखा है यह बात लक्ष में रखने योग्य है। अवतार कल्पना का पागलपन शीघ्र ही हराने की आवश्यकता चतुर पाठकोंके ध्यान में स्वयं ही आ जायेगी।

पुराण में, ईश्वर का अंश, कला व आवेश यह तीन अवतार के अंग माने हैं परंतु तर्कबुद्धि से विचार करने पर हमें यह कहना पडता है कि प्रत्येक मनुष्य ईश्वर का अवतार है,कारण कि प्रत्येक मनुष्य में ईश्वर का अंश है। ईश्वर की कला है। और सत् चित् आनंद इन गुणों का आवेश भी प्रत्येक वस्तुजात में होता है। इसीसे प्रत्येक वस्तुजात अवतार है और " सर्व जगदिदं ब्रह्म " यही तत्व ज्ञान सत्य है।

संस्कृत वाङ्मय में अवतार कल्पना कहाँ है इस की खोज करते हुए हम उपनिषद् तक पहुंचते हैं। परंतु वहां भी हमें इसका पूर्ण हाल नहीं मिलता है। औपनिषद वाङ्मय में भली भांति ज्ञानविचार दिया है। उस ज्ञानकी प्राप्तिके लिये अवतार की सहायता की आवश्यकता नहीं। गीता के चौथे अध्याय में अवतार की सुस्पष्ट कल्पना दी है।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहं ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

इन श्लोकोंमें " धर्म संस्थापन, साधुपरित्राण व दुष्ट दंडन इत्यादि के कारण " मैं समय समय पर अवतीर्ण होता हूं " ऐसा भगवान कृष्ण ने कहा है। अवतार किसलिये होता है व अवतार का क्या कार्य होता है, इसका विवेचन भी गीता में स्पष्ट किया हुआ है। सीधे साधे मनुष्य यह बात यदि ध्यान में रखेंगे तो वे साधारण मनुष्यों को अवतार कोटिमें नहीं रखेंगे।

हिंदू लोगों में दशावतार की कल्पना है। दश अवतारोंमें से नवमा अवतार बौद्ध अवतार समझा जाता है। गौतम बुद्ध का जन्म इ. स. से पूर्व ५ वीं शतकमें हुआ था। तबसे क्या आजतक अर्थात् करीब करीब २॥ हजारवर्ष तक बौद्धयुग ही चल रहा है? यह बुद्धियुग है! यह सत्य है पर संकल्प में बौद्धावतारे भारतवर्षे भरतखंडे कहने का क्या प्रयोजन है ? अब भी लोगों का यह विचार है कि बौद्धावतारानंतर अब म्लेच्छसंहारक कलंकी अवतार होगा। कलंकी अवतार के चित्र में घोडे और तलवार का साधन देखते हुए यदि हम यह कहेंकि कल्की अवतार तो शिवाजीके रूपमें समाप्त हो गया तो इसमें क्या हानि है? क्या, बरछी, तलवार, घोडा इत्यादि साधनों द्वारा छत्रपति शिवाजी ने म्लेच्छों का संहार नही किया? ऐसे म्लेच्छसंहारक शिवाजी को दसवां अवतार मान कर " शिवावतारे भरत वर्षे भरतखंडे " ऐसा संकल्प प्रारम्भ करना चाहिये। समाज को यह समझा देने की बडी आवश्यकता है कि दसवाँ अवतार शिवाजी महाराज का ही था। अब इसके बाद कोई अवतार नहीं होगा। जब जनता ऐसा समझ लेगी तब वह अपने उद्योग में लग जायेगी। हिंदुस्तान में देवताओं को जो कुछ करना था सो वे दसबार आकर कर चुके अब मनुष्यों को ही कर्तव्य तत्पर होना चाहिये। ईश्वर का अवतार होगा और वही सब कुछ करेगा ऐसे भ्रामक विचारों को छोडकर यह विचार करना चाहिए कि अपने कर्तृत्व से ही अपनी उन्नति होती है। संसार में परमेश्वर कर्म का फल अवश्य देता है। थोडा भी यदि सत्कर्म किया तो " स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् " इस गीता शास्त्र के सिद्धांतानुसार वह सत्कर्म तारक होता है ऐसा विचार कर दीर्घोद्योग करना ही मनुष्य का परम धर्म है।-

यदि ईश्वर भक्तपर कृपा करता है,प्रयत्न करनेवालों को यश देता है तो इसका अर्थ क्या है ? भगवान ने गीतामें स्पष्ट कहा है कि मैं भक्तों की रक्षा करता हूं अर्थात् उनकी बुद्धिका संरक्षण करता हूं " ददामि बुद्धियोगं तं येषां मामुपयांति ते " इससे यह सिद्ध हुआ कि ईश्वर मनुष्य की बुद्धि की रक्षा करता है उसकी सद्बुद्धि को स्थिर रखता है। महाभारत में भी एक स्थान पर लिखा है कि ईश्वर ग्वाले की भांति भक्तों के पीछे पीछे उन्हें हांकता हुआ नहीं चलता परन्तु जिसकी उसे रक्षा करनी होती है उसे वह उत्तम बुद्धि देता है। जिसका नाश करना होता है उसकी बुद्धि भ्रष्ट कर देता है—

न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत् ।
यं तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्धया तं विभजन्ति ते॥

इस श्लोक से यह पूर्णतया विदित हो जाता है कि देव क्या देते हैं, क्या करते हैं और क्या करवाते हैं इस बात को लक्ष में रखते हुए "कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं" इस तत्व को हृदय में स्थिर रखकर के उद्योग करना चाहिये

अब राम, कृष्ण जो ईश्वर के मायामय शरीधारी अवतार हुए हैं,उनके वर्णनों को,रामायण और भागवत में पढनेसे जो तत्व निकलता है उसे संक्षेप में बतलाकर हम इस विषयको समाप्त करते हैं।

जिस समय पृथ्वी दुष्टोंके भारसे दबी जा रही थी, सृष्टिके सारे लोग महान दुःखित थे, देवताओंके नाक में भी दम होगया था, उस समय ब्रह्माजी विष्णुभगवान के पास जाकर बोले कि महाराज आप हमलोगों की रक्षा करें। विष्णुभगवान ने कहा कि "तुमलोग चलो मैं तुम्हारे रक्षणार्थ आता हूँ। पर तुम लोग रामावतार में वानर बनकर हमारी रक्षा करना व कृष्णावतार में गोप होकर सहायता करना। तुम लोग जब इस प्रकार कार्य करने को सहमत होगे तभी मैं अवतार धारण करूंगा, और दुष्टोंको दण्ड देकर पृथ्वीका भार हलका करूंगा" आजतक जितने अवतार हुए हैं वे सब मनुष्योंके कर्तृत्व ही से हुए हैं, उन्हींके प्रयत्न से हुए हैं। ऊपर की कथा से यह मालूम होता है कि कर्तृत्व के विना ईश्वर का अवतार नहीं हो सकता। विशेष क्या! निर्गुण परमात्माको सगुण रूपमें लानेकी शक्ति मनुष्यही में है। देवताओंका अस्तित्व मनुष्यों ने ही सिद्ध किया है। इनका वैभव मनुष्योंने ही बढाया है। यहाँ तक कि देवताओंका देवत्व भी मनुष्य कवियों ने ही गाया है। देवताओंके अवतार लेनेका कारण भी मनुष्य ही हैं। निर्गुण रूप होते हुए भी ईश्वरको सगुणरूप रखकर कार्य करना पडता है। "परमेश्वरको हम कुछ आकार अवश्यही देंगे। उसको हम निराकार नहीं रहने देंगे।"

तुकोबाराव की इस उक्तिसे यह स्पष्ट विदित होता है कि मनुष्य का कर्तृत्व ही मुख्य है।

हिंदुओ तुमभी मनुष्य हो! जगत में कर्तव्यशाली मनुष्य ही की ईश्वर सहायता करता है। मानवी कर्तत्व के बिना संसार की शोभाही नहीं है। ईश्वर, अवतार लेकर हमारे देव धर्म व स्त्रियोंकी रक्षा करेगा इस विचार को छोड दो और स्वसंरक्षण करने के लिये तैयार हो। भविष्य में ईश्वर हिंदुस्थान के मनुष्योंसे ही सब कार्य करानेवाला है ऐसा दृढ विश्वास रख कर उद्योग करो। धर्म, समाज, सत्य, स्त्री व सम्मान के लिये मारने व मरनेके लिये तैय्यार हो। ऐसा करोगे तभी ईश्वर स्वयं चला आवेगा। भविष्य में हिंदु समाज से ऐसी ही प्रार्थना है।

लेखकोंका स्वागत।

(१) ऋग्वेदालोचन।

(ले०—श्री० नरदेवशास्त्री, वेदतीर्थ, ज्वालापुर। प्रकाशक—श्री० सत्यव्रत शर्मा, शांतिप्रेस आगरा। मू. १॥)

यह पुस्तक श्री० पं० नरदेव शास्त्रीजी की लिखी है और इसमें इस समय तक वेदके विषय में जितने पक्ष बने हैं उनका सारांश रूपसे स्वरूप लिखा है। ब्रह्मवादी, शास्त्रीय, निरुक्त, सायण, दयानंद, ऐतिहासिक, याज्ञिक, पाश्चात्यपंडित, तिलक, दास, सामश्रमी, इत्यादि अनेक पक्ष वेदालोचना करने के विषय में हुए हैं और इनके कई अनुयायी भी हैं। इन सब पक्षोंका स्वरूप इस पुस्तक के प्रथम विभाग में बताया है और द्वितीय विभाग में कई वैज्ञानिक बातोंका वेदमंत्रों के प्रमाणों से वेदमें होना सिद्ध किया है। ये दोनों प्रकरण अत्यंत मनोरंजक और बोधप्रद हैं। वेदका ज्ञान प्राप्त करनेके इच्छुक इस पुस्तक को एकवार अवश्य पढें।

(२) अथर्ववेद संहिता भाषाभाष्य ।

(भा० का०—श्री० पं० जयदेवशर्माजी वि. अ. मी. तीर्थ । प्र० आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर । मू. ४) प्रारंभ से लेकर पञ्चम काण्ड तक अथर्व वेदके मंत्रोंका सरल भाषानुवाद इस पुस्तक में है । पंडितजी की भाषा अत्यंत सरल है इसलिये यह पुस्तक सब को विशेष उपयोगी सिद्ध होगी, इसमें कोई संदेह नहीं है ।

(३) आर्यपथिक ग्रंथावली ।

(अनु०- श्री प्रेमशरणी प्रणत, आर्य प्रचारक । प्र०- आर्य-प्रकाशन-गृह, प्रेम पुस्तकालय, आग्रा । मू० ४)

आर्य पथिक पं० श्री लेखरामजीका यश सबको परिचित है। उनका जैसा व्याख्यान प्रभावशाली होता था उसी प्रकार उनके लेखोंमें ओज भरा हुआ था । जो लोग इस ग्रंथावलीको पढेंगे उनकी आंखें नवजीवनसे सचेत हो जांयगी ।

(४) अद्वैत वाद ।

(ले०- श्री गंगाप्रसाद उपाध्याय एम्. ए. । प्रका०- श्री. कलाकार्यालय, प्रयाग । मू० १॥) करीब चारसौं पृष्ठोंके इस ग्रंथ में लेखकने अद्वैतवादकी समीक्षा तर्क से की है । जहां तक तर्क की पहुंच है वहां तक होने वाला विचार इस पुस्तक में पाठक देख सकते हैं।

(५) महिला मंगलाचार ।

(सं० श्री० श्रद्धादेवीजी । प्र० प्रेम पुस्तकालय, आगरा । मू. ।) गानेयोग्य उत्तम भजन इसमें हैं।

(६) शुद्धि सर्वस्वम् ।

(सं०- श्री० लक्ष्मणशास्त्री जोशी, तर्कतीर्थ । प्राज्ञपाठशाला, वाई) यह पुस्तक आद्योपान्त संस्कृत भाषामें लिखी है और इसमें ' शुध्दि ' का सिद्धांत शास्त्र प्रमाणोंसे पुष्ट किया है । यह पुस्तक ऐसी है कि जिससे शुध्दि विरोधियोंके भ्रांत मत पूर्ण रीति से खंडित हो सकते हैं ।

(७) ब्रह्मचर्य सन्देश ।

(ले०- श्री. सत्यव्रतजी सिध्दान्तालंकार प्रो० गुरुकुल कांगडी । प्राप्तिस्थान अलंकार कार्यालय, गु. कांगडी. जि. बिजनौर । मू० २)रु. श्री. आचार्य सत्यव्रतजीने इस ब्रह्मचर्य के संदेशको भारत वासियोंके सन्मुख रख कर हमारे देश की बडी ही सेवा की है । ब्रह्मचर्य का विषय अत्यंत महत्व का है । आजकी अवस्था-विशेषतः विद्यार्थियोंकी अवस्था कैसी है यह पाठक जानते ही हैं । इस समयमें ब्रह्मचर्य साधक विचार विद्यार्थियोंके पास जितने जा सकते हैं उतने देने चाहिये । यह कार्य पं० सत्य व्रतजीने बडी योग्यतासे इस पुस्तकमें किया है इस लिये वे आदर के लिये पात्र हैं । जो मनुष्य ब्रह्मचर्य साधन करना चाहते हैं वे इस पुस्तक को आद्योपान्त अवश्य पढें ।

(८) आर्य जातीकी पुकार।

(ले०- श्री. मंगल देव सन्यासी । प्र०- प्रेम पुस्तकालय, आग्रा. । मू. ।=)

(९) विविध पद्यावली ।

(ले०- श्री. श्यामसुंदर पुणेकर । प्र० म. पुणेकर बारामती)

(१०) विभूति धारण विचार ।

(ले० श्री. ब्र. भगवद्दास त्रिवेदी । प्र. म० रामदासजी)

(११) आर्य सार्व देशिक सभा का। बीसवां वृत्तान्त ।

(मंत्री- आ. सार्व. सभा. देहली.)

ब्रह्मचर्य और राष्ट्रोन्नति।

(लेखक— श्रीयुत त्र्यंकटेश गणेश जावडेकर।)

एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कंदयेत् क्वचित्।
कामाद्धि स्कंदयन्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥
(मनु.)

विद्यार्थी कहीं भी सोए। पर उसे अकेले अर्थात् दूसरों से अलग सोना चाहिए। दूसरे किसी के भी साथ उसकी समान-शय्या (common bed.) न होनी चाहिए। यह एक बडा भाग्य ही है कि आज कल प्रायः वैसी समान-शैय्या पद्धति नहीं दिखाई देती। तिसपर भी संभव है कि गरीबों के घर यह पद्धति जारी हो। पर वह अत्यंत घातक और अशास्त्रीय है। एक ही बिस्तर पर और विशेष करके एकही ओढने के कपडे में सोनेपर क्या क्या होना संभव है सो विशद करने की आवश्यकता नहीं है। इसी बात को लक्ष्य करके शास्त्रकारों ने कहा है। ' एकः शयीत सर्वत्र '।

अकेले ही सोना चाहिए। यह तो कह दिया गया। पर सोना किस प्रकार? इसका उत्तर मनु महाराज ने दे दिया है यथा " अधः शय्या पर "। इसमें तनिक भी संदेह उन्होंने नहीं रखा। पहली बात यह कि विद्यार्थि पलङ्ग पर न सोवे। दूसरी बात यह कि वह गद्दे और तकिये पर तो कदापि न सोवें। वास्तव में भूमि ही उसकी शय्या है। शरीर के नीचे कम्बल भर रह जावे। उसके सिरानेसे के लिए तकिए की आवश्यकता नहीं है, उसे तो हाथ पर सिर रखकर ही सोना चाहिए। वाई में एक पाठशाला हैं। जिसका नाम ' प्राज्ञ पाठशाला ' है। उस पाठशाला के मुख्य अध्यापक ब्रह्मचारी नारायण शास्त्री मराठे हैं। ये उक्त नियम का उपयोग अब भी करते हैं। वर्तमान समय के सुखलोलुप विद्यार्थी यही कहेंगे कि शास्त्रकारों का यह पागलपन है। परन्तु बेचारे जानते नहीं कि इस प्रकार कहने वालों की मूर्खता ही जाहिर होती है। क्यों कि शास्त्रकारों का कोई भी विचार हम लोगों के समान थोडे समय के लिए ही नहीं रहा करता। वे सदैव दूर तक की बात सोचते हैं। मृदु शय्या कामोद्दीपक है यह केवल एक ही बात है। पर यदि कल कारावास में वा अंदमान के वंदीगृह में जाना पडा तो वहां क्या गद्दे और तकिए मिलेंगे? वहां क्या मिलता है और वह किस प्रकारका होता है यह उन्ही से पूछा जाय जो वहाँ हो आए हैं। महात्मा गांधी जी के आश्रम में और तत्सदृश वर्धाके आश्रम में भी कडे नियम रखे गए हैं। विचार करना चाहिए कि ऐसे कडे नियम इन आश्रमों में क्यों रखे गए हैं। पश्चिम के वैद्यक के ग्रन्थ-लेखकों का भी मत है कि गृहस्थाश्रमी लोगों को भी 'मृदुशय्या ' (Soft Bed) हानिकर है, उन्हे भी ' कडी शय्या ' (Hard Bed) ही लेनी चाहिए। गृहस्थ भी कडी शय्या क्यों लेवें इस बात के कारण बतलाने का प्रस्तुत स्थल नहीं है।

आर्यों का ध्येय यह कदापि नहीं है कि मृदु शय्या पर पडे पडे आराम करें और गप्पे मारनें में समय बितावें। उनका ध्येय सदासे उच्च रहा है। राष्ट्र का हित चाहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को स्मरण रखना चाहिए कि आर्य कभी भी क्षणिक आराम की ओर नजर नहीं रखते। प्राचीन आर्यों का लक्ष्य यह कदापि नहीं था कि किसी भी प्रकार जन्म लेना, जैसे तैसे जीवित रहना और कभी भी मर जाना। हां, हमलोगों का ध्येय आज अलबत् यही दिखता है, इससे बढकर नहीं दिखता!!

रेतस्कंदन !

विद्यार्थि-मात्र का कर्तव्य है कि वह रेतका (Seminal fluid) स्कंदन कदापि न होने दे। शास्त्रकारों ने 'क्वचित्' शब्द का प्रयोग किया है और इस शब्द का अर्थ कोश-कार 'कुछ स्थानों में' (in some places) बतलाते हैं। परन्तु जब यह निश्चित है कि 'ब्रह्मचर्याश्रम' में 'वीर्यरक्षा' प्रधान कर्तव्य ही है, तब कैसे संभव है कि शास्त्रकार यह कहें कि 'वीर्य का नाश कुछ स्थानों में ही न करना चाहिए'? इस में एक प्रकार से 'वदतो व्याघात' या 'Absurdity' का दोष आता है। कम से कम मेरी अल्प बुद्धि को इस स्थान में 'क्वचित्' का अर्थ 'कुछ स्थानों में' नहीं जचता। चाहे सब जो कुछ भी हो! मेरी राय तो यह है कि 'क्वचित्' का अर्थ 'क्वापि' अर्थात् 'कहीं भी' या 'न कदापि' करने ही से श्लोक का ठीक भाव विदित होता है और श्लोककी संगति जुडती है। वर्ना ब्रह्मचर्यके नियमोंका कहना व्यर्थ ही होता है और 'सब गुड गोवर' हो जाता है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। ब्रह्मचारी के रेत का पतन कदापि न होना चाहिए। वह स्वतः तो उसका किसी भी प्रकार और कभी भी पतन न करावे।

रेत की महत्ता !

प्रत्येक मनुष्य के शरीर में सप्त धातु रहते हैं। वे हैं रस, रक्त, मांस, अस्थि,मज्जा, मेद और शुक्र। इन सब में प्रधान है शुक्र (रेत)। शरीर का शुक्र यदि शुद्ध है तो शेष धातु भी अपने अपने काम उत्तमता से करती हैं। शुक्र का विशेषणात्मक वैदिक अर्थ है 'Bright, radiant, shining.' उसका संज्ञात्मक अर्थ है 'Semen, virile' अर्थात् 'प्रभावशाली वीर्य'। शुक्र ही शरीर का सच्चा तेज है। यदि यह शुक्र अपने स्थान से स्खलित हो जाय, तो शेष छहों धातु स्खलित हो जाती हैं। रेतस्कंदन की जिसे आदत पड गई है उसके मुख की ओर देखने ही से इस बात का पता चलता है।

अग्निमूलं बलं पुंसां रेतोमूलं च जीवितम्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन वह्निं शुक्रं च रक्षयेत्॥

हमारे आर्य-वैद्यक का यह सिद्धांत है। वैद्यक शास्त्र के अनुसार मनुष्य का जीवित ही रेतोमूल है। जिस प्रमाण में रेतका नाश होता है, उसी प्रमाण में मृत्यु पास आती है। वज्रांग हनुमान् चिरंजीव क्यों हैं और हम लोग अल्पजीवी अथवा लघु-जीवी क्यों हैं? हम लोगोंका जीवन दीर्घ क्यों नहीं है? पितामह भीष्म इच्छा-मरणी क्यों थे और हम लोग चिऊंटी और मक्खीके समान क्यों मरते हैं।

इसका एकही कारण है। कारण यह कि उनके वीर्य का नाश ही नहीं होता था। वह सदैव संचित एवं परिपूर्ण रहता था। वे मृत्यु को आव्हान (challenge) करते थे कि आओ और तुममें शक्ति हो, तो हमे ले जाओ। प्रत्यक्ष मृत्युभी उनसे डरता था। उसे यही लगता था कि 'यदि मैं इनके शरीर को केवल स्पर्श ही करूं और वे ही मुझे पकड लें, तो उनके पंजे से छुडानेवाला त्रिभुवन में भी कोई नहीं दिखता। तब मैं किसकी प्रार्थना करूं और कौन मुझे छुडावेगा?' इससे मृत्यु भी उनसे कोसों दूर भागता था। परन्तु जो वीर्यनाश करके तेजोहीन हुए हैं, उन्हें पकड कर वह लथियाते हुए ले जाता है। अस्तु।

विद्यार्थि अवश्य देखे और खूब ध्यान दें कि (Melvil keith) साहब रेत के विषयमें क्या कहते हैं।

This seed (रेत) is a marrow to your bones, food to your brain, oil to your joints and sweetness to your breath and if you are a man you should never lose a drop of it until you are fully thirty years of age, and then only for the purpose of having a child which shall be blessed from heaven and ready one of the inmates of the kingdom of heaven by being born again."

'रेत तुम्हारी हड्डी की मज्जा के समान है, मस्तिष्क का खाद्य है, जोडोंके तेलके सदृश है और

श्वास को माधुरी देनेवाला है । यदि तुम पुरुष हो तो अपने वीर्य का बिन्दुमात्र भी, तीस वर्ष की अवस्थातक नष्ट न होने दो । तत्पश्चात् भी वीर्य का जो खर्च होगा वह केवल संतान उत्पन्न करने के लिए ही हो, अधिक नहीं । ऐसे पुरुष की जो संतान होगी वह मृत्यु लोक की अन्य संतानों के समान नहीं होगी वह ' दिव्य संतान ' होगी ।

देखने योग्य बात है कि हमारे पूर्वज और ' मेलविल साहब के विचार कैसे तंतोतंत मिलते हैं ' ।

गृहस्थ आश्रम में स्त्री-परिग्रह करना आवश्यक है । परंतु वह विषय वासना को तृप्त करने के लिए कदापि नहीं है, वह संतान उत्पन्न कर पितरों के ऋण से मुक्त होने ही के लिए है । उक्त अवतरण में जो विचार है वह हमारे इस प्राचीन विचारों की ही छाया है । यदि यह विचार दृढ हो जावे कि स्त्री सेवन विषय वासना की तृप्ति के लिए नहीं है वह उच्च उद्देश को सिद्ध करने के लिए है, तो मनुष्य फजूल अतएव अशास्त्रीय विषयसेवन कदापि न करेगा और वीर्य की अवास्तविक हानि रुक जाय तो शरीर में वीर्य-संचय अवश्यही होगा । दारपरिग्रहके बाद भी जो विषय सेवन करना है उसकी शास्त्र-विधि है । उस विधी की पर्वाह न करने का फल साक्षात् भगवान् ही ने कहा है-

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥

वास्तव में विवाहित अवस्था की बातें यहां बतलाने की आवश्यकता न थी । परन्तु मेलव्हिल कीथ साहब के विचारों की पूर्ति के लिए यह कहना पडा । आजकल स्कूल और कालिजों में पढने वाले विद्यार्थियों में कई ऐसे हैं जो विवाहित हैं । वे एक ओर विश्वविद्यालय की पदवी प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करते हैं, और दूसरी ओर स्त्रीसंग भी करते हैं । ऐसे विद्यार्थियों की चर्चा उपकारक होगी या अनुपकारक ? यदि उपकारक होगी तो मुझे किसी का संकोच करने की आवश्यकता नहीं है । कार्य और अकार्य का प्रमाण स्वयं भगवान ने अर्जुन से इस प्रकार कहा है कि—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥

ब्रह्मचारी मनमाना बर्ताव करता है और गृहस्थ का भी ऐसा ही हाल है । तब न जाने इसका फल क्या होनेवाला है । इस प्रकार के बर्ताव से व्यक्ति की भी भलाई न होगी । राष्ट्रकी भलाई की बात तो दूर है । मनुष्य में योग्यता उत्पन्न हो तो वह कुछ कर सकेगा । पर वह योग्यता शास्त्रविधिकी लापर्वा ही से होगी, यह तो मेरा विश्वास कदापि नहीं है । सभी लोग चिल्ला रहे हैं कि शारीरिक न्हास हो रहा है । पर कर्म को न सुधारकर केवल इस प्रकार चिल्लाना अरण्य रुदन के समान है । केवल चिल्लाने से भला क्या लाभ हो सकता है?

रेतबिन्दु की कीमत ।

प्राचीन धर्मशास्त्र, तत्पश्चात् का आर्यवैद्यक और आजकल का आङ्ग्ल वैद्यक पूर्ण एकमत से कहते हैं कि शरीरमें उत्पन्न होनेवाला वीर्य बडी कीमती चीज है और उसका जरा भी अपव्यय न होना चाहिए । पश्चिमके डाक्टरोंने तो रक्त और रेत का प्रमाण भी निश्चित कर लिया है । उनका कहना है कि रक्त के ४० बूंदोंके बराबर रेत का एक बूंद है । इससे यही सिद्ध होता है कि एक रेतबिंदु फजूल खर्च करना शरीरके खून के चालीस बूंद फजूल खर्च करने के बराबर है । ऐन जवानी की अवस्थामें किसी को (consumption) और किसीको(Tuberculosis) है । और कुछ नहीं तो (Short-sight) ही है । ये सब आपत्तियां क्या हैं ? ये क्यों होती हैं ? वास्तव में जवान का शरीर ऐसा तेजसे भरा होना चाहिए जैसे लहलहाता हुआ हराभरा पौधा । पर आजकलके जवान क्या हैं ? शुष्क काष्ठ ! ऐसा क्यों? कारण सबका एक ही है । वह कारण यही वीर्य-रक्षा की ओर ध्यान न देना । जिसका वीर्य स्थिर है उसे राजयक्ष्मा या क्षय होगा ही कैसे ? जिसका वीर्य स्थिर है उसे एकाएक दृष्टि-मांद्य भी नहीं हो सकता । किसी भी आपत्ति की जड पहले अपने में ढूंढनी चाहिए । तत्पश्चात् दूसरों को दोष देना चाहिए ।

" कामाद्धिस्कंदयन्रेतः।"

रेतस्कंदन ही जब मना है, तब बुद्धिपुरःसर और कामवासना से तो कदापि न करना चाहिए। इसे अधिक विस्तार से कहने की आवश्यकता ही नहीं।

" हिनस्ति व्रतमात्मनः।"

यदि विद्यार्थी से रेतस्कंदन बुद्धिपुरःसर होवे तो उसका व्रत अर्थात् ब्रह्मचर्य नष्ट हो जाता है। ब्रह्मचर्य की योग्यता व्रत के समान है। बुद्धिपुरःसर वीर्यपात करनेसे व्रतभंग अवश्यही होगा। विद्याभ्यास का आरंभ करना व्रत-पालन के आरंभ के समान है। इसी व्रत को शास्त्रकार 'ब्रह्मचर्य' कहते हैं। शास्त्रकारों ने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है—

" ब्रह्मणे वेदविद्यायै कस्यै विद्यायै वा चर्यते इति ब्रह्मचर्यम्।"

इसका सरल अर्थ यही है कि ब्रह्मविद्या हो, वेदविद्या हो, वा अन्य कोई भी विद्या हो, उसके यथार्थ रीति से संपादन करने को जिस व्रत का आचरण करना आवश्यक है उसे 'ब्रह्मचर्य' कहते हैं। अर्थात् विद्यार्थीदशा या ब्रह्मचर्य कुछ हँसी खेल नहीं है। भावी आयुष्य की 'इतिश्री' इसी एकमात्र व्रत पर निर्भर है। जैसे गणित में सवाल हल करते समय यदि आरम्भ में थोडी ही भूल हो जावे, तो आगेका सवाल चाहे जितना करते जावें वह गलत ही होगा। उसी प्रकार आयुष्य का भी हाल है। आयुष्यके गणित की पहली रीति ही यदि गलत हो जावे तो उत्तर कहां से ठीक आवेगा ? और तब रोनेसे भी क्या लाभ होगा ? जो कुछ रोना है वह आरम्भ ही में रो लेना चाहिए और जितनी फिक्र करनी है वह भी आरम्भ ही में करनी चाहिए, तभी कुछ लाभ होगा।

जब हम देखते हैं कि बंगालमें कितनी क्षयकी वृद्धि हुई है तब हृदय विदीर्णसा होता है। देखिए:-

" CONSUMPTION IN BENGAL "

The yearly toll exacted by this disease is ten lakhs of people. Twelve persons are carried off per hour. Amongst ten Bengalis generally nine have the seeds of this disease. This is particularly true with regard to big cities like Calcutta. Death-rate amongst women old enough for maternity is six times that among men of the same age"

(The telegraph dated 28-8-26)

बंगाल के कुछ भागों की हवा मलेरियासे अत्यंत परिपूर्ण है। उन स्थानोंमें मलेरियासे मरना स्वाभाविक ही है। परन्तु क्षय से मरने का कारण कहीं नहीं है। कलकत्ता जैसे शहरों में ही क्षयसे पीडित अधिक क्यों हैं ? अन्य कारण कुछ भी हो। हम यही समझते हैं कि इसका प्रधान कारण शहरोंमें गांवोंकी अपेक्षा 'अब्रह्मचर्य' की अधिकता ही है। अकेले बंगाल में प्रतिवर्ष क्षयसे १० लाख मनुष्य मर जाते हैं। प्रत्येक घण्टेको १२ मनुष्य इस रोगके कारण कालके गालमें समाते हैं। इस भयानक संहार का मूल मुख्यतः वीर्यनाश ही होना चाहिए। क्षय रोगके अन्य कारण भी होंगे जैसे खानेपीनेमें अनियमितता, उसके आनुषंगिक दुष्परिणाम, अशुद्ध हवाका सेवन और काफी व्यायाम का अभाव इत्यादि। परन्तु सूक्ष्म जांच करने पर प्रमुख कारण वीर्यनाश ही मीलेगा। कलकत्तेके 'डेली टेलीग्राफ' ने जो 'डेंजर सिग्नल' सारे हिंदुस्थान को दिखाया है, क्या उससे भी हमारे नवयुवक कुछ बोध लेंगे और सावधान होंगे ?

हमारे धर्मका सिद्धान्त।

हर एक मनुष्य समझता है कि मेरा ही धर्म सर्व-श्रेष्ठ है। मनुष्यमें अन्ध-श्रद्धा की मात्रा जितनी अधिक होगी उतनाही उसका स्वधर्म की श्रेष्ठताका विश्वास दृढ होगा। यह अंधश्रद्धा का विश्वास यदि न्याय की कसौटी पर कसा जाय, तो निश्चयसे नहीं कह सकते कि वह खरा सिद्ध होगा। जो विश्वास के प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता मनुष्य उसे अपने हृदय में चाहे जैसा दृढ बनाए रखे। उसे इसमें कोई भी प्रतिबंध न करेगा। किन्तु जब वह मनुष्य यह विश्वास दूसरे पर जबरन लादता चाहता है,या अपने धर्म पंथ को दूसरोंके पंथसे श्रेष्ठ बतलाता है तब उसे प्रमाणोंसे सिद्ध करना होगा। इस प्रकार प्रमाणोंकी कसौटी पर कसे जाने पर उस धर्मपंथ का खरापन तभी सिद्ध हो सकता है जब कि उसके प्रमाण शुद्ध हों।

आजकल हमारे देशमें तथा अन्यान्य देशोंमें अनेक धर्म तथा अनेक पंथ जारी हैं। हर एक मनुष्य कहता है कि मेरे ही पंथके अनुसार चलनेसे मनुष्य सीधा स्वर्गको पहुँचता है। इनमेंसे किस पंथ के अवलम्बनसे मनुष्य सीधा स्वर्गको पहुंचेगा सो तो कहना कठिन है, किन्तु इस अदृश्य फलके बल पर धर्मकी श्रेष्ठता का निश्चय करना नहीं चाहिए। यह बात सत्य है कि कई आचार्योंने कहा है कि धर्म का 'अदृष्ट फल' रहता है। किन्तु हम उसे मानने के लिए बंधे नहीं हैं। हम इससे भी सरलतासे अपने धर्म की श्रेष्ठता सिद्ध कर सकते हैं। धर्म के मूल सिद्धान्तों को देखना चाहिए। जिन मूल सिद्धान्तों पर धर्म स्थित है उनकी जाँच कर धर्म की श्रेष्ठता सिद्ध करना, अधिक निर्दोष रीति है। इसी लिए अब हम देखेंगे कि हमारा सनातन वैदिक धर्म किन सिद्धान्तोंपर स्थित है।—

हमारे धर्ममें तत्वज्ञान की प्रधानता है। इस लिए इसमें ढोंगबाजिको स्थान नहीहै। ऋषि मुनियोंने इस धर्मका विचार जिस तरह किया है,उसी तरह यदि हम भी विचार करने लगें और अपने धर्मके मूल सिद्धान्तों की ओर चलें तो निम्न लिखित बातें नजर आती हैं।-

हमें किस धर्मका विचार करना है ?

मनुष्य-धर्मका।

मनुष्य-धर्मका क्या अर्थ है ?

मनुष्य का जो धर्म है उसे मनुष्य धर्म कहते हैं।

मनुष्य का क्या अर्थ है ?

जो मनन करता है वही मनुष्य है।

तब मनन करने वाले का जो धर्म वही मनुष्य धर्म होगा।

मनुष्य में जितनी शक्तियाँ हैं, उन सब की उन्नति के विषयमें मनन कर उत्कर्ष के सच्चे नियमों को ढूंढ कर निकालने को ही मनन कहेंगे।

मनुष्य में कौन कौनसी शक्ति है?

आत्मा, बुद्धि, मन, इन्द्रियां ज्ञानेन्द्रियां तथा कर्मेन्द्रियां तथा शरीर इनमें अनन्त शक्तियां हैं। वे सब शक्तियां मनुष्य में हैं ही। अन्य प्राणियों में भी ये शक्तियाँ हैं किन्तु वे इनकी वृद्धि नहीं कर सकते। इसलिए उनमें इन शक्तियों का होना या न होना एक बराबर है।

इसका मतलब यह कि उपरोक्त शक्तियों की वृद्धि जिन नियमों से होती है उन्ही का नाम धम है और जिस से उन शक्तियों की वृद्धि रुक जाती है वह अधर्म है। सब लोगोंको चाहिए कि सनातन वैदिक धर्म के इस सिद्धान्तको वे ध्यान पूर्वक सोचें।

मनुष्य में इतने तत्व हैं और उनकी उत्क्रांति करनी है। इस उत्क्रान्ति में सहायता पहुंचाने वाले नियम धर्म नियम हैं और बाधा डालने वाले नियम अधर्म है। सनातन धर्मके अनुसार धर्म और अधर्म का यही विचार है।

अब एक ही बात बची। वह बात है ' व्यक्ति का समाज से तथा समष्टि से संबंध देखना '। व्यक्ति में जो पूर्वोक्त शक्तियां हैं उनका विकास कर उनका

उपयोग समष्टिकी भलाई के लिए करना चाहिए। अपने धर्म के सब व्यवहारों का विचार इतनी ही बातों पर ध्यान देकर किया जाता है।

हमारे धर्म का यही तत्त्वज्ञान है। इसके लिए दो एक वचन नीचे दिए जाते हैं।-

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिंद्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥
भ. गी. ३।४२॥

अर्थात् बाह्य पदार्थों के परे इन्द्रियाँ हैं, इन्द्रियों के परे मन, मन के परे बुद्धि और बुद्धि के परे आत्मा है। इसी तरह।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥३॥
इन्द्रियाणि हयान्याहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
कठ उ० ३।३

अर्थात् 'आत्मा रथमें बैठने वाला है, शरीर रथ है, बुद्धि सारथि, मन लगाम, इन्द्रियाँ घोडे और विषय उनके चरने का क्षेत्र है।'

इसमें उपरोक्त सिद्धान्तका दूसरे अलंकार में वर्णन किया गया है। जिस प्रकार उत्तम घोडे रथमें बैठने वाले को इष्ट स्थान में पहुँचा देते हैं उसी प्रकार उत्तम इन्द्रियां मनुष्य की उन्नति करती हैं। किन्तु ये इन्द्रियाँ बिगड जायें तो बिगडे दिल घोडों की तरह वे इस शरीर रूप रथ का सत्यानाश कर देती हैं। पाठक यदि केवल इस अलंकार पर ही विचार करेंगे तो उन्हे ज्ञात होगा कि मनुष्य धर्म की उन्नति या अवनति किससे हो सकती है।

अब, कहना यही कि हमारा धर्म इन तत्वों का विचार करता है। इन तत्वों के उत्कर्ष के नियमों से ही असली सनातन धर्म बना है।

इसी का नाम 'अध्यात्म विचार' है। और यही हमारे धर्म की नींव है।

हमारे धर्मग्रन्थों के इस मूल तत्त्वज्ञान को पाठक पहले देख लें, तत्पश्चात् वे वर्तमान अन्य प्रचलित धर्मों की जाँच करें तब वे सहज ही में समझ लेंगे कि कौन धर्म शुद्ध और बलवान है।

धर्म की श्रेष्ठता आग्रह वा अंध विश्वास पर अवलम्बित नहीं रहती, इसके विपरीत, इससे धर्म की योग्यता घट जाती है। धर्म का बडापन उसके मूल भूत तत्त्वोंपर निर्भर है। इसी लिए प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि वह अपने धर्म के इस आधार का मनन करे और इसी दृष्टिसे अपने धर्म के रीति रस्मों पर विचार कर उनमें जो सिद्धान्त हैं उन्हे जान लेवे।

इससे सनातन वैदिक धर्म की सार्वभौमता सिद्ध होती है। उपरोक्त तत्व सब मनुष्यों में हैं। यह नहीं कि वे आर्योंमें ही हैं और मुसलमानों में नहीं है। सब मनुष्यों की उन्नति के सनातन नियम एकसे ही हैं। मनकी एकाग्रता के लिए जिन नियमों का पालन करना आवश्यक है वे हिंदु, मुसलमान, इसाई और अन्य सब मनुष्यों के लिए समान ही हैं। यह सिद्धान्त हमारे रोम रोम में भरा है इसी से हम सबसे कहते हैं 'मनुष्य धर्मके अनुसार चलो'। हम कभी नहीं कहते कि अमुक धर्मको छोडो और अमुकका स्वीकार करो किन्तु अन्य सब धर्मके लोग इस बातको कहते हैं। इतना ही नहीं अन्य पंथोंका ऐसी भाषा विना बोले चल ही नहीं सकता। क्यों कि अन्य किसी धर्म की जड उपरोक्त शुद्ध तत्त्वज्ञानके बलपर मजबूत नहीं बनाई गई। इसी लिए उन्हे 'मनुष्य धर्म' की कल्पना भी नहीं होती। 'मनुष्य-धर्मका जो विचार' हमारे धर्म में है उसे यदि सब धर्म अपना लेवें तो धर्मके नाम पर झगडा करनेका काम ही न पडेगा। इसी लिए हमारा कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने सनातन वैदिक धर्मके इस महत् तत्त्व को समझ लेवे।

आसनोंका अनुभव।

(ले— श्री० सोजीराम ब्रजलाल; आगर)

आपके प्रश्न के उत्तर में नीचे मुताबिक अर्ज है।

(१) दो साल के पहिले मेरी अवस्था बहुत सोचनीय थी और यह अवस्था लग भग १३ साल से बीगडी थी। मैंने तन्दुरस्ती हासल करने के लिये कोई देशी हकीमों डाक्टरोंका इलाज किया लेकिन कुछभी फायदा नहीं हुवा। आखिरकार गोपीलाल जी जोतीशी से आसनों की पुस्तकका हाल मालुम हुवा। वो मैंने उनसे लेकर पडी और दूसरे दिन से ही आसनोंका अभ्यास शुरू कर दीया। जो आसन मै करता रहा और अब करता हूं वे ये हैं।

(१)	ताडासन	मीनिट १५
(२)	सर्वांगासन	१५
(३)	उर्ध्व सर्वांगासन	५
(४)	कर्ण पीडनासन	५
(५)	पश्चिमोत्तानासन	३
(६)	शिर्षासन	२५

यह उपरके आसन करनेसे मुझे वो तन्दुरस्ती हासिल हुई है कि जिसे देखकर रा०रा० डाक्टर सा०गोविंदरावजी कृष्ण वैद (आगरा हासपेटल) ताजुबके साथ तारिफ करते हैं।

आसनोंके पहिलेकी हालत मेरी यह थी कि मै बहुत दुर्बल हो गया था। खाने पीनेमें जरा भी रुची नहीं रही थी। थोडा भी खाया अजीर्ण हो जाता था। दिन में छे वखत पाखाना जाताथा तोभी सफाई नहीं होती थी। आधासिर चोवीस ही घन्टे सालमें पांच छे मरतबा दुखता था। हीलने फिरनेमें थकावट जलदी आती थी। रातको तीन बजे बाद मुमेंसे पानी छुटता था जो दातोन करनेके बाद बंद होता था। लिखनेका मतलब यह है कि पेट की शिकायत बहुत थी। कभी कभी पेट भी दुखा करता था। इन तमाम बीमारीयोंके इलाजके लिये मैंने डाक्टर और देशी हकीमों के इलाजके अलावा छे छे महीने तक नीमकी नींबोली तोला तोला भर पीसकर खाजाता था। हरड तोला तोला भर खाजाता था मगर फिर भी कोई लाभ नहीं हुवा।

उपरके आसनोंसे यह कुल शीकायते छे महिनोंके बाद रफु चक्कर होगई और अब शरीर की हालत बहुत अच्छी है। छेसेर खुन बढ गया है। भूख खुब लगती है। पेट बिलकुल नरम है नीरोग है। भोजन स्वादिष्ट लगता है।

इन आसनों को करते हुवे मुझे दो साल हुवे इस अरसे में मेरा १३ साल का बीगडा हुवा स्वास्थ्य फिर प्राप्त हुवा। अब आज कलमें हर कीसी शक्स को आसन करने के लिये हर वक्त उत्तेजना दिया करता हूं और बहुतसे आदमीयोंसे कराना भी शुरू कर दिया है। उनोका तजुरबा फिर लिखा जावेगा। आप अपने बीचार के अनुसार जो मेरी हालत को छपाना चहाते हैं बडी अच्छी बात है। क्योंकि इससे जनता को बडा फायदा पहुंचने की आशा है। मैंने यहां लोगोंका स्वास्थ्य दुरस्त करने की इच्छा से एक व्यायाम शाला खुलवाई है। प्रयत्न मेरा है लाभ उठाना लोगों के हाथमें है।

इस समय मेरी आयु ४६ साल की है।

अथर्ववेद

स्वाध्याय।

(अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।)

चतुर्थ काण्ड।

लेखक और प्रकाशक।

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,

स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

प्रथम वार

संवत् १९८५, शक १८५०, सन १९२८

जागते रहो !!

नूनं तदस्य काव्यो हिनोति
महो देवस्य पूर्व्यस्य धाम ।
एष जज्ञे बहुभिः साकमित्था
पूर्वे अर्धे विषिते ससन्नु ।

अथर्ववेद ४।१।६

" निश्चयसे ज्ञानी ही इस प्राचीन महादेव का धाम प्राप्त करता है। यह ज्ञानी बहुतों के साथ जन्मा था, परंतु जिस समय (उस धामका) पूर्व द्वार खुल गया था, (उस समय अन्य लोग) सोये पडे थे, (और केवल यह ज्ञानी ही जागता था, इस लिये इस ज्ञानी का अंदर प्रवेश हुआ और दूसरे बाहरही रह गये । "

मुद्रक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर, स्वाध्याय मंडल,
भारत मुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा)

अथर्व वेदका स्वाध्याय।

[अथर्व वेदका सुबोध भाष्य।]

चतुर्थ काण्ड।

इस चतुर्थ काण्डका प्रारंभ "ब्रह्म" शब्दसे हुआ है। यह ब्रह्म शब्द अत्यंत मंगल है और इस शब्दद्वारा परममंगलमय परब्रह्मकी विद्या इसमें कही है।

अथर्ववेद	प्रथम काण्डका प्रारंभ	"शं"	शब्दसे हुआ है।	
,,	द्वितीय ,, ,,	"वेनः"	,,	,,
,,	तृतीय ,, ,,	"अग्निः"	,,	,,
,,	चतुर्थ ,, ,,	"ब्रह्म"	,,	,,

ये प्रारंभके शब्द कुछ विशेष भावके सूचक निःसंदेह हैं। यद्यपि अथर्व प्रथम काण्ड का प्रारंभ "ये त्रिषप्ताः" से होता है और "शं नो देवी" सूक्त छठवां है,तथापि ब्रह्मयज्ञपरिगणनमें, महाभाष्यमें तथा अन्यत्र भी "शं नो देवी" सूक्तसे अथर्ववेदका प्रारंभ माना है, इससे स्पष्ट होता है कि ये प्रथम के पांच सूक्त भूमिकारूप हैं।

इस चतुर्थ काण्डमें चालीस सूक्त हैं और इसके पांच सूक्तोंका एक अनुवाक, ऐसे आठ अनुवाक हैं। यह चतुर्थ काण्ड प्रधानतया सात मंत्रोंवाले सूक्तोंका है, तथापि इसमें अधिक मंत्रवाले सूक्त भी हैं, इसकी गिनती इस प्रकार है—

७ मंत्रवाले	२१	सूक्त हैं,	जिनकी	मंत्रसंख्या	१४७ है,
८ ,,	१०	,,	,,	,,	८० ,,
९ ,,	३	,,	,,	,,	२७ ,,
१० ,,	३	,,	,,	,,	३० ,,
१२ ,,	२	,,	,,	,,	२४ ,,
१६ ,,	१	,,	,,	,,	१६ ,,
	कुलसूक्तसंख्या ४०				कुलमंत्रसंख्या ३२४

इस प्रकार काण्डमें २१ सूक्त ही सात मंत्रवाले हैं, और शेष १९ सूक्त आठ या आठसे अधिक मंत्रवाले हैं। प्रथम काण्डके १५३ मंत्र, द्वितीय काण्डके २०७ मंत्र, तृतीय काण्डके २३० मंत्र और चतुर्थ काण्डके ३२४ मंत्र हैं, इस प्रकार क्रमशः मंत्र संख्या बढ रही है।

पहले तीन काण्डोंमें प्रत्येकमें दो प्रपाठक और छः अनुवाक थे, परंतु इस चतुर्थ काण्डमें तीन प्रपाठक और आठ अनुवाक हैं। इस प्रकार सब मिलकर चतुर्थ काण्डकी समाप्तितक नौ प्रपाठक और छब्बीस अनुवाक हुए हैं। अब इस चतुर्थ काण्डके ऋषि देवता और छन्द देखिये—

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द.
१ प्रथमोऽनुवाकः। सप्तमः प्रपाठकः।				
१	७	वेनः	बृहस्पतिः। आदित्यः	त्रिष्टुप्।
२	८	,,	आत्मा	,, ; ६पुरोऽनुष्टुप्;८ उपरिष्टा ज्ज्यौतिः
३	७	अथर्वा	रुद्रः। व्याघ्रः।	अनुष्टुप्; १पंक्तिः; ३ गायत्री। ७ ककुम्मतीगर्भोपरि· ष्टाद्बृहती।
४	८	,,	वनस्पतिः।	,, ४ पुरउष्णिक्; ६,७ भुरिजौ।
५	७	ब्रह्मा	(स्वापनं) ऋषभः	,, २ भुरिक्;७पुरस्ताज्ज्यो- तिस्त्रिष्टुप्।
२ द्वितीयोऽनुवाकः।				
६	८	गरुत्मान्	तक्षकः	,,
७	७	,,	वनस्पतिः	,, ४ स्वराट्।
८	७	अथर्वांगिराः	चन्द्रमाः। आपः। (राज्याभिषेकः)	,, १, ७ भूरिक् त्रिष्टुप्; ३ त्रिष्टुप्; ५ विराट् प्रस्तारपंक्तिः।
९	१०	भृगुः	त्रैकाकुदाज्जनं	,, २ककुम्मती; ३ पथ्यापंक्तिः।
१०	७	अथर्वा	शंखमणिः	,, ६ पथ्यापंक्तिः; ७ पञ्चप· दा परानुष्टुप्शाक्वरी।
३ तृतीयोऽनुवाकः।				
११	१२	भृग्वंगिराः	अनड्वान्। इन्द्रः	त्रिष्टुप्। १, ४ जगती, २ भुरिक्,

					७ त्र्यवसाना षट्पदानुष्टुब्गर्भोपरिष्टाज्जागतानिचृच्छक्वरी;८-१२अनुष्टुभः।
१२	७	ऋभुः	वनस्पतिः	अनुष्टुप्।	१ त्रिपदा गायत्री, ६ त्रिपदा यवमध्या भुरिग्गायत्री; ७ बृहती।
१३	७	शंतातिः	चन्द्रमाः। विश्वेदेवाः	,,	
१४	९	भृगुः	आज्यं। अग्निः	त्रिष्टुप्।	२, ४अनुष्टुभौ; ३ प्रस्तार पंक्तिः; ७, ९ जगती; ८ पञ्चपदातिशक्वरी।
१५	१६	अथर्वा	मरुत्। पर्जन्यः।	,,	१, २, ५ विराड् जगती, ४ विराड् पुरस्ताद् बृहती ७ (८), १३ (१४) अनुष्टुप्; ९ पथ्यापंक्तिः; १० भुरिग्; १२ पञ्चपदानुष्टुब्गर्भा भुरिग्; १५ शंकुमत्यनुष्टुब्।

४ चतुर्थोऽनुवाकः।

१६	९	ब्रह्मा	वरुणः(सत्यानृतोऽन्वीक्षणं)	,,	१ अनुष्टुप्; ५ भुरिक्; ७ जगती; ८ त्रिपान्महाबृहती; ९ विराण्नामत्रिपाद्गायत्री।
१७	८	शुक्रः	अपामार्गः। वनस्पतिः	अनुष्टुप्	
१८	८	,,	,, ,,	,,	६ बृहतीगर्भा।
१९	८	,,	,, ,,	,,	२ पथ्यापंक्तिः।
२०	९	मातृनामा	मातृनामादेवता।	,,	१ स्वराज्; ९ भुरिक्।

५ पंचमोऽनुवाकः। अष्टमः प्रपाठकः।

२१	७	ब्रह्मा	गावः।	त्रिष्टुप्।	२-४ जगती।
२२	७	वसिष्ठः;अथर्वा।	इन्द्रः	,,	
२३	७	मृगारः	प्रचेता अग्निः।	,,	३ पुरस्ताज्ज्योतिष्मती ४ अनुष्टुप् ६ प्रस्तारपंक्तिः।
२४	७	,,	इन्द्रः	,,	१ शक्वरीगर्भा पुरःशक्वरी
२५	७	,,	वायुः। सविता।	,,	३ अतिशक्वरीगर्भाजगती; ७ पथ्या बृहती।

६ षष्ठोऽनुवाकः।

२६	७	मृगारः	द्यावापृथिवी	त्रिष्टुप्	१ परोऽष्टिर्जगती; ७ शाक्वरगर्भातिमध्येज्योतिः।
२७	७	,,	मरुतः	,,	
२८	७	,,(अथर्वा)	भवशर्वौ। रुद्रः।	,,	१ द्व्यतिजागतगर्भा भुरिक्।
२९	७	,,	मित्रावरुणौ	,,	७ शाक्वरीगर्भाजगती।
३०	८	अथर्वा	वाक्	,,	६ जगती।

७ सप्तमोऽनुवाकः। नवमः प्रपाठकः।

३१	७	ब्रह्मा स्कन्दः	मन्युः	,,	२,४ भुरिक्; ५-७जगती
३२	७	,,	,,	,,	१ जगती।
३३	८	ब्रह्मा	पाप्मा। अग्निः।	गायत्री।	
३४	८	अथर्वा	ब्रह्मौदनं।	त्रिष्टुप्।	४ भुरिक्; ५ त्र्यवसाना सप्तपदा कृतिः;६ पंचपदातिशक्वरी; ७ भुरिक्शक्वरी; ८ जगती।
३५	७	प्रजापतिः	अतिमृत्युः	,,	३ भुरिग्जगती।

८ अष्टमोऽनुवाकः।

३६	७	चातनः	सत्यौजाः। अग्निः।	अनुष्टुप्।	९ भुरिक्
३७	१२	बादरायणिः	अजशृंगी। अप्सराः	,,	३ त्र्यवसाना षट्पदात्रिष्टुप्; ५ प्रस्तारपंक्तिः; ७ परोष्णिक्; ११ षट्पदा जगती; १२ निचृत्।
३८	७	,,	अप्सराः। ऋषभः	,,	३ षट्पदात्र्यवसाना जगती, ५ भुरिगत्यष्टिः; ६ त्रिष्टुप्; ७ त्र्यवसाना पञ्चपदानुष्टुब्गर्भापुरउपरिष्टाज्ज्योतिष्मती जगती।
३९	१०	अङ्गिराः	सान्नत्यं। नानादेवताः	पंक्तिः।	१,३,५,७ महाबृहती; २,४,६,८संस्तारपंक्तिः; ९,१० त्रिष्टुप्
४०	८	शुक्रः	बहुदैवत्यं।	त्रिष्टुप्	२ जगती; ८ जगती पुरोतिशक्वरी पादयुग्।

ये सूक्तोंके ऋषि देवता और छन्द हैं। अब इनका ऋषिक्रमानुसार विभाग देखिये-

१ अथर्वा- ३, ४, १०, १५, (२२, २८), ३०, ३४ ये आठ सूक्त।
२ मृगारः— २३—२९ ये सात सूक्त।
३ ब्रह्मा— ५, १६, २१, ३३ ये चार सूक्त।
४ शुक्रः- १७-१९, ४० ये चार सूक्त।
५ भृगुः— ९, १२, १४ ये तीन सूक्त।
६ गरुत्मान्— ६, ७ ये दो सूक्त।
७ बादरायणिः— ३७, ३८ ,, ,,
८ ब्राह्मा स्कन्दः- ३१, ३२ ,, ,,
९ वेनः — १, २ ये दो सूक्त।
१० अङ्गिराः— ३९ यह एक सूक्त।
११ अथर्वाङ्गिरसः— ८ ,, ,,
१२ चातनः— ३६ ,, ,,
१३ प्रजापतिः— ३५ ,, ,,
१४ भृग्वङ्गिराः— ११ ,, ,,
१५ मातृनामा— २० ,, ,,
१६ वसिष्ठः— २२ ,, ,,
१७ शंतातिः १३ ,, ,,

ये ऋषिक्रमानुसार सूक्त हैं, अब देवताक्रमानुसार सूक्तक्रम देखिये—

१ वनस्पतिः — ४, ७, १२, १७—१९ ये छः सूक्त।
२ अग्निः— १४, २३, ३३, ३६ ये चार सूक्त।
३ अपामार्ग— १७-१९ ने ये तीन सूक्त।
४ इन्द्रः— ११, २२, २४, ,, ,, ,,
५ अप्सराः— ३७, ३८ ये दो सूक्त।
६ ऋषभः— ५, ३८ ,, ,,
७ चन्द्रमाः— ८, १३ ,, ,,
८ नानादेवताः- ३९, ४० ,, ,,
(बहुदेवताः) ,, ,, ,, ,,
९ मन्युः— ३१—३२ ,, ,,

१० मरुत्—१५, २७ ये दो सूक्त।
११ रुद्रः— ३, २८ ,, ,,
१२ अजश्रृंगी— ३७वां एक सूक्त।
१३ अञ्जनं— ९ ,, ,, ,,
१४ अतिमृत्युः— ३५ ,, ,, ,,
१५ अनड्डुत् ११ ,, ,, ,,
१६ आज्यं १४ ,, ,, ,,
१७ आत्मा २ ,, ,, ,,
१८ आदित्यः १ ,, ,, ,,
१९ आपः ८ ,, ,, ,,
२० गावः २१ ,, ,, ,,
२१ तक्षकः ६ ,, ,, ,,
२२ द्यावापृथिवी २६ ,, ,,
२३ पर्जन्यः १५ ,, ,,
२४ पाप्मा ३३ ,, ,,
२५ प्रचेता अग्निः २३ ,, ,,
२६ बृहस्पतिः १ ,, ,,
२७ ब्रह्मौदनं ३४ ,, ,,
२८ भवाशर्वौ २८ ,, ,,
२९ मातृनामा २० ,, ,,
३० मित्रावरुणौ २९ ,, ,,
३१ वरुणः १६ ,, ,,
३२ वाक् ३० ,, ,,
३३ वायुः २५ ,, ,,
३४ विश्वेदेवाः १३ ,, ,,
३५ व्याघ्रः ३ ,, ,,
३६ शंखमणिः १० ,, ,,
३७ सत्यौजा अग्निः ३६ ,, ,,
३८ सविता २५ ,, ,,
३९ स्वापनं ५ ,, ,,

इनके सिवाय "बहुदेवताः, नाना देवताः, विश्वेदेवाः" इन देवताओंके अन्दर कई अन्य देवतायें हैं उनको पाठक मंत्रोंके अंदर देख सकते हैं। अब इस चतुर्थ काण्डके सूक्तोंके गण देखिये—

१ अंहोलिंगगण	२३–२९	ये सात सूक्त।
२ अपराजितगण	१९, २१, ३१,	ये तीन सूक्त।
३ रौद्रगण–	३	यह एक सूक्त।
४ आयुष्यगण	१३	,, ,, ,,
५ दुष्वप्ननाशनगण	१७	,, ,, ,,
६ पाप्मगण	३३	,, ,, ,,
७ कृत्याप्रतिहरणगण	४०	,, ,, ,,

इस काण्डके सूक्तोंका शांतियोंके साथ संबंध देखना हो तो निम्न लिखित कोष्टक देखिये—

१ बृहच्छान्तिः १, १३, २३–२९ये नौ सूक्त।
२ ऐरावती महाशान्ति ९ यह एक सूक्त।
३ वारुणी ,, ,, १० ,, ,,
४ प्राजापत्या ,, ,, १५ ,, ,,
५ वायव्या ,, ,, २५ ,, ,,
६ गांधर्वी ,, ,, ३७ ,, ,,

इस काण्डके सूक्तोंका अध्ययन करनेके समय इन गणोंका पाठक अवश्य विचार करें। क्योंकि इन गणोंका जो परिगणन पूर्व आचार्योंने किया है वह स्वाध्यायशील पाठकों के हितार्थही किया है।

इतनी भूमिकाके साथ अब इस काण्डके सूक्तोंका विचार प्रारंभ करते हैं।—

अथर्ववेदका स्वाध्याय।

चतुर्थ काण्ड।

ब्रह्म विद्या।

सूक्त १

(ऋषिः- वेनः। देवता-बृहस्पतिः, आदित्यः)

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमतः सुरुचो वेन आवः।
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च वि वः ॥ १ ॥

अर्थ— (पुरस्तात् प्रथमं) पूर्वकालसे भी प्रथम (जज्ञानं ब्रह्म) प्रकट हुए ब्रह्मको (सु रुचः सीम-तः) उत्तम प्रकाशित मर्यादाओंसे (वेनः वि आवः) ज्ञानीने देखा है। (सः) वही ज्ञानी (अस्य बुध्न्याः वि-स्थाः) इसके आकाश संचारी विशेष रीतिसे स्थित और (उप-माः) उपमा देने योग्य सूर्यादिकोंको देखकर (सतः च असतः योनिं) सत् और असत् के उत्पत्तिस्थानको भी (वि वः) विशद करता है ॥ १ ॥

भावार्थ- सबसे प्रथम प्रगट हुए ब्रह्मको उसके प्रकाशकी मर्यादाओंके द्वारा ज्ञानी जानता है और वही ज्ञानी उपमा देने योग्य आकाशसञ्चारी सूर्यादि ग्रहों और नक्षत्रों को देख कर सत् और असत् के मूल उत्पत्ति स्थानके विषयमें सत्य उपदेश करता है ॥ १ ॥

इयं पित्र्या राष्ट्र्येत्वग्रे प्रथमाय जनुषे भुवनेष्ठाः ।
तस्मा एतं सुरुचं ह्वारमह्यं घर्मं श्रीणन्तु प्रथमाय धास्यवे ॥ २ ॥

प्र यो जज्ञे विद्वानस्य बन्धुर्विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति ।
ब्रह्म ब्रह्मण उज्जभार मध्यान्नीचैरुच्चैः स्वधा अभि प्र तस्थौ ॥ ३ ॥

अर्थ— (इयं भुवने-स्थाः पित्र्या राष्ट्री) यह मनुष्योंके अंदर रहनेवाली पितासे प्राप्त चमकनेवाली बुद्धि (प्रथमाय जनुषे अग्रे एतु) मुख्य जीवन के लिये आगे होवे । (तस्मै प्रथमाय धास्यवे) उस पहले धारण करनेवालेको अर्पण करनेके लिये (एतं सुरुचं ह्वारं अ-ह्यं घर्मं श्रीणन्तु) इस तेजस्वी, दुष्टोंको दबाने वाले, हीनतासे रहित, यज्ञको सिद्ध करें ॥ २ ॥

(यः विद्वान्) जो विद्वान् (अस्य बन्धुः प्रजज्ञे) इसका बंधु होता है, वह (देवानां जनिमा विवक्ति) सब देवोंके जन्मों को कहता है। (ब्रह्मणः ब्रह्म उज्जभार) ब्रह्मसे ब्रह्म प्रकट हुआ है । उसके (मध्यात् नीचैः उच्चैः) मध्यसे निम्न भागसे और उच्च भागसे (स्व-धाः अभि प्रतस्थौ) उस की निज धारक शक्तियां फैली हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ— यह मनुष्योंके अन्दर रहनेवाली पितासे प्राप्त हुई तेजस्वी बुद्धि श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करनेकी इच्छासे आगे बढे । तथा वह बुद्धि सबके मुख्य धारण कर्ता परमात्माके लिये समर्पण करनेके हेतुसे तेजस्वी, दुष्टोंको दूर करनेवाले, उच्च और श्रेष्ठ यज्ञको सिद्ध करे ॥ २ ॥

जो ज्ञानी इस परमात्मा का बन्धु बनता है वही देवोंके देवत्वके विषयमें सत्यज्ञान कहता है । परब्रह्मसे ज्ञानका प्रकाश हुआ है और उसके निम्न, मध्य और उच्च अर्थात् सब अंगोंसे धारक शक्तियां चारों ओर फैली हैं ॥ ३ ॥

स हि दि॒वः स पृ॑थि॒व्या ऋ॑त॒स्था म॒ही क्षेमं॑ रोद॑सी अस्कभायत् ।
म॒हान्म॒ही अस्क॑भाय॒द्वि जा॒तो द्यां सद्म॒ पार्थि॑वं च॒ रजः॑ ॥ ४ ॥

स बु॒ध्न्यादा॑ष्ट्र ज॒नुषो॒ऽभ्यग्रं॒ बृह॒स्पति॑र्दे॒वता॒ तस्य॑ स॒म्राट् ।
अह॒र्यच्छु॒क्रं ज्योति॑षो॒ जनि॒ष्टाथ॑ द्यु॒मन्तो॒ वि व॑सन्तु॒ विप्राः॑ ॥ ५ ॥

अर्थ- (सः हि दिवः) वह ही द्युलोक का और (सः पृथिव्याः ऋत-स्थाः) वही पृथिवीका सत्य नियमसे ठहरानेवाला है। उसीने (मही रोदसी क्षेमं अस्कभायत्) बडे द्युलोक और पृथिवी लोकको घरके समान स्थिर किया है। (महान् जातः) वह बडा देव प्रकट होता हुआ (द्यां पार्थिवं सद्म रजः च) द्युलोक, पृथिवी के निवास स्थानको और अंतरिक्षलोक को (मही अस्कभायत्) विस्तृतरूप देकर स्थिर करता है ॥ ४ ॥

(तस्य सम्राट् देवता बृहस्पतिः) उस जगत्का सम्राट् बृहस्पति देव है और (सः बुध्न्यात् जनुषः अग्रं अभि आष्ट्र) वह पहिले जन्मसे भी पूर्वकालसे चारों ओर व्याप्त है। (अथ यत् ज्योतिषः शुक्रं अहः जनिष्ट) अब जो ज्योतिसे शुद्ध दिन उत्पन्न हुआ, उससे (द्युमन्तः विप्राः विवसन्तु) प्रकाशित होनेवाले ज्ञानी विशेष प्रकारसे निवास करें ॥ ५ ॥

भावार्थ— वही एक देव द्युलोक और पृथ्वीलोक आदियोंको सत्य नियमोंसे अपने अपने स्थानमें स्थिर करने वाला है। उसीने इस द्युलोक और पृथ्वीलोकको घर जैसा बनाया है। उसी प्रकट हुए महान् देवने द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक, और इस हमारे घरके समान भूलोक को विस्तृत और महान् बनाकर अपने अपने स्थानमें सुदृढ किया है॥ ४ ॥

इस जगत् का एक सम्राट् बृहस्पति देव है, वह आदिकालसे चारों ओर पूर्ण रीतिसे फैला हुआ है। उसकी ज्योतिसे जो पवित्र दिनका प्रकाश होता है, उससे प्रकाशित होनेवाले ज्ञानी विशेष प्रकारसे जीवन व्यतीत करें ॥ ५ ॥

नूनं तदस्य काव्यो हिनोति महो देवस्य पूर्व्यस्य धाम ।
एष जज्ञे बहुभिः साकमित्था पूर्वे अर्धे विषिते ससन्नु ॥ ६ ॥
योऽथर्वाणं पितरं देवबन्धुं बृहस्पतिं नमसाव च गच्छात् ।
त्वं विश्वेषां जनिता यथासः कविर्देवो न दभायत्स्वधावान् ॥ ७ ॥

(काव्यः नूनं) ज्ञानी निश्चयसे (अस्य पूर्व्यस्य देवस्य तत् महः धाम) इस प्राचीन देव का वह महान् धाम (हिनोति) प्राप्त करता है। (इत्था बहुभिः साकं एषः जज्ञे) इस प्रकार बहुतोंके साथ यह ज्ञानी उत्पन्न हुआ था, परंतु जिस समय (पूर्वे अर्धे वि-सिते) पूर्व दिशाका आधा द्वार खुला, तब उनमेंसे प्रत्येक (ससन् नु) सोता ही रहा ॥ ६ ॥

(यः) जो (अथर्वाणं पितरं देवबन्धुं) निश्चल पिता देवोंके भाई (बृहस्पतिं नमसा च अव गच्छात्) बृहस्पतिदेवको नमस्कारके साथ ऐसे जानें। "(त्वं विश्वेषां जनिता असः) तूं सबका उत्पादक हो, (यथा कविः स्वधावान देवः न दभायत) और ज्ञानी, स्वकीय सामर्थ्य युक्त देव कभी दबाया नहीं जाता" ॥ ७ ॥

भावार्थ— ज्ञानी निश्चयसे इस प्राचीन देवका वह प्रसिद्ध महान् धाम प्राप्त करता है। वस्तुतः ज्ञानीका जन्म अनेक मनुष्योंके जन्मोंके साथ हुआ होता है, परन्तु प्रयत्नसे ज्ञानी के लिये जिस समय वह पूर्व महाद्वार थोडासा खुल जाता है, उस समय जाग्रत रहनेके कारण उसमें ज्ञानी प्रविष्ट होता है, परन्तु अन्य लोग बाहरही सोये पडे रहते हैं ॥ ६ ॥

मनुष्य, देवोंके भाई, परमपिता निश्चल बृहस्पतिका नम्रताके साथ की हुई उपासनाद्वारा इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करता है कि " हे देव ! तू सबका उत्पादक है, तू ही ज्ञानी और स्वकीय सामर्थ्यसे युक्त है और तू ही कभी न दबनेवाला है " ॥ ७ ॥

ब्रह्मकी विद्या।

इस सूक्तमें " ब्रह्मकी विद्या " बडी मनोहर रीतिसे कही है। जो ब्रह्मविद्याका मनन करते हैं, उनके लिये यह सूक्त बडा बोधप्रद होगा। इसका पहिला कथन यह है-

प्राचीन देव ।

पुरस्तात् प्रथमं ब्रह्म जज्ञानम् । (मं० १)

" सबसे अति प्राचीन कालकी जो भी कल्पना की जा सकती है उससे भी अत्यन्त प्राचीन कालसे वह परब्रह्म अपनेही प्रकाशसे प्रकाशित हो रहा है। " जिस समय अन्य कोई भी पदार्थ उत्पन्नही नहीं हुआ था, उस समयसे स्वयं प्रकाशी ब्रह्म प्रकाशित हो रहा है । इसका तात्पर्य यह है कि यह ब्रह्म स्वयं प्रकाशित है, प्रकाशित होनेके लिये इसको किसी अन्यकी सहायता नहीं लेनी पडती है । इसके अतिप्राचीन होनेके विषयमें इसी सूक्तमें निम्नलिखित वचन देखने योग्य हैं—

१ प्रथमाय तस्मै धास्यवे । (मं० २)

२ अग्रं स बुध्न्यात् जनुषः अभि आष्ट्र । (मं० ५)

३ पूर्वस्य अस्य देवस्य तत् धाम । (मं० ६)

" (१) सब से पहिला वह धारक है । (२) सबसे प्रथम जिसकी उत्पत्ति हुई है उससेभी पहिले वह चारों ओर व्याप्त है । (३) सबसे पुराने इस देवका वह स्थान है । "

इन मन्त्रोंमें इस देवके अति प्राचीन होनेके विषयमें निश्चयात्मक वर्णन है । इससे सिद्ध होता है कि यह देव स्वयंसिद्ध अथवा स्वयंभु, सर्वाधार और सब जगत्‌की उत्पत्ति होनेके पूर्वकाल से भी विद्यमान है ।

इसका ज्ञान ।

इसका ज्ञान किस रीतिसे हो सकता है, इस विषयमें विचार करनेके लिये निम्न लिखित मंत्र बडी सहायता देता है—

सुरुचः सीमतः वेनः वि आवः । (मं० १)

" (सु-रुचः) उत्तम प्रकाशमान (सीमा-तः) सीमाओंसे ही (वेनः) ज्ञानी मनुष्य उसको देखता है ।" जिस प्रकार बादलोंसे छिपा हुआ सूर्य बादलोंके चमकने वाले किनारोंसे ही जाना जाता है, उसी प्रकार सूर्यचन्द्रादियोंके पीछे रहकर सूर्यादि-योंको चमकानेवाला यह देव इन गोलोंकी चमकाहटसे ही जाना जाता है । " जिसको सूर्यादि प्रकाशित नहीं करते परन्तु जिसके तेजसे सूर्यादि प्रकाशित हो रहे हैं, वह ब्रह्म है । " अर्थात् सूर्यादियोंकी सुप्रकाशित सीमाओंको देखनेसे और विचार करनेसे परमात्माका ज्ञान होता है । सृष्टिमें उसका कार्य देखनेसे ही उस परमात्माका ज्ञान हो सकता है । उसके ज्ञान के लिये दूसरा कोई मार्ग नहीं है ।

इस के लिये उपमा।

यह परमात्मा प्रत्यक्ष दीखता नहीं है, सृष्टीमें उसका कार्य देखकर उसका अनुमान होता है, अथवा उपमाओंसे भी उसका वर्णन किया जाता है जैसा–

उस्य उपमाः बुध्न्याः वि—स्थाः। (मं० १)

" इसके लिये उपमाएं (बुध्न्याः) आकाशमें (वि-स्थाः) विशेष रीतिसे रहनेवाले जो सूर्यादि गोल हैं वेही हैं।" अर्थात् उस परमात्माका यदि वर्णन करना हो तो "वह सूर्यकाभी सूर्य है" " वह चन्द्रमाकाभी चन्द्रमा है " इस प्रकार किया जाता है। अर्थात् सूर्यादिकोंकी उपमा उसको देकर ही उसके विषयमें ज्ञान दिया जाता है। या तो मनुष्य सृष्टिमें उसका कार्य देखकर उसके विषयमें अनुमान करे अथवा सूर्यादि गोलोंका भी वह प्रकाशक है इसलिये वह सूर्यकाभी सूर्य है ऐसा जाने। यह रीति है जिससे उसके विषयमें कुछ अनुमान हो सकता है।

आदि कारण।

सबका आदिकारण वह परमात्माही है। सत् और असत्, बहुत समय ठहरनेवाले और क्षणभंगुर ऐसे जो पदार्थ हैं, उनका मूल आदि कारण वह है। देखिये—

सतः असतः च योनिं सः वि वः। (मं० १)

" सत् और असत् का आदि कारण वह है इस विषयमें यथायोग्य विवरण ज्ञानीही करता है। " अन्य मनुष्योंको उसके विषयमें पता नहीं होता। वे उसके विषयमें पूर्ण अज्ञानी रहते हैं।

श्रेष्ठ जीवन।

ज्ञानी अपना जीवन किस प्रकार व्यतीत करता है यह एक बडे महत्त्वका विषय है, इसका विवेचन द्वितीय मंत्रमें किया है वह इस समय देखिये—

इयं पित्र्या राष्ट्र्येत्वग्रे प्रथमाय जनुषे भुवनेष्ठाः।
तस्मा एतं सुरुचं ह्वारमह्यं घर्मं श्रीणन्तु प्रथमाय धास्यवे ॥२॥
(मं० २)

" मनुष्योंके अंदर रहनेवाली पितासे प्राप्त हुई मनुष्यकी बुद्धि प्रथम श्रेणीका श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करनेके लिये उत्सुक होकर आगे बढे और सर्वाधार परमात्माकी संतुष्टिके लियेही इस सुंदर श्रेष्ठ यज्ञ कर्मको करे।" इस मंत्रके कुछ शब्द मनन करने योग्य हैं–

१ भुवनेष्ठाः (भुवने-स्थाः) भुवन में रहनेवाली । " भुवन" शब्दका अर्थ है ।- " मनुष्य, मानवजाति, प्राणी, जगत्, उत्पन्न हुए हुए पदार्थ, पृथिवी, घर, स्थान, और अभ्युदयको प्राप्त स्थिति । " इनमेंसे यहां " मनुष्य अथवा मानवजाती यह अर्थ अभिप्रेत है, क्योंकि इनमें रहनेवाली शक्ति (प्रथमाय जनुषे) प्रथम श्रेणीका जीवन व्यतीत करनेके लिये (अग्रे एतु) आगे बढे अर्थात् उत्साहसे अपने जीवनका सुधार करे, ऐसा कहा है। मानवेतर प्राणी या पदार्थोंमें इस की संभावना नहीं है इसलिये मनुष्य विषयक अर्थही यहां अपेक्षित है ।

२ पित्र्या राष्ट्री=(पित्र्या) पितासे आनुवंशिक शुभ संस्कारोंसे सुसंस्कृत (राष्ट्री) तेजस्वी सुप्रकाशित बुद्धि ।

इस प्रकार की बुद्धि मनुष्यके अंदर शुभ संकल्प सुदृढ करे और इस संकल्पके बलसे मनुष्य बलवान बनकर (प्रथमाय जनुषे) प्रथम अर्थात् श्रेष्ठ दर्जेका जीवन व्यतीत करने का उत्साह अपने मनमें बढावे । उत्साहसे वह श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करे । बीचमें कोई प्रलोभन आवे तो उसमें न फंसे और कोई विघ्न उत्पन्न हो जावे तो हताश न होवे । अर्थात् शुभाशुभ अवस्थाएं प्राप्त होनेपरभी अपना श्रेष्ठ मार्ग न छोडे । इसके पश्चात्-

प्रथमाय धास्यवे घर्मं श्रीणन्तु । (मं० २)

" सबके मुख्य आधार भूत परमात्माके लिये यज्ञ सिद्ध करे । " अर्थात् यज्ञ करे और वह उसको समर्पण करनेकी बुद्धि से ही करे, क्योंकि यज्ञका पुरुष वही है और सभी यज्ञ उसी के लिये किये जाते हैं ।

यज्ञका लक्षण ।

इसी मंत्रमें यज्ञका लक्षण तीन शब्दोंद्वारा बताया है, इसलिये यज्ञका स्वरूप देखनेके लिये इन तीन शब्दोंका मनन करना चाहिये—

१ अ—ह्रां—(अह्रीनं) = जिसमें हीनता नहीं है; जिसमें हीन या त्याज्य भाव बिलकुल नहीं है, अर्थात् जो उच्चभाव से युक्त है ।

२ सुरुचं = अत्यंत तेजस्वी । तेजस्विता बढानेवाला ।

३ ह्वारं = दबानेवाला, बुराइयोंको, और दुष्टताको दबाकर टेढा करनेवाला, दुष्टताको ऊपर सिर उठानेके लिये अवसर न देनेवाला ।

" घर्म " यह यज्ञ वाचक शब्द यहां है, इसका अर्थ " उष्णता, सूर्यप्रकाश, यज्ञ " ऐसा है । यहां उष्णताका तात्पर्य मनुष्यके मनकी उष्णता अर्थात् उत्साह शक्ति है ।

जिस श्रेष्ठ कर्मसे मनुष्यका पुरुषार्थ प्राप्ति विषयक उत्साह बढता है उस यज्ञकर्मका नाम " घर्म " है। पूर्वोक्त प्रकार का मनुष्य इस प्रकारके श्रेष्ठ यज्ञ करे और अपने जीवन को सार्थक करे।

परमात्माका समर्थ्य।

चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि वही सबका आधार है, जिसने इस संपूर्ण जगत् को ठहरा रखा है—

१ स हि दिवः पृथिव्याः च ऋतस्थाः। (मं० ४)

२ सः मही रोदसी क्षेमं अस्कभायत्। (मं० ४)

३ द्यां पार्थिवं सद्म रजः च स जातः मही अस्कभायत्। (मं०४)

" (१) उसने द्युलोक और पृथ्वीलोक को सत्य नियमोंसे धारण किया है। (२) बडी द्यावा पृथिवीको उसीने सुखपूर्ण किया है, और (३) द्युलोक, पृथ्वीलोक और अंतरिक्षको उसी सुप्रसिद्ध परमात्माने विस्तृत और सुदृढ बनाया है। "

इस संपूर्ण जगत् का रचयिता वही परमात्मा है और वह इसको अपने सत्यनियमोंसे रचता है, चलाता है और सुदृढ करता है। इसी विषयमें सप्तम मंत्रका कथन यहां देखिये -

त्वं विश्वेषां जनिता असः। (मं० ७)

" तूं सबका उत्पन्न कर्ता है " इसमें असंदिग्ध रीतिसे कहा है कि वही सबका उत्पादक है। यही बात भिन्न शब्दोंद्वारा तृतीय मंत्रमें भी कही है—

ब्रह्म ब्रह्मणः उज्जभार। (मं० ३)

मध्यात् नीचैः उच्चैः स्वधा अभिप्रतस्थौ। (मं० ३)

" ब्रह्म ब्रह्मसे प्रकट हुआ है, उसीके मध्यसे, निम्नभागसे और उच्च भागसे उसकी अपनी धारक शक्तियां चारों ओर फैली हैं। " ब्रह्मसे ब्रह्म प्रकट होता है, और उसीसे अनंत धारक शक्तियां उत्पन्न होती हैं और उनसे इस विश्वका धारण होता है।

" ब्रह्म " शब्दका अर्थ—' परब्रह्म, परमात्मा; आत्मा, ज्ञान, मंत्र, वेद, ब्राह्मण, भक्त, तप, पवित्राचरण, धन, अन्न, सूर्य, बुद्धि, प्रजापति " ये हैं। यहां एक ' ब्रह्म ' शब्दका अर्थ परमात्मा है और दूसरे 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ 'आत्मा, ज्ञान, बुद्धि, तप' आदि हैं। ब्रह्मके अंदर " स्व—धा " निज धारक शक्ति है वही सबका धारण करती है। इस में निज शक्ति होनेसे किसी अन्यकी शक्ति की अपेक्षा यह नहीं करता। यही दूसरोंको शक्ति देता है, यही इसका परम सामर्थ्य है। इसी से ये सूर्य चन्द्रादि तेजके गोले बने हैं और उसीकी शक्तिसे अपने अपने स्थान में स्थित हैं।

ज्ञानी ।

इस परमात्माका जो बंधु होता है अर्थात् जो भाई जैसा इस के साथ व्यवहार करता है वही इसके सामर्थ्यका वर्णन कर सकता है—

यः विद्वान् अस्य बन्धुः जज्ञे,
सः देवानां जनिमा विवक्ति ॥ (मंत्र ३)

" जो ज्ञानी इसका भाई करके प्रसिद्ध होता है वही इस परमात्मासे उत्पन्न हुए हुए सूर्यादि देवोंकी उत्पत्त्यादिके विषयमें यथायोग्य विवरण कर सकता है । " क्योंकि वही मनुष्य ठीक रीतिसे उस परमात्माकी शक्तिको जानता है । उसका भाई बननेका तात्पर्य उच्चाधिकारसे संपन्न होना है । जीवात्मा उस परमात्मा का जैसा "अमृतपुत्र" है वैसा ही उसका " बंधु " भी है । ये शब्द जीवात्माकी उन्नतिके दर्जे बताते हैं । वस्तुतः भाई आदि संबंध वहां लाक्षणिक ही हैं; ये संबंधवाचक मनुष्यकी उन्नति की अवस्था बतानेवाले हैं ।

यह मनुष्यकी योग्यता किस रीतिसे बढती है इस विषयमें पञ्चम मंत्रका एक वचन बडा मनोरंजक है; वह अब देखिये—

अथ यत् ज्योतिषा शुक्रं अहः जनिष्ठ
(तेन) द्युमन्तः विप्राः वि वसन्तु । (मं० ५)

" जो परमात्माकी ज्योतिका प्रकाशपूर्ण दिन होता है, उसके प्रकाशसे प्रकाशित हुए हुए ज्ञानी विशेष प्रकारसे रहें, " अर्थात् उनका रहना सहना विशेष नियमोंसे बंधा होना चाहिये । विशेष परिशुद्ध रीतिसे जीवन व्यतीत करनेसे ही उनकी योग्यता बढती है । इन को परमात्माके प्रकाशसे प्रज्वलित हुए हुए दिनका सर्वत्र अनुभव होना चाहिये। जहां वे विचरें वहां परमात्माकी अखंड ज्योति उनको दिखाई देनी चाहिये । उसी के उजालेसे उसके व्यवहारका मार्ग प्रकाशित होना चाहिये, तभी उन्नतिकी संभावना है ।

सूर्यके प्रकाशसे जो 'दिन' होता है उसकी उस परमात्माके प्रकाशसे होनेवाले 'दिन' के साथ तुलना करनेसे वह दिन कहलानेके भी योग्य नहीं है । क्योंकि सूर्य परमात्माके प्रकाशसे प्रकाशित होता है, इस लिये परमात्मा के प्रकाशका महत्त्व सब अन्य प्रकाशोंसे विशेषही है ।

*

ज्ञानी की जाग्रती ।

जो विद्वान इस प्रकारके मार्गसे अपनी उन्नति करने का इच्छुक है उसको उचित है कि वह जाग्रत रहे, प्राप्त अवसरसे योग्य लाभ लेता जाय । ऐसा करनेसेही उसकी निःसन्देह उन्नति होती है । यदि अवसर आनेपर वह सोजावे तो वह पीछे रहेगा; इस विषयमें छठा मंत्र बडा महत्त्वपूर्ण उपदेश दे रहा है—

१ एष बहुभिः साकं इत्था जज्ञे । (मं० ६)

२ (परंतु) अस्य पूर्व्यस्य देवस्य तत् महः धाम काव्यः नूनं हिनोति । (मं० ६)

३ (अन्ये) पूर्वे अर्धे विसिते ससन् नु । (मं० ६)

" (१)यह ज्ञानी बहुतसे अन्य मनुष्योंके साथ साथ उत्पन्न हुआ था (२) परंतु प्राचीन देवका वह श्रेष्ठ धाम यही अकेला ज्ञानी ही प्राप्त करता है, (३) इसके साथ जन्मे हुए अन्य साधारण लोग पूर्वका महाद्वार जिस समय खुल गया था उस समय सोये पडे थे ।" द्वार खुल जानेके समय ज्ञानी जागता था इस कारण ज्ञानीका प्रवेश देवताके स्थानमें हुआ, अन्य लोग सोये पडे थे इस कारण वे अंदर प्रविष्ट न हो सके । यह मंत्र अवसरके महत्त्वका वर्णन कर रहा है ।

जिस दिन ज्ञानी जन्मा था उसी दिन इस पृथ्वीपर सहस्रों मनुष्य जन्मे थे,परंतु योग्य अवसरको गवां देनेसे अन्य मनुष्य पीछे रह गए और जागता हुआ ज्ञानी प्राप्त अवसरसे योग्य लाभ लेनेके कारण आगे बढ सका । मनुष्य केवल जन्मके कारण उच्च नहीं होता उसको जागते हुए अपनी उन्नतिका प्रयत्न करना चाहिये, तभी उसकी उन्नतिकी संभावना है । जो पाठक अपनी आध्यात्मिक उन्नति करनेके इच्छुक हैं वे इस मंत्रका योग्य मनन करके उचित बोध प्राप्त करें ।

नमन और गुणचिंतन ।

इस सूक्तके अंतिम सप्तम मंत्रमें ज्ञानी बननेके मुख्य दो साधन कहे हैं, एक परमात्माको भक्तिसे नमन करना और दूसरा उसके गुणोंका चिन्तन करना । इन दोनों साधनोंका अब विचार कीजिये—

यः अथर्वाणं पितरं देवबन्धुं बृहस्पतिं नमसा अवगच्छात् । (मं०७)

"निश्चल परमपिता संपूर्ण देवोंका बन्धु, जो सर्वज्ञ देव है, उसको जो मनुष्य नमन करता है वही उसको जानता है।" भक्तिसे परमात्माकी शरण जाना, उसको प्रेमपूर्ण हृदयसे प्रणाम करना, उसके सामने नम्र होना, ये मार्ग हैं जिससे कि मनुष्य उच्च होता रहता है। आध्यात्मिक उन्नतिके लिये, तथा आत्मिक शक्तिका विकास करनेके लिये नम्र होनेकी अत्यंत आवश्यकता है। नम्र होनेके सिवाय आत्माकी शक्ति विकसित नहीं होसकती। नम्रतापूर्ण अंतःकरणसे परमात्माका गुणचिंतन करना चाहिये, वह इस प्रकार किया जाता है—

१ त्वं विश्वेषां जनिता असः । (मं० ७)
२ कविः स्वधावान् देवः न दभायत् ॥ (मं० ७)

"हे देवाधिदेव! तू ही सबका एक उत्पादक है। हे देव! तू ज्ञानी, निजसामर्थ्यसे युक्त है, इसलिये तुझे कोई भी दबा नहीं सकता।" इत्यादि प्रकारसे उस प्रभुका गुण-गान करना चाहिये। इसी प्रकार—

तस्य सम्राट् देवता बृहस्पतिः । (मं० ५)

"इस जगत्का सच्चा एक सम्राट् बृहस्पति देव है।" यहां बृहस्पतिदेव परमात्माही है। 'बृहस्पति' का अर्थ 'ज्ञानका स्वामी, बडे विश्वका प्रभु' ऐसा होता है। इस सूक्तका यही देवता है। जो परब्रह्म परमात्माकी सर्वज्ञताका वर्णन कर रहा है।

इस सूक्तमें परब्रह्मका स्वरूप, उसका सामर्थ्य, उसकी प्राप्तिका उपाय इत्यादि महत्त्व पूर्ण बातें कही हैं, जो पाठक ब्रह्मविद्याके अभ्यासी हैं, उनको इसके मननसे बडा लाभ हो सकता है।

किस देवताकी उपासना करें?

[२]

(ऋषिः— वेनः । देवता — आत्मा)

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
योऽस्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १ ॥
यः प्राणतो निमिषतो महित्वैको राजा जगतो बभूव ।
यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ २ ॥

अर्थ— (कस्मै देवाय हविषा विधेम?) किस देवताकी समर्पण द्वारा हम सब पूजा करें ? (यः आत्म-दाः बल-दाः) जो आत्मिक बल देनेवाला और अन्य सब बल देनेवाला है, तथा (यस्य प्रशिषं विश्वे देवाः उपासते) जिसकी आज्ञा सब देव मानते हैं, और (यः अस्य द्विपदः, यः चतुष्पदः ईशे) जो इस द्विपाद और चतुष्पाद का स्वामी है। इसी की पूजा सबको करनी योग्य है ॥ १ ॥

(कस्मै देवाय हविषा विधेम?) किस देवताकी उपासना यजनद्वारा हम सब करें ? (यः प्राणतः निमिषतः जगतः) जो श्वास उच्छ्वास करनेवाले और आंख मूंदनेवाले जगतका (महित्वा एकः राजा बभूव) अपनी महिमासे एकही राजा हुआ है । (यस्य छाया अमृतं) जिसका आश्रय अमृतत्व देनेवाला है और (यस्य मृत्युः) जिसका आश्रय न करनाही मृत्यु है, उस देवताकी पूजा हम सबको करनी चाहिये ॥ २ ॥

भावार्थ— किस देवताकी हम पूजा करें ? जो देव आत्मिक बल देनेवाला है, तथा जो अन्य बल भी देता है, जिसकी आज्ञाका पालन संपूर्ण अन्य देव करते हैं, जो द्विपाद और चतुष्पादोंका एक मात्र प्रभु है, ॥ १ ॥

जो अपनी सामर्थ्यके कारण श्वासोच्छ्वास करनेवाले और आंख मूंदने और न मूंदनेवालोंका एक मात्र राजा है, जिसका आश्रय अमरत्व देनेवाला है और जिससे दूर होनाही मृत्यु है ॥ २ ॥

यं क्रन्दसी अवतश्चस्कभाने भियसाने रोदसी अह्वयेथाम् ।
यस्यासौ पन्था रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ३ ॥
यस्य द्यौरुर्वी पृथिवी च मही यस्याद उर्व१न्तरिक्षम् ।
यस्यासौ सूरो विततो महित्वा कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ४ ॥
यस्य विश्वे हिमवन्तो महित्वा समुद्रे यस्य रसामिदाहुः ।
इमाश्च प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ५ ॥

अर्थ-(कस्मै देवाय हविषा विधेम?) किस देवताकी हम उपासना यज्ञ द्वारा करें ? (चस्कभाने क्रन्दसी यं अवतः) लडने भिडनेवाली दो सेनायें जिसकी शरण जाती हैं और (भियसाने रोदसी अह्वयेथाम्) डरनेवाले द्युलोक और पृथ्वीलोक जिसको पुकारते हैं, (यस्य रजसः असौ पन्थाः विमानः) जिसके लोक को जानेका यह मार्ग विशेष संमान बढानेवाला है, उस देवताकी हम सबको पूजा करनी चाहिये ॥ ३ ॥ (कस्मै देवाय हविषा विधेम?) किस देवताकी हम यजनद्वारा उपासना करें? (यस्य महित्वा) जिसकी महिमासे (उर्वी द्यौः) विस्तीर्ण द्युलोक, (च मही पृथिवी) और बडी पृथ्वी तथा (यस्य अदः उरु अन्तरिक्षं) जिसकी महिमासे यह लंबाचौडा अन्तरिक्ष और (यस्य असौ सूरः विततः) जिसकी महिमासे यह सूर्य अपने प्रकाशसे फैल रहा है, उस देवताकी हम पूजा करें ॥ ४ ॥ (कस्मै देवाय हविषा विधेम?) किस देवताकी हम पूजा करें ? (यस्य महित्वा) जिसकी महिमासे (विश्वे हिमवन्तः) सब हिमवाले पहाड खडे हैं और (यस्य समुद्रे इत् रसां आहुः) जिसकी महिमासे समुद्रमें भी भूमि रही है । (इमाः च प्रदिशः यस्य बाहू) और ये दिशायें जिसकी बाहु हैं उस देवकी हम सब पूजा करें ॥ ५ ॥

भावार्थ-लडने वाली दोनों सेनाएं विजय प्राप्त्यर्थ जिसकी शरण जाती हैं, ये द्यावापृथ्वी डरके समय जिसको सहायताके लिये पुकारते हैं,तथा जिस की प्राप्तिका मार्ग उसपरसे चलनेवालेकी योग्यता बढानेवाला होता है, ॥३॥

जिसकी महिमासे द्युलोक विस्तीर्ण हुआ है, यह पृथ्वी बडी बनी है और यह अंतरिक्ष लंबा चौडा बना है तथा जिसकी सामर्थ्यसे सूर्य प्रकाशता है॥४॥

जिसके बलसे ये हिमयुक्त ऊंचे पर्वत खडे हुए हैं, प्राणियोंके रहनेके लिये समुद्रमें भूमि बनी है और सब दिशा उपदिशाएं जिसकी बाहुओंके समान फैली हैं, ॥ ५ ॥

आपो अग्रे विश्वमावन्गर्भं दधाना अमृता ऋतज्ञाः ।
यासु देवीष्वधि देव आसीत्कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ६ ॥
हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीमुत द्यां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ७ ॥
आपो वत्सं जनयन्तीर्गर्भमग्रे समैरयन् ।
तस्योत जायमानस्योल्ब आसीद्धिरण्ययः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ८ ॥

(कस्मै देवाय हविषा विधेम?) हम किस देवताकी पूजा करें? (ऋतज्ञाः अमृताः) सत्य नियमसे चलनेवाली जीवनशक्तिसे युक्त और (गर्भं दधानाः आपः) गर्भको धारण करनेवाले जल ने (अग्रे विश्वं आवन्) प्रारंभ में विश्वको गति दी थी । (यासु देवीषु अधि देवः आसीत्) जिन दैवी शक्तियों के ऊपर एक देव विराजता है उस देवताकी हम सब पूजा करें ॥६॥

(कस्मै देवाय हविषा विधेम?) हम किस देवताकी पूजा करें ? जो (अग्रे हिरण्यगर्भः समवर्तत) प्रारंभमें सुवर्ण जैसे चमकनेवाले पदार्थों को अपने गर्भ में धारण करनेवाला था, (भूतस्य एकः पतिः आसीत्) भूतमात्र का एकही स्वामी था, (सः दाधार पृथिवीं उत द्यां) उसी ने भूमि और द्युलोक का धारण किया है, उस एक देव की हम सब पूजा करें ॥ ७ ॥

(कस्मै देवाय हविषा विधेम?) किस देवताकी हम उपासना करें? (अग्रे वत्सं जनयन्तीः) जगत्के प्रारंभ में बालकको जन्म देनेवाली (आपः गर्भं समैरयन्) जल धाराओंने गर्भको प्रेरित किया (उत तस्य जायमानस्य) उस उत्पन्न होनेवाले बालकका जो (हिरण्ययः उल्बः आसीत्) सुवर्ण जैसा झिल्लीरूप था, उसकी हम सब उपासना करें ॥ ८ ॥

भावार्थ—सत्य नियमसे चलनेवाली,जीवन देनेवाली,गर्भधारण करके प्रजा उत्पन्न करनेवाली प्रकृतिरूप जलकी धाराएं जब विश्वरचनाके लिये आगे बढीं तब उनका संचालन करनेवाला जो एक देव था ॥६॥ जिसके अंदर सूर्यके समान हजारहां चमकनेवाले गोले रहते हैं, इस उत्पन्न हुए संपूर्ण जगत्का जो एकही सच्चा स्वामी है और जिसने द्यावा पृथिवीका धारण किया है ॥७॥

प्रारंभमें सृष्टिकी उत्पत्ति करनेवाले मूल प्रकृतिके प्रवाह जब प्रेरित हुए, उस समय उत्पन्न होनेवाले पदार्थ मात्रका, गर्भके ऊपर की झिल्लीके समान जो तेजस्वी संरक्षक था; उसीकी सबको उपासना करनी चाहिये ॥ ८ ॥

हम किस देवताकी उपासना करें ?

हर एक उपासक के सन्मुख " हम किस देवताकी उपासना करें यह प्रश्न आता है, और हरएक धर्मने इस का उत्तर अनेक प्रकारसे दिया है । वेदके सन्मुख भी यही प्रश्न आया है; चारों वेदोंमें यह प्रश्न उठाया है और उसका उत्तर बडी तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे दिया है । इस सूक्तमें यह प्रश्न आठवार उठाया है और इतनेही मंत्रोंद्वारा विभिन्न पहलुओंसे इसका उत्तर दिया है । यह विषय बडे महत्त्व का है इस लिये इसका विचार यहां करना अत्यंत आवश्यक है ।

वस्तुतः यह सूक्त अति सरल है; तथापि इस में कई महत्त्वपूर्ण बातोंका उल्लेख है, इस लिये " कस्मै देवाय हविषा विधेम ?" इस प्रश्नके प्रत्येक उत्तरका आवश्यक विचार हम यहां करते हैं ।--

प्रश्नका महत्त्व ।

इसमें जो प्रश्न किया है वह यह है—

कस्मै देवाय हविषा विधेम ? (मं० १--८)

"किस देव के लिये हविसे करें" यह प्रश्नके शब्दोंका अर्थ है। हविसे क्या करेंगे वह यहां कहा नहीं है । हविसे हवन करते हैं, हवन का अर्थ " आहुति समर्पण " है। हवन में हवन सामग्रिकी आहुतियां डाल देते हैं और प्रत्येक आहुति देने के समय कहते हैं कि–

अग्नये स्वाहा, अग्नय इदं, न मम ।
इन्द्राय स्वाहा, इन्द्राय इदं, न मम ।

" अग्निके लिये यह अर्पण है, यह अग्निका है, मेरा नहीं । इन्द्रके लिये यह समर्पण है, यह इन्द्रका है, मेरा नहीं है । " ये हविके हवनके मंत्र बताते हैं कि हविसे जो हवन किया जाता है, वह पूर्णतया समर्पण किया जाता है अर्थात् उस परका अपना अधिकार छोडा जाता है । यह यज्ञका आशय मनमें लाकर इस प्रश्नका विचार कीजिये तो आपको प्रतीत होगा कि " किस देवताके लिये हम अपना समर्पण करें; किस देवताके हेतु हम अपना त्याग करें, किस (देवाय इदं) देवता के लिये यह है और (न मम) मेरा नहीं ऐसा हम कहे " यह सार इस प्रश्नका है । जिस देवताने यह सब हमें दिया है उसके लिये अपना समर्पण करना हमारा कर्तव्य ही है, इस लिये उस देवताका पता

हमें कैसे लगेगा इसकी खोज करनी चाहिये, इस खोज के लिये उस देवताके निम्न लिखित लक्षण इस सूक्तमें कहे हैं—

१ यः आत्मा-दाः—जो आत्माका देनेवाला है, जिसने आत्मा दिया है, अर्थात् अपने समान बननेकी योग्यता से युक्त आत्मा जिसने हम मनुष्यों या प्राणियोंके अंदर रखा है।

२ यः बल-दाः— जो बल देनेवाला है। आत्मिक, बौद्धिक, मानसिक और शारीरिक बल जिससे प्राप्त होता है।

३ विश्वेदेवाः यस्य प्रशिषं उपासते-सब अन्य देव जिसकी आज्ञाका पालन करते हैं, अर्थात् सूर्यादि देवता जगत् में, ब्राह्मण क्षत्रियादि विद्वान राष्ट्रमें और नेत्रादि इंद्रियशक्तियां शरीरमें जिसके नियमानुसार चलते हैं। तीन स्थानोंमें ये तीन देव हैं और ये उसके नियममें रहकर अपना कार्य करते हैं।

४ यः द्विपदः चतुष्पदः ईशे- जो द्विपाद और चतुष्पादोंका स्वामी है। सब पशुपक्षियोंका जो एक जैसा पालन करता है।

५ यः प्राणतः निमिषतः जगतः महित्वा एकः राजा बभूव— जो प्राणियों तथा अन्योंका अपने निज सामर्थ्यसे एकमात्र राजा है, जिसके ऊपर किसीका भी शासन नहीं है। इसीका शासन सर्वोपरि है।

६ यस्य छाया अमृतं— जिसका आश्रय अमरत्व देनेवाला है, जिसकी प्राप्तिसे अमरत्व प्राप्त होता है।

७ यस्य (अच्छाया) मृत्युः— जिससे विमुख होना मृत्यु है। यहां विमुख होनेका तात्पर्य उसकी भक्ति छोडना आदि समझना चाहिये।

८ चस्कभाने क्रन्दसी यं अवतः— परस्पर विरोध करनेवाले और आक्रोशके साथ युद्ध करनेवाले दोनों ओरके सैनिक अपनी रक्षाके लिये जिसकी शरण जाते हैं अर्थात् दोनों पक्षोंके लोग जिसपर विश्वास रखते हैं और जिससे बलकी याचना करते हैं।

९ भियसाने रोदसी यं अह्वयेथां — भय प्राप्त होनेपर द्यावापृथिवीमें रहनेवाले सब जिसको अपनी सहायताके लिये पुकारते हैं। भयके समय किसी दूसरेकी शरण न जाते हुए सब एकमतसे इसका नाम लेते हैं।

१० यस्य रजसः असौ पन्थाः विमानः— जिसके लोकको प्राप्त करनेका यह प्रसिद्ध मार्ग जिसपरसे कि आक्रमण करनेवाले की योग्यता बढती है, अर्थात् जिसके स्थानको पंहुचानेवाले मार्गका आक्रमण करनेवालोंकी योग्यता प्रतिदिन उच्च होती जाती है। जितना मार्गका आक्रमण होगा उतनी योग्यता बढ जाएगी।

११ यस्य द्यौः उर्वी, पृथिवी च मही, यस्य अदः अन्तरिक्षं उरु— जिसके प्रभावसे द्यौ, पृथ्वी और अंतरिक्ष विस्तीर्ण हुए हैं, अर्थात् जैसे चाहिये वैसे खुले हुए हैं।

१२ यस्य महित्वा असौ सूरः विततः— जिसके प्रभावसे यह सूर्य अपने प्रकाशसे चारों दिशाओंमें फैल रहा है।

१३ यस्य महित्वा विश्वे हिमवन्तः—जिसकी महिमासे ये सब हिमाच्छादित पर्वत खडे हुए हैं।

१४ यस्य महित्वा समुद्रे रसां आहुः— जिसके सामर्थ्यसे समुद्रके जलमें भी भूमी होती है, ऐसा कहते हैं।

१५ यस्य बाहू इमाः प्रदिशः— जिसके बाहु ये सब दिशा उपदिशाएं हैं।

१६ ऋतज्ञाः अमृताः आपः अग्रे गर्भं दधानाः विश्वं आवन्, यासु देवीषु अधिदेवः आसीत्— सत्य नियमसे चलनेवाली जीवन देनेवाली मूलप्रकृतिकी प्रवाहकी धाराएं जगत्के गर्भको धारण करती हुई विश्वको उत्पन्न करनेके लिये जब आगे बढीं, तब उन दिव्य धाराओंमें जो अधिष्ठाता एक देव था।

१७ हिरण्यगर्भः अग्रे समवर्तत— जिसके अन्दर प्रकाशमान अनेक गोले हैं ऐसा जो देव पहलेसे विद्यमान है।

१८ भूतस्य एकः पतिः जातः आसीत्— सब जगत्का जो एकमात्र स्वामी प्रसिद्ध है।

१९ स दाधार पृथिवीं उत द्याम्— जिसने पृथ्वी और द्युलोकका अर्थात् सब विश्वका धारण किया है।

२० आपः गर्भं वत्सं जनयन्ती अग्रे समैरयन्, उत तस्य जायमानस्य यः हिरण्ययः उल्बः आसीत्— मूल प्रकृतिकी जलधाराएं अपने अंदरसे–गर्भसे–जगत् रूपी बछडा उत्पन्न करती हुई जब आगे बढीं तब उस जन्मे हुए विश्वरूपी बछडेका सुवर्णके समान चमकनेवाला झिल्लीके समान संरक्षक था।

*

उसकी उपासना करो।

पूर्वोक्त वीस लक्षणोंसे जिस परमेश्वरका बोध होता है उसकी उपासना सबको करनी चाहिये। इससे भिन्न किसीकीभी उपासना करनी योग्य नहीं है।

ये सब वीस लक्षण सरल और सुबोध हैं इस लिये इनका अधिक विवरण करने की आवश्यकता नहीं है। पाठक इससे अपने उपास्य देवको जानें और उसकी उपासना करके उत्तम गति प्राप्त करें।

इन बीस लक्षणों में पहिले दो लक्षण मनुष्यकी आन्तरिक शक्तियों का वर्णन कर रहे हैं। मनुष्य के अन्दरकी शक्तियोंके साथ परमात्माका संबंध इसमें पाठक देख सकते हैं। इसके पश्चात् के पांच लक्षणों में वह परमात्मा प्राणिमात्रका राजा है और मनुष्य को अंतिम सुख अर्थात् मोक्ष देनेवाला है यह बात कही है। शेष लक्षणों में प्रायः परमात्माका विश्वधारक गुण विविध प्रकारसे कहा है। दसवें लक्षण में परमात्मप्राप्ति के मार्गका महत्व बताया है। जो इस मार्गसे जाते हैं उनका सम्मान बढजाता है। यह विशेष बात इसमें कही है। यह एकाग्र चित्तसे मनन करने योग्य है।

कई लोक " कस्मै देवाय हविषा विधेम। " इस वाक्यसे यह अनुमान करते हैं कि इस सूक्तकी रचना करनेवाले को ईश्वरके विषयका निश्चित ज्ञान नहीं था, वह ईश्वरकी खोज कर रहा था। परंतु यह कथन निर्मूल है क्यों कि पूर्वोक्त वीस लक्षण परमेश्वरका निश्चित स्वरूप बता रहे हैं, और इस के पूर्व " ब्रह्म जज्ञानं० "(सू० १) सूक्तमें तो ब्रह्म विषयक उल्लेख स्पष्टतासे किया हुआ है। इस लिये "अज्ञात देव " की प्रार्थना इस सूक्तमें है ऐसा मानना बडी भारी भूल है।

अतः इस सूक्तसे पूर्वोक्त वीस लक्षणोंसे बोधित होनेवाले " एक अद्वितीय ईश्वरकी पूजा करनी चाहिये, " यह वेदका सिद्धान्त स्पष्ट है। जो उपासकों के लिये बडा बोधप्रद और असंदिग्ध रीतिसे मार्गदर्शक है। आशा है कि विचारी पाठक इससे उचित बोध प्राप्त करेंगे।

शत्रुओंका दूर करना।

[३]

(ऋषिः-- अथर्वा। देवता—रुद्रः , व्याघ्रः)

उदितस्त्रयो अक्रमन् व्याघ्रः पुरुषो वृकः ।
हिरुग्घि यन्ति सिन्धवो हिरुग्देवो वनस्पतिर्हिरुङ्नमन्तु शत्रवः ॥ १ ॥
परेणैतु पथा वृकः परमेणोत तस्करः ।
परेण दत्वती रज्जुः परेणाघायुरर्षतु ॥ २ ॥
अक्ष्यौ च ते मुखं च ते व्याघ्र जम्भयामसि ।
आत्सर्वान् विंशतिं नखान् ॥ ३ ॥

अर्थ —(व्याघ्रः, वृकः, पुरुषः त्रयः) वाघ, भेडिया और चोर मनुष्य ये तीनों (इतः उदक्रमन्) यहांसे भागकर चले गये। (सिन्धवः हिरुक् यन्ति) नदियां नीचे की गतिसे जाती हैं, (देवः वनस्पतिः हिरुक्) दिव्य वनस्पति भी रोगोंको नीचेकी गतिसे भगा देती है, इसी प्रकार (शत्रवः हिरुक् नमन्तु) शत्रु नीचे होकर झुके रहें। ॥ १ ॥

(परेण पथा वृकः एतु) दूरके मार्गसे भेडिया चला जावे। (उत परमेण तस्करः) और उससे भी दूरसे चोर चलाजावे। (परेण दत्वती रज्जुः) दूरसे दांतवाली रस्सी अर्थात् सांपिन चली जावे। और (अघायुः परेण अर्षतु) पापी दूरसे भाग जावे ॥ २ ॥

हे व्याघ्र ! (ते अक्ष्यौ) तेरी दोनों आंखोंको, (च ते मुखं) तेरे मुखको, (आत् च सर्वान् विंशतिं नखान्) और तेरे सब बीसों नखोंको (जम्भयामसि) नष्ट कर देते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ-वाघ, भेडिया, और चोर यहांसे भाग जावें। जिस प्रकार नदियोंके प्रवाह नीचे की ओर जाते हैं, और दिव्य वनस्पतियोंसे रोग दूर होते हैं, इसी प्रकार शत्रु हमसे दूर हो जावें ॥ १ ॥

भेडिया, चोर, सांप और पापी दुष्ट हम सबसे दूर भाग जाएं ॥ २ ॥

वाघ की आंखें, मुख के दांत, और उस के वीस नाखून हम नष्ट कर देते हैं ॥ ३ ॥

व्याघ्रं दत्वतां वयं प्रथमं जम्भयामसि। आदु ष्टेनमथो अहिं यातुधानमथो वृकम् ॥४॥
यो अद्य स्तेन आयति स संपिष्टो अपायति। पथामपध्वंसेनैत्विन्द्रो वज्रेण हन्तु तम् ॥ ५ ॥
मूर्णा मृगस्य दन्ता अपिशीर्णा उ पृष्टयः। निम्रुक्ते गोधा भवतु नीचायच्छशयुर्मृगः ॥ ६ ॥
यत्संयमो न वि यमो वि यमो यन्न संयमः। इन्द्रजाः सोमजा आथर्वणमसि व्याघ्रजम्भनम् ७।

अर्थ— (दत्त्वतां प्रथमं व्याघ्रं) दांतवालों में पहिले बाघका, (आत् उ अहिं) और सांपका, (अथो वृकं) और भेडियेका, (स्तेनं अथो यातुधानं) चोर और लुटेरेका (वयं जंभयामसि) हम नाश करते हैं ॥ ४ ॥

(अद्य यः स्तेन आयति) आज जो चोर आवे, (संपिष्टः सः अप अयति) चूर चूर किया हुआ वह हट जावे और वह (पथा अप ध्वंसेन एतु) मार्गोंके विनाशसे अर्थात मार्गको भूलकर चला जावे। और (इन्द्रः वज्रेण तं हन्तु) इन्द्र वज्रसे उसे मार डाले ॥ ५ ॥

(मृगस्य दन्ताः मूर्णा) हिंस्र पशुओं के दांत तोडे गये, (अपि पृष्टयः शीर्णा उ) और उसकी पसलियां टूटगयीं हैं। (ते गोधा निम्रुक् भवन्तु) तेरी गोह नीचे हो जावे, और (मृगः शशयुः नीचा अयत) हिंस्र पशु लेटता हुआ नीचे भाग जावे ॥ ६ ॥

(यत संयमः न वियमः) जिसका संयम किया हो उसको विशेष दबाव में न रखो, परंतु (यत् न वियमः संयमः) जिसको विशेष दबाव में न रखा हो उसको अच्छी प्रकार संयम में रखो। यह (इन्द्रजाः सोमजाः) इन्द्रसे और सोमसे उत्पन्न हुआ हुआ (आथर्वणं जंभनं असि) (अथर्वविद्यासे व्याघ्रादिको दबानेका उपाय है ॥ ७ ॥

भावार्थ-तीक्ष्ण दांतवालोंमें बाघको, भेडियेको और सांपको तथा दुष्टोंमें चोर और लुटेरेको हम नष्ट करते हैं ॥ ४ ॥ आज जो चोर हमपर हमला करेगा उसका पूर्ण नाश होगा और यदि वह बचेगा तो घबराकर अपना मार्ग भूलेगा। फिर शूर पुरुष अपने शस्त्रसे उसको काटेगा ॥ ५ ॥ हिंस्र पशुके दांत तोडे गये और पसलियां काटी गई हैं। सब हिंस्र पशु नीचे मुख करके डरसे भाग जावें ॥ ६ ॥ जिसको उत्तम प्रकारसे काबु किया है उसको और अधिक दबाव में न रखो, परंतु जिसको काबु नहीं किया है उसको अच्छी प्रकारसे दबाव में रखो। यह इन्द्र सोम और अथर्वाका दुष्टोंको दमन करनेका उपाय है ॥ ७ ॥

दुष्टोंका दमन करनेका उपाय।

इस सूक्त में दुष्टोंको दमन करनेका उपाय कहा गया है। यह सूक्त बडे व्यापक अर्थवाला है इस लिये इस को पढनेके समय अपना दृष्टिकोण आध्यात्मिक रखना चाहिये, तभी इससे योग्य लाभ हो सकेगा। अब इस दुष्टोंके दमनका उपाय देखिये—

अथर्वविद्याका नियम।

१ यत् सं-यमः, न वि यमः,
२ यत् न वि यमः, सं-यम ॥ (मं० ७)

" जिसका संयम किया हो, उसको और विशेष न दबाया जावे; परंतु जिसका दमन बिलकुल न किया हो तो उसका संयम अवश्य किया जावे। " यह अथर्व विद्याका नियम है--

आथर्वणं व्याघ्रजम्भनम्। (मं० ७)

" यह अथर्व विद्या संबंधी व्याघ्रादिकोंके दमन विद्याका नियम है," यह दो प्रकार से किया जाता है-

इन्द्रजाः सोमजाः। (मं० ७)

" इन्द्र अर्थात् इंद्रियोंका अधिष्ठाता जो मन अथवा अंतःकरण चतुष्टय है उससे उत्पन्न होनेवाली (इन्द्र-जाः) अंतः शक्तिसे एक दमन होता है और (सोमजाः) सोम आदि औषधियोंकी शक्तिसे एक दमन किया जाता है। " दुष्टोंके दमनके ये दो मार्ग हैं।

इस संपूर्ण सूक्तमें "(१) व्याघ्रः (बाघ), (२) वृकः (भेडिया),(३)अहिः (सांप), (४) दत्त्वती रज्जुः (दांत वाली काटनेवाली रस्सी अर्थात् सांपिन), (५) तथा अन्य दांत वाले, नाखूनोंवाले हिंस्र मृगः (हिंस्रपशु) और गोधा (गोह)" इन दुष्ट प्राणियोंके नाम भी गिनाये गए हैं। तथा "तस्करः, स्तेनः पुरुषः (चोर मनुष्य), अघायुः (पापी), यातुधानः (लुटेरा), शत्रुः (वैरी)" ये दुष्ट मनुष्योंके नाम भी गिने गए हैं। इससे स्पष्ट होता है कि जैसे दुष्ट मनुष्योंको समाजसे दूर हटाना आवश्यक है उसी प्रकार हिंस्र पशु आदियों को भी दूर करके समाजको सुखी करना चाहिये। यहां जिनकी गिनती नहीं हुई ऐसे जो अन्य दुष्ट होंगे उनको इसी विधिसे काबू करना चाहिये और समाजसे दूर करना चाहिये और समाज को सुखी करना चाहिये। यह इस सूक्तका आशय है।

वाघ, सांप और सांपिन के दांत उखाडकर उनको सौम्य बनाने का उपाय तीसरे मंत्रमें बताया है, यह उपाय सभी पशु जो दांतों और नाखूनोंसे हिंसा करते हैं उनके शमन के लिये बर्ता जाने योग्य है।

सांप, वाघ, भेडिया आदि हिंसक प्राणी आजायं तो उनको पीटना चाहिये, उनकी पसलियां तोडनी चाहिये, उनको मरने तक मारना चाहिये, यह बात मंत्र ३ से ६ तक के चार मंत्रोंमें बतायी है। तथा इन्ही मंत्रोंमें चोर लुटेरे डाकू दुष्ट आदि समाज घातक लोग समाज में आकर उपद्रव मचाने लगें तो उनको भी उसी उपायसे शांत करना चाहिये, ऐसा कहा है।

इस दण्डेकी मारसे इन सब दुष्टों हिंसकों और शत्रुओंको शान्त या दूर करना चाहिये, यह इस सूक्तद्वारा उपदेश दिया है। परंतु वाघ, शेर, चोर, लुटेरे ये बाहरके समाजमें ही रहते हैं ऐसा मानना बडी भारी भूल है। ये जैसे बाहर हैं वैसेही मनुष्य के अंदर भी हैं और इस सूक्त में वाघ भेडिया चोर आदि बाहर के शत्रुओंके शमन के उपदेश के मिषसे वस्तुतः आंतरिक हिंस्र पशुओंका और आंतरिक शत्रुओंका ही शमन करनेका उपदेश किया है। सप्तम सूक्तके " संयम " शब्दसे यह बात स्पष्ट हो रही है।

मनुष्य के अंतःकरणके क्षेत्रमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर ये छः शत्रु हैं और इनको वेद में पशुही गिना है--

उलूकयातुं शुशुलूक यातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम् ।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्रमृण रक्ष इन्द्र ॥

ऋग्वेक ७।१०४।२२

" (सुपर्ण-यातुं) गरुडके समान चालचलन अर्थात् घमंड, (गृध्रयातुं) गीध के समान व्यवहार अर्थात् लोभ, (कोक-यातुं) चिडियोंके समान आचार अर्थात् काम, (श्वयातुं) कुत्तेके समान बर्ताव अर्थात् स्वकीयोंसे मत्सर या द्वेष, (उलूक-यातुं) उल्लू के समान आचार अर्थात् मूढता, (शुशुलूक-यातुं) भेडियेके समान क्रूरता ये छः पशु-मनुष्य के अंतःकरण में रहते हैं, इनका नाश वैसा करना चाहिये जैसा पत्थरोंसे पक्षियोंका करते हैं। "काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर" ये छः शत्रु हैं, ये पशु हैं, उनको दूर करना चाहिये। इनके संयम करनेका यह उपाय सप्तम मंत्रमें कहा है-

१ जिनका संयम हो जाय उस पर और विशेष दबाव नहीं डालना चाहिये,

२ और जिनका संयम न हुआ हो उनको संयम के अंदर लाना चाहिये।

यह बात समझ में आनेके लिये एक उदाहरण लेते हैं। गाडी के घोडे पहिले केवल

पशु होते हैं, पश्चात् उनको सिखाया जाता है, सिखानेपर वे गाडीमें जोते जाते हैं। जो घोडे अच्छे नियम से चलनेवाले सुशील होते हैं यदि उनको विना कारण अधिक दबाया, सताया, या पीडित किया जाय तो वे बिगड बैठते हैं। अति दंडन इस प्रकार घातक होता है। इंद्रियों के विषय में भी यही बात है। जो इंद्रिय संयमित होती हैं, यदि उनको और कडे नियमों में रखा जाय तो उनमें प्रतिक्रिया शुरू होजाती है और इस कारण उनके बिगडजानेकी संभावना होजाती है। इस लिये संयम में रहकर योग्य कार्य करनेवाली इंद्रियोंको भी उचित स्वतंत्रता देनी चाहिये, परंतु साथही साथ उनपर दक्षताके साथ अपनी दृष्टि रखनी चाहिये और उनका आचरण देखना चाहिये ताकि वे कुमार्गपर न जांय और संयम में ही स्थिर रहें। इस प्रकार संयमित इंद्रियों और वृत्तियोंसे वर्ताव करना चाहिये। परंतु जो संयम में स्थित नहीं हैं उनको नियमों से बांध कर प्रयत्नसे उनको वशमें करना चाहिये, और जब वशमें आ जावें तब उनको पूर्वोक्त रीतिके अनुसार योग्य स्वतंत्रतामें रखते हुए संमय के मार्गमें सुरक्षित चलाना चाहिये।

खेलोंमें जो सिंह व्याघ्रादियोंको वशमें रखते हैं वे भी इसी प्रकार वशमें रखते हैं। पहिले प्रेमसे उनके साथ व्यवहार करते हुए उनमें अपने विषयमें विश्वास उत्पन्न करवाते हैं, पश्चात् योग्य रीतिसे शिक्षा देते हैं। शिक्षित हो जानेपर उनपर बाहरसे बहुत दबाव न डालते हुए, परंतु किसी भी प्रकार वे मर्यादा का उल्लंघन न कर सकें, ऐसी व्यवस्था से उनकी पालना करते हैं। संमय के पूर्व और पश्चात् व्यवहार करनेकी जो यह सूचना इस सूक्तमें दी है वह बडी उपयोगी है।

मनुष्यके अंतः करणमें जैसे ये पशु हैं, उसी प्रकार अन्य रिपु, वैरी, लुटेरे बहुतसे भाव हैं। इन सबको अपने स्वाधीन करना अथवा दूर करना चाहिये। इस विषयमें योग्य बोध पाठक प्राप्त करें। यह संयम अपनी अंतःशक्तियोंसे करना चाहिये, साथ ही साथ औषधि प्रयोगसे भी कुछ अंशतक सहायता ली जा सकती है। जैसा सत्वगुणी अन्नका सेवन करनेसे कामक्रोध कुछ अंशतक कम होते हैं और रजोगुणी वा तमोगुणी अन्न सेवन करनेसे वे बढ जाते हैं। मद्यमांसाशनसे कामक्रोध बढते हैं और उक्त पदार्थों के सेवनसे निवृत्त होजानेपर उनसे बच जानेकी बहुत संभावना रहती है। इसी प्रकार सोमादि औषधि रस सेवनसे भी बडे लाभ होने संभव हैं।

इतना होनेपरभी अपनी अंतःशक्तियोंसे कामादियोंका संयम करनेका अनुष्ठान अतिश्रेष्ठ है।

पाठक इस बातका अधिक विचार करें और योग्य बोध प्राप्त करें॥

बल संवर्धन ।

(४)

(ऋषिः—अथर्वा । देवता—वनस्पतिः)

यां त्वा गन्धर्वो अखनद्वरुणाय मृतभ्रजे ।
तां त्वा वयं खनामस्योषधिं शेपहर्षणीम् ॥ १ ॥
उदुषा उदु सूर्य उदिदं मामकं वचः ।
उदेजतु प्रजापतिर्वृषा शुष्मेण वाजिना ॥ २ ॥

अर्थ- (यां त्वा) जिस तुझको (गन्धर्वः मृत-भ्रजे वरुणाय अखनत्) गंधर्वने शक्तिहीन वरुणके लिये खोदा है (तां त्वा शेपहर्षणीं ओषधिं) उस तुझ इंद्रियका सामर्थ्य बढानेवाली औषधिको (वयं खनामसि) हम खोदते हैं ॥ १ ॥

(वाजिना शुष्मेण) शक्ति और बलके प्रभावसे (उषाः उदेजतु) उषाकी वेला ऊंची होवे, (उ सूर्यः उत) सूर्य ऊपर चढे, (इदं मामकं वचः उत्) यह मेरा वचन ऊंचा हो, और इसी प्रकार (वृषा प्रजापतिः उत् एजतु) बलवान प्रजापति उंचा होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—तरुण मनुष्य शक्तिहीन हुआ तो उसको पुनः शक्ति देनेके लिये वैद्य इंद्रियशक्ति बढानेवाली औषधि देवे ॥ १ ॥

जिस प्रकार उषा प्रकाशती है, सूर्य उदयके पश्चात् चमकने लगता है, और वक्ताका शब्द बडा होता जाता है, उसी प्रकार इस औषधिके सेवनसे संतानका पिता पुनः बलवान होगा ॥ २ ॥

यथा स्म ते विरोहतोभितप्तमिवानति। ततस्ते शुष्मवत्तरमियं कृणोत्वोषधिः ॥ ३ ॥
उच्छुष्मौषधीनां सार ऋषभाणाम्। सं पुंसामिन्द्र वृष्ण्यमस्मिन्धेहि तनूवशिन् ॥ ४ ॥
अपां रसः प्रथमजोऽथो वनस्पतीनाम्। उत सोमस्य भ्रातास्युतार्शमसि वृष्ण्यम् ॥ ५ ॥
अद्याग्ने अद्य सवितरद्य देवि सरस्वति ।
अद्यास्य ब्रह्मणस्पते धनुरिवा तानया पसः ॥ ६ ॥

अर्थ-(यथा स्म ते विरोहतः) जिस प्रकार तेरी वृद्धि होनेके समय (अभि तप्तं इव अनति) तप्त होनेके समान श्वास चढता है (ततः ते शुष्मवत्तरं) उसी प्रकार तुझे अधिक बलवान (इयं औषधिः कृणोतु) यह औषधि करे ॥ ३ ॥

(ऋषभाणां ओषधीनां शुष्मा सारा उत्) ऋषभक नामक औषधियों-का बलवर्धक सार बल बढावे। हे (तनूवशिन् इन्द्र) शरीरको वशमें रखनेवाले इन्द्र ! (पुंसां वृषण्यं अस्मिन् धेहि) पुरुषोंका बल इसमें सम्यक् रीतिसे धारण करो ॥ ४ ॥

(वनस्पतीनां अपां प्रथमजः रसः) वनस्पतिके जलांशका प्रथम उत्पन्न होनेवाला रस (अथ उत सोमस्य भ्राता असि) और सोमका रस, भाई जैसा पोषणकर्ता है, (उत आर्शं वृष्ण्यं असि) और उठाने तथा बल बढानेवाला है ॥ ५ ॥

हे अग्ने ! (अद्य) आज, हे सविता ! (अद्य) आज, हे सरस्वती देवी ! (अद्य) आज, हे ब्रह्मणस्पते ! (अद्य) आज (अस्य पसः धनुः इव आ-तानय) इसकी इंद्रियको धनुषके समान फैला ॥ ६ ॥

भावार्थ—इस औषधिसे शरीर अधिक बलवान होगा और इन्द्रियोंकी शक्ति बढ जायगी ॥ ३ ॥

ऋषभक औषधियोंका यह शक्तिवर्धक सार है। शरीरको स्वाधीन रखनेवाला मनुष्य पुरुषोंकी शक्तिवर्धक इस सार रूप औषधको धारण करके बलवान बने ॥ ४ ॥

इन औषधियोंका सत्वरस, सोमवल्लीके समान इस वल्लीका रस ये सब शक्ति बढानेवाले हैं ॥ ५ ॥

हे देवो ! आज इसकी इंद्रियकी शक्ति बढा दो ॥ ६ ॥

*

आहं तनोमि ते पसो अधि ज्यामिव धन्वनि ।
क्रमस्वर्श इव रोहितमनवग्लायता सदा ॥ ७ ॥
अश्वस्याश्वतरस्याजस्य पेत्वस्य च ।
अथ ऋषभस्य ये वाजास्तानस्मिन्धेहि तनूवशिन् ॥ ८ ॥

अर्थ- (अहं ते पसः तनोमि) मैं तेरी इन्द्रियको फैलाता हूं। (धन्वनि अधि ज्यां इव) जैसे धनुष्यपर डोरीको तानते हैं। (ऋशः रोहितं इव) जैसे हिंसक पशु हरिणपर धावा करता है उस प्रकार तू (अनवग्लायता सदा क्रमस्व) न थकता हुआ आक्रमण कर ॥ ७ ॥

(अश्वस्य अश्वतरस्य अजस्य पेत्वस्य च) घोडेके, खच्चरके, और मेंढेके, (अथ ऋषभस्य) और बैलके (ये वाजाः) जो बल हैं, हे (तनूवशिन्) शरीरको वशमें करनेवाले! तू (तान् अस्मिन् धेहि) उन बलोंको इसमें धारण कर ॥ ८ ॥

भावार्थ— इसकी इंद्रियोंको मैं पुष्ट करता हूं, जैसा हिंस्रपशु हरिणको पकडता है, इस प्रकार यह न थकता हुआ चढाई करे ॥ ७ ॥

घोडे, खच्चर, मेंढे और बैलमें जो शक्तियां हैं वे सब शक्तियां, हे शरीरको स्वाधीन करनेवाले मनुष्य! तू इसमें धारण कर ॥ ८ ॥

बलवर्धन ।

इन्द्रियोंके बल बढानेवाली औषधियोंका इस सूक्तमें वर्णन है, विशेष करके पुरुषकी जननेन्द्रियकी शक्ति पुनः पूर्ववत् स्थिर करनेके लिये ऋषभक औषधियोंका रस सेवन करनेका उपदेश इसमें किया है। ऋषभक औषधि और जीवक औषधि हिमालयके शिखरपर उत्पन्न होती है, जैसे सोमवल्ली वहां होती है। इसीलिये ऋषभक को सोमका भाई मं.५में कहा है। यह ऋषभक औषधि वीर्यवर्धक है। वाजीकरण के लिये अत्यंत उपयोगी है। (इस विषयमें हम अधिक लिखना नहीं चाहते।) सुयोग्य वैद्य इस औषधि प्रयोगके विषयमें अधिक विचार करें। यह औषधि वीर्यवर्धनके लिये अत्यंत गुणकारी औषधि है ऐसा इस सूक्तसे प्रतीत होता है।

गाढ निद्रा।

(५)

(ऋषिः—ब्रह्मा । देवता—स्वापनं , ऋषभः)

सहस्रशृङ्गो वृषभो यः समुद्रादुदाचरत् ।
तेना सहस्येना वयं नि जनान्त्स्वापयामसि ॥ १ ॥
न भूमिं वातो अति वाति नाति पश्यति कश्चन ।
स्त्रियश्च सर्वाः स्वापय शुनश्चेन्द्रसखा चरन् ॥ २ ॥
प्रोष्ठेशयास्तल्पेशया नारीर्या वह्यशीवरीः ।
स्त्रियो याः पुण्यगन्धयस्ताः सर्वाः स्वापयामसि ॥ ३ ॥
एजदेजदजग्रभं चक्षुः प्राणमजग्रभम् ।
अङ्गान्यजग्रभं सर्वा रात्रीणामतिशर्वरे ॥ ४ ॥

अर्थ— (सहस्रशृंगः वृषभः) सहस्र सींगवाला अर्थात् हजारों किरणों से युक्त बलवान् चन्द्र (यः समुद्रात् उदाचरत्) जो समुद्रसे उदय हुआ है, (तेन सहस्येन) उस बलवानकी सहायतासे (वयं जनान् नि स्वापयामसि) हम जनोंको सुला देते हैं ॥ १ ॥

(न वातः भूमिं अति एति) इस समय न तो वायु भूमिपर अधिक चलता है, (न कश्चन अतिपश्यति) न कोई ऊपरसे देखता है, (इन्द्र-सखा चरन्) इन्द्रका मित्र होकर बहता हुआ तू वायु (सर्वाः स्त्रियः शुनः च स्वापय) सब स्त्रियोंको और कुत्तोंको सुला दे ॥ २ ॥

(प्रोष्ठे-शयाः तल्पे-शयाः) मञ्चकोंपर सोनेवाली, खाटोंपर सोनेवाली (वह्य-शीवरी) हिंडोला आदिमें सोनेवाली (याः नारीः) जो स्त्रियां हैं (याः पुण्यगन्धाः स्त्रियः) जो पुण्य गन्धवाली स्त्रियां हैं (ताः सर्वाः स्वापयामसि) उन सबको हम सुलाते हैं ॥ ३ ॥

(एजत्-एजत् चक्षुः अजग्रभम्) इधर उधर भटकनेवाली आंखको मैंने निग्रहमें रखा है, उसी प्रकार (प्राणं अजग्रभम्) प्राण को मैंने स्वाधीन किया है, (रात्रीणां अति शर्वरे) रात्रीयोंके अंधकारमें (सर्वा अंगानि अजग्रभं) सब अंगोंको मैंने निग्रहमें रखा है ॥ ४ ॥

य आस्ते यश्चरति यश्च तिष्ठन्विपश्यति। तेषां सं दध्मो अक्षीणि यथेदं हर्म्यं तथा ॥ ५ ॥
स्वप्तु माता स्वप्तु पिता स्वप्तु श्वा स्वप्तु विश्पतिः। स्वपन्त्वस्यै ज्ञातयः स्वप्त्वयमभितो जनः ६
स्वप्न स्वप्नाभिकरणेन सर्वं नि ष्वापया जनम् ।
ओत्सूर्यमन्यान्त्स्वापयाव्युषं जागृतादहमिन्द्र इवारिष्टो अक्षितः॥७॥

अर्थ-(यः आस्ते, यः चरति) जो बैठता है जो चलता है, (यः तिष्ठन् वि पश्यति) जो खडे होकर देखता है (तेषां अक्षीणि संदध्मः) उनकी आंखोंको हम बन्द करते हैं जैसे (यथा इदं हर्म्यं तथा) इस मंदिरके द्वार बंद किये जाते हैं ॥ ५ ॥

(माता स्वप्तु, पिता स्वप्तु) माता सोवे, पिता सोवे (श्वा स्वप्तु, विश्पतिः स्वप्तु) कुत्ता सोवे, और प्रजारक्षक सोवे, (अस्यै ज्ञातयः स्वपन्तु) इसकी ज्ञातिके लोग सोवें (अयं जनः अभितः स्वप्तु) यह सब लोग चारों ओर सोवें ॥ ६ ॥

हे (स्वप्न) निद्रा ! (स्वप्न-अभिकरणेन) नींद के उपाय से (सर्वं जनं निष्वापय) सब जनोंको सुला दे। (अन्यान् जनान् आ-उत्-सूर्यं स्वापय) अन्य जनोंको सूर्य उदय होने तक सुला दे। परंतु (अहं इन्द्र इव) मैं शूर पुरुषके समान (अ-रिष्टः अ-क्षितः) नाश रहित और क्षय रहित होता हुआ (जागृतात) जागता रहूं ॥ ७ ॥

गाढ निद्रा लानेका उपाय।

[यह सूक्त अति सरल होनेसे इसका भावार्थ देनेकी आवश्यकता नहीं है।] इस सूक्तमें मनकी दृढ भावनासे गाढ निद्रा प्राप्त करनेका उपाय बताया है। चंद्रमा ऊपर आया हो तो उसकी शांतिका ध्यान करनेसे मन शान्त बन कर गाढ निद्रा आ सकती है (मं० १)। मंद वायु चल रहा है इस प्रकार की भावनासे भी गाढ निद्रा आ सकती है (मं० २)। आंखों को, अंगों और अवयवोंको तथा प्राणको शांत करनेसे भी निद्रा आती है (मं० ४)। तरुण स्त्रियोंको और पुरुषोंको भी प्रयत्नसे अपनी वृत्तियां शान्त करके सुखसे निद्रा आने योग्य मनकी शान्ति बढाना चाहिये, जिससे सुख पूर्वक वे सो सकेंगे। पास रक्षाके लिये कुत्तोंको भी सुलाना चाहिये। (मं०६)

जो संरक्षक पुरुष हों वे दूसरोंको शान्तिसे सोने दें परंतु स्वयं उत्तम प्रकार जागते रहें और सबकी रक्षा करें। (मं० ७)

विषको दूर करना ।

(६)

(ऋषिः—गरुत्मान् । देवता—तक्षकः)

ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्यः ।
स सोमं प्रथमः पपौ स चकाराऽरसं विषम् ॥ १ ॥
यावती द्यावापृथिवी वरिम्णा यावत्सप्त सिन्धवो वितष्ठिरे ।
वाचं विषस्य दूषणीं तामितो निरवादिषम् ॥ २ ॥
सुपर्णस्त्वा गरुत्मान्विष प्रथममावयत् ।
नामीमदो नारूरुप उतास्मा अभवः पितुः ॥ ३ ॥

अर्थ-(प्रथमः दशशीर्षः दशास्यः ब्राह्मणः जज्ञे) सबसे प्रथम दस सिर और दस मुखवाला ब्राह्मण उत्पन्न हुआ, (सः प्रथमः सोमं पपौ) उसने पहले सोमरसका पान किया और (सः विषं अ-रसं चकार) उसने विषको साररहित बना दिया ॥ १ ॥

(यावती द्यावापृथिवी वरिम्णा) जितने द्युलोक और भूलोक विस्तार से फैले हैं, (सप्त सिन्धवः यावत् वितष्ठिरे) सात नदियां जितनी फैली हैं, वहांतक (विषस्य दूषणीं तां वाचं) विषको दूर करनेवाली उस वाणी को (इतः निरवादिषं) यहांसे मैंने कह दिया है ॥ २ ॥

हे विष ! (गरुत्मान् सुपर्णः) वेगवान गरुडपक्षी ने (प्रथमं त्वा आवयत) प्रथम तुझको खाया । उसे (न अमीमदः) न तूने उन्मत्त किया और (न अरूरुपः) न बेहोष किया, (उत अस्मै पितुः अभवः) परंतु तू उसके लिये अन्न बन गया ॥ ३ ॥

भावार्थ—ज्ञानी ब्राह्मणने सोमपान करके विषको दूर किया ॥ १ ॥

यह विष दूर करनेका उपाय मैं उद्घोषित करता हूं यह सब जगत् में फैल जावे ॥ २ ॥

गरुड पक्षीको विषकी बाधा नहीं होती है वह विष खाता है, परंतु उसको न तो उन्माद चढता है और न बेहोषी आती है । विष तो उस के लिये अन्न जैसा है ॥ ३ ॥

यस्त आस्यत्पञ्चाङ्गुरिर्वक्राच्चिदधि धन्वनः। अपस्कम्भस्य शल्यान्निरवोचमहं विषम् ४
शल्याद्विषं निरवोचं प्राञ्जनादुत पर्णधेः। अपाष्ठाच्छृङ्गात्कुल्मलान्निरवोचमहं विषम् ५
अरसस्त इषो शल्योऽथो ते अरसं विषम्। उतारसस्य वृक्षस्य धनुष्टे अरसारसम्॥६॥
ये अपीषन्ये अदिहन्य आस्यन्ये अवासृजन्।
सर्वे ते वध्रयः कृता वध्रिर्विषगिरिः कृतः ॥ ७ ॥

अर्थ- (यः पञ्चाङ्गुरिः) जिस पांच अंगुलियोंसे युक्त वीर ने (वक्रात् चित् धन्वनः अधि) टेढे धनुष्यपर से (अपस्कंभस्य शल्यात) बंधनसे निकाले शरसे (ते विषं आस्यत) तेरे अंदर विष चलाया है (अहं विषं निरवोचं) मैंने उस विषको हटा दिया है ॥ ४ ॥

(शल्यात् प्राञ्जनात् उत पर्णधेः) शल्यसे, निम्नभागसे, पङ्खवाले स्थानसे (विषं निरवोचं) विष मैंने हटाया है। (अपाष्टात् शृंगात् कुल्मलात्) फालसे, सींगसे और बाणके अन्य भागसे (अहं विषं निरवोचं) मैंने विष दूर किया है ॥ ५ ॥

हे (इषो) हे बाण! (ते शल्यः अरसः) तेरी बाणकी अणि निःसार है, (अथो ते विषं अरसं) और तेरा विष साररहित है। हे (अरस) रस रहित शुष्क! (उत अरसस्य वृक्षस्य ते धनुः) सार रहित वृक्षका तेरा धनुष (अरसं) निःसत्व हो जावे ॥ ६ ॥

(ये अपीषन्) जिन्होंने पीसा है, (ये अदिहन्) जिन्होंने लेप दिया है, (ये आस्यन्) जिन्होंने फेंका है, (ये अवासृजन्) जिन्होंने लक्ष्यपर छोडा है (सर्वे ते वध्रयः कृताः) वे सब निर्बल किये गये हैं, (विषगिरिः वध्रिः कृतः) विषपर्वत भी निर्बल किया गया है ॥ ७ ॥

भावार्थ- वीर लोग जो विषसे पूर्ण बाण चलाते हैं उससे हम वह विष दूर करते हैं ॥ ४ ॥

बाणके आदि, मध्य और अग्रभागसे हम विष दूर करते हैं ॥ ५ ॥

इस प्रकार सब बाण हम निर्विष करते हैं ॥ ६ ॥

जो विषको पीसते हैं, उसका लेप बाणपर करते हैं, जो बाण फेंकते हैं अथवा वेधते हैं, उनके सब प्रयत्न इस रीतिसे निर्विष हुए हैं और सब विष भी निकम्मा सिद्ध हुआ ॥ ७ ॥

वध्रयस्ते खनितारो वध्रिस्त्वमस्योषधे ।
वध्रिः स पर्वतो गिरिर्यतो जातमिदं विषम् ॥ ८ ॥

अर्थ— हे (ओषधे) विषकी औषधि ! (ते खनितारः वध्रयः) तेरे खोदने वाले निःसत्त्व हुए. (त्वं वध्रिः असि) तूभी निःसत्त्व है । (स पर्वतः गिरिः वध्रिः) वह पर्वत और पहाड भी निर्वीर्य हुआ (यतः इदं विषं जातं) जहांसे यह विष उत्पन्न हुआ है ॥ ८ ॥

भावार्थ- इस प्रकार विषवल्लीको खोदनेवाले व जिस पर्वतपर विषवृक्ष उगते हैं वह पर्वतभी निःसत्त्व हुआ है ॥ ८ ॥

विष दूर करनेका उपाय ।

इस सूक्तमें विष दूर करनेके उपाय कहे हैं । पहिला उपाय "सोम पान" करना है। सोम पान करनेसे विष दूर होता है । (मं० १) प्रथम मंत्रमें यह उपाय कहा है ।इसमें कहा है कि "दस शीर्ष और दस मुखवाला ब्राह्मण प्रथम उत्पन्न हुआ, उसने सोमपान किया जिससे विषबाधा नहीं हुई।" इसमें "दशशीर्ष और दशास्य शब्द ब्राह्मणके विशेषण हैं। शीर्ष शब्द बुद्धिका और आस्य शब्द वक्तृत्वका वाचक है। दस गुणा बुद्धिमान् और दस गुणा विद्वान, यह इस शब्दका भाव है । जो ऐसा विद्वान सोमयाग करके उसका यज्ञशेष सोम पीता है उसका विष दूर होता है, ऐसा यहां आशय दीखता है । "इस सोम याग से विषबाधा दूर होती है" यह घोषणा सब जगत्में दी जावे, (मं. २) ताकि सर्वत्र सोमयाग होते रहें और सब देश निर्विष होवें । जल वायुको निर्दोष और निर्विष करनेका उपाय यह सोम याग है ।

दूसरा उपाय गरुडपक्षीका है । गरुड सांप आदि विषजन्तुओंको खाता है, उनका विष उनके पेटमें जाता है, परंतु उसको विष बाधा नहीं होती, मानो वह विष उसका अन्न ही बन जाता है । संभव है कि इस विषयकी योग्य खोज करनेसे विष शमन करनेके उपाय का ज्ञान हो जावे। खोज करनेवाले पाठक गरुडकी पाचक शक्तिके विषयमें खोज करें और लाभ उठावें ।

अन्य मंत्रोंका विषय युद्धमें विषदग्ध बाण लगनेसे जो विषबाधा होती है, उस संबंध का विष दूर करनेका है । यह विषय हमारे समझमें नहीं आया है । इसलिये इस विषय में हम अधिक कुछभी नहीं लिख सकते ।

विष दूर करना।

[७]

(ऋषिः—गरुत्मान् । देवता-वनस्पतिः)

वारिदं वारयातै वरणावत्यामधि । तत्रामृतस्यासिक्तं तेना ते वारये विषम् ॥ १ ॥
अरसं प्राच्यं विषमरसं यदुदीच्यम् । अथेदमधराच्यं करम्भेण वि कल्पते ॥ २ ॥
करम्भं कृत्वा तिर्यं पीवस्पाकमुदारथिम्। क्षुधा किल त्वा दुष्टनो जक्षिवान्त्स न रूरुपः३

अर्थ— (वारणावत्यां अधि) बारणानामक औषधि में रहने वाला (इदं वार् वारयातै) यह रस, जल, विषको दूर करता है। (तत्र अमृतस्य आसिक्तं) वहां अमृतका स्रोत है (तेन ते विषं वारये) उससे तेरा विष मैं हटाता हूं ॥ १ ॥

(प्राच्यं विषं अ-रसं) पूर्व दिशाका विष रसहीन होवे, (यत् उदीच्यं अरसं) जो उत्तर दिशामें विष हो वहभी रसहीन होवे। (अथ इदं अधराच्यं) अब जो नीचेकी दिशाका यह विष है वह (करम्भेण विकल्पते) दहीसे विफल होता है ॥ २ ॥

हे (दुः+तनो) दोषयुक्त शरीरवाले! (तिर्यं=तिल्यं) तिलोंका (पीवः+पाकं) घीके साथ पका हुआ (उदारथिं=उदर-थिं) पेटको ठीक करनेवाला (करम्भं) दधि मिश्रित अन्न (क्षुधा किल जक्षिवान्) क्षुधाके अनुकूल खाया जायगा, तो (सः त्वा न रूरुपः) वह तुझे बेहोष नहीं होने देगा ॥ ३ ॥

भावार्थ— वारणा नामक औषधिका रस विषको दूर करता है, उसमें जो अमृतका स्रोत होता है, उससे विष दूर होता है ॥ १ ॥

इससे प्राच्य और उदीच्य विष शान्त होता है। निम्नभाग का विष दहिके प्रयोगसे विफलसा होता है ॥ २ ॥

विष शरीरको बिगाडता है। उस के लिये तिलोंके पाक में बहुत घी डाल कर उसका उत्तम पाक बनाकर और उसको दहीके साथ मिश्रित करके अपने पेटकी स्थिति और भूख के अनुकूल खाया जाय तो विषसे आनेवाली मूर्च्छा दूर होती है ॥ ३ ॥

वि ते मदं मदावति शरमिव पातयामसि ।
प्र त्वा चरुमिव येषन्तं वचसा स्थापयामसि ॥ ४ ॥
परि ग्राममिवाचितं वचसा स्थापयामसि ॥ ।
तिष्ठा वृक्ष इव स्थाम्न्यभ्रिखाते न रूरुपः ॥ ५ ॥
पवस्तैस्त्वा पर्यक्रीणन्दूर्शेभिरजिनैरुत ।
प्रक्रीरसि त्वमोषधेऽभिखाते न रूरुपः ॥ ६ ॥

अर्थ- हे (मदावति) मूर्च्छा लानेवाली! (ते मदं शरं इव वि पातयामसि) तेरी बेहोशीको बाणके समान दूर फेंक देते हैं। और (येषन्तं चरुं इव) चूनेवाले बर्तनके समान (त्वा वचसा प्रस्थापयामसि) तुझको वचा औषधी-से हम हटा देते हैं ॥ ४ ॥

(आचितं ग्रामं इव) इकट्ठे हुए ग्रामीण जनोंके समान तुमको हम (वचसा परि स्थापयामसि) वचाऔषधिसे सब प्रकार ठहरा देते हैं। (स्थाम्नि वृक्ष इव तिष्ठ) स्थानपर वृक्षके समान ठहर। हे (अभ्रि-खाते) कुद्दालसे खोदी हुई! तू (न रूरुपः) बेहोष नहीं करेगी ॥ ५ ॥

(पवस्तैः दूर्शेभिः उत अजिनैः) ओढनेकी चादरें, दुशाले और कृष्णा-जिनोंसे, हे ओषधे! तू (प्रक्रीः असि) बिकाऊ वस्तु है। हे (अभ्रि-खाते) कुद्दाल से खोदी हुई! तू (न रूरुपः) मूर्च्छित नहीं करती है ॥ ६ ॥

भावार्थ- औषधिके विषसे मूर्च्छा या बेहोशी आती हो तो उसके लिये वचा औषधिका प्रयोग किया जावे, इस से मूर्च्छा दूर होगी ॥ ४ ॥

वचा औषधिके प्रयोगसे विष अपना असर नहीं कर सकता और बेहोषी दूर होती है ॥ ५ ॥

यह औषधि एक विकाऊ चीज है, इससे मूर्च्छा हट जाती है, इसलिये यह विविध वस्तुएं देकर खरीदी जाती है ॥ ६ ॥

*

अना॑प्ता ये वः॑ प्रथमा यानि॒ कर्मा॑णि चक्रि॒रे ।
वी॒रान्नो॒ अत्र॒ मा द॑भन्तद्व॑ ए॒तत्पु॒रो द॑धे ॥ ७ ॥

अर्थ-(ये प्रथमाः अनाप्ताः) जो पहिले श्रेष्ठ ज्ञानी पुरुष थे उन्होंने (वः यानि कर्माणि चक्रिरे) तुम्हारे लिये जो कर्म किये, वे (नः वीरान् अत्र मा दभन्) हमारे वीरोंको यहां न कष्ट दें। (तत् एतत् वः पुरः दधे) वह यह सब तुम्हारे सन्मुख मैं धरता हूं ॥ ७ ॥

भावार्थ- इस प्रकारके औषधिके प्रयोगसे प्राचीन ज्ञानी वैद्योंने जो जो चिकित्साएं की थीं, उनका स्मरण कर, और उस प्रकार अपने बालबच्चों तथा पुरुषोंको विनाश से बचाओ। यही हमारा कहना है ॥ ७ ॥

दो औषधियां।

इस सूक्तमें वारणा और वचा इन दो औषधियोंका उपयोग विष दूर करनेके लिये कहा है।

विषके पेटमें जानेपर मूर्च्छा आने लगी तो तिलौदन दही के साथ खानेका उपाय तृतीय मंत्रमें कहा है।

[सूचना—ये सूक्त तथा इस प्रकारके जो अन्य सूक्त चिकित्साके साथ संबंध रखते हैं, उनका विचार ज्ञानी वैद्योंको ही करना चाहिये, क्यों कि औषधिवाचक शब्दोंके अर्थ कई प्रकारसे होते हैं और केवल भाषा विज्ञानसे यह विषय सुलझा नहीं सकता। इसलिये वैद्यकीय प्राचीन परंपराको जाननेवाले सुयोग्य वैद्य यदि इस विषयकी खोज करेंगे तो इससे जनताका बहुत लाभ हो सकेगा। केवल भाषा विज्ञानी एेसे सूक्तोंका जो अर्थ करते हैं, उसको सुविज्ञ वैद्य ही ठीक रीतिसे सुधार सकते हैं और अर्थके सत्यासत्य का निर्णय भी वे ही कर सकते हैं।]

राजाका राज्याभिषेक।

(८)

(ऋषिः—अथर्वाङ्गिराः। देवता-चन्द्रमाः, आपः। राज्याभिषेकः)

भूतो भूतेषु पय आ दधाति स भूतानामधिपतिर्बभूव।
तस्य मृत्युश्चरति राजसूयं स राजा राज्यमनु मन्यतामिदम् ॥ १ ॥
अभि प्रेहि माप वेन उग्रश्चेत्ता सपत्नहा।
आ तिष्ठ मित्रवर्धन तुभ्यं देवा अधि ब्रुवन् ॥ २ ॥

अर्थ— जो (भूतः) स्वयं प्रभाव शाली बनकर (भूतेषु पयः आदधाति) सब प्रजाजनोंको दुग्धादि उपभोगके पदार्थ देता है (सः भूतानां अधिपतिः बभूव) वह ही सब प्रजाओंका अधिपति हो जाता है। (तस्य राज-सूयं मृत्युः चरति) उसके राज्यशासनके उत्पन्न होजानेपर स्वयं मृत्युही दण्ड लेकर उसकी सहायतार्थ राज्यमें भ्रमण करता है। (सः राजा इदं राज्यं अनुमन्यताम्) वह राजा इस राज्यकी अनुमतिसे चले ॥ १ ॥

हे (मित्रवर्धन) मित्रोंको बढानेवाले राजन्। तू (उग्रः चेत्ता सपत्न-हा अभिप्रेहि) प्रतापी, चेतना देनेवाला, शत्रुओंका विनाशक होकर आगे बढ। (मा अपवेनः) पीछे न हट, (आ तिष्ठ) अपने स्थानपर ठहर जा। (तुभ्यं देवाः अधि ब्रुवन्तु) तेरे लिये विद्वान लोग योग्य मंत्रणा देते रहें ॥ २ ॥

भावार्थ—जो विशेष प्रभावशाली होता है और सब जनताके लिए विशेष सुखोपभोग प्राप्त कर देनेके कार्य करता है, वही लोगोंका अधिपति होता है। जो मृत्यु सब प्राणियोंका अन्त करनेवाला है वह उस राजाका शासक दण्डधारी होकर उसकी सहायता करता है। इस प्रकार का जो प्रतापी पुरुष हो वही प्रजाकी अनुमतिसे राज्यशासन चलावे ॥ १ ॥

राजा अपने मित्र बढावे। वह राजा प्रतापी प्रजामें चेतना बढानेवाला और शत्रुओंका नाशक होकर आगे बढे। अपने स्थान में स्थिर रहे और कभी पीछे न हटे। ऐसे राजाको विद्वान लोग समय समयपर योग्य मंत्रणा देते रहें ॥ २ ॥

आतिष्ठन्तं परि विश्वे अभूषञ्छ्रियं वसानश्चरति स्वरोचिः ।
महत्तद्वृष्णो असुरस्य नामा विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ ॥ ३ ॥
व्याघ्रो अधि वैयाघ्रे वि क्रमस्व दिशो महीः ।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्त्वापो दिव्याः पयस्वतीः ॥ ४ ॥
या आपो दिव्याः पयसा मदन्त्यन्तरिक्ष उत वा पृथिव्याम् ।
तासां त्वा सर्वासामपामभि षिञ्चामि वर्चसा ॥ ५ ॥

अर्थ— (आतिष्ठन्तं विश्वे परिभूषन) राजगद्दीपर बैठनेवाले राजाको सब लोग अलंकृत करें। यह राजा (श्रियं वसानः स्व-रोचिः चरति) लक्ष्मीको धारण करता हुआ अपने तेजसे युक्त होकर राज्यमें विचरता है। इस (वृष्णः असु-रस्य तत् महत् नाम) बलवान्, प्रजाओंके प्राण रक्षक राजाका वही बडा यश है। वह (विश्वरूपः अमृतानि आ तस्थौ) सब रूपोंसे युक्त होकर विविध सुखोंको प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

(वैयाघ्रे अधि व्याघ्रः) व्याघ्र स्वभाववाले मनुष्योंपर बाघ बनकर (मही दिशः विक्रमस्व) विशाल दिशाओंमें पराक्रम कर। (पयस्वतीः आपः) दुग्धादि प्राप्त करनेवाली (सर्वाः विशः) सब प्रजाएं (त्वा वाञ्छन्तु) तुझे चाहें ॥ ४ ॥

(अन्तरिक्षे उत वा पृथिव्यां) अन्तरिक्ष और इस पृथ्वीपर (या दिव्याः आपः) जो दिव्य जल अपने (पयसा मदन्ति) सत्त्व रससे तृप्त करते हैं (तासां सर्वासां अपां) उन सब जलोंके (वर्चसा त्वा अभिषिञ्चामि) तेजसे तेरा अभिषेक करता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ— राजगद्दीपर विराजमान होनेवाले राजाको प्रजाजन अलंकृत करते हैं। यह राजा ऐश्वर्य को पास रखता हुआ तेजस्वी बन कर राज्य में विचरता है। प्रजाजनों के प्राणोंकी रक्षा करनेवाले बलवान राजाका यही बडा यश है। वह राजा विविध अधिकारियों के रूप धारण करके विविध सुखोंको बढाता हुआ अपने स्थानपर रहता है ॥ ३ ॥

राजा दुष्टोंके दमन के लिये योग्य प्रखर उपायों की योजना करके सब दिशाओंमें पराक्रम करके विजयी होवे। दूध जल आदि उपभोगोंको प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाले प्रजाजन ऐसे राजाको अपने शासनके लिये चाहें ॥ ४

पृथ्वी और अंतरिक्ष में जो दिव्य जल हैं उन सबके तेजसे यह राज्याभिषेक राजाके ऊपर किया जाता है ॥ ५ ॥

अभि त्वा वर्चसासिचन्नापो दिव्याः पयस्वतीः ।
यथासो मित्रवर्धनस्तथा त्वा सविता करत् ॥ ६ ॥
एना व्याघ्रं परिषस्वजाना सिंहं हिन्वन्ति महते सौभगाय ।
समुद्रं न सुभुवस्तस्थिवांसं मर्मृज्यन्ते द्वीपिनमप्स्व १ न्तः ॥ ७ ॥

अर्थ—(दिव्याः पयस्वतीः आपः) दिव्य रसयुक्त जलोंने (वर्चसा त्वा अभि असिचन) अपने तेजसे तुझे अभिषिक्त किया है (यथा मित्रवर्धनः असः) जिससे तू मित्रोंकी वृद्धि करनेवाला होवे और (सविता त्वा तथा करत्) सबका प्रेरक देव तुझे वैसा योग्य करे ॥ ६ ॥

(व्याघ्रं सिंह परिषस्वजानाः एनाः) व्याघ्र और सिंहके समान पराक्रमी राजाको चारों ओरसे अभिषिक्त करनेवाली ये जलधाराएं इसको (महते सौभगाय हिन्वन्ति) बडे सौभाग्यके लिये प्रेरित करती हैं । (सु-भुवः समुद्रं न) जैसे उत्तम भूमिभाग समुद्रको शोभित करते हैं। उसी प्रकार (अप्सु अन्तः तस्थिवांसं द्वीपिनं) जलोंके अंदर ठहरनेवाले, द्वीपाधिपति राजाको सब प्रजाएं (मर्मृज्यन्ते) सुभूषित करती हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ— इस दिव्य जलसे अभिषिक्त हुआ राजा अपने मित्रोंकी संख्या बढावे। और परमेश्वर उस राजाको वैसीही प्रेरणा करे ॥ ६ ॥

यह राजा नरव्याघ्र अथवा नरसिंह अर्थात् नरश्रेष्ठ है। इस राज्याभिषेकसे इसके भाग्यकी वृद्धि होती है। जिस प्रकार अपनी मर्यादामें रहनेवाला समुद्र चारों ओरके भूभागोंसे सुभूषित होता है, उस प्रकार चारा ओरसे जलसे वेष्टित राष्ट्रका अधिपति राजा सब प्रजाओंसे सुपूजित होता है ॥ ७ ॥

राज्याभिषेक ।

राजाके राज्याभिषेकके समयके धर्मविधिमें कहने का यह सूक्त है। इस सूक्तके मनन से राज्याभिषेक विधिका ज्ञान होना संभव है। राजगद्दीपर राजाका अभिषेक होनेके लिये विविध जलाशयोंका जल लाया जाता है। समुद्र, पवित्र महानदियां, अन्य पवित्र स्रोत और आकाशसे प्राप्त होनेवाला दिव्य जल ये सब जल लाये जाते हैं। इस मंत्रपूत

जलसे राज्याभिषेक किया जाता है। इसका तात्पर्य बडा गंभीर है। राजाका राज्य समुद्रतक फैला हुआ होना चाहिये। यह पहिला बोध यहां मिलता है। जो राज्य समुद्रतक नहीं फैले हुए होते उनका व्यापार व्यवहार ठीक प्रकार नहीं चल सकता, इसलिये समुद्रके किनारे तक राज्यका विस्तार होना देशोन्नति के लिये अत्यंत आवश्यक है। इसी विचारकी स्फूर्ति देनेके लिये सप्तम मंत्रके "समुद्र, अप्सु अन्तः, द्वीपी" ये शब्द हैं। पंचम मंत्रमें कहा है कि "तासां सर्वासां अपां वर्चसा अभिषिञ्चामि।" अर्थात् उन सब जलोंके तेजसे मैं तुम्हारा अभिषेक करता हूं, ताकि तुम इस तेजसे युक्त हो।

समुद्रतक राज्यविस्तार।

समुद्रका और महानदियोंका जल दूसरे राजाके पाससे भिक्षा मांगकर लाया हुआ राज्याभिषेकके कामका नहीं है। अपने राज्यमें समुद्र चाहिये और महानदियांभी अपने राज्यमें चाहिये। और उनसे जल प्राप्त करना चाहिये। इसका विचार करनेसे संस्कारकी चीजें किस प्रकार राज्यविस्तार के लिये कारणीभूत हो सकतीं हैं इसका पता लग सकता है।

कौन राजा होता है ?

जो वीर विशेष प्रभावशाली और पराक्रमी होता है और जो जनताको (पयः आ-दधाति) दुग्ध आदि उपभोगके पदार्थ विपुल देता है तथा बेकारी कम करता है, वही (अधिपतिः बभूव) राजा होता है। इस राजाका सहायक यह मृत्यु ही होता है, मृत्यु देव सब जगत्को दण्ड देनेवाला होता है, मानो इस मृत्युका अंशही राजाके पास आ-कर निवास करता है। इसीकी सहायतासे राजा अपराधियोंको दण्ड देता है। इस प्रकार का प्रभावशाली राजा प्रजाका शासन करे। (मं० १) यह राजा शत्रुनाशक और मित्र-वर्धक तथा शूर बनकर अपना राज्य चलावे और बढावे। (मं० २) राज्यशासन करने वाले अनेक ओहदेदार ये राजाकेही रूप हैं, इस प्रकारसे मानो, राजा (विश्वरूपः) अनेक रूपवाला होकर राज्य करता है, और (स्व-रोचिः) अपने तेजसे तेजस्वी बनकर राज्य चलाता है। यही राजाकी महिमा है। (मं० ३) यह राजा बाघ और सिंह जैसा पराक्रमी बन कर शत्रुओंका दमन करे और सब प्रकारकी उन्नति सिद्ध करके यशका भागी बने॥

R. NO. B. 1463

महाभारत।

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास ।

इस समय तक छपकर तैयार पर्व ।

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्यय
१ आदिपर्व	[१ से ११]	११	११२५	६) छः	रु १)
२ सभापर्व	[१२ " १५]	४	३५६	२) दो	,, ।-)
३ वनपर्व	[१६ " ३०]	१५	१५३८	८) आठ	,, १।)
४ विराटपर्व	[३१ " ३३]	३	३०६	१॥) डेढ	,, ।-)
५ उद्योगपर्व	[३४ ४२]	९	९५३	५) पांच	,, १)
६ भीष्मपर्व	[४३ " ५०]	८	८००	४) चार	,, ।।।)
७ द्रोणपर्व	[५१ " ६४]	१४	१३६४	७॥) साडेसात	१।≈)
८ कर्णपर्व	[६५ " ७०]	६	६३७	३॥) साढेतीन)	,, ॥)

कुल मूल्य ३७॥) कुलडा.व्य.६।।।)

सूचना— ये पर्व छप कर तैयार हैं । अतिशीघ्र मंगवाइये ।-मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज दीजिये तो आधा डाकव्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु० के मूल्यके ग्रंथको तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देना होगा ।

मंत्री— स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

मुद्रक तथा प्रकाशक— श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा)

R. NO. B. 1463

ॐ

वैदिक धर्म ।

वैदिक तत्त्व ज्ञान प्रचारक मासिक पत्र ।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

वर्ष १०

अंक २

क्रमांक ११०

माघ

संवत् १९८५

फर्वरी

सन१९२९

वार्षिक मूल्य— म० आ० से ४) वा० पी० से ४॥) विदेशके लिये ५)

विषयसूची।

वर्ष १०

अंक २

क्रमांक ११०

माघ संवत् १९८५

फर्वरी सन १९२९

वैदिक तत्त्वज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।

संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।

स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

हमारी रक्षा।

पाहि नो अग्ने रक्षसः पाहि धूर्तेरराव्णः।
पाहि रीषत उत वा जिघांसतो बृहद्भानो यविष्ठ्य॥

ऋ. १।३६।१५

हे (बृहद्भानो) अत्यंत प्रकाशमान (यविष्ठ्य) बलवान् (अग्ने) तेजस्वी प्रभो! (नः रक्षसः पाहि) हमें क्रूर पुरुषोंसे बचाओ। (अ-राव्णः) स्वार्थी (धूर्तेः पाहि) धूर्तोंसे बचाओ। इसी प्रकार (जिघांसतः) हनन करनेवाले दुष्ट घातक वैरीसे (पाहि) हमारी रक्षा कर। और (रीषतः) विनाश करनेवाले या दुःख देनेवाले शत्रुसे (पाहि) हमारा बचाव करो!

हे प्रकाशमान बलवान और तेजस्वी प्रभो! दुष्ट हिंसक और घातक शत्रुओंसे, स्वार्थी धूर्तोंसे, कंजूसों से, घातक और विनाशक वैरियोंसे तथा अन्यान्य प्रकारके दुष्टोंसे हमारा बचाव कर और हमें अपना अभ्युदय और निःश्रेयस साधन करनेका उत्तम अवसर प्राप्त हो।

स्वाध्याय वृत्त।

प्लेग.

औंधमें जो प्लेगका प्रकोप हुआ था वह अब कुछ कम हुआ है । इस समय प्रायः सब लोग झोंपडीयोंमें रहते हैं और ग्राममें नहीं रहते, इस लिये प्लेग का विष इस भूमिसे दूर हुआ है या नहीं, इस विषयमें कुछ कहना इस समय अशक्य है। बहुत संभव है कि और एक दो मासमें सब कार्यादिक पूर्ववत् चलने योग्य अनुकूल परिस्थिति हो जायगी।

इस मासमें भी उपरोक्त कारणसे स्वाध्याय मंडलके मुद्रण विभागके कार्यको शिथिलता वैसी ही रही है। सब लोग ग्राममें आवेंगे तभी वह सुधर सकती है। तब तक जो देरी होगी उसकी क्षमा ग्राहक करेंगे।

नवीन पुस्तक ।

१ छंदो निर्णय ।

यह छोटीसी पुस्तक वैदिक छंदोंके परिज्ञानके लिये मुद्रित की गई है। इसमें वैदिक छंदोंके पहचाननेकी अत्यंत सुगम युक्ती बताई है। प्रत्येक चरणकी अक्षर संख्या गिनकर तथा केवल संपूर्ण मंत्रकी अक्षर संख्या गिनकर ही किस मंत्रका छंद कौनसा है यह इस पुस्तक की सहायतासे जान सकते हैं। मूल्य =) डा. व्य.-) है।

यजुर्वेद पादसूची ।

यजुर्वेदकी पादसूची छपकर तैयार है। इसमें मंत्रके प्रत्येक पादकी सूची है। इस समयतक कहीं भी ऐसी पुस्तक तैयार नहीं हुई है। मंत्र ढूंढनेके लिये इस समय तक मंत्रके प्रथम पादकी सूची ही एक साधन था, परंतु यदि मंत्रका द्वितीय और तृतीय पाद स्मरण आया तो उस का पता देखनेका कोई साधन नहीं था। इस सूचीमें जो चाहे सो मंत्रका चरण देखा जा सकता है। वेदका अभ्यास करने वालोंके लिये यह एक महत्वका सहायक ग्रंथ है। पुस्तक अगले मासमें तैयार होगी।

यजुर्वेद सर्वानुक्रम सूत्र ।

यजुर्वेदका सर्वानुक्रम सूत्र अत्यंत सुबोध रीतिसे छपकर तैयार है। यजुर्वेद के हरएक मंत्र का अथवा मंत्र भागका ऋषिदेवताछंद इससे जान सकते हैं। संस्कृत न जानने वाला मनुष्य भी इस से लाभ उठा सकता है। यजुर्वेद में कई अध्यायों का एक ही ऋषि होता है और कई स्थानमें एक मंत्रमें भी दो तीन ऋषि देवता होते हैं। इसका ठीक पता इस पुस्तकसे ही लग सकता है। अन्य कोई साधन नहीं है। पुस्तक छपकर तैयार है। अगले मास में जिल्द बनकर तैयार होगी।

वैदिक धर्म ।

वैदिक धर्ममें 'अथर्ववेद सुबोध भाष्य' छप रहा है। उसके अधिक पृष्ठ देनेका विचार हमने किया है। यदि हरएक ग्राहक इस मासमें नये एक दो ग्राहक बनाकर हमारी सहायता करेंगे तो ही यह हमारा उद्देश्य सिद्ध हो सकता है। गत अंकके पृष्ठ ७२ दिये गये हैं, यह अंकभी वैसाही बडा किया है। इसमें डाकव्यय भी दुगणा लगा है। सब खर्च बढ गया है। इस लिये यदि ग्राहक संख्या न बढी तो स्वा० मंडलको बडी हानी होगी। इसलिये हर एक ग्राहकसे प्रार्थना है कि वह इस मासमें एक दो नये ग्राहक बना दें और इस वेद प्रचार कार्यमें सहायता दें।

'प्रबंध कर्ता'

एकादशीका उपवास ।

(गताङ्क से आगे)

उपवास कैसे करना चाहिए ।

वस्तुतः देखा जाए तो दशमी की रातका भोजन भी लघुही करना चाहिए । अर्थात् सुगमतासे पच जानेवाला अन्न स्वल्प मात्रामें खाना चाहिए। इसके बाद एकादशीके दिन सर्वथा लङ्घन करना चाहिए। इस दिन केवल जल यथेच्छ पीना चाहिए। तदनन्तर द्वादशीके दिन अत्यन्त हलका, शीघ्र पच जानेवाला तथा स्निग्ध अन्न खाना चाहिए । इस प्रकार यदि किया जाए तो निःसंदेह एकादशीके अनशनव्रतसे पर्याप्त लाभ उठाया जा सकता है । परंतु वर्तमान समयमें दशमी की रातको, क्योंकि अगले दिन उपवास करना है, अतः लोक ठूंस ठूंसकर पेट भरते हैं; और फिर एकादशीके दिन निरशनके पदार्थोंसे पेट भरते हैं । इतना ही नहीं अपितु क्योंकि एकादशीको उपवास किया था, अतः द्वादशीके दिन साधारणतया निश्चित भोजनके समयसे पूर्व ही गरिष्ट पदार्थ बनाकर भरपेट ठूंसते हैं ! इस प्रचलित पद्धतिके कारण एकादशीके व्रतसे होनेवाला फायदा तो होना दूर रहा, अपितु इसके विरुद्ध पेटकी अपाचनशक्ति तथा उससे होनेवाले विकार बढते हैं । अतः जो आरोग्य प्राप्तिके लिए उपवास करना चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि वे पेट पर दया करें और ऐसा अत्याचार करना छोड देवें ।

इन्द्रियों की विश्रांति ।

अबतक केवल खानपानके सम्बन्धमेंही जिक्र किया गया है । अर्थात् केवल एकही इन्द्रिय विषयक चर्चा हुई है । यहां अन्य इन्द्रिय विषयक उपवासकी चर्चा होनी भी आवश्यक प्रतीत होती है । इस विचारके करनेसे पूर्व यह कहना अनावश्यक न होगा कि उपवास के विषयसे अन्य इन्द्रियों का क्या सम्बन्ध है ? अर्थात् उपवासके दिन साथ साथ अन्य इन्द्रियोंको भी क्यों घसीटा जाए?

शरीरमें इन्द्रियों द्वारा जो कार्य हो रहे हैं, उनमेंसे बहुतसे लगातार होतेही रहते हैं। उन कार्योंको करनेवाली इन्द्रियां विना विश्रांति लीए हुए कार्य कर रही हैं । परन्तु कुछ इन्द्रियां ऐसी हैं जिन्हें अवार नवार विश्रांति मिलती रहती है। इस दृष्टिसे शरीरके अवयवोंके दो भाग किए जा सकते हैं—

(१) विश्राम न लेते हुए सतत कार्य करनेवाले अवयव ।

(२) विश्राम लेतेहुए कार्य करनेवाले अवयव।

प्रथम श्रेणीके यानि सतत कार्य प्रवृत्त अवयवों या इन्द्रियोंमें प्राधान्य रूपसे निम्नकी गणना की जा सकती है- हृदय (रक्ताशय), फेफडे, अन्नाशय और अन्न नालिका आदि । द्वितीय श्रेणीके अर्थात् आराम ले ले कर कार्य करनेवाले अवयवोंमें निम्न गिन सकते हैं -हाथ पैर आदि कर्मेन्द्रियां; आंख,कान आदि ज्ञानेन्द्रियां; मन आदि आन्तरिक इन्द्रियां ।

परन्तु जब हम सोते हैं तब मनको आराम मिलता है ऐसा अनुभव हमें होता है । मनका एक भाग सोती हुई दशामें भी काम करता रहता है अतः एक तरह उसका कार्य अव्यवहित गतिसे जारी है ऐसा ही मानना पडेगा। अतः उसकी गणना प्रथम श्रेणीमें की जानी ज्यादा युक्तियुक्त मालूम देती है । मनके दो भागोंमेंसे एक भाग जो जागृत अवस्थामें कार्य करता रहता है वह सुषुप्तिके समय आराम लेता है और उस समय उसका दूसरा भाग कार्य करने लगता है । इस प्रकार मनका कार्य अनवरत जारी रहता है यही समझना चाहिए ।

हमारे शरीर की घटनाओंका यदि हम प्रति दिन ध्यान पूर्वक स्मरण रखें तो हमें पता चलेगा कि कार्य करनेसे अवयव थकते हैं, और जहां उन्हें विश्रांति मिली कि वे पुनः यथावत् तरोताजे हो जाते हैं । हाथ, पैर और प्रायः सारा शरीर दिनभर

काम करनेसे थक जाता है, पर रातमें सात घण्टे नींद ली कि सब थकावट दूर हो जाती है। प्रत्येक इन्द्रिय के विषयमें यही नियम घटता है। कुछ मर्यादा पर्यंत कार्य करनेपर अवयवों की शक्ति क्षीण नहीं होती; पर उस मर्यादा का अतिक्रमण होते ही थकावट अनुभव होने लगती है। विश्रांति लेनेपर यह थकावट फिर दूर होजाती है, और पुनः अवयवोंमें काम करने की शक्ति आजाती है। नींद जैसी अन्य कोई विश्रांति नहीं है। इसीसे हमारे शरीर का बल बढता रहता है, यह मानलेना आपत्ति जनक न होगा। इस प्रकार का आराम उपरोक्त कुछ अवयवोंको सर्वथा नहीं मिलता।

जन्मसे लेकर मरनेतक फेफडोंका कार्य-श्वास लेना और उच्छ्वास छोडना-बराबर जारी रहता है। फेफडोंने विश्रांति ली कि मृत्यु हुई। अब यह सवाल है कि ऐसी दशामें इन्हें विश्रांति कैसे दी जाए? इस अत्यन्त महत्व पूर्ण अवयव को विश्रांति देनेके लिए योग शास्त्रमें प्राणायाम की योजना की गई है। विशेषतः कुम्भक प्राणायाम इसी ही अवयवको आराम देनेके लिए है। यद्यपि कुम्भक प्राणायाम के बहुतसे उपयोग हैं, तथापि यहांपर अवयवों की दृष्टिसे हमें विचार करना है। अतएव यहां इसी एक ही बातका निर्देश किया है। कुम्भक प्राणायाम अर्थात् श्वास की गति बंद करके रहना। न श्वास अन्दर ही लेना और नहीं बाहर छोडना। इसे हम स्तब्धवृत्ति प्राणायाम ऐसा नाम दे सकते हैं। इस से फेफडों को आराम मिलता है तथा उनका बल बढता है। इस स्तब्ध वृत्ति प्राणायाम करने वाले को क्षयादि रोगोंका डर नहीं रहता, ऐसा समझना किसी प्रकारसे अनुचित नहीं कहा जासकता। प्राणायामसे फेफडोंका बल बढता है, इस नियमको हमें हमारे योगियोंने बताकर, जीवन देनेवाले अवयव के सम्बन्धमें कितनी महत्व की खोज की है यह जरा पाठक विचारें!

इस कुंभक से मिलने वाले आरामका प्रभाव हृदय परभी पडता है। अर्थात् इसके विशेष अभ्याससे हृदयकोभी आराम दिया जा सकता है। यद्यपि यह बात कष्ट साध्य जरूर है, तथापि कईयोंने यह साधना की है और उन्होंने इससे अपने हृदय को बलवान किया है। अत एव योग साधन से मिलनेवाली विश्रांति को "मृत्यु तैर जाना" ऐसा माना गया है। क्यों कि उपरोक्त दोनों अवयवों की शक्ति का बढाना ही आयुष्य का बढाना है।

अब हम अन्न नलिका का विचार करते हैं। छोटी अवस्थासे अन्न खाना, पचाना, और पाचनसे अवशिष्ट को मैल रूपसे बाहर निकालना, ये कार्य अन्ननलिकाके बराबर चल रहे हैं। यह अन्ननलिका मुखसे लेकर गुदाद्वार पर्यन्त लगभग २० हाथ लम्बी है। वह पेटमें कुण्डली के आकार में पडी हुई है। अतः वह इस जरासे पेटमें समाई हुई है। इस २० हाथकी नली के कार्य अव्याहतरूपसे चलते रहने के कारण इसे कभी भी विश्रांति नहीं मिलती। यदि एकाध दिन अन्न न खाया जाए, तभी इसे विश्रांति मिलनेकी संभावना हो सकती है। जिस अवयवको विश्रांति मिलती है वह अधिक स्वस्थ तथा नीरोग रहता है, यह बात पूर्व दिखाई जा चुकी है। उससे हमें पता चलता है कि यदि १५ दिनमें एक दिन सर्वथा अन्न न खाकर खूब पानी ही उस दिन पीआ जाए तो पेटको पूर्ण आराम मिलेगा और पेटका आरोग्य बढनेसे सारे शरीरमें रोग प्रतिबन्धक शक्ति आएगी इसी दृष्टिसे इस उपवासका बहुत महत्व है।

मनकी विश्रांति के लिए योगमें मनको निर्विषय करके ध्यान करने को कहा गया है। हृदय तथा फेफडोंकी विश्रांति के लिए कुंभक प्राणायाम कहा गया है और उसकी साधना आसन स्थिरता से हो सकती है।

पेटकी विश्रांति के लिए उपवास ही एकमात्र साधन है यह हम पहिले देख ही चुके हैं। इसी प्रकार वाक् इन्द्रियकी विश्रांति का उपाय मौनव्रत है। इसी प्रकार युक्तियुक्त योजनाओंसे अन्य सब इन्द्रियों को विश्रांति देना इस दिन इष्ट है। जो जितनी साधना करेगा वह उतना लाभ उठाए बिना नहीं रह सकेगा।

एकादशी के दिन ब्रह्मचर्य पालनेका भी निर्देश है। ब्रह्मचर्य से केवल एक ही इन्द्रिय का संयम करना ऐसा मतलब नहीं है। सब इन्द्रियोंको अपने

अपने विषयसे हटाकर ईश्वर की भक्ति में लाना, ब्रह्मचर्य का मुख्य प्रयोजन है। अथर्व वेदमें कहा हुआ है कि—

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत ॥
अथर्व० कां. ११। ५। १०॥

"ब्रह्मचर्य रूपी तपसे देवोंने मृत्युको दूर किया"।

यहांपर "देव" शब्द के दो अर्थ हैं। देव और इन्द्रियां। इन्द्रिय अर्थ यदि यहां लिया जाए तो मंत्र-का अर्थ होगा "ब्रह्मचर्य व्रत पालने के कारण इन्द्रियों को मृत्यु का भय नहीं रहता"। जो इन्द्रियां ब्रह्मचर्य के व्रतसे पवित्र बनती हैं उनकी अपमृत्यु टल जाती है। अर्थात् जो मनुष्य ब्रह्मचर्य व्रत पालकर अपनी इन्द्रियों को शुद्ध करता है उसे दीर्घायु तथा उत्तम आरोग्य मिलता है। और उसकी योग्यता देव पुरुष के अनुसार श्रेष्ठ होती है। तात्पर्य यह है कि विषय वासनासे अपनी इन्द्रियों को हटाकर उन्हें प्रशस्त तम कर्मोंमें लाना। अथवा दूसरे शब्दों में यदि कहाजाए तो उन्हें नित्यप्रति के व्यवहारसे हटाकर उच्च तथा शुद्ध वातावरण में लाकर विश्रांति देना अत्यन्त लाभप्रद है, आरोग्य वर्धक है और दीर्घायु देने वाला है।

एकादशी के दिन सब इन्द्रियों से उपवास कराके कैसे ध्यान करना चाहिए,इस बातका ज्ञान इस लेखके मनन करने से पाठकोंके ध्यानमें आ सकता है। प्रत्येक इन्द्रिय के विषयमें विस्तारसे लिखनेकी कोई जरूरत प्रतीत नहीं होती। मुख्य सिद्धान्तों पर विचार कर के विचारक स्वयं उनके विषय में मालूम करें तो विशेष अच्छा है। इस दिन हमारी इन्द्रियां निर्दोष होवें, पवित्र रहें, और शुद्ध बनें ऐसा प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार करने से एकादशी के उपवास-व्रत से हमारे में कितना परिवर्तन आ जाएगा, इसकी कल्पना कुछ समय व्यतीत होनेपर अपने आप हम अनुभवसे कर सकेंगे। अतः इस सम्बन्धमें यहां अभीसे लिखना ठीक नहीं। इस लेखका "एकादशीका उपवास" ही मुख्य ध्येय है।

अबतक हमने एकादशीके उपवास की विशेषता तथा व्याप्ति और साधारणतया करने का उपाय और उपवास का सामान्य स्वरूप दर्शाया है। अब उपवास करनेका विशेष प्रकार दिखाना अवशिष्ट रहा है। प्रथम दिखाया जा चुका है कि इस उपवास के दो भाग हैं। एकतो अन्न न खाकर शारीरिक उपवास करना और दूसरा सब इन्द्रियोंको शुभ कर्ममें प्रवृत्त करनेकी जो कोई रीति संभव हो उससे पाचन इन्द्रियके साथ साथ सब इन्द्रियोंको विश्रांति देना। ये दोनों प्रकार जितनी उत्तमता से किए जाएगें उतना उत्तम और सफल उपवास हुआ ऐसा समझना चाहिए। और यही उपवास कैसा हुआ है, इस बातकी कसौटी है।

उपवास करनेकी विधि

एकादशी को जो उपवास करे वह दशमीकी रातको हलका अन्न खाए। विशेष करके जिसमें अपनी रुचि हो, अथवा जो अपनी अपनी प्रकृतिके अनुसार अनुकूल पड़ता हो, वही अन्न खाए। परन्तु यह अन्न कबजी करनेवाला न होना चाहिए। जो थोडासा भी अपचन करनेवाला हो, अथवा वात सम्बन्धी रोग उत्पन्न करनेवाला हो, किंवा किसीभी प्रकारसे हमारी प्रकृतिके प्रतिकूल हो, उस अन्नका सर्वथा सेवन न करे।

हलके अन्नसे अभिप्राय है कि शीघ्र तथा सुगमतासे पच जानेवाला अन्न। पुराने चावल, मूंगकी दाल; परवल भींडी आदिके शाक, घी दूध, छास आदि पदार्थोंकी हलके अन्नोंमें गिनती है। तथापि यह बात अपनी प्रकृति पर विशेष निर्भर है। हो सकता है कि इनमेंसे कई चीजें किसीकी प्रकृतिको अनुकूल न पडती हों। सारांश यह है कि जिसको जो अन्न अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार हलका यानि पचनेमें सुगम अनुभव होता हो, उसका वह सेवन करे। इस दशमीकी रातको जो जितना पचा सके उतना घी खाए। तथापि प्रति दिन की अपेक्षा अधिक मात्रामें खाना आवश्यक है। नहीं तो जितना पच-सके उतना दूध लेकर उसमें दो चार चमचे, अथवा जितना पचा सके उतना घी डाल कर उसे पीए। अब

न लेकर उसके स्थानमें यह घी मिश्रित दूध लेना अत्युत्तम है। इससे शौचादि साफ हो जाते हैं और कोठेमें स्निग्धता उत्पन्न होती है। घी मिश्रित दूध अति गरम न होना चाहिए। क्योंकि अधिक गरम लेनेसे वीर्यादि दोष उत्पन्न हो जाते हैं। ठण्डा पीनेसे ये नहीं होते।

घी मिश्रित दूध एक प्रकारका सादा रेचक है। दशमीके दिन दूसरा कोई सख्त रेचक यदि लिया जाए तो वह ठीक नहीं क्योंकि उससे पेट शुष्क होगा। अतएव इस रेचकका ही लेना ठीक है। क्योंकि इससे कोठा शुष्क न होकर स्निग्ध रहता है। अथवा स्निग्ध, हलके, सौम्य, अल्प अन्न ही दशमीकी रातको खाए। या चाहे तो दोनोंका थोडा थोडा सेवन करे। जो भी कुछ खावे वह आधापेट भरके ही खाए। जिसप्रकार उपवाससे पूर्वके दिन स्त्रियां ठूंस ठूंसकर खाती है उस प्रकार कभी भी न खाए।

भोजनान्तर इस रातको उत्तम विश्रांति लेनी चाहिए। अर्थात् नहीं रातको बहुत देर तक जागे और नहीं कोई ऐसा कार्य करे कि जिससे ब्रह्मचर्य का नाश होवे।

दूसरे दिन एकादशी होनेसे उस दिन जराभी अन्न न लिया जाना अत्युत्तम है। यदि कोई खाता है तो उपवास का उद्देश्य नष्ट हो जाता है, और उससे होनेवाला फायदा भी प्राप्त नहीं होता। अतः यथा शक्ति दिनभर कुछ भी न खावे। अन्न न खानेसे जो थकावट आएगी, उसको दूर करने के लिए तथा कोठे की शुद्धि के लिए खूब पानी पीना चाहिए। यदि वर्षा का पानी मिले तो बहुत ही अच्छा है। नहीं तो पानी को उबालकर और फिर उसे ठण्डा कर पीना चाहिए। यदि इनमेंसे कुछ भी न हो सके तो जो पानी नित्यप्रति काममें लाया जाता है उसी को पीए। पानी की आवश्यकता ऋतु पर निर्भर है। गरमीमें पानी अधिक लगेगा और वर्षा में कम। परन्तु तथापि जितना हो सके उतना अधिक ही पीना चाहिए। पानी पीते रहनेसे उपवास से होनेवाली थकावट जरा भी अनुभव नहीं होती; और पेटके अन्दर के सब अवयव बराबर धुलकर साफ हो जाते हैं। पानी बहुत न पीनेसे अन्तः शुद्धि जैसी चाहिए वैसी नहीं होती। खूब पानी पीनेसे लघुशंका बहुत आती है और उससे शरीर के सब रोगबीज दूर हो जाते हैं। और इस प्रकार आरोग्य की प्राप्ति होती है। अतः उपवास के दिन खूब जलपान करने की बहुत आवश्यकता है।

हम आजकल देखते हैं कि बहुत से लोक उपवास के दिन पानी तक नहीं पीते। यद्यपि ऐसा करनेसे शरीरकी सहनशीलता तो बढती है पर इससे शरीरके रोगबीज बहुत मात्रामें दूर नहीं होते। यद्यपि निर्जला एकादशीसे अधिक मात्रामें सहनशीलता आ जाती है, और सजला एकादशी से नहीं आती, तो भी सजला एकादशी से जितने रोगबीज शरीरसे दूर होते हैं उतने निर्जला एकादशी से नहीं होते। यह दोनों में भेद है, जोकि विशेष लक्ष्य देने योग्य है।

सर्व साधारण को चाहिए कि वे निराहार एकादशी का व्रत रखते हुए खूब जलपान करें। ऐसा हमारा मानना है। विशेष कारण को छोडकर निर्जला एकादशी न करनी चाहिए। इस प्रकार एकादशी बीतजाने पर, द्वादशी के दिन अपने सर्वदा के समय पर ही हलका, सात्विक, स्निग्ध और पौष्टिक भोजन करना चाहिए। यद्यपि अन्न पर्याप्त खाए पर जिस में पेट के तनने की बारी आजाए, उतना न खाए। इस भोजन में अधिक न औटाई हुई दूध की खीर हो तो अधिक अच्छा है। यदि संभव हो तो द्वादशी को सवेरे गायका धारोष्ण दूध घी डालकर तथा खांड मिलाकर पीना चाहिए। दुपहर को भोजन के समय उपरोक्त प्रकार का अन्न खाना चाहिए। इस प्रकार से शरीर में अशक्ति न बढते हुए उलटा शरीर पुष्ट होता है। कितनेक लोक द्वादशी के दिन गरिष्ट पदार्थ खाते हैं और दशमी के दिन भी भारी अन्नका सेवन करते हैं। यह सब अत्यन्त हानिकर है। ऐसा करने से एकादशी से होनेवाले लाभोंका प्राप्त होना तो दूर रहा बल्कि कईवार उलटा तबियत आदि के खराब हो जाने से नुकसान उठाना पडता है। कुछ एक लोक एकादशी के दिन सोते हैं। पर यह भी नुकसान दायक है। अतः आरोग्य वर्धक जो बातें है, उन्हें दक्षतासे

करना चाहिए ताकि एकादशी के व्रत से पूर्ण लाभ उठाया जा सके।

पर्यायों की योजना।

ऊपर निराहार एकादशी का प्रकार दर्शाया गया है। अब वे लोक जो सर्वथा निराहार एकादशी करने में असमर्थ हैं, उनके लिए शास्त्रकारों द्वारा कुछ पर्याय दर्शाए गए हैं। इन पर्यायों के करनेसे निराहार से होनेवाले सबके सब फायदे नहीं होते। पर्यायों के निम्न सात प्रकार हैं।

(१) केवल फलोंका रस लेना।
(२) फल खाना।
(३) केवल दूधपर रहना।
(४) सख्त छिलके वाले फल खाना।
(५) तृणधान्य खाना।
(६) कोईसा एक ही अन्न खाना।
(७) अथवा उपरोक्त सब थोडी थोडी मात्रा में लेना।

इन सात प्रकारों में से प्रत्येक दूसरा प्रथम से गौण है। और दूसरे से तीसरा गौण है इत्यादि। उत्तरोत्तर गौणता बढती जाती है। अब हम इन में से प्रत्येक पर थोडा थोडा विचार करते हैं।

(१)केवल फलोंका रस लेना-हम देखते हैं कि कुछ एक फल रसदार होते हैं तथा कुछ एक गूदेवाले होते हैं। संतरा, नारंगी आदि रसवाले फल हैं और केला, सेव, अमरूद आदि गूदेदार फल हैं। एकादशी के दिन यदि सर्वथा निराहार न रहा जा सके तो इन फलों का रस निकालकर थोडा थोडा पीना चाहिए; पेटभरके नहीं। जितना हो सके उतना आवश्यकतानुसार कम पीना चाहिए। रस पीने के बाद पानी नहीं पीना चाहिए। कम से कम आध घण्टे के पश्चात् पानी पीना चाहिए। पूर्वोक्तानुसार जलपान करने में कोई नुकसान नहीं है। यदि नारियल का पानी मिले तो उसे उस दिन आवश्यकतानुसार पीए। यद्यपि इस प्रकार करने से सर्वथा निरशन से होनेवाले फायदे पूर्ण रूपमें नहीं होते तथापि पौना हिस्सा अन्तः शुद्धि होही जाती है। गन्ने का रस भी उत्तम है। पर इन सबका उपरोक्त मर्यादासे ही पान करना चाहिए।

(२) फल खाना-रसवाले तथा गूदेदार फल, केला सेव आदि खाने चाहिए। यद्यपि यह प्रकार उपरोक्त से गौण है तथापि कुछ प्रकृतिके मनुष्योंके लिए इसके विना रहना कठिन होजाता है। क्योंकि वे निराहार अथवा कुछ रसपररह नहीं सकते। फल खानेवाले उन्हें भरपेट न खावें और बहुत पानीभी न पीवें उनके साथ में तो सर्वथा न पीवें।

(३) केवल दुग्धाहार- थोडासा दूध पीकर उपवास करना उपरोक्त दोनों प्रकारोंसे अधिक गौण है। दूध थोडा थोडा करके पीना चाहिए, अर्थात् एकदम एकही सांस में नहीं पीना चाहिए और नहीं एकही समय में बहुतसा पीना चाहिए। दूध धारोष्ण पीना अधिक अच्छा है।

(४) सख्त छिलके वाले फल खाना— बदाम, अखरोट आदि सख्त छिलके वाले फल थोडी मात्रा में खूब चबाकर खाने चाहिए। उन्हें जल्दी निगलना नहीं चाहिए।

(५) तृण धान्य खाना-कंदमूल आदि जो निरशन के पदार्थ हैं वे खाए। परन्तु वर्तमान समयमें इनकी संख्या इतनी बढ गई है कि अजीर्ण होनेकी संभावना रहती है। अतः यह पर्याय अत्यन्त विचार करके करना चाहिए।

(६) एक अन्न का सेवन-किसी एक ही धान्य को पकाकर उसके साथ विना कोई दूसरी चीज लेते हुए खाए। अथवा उसे भिगोकर खाए।

(७) उपरोक्त सब पदार्थ सब अथवा जितने मिल सकें उतने थोडी थोडी मात्रामें खाए।

ये सब पर्याय आजकल प्रचलित हैं। और इससे भी अधिक निकल सकते हैं। उनका विचार इस विवेचना से पाठक स्वयं कर सकते हैं। यहां पर मुख्य बात जो पर्याय करनेवालों को ध्यान में रखनी चाहिए वह यह है कि कोई भी पर्याय किया जाए तो वह मर्यादा में ही होना चाहिए। सबका मुख्य उद्देश्य यह है कि जितना शरीर में अन्न कम जाएगा।

उतना फायदा अधिक होगा। यह उद्देश्य ध्यानमें रखकर फिर पर्याय करना चाहिए। वैसे तो पर्याय किया कि उपवासका आधा फायदा गया ऐसाही समझना चाहिए। इस प्रकार एकादशीका उपवास तथा पर्याय, यदि जरूरत पडे तो कैसे करने चाहिए; इस बातका विचार होगया। अब सब इन्द्रियोंसे एकादशी कैसे करानी चाहिए इस पर थोडा प्रकाश डालते हैं —

सब इन्द्रियोंका उपवास।

"एकादशी या उपवास" इससे सबको यही बोध होता है कि "अन्न न खाना"। पेट विषयक विचार करनेपर यह बात सर्वांश में ठीक प्रतीत होता है, पर अन्य इन्द्रियोंकी दृष्टिसे यह बात कुछ अंशों में ही ठीक हो सकती है। उपरोक्त पर्यायोंमें जो अनेक पर्याय दर्शाए हैं उनमें से वास्तविक पर्याय "दूध और फलाहार" यही है। मनुष्य का प्रतिदिन का अन्न शुद्ध ही होता है यह बात नहीं है। क्योंकि शरीर में जो अन्न सात्विक गुण बढाते हैं, वेही वस्तुतः शुद्ध अन्न हैं। इसके प्रतिकूल जो राजसिक तथा तामसिक गुण बढाते हैं वे अशुद्ध अर्थात् दोषयुक्त हैं।

दूध और फलाहार, यह सबसे अधिक सात्विक आहार है। इसकी अपेक्षा दूसरा कोई आहार इतना अधिक सात्विक नहीं है। चाहे सात्विक आहार प्रतिदिन नभी प्राप्त हो सकता हो, तो भी एकादशी के दिन तो अवश्य ही उसे प्राप्त कर, यदि पर्याय करनेका विचार हो, तो उसे ही खाना चाहिए। इस ही दृष्टि से ये पर्याय कहे गए हैं। अर्थात् शरीरमें से तमोगुण तथा रजोगुण कम करके सात्विक गुण बढाने के उद्देश्य से ही पर्यायोंकी योजना प्रचलित की गई है। सदोष मार्ग त्यागते हुए निर्दोष मार्ग का अवलम्बन करना ही इनमें मुख्य तत्व है। सब इन्द्रियोंका उपवास कराना भी अत्यन्त आवश्यक है। हमारे शरीर को अन्न की आवश्यकता रहती है और उसके न मिलने पर शरीरस्थ रोग बीज जठराग्निका भोग बनेंगे और इस प्रकार रोगबीज जल मरेंगे। इसी उद्देश्य से निराहार अथवा थोडासा पर्याय करके रहनेकी योजना की गई है। इस प्रकार करनेसे हमारेमें से दोष दूर होंगे और गुणोंकी वृद्धि होगी।

उपवासके दिन अन्न कम खाना या सर्वथा न खाना, और दूध फलाहार पर रहना; इसका सरल अर्थ यही है कि दोष बढाने वाले पदार्थ न खाकर निर्दोष पदार्थ खाना। यह तत्व जो हमने खानेपीने के सम्बन्धमें देखा है उसे यदि इन्द्रियों के व्यवहार में भी घटानेकी कोशिश करें तो यह बात सुगमतासे हमारी समझमें आ सकती है कि इन्द्रियों को उपवास कैसे करना चाहिए। पाठकोंको चाहिए कि वे अपनी अपनी परिस्थितिके अनुसार यथा शक्ति इन्द्रियोंको पूर्ण उपवास करानेका प्रयत्न करें। और इससे वे समझ सकेंगे कि एकादशी व्रतसे किस प्रकार आत्मशुद्धि की साधना की जा सकती है। उदाहरणार्थ हम कुछ एक इन्द्रियोंके व्यवहार पर दृष्टि डालते हैं, और उससे पाठक समझ सकेंगे कि सब इन्द्रियोंके उपवास करानेका प्रकार क्या है।

(१) वाक् इन्द्रिय- इस इन्द्रियसे हम बोलते हैं। इसका आहार "बोलना" हैं। अतः यदि इस इन्द्रियका निराहार उपवास करना हो तो एकादशी के दिन "मौनव्रत" धारण करना चाहिए। योगमें मौनव्रत को बडा भारी महत्वपूर्ण साधन बताया गया है। मौनसे चित्तशुद्धि होकर मनोनिग्रहमें बहुत मदद मिलती है। यदि किसीको पर्याय करना हो तो वह इस दिन बुरे शब्दोंका उच्चारण न करे। चाहे शब्दोंका साक्षात् अर्थ कुछ भी हो, पर यदि उसका आशय बुरा हो तो उसका उच्चारण न करे। क्योंकि उनके उच्चारण करनेसे मन दूषित हो जाएगा। अतः ऐसे वाक्योंका उच्चार सर्वथा न करना ही इस इन्द्रियके उपवास का पर्याय है। ऐसा करना भी बडा भारी तप है। फिर मौन का तो कहना ही क्या!

(२) जिह्वा-इसका उपवास निराहार अथवा फल भोजन आदि पर्याय द्वारा करनेकी रीति पूर्व दिखा दी है। पेट और जिह्वाका निकट संबन्ध होने से, इन दोनोंके उपवास करनेकी रीति समान है; यह पाठक सुगमतासे समझ सकते हैं।

(३) नेत्र- नेत्र से हम बहुतसे बुरे पदार्थ बुरी दृष्टि से देखते हैं। अतः इस दिन बुरी भावनासे युक्त

बुरे पदार्थोंका सर्वथा दर्शन न करे। बुरे पदार्थों से अभिप्राय यह है कि जिन के देखनेसे हमारेमें बुरी भावनायें पैदा हों। ऐसे एसे पदार्थोंका ही अवलोकन करे कि जिनसे मनमें शुभभावनायें उत्पन्न हों। शुभभावना बहुत बडा बल है। अतः इस दिन हीन दर्शनों को सर्वथा बन्द करके ईश्वरका ध्यान करे। यथाशक्ति बाह्य दर्शनोंको बन्द ही रखे।

इसी प्रकार अन्य इन्द्रियोंके विषयमें पाठक स्वयं विचार करके उनके उपवासकी रीति जान सकते हैं। इन्द्रियोंसे अनेक शुभ और अशुभ कर्म होते रहते हैं। और उनमेंसे अशुभ कार्योंसे हमारी शक्तिका क्षय होता रहता है। अतः इस शक्ति के क्षयको बचाना ही इन्द्रियों के उपवास का मुख्य उद्देश्य है। इसके सिवाय इस दिन इन्द्रियों के गति का निरीक्षण करके उनको आत्मोन्नति के मार्ग की ओर चलाने का तरीका विचार कर उस ओर उन्हें प्रवृत्त करने की कोशिश करनी चाहिए। और इस प्रकार करने से निश्चय से मनुष्य पूर्ण उन्नति कर सकता है।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शुद्धता, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर भक्ति, इन दश गुणों की अपने में वृद्धि करने की कोशिश करनी चाहिए। एकादशीके दिन इन दश गुणों को अपने में धारण करने का यथा शक्ति प्रयत्न करना चाहिए। इनका अभ्यास इन्द्रियों के पूर्ण उपवास में बडाभारी सहायक है। अतः इस अभ्यास की बहुतही जरूरत है और प्रत्येकको यथासंभव इनका अभ्यास नित्य प्रति बढाना चाहिए।

इतने विवेचनसे पाठक समझही गए होंगे कि मनुष्यकी उन्नतिमें एकादशी का उपवास कितना और कैसा सहायक है। इससे आरोग्य, बल, दीर्घायुष्य प्राप्त होते हैं। सब से प्रथम तथा मुख्य लाभ यह है कि इससे रोग दूर होकर आरोग्य बढता है। यदि यही एक लाभभी हमने प्राप्त कर लिया तोभी हमें बहुत लाभ हुआ है ऐसा प्रत्येक सुगमतासे न केवल समझही सकता है, अपितु अनुभवभी कर सकता है। क्योंकि आरोग्य पर ही सब कुछ निर्भर है। अतः हमें अन्तमें पाठकों से यही कहना है कि एकादशी का उपवास "अन्धविश्वास" की बात नहीं है। यह एक आरोग्य लाभ करने का विश्वास पूर्ण उपाय है। अतः इसी दृष्टिसे इसको करते हुए सबको चाहिए कि वे इससे होने वाले लाभ, जितने भी प्राप्त कर सकें उतने पूर्णतया प्राप्त करनेका भरसक यत्न करते हुए पूर्ण आरोग्य लाभ करें।

लोढी मीमांसा।

(ले. श्री. आत्मारामजी अमृतसरी)

केवल पंजाब भर के प्रत्येक नगर तथा ग्राममें प्रत्येक हिंदु परिवार मकर संक्रान्ति (माघी) से एक दिन पहिले बडा भारी होम यज्ञ लोढी के नाम से करता है। यह अति उत्तम यज्ञ क्या था इसके विषय में मैं यह लेख लिखता हूं।

विदित हो कि दक्षिणभारत में माघी (मकर-संक्रान्ति) के दिन हिंदु राजवाडों में राजसभा (दरबर) भरे जाते हैं। बडौदा में भी यह दरबार सदैव होता है। इस दरबारका नाम " तिलगुडका दरबार " है। दरबारी (राजपुरुष) लोग उत्तम स्वदेशीय वेष पहिन कर हाथमें चांदीकी प्याली ले उसमें तिलगुड की मठाई भरकर राजासाहेब की भेंट करते हैं और वह कुछ दाने लेकर कुछ अपनी तरफ से भर देते हैं।

इसमें भारी मान परस्पर माना जाता है।

प्रत्येक दक्षणी हिंदु सज्जन एक दूसरेके घरमें तिल-गुड की मिठाई उक्त प्रकारसे परस्पर मक

संक्रान्ति (माघी) के महान् पर्वके दिन भेंट करते रहते तथा रुचिसे खाते हैं। इस ग्रीष्मऋतुमें तिल-गुडके मर्यादा पूर्वक सेवनकी महिमा आयुर्वेदमें महान है। "वैदिकधर्म" नामी उत्तम मासिक के गत अंकमें अथर्ववेद कां०४,सू०७ के तीसरे मंत्रका जो नागरीभाषामें उत्तम अर्थ विद्वद्वर्य पण्डितजी सातवलेकरजीने किया है उसके पाठसे, आप जान सकते हैं कि तिल विष नाशक है। यजुर्वेद के अनेक मंत्रोंमें गुडको पुष्टिकारक कहा गया है। Science Sifting आदि अनेक अमेरिकन पत्रोंमें अनेक डाक्टर लिख चुके हैं कि खांड आदिके जलानेसे ज्वरके रोग-अणु दूर हो जाते हैं। अतः इस ऋतुमें तिल और गुडका मर्यादा पूर्वक सेवन सर्वत्र भारत की हिंदु जातिमें आप पावेंगे। पंजाबमें मकर संक्रान्तिके पर्वको वा (मघी) के दिन प्रत्येक हिंदुगृहमें अपने कुछ पुरोहित को खिचडी, पापड, घी तथा भुग्गा (तिलगुडके लड्डु) तथा द्रव्यदानमें श्रद्धापूर्वक दिया जाता है। दानमें रुचि तथा श्रद्धा उस दिन प्रत्येक हिंदु घरमें पैदा होती है। रेवडियां (तिलगुडकी मिठाई) भारतमें इस दिन प्रत्येक हिंदु खाता है। दक्षिण भारतमें तिलगुडके दरबार देखनेसे मुझे अनुमान करनेका अवसर मिला कि पंजाब की हिंदु जनता जहां "माघी" (मकर-संक्रान्ति) के पर्वके दिन दक्षीण हिंदुओंके समान तिलगुडका सेवन तथा दान करती है वहां एक बात में इनसे बढकर है अर्थात् पंजाबी हिंदु तिल-गुड के पर्वसे एक दिन पूर्व भारी यज्ञहवन तिल-गुडका करती है जिसका बिगडा हुआ नाम आजकल लोढी पंजाबी भाषामें है। "तिल-रोढी" (तिल-गुड) इसका पहिला पंजाबी नाम था। फिर "तिलोडी" हुआ, अब केवल "लोढी" रह गया। लोढी शब्दके अर्थ पंजाबमें गुडकी भेलीके हैं।

हिंदूसमाज समर्थ कैसा बनेगा।

प्रकरण छठा। मनोबल विचार

(ले०—श्री० महादेवशास्त्री दिवेकर। अनु०—पं. भोला नाथ राव)

(दैववाद अर्थात् भाग्य)

हिंदूसमाज की मानसिक दुर्बलता के कई कारणों में से दैववाद अर्थात् भाग्य भी एक कारण है। हिंदूसमाज पर इस दैववाद का इतना अनिरुद्ध व स्वैर साम्राज्य स्थापित होगया है कि उसका पराभव करना बहुत से उद्योगी पुरुषों को भी कठिन मालूम होगा। सब कुछ दैव ही की कृपा से होता है। नसीब, दैव, भाग्य, प्रारब्ध और ग्रहदशा यह सब शब्दों का समानार्थमें ही प्रयोग होता है। दैव चाहेगा तभी विवाह होगा, संपत्ति मिलेगी, राज्य मिलेगा। उसी की कृपा से मनुष्य आरोग्य होगा। एक दैव के अनुकूल होने से ही सब कार्य सफल हो सकते हैं। दैव ही की कृपा से संतान व सुख मिलता है। सारांश कि दैव लीला अगाध है। इस दैववाद ने हिंदूसमाजको बहुत अंश में पंगु बना रखा है। दैववाद को सहायता देनेवाला वेदांत और वेदांत की रक्षा करने वाला कलि खूब ही

मिला। इन त्रिदोषों के एकत्र होकर कुपित होनेपर भला हिंदूसमाज का नाश क्यों न हो। कर्म की गति बडी गहन है। कर्म का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं मिलता। " जैसा करो वैसा भरो। तुका कहे चुप ही रहो। जो जो हो उसे देखते चलो। " प्रारब्ध ही अटल है। प्रारब्ध का दुःख मिटाना हो तो अनिष्ट ग्रह का दान दो। साढेसाती शनीश्वर आए है इस कारण जप जाप कराओ। इत्यादि कल्पनाएँ हिंदूसमाज के हाड मांस में भिद गई हैं। कर्म करना चाहिये, कर्तव्य करना चाहिये, तीव्रतर क्रियमाण करना चाहिये, कर्तव्य ही मुख्य है, उत्साहपूर्वक उद्योग से ही सर्व सिद्धि होती है, कुछ कार्य करके मरना अच्छा है, ऐसी बातें यदि किसी तरुण पुरुषके मस्तिष्क में आईं तो दैववाद उन विचारों की इतिश्री करने को तत्पर रहता है। प्रायः इस विषय में यह प्रश्न उठते हैं कि दैव श्रेष्ठ है, अथवा उद्योग, मनुष्य प्रयत्न सबल है अथवा प्रारब्ध। मनुष्य करता है अर्थात् ईश्वर कराता है। बहुत से स्थानों में इन सब प्रश्नों की चरचा हुई है।

सिद्धान्त पक्ष कहकर जो सिद्धान्त इस चरचा के उपसंहार में दिया है वही लक्ष में रखने योग्य है। योगवासिष्ठ में दैववाद श्रेष्ठ अर्थात् कर्तव्य श्रेष्ठ इस प्रश्नपर बडी सुंदर चर्चा की गई है और उद्योग वाद को ही श्रेष्ठ बतलाया है। जिस दैवोद्योग का पाठ वसिष्ठ जी ने श्रीरामचंद्र को दिया है उसमें " सिद्धांत भूत " इस वाक्य का निष्कर्ष आगे लिखे हुए के समान है। " हे रामचंद्र संसार में सब कुछ यत्न ही से मिलता है परन्तु वह यत्न सम्यक प्रयुक्त होना चाहिये, अचूक होना चाहिये। और कार्यकारण के संबंध का विचार करके उस यत्न को करना चाहिये। उद्योग से सामान्य मनुष्य भी इंद्रत्व की पदवी को प्राप्त हो सकता है। उद्योग ही से त्रैलोक का ऐश्वर्य प्राप्त होता है। दैववाद ! यह केवल मूर्खों और आलसियोंका लाया हुआ है। सत्यमें दैव का अस्तित्व प्रयत्न ही में है। जब कर्म ही नहीं है तो प्रारब्ध कहाँसे आवेगा? रामदास तो पूर्वकर्म को ही प्रारब्ध कहते हैं परन्तु वह प्रारब्ध भी पूर्व प्रयत्न का ही फल होता है। पूर्वकर्म व उद्योग यह दो मेंढे हैं। उसमें से पूर्वकर्मरूपी मेंढे को उद्योग व तीव्र क्रियमाणसे हटाया जा सकता है। उद्योग प्रत्यक्ष प्रमाण है व दैव अनुमान प्रमाण है। अनुमान की अपेक्षा प्रत्यक्ष की कीमत कहीं अधिक होती है। पूर्ण शक्ति से धैर्य धारण कर के उद्योग करना ही हमारा मुख्य साधन होना चाहिये और प्रारब्ध की अवास्तव कल्पना को यत्न द्वारा पैरों के नीचे कुचल देना चाहिये। संसार में राज्य की प्राप्ति उद्योग से ही होती है। अपूर्व कार्य उद्योगी पुरुष ही करते हैं परन्तु आलसी लोग भाग्य ही भाग्य चिल्लाते रहते हैं। यह सम्भव हो सकता है कि किसी भिक्षुक को अकस्मात ही राज्यप्राप्ति हो जाय, एक आध गरीब लडकी को कोई राजा अकस्मात ही अपनी पट्टमहिषी बनाना स्वीकार कर ले तो भी यहां दैव का भाग बहुत थोडा है विशेष कर के पूर्व प्रयत्न का ही यह फल होता है। यदि हम यह मान लें कि सब कुछ दैव ही की कृपासे होता है तो दैव ही से दाह होगा ऐसा कह कर अग्नि में कूद पडना चाहिये। दैव की ही कृपा से मृत्यु होगी ऐसा समझ कर विशाल पर्वत से कूद पडना चाहिये। दैव की इच्छा ही से यदि रोगी अच्छा हो जाता है तो व्यर्थ औषधि करने की क्या आवश्यकता है। क्यों कि बिना उसकी इच्छा के तो रोगी की मृत्यु हो नहीं सकती। दैव की कृपा से ही लडका पंडित होगा इससे उसे पाठशाला न भेजकर निरक्षर ही रखना चाहिये। दैव ही की कृपा से मनुष्य जीवित होगा तो विष पी लेने में क्या हरकत है। दैव का यदि इतना दृढ विश्वास है तो आरोग्य रहने के लिये स्थान, स्वच्छता की कोई आवश्यकता नहीं। इस लिये अस्वच्छ रहना चाहिये। हे राम! दैववादी मनुष्य क्षीण हो गये हैं और मृत्यु के मुख में चले गए हैं। जो शूरवीर पराक्रमी, प्राज्ञ, अतिप्राज्ञ हुए हैं तो पौरुषप्रयत्नों से ही उत्तम पदका प्राप्त हुए हैं। अनुद्योग के पीछे पडकर मनुष्य को पुरुषगर्दभ नहीं बनना चाहिये। यदि इस संसार कुहर से मुक्त होना है तो शास्त्रनियंत्रित उद्योग कर के मनुष्य को मुक्त हो जाना चाहिये। हे राम! आलसियों और कर्तव्यहीन पुरुषों ने दैव को सर्वोपरि पदवी दे

रखी है। दैव कार्यकारण से विवर्जित होते हैं। इस कारण उसको इतना बडापन मत दो। दैव का प्रचार समाज के नालायक पुरुषों ने ही किया है। परन्तु कर्ता पुरुषों ने दैव को सदा दुतकारा ही है। जग में यदि आलस्य न हो तो दैव का कोई नाम भी न ले और लोग दरिद्र भी न हों। नरपशु आलसियोंसे संसार भरा हुआ दिखता है इस का कारण दैववाद का पुरस्कार ही है।"

वेदान्त शास्त्रदृष्टि से मनुष्य के कर्म के तीन विभाग हैं। प्रारब्ध, संचित व क्रियमाण। इनमें से क्रियमाण ही सर्व प्रधान है। क्रियमाणसे तात्पर्य यह है मनुष्य वर्तमान में जो करता है वही कर्म है। वही आगे संचित होकर प्रारब्धके रूपमें दर्शित होता है। लोकमान्यने कर्म की इसी परिभाषा परसे प्रारब्ध व अनारब्ध ऐसे दो प्रकार माने हैं। जिस कर्म का उपभोग चालू है उसे प्रारब्ध कहते हैं व जिसका भोग चालू नहीं है उसे अनारब्ध कहते हैं। अनारब्ध कर्म में संचित कर्मभी गिना जाता है और तीव्रतर क्रियमाणसे प्रारब्ध हटाया जा सकता है। क्रियमाण की स्वतंत्रता मनुष्य को है। मनुष्य यदि माया पाशमें फंसा हुआ है तब भी उसे कर्तव्य करना ही है। वह कुछ नदीमें वह जानेवाली काष्ट की पटरीके सदृश नहीं है। जीव अर्थात मनुष्य पूर्ण स्वतंत्र है। इच्छा शक्ति है, क्रिया शक्ति है, उसे स्वतंत्रता है इसी कारण जीव पाणिनीके सूत्रानुसार "स्वतंत्रः कर्ता" है। किंवा भगवान बादरायण के सूत्रानुसार जीव स्वतंत्र है। मनुष्यका कर्तृकत्व स्वतंत्र है इसीसे शास्त्रको अर्थवत्त्व कहा है। "कर्ता शास्त्रार्थवत्वात्" ऐसा सूत्र है "सत्यं वद, धर्मं चर, अहरहः संध्यामुपासीत" इन वाक्योंमें भी मनुष्य स्वतंत्र है, इसीसे यह सत्य मानी गई हैं एवंच सारांश यह है कि जीव सदैव स्वतंत्र है। वह कुछ परइच्छासे चलने वाला पशु नहीं है। इन सब शास्त्रसिद्धांतों को देखते हुए यह भली भांति विदित होता है कि दैववाद कितना निःसत्व है। और केवल आलसियोंके लिये ही यह उत्तम पदार्थ है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें किसी भी कार्यके सिद्धिकी सामिग्री बतलाई गई है। अधिष्ठान, कर्ता, साधन, उद्योग व दैव इस प्रकार का क्रम उसमें लिखा हुआ है। "अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधं, विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम्॥ अ० १२। इसके अनुसार यदि दैव को ही एक साधन मानें तो भी वह बिलकुल अन्तिम है। गीता में इस दैव शब्द का अर्थ ही "इंद्रियाधिष्ठित देवता" ऐसा माना गया है। दैव कहो अर्थात देव कहो पर वह देव "प्रयत्न ही में परमेश्वर" इस रूप है। प्रयत्न, उद्योग, कष्ट व परिश्रम का फल ईश्वर को देनाही पडता है। बिना उद्योग के ईश्वर कभी कृपा नहीं करता। केवल ईश्वर की नाम घोषणा करनेवालेपर ईश्वर की कृपा कभी नहीं होती। सतत उद्योगी पुरुष को ही ईश्वर सहायता करता है "न ऋते श्रांतस्य सख्याय देवाः" देव श्रांतके मैत्री की ही इच्छा करता है। जो स्वतः अपनी सहायता करता है उसीको ईश्वर सहाय्य होता है। इस प्रकारसे दैवका स्थान उद्योगके अन्तमें है। उसी पहले दैव की भी गति है। पहले दैव नहीं। पहले उद्योग कर्तृत्व है तदनंतर फल देनेके समय दैव है। दैव स्वतंत्र नहीं है। उसकी परीक्षा भी उद्योग ही से होती है। भाग्यमें विद्या है या नहीं, यह बात पाठशाला में जाकर अभ्यास करने ही से विदित हो सकती है। भाग्य में पैसा है या नहीं इसे भी बिना कोई कारबार किए नहीं जाना जा सकता। सारांश कि दैव यही निर्जीव, पंगु है और उद्योग सजीव व स्वावलम्बी है।

अनेक कवियों, वेदांतियों, सत्पुरुषों, सुभाषितकारोंने दैव का एकांतिक वर्णन किया है तो भी उसकी संगति उद्योग बिना स्वतंत्रतासे नहीं होती।

> "उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी,
> दैवेन देयमिति कापुरुषाः वदन्ति।
> दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या,
> यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः॥

इस सुप्रसिद्ध सुभाषित श्लोक में कहे हुए अनुसार यत्न करके ही सिद्धि की इच्छा करनी चाहिये। यदि यत्न करने पर भी सिद्धि प्राप्त न हो तो अपना

कुछ भी दोष नहीं है। यत्न ही द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है। दैवपर भरोसा करके बैठे रहने से ही कुछ नहीं होता। विवाह किये बिना केवल मन से ही संतान की उत्पत्ति नहीं होती। यदि हमें फल की प्राप्ति नहीं होती तो यह कहने में क्या हानि है कि प्रयत्न ही में कोई चूक होगई है। क्योंकि समर्थ कहते हैं " निर्दोष यत्न हम करते ही नहीं"। योगवासिष्ठ में सम्यकप्रयुक्त पौरुष कहा है। कार्य कारण सबन्ध एकांगी नहीं होता। इसी से "यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः' ऐसा न कहते हुए ' अत्र को दोषः सः द्रष्टव्यः ' ऐसा कहना चाहिये। तात्पर्य यह है कि यदि यत्न करने पर भी फल की प्राप्ति नहीं होती तो यह देखना उचित होगा। कि प्रयत्न में किस बात की कमी रह गई है। दैव किंवा देव का भाग $\frac{1}{2}$ ही है प्रयत्न $\frac{3}{4}$+दैव $\frac{1}{4}$ ऐसी स्थिति नहीं है परन्तु अच्छी तरह विचार करने पर ज्ञात होगा कि प्रयत्न $\frac{7}{8}$ दैव $\frac{1}{8}$ किंवा देव $\frac{1}{8}$ ऐसी स्थिति है। ऊपर का सिद्धान्त गणित में दिया हुआ है। दैव की स्थिति इतनी हीन होते हुए भी हिंदू समाज कर्तव्य को छोडकर दैव पर निर्भर है इसी में उसका अधः पतन है। मालिक का नाम तो गनुआ और सेवक का नाम श्रीरुद्रोजी पंत ऐसी स्थिति होगई है।

आस्ते भग आसीनस्य ऊर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः॥ ऋग्वेद॥

बैठे हुए मनुष्य का भाग्य बैठ जाता है, खडे हुए का भाग्य खडा हो जाता है, सोने वाले का सो जाता है; परन्तु सतत उद्योग से उसका भी भाग्य जागृत हो जाता है ऐसी वेदाज्ञा है। हिंदूसमाज अपने भाग्य, प्रारब्ध को ज्योतिषियों से पूंछता है। परन्तु आज तक जितने शूर वीर, पराक्रमी पुरुष हुए हैं उन्हों ने कभी अपनी कुंडली किसी को नहीं दिखाई किंवा किसी ज्योतिषी से भविष्यकी वर्तना भी नहीं कराई थी। कर्तव्य हीन पुरुषही भाग्य पूंछते बैठते हैं और अपशकुन होने पर कार्य नाशका दोष अपशकुन के माथेपर जडते हैं। परन्तु उद्योगी वीर अपशकुन को भी शकुन समझ कर अपना कार्य संपादन करता है। यह बात शिवाजी और श्री हर्ष की जीवनी से भली भांति जानी जा सकती है।

सब साधुसंतों में प्रयत्न वाद का प्रचार करने वाले संत शिरोमणि श्रीसमर्थ रामदास का कहना है कि " अग्नि जितनी ही सलागयी जायगी उतनी ही वह प्रज्वलित होगी। विवेक को भी जितना वढाओगे उतना बढेगा, उद्योगी पुरुषों की संगति करने से ही मनुष्य उद्योगी होता है। जग में सर्व कार्य की सफलता उद्योग व कर्तृत्व से होती है इस कारण प्रथम उद्योग करना ही अत्यावश्यक है " संसार में यदि सत्य कोई दैव है तो वह यत्न ही है। यत्न को ही देव मानने वाले श्रीसमर्थ कितने उद्योगशील थे यह उन के चरित्र से भली भांति विदित होता है संभव है कि अन्य देव समय पर धोखा दें दें और मनौती पूरी न करें। परन्तु यत्न देव कभी ऐसा नहीं कर सकते। यह सब विचार करते हुए भविष्य में हिंदू समाज को यत्न देव की ही उपासना करनी चाहिये। श्रीसमर्थ ने स्थान स्थान पर कहा है कि बिना कष्ट किए हुए फल, कीर्ति, मान्यता किसी को भी प्राप्ति नहीं होती। उन्होंनें तो यहां तक कहा है कि तीव्रतर उद्योगसे ब्रह्मा की कपालरेखा भी मिट जाती है। समर्थजीने ३०० वर्ष पूर्व यत्नवाद का प्रचार करके दैववादका तिरस्कार किया था। उन्हीं के इस उद्योग वाद के प्रचार के कारण अविंधमय पृथ्वी हिंदु मय होगई। आनंदवन के जो क्षेत्र नष्ट होगए थे वह सुदृढ रूप में हो गये और जहाँ तहाँ आनंद ही आनंद होकर स्वराज्य की रणभेरी बजने लगी

हिंदू भाइयों! क्या आप लोग शास्त्र सिद्धांत मानने को तय्यार नहीं। समर्थ के उपदेशों का क्या आप कुछ भी मूल्य नहीं समझते ? आप लोगों को क्या उद्योग द्वारा जीने की इच्छा नहीं है ? नहीं! ऐसा कदापि नहीं हो सकता! हिंदू समाज कभी नष्ट नहीं हो सकता। कारण कि उसकी परंपरा, संस्कृति अत्यन्त ही उज्ज्वल है। यदि आप लोगों को जीवित रहना है, संसारको घोर निद्रासे जागृत करना है तो समर्थ के उपदेश आपलोगों के नस नस में प्रवेश

हो जाने चाहिये । आज अन्य समाजावलम्बी हमारे दैववाद का अनुचित लाभ लेकर हमें अपने उद्योग से पृथक करने के लिये तत्पर हो रहे हैं। क्रिस्तियन मिशनियरोंके प्रयत्न, उनके उपदेश, उद्योग, पैसा, स्कूल, दवाखाने, उनकी अस्पृश्यता निवारण इत्यादि इत्यादि बातें कुछ दैवलीला से नहीं हो गई हैं पर यह सब सतत उद्योगका ही फल है। जहाँ हम लोग दैववाद का झगडा लेकर एक विधवा स्त्री की भांति सिरपर हाथ रखकर बैठे रहते हैं तो दूसरी ओर अन्यसमाजावलम्बी उद्योग व यत्न द्वारा एक प्रबल सिंह की भांति परकीय समाज पर अपने पंजे का आघात करते हैं। मुसलमान लोग भी दैववादी नहीं हैं। वे लोग भी देव की आज्ञा कहकर काफिरों का धन और धर्म और जीवन हरण कर रहे हैं। भाइयों उठो प्रतिकारक्षम बनो। कमर बांधो। दैव के कपाल में सिंदूर भर कर उद्योग शक्ति चामुंडाके सन्मुख उसका बलिदान कर दो। यदि तुम्हे जगना है तो उद्योग का महत्व बढाओ। वही कार्य करो जिससे समाज में जागृति हो। यदि अपना नाश करना ही सिद्ध कर लिया है तो विधवा स्त्री के सदृश मुख छिपाये बैठे रहो।

ब्रह्मचर्य और राष्ट्रोन्नति।

(लेखक— श्रीयुत त्र्यं. ग. जावडेकर धुळें.)

" शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् "।

देश की नष्ट स्वतंत्रता पुनः प्राप्त करनी हो और देश की स्वतंत्रता की रक्षा करनी हो तो देश आशातीत नेत्रों से अपने नव-युवकों की ओर देखता है। स्वतंत्रता प्राप्त करने तथा उसकी रक्षा करने का मुख्य भार नव-युवकों पर ही रहता है। क्यों कि नव-युवक शब्द का उच्चार करते ही बलवान शरीर, सुदृढ मन और वह सामर्थ्य जिससे मन चाहा काम सिद्ध कर सके ऐसा चित्र मनश्चक्षु के सामने आ जाता है। नव-युवक कहते ही ऐसे विचार मन में आना उचित ही है। यदि नवयुवकों में उक्त बातें न हों तो उन्हे नव-युवक कहना भी उचित नहीं है। पर आज कल हम देखते हैं कि जिनकी उमर में अभी वीस साल भी पूरे नहीं हुए ऐसे बालकों की सूरत देखो तो गाल पिचके हुए, आंखें घुसी हुई और छाती की पसलियां इतनी उभरी रहती हैं कि साफ साफ गिन लो। ऐसी सूरत वालों में उत्साह और कर्तूत कहां तक हो सकती है ? और प्रायः ऐसे लडकों में कर्तृत्व शून्याकार ही होता है। संभव है देश के नौजवानों की इस दशा के भिन्न भिन्न कारण होंगे। कुछ तो दरिद्रता के कारण ऐसे हुए होंगे, कुछ खानेपीने के काफी रहते भी इस दशा में पहुंचे होंगे और शेष में से कुछ ऐसे होंगे कि यद्यपि वे दिखने में गोलमटोल हैं क्यों कि वे जन्मसे ही धनवान हैं और बाहरी सजावट में काफी अच्छे दिखते हैं पर वास्तव में हैं पोले। यदि मौका पडे तो वे दो ठूसे किसी को मार नहीं सकते और कोई भी कष्ट का काम तो वे कदापि नहीं कर सकते। क्यों कि उन में यह ताकत ही नहीं होती। जब हम बाल-मृत्यु की बढती हुई संख्या, ऐन जवानी में राजयक्ष्मा का होना, स्त्रियों को वीस बाईस वर्ष की अवस्था में या प्रथम मातृपद प्राप्त होने के बाद ही भारी बिमारी का होना और सारे देश की सामुदायिक अल्पआयु देखते हैं, तब दिल थांबना पडता है। भारत के नेता कहलाने वाले किसी भी व्यक्ति को यह दशा देखकर उसकी ओर आंख मींचने से काम न चलेगा।

कहावत है कि " सिर सलामत तो पगडी पचास "। वर्तमान समय में इसी कहावत की ओर दृष्टि दे प्रथम जीवित रहने की चेष्टा करनी होगी। और ठीक भी है यदि जीवन ही नहीं तब अन्य सब लम्बी लम्बी बातें फजूल हैं। आज दिन तक के सब विचार भी इसी एक मात्र कारण से व्यर्थ सिद्ध हो चुके हैं।

देश की दरिद्रता दूर करना और उसे संपन्न दशा को पहुंचाना ऐसी बातें हैं जिन्हे कोई एक व्यक्ति कर नहीं सकता। इन बातों को साधने में कई राजनैतिक, औद्योगिक आदि गहन बातें बिधी हुई हैं। यहां मैं इन बातों की चर्चा नहीं करना चाहता। मुझे केवल यह देखना है कि देश के बढते हुए अनारोग्य का तथा शरीर की असमर्थता का कारण क्या है ? मेरी समझ में इसका कारण यह है कि जिस उमर में शरीर की शक्ति बढानी चाहिए उसी उमर में स्त्रीपुरुष ब्रह्मचर्य का भंग करते हैं। लोगों की यह समझ भूलमात्र है कि शरीर के अनारोग्य का कारण दरिद्रता है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण चिंचवड का अनाथ विद्यार्थिगृह, अहमदनगर का विद्यार्थिगृह, एवं वाई की प्राज्ञ पाठशाला है। इन विद्यार्थिगृहों में दालरोटी खाकर ही विद्यार्थि अपना निर्वाह करते हैं और उनका शरीर सुडौल एवं सुदृढ रहता है। इन पाठशालाओं में जाने या अनजाने भी ब्रह्मचर्य आश्रमके उन नियमों का उलंघन नहीं होने पाता जो नियम शास्त्रकारों के बतलाए हैं। इन संस्थाओं की शिस्त ही ऐसी है जिससे शास्त्रकारों के नियमों का पालन सहज ही में होता है। ठीक इसके विपरीत बर्ताव उन बालकों का होता है जो गांवों में और शहरों में रहते हैं। जिन नियमों के पालन से उक्त संस्थाओं के विद्यार्थी शरीर सुदृढ बनाए रख सकते हैं इतना ही नहीं बल्कि प्रत्येक विद्यार्थी अपना शरीर सुदृढ बना सकता है उन्ही नियमों को हम अब देखेंगे। दिन के कामों को प्रातःकाल सोकर उठते ही आरंभ होता है। अतः इसी के नियम का प्रथम विचार करें।

प्रातरुत्थान ।

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्
कायक्लेशांश्च तन्मूलान्वेदतत्त्वार्थमेव च ॥(मनु.)

पहला और बिलकुल सरल नियम प्रातःकाल उठने का है। यह नियम आरोग्य के लिए अतीव आवश्यक है। परंतु इस अनिवार्य नियम का पालन आजकल के नव-जवान कहांतक करते हैं ? यह नियम ब्रह्मचारी और गृहस्थ दोनों के लिए एकसा आवश्यक है। पर यहां केवल ब्रह्मचारी का ही विचार करेंगे। यहां ब्रह्मचारी के लिये ही विद्यार्थी शब्द का उपयोग करेंगे। यह विद्यार्थी नाटकको जावेगा, सीनेमा को जावेगा, और यह कुछ न होगा तो वह चार साथियों को इकट्टा कर ताश खेलते बैठेगा। तब भला वह बडे तडके पंच पंच उषःकाल के समय किस प्रकार उठ सकता है ? क्या यह ब्रह्मचारी के लक्षण हैं ? यदि वह सूर्योदय के अन करीब उठा भी तो क्या वह ईश्वर का नामस्मरण करता है ? कदापि नहीं। वह सी. ए. टी कैट कैट माने बिल्ली, डी ओ जी डॉग डॉग माने कुत्ता, ए एस् एस् ॲस ॲस माने गधा इन्हीं का स्मरण करता है। जिनके प्रातःस्मरण का आरंभ ही कॅट, डॉग, ॲस और स्वाइन से होता है वे इन्हीं के समान होंगे। इसमें कौन आश्चर्य! इस आपत्ति को टालने के लिए ही हमारे शास्त्रकारों ने कहा है कि प्रातःकाल होते ही उठ बैठो और साथ ही प्रथम धर्म का स्मरण करो, तदनंतर अर्थ का चिंतन करो शरीर को किस बात का क्लेश है, इन क्लेशों की जड काहे में है और वेदों का तत्त्व क्या है इत्यादि बातों का विचार करो। परंतु इन में से एक भी बात नहीं रही। मैं अवश्य ही मानता हूं कि कालमान के अनुसार शास्त्रों का तंतोतंत पालन नहीं कर सकते और उसमें समय देख कर कुछ फरक करना पडेगा। पर यदि शास्त्रों को बिलकुल ही भूल जावें तो फिर अपना रहा ही क्या ? तब न तो हम साहब ही रहेंगे, न ब्राह्मण, न क्षत्रिय और न वैश्य ही रहेंगे ! मनुस्मृति करीब दो हजार वर्ष की पुरानी है पर अंग्रेजी शास्त्र तो नवीन हैं न। देखिए वे क्या कहते हैं।

" Early to bed and early to rise makes a man healthy, wealthy and wise."

इस उक्ति में और हमारी दो हजार वर्ष की प्राचीन उक्तिमें कितना अंतर है?पर दुःख यही है कि हमारे पास न तो नया ही है और न पुराना ही है। " इदं च नास्ति परं च न लभ्यते "।

सभी कहते हैं कि राष्ट्र की उन्नति होनी चाहिए। पर देश में इस बात में एक मत नहीं है कि यह उन्नति हो किस प्रकार। केवल बकबक बहुत हो चुकी है। पर यह स्वतंत्रता की लढाई है! यहां केवल बकबक से कुछ नहीं हो सकता। यहां तो कलाई में सामर्थ्य चाहिए!! क्या यह सामर्थ्य ऊपरी मलम पट्टी से वा अन्य हकीमी दवा से उत्पन्न हो सकती है? नहीं, नहीं, कदापि नहीं!!! इसके लिए तो कमजोरी की जड को ही नष्ट करना होगा। जिसे ' Radical Changes ' मूलग्राही सुधार कहते हैं, उनका आरंभ होना चाहिए। यदि नीव पक्की होगी तो मकान भी पक्का होगा। वर्ना उसे गिरने में देरही क्या? आरोग्य रक्षण के लिए पश्चिम में जैसे " Back to Nature " निसर्ग की ओर दौडने का प्रयत्न हो रहा है ठीक इसी तरह अपने देश में भी पुनः (Back to Religion) धर्म की ओर लौटने की अत्यंत आवश्यकता है। इसका प्रभाव ऐसा भारी है कि जिसमें केवल राजनैतिक स्वतंत्रता ही नहीं बल्कि संपर्ण ब्रह्माण्ड शामिल हो सकता है। पर हुआ यह है कि किसीको इसकी पर्वाह ही नहीं है।

सरकारी वा अर्ध-सरकारी स्कूलों में मिलनेवाली शिक्षा के विरुद्ध जब बहुत हल्ला होता है तब होता यह है कि यह पुस्तक रद्द कर दूसरी शुरू कर, उसे रद्द कर तीसरी शुरू कर। परंतु इससे सच्चा लाभ कदापि न होगा। क्यों कि यदि केवल पुस्तकों के रटने ही से कुछ होना होता, तो आज तक विश्वविद्यालय से सहस्रों रट्टू निकल चुके हैं उनमें से कितनोंने देशसेवा में हात बँटाया है? अधिक से अधिक मुठ्ठीभर ही होंगे जिन्होंने देश की सच्ची सेवा की है। पर शेष सब केवल पेटपूजा के पीछे पडगये। और वह पेटपूजा भी ठीक नहीं होती इससे कई तो यही रोना रो रहे हैं। शिक्षा की चक्की से पिसकर जो विद्यार्थी निकलते हैं उनके शरीर का रस तो सरकारी वर्तन में गिर जाता है और ये केवल छकला मात्र अतएक निकम्मे बन जाते हैं। इन सब पर यदी अक्सीर उपाय कोई हो तो वह मनु-याज्ञवल्क्य का बतलाया हुआ ही उपाय है। और अंत में यही उपाय काम देगा। कै०लोकमान्य तिलकजी का कथन था कि राजकीय सुधार हुए भी तो वे केवल पल्लवग्राही न होकर मूलग्राही होने चाहिए और तभी देश की प्रगति होगी। लोकमान्यजीकी यह बात शिक्षा के प्रश्न में भी लागू है।

वेदपाठी विद्यार्थी

स्वाध्याय मंडलमें वेद का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी प्रतिवर्ष दो लिये जांयगे। उनमें से एक महाराष्ट्रीय होगा और एक उत्तरीय होगा। संस्कृतका बोध और व्याकरण का बोध अच्छा होना चाहिये। हस्ताक्षर उत्तम सुपाठ्य होना चाहिये। जो वेदका अध्ययन करनेके इच्छुक हैं वे शीघ्र अपना अभ्यर्थना पत्र भेजें। अपनी योग्यता भी लिखें। पढाई पांच वर्षकी होगी और सब व्यय स्वाध्याय मंडलसे दिया जायगा। अधिक बुद्धिमान के लिये यह अवसर अच्छा है।

प्रबंध कर्ता-स्वाध्याय मंडल

हमारी खुद की उन्नति का प्रयत्न ।

(१) आत्म- परीक्षा ।

धर्म में ' आत्म- परीक्षा ' का भारी महत्व है। अपनी परीक्षा आप ही करना,अपने गुण और दोषों का पक्षपातरहित होकर निरीक्षण करना, अपने गुणों की वृद्धि के लिए अथक परिश्रम करना, अपने तईं हम जो दोष करते हैं उनकी क्षमा न कर अपने ही खुद को सजा दे लेना एवं पुनः ऐसे दोष न होने की बडी फिकर करना और खुद ही अपने पर कडी निगाह रखना आदि कई बातें आत्म-परीक्षा में आती हैं। यदि मनुष्य को जँच जाय की बिना आत्मपरीक्षा के आत्मोन्नति नहीं होती तो उसे उपरोक्त बातों का ज्ञान आत्मपरीक्षा करते करते हो जाता है। इससे जो कोई अभ्युदय की प्रबल इच्छा करता है उसे आत्म-परीक्षा करना सीखना चाहिए तथा उसे दृढ निश्चय कर लेना चाहिए कि मैं अपने निजी प्रयत्नों से अपनी उन्नति कर लूंगा। इस प्रकार दृढ निश्चय कर उसे उन्नति के कार्यों में लग जाना चाहिए।

(२)सरल काम तथा कठिन काम।

दूसरे के दोष दिखलाना, दूसरे के गुण न देखना अपनी अवनति का उत्तरदायित्व दूसरों के मत्थे मढना बिलकुल सरल काम है। सर्व साधारण जनों की प्रवृत्ति ही बहुधा इस प्रकार होती है किन्तु इस प्रवृत्ति से किसी का भी लाभ होना सम्भव नहीं है। हर एक मनुष्य अपनी अपनी अवनती का उत्तरदायी है। मनुष्य की अवनति उसके निज के कर्मों से अर्थात् वह खुद जो कुछ करता है उसीसे है और इसी तरह उसकी उन्नति भी उसीके कर्मों का फल है। किसी एक की उन्नति वा अवनति दूसरे के कर्मों का फल नहीं हो सकती। जब तक दीप खुद न जलेगा तब तक वह दूसरे को प्रकाश नहीं दे सकता। मनुष्य में इससे भी अधिक प्रज्वलित शक्ति ' आत्मशक्ति ' है। मनुष्य में दृढ निश्चय का बल उत्पन्न होने की देरी है वह बल उत्पन्न होने पर सारा संसार भी उस के विरुद्ध क्यों न हो जाय वह उसकी आत्मशक्ति को नहीं दबा सकता। ऐसी प्रचण्ड शक्ति मनुष्य में रहते यदि वह अपने को निर्बल समझे और अपनी अवनति का उत्तरदायित्व दूसरे के सिर रखे तो इससे बढ कर भ्रम कोई होही नहीं सकता! इसलिए अपनी अवनति के लिए दूसरे को दोष देना अत्यन्त सरल होने पर भी कोई भी इसे न करे, क्यों कि इससे स्वतः की उन्नति कदापि नहीं हो सकती। ' आत्म परीक्षा ' करना बडा ही कठिन काम है। अपने गुण अपने को बहुत भारी दिखते हैं और अपने दोष दिखते ही नहीं। यदि दोष दिखे भी तब वे अत्यन्त सूक्ष्म मालूम पडते हैं। इसी से अपनी स्वतः की जाँच करना कठिन हो जाता है। परन्तु यह कठिन काम बिना सधे उन्नति का सरल उपाय ही नहीं मिल सकता। सारांश जो मनुष्य अपनी अवनति का दोष दूसरे पर रखता है उसकी उन्नति नहीं हो सकती। जिस समय वह निश्चय कर लेता है कि ' मैं खुद ही अपने पुरुषार्थ से अपनी उन्नति कर लूंगा ' और इस निश्चय के साथ ही पुरुषार्थ करने लगता है तब उसके मार्ग में कोई भी रुकावट नहीं डाल सकता और उसकी उन्नति का मार्ग खुल जाता है।

(३) एकमात्र नियम।

व्यक्ति के उन्नति का जो नियम है वही राष्ट्र के उद्धार का भी है। किसी भी धर्म का समाज यदि कहे कि दूसरे धर्म के लोगों ने हमे हानि पहुंचाई है तो यह उसका भ्रम है। जब तक हम खुद ही अपने समाज को ऐसा दुर्बल न बना दें कि दूसरा समाज हमे हानि पहुँचावे तब तक कोई भी हमे हानि नहीं पहुँचा सकता। राष्ट्र की उन्नति के लिए यही नियम कामयाब होता है। "एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को गुलामी में रखता है " यह वाक्य ही सत्य नहीं है। इतिहास की दृष्टि से सत्य वाक्य यह है कि

" गुलामीमें पडा हुआ राष्ट्र पहलेही गुलाम बनने योग्य हो चुका था और उसने अपनेही कर्मसे दूसरे को अपना मालिक बना दिया या वह खुद ही दूसरेके गले पड गया।" आजतक के इतिहास ने यदि कोई बात सिद्ध की है तो वह है 'किसी भी देशकी जनता की इच्छा के विरुद्ध दूसरा देश उस पर हुकूमत चलाही नहीं सकता'। जब किसी भी देश के लोक जब तब खुदको गुलाम बनाए रखना चाहते हैं तभी तक दूसरे लोग उन पर राज्य कर सकते हैं, इसके बाद एक सेकन्द भी दूसरों की हुकूमत चलना सम्भव नहीं है। यह सिद्धान्त जिस प्रकार संसार के इतिहास ने सिद्ध कर दिखाया है वैसे ही धर्मने भी। वैदिक-धर्मका त्रिकाल-अबाधित सिद्धान्त है कि " मनुष्य अपने अज्ञानसेही बंधन में पडता है और इस बन्धनसे वह तभी मुक्त होता है जब उसे आत्मज्ञान होता है"। अर्थात् अपने अज्ञान सेही पराधीनता,गुलामी, बंधन, दुःख आदि होता है और आत्मज्ञानसे अर्थात् अपनी निजी शक्तियोंके ज्ञानसे-पुरुषार्थ कर स्वतन्त्रता का अनुभव कर सकते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि अपना मन ही अपने बंधन वा अपनी स्वतन्त्रता का कारण है।

(४) सच्चा उपाय।

अपने कर्म ही से हम पराधीन हो जाते हैं; और अपने कर्महीसे पुनः हम स्वतन्त्रता का अनुभव कर सकते हैं। स्वतन्त्रता दूसरा कोई दे नहीं सकता और न वह दूसरोंके द्वारा दी जा सकती है। यदि ऐसा है तो स्पष्ट ही है कि हमारी व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय तथा अन्य बातोंकी उन्नति वा अवनति का सम्बन्ध पूर्णतया हमारे ही प्रशस्त वा अप्रशस्त कर्मोंसे है। इसीलिए हमारी वर्तमान व्यक्तिगत तथा सामुदायिक परिस्थति का कारण हम स्वयं हैं। यही कारण है कि हमें अपना स्वतः का सुधार करना अतीव आवश्यक एवं इष्ट है। हमें स्वयं आत्म परीक्षा कर अपने दोषोंको दूर करना चाहिए और सद्गुणों का विकास करना चाहिए।

(५) आत्मशुद्धि का मार्ग।

इसीको आत्मशुद्धिका मार्ग कहते हैं आत्मशुद्धि का अर्थ है अपनी पवित्रता, अपनी निर्दोषिता वा अपनी शुद्धता। आत्म-शुद्धि भी व्यक्तिगत, सामाजिक, राजकीय आदि बहुत प्रकार की है। हर एक स्थानमें जिस मात्रामें दोष रहते हैं उसी मात्रामें अवनति भी रहती है। इसीलिए दुःखसे मुक्त होने की इच्छा हो, तो अपने को निर्दोष तथा श्रेष्ठ गुणों से युक्त बनाओ। अपना दुःख दूर करने के लि[ए] दूसरे को दोष देना सत्यका मार्ग नहीं है। सत्य मार्ग यही है कि अपनी शक्ति अपनी हिम्मतसे बढाना। केवल दूसरेका मकान टूटनेसे अपना नहीं बनता। अपना मकान मजबूत बनानेके लिए स्वयं परिश्रम करना पडता है। हमें भूलना न चाहिए कि यही बात व्यक्तिगत, सामुदायिक तथा राष्ट्रीय उन्नति के लिए उपयोगी है।

(६) धार्मिक दृष्टि।

अपने धर्मका सारभूत तत्व समझना चाहते हो त[ो] ऊपर बताए अनुसार व्यक्तिगत, सामाजिक तथा राष्ट्रीय उन्नति वा अवनति के नियमोंकी समानता प्रथम समझ लो। 'आत्मज्ञानसे मोक्ष की प्राप्ति होती है।' यह ज्ञान केवल वेदान्त मेंही सच है यह नहीं वह राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त करनेके प्रयत्नमें, दूसरे बंधन तोडने के और स्वतन्त्रता की प्राप्ति के प्रयत्नों में भी उतना ही सत्य है। इसी तरह हमारे शास्त्रोंमें बताए हुए सिद्धान्तों की सत्यता सार्वत्रिक दृष्टिसे देखने का प्रयत्न होना चाहिए। तभी विदित होगा कि हमारे धर्म के सिद्धान्त कैसे व्यापक हैं और तभी हमारे धर्मका महत्व हमारे हृदयमें जम जावेगा।

दिव्य ऋषियों का दर्शन।

दिव्य ऋषि हमे दर्शन देवें तो क्या ही अच्छा होगा ? कितने ही लोग हिमालय के जंगलों में श्रेष्ठ ऋषियों के दर्शनों के लिए उत्सुक होकर घूम रहे हैं ! कितने ही लोग भोंदू साधुओं के पीछे पड घर-द्वार खो बैठे हैं ! ऐसी दशामें यदि दिव्य ऋषियों का पता मिल जाय तो क्याही अच्छा होगा ? दिव्य ऋषियों का प्रदेश कौन है ? वे कहाँ रहते हैं, क्या करते हैं ? वे हमारी ओर दृष्टि क्षेप करेंगे वा नहीं? इस प्रकार के अनेक प्रश्न पाठकों के हृदय में उठना सम्भव है। इसी लिए वैदिक मन्त्रों के आधार पर दिव्य ऋषियों का पता आज हम बतलाना चाहते हैं।—

मा नो हासिषुर्ऋषयो दैव्या ये तनूपा ये नस्त-
न्वस्तनूजाः। अमर्त्या मर्त्यां अभि नः सचध्वमा-
युर्धत्त प्रतरं जीवसे नः ॥

अथर्व वेद ६।१४।८

जो (दैव्याः ऋषयः) दिव्य ऋषि (नः तनूजाः) हमारे शरीर से उत्पन्न हुए हैं, जो हमारे (तनूपाः) शरीर की रक्षा भी करते हैं, और जो दिव्य ऋषि (तन्वः) शरीर में ही रहते हैं, वे (मा नः हासिषुः) हमारा त्याग न करें। हे(अमर्त्याः) अमर ऋषियों ! आप हम (मर्त्यान्) मर्त्यों को सहायता करिये, हमे दीर्घ आयु मिले इस लिए हमें आयु दीजिए अर्थात् हमारी आयु बढाइए।

अथर्व वेद के इस मन्त्र में कहा है कि 'दिव्य ऋषि' हमारे शरीर में ही रहते हैं। यह वास्तव में भारी आश्चर्य ही है कि दिव्य ऋषि इतके निकट रहते हुए भी हमे उनका पताही नहीं और हम उन महात्माओं की खोज में जंगल जंगल घूमते हैं !!

हमारे शरीर में कौन कौन दिव्य ऋषि रहते हैं ? ये ऋषि हमारे शरीर में वा हमारे शरीर से (तनूजाः) उत्पन्न हुए हैं और वे हमारे शरीर (तनूपाः) की रक्षा भी करते हैं। उनमें (अमर्त्याः) दैवी शक्ति भी है। वे स्वयं अमर हैं तिसपर भी हमारे मर्त्य शरीर में आकर रहे हैं। इसी शरीर में उन्होंने आश्रम बना लिये हैं। ऐसे अमर्त्य दिव्य ऋषि हमारे शरीर में वास करते हैं। पाठकगण, आप उनका आश्रम तो ढूँढिए ! यह निःसंदेह है कि इतने निकट का पता बताने पर आप उनका आश्रम अवश्य ही खोज लेंगे।

किन्तु पाठकों को अधिक कष्ट न दे हम ही उनका आश्रम बताए देते हैं। यहाँ जो दिव्य ऋषि रहते हैं उनके दो वर्ग हैं। उनमें से एक 'कर्मयोगी' हैं दूसरे 'ज्ञान योगी'। एक कर्म मार्ग में रत हैं और दूसरे ज्ञान मार्ग का आक्रमण करते हैं। यद्यपि इन दोनों के मार्ग भिन्न हैं तब भी वे आपस में लडते झगडते नहीं। इतना ही नहीं बल्कि वे एक दूसरे को बहुत सहायता पहुँचाते हैं।

आप लोगों को यही देखना है कि वे भिन्न भिन्न कर्तव्य के रहते भी आपस में लडाई न कर हिल मिल कर एक स्थानमें किस प्रकार रहते हैं। इससे अच्छी शिक्षा मिल सकती है। आप लोगों में भी पक्षभेद तथा मतभेद हैं। किन्तु वे चरम सीमा तक पहुँच गए हैं और इससे आप लोग शतधा विदीर्ण हो गए हैं। यही कारण है कि आपकी शक्ति क्षीण हो चली है। यदि आप भी दिव्य ऋषियों के सदृश मत भेद के रहते हुए एकता बनाए रखेंगे तो आपकी शक्ति बहुत ही बढेगी।

इतना कहने के बाद भी आप लोगों ने दिव्य ऋषियों को नहीं पहचाना हो यह नहीं हो सकता। किन्तु यदि इन ऋषियों को न पहिचाना हो तो महत् आश्चर्य है ! जो कर्मेन्द्रियाँ हैं वेही कर्मयोगी

ऋषि हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ ही ज्ञानमार्गी ऋषि हैं। एक एक इन्द्रिय एक एक ऋषि है। हर एक ने अपना आश्रम इस शरीर रूप तपो भूमि में अपने योग्य स्थान में बनाया है। वहाँ वे अपने अपने मार्ग का अनुष्ठान करते हैं। हर एक अपना अनुष्ठान इतनी एकाग्रता से करता है कि वह अपना स्थान छोड दूसरे के आश्रम में जाता भी नहीं। सदा अपने आश्रम में रहकर अनुष्ठान में मग्न रहता है।

येही दिव्य ऋषि हैं। इन इन्द्रियों में अनन्त दैवि शक्तियां हैं। प्रत्येक मनुष्य देख सकता है कि मर्त्य शरीरमें ये शक्तियां कार्य करती हैं।

मनुष्य की उन्नति के लिए यह देखना नितान्त आवश्यक है कि अपनी आत्म शक्ति इन इन्द्रियों में किस प्रकार काम करती है। ये तपोनिष्ठ मुनि हैं। आपका काम है कि इस बात की आप खबर रखें कि क्या राक्षस इनके तपमें विघ्न बाधाएँ डालते हैं। भिन्न भिन्न रोग और बुरी वासनाएँ ही हम्ला करने वाले राक्षस हैं। आपको ऐसा प्रबन्ध करना होगा जिससे इन ऋषियों का शत सांवत्सरिक यज्ञ निर्विघ्न पूरा हो। इन ऋषियों ने सौ साल का बडा सत्र शुरू किया है। वह बिना कोई विघ्न हुए समाप्त होना चाहिए।

किन्तु कई देशोंके मुनियों को अपना यज्ञ बीच ही में समाप्त कर राक्षसों के हम्ले के कारण भाग जाना पडता है। यह बात आपही के आधीन है कि ऐसा न होने पावे और ऋषियों का सत्र बेखटके जारी रहे।

यदि यह बात वाचक समझ लेंगे तो अपने धर्म ग्रन्थ के कई रूपक वे सहज ही में समझ सकेंगे और उनमें बतलाए हुए तत्त्वों को जान लेवेंगे।

आप समझ ही गए होंगे कि शतसांवत्सरिक सत्र करने वाले ऋषि कौन हैं। इनका यहाँ रहना ही हमारी आयु है। हमारी आयु का बढना वा न बढना इन दैवी ऋषियों के यहाँ रहने पर निर्भर है। इसी लिए उपरोक्त मन्त्रमें प्रार्थना की है कि " दीर्घ आयु प्राप्त होवे इस लिए आप हमें आयुष्य दें। " आपकी शक्ति की विलक्षण वृद्धि तभी होगी जब ये दैवी शक्तियां आपके आधीन होंगी वा आप इन्हें अपने अनुकूल बना सकें।

इसी आत्मशक्ति का ध्यान योग का विषय है। इसी से हम अपनी शक्ति बढा सकते हैं। अपनी आयु बढाने के लिए भी इसी शक्ति की आवश्यकता है। आगे के काम की यह पूर्व तैयारी है। इसीसे पाठक इससे विमुख न होवें। क्यों कि आत्म शक्तिका विकास ही हमारे धर्म का मुख्य अंग है। उसमें प्रथम बात आयु की है।

आयुः पृथिव्यां द्रविणम्।

आंध्र० तैत्तरीय आरण्यक १०। ३६

अर्थात् ' इस पृथ्वीपर आयु ही धन है। '

आयु होने ही से अन्य धनों का उपयोग हो सकता है। इसीसे सब धनों में मुख्य धन है आयु। किन्तु यह आयु तेजस्वी होनी चाहिए।

आयुष्मन्तं मां तेजस्वन्तं मनुष्येषु कुरु।

यजु० मैत्रायणि संहिता ४।७।३

अर्थात् " सब मनुष्यों में मुझे दीर्घ आयुवाला तथा तेजस्वी बना "। यदि मनुष्य में तेज न हो तो उसकी योग्यता ही क्या है? उसे पूछता ही कौन है? दीर्घ आयु और तेजस्विता दोनों की आवश्यकता है। इन दोनों के रहते ही अन्य धन मनुष्य को धन्यता प्राप्त करा देते हैं, अन्यथा दूसरे धनों से मनुष्यों को शोभा नहीं आ सकती।

इस लेख में वह हाल बताया गया है जो आत्मशक्ति के विकास के मार्ग में अतीव आवश्यक है। अगले लेख में बताया जावेगा कि इस हाल का उपयोग किस प्रकार किया जाय।

योगसाधन का रूप।

'योग साधन' शब्द सुनते ही लोग डर जाते हैं। वे समझते हैं कि इसमें व्यवहार के उपयोगी कोई बात नहीं है बल्कि व्यवहार के लिए हानिकर बातें ही इसमें होंगीं। इसलिए इसके पास न जाना ही अच्छा है। कई लोगों को इससे बहुत ही डर लगता है। वे समझते हैं कि इससे न मालुम क्या क्या हानि होगी। इस झँझट में कौन फँसे ? लोग योग के विषय में इस प्रकार सोचते हैं। लोगों के ये विचार अज्ञान के कारण हैं। लोगों के विचार योग के प्रति इस प्रकार प्रगाढ अज्ञान भरे क्यों हुए ? इसका कारण यह है कि योग-मार्ग गुप्त रखा गया था। और यह प्रबन्ध किया गया था कि लोगों पर यह मार्ग जहाँतक बने प्रकट न होने पावे। उस प्राचीन काल में शायद ऐसा करना उचित हो पर वर्तमान वैज्ञानिक युग में इसे गुप्त रखने की आवश्यकता नहीं। यदि योग एक शास्त्र है और उससे मानव जाति का हित होना सम्भव है तो इस शास्त्र का लोगों में जितना अधिक प्रचार होगा उतना ही अधिक वह लाभकारी भी होगा। इसी लिए योग साधन का मुख्य रूप बतलाने का प्रयत्न इस लेख में किया गया है। योगदर्शन के निम्न लिखित सूत्र में योग के आठ अंगों का वर्णन है। वह देखने योग्य है—

> यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-
> धारणा-ध्यान-समाधयो ऽ ष्टांगानि।
> योग दर्शन २।२५

"यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि योग के आठ अंग हैं।" इसी को अष्टांगयोग या योग का अष्टांग साधन कहते हैं। इन आठ अंगों का रूप तथा कार्य अच्छी तरह समझने से योग साधन का सच्चा रूप ज्ञात हो जावेगा। इसलिए देखना चाहिए कि इन आठ अंगों का उपयोग क्या है।

(१) यम और नियम

"अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह" यम है। तथा शुद्धता, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर भक्ति नियम हैं। (१)दूसरे को किसी भी प्रकार दुःख न देना, दूसरे को जितना सुख देते बने उतना देने की तैयारी रखना अहिंसा है। (२) सत्यका पालन करना, (३) चोरी न करना, (४) ब्रह्मचर्य से रहना और (५) निःस्वार्थ भाव धारण करना 'यम' कहलाता है। पाठकों को अच्छी तरह विदित होगा कि मनुष्य के पारस्परिक व्यवहार के ये उत्कृष्ट नियम हैं। 'यम' का अर्थ है मनुष्य के दूसरे के साथ के वर्ताव के नियम और 'नियम' का अर्थ है निजी वैयक्तिक आचरण के नियम-

"(१) अंतर्बाह्य शुद्धता, (२) मनका संतोष, (३) शीत, उष्ण सहने की शक्ति, (४) ज्ञानार्जन और (५) ईश्वर भक्ति" इन पाँच नियमोंने व्यक्तिगत आचरण का अच्छा मार्ग दिखलाया है।तब हम कहते हैं कि योग के पहले दो अंगोंका मुख्य उद्देश "सार्वजनिक और व्यक्तिगत आचरण के अच्छे नियम" बतलाना है। सूक्ष्म भेदों को छोडकर स्थूलमान से हम यहां विचार कर रहे हैं। इसलिए यहाँ सूक्ष्म और सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदों की ओर ध्यान नहीं दे सकते। योग के 'यम और नियम' का अर्थ 'सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत' व्यवहार के नियम है। इस बात को जान लेने के पश्चात् विदित होगा कि योग साधन के लिए किसी भी मनुष्य को संसार को त्याग देने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु समाज में रहकर ही परस्पर व्यवहार तथा निजी आचरण विशेष प्रकार का रखना ही इसका प्रधान उद्देश है।

(२) यम नियम के पश्चात् 'आसन' तीसरा अंग है। आरोग्य साधन के अच्छे व्यायाम ही आसन हैं। हजारों मनुष्य आज भी अनुभव कर रहे हैं कि आसनों को करने से आरोग्य बढता है और

स्वास्थ्य बना रहता है। इन लोगों के अनुभव तथा आसनों की रीतियाँ इसी मासिक पत्र में अन्यत्र छापी जाती है इससे यहाँ उनका विशेष वर्णन करने की आवश्यकता नहीं। आसनों का थोडे में स्थूल वर्णन करना हो तो कहना होगा कि वे "शरीर स्वास्थ्य के व्यायाम' है। पाठक जब इस अर्थ को पढेंगे तब वे सोचेंगे कि यदि आसन स्वास्थ्य को बढाकर उसे बनाए रखते हों तो उनका ज्ञान हर एक मनुष्य को होना अत्यन्त आवश्यक है। ठीक यही हमारा भी मत है। तब यह हुआ कि आसनों के अभ्यास से डरने की आवश्यकता नहीं है। इतना ही नहीं बल्कि प्रत्येक मनुष्य के लिये अत्यन्त आवश्यक है कि आसनोंका ज्ञान प्राप्त करले और उनके अभ्यास से अपना स्वास्थ्य कायम रखें।

(३) आसनों के बाद चौथा योगांग प्राणायाम है। प्राणायाम का मुख्य और स्थूल भावार्थ है "पूर्ण श्वास" वा पूर्ण श्वासका व्यायाम। श्वासोच्छ्वास क्रिया ही जीवन की मुख्य क्रिया है। श्वास क्रिया का अन्त होते ही जीवन का अन्त होता है। तब बतलानेकी आवश्यकता नहीं कि जीवन श्वासोच्छ्वास क्रिया पर कैसा अवलम्बित है। श्वासोच्छ्वास का जो शास्त्र है वही प्राणायाम का शास्त्र है। आरोग्य शास्त्र की मनुष्य को जितनी आवश्यकता है उससे भी कुछ अधिक आवश्यकता प्राणायाम शास्त्र की है। प्राणायाम दीर्घजीवन की एक अपूर्व विद्या है। आसनों के व्यायाम से शरीर के स्नायुओं को व्यायाम होता है और प्राणायाम के अभ्यास से श्वसन क्रिया के लिए आवश्यक सौ स्नायुओं को व्यायाम मिलकर फेफडे बलवान होते हैं। पूर्ण श्वास से रक्त-शुद्धि होती है तथा सम्पूर्ण शरीर नीरोगी होता है। प्राणायाम के कई प्रकार हैं और हर एक प्रकार का उद्देश अलग अलग है। उनका वर्णन इस स्थान में देने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ स्थूल दृष्टि से यह बतलाना है कि प्राणायाम की मनुष्य के स्वास्थ्य तथा दीर्घ जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यकता है।

इसके सिवा मनको एकाग्र करनेमें भी इसका बडा भारी उपयोग होता है। इस प्रकार प्राणायाम से दुहरा फायदा है। इससे शरीर-स्वास्थ्य साधता है और मनकी एकाग्रता भी। आरोग्य, दीर्घ-आयु तथा मनकी एकाग्रता की प्रत्येक मनुष्यको आवश्यकता है क्योंकि वे लाभदायक हैं; तब सिद्ध है कि प्राणायाम का ज्ञान प्रत्येक मनुष्यको होनेसे उसे अतीव लाभ होगा।

इस प्रकार योग के प्रथम चार अंग मनुष्यके लिए बहुत ही लाभदायक हैं। इससे इन अंगोंकी ओर ध्यान न देने से बडी हानि होगी। इस चार अंगों में। (१) व्यक्तिगत व्यवहार के उत्तम नियम, (२) सार्वजनिक व्यवहार के उचित नियम, (३) शरीर-स्वास्थ्य के व्यायाम और (४) प्राण-शक्ति की वृद्धि के व्यायाम सम्मिलित हैं। अब आगे के चार अंगों का विचार करें।

४ प्रत्याहार।

मनुष्य की आत्मा में अनोखी, अपूर्व एवं अद्भुत शक्ति है। वह प्रत्येक इन्द्रियके द्वारा बाहर जाती है। यह शक्ति-क्षय सदैव जारी रहता है इससे मनुष्य अपने को निर्बल समझता है। प्रत्याहार का उद्देश है इस प्रकार शक्तिका क्षय न होने देना, सब शक्ति संगठित कर उसे अपने वशमें रखना। जिस प्रकार कछुआ अपने पैर भीतर खींच लेता है उसी प्रकार बाहर जानेवाली अपनी सब शक्तिओं को एकत्रित कर अपने वश में लाना ही अभ्यास की मुख्य बात है। जो अपनी सब शक्तियों को अपने वश में रख सकता है उसकी योग्यता में विशेष वृद्धि हो सकती है। व्यवहार में भी इस शक्तिका विशेष उपयोग हो सकता है। केवल व्यवहार में मग्न रहने वाला मनुष्य भी इससे बहुत बडा लाभ उठा सकता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि आध्यात्मिक दृष्टि से इसका उपयोग और भी अधिक है।

(५) धारणा, ध्यान और समाधि ये तीन अंग शक्तियों का संगठन और उन्हें स्थिर करने के लिए साधक हैं। मनकी एकाग्रता धारणामें जितनी है उससे अधिक ध्यान में रहती है और समाधि में मन पूर्णरूप से अपने वश में रहता है। इन तीनों अभ्यासों से मन की शक्ति बहुत बढती है और आत्मिक

प्रसन्नता प्राप्त होती है। मनुष्य जो कुछ करता है वह मन की शक्तिसे करता है इससे उसका कर्तृत्व मन की शक्ति पर भी निर्भर है। इसी लिए समाधि की सिद्धता हर एक को न प्राप्त होने पर भी आवश्यकता है धारणा ध्यान तक आने की। इतनी पहुँच हो जाने से भी बहुत लाभ होगा।

सारांश प्रत्याहार, धारणा और ध्यान का थोडा बहुत जितना अभ्यास हो सकेगा उतने ही से निःसंदेह लाभ ही होगा। योग का थोडा भी अभ्यास लाभदायक है इसीसे गीता में कहा है

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्
भ. गी. २। ४०

अर्थात् ' योग का थोडा भी अभ्यास क्यों न हो उससे महान भय से भी रक्षा होती है। '

यह बात पाठकों को अच्छी तरह विदित हुई होगी। क्यों कि योग का प्रत्येक अंग मनुष्य के लिए हितकारी है। उसका जितना अधिक अभ्यास होगा उतना ही भारी लाभ होगा। उपरोक्त विवेचन से पाठकों को यह भी मालूम होगा कि, ' योगमार्ग (१) मनुष्य के व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक बर्ताव के उचित नियम बताता है. (२) शारीरिक उन्नति का मार्ग दिखाता है, और (३) मानसिक तथा आत्मिक शक्ति के विकास के उपाय सुझाता है। तब प्रकट है कि इससे जैसे हर एक व्यक्ति को लाभ होता है वैसे ही समाज को भी।

यूरप और अमेरिका में शरीर की शक्ति बढाने का (Physical Culture) विचार हो रहा है। प्रत्येक संस्था मानसिक तथा आत्मिक शक्ति (Spiritual Culture) के बढाने में लगी है। किन्तु शरीर तथा आत्मा की शक्ति (Physico-Spiritual) को बढाने का प्रयत्न करनेवाली और शारीरिक तथा आत्मिक शक्ति का समान विकास करनेवाली कोई संस्था वहाँ नहीं है। भारत के आर्यों की ' योग-संस्था ' शारीरिक तथा आत्मिक शक्ति का सम-विकास करनेवाली संस्था है। यही इस संस्था का उद्देश्य है।

इस पर कई लोग प्रश्न करेंगे की ऐसी योग-संस्थाएँ हैं कहाँ ? इसका उत्तर कठिन नहीं है। भारतवर्ष में योग का अभ्यास करनेवाले मनुष्य आज भी कई मिलेंगे। इसी तरह योग संस्थाएँ भी कई मिलेंगी। ये संस्थाएँ नई नहीं किन्तु बहुत पुरानी हैं। संस्थाएं इतनी प्राचीन होते भी लोगों में प्रसिद्ध नहीं हैं क्यों कि वे सदा से गुप्त रहने की चेष्टा करती रही हैं।

ऊपर जो बातें लिखी हैं उनसे पाठक गण जान गए होंगे कि योग में डरावनी बात एक भी नहीं है और न कोई ऐसी ही बात है जिस के कारण योग से चार हात दूर रहना आवश्यक हो। योग के अनेक अंगों से लाभ ही होता है। तब कुछ मर्यादा तक योग साधन की बातें साधारण जनता को विदित हो तो बहुत लाभ होगा। स्वास्थ्य को बनाए रखने में तथा अन्य कई बातों में लोगों को लाभ पहुंच सकता है। इसी लिए हमने निश्चय किया है कि इस पत्रिकामें समय समय पर योग साधन का ऐसा हाल लोगों के सन्मुख रखा जावे जिससे लोगों को लाभ हो। ये लेख सर्व साधारण जनता के लिए लिखे जावेंगे। इसलिए इनमें हर एक बात का स्थूल विवरण रहेगा। सम्भव है कि जो महाशय हर एक बात को विस्तार से जानना चाहते हों, उनका संतोष इन लेखों से न होगा। किन्तु ऐसे जिज्ञासु जन कम होते है और जो होते हैं वे निज-पुरुषार्थ से इन बातों का ज्ञान भी प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए लेख केवल साधारण जनता के लिए ही लिखे जावेंगे। हमारा निवेदन है कि हर एक मनुष्य इस ओर ध्यान दे।

—•—

वसिष्ठ शब्द के अर्थ।

(लेखकः-साहित्योपाध्याय ब्रह्मदत्तशास्त्री, काव्यतीर्थ. M. A; M. O. L; M. R. A. S; विद्यासागर, विद्यारत्न; अजमेर)

ऋग्वेद के ७ वें मण्डल का ३३ वां सूक्त, इस सम्बन्ध में अवश्य विचारणीय है। आचार्य सायण तथा ग्रिफिथ आदि अंग्रेज वेदज्ञों ने इस सूक्त का ऐसा अर्थ किया है जिससे कि उस में वसिष्ठ और उसके अनेक पुत्रों का हाल, तथा वसिष्ठ और अगस्त्य ऋषि की विचित्र जन्म कथा प्राप्त होती है। ऋषि दयानन्द ने इस सूक्त का जो भाष्य किया है उस से इस सूक्त में, वसिष्ठ और अगस्त्य, कोई पुरुषविशेष सिद्ध नहीं होते। इस अर्थ से यही सिद्ध होता है कि वेदों में व्यक्तिविशेषों की जन्म कथा वा चरित्र का चित्रण नहीं किया गया है।

सब से प्रथम हम कुछ मन्त्रों का सायणकृत अर्थ (तदीय भाष्यानुकूल) सीदी सादी भाषामें देंगे। फिर स्वामी दयानन्दकृत भाष्य की भाषा देंगे। इन दोनों की तुलना कर पढने से पाठकों को प्रचुर प्रमोद की प्राप्ति होगी।

सायण।

१ श्वेतवर्ण के, कर्मों के पूर्ण करने वाले, दाहिनी और चूडा रखने वालों ने मुझे निश्चय ही हर्षित किया है। अतः यज्ञ से उठते हुए, मैं, यज्ञ के नेताओं से कहता हूँ कि मेरे पुत्र, रक्षार्थ, मुझ से दूर न जाँय।

इस सायणीय विवरण से प्रतीत हुआ कि वसिष्ठ के पुत्र श्वेत अर्थात् गौरवर्ण के थे। यज्ञादि कर्मों के पूर्ण करने वाले थे। और दाहिनी ओर जटाओं का जूटा बांधे रहते थे।

मन्त्र के उत्तरार्ध से दो भाव प्रकट होते हैं। वसिष्ठ कहते हैं कि मेरे पुत्र मुझ से दूर न हों और रक्षा के निमित्त ! इस के दो तात्पर्य हो सकते हैं। एक तो यह कि वसिष्ठ का अभिमान उन से यह कहलवाता है कि वे अकेले ही अपने पुत्रों की रक्षा कर सकते हैं, उस के लिये, उन के पुत्रों को कहीं टक्करें खाने की कोई आवश्यकता नहीं। दूसरा यह भी भाव हो सकता है कि पितृस्नेह से प्रेरित होकर, मायामोहके महापाश में बंधकर, वसिष्ठ यह कह रहे हैं कि उन के पुत्र उन से पृथक् न हों और उनके सन्निकट रहते हुए ही, सदा उन की रक्षा में तत्पर रहें। इस पिछले तात्पर्य में आत्मविश्वास की न्यूनता और कायरता सी प्रतिभासित होती है। शायद इस का मूल सायण के मस्तिष्क में, विश्वामित्र और वसिष्ठ का सुप्रसिद्ध कलह हो !

स्वामी दयानन्द।

(१) जो वृद्धि को प्राप्त होते, दाहिनी ओर को जटा जूट रखने वाले, बुद्धिको प्राप्त हुए, अतीव विद्याओं में वसने वाले, ही, मुझे आनन्दित करते हैं, (जो)मेरे,पालने को दूरसे आवें, उन विद्या धर्म, बढाने वाले नायक मनुष्यों को, उठता हुआ अर्थात् उद्यम के लिये प्रवृत्त हुआ, सब ओर से कहता हूँ।

इस अर्थ में (जो) पद हमने अपनी ओर से रख दिया है, परन्तु उस की अपेक्षा है। इस मन्त्रार्थ में एक बात ध्यान देने योग्य है कि 'वसिष्ठाः' इस पदका अर्थ रूढि के अनुसार सायणने जहाँ, 'वसिष्ठ के पुत्र लिया है, वहां स्वामी दयानन्दने 'अतिशयेन विद्यासु वसन्तः' अर्थात् विद्या में 'अत्यन्त निवास करने वाले' ऐसा लिया है। सायण का अर्थ ऐतिहासिक है, स्वामी दयानन्द का, व्याकरण के अनुकूल, सर्वसाधारण है। व्यक्तिविशेषका ग्रहण नहीं कराता। और जो पदार्थों में भेद है, बहुत थोडा है। हम आगे चलकर इसे भी लिखेंगे।

(क्रमशः)

अञ्जन ।

(९)

(ऋषिः- भृगुः । देवता-त्रैककुदञ्जनम्)

एहिं जीवं त्रायमाणं पर्वतस्यास्यक्ष्यम्
विश्वेभिर्देवैर्दत्तं परिधिर्जीवनाय कम् ॥ १ ॥
परिपाणं पुरुषाणां परिपाणं गवामसि ।
अश्वानामर्वतां परिपाणाय तस्थिषे ॥ २ ॥
उतासि परिपाणं यातुजम्भनमाञ्जन ।
उतामृतस्य त्वं वेत्थाथो असि जीवभोजनमथो हरितभेषजम् ॥ ३ ॥

अर्थ- (जीवं त्रायमाणं) जीव की रक्षा करनेवाला, (पर्वतस्य अक्ष्यं) पर्वतसे प्राप्त होनेवाला और आंखोंके लिये हितकारक, (विश्वेभिः देवैः दत्तं) सब देवोंने दिया हुआ, (कं) सुख स्वरूप (जीवनाय परिधिः असि) जीवन के लिये परकोटरूप है, तू (एहि) यहां आ ॥ १ ॥

तू (पुरुषाणां परिपाणं) पुरुषोंका रक्षक, (गवां परिपाणं असि) गौ-ओंका रक्षक है (अर्वतां अश्वानां) वेगवान घोडोंके भी (परिपाणाय तस्थिषे) रक्षाके लिये तू रहता है ॥ २ ॥

हे (आञ्जन) अञ्जन ! तू (उत परिपाणं असि) निःसंदेह संरक्षक है और (यातु जंभनं) बुराइयोंका नाश करनेवाला है । (उत त्वं अमृतस्य वेत्थ) और तू अमृतको जानता है; (अथो जीव-भोजनं असि) और जीवोंकी पुष्टि करनेवाला है, (अथो हरित-भेषजं) तथा पाण्डुरोगकी औषधि है ॥ ३ ॥

भावार्थ-प्राणीमात्रको अपमृत्युसे बचानेवाला, जीवनके लिये सहायक, आंखके लिये हितकारी, सब देवों से प्राप्त और पर्वतपर उगनेवाली वन-स्पतियोंसे बननेवाला यह अञ्जन है, यह हमें प्राप्त होवे ॥ १ ॥

मनुष्य, गौएं और घोडोंके लिये भी यह अत्यन्त हितकारी है ॥ २ ॥

यह अञ्जन उत्तम संरक्षक, बुराइयोंको दूर करनेवाला, मृत्युको दूर करने वाला, पुष्टि देनेवाला और पाण्डुरोगका नाश करनेवाला है ॥ ३ ॥

यस्याञ्जन प्रसर्पस्यङ्गमङ्गं परुष्परुः । ततो यक्ष्मं वि बाधस उग्रो मध्यमशीरिव ॥४॥
नैनं प्राप्नोति शपथो न कृत्या नाभिशोचनम् । नैनं विष्कन्धमश्नुते यस्त्वा बिभर्त्याञ्जन ॥५॥
असन्मंत्राद्दुष्वप्न्याद्दुष्कृताच्छमलादुत । दुर्हार्दश्चक्षुषो घोरात्तस्मान्नः पाह्याञ्जन ॥ ६ ॥
इदं विद्वानाञ्जन सत्यं वक्ष्यामि नानृतम् ।
सनेयमश्वं गामहमात्मानं तव पूरुष ॥ ७ ॥

अर्थ- हे (अञ्जन) अञ्जन ! (यस्य अङ्गं अङ्गं परुः परुः प्र सर्पसि) जिसके अंग अंगमें और जोड जोडमें तू व्यापता है, (ततः यक्ष्मं वि बाधसे) वहांसे रोग को हटा देता है, (मध्यमशीः उग्रः इव) मध्य स्थानमें रहने वाले प्राणके समान तू उग्र है ॥ ४ ॥

हे अञ्जन ! (यः त्वा बिभर्ति) जो तेरा धारण करता है (एनं शपथः न प्राप्नोति) इसको दुष्ट भाषण प्राप्त नहीं होता है. (न कृत्या) न हिंसक कर्म और (न अभिशोचनं) न तो शोक उसके पास आता है । (विष्कन्धं एनं न अश्नुते) पीडा इसको नहीं घेरती है ॥ ५ ॥

हे अञ्जन ! तू (असन्मंत्रात्) बुरी मंत्रणासे, (दुष्वप्नात) बुरे स्वप्नसे (दुष्कृतात) दुष्ट कर्मसे, (शमलात्) अशुद्धिसे, (उत दुर्हार्दः) दुष्ट-हृदयतासे, (तस्मात् घोरात् चक्षुषः) उस भयंकर नेत्र विकारसे (नः पाहि) हमारा बचाव कर ॥ ६ ॥

हे अञ्जन ! (इदं विद्वान्) इस बातको जाननेवाला मैं (सत्यं वक्ष्यामि)सत्य बोलता हूं (न अनृतं) असत्य नहीं। हे (पूरुष) मनुष्य ! (तव अश्वं गां आत्मानं) तेरे घोडा, गौ और आत्माको (अहं सनेयं) मैं आरोग्य देऊं ॥ ७ ॥

भावार्थ- यह अञ्जन जिसके अवयवों और संधियों में पंहुंचता है वहांसे रोग हटा देता है ॥ ४ ॥

इस अञ्जनको जो लोग लगाते हैं उनको दुष्ट भाषण, शाप, हिंसा के कर्म, अन्य शोकके कारण और अन्य पीडाएं कष्ट नहीं देतीं ॥ ५ ॥

इस अञ्जनसे बुरा विचार, बुरी समंति, दुष्ट स्वप्न, दुष्ट कर्म, अशुद्धता, हृदयके दुष्ट भाव ओर आंखके भयंकर रोग दूर होते हैं ॥ ६ ॥

मैं इस अञ्जनके गुण जानता हूं इस लिये सच कहता हूं कि इससे मनुष्य घोडे गौवें आदिकों को आरोग्य प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

त्र॒यो॑ दा॒सा आञ्ज॑नस्य त॒क्मा ब॒लास॒ आदहि॑ः ।
वर्षि॑ष्ठः पर्व॑तानां त्रिक॒कुन्नाम॑ ते पि॒ता ॥ ८ ॥
यदाञ्ज॑नं त्रैककु॒दं जा॒तं हि॒मव॑त॒स्परि॑ ।
या॒तूंश्च॒ सर्वा॑ञ्ज॒म्भय॒त्सर्वा॑श्च यातुधा॒न्यः॑ ॥ ९ ॥
यदि॒ वासि॑ त्रैककु॒दं यदि॑ यामु॒नमु॒च्यसे॑ ।
उ॒भे ते॑ भ॒द्रे नाम्नी॒ ताभ्यां॑ नः पाह्याञ्जन ॥ १० ॥

अर्थ-(तक्मा,बलासः,आत अहिः)ज्वर, कफरोग और उदावर्तरोग अथवा सर्प ये (त्रयः आञ्जनस्य दासाः) तीन अञ्जनके दास हैं। (पर्वतानां वर्षिष्ठः) पर्वतोंमें श्रेष्ठ (त्रिककुद् नाम ते पिता) त्रिककुद नामक तेरा पालक है॥८॥

(यत् त्रैककुदं आञ्जनं) जो त्रिककुद्से बना हुआ अञ्जन (हिमवतःपरि जातं) हिमयुक्त पर्वतपर उत्पन्न हुआ वह (सर्वान् यातून् जम्भयत्) सब पीडकोंको दूर करता हुआ (सर्वाः यातुधान्यः च) सब दुष्टोंको दूर करता है ॥ ९ ॥

(यदि वा त्रैककुदं असि) यदि तू तीन ककुदोंसे उत्पन्न हुआ हो (यदि यामुनं उच्यसे) तुम्हें यामुन कहा जाता हो, (ते उभे नाम्नी भद्रे) वे दोनों तेरे नाम कल्याण सूचक हैं। हे अञ्जन !(ताभ्यां नः पाहि) उनसे हमारी रक्षा कर ॥ १० ॥

भावार्थ- ज्वर, क्षय, कफविकार, उदावर्तनामक पेटका रोग अथवा सर्पका विष आदि इस अञ्जनके प्रयोगसे दूर हो जाते हैं। ऊंचे पर्वतोंपर के पदार्थोंसे यह बनता है ॥ ८ ॥

इस अञ्जनसे सब प्रकारकी पीडाएं दूर होती हैं ॥ ९ ॥

त्रैकाकुद और यामुन ये इसके नाम हैं, इससे कल्योण प्राप्त होता है। इस से हमारी रक्षा होवे ॥ १० ॥

अञ्जन।

वैद्य शास्त्रमें अञ्जनके मुख्य दो नाम हैं, "यामुनं अथवा यामुनेयं और सौवीराञ्जनं।" इसके पर्याय शब्द ये हैं- "पार्वतेयं, अञ्जनं, यामुनं, कृष्णं, नादेयं, मेचकं, स्रोतोजं, दृग्भ्रदं, नीलं, सुवीरजं, नीलाञ्जनं, चक्षुष्यं, वारिसंभवं, कपोतकं।" (रा० नि० व. १३)

इन नामोंमें "पार्वतेयं, यामुनं' ये दो शब्द हैं। ये ही दो शब्द इस सूक्त के प्रथम और दशम मंत्रमें क्रमशः हैं। अन्य मंत्रोंमें भी हैं, देखिये—

*

पर्वतस्य असि। (मं० १)

पर्वतानां त्रिककुत्० ते पिता। (मं० ८)

त्रैककुदं आञ्जनं हिमवतस्परि जातं। (मं० ९)

त्रैकाकुदं (आञ्जनं) यामुनं उच्यते। (मं० १०)

"पर्वतसे यह अंजन बना है। अंजनका पिता पर्वत है। हिमपर्वतपर यह अञ्जन हुआ। इसको यामुन कहते हैं।" अर्थात् वेदके शब्दोंका अर्थ वैद्यक ग्रंथोंके वर्णनसे इस प्रकार खुल जाता है। अञ्जनके गुण वैद्यक ग्रंथमें इस प्रकार कहे हैं—

शीतलं तीक्ष्णं स्वादु लेखनं कटु चक्षुष्यं तिक्तं

ग्राहकं मधुरं स्निग्धं हिक्काक्षयपित्तविषकफघ्नं

नेत्रदोषहरं वातघ्नं श्वासहरं रक्तपित्तघ्नं च। (वै. निघं.)

शीतलं कटु तिक्तं कषायं चक्षुष्यं रसायनं

कफवातविषघ्नं च॥ (रा० नि० व० १३)

ये वैद्यक ग्रंथमें कहे अञ्जन के गुण हैं इनमेंसे कई गुण इस सूक्तमें कहे हैं देखिये–

१ 'अक्ष्यं' (मं० १) आंखोंके लिये हितकारी, 'घोरात् चक्षुषः पाहि'। (मं० ६) आंखके भयंकर रोगसे बचाता है। यही भाव वैद्यक ग्रंथमें 'चक्षुष्यं, नेत्रदोषहरं' शब्दसे वर्णन किया है।

२ (मं० ८ में) तक्मा (क्षय ज्वर), बलास (कफ, श्वास), और अहिः (सर्प विष) का शमन अञ्जनसे होनेका वर्णन है। यही बात उक्त वैद्यक ग्रंथके वर्णनसे "हिक्का (श्वास) क्षय (क्षयरोग), विष (विषबाधा) का नाश करनेवाला" इन शब्दोंसे कही है।

इस सूक्तमें हृदयादि अंदरके अवयवोंपर भी इस अंजनका प्रभाव पडता है ऐसा कहा है। विचार आदिकी शुद्धता होती है और मनुष्यों तथा पशुओंके शरीरोंके अनेक रोग दूर होते हैं ऐसा कहा है, वह भी वैद्यक ग्रंथमें 'कफपित्तवातघ्नं' अर्थात् वात पित्त कफके दोषोंका शमन करनेवाला इत्यादि वर्णनसे स्पष्ट हुआ है। कफपित्तवातके प्रकोपसे सब रोग उत्पन्न होते हैं, उन प्रकोपोंका शमन इस अंजनसे होता है इस लिये सर्व रोग दूर करनेवाला यह अंजन है। इस दृष्टिसे इस सूक्तके २ से ८ तकके मंत्रोंके कथनोंका विचार करके बोध प्राप्त करना चाहिये। यह सूक्त सुबोध है और विषय उपयोगी है। इसलिये वैद्योंको इस अंजनके निर्माण करनेकी विधिका निश्चय करके उसको प्रकट करना चाहिये।

शंखमणि।

(१०)

(ऋषिः- अथर्वा । देवता-शंखमणिः)

वाताज्जातो अन्तरिक्षाद्विद्युतो ज्योतिषस्परि ।
स नो हिरण्यजाः शङ्खः कृशनः पात्वंहसः ॥ १ ॥
यो अग्रतो रोचनानां समुद्रादधि जज्ञिषे ।
शङ्खेन हत्वा रक्षांस्यत्त्रिणो वि षहामहे ॥ २ ॥
शङ्खेनामीवाममतिं शङ्खेनोत सदान्वाः ।
शङ्खो नो विश्वभेषजः कृशनः पात्वंहसः ॥ ३ ॥

अर्थ— (वातात् अन्तरिक्षात) वायुसे, अंतरिक्षसे, (विद्युतः ज्योतिषः परि जातः) बिजलीसे और सूर्यादि ज्योतियोंसेभी सब प्रकारसे उत्पन्न हुआ (सः हिरण्यजाः कृशनः शंखः) वह सुवर्णसे बना मोती रूपी तेजस्वी शंख (नः अंहसः पातु) हमको पापसे बचावे ॥ १ ॥

(यः रोचनानामग्रतः) जो प्रकाशमानोंमें अग्र भागमें रहनेवाला (समुद्राद्, अधिजज्ञिषे) समुद्रसे उत्पन्न होता है उस (शंखेन रक्षांसि हत्वा) शंखसे राक्षसोंको नाश करके (अत्रिणः वि सहामहे) भक्षकोंको पराभूत करते हैं ॥२॥

(शंखेन अमीवां, अमतिं) शंखसे रोगको और मतिहीनताको (उत शंखेन सदान्वाः) और शंखसे सदा पीडा करनेवाले रोगोंको हम दूर करते हैं। यह (शंखः विश्वभेषजः) शंख सब रोगोंकी औषधि है, इसलिये यह (कृशनः अंहसः पातु) मोतीके समान तेजस्वी शंख पापसे बचावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—वायु अन्तरिक्ष विद्युत् और सूर्यादिकोंका तेज तथा सुवर्णके गुण लेकर शंख उत्पन्न हुआ है वह रोगोंसे बचाता है ॥ १ ॥

यह स्वयं तेजस्वी है और समुद्रसे प्राप्त होता है, इससे रोगबीज दूर होते हैं, खूनका शोषण करनेवाले रोगोंके क्रिमी इससे नष्ट होते हैं ॥ २ ॥

शंखसे आमके कारण उत्पन्न होनेवाले रोग दूर होते हैं, बुद्धिकी सुस्ती हटजाती है, शंखसे शरीरकी अन्य पीडा हट जाती है, शंख सब रोगोंकी औषधि है। यह तेजस्वी शंख हमें रोगोंसे बचाता है ॥ ३ ॥

दिवि जातः समुद्रजः सिन्धुतस्पर्याभृतः ।
स नो हिरण्यजाः शङ्ख आयुष्प्रतरणो मणिः ॥ ४ ॥

समुद्राज्जातो मणिर्वृत्राज्जातो दिवाकरः ।
सो अस्मान्त्सर्वतः पातु हेत्या देवासुरेभ्यः ॥ ५ ॥

हिरण्यानामेकोऽसि सोमात्त्वमधि जज्ञिषे ।
रथे त्वमसि दर्शत इषुधौ रोचनस्त्वं प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ ६ ॥

अर्थ-(दिवि जातः) द्युलोकसे हुआ, (समुद्रजः) समुद्रसे जन्मा अथवा (सिन्धुतः परि आभृतः) नदियोंसे इकट्ठा किया हुआ यह (हिरण्यजाः शंखः) सुवर्णके समान चमकनेवाला शंख है, (सः मणिः) वह मणि (नः आयुष्प्रतरणः) हमारे लिये आयुष्यमें दुःखोंसे पार करनेवाला होवे ॥ ४ ॥

(समुद्रात मणिः जातः) समुद्रसे यह शंखरूपी रत्न हुआ है, जैसा (वृत्रात दिवाकरः जातः) मेघसे सूर्य प्रकट होता है। (सः हेत्या) वह अपने शस्त्रसे (देवासुरेभ्यः) देवों वा असुरोंसे (अस्मान् सर्वतः पातु) हम सबको सब प्रकारसे बचावे ॥ ५ ॥

(हिरण्यानां एकः असि) तू सुवर्णजैसे चमकनेवालोंमें एक है, (त्वं सोमात अधि जज्ञिषे) तू सोमसे उत्पन्न हुआ है। (त्वं रथे दर्शतः) तू रथमें दिखाई देता है, (त्वं इषुधौ रोचनः) तू तूणीरमें चमकता है (नः आयूंषि प्र तारिषत) हमारी आयु बढाओ ॥ ६ ॥

भावार्थ-यह शंख समुद्रमें उत्पन्न होता है और महा नदियोंके मुख पर भी प्राप्त होता है। यह सब आयुमें हमें दुःखोंसे पार करता है ॥ ४ ॥

समुद्रसे प्राप्त होनेवाला शंख अपने विनाशक गुण से सब प्रकारके दोषोंसे हमारी रक्षा करे ॥ ५ ॥

शंख सुवर्णके समान तेजस्वी, और चंद्रमाके समान श्वेत है। यह शूरोंके रथोंपर और बाणोंकी तूणीरपर रखा जाता है। इससे आयुष्यकी वृद्धी होती है ॥ ६ ॥

देवानामस्थि कृशनं बभूव तदात्मन्वच्चरत्यप्स्व१न्तः।
तत्ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय
कार्शनस्त्वाभिरक्षतु ॥ ७ ॥

(इति द्वितीयोऽनुवाकः)

अर्थ- (देवानां अस्थि कृशनं बभूव) देवोंका अस्थिरूप श्वेत तेज ही सुवर्ण या मोतीके सदृश बना है। (तत् आत्मन्वत् अप्सु अन्तः चरति) वह आत्माकी सत्तासे युक्त होता हुआ जलोंमें विचरता है। (तत् ते) वह तेरे ऊपर (वर्चसे बलाय आयुषे दीर्घायुष्याय शतशारदाय) तेज, बल, आयुष्य, दीर्घआयुष्य, सौ वर्षोंवाला दीर्घायुष्य प्राप्त होनेके लिये (बध्नामि) बांधता हूं। यह (कार्शनः त्वा अभिरक्षतु) शंख मणि तेरा पूर्ण रक्षण करे ॥ ७ ॥

भावार्थ-यह मानों देवोंका तेज है और वही शंख रूपसे समुद्रके जलके अंदर प्राप्त होता है। इससे तेज, बल, दीर्घ आयुष्य आदिकी प्राप्ति होती है। यह सब दोषोंसे मनुष्यको बचाता है ॥ ७ ॥

शंखसे रोग दूर करना।

शंखकी औषधि बनाकर उसका विविध रोगोंको दूर करनेके कार्यमें उपयोग करनेका विषय वैद्य शास्त्रमें अनेक स्थानों में है, यही इस सूक्तका विषय है। इस विषयमें सबसे प्रथम वैद्य शास्त्रके प्रमाण देखिये—

वैद्य शास्त्र ग्रंथोंमें जो इसके नाम दिये हैं उनमें 'पूतः' शब्द है। इसका अर्थ 'पवित्र' है। स्वयं पवित्र होता हुआ जहां जाय वहां निर्दोषता करनेवाला। शंखका यह गुण है इसीलिये इस का उपयोग औषधि क्रियामें होता है।

शंखके गुण।

वैद्य शास्त्रमें इसके गुण निम्नलिखित प्रकार कहे हैं—

शंखकूर्मादयः स्वादुरसपाका मरुन्नुदः।
शीताः स्निग्धा हिताः पित्ते वर्चस्याः श्लेष्मवर्धनाः ॥

सुश्रुत. सू. ४६

"शंख स्वादुरस, वायुको हटानेवाला, शीत, स्निग्ध, पित्त विकारमें हितकारी" तेज बढानेवाला, और श्लेष्मा बढानेवाला है।" तथा—

कटुः शीतः पुष्टिवीर्यबलदः गुल्मशूलकफ-
श्वासाविषघ्नश्च। रा. नि. व१९

"कटु, शीत, पुष्टिकारक, वीर्यवर्धक, बल बढानेवाला, गुल्म रोग दूर करनेवाला, शूल हटानेवाला, कफ रोग और श्वास दूर करनेवाला और विष दूर करनेवाला है।" ये वैद्य शास्त्रमें कहे हुए शंखके गुण देखनेसे इस सूक्तका आशय स्वयं स्पष्ट हो जाता है और शंखका रोग निवारक गुण ध्यानमें आजाता है। इस शंखसे शंखद्राव, शंखभस्म, शंखचूर्ण, शंखवटी आदि अनेक औषध विविध रोग दूर करनेके लिये बनाये जाते हैं। इस लिये जिन लोगोंको इन औषधियोंका अनुभव है, उनको शंखके औषधिगुणोंके विषयमें विशेष रीतिसे कहनेकी आवश्यकता नहीं है। बच्चोंको होनेवाले कई रोगोंके शमन के लिये शंख पानीमें घोलकर पिलाया जाता है साथ अन्यान्य औषधियां भी होती ही हैं। इससे स्वयं सिद्ध है कि यह शंख बडी औषधि है।

शंख प्राणी है।

शंख केवल निर्जीव स्थितीमें बाजारोंमें बिकता है, परंतु यह प्राणीका शरीर अथवा शरीरका आवरण है, यह प्राणीके साथ बढता है। यह हड्डीके समान होता है, कुछ अन्यान्य रासायनिक भेद अवश्य होते हैं, इसलिये यह केवल हड्डी जैसाही नहीं होता। यह जीव है ऐसा इस सूक्तके सप्तम मंत्रमें कहा है--

देवानां अस्थि कृशनं बभूव,
तत आत्मन्वत् अप्सु अन्तः चरति। (मं० ७)

"देवोंकी हड्डी ही यह शंख रूपमें परिणत हुई है वह (आत्मन्वत) आत्मासे-जीव सत्तासे-युक्त होकर जलोंके अंदर विचरता है।" इससे निःसंदेह स्पष्ट हुआ की शंख यह आत्मावाला अर्थात् जीवधारी प्राणी है। दिव्य गुणोंसे युक्त हड्डी जैसा, परंतु उस हड्डीके घरके अंदर रहनेवाला यह प्राणी ही है! इसके इस घर जैसे शंखके जो औषधि गुण हैं वे इस सूक्तमें कहे हैं। इस सूक्तमें जो इसके गुण कहे हैं वे ये हैं—

(१) विश्वभेषजः- बहुत रोगोंकी औषधि। शंखकी औषधिसे बहुत रोग दूर हो जाते हैं। (मं. ३)

(२) अंहसः पातु (पाति)— शरीरमें रोग रहनेसे मनुष्यकी पापकी ओर प्रवृत्ति होती है, शंखकी औषधि सेवन करनेसे यह पाप प्रवृत्ति दूर होती है। और नीरोग होनेसे मनुष्यके मनकी प्रवृत्ति पुण्य कर्ममें हो जाती है। रोग और पाप ये परस्परावलंबी होते हैं। एकके होनेसे दूसरा होता है। (मं० १, ३)

(३) आयुष्प्रतरणः— आयुष्यके पार ले जानेवाला, अर्थात् पूर्ण आयु देकर बीचमें आनेवाले रोगरूपी विघ्नोंको हटानेवाला शंख है। (मं० ४)

(४) देवासुरेभ्यः हेत्या पातु (पाति) -- देवों और असुरोंसे जो जो रोग या पीडा होना संभव है उससे शंख बचाता है। जल, अन्न आदि देवता हैं जिनका सेवन मनुष्य करता है और जो दोष इनमें होते हैं उनके कारण रोगी होता है। आसुर और राक्षस भाव इंद्रियों और मनोंके अंदर प्रबल होते हैं और इस कारण मनुष्य बीमार होता है। इन सब रोगोंके दूर करनेके लिये शंखकी औषधी उत्तम है। (मं० ५) देवों और असुरोंसे रोग कैसे होते हैं इसका यह विचार पाठक स्मरणमें रखें।

(५) अमीवां शंखेन (विषहामहे)— 'आम' अर्थात् अन्नके अपचनसे होनेवाले रोग 'अमीव' कहे जाते हैं। इन रोगोंको शंखसे दूर किया जाता है। अर्थात् शंखसे पचनकी शक्ति बढ जाती है और आमके दोष हट जाते हैं। (मं० ३)

(६) अमतिं शंखेन (विषहामहे)-- मति बुद्धि अथवा मनके कुविचार भी पूर्वोक्त आमके कारणही होते हैं। शंखसे आमके दोष दूर होते हैं और उक्त कारण से मनके बुरे विचार दूर होते हैं और पापप्रवृत्ति भी हट जाती है। (मं० ३)

(७) शंखेन सदान्वाः (विषहामहे)-- शरीरमें, हरएक अवयवमें जिन रोगोंमें बडा दर्द होजाता है वे रोग 'सदान्वाः' कहे जाते हैं। (सदऽनोनूयमानाः) सदा रोगी चिल्लाते रहते हैं इस प्रकारके रोगोंको शंख दूर करता है। (मं० ३)

(८) तेज बल और दीर्घ आयुकी प्राप्ति शंखसे होती है। (मं० ७)

इस प्रकार शंखसे रोग दूर होनेके विषयमें इस सूक्तमें कहा है।

रोग जन्तु।

इस सूक्तमें रोगकृमियोंको और उनसे होनेवाले विविध रोगोंको दूर करनेके लिये भी इसी शंखकी औषधि लिखी है, इस विषयका वर्णन इस सूक्तमें इस प्रकार है—

(१) रक्षांसि— (रक्षः=क्षरः) जिन रोगजन्तुओंसे शरीर क्षीण होता जाता है। (मं० २)

(२) अत्रिन्—(अत्ति इति) जिस रोगमें बहुत अन्न खाने पर भी शरीरकी पुष्टि नहीं होती है, खून कम होता है, मांस आदि सप्त धातु क्षीण होते हैं। भस्मरोग तथा उसी प्रकार के अन्य रोगोंके बीजोंका यह नाम है। (मं० ३)

ये क्रिमियोंके अर्थात् रोगके क्रियोंके नाम हैं। इनसे उत्पन्न होने वाले सब रोग शंखके सेवनसे दूर होते हैं।

शंखके गुण।

इस सूक्तमें इस शंखके जो गुण कहे हैं वे अब देखिये—

(१) समुद्रात् जज्ञिषे – यह समुद्रमे उत्पन्न होता है, जलसे उत्पत्ति है इस लिये यह शीतवीर्य है, गुणोंमें शांत है। (मं. १, २, ४, ५)

(२) सोमात् जज्ञिषे—सोम अर्थात् औषधियों अथवा चंद्र से उत्पन्न होनेके कारण गुणकारी, रोग दूर करनेवाला और शीत गुण प्रधान है। (मं० ६)

(३) हिरण्यजः—सुवर्णसे उत्पन्न होनेके कारण बलवर्धक आदि गुण इसमें हैं। (मं० १, ४, ६)

(४) विद्युत —आदि तेजोंसे उत्पन्न होनेके कारण यह शंख शरीरका तेज बढानेवाला है। (मं० १)

इस प्रकार इस सूक्तमें शंखके गुण बताये हैं। इन गुणोंकी तुलना पाठक वैद्यग्रंथोक्त गुणोंके साथ करें और इस रीतिसे वैदिक गुणवर्णनकी शैली जाननेका यत्न करें।

यह वैद्यका विषय है। वैद्यशास्त्रमें शंखका अनेक प्रकारसे उपयोग होता है। इस लिये वैद्योंको इस विषय की खोज करके इस विषयको अधिक सुबोध करना योग्य है।

महाराष्ट्रमें पानीमें शंख घोलकर छोटे बच्चोंको पिलाते हैं, जिससे छोटे बच्चोंकी कई बीमारियां दूर होती हैं। बच्चेके गलेमें भी शंखका मणि बांधते हैं, अथवा छोटे शंखको सुवर्ण में जडकर गलेमें आभूषण बनाते हैं। इससे लाभ होता है ऐसा अनुभव है। वैद्योंको इसकी अधिक खोज करनी चाहिये।

विश्वशकटका चालक ।

(११)

(ऋषिः — भृग्वङ्गिराः । देवता — अनड्वान् । इन्द्रः)

अनड्वान्दाधार पृथिवीमुत द्यामनड्वान्दाधारोर्व १न्तरिक्षम् ।
अनड्वान्दाधार प्रदिशः षडुर्वीरनड्वान्विश्वं भुवनमा विवेश ॥ १ ॥
अनड्वानिन्द्रः स पशुभ्यो वि चष्टे त्रयांछक्रो वि मिमीते अध्वनः ।
भूतं भविष्यद्भुवना दुहानः सर्वा देवानां चरति व्रतानि ॥ २ ॥

अर्थ-(अनड्वान् पृथिवीं दाधार) विश्वरूपी शकट को चलानेवाले ईश्वरने पृथ्वीका धारण किया है, (अनड्वान् द्यां उत उरु अन्तरिक्षं दाधार) इसी ईश्वरने द्युलोक और यह बडा अंतरिक्ष धारण किया है। (अनड्वान् षट् उर्वीः प्रदिशः दाधार) इसी ईश्वरने छः बडी दिशाओंको धारण किया है) अनड्वान् विश्वं भुवनं आविवेश) यही ईश्वर सब भुवनमें प्रविष्ट हुआ है ॥ १ ॥

(सः अनड्वान् इन्द्रः) यह अनड्वान् इन्द्र है वह (पशुभ्यः विचष्टे) पशुओंका निरीक्षण करता है, (शक्रः त्रयान् अध्वनः विमिमीते) यह समर्थ प्रभु तीनों मार्गोंको नापता है। (भूतं भविष्यत् भुवना दुहानः) भूत भविष्य और वर्तमानकाल के पदार्थोंको निर्माण करता हुआ (देवानां सर्वा व्रतानि चरति) देवोंके सब व्रतोंका चलाता है । २ ॥

भावार्थ— इन्द्रने पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक और छः दिशाओंका धारण किया है और वह सब भुवनोंमें प्रविष्ट हुआ है ॥ १ ॥

इसी इन्द्रको अनड्वान् कहते हैं, वह सबका निरीक्षक है, इसी समर्थ इन्द्रने तीनों मार्गोंको निर्माण किया है । भूत भविष्य और वर्तमानकालके सब पदार्थोंका निर्माण करता हुआ वह सब अन्यान्य देवताओंके व्रतोंको चलाता है ॥ २ ॥

इन्द्रो जातो मनुष्येष्वन्तर्घर्मस्तप्तश्चरति शोशुचानः ।
सुप्रजाः सन्त्स उदारे न सर्षद्यो नाश्नीयादनडुहो विजानन् ॥ ३ ॥
अनड्वान्दुहे सुकृतस्य लोक ऐनं प्याययति पवमानः पुरस्तात् ।
पर्जन्यो धारा मरुत ऊधो अस्य यज्ञः पयो दक्षिणा दोहो अस्य ॥ ४ ॥

अर्थ-(इन्द्रः मनुष्येषु अन्तः जातः) इन्द्र मनुष्योंके अंदर प्रकट हुआ है वह (तप्तः घर्मः शोशुचानः चरति) तपने वाले सूर्यके समान प्रकाशता हुआ चलता है। इस (अनडुहः विजानन्) संचालक को जानता हुआ (यः न अश्नीयात्) जो अपने लिये भोग न करेगा (सः) वह (सु-प्रजाः सन्) सुप्रजावान होकर (उत्-आरे न सर्षत्) देहपात के पश्चात् नहीं भटकता है ॥ ३ ॥

(सुकृतस्य लोके अनड्वान दुहे) पुण्यके लोकमें यह ईश्वर तृप्ति देता है और (पुरस्तात् पवमानः एनं आप्याययति) पहिलेसे पवित्र करता हुआ इसको बढाता है। (पर्जन्यः अस्य धाराः) पर्जन्य इसकी धाराएं हैं, (मरुतः ऊधः) मरुत् अर्थात् वायु स्तन हैं, (अस्य यज्ञः पयः) इसका यज्ञ ही दूध है, और (अस्य दक्षिणा दोहः) इसकी दक्षिणा दूधके दोहन पात्रके समान है ॥ ४ ॥

भावार्थ- यह प्रभु मनुष्योंके अंदर प्रकट होता है, वह प्रकाशमान सूर्यके समान तेजस्वी है। इस ईश्वरको जो जानता है वह स्वार्थी भोगतृष्णाको छोडता हुआ, सुप्रजावान् होकर, देहपातके पश्चात् इधर उधर न भटकता हुआ, अपने मूल स्थानको प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

यह ईश्वर पुण्यलोकमें तृप्ति देता है और प्रारंभसे पवित्र करता हुआ इस जीवात्माको बढाता है। पर्जन्य इसकी पुष्टिकी धाराएं हैं, वायु या प्राण इसके स्तन हैं जिससे उक्त धाराएं निकलती हैं, यज्ञ ही पुष्टिकारक दूध है, और दक्षिणा दोहन पात्रके समान है ॥ ४ ॥

यस्य नेशे यज्ञपतिर्न यज्ञो नास्य दातेशे न प्रतिग्रहीता ।
यो विश्वजिद्विश्वभृद्विश्वकर्मा घर्मं नो ब्रूत यतमश्चतुष्पात् ॥ ५ ॥
येन देवाः स्वरारुरुहुर्हित्वा शरीरममृतस्य नाभिम् ।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं घर्मस्य व्रतेन तपसा यशस्यवः ॥ ६ ॥
इन्द्रो रूपेणाग्निर्वहेन प्रजापतिः परमेष्ठी विराट् ।
विश्वानरे अक्रमत वैश्वानरे अक्रमतानडुह्यक्रमत ।
सोऽदृंहयत सोऽधारयत ॥ ७ ॥

अर्थ-(यज्ञपतिः यस्य न ईशे) यज्ञपति इसका स्वामी नहीं है, (न यज्ञः) न यज्ञ स्वामी है, (न दाता, न प्रतिग्रहीता अस्य ईशे) न दाता और न लेने वाला इसका स्वामी है (यः विश्वजित्) जो सबका जीतनेवाला (विश्व-भृत् विश्वकर्मा) सबका पोषण कर्ता और सबका कर्ता है (घर्मं नः ब्रूत) उस उष्णता देनेवालेका हमको वर्णन कहो, वह (यतमः चतुष्पात्) कैसा चार पांव वाला है ? ॥ ५ ॥

(येन देवाः शरीरं हित्वा) जिसकी सहायतासे देव शरीर त्याग करके (अमृतस्य नाभिं स्वः आरुरुहुः) अमृतके केन्द्ररूप आत्मीय प्रकाश स्थानपर चढ़े थे (घर्मस्य तेन व्रतेन तपसा यशस्यवः) प्रकाशपूर्णके उस व्रतसे और तपस्यासे यशको बढानेकी इच्छा करनेवाले हम (सुकृतस्य लोके गेष्म) सुकृतके लोकमें अपने स्थानको प्राप्त करेंगे ॥ ६ ॥

(इन्द्रः रूपेण अग्निः) प्रभुही अपने रूपमे अग्नि बना है, वही (परमेष्ठी प्रजापतिः) परमात्मा प्रजापालन कर्ता ईश्वर (वहेन विराट्) सब वि-

भावार्थ- यज्ञ, यज्ञपति, दाता अथवा लेनेवाला इनमेंसे कोई भी इसपर शासन नहीं करता है । यह विश्वको जीतनेवाला, विश्वका पोषण करने-वाला और विश्वसंबंधी सब कर्म करनेवाला है । इसके चतुष्पात् स्वरूपके विषयमें ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ॥ ५ ॥

जिसकी सहायतासे शरीर त्यागके पश्चात् अमृतके केन्द्र रूपी आत्म-शक्ति पर स्वामित्व प्राप्त करते हैं, उस प्रकाशको बढानेवाले व्रत और तपसे यश प्राप्त करनेकी इछा करनेवाले हम पुण्यलोकमें अपना स्थान प्राप्त करेंगे ॥ ६ ॥

मध्यमेतदनुडुहो यत्रैष वह आहितः।
एतावदस्य प्राचीनं यावान्प्रत्यङ् समाहितः ॥ ८ ॥
यो वेदानडुहो दोहान्सप्तानुपदस्वतः।
प्रजां च लोकं चाप्नोति तथा सप्तऋषयो विदुः ॥ ९ ॥

श्वको उठानेके कारण विराट् हुआ है। वही (विश्वा-नरे अक्रमत) सब नरोंमें व्यापता है, वही (वैश्वानरे अक्रमत) अग्नि आदिमें फैला है, वही (अनडुहि अक्रमत) रथ खींचनेवाले प्राणि आदियों में फैला है (सः अदृंहयत) वही दृढ करता है और वही (सः अधारयत) वही धारण करता है ॥ ७ ॥

(अनडुहः एतत् मध्यं) इस संचालक का यह मध्य है, (यत्र एष वहः आहितः) जहां यह विश्वका भार रखा है। (एतावत् अस्य प्राचीनं) इतना इसका पूर्व भाग है और (यावान् प्रत्यङ् समाहितः) जितना पिछला भाग रखा है ॥ ८ ॥

(यः अन्-उपदस्वतः अनडुहः सप्त दोहान् वेद) जो विनाशको न प्राप्त होनेवाले इस संचालक के सात प्रवाहों को जानता है (प्रजां च लोकं च आप्नोति) वह प्रजा और लोक को प्राप्त होता है (तथा सप्त ऋषयः विदुः) ऐसा सात ऋषि जानते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ—इन्द्रही अग्नि, परमेष्ठी, प्रजापति और विराट् है, वही सब मनुष्यों और प्राणियोंमें व्याप्त है, वही सर्वत्र है और वही सबको बल देता है ॥ ७ ॥

संचालक देवका यह मध्यभाग है जिसपर इस संसार रूपी शकटका भार रखा है। इस मध्य भागके पूर्वभागमें और पश्चिम भागमें यह संसार रहा है ॥ ८ ॥

जो इस संसार रूपी शकटके संचालक देवके सात दोहन प्रवाहोंको जानता है, वह सुप्रजाको और पुण्यलोकोंको प्राप्त करता है, इसी प्रकार सप्त ऋषि जानते हैं ॥ ९ ॥

पुद्भिः सेदिमव्क्रामन्निरां जङ्घाभिरुत्खिदन् ।
श्रमेणानड्वान्कीलालं कीनाशश्चाभि गच्छतः ॥ १० ॥

द्वादश वा एता रात्रीर्व्रत्या आहुः प्रजापतेः ।
तत्रोप ब्रह्म यो वेद तद्वा अनडुहो व्रतम् ॥ ११ ॥

दुहे सायं दुहे प्रातर्दुहे मध्यंदिनं परि ।
दोहा ये अस्य संयन्ति तान्विद्मानुपदस्वतः ॥ १२ ॥

अर्थ- (पद्भिः सेदिं अवक्रामन्) पांवोंसे भूमिका आक्रमण करता है, (जङ्घाभिः इरां उत्खिदन्) जंघाओंसे अन्न को उत्पन्न करता हुआ (श्रमेण कीलालं) और परिश्रमसे रसको उत्पन्न करता हुआ (अनड्वान् कीनाशः च) बैल और किसान (अभिगच्छतः) चलते हैं ॥ १० ॥

(द्वादश वै एताः रात्रीः) निश्चयसे बारह ये रात्रियां (प्रजापतेः व्रत्याः आहुः) जिनको प्रजापतिके व्रतके लिये योग्य हैं ऐसा कहा जाता है। (तत्र यः ब्रह्म उपवेद) वहां जो ब्रह्मको जानता है (तत् वै अनडुहः व्रतं) वह ही उस विश्वचालकका व्रत है ॥ ११ ॥

(सायं दुहे प्रातः दुहे) मैं सायंकाल और प्रातः काल दोहन करता हूं। (मध्यं दिनं परि) मध्यदिनके समय भी दोहन करता हूं। (ये अस्य दोहाः संयन्ति) जो इसके रस प्राप्त होते हैं (तान् अन्-उपदस्वतः विद्म) उन को अविनाशी हम जानते हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ—पांवोंसे भूमिका आक्रमण करता है, जांघोंसे अन्न उत्पन्न करता है, श्रमसे अन्नरस उत्पन्न करता है; इस प्रकारके बैल और किसान ये दोनों साथ साथ चलते हैं ॥ १० ॥

ये बारह रात्रियां हैं जो प्रजापतिका व्रत करनेके लिये योग्य हैं। उस समयमें ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करना ही विश्वचालक का व्रत है ॥ ११ ॥

प्रातःकाल, मध्यदिनके समय और सायंकाल दोहन होता है इस दोहनसे जो रस प्राप्त होते हैं वही अविनाशी रस होते हैं ॥ १२ ॥

विश्व शकट का स्वरूप।

यह सब संसार अथवा यह सब विश्वरूपी एक बडा शकट है, इस शकटमें सब मनुष्य आदि प्राणी बैठे हैं और अपने मुकामपर जा रहे हैं, इस शकटका वर्णन वेदमें इस प्रकार आता है—

मनो अस्या अन आसीद्यौरासीदुत्तरछदिः।
शुक्रावनड्वाहावास्तां यदयात्सूर्या गृहम् ॥ १० ॥
ऋक्सामाभ्यामभिहितौ गावौ ते सामनावितः।
श्रोत्रं ते चक्रे आस्तां दिवि पन्थाश्चराचरः ॥ ११ ॥
शुची ते चक्रे यात्या व्यानो अक्ष आहतः।
अनो मनस्मयं सूर्यारोहत्प्रयती पतिम् ॥ १२ ॥
ऋ० १० । ८५ । १०—१२

"इसका मनरूपी रथ था,जिस रथका ऊपरला भाग द्युलोक था। दो शुभ्र बैल इसको लगे थे जब सूर्यादेवी पतिके घर जाने लगी ॥ १० ॥ ये बैल ऋचा और सामके मंत्रोंसे प्रेरित हुए थे, श्रोत्र रूपी दो चक्र इस रथको लगे हैं और इसका मार्ग आकाशमें चराचर रूपी है ॥ ११ ॥ ये चक्र शुद्ध हैं इसके मध्यमें रथका अक्ष व्यान वायु है। यह मनोमय रथ है जिस पर से सूर्या देवी पति के घर जाती है ॥ १२ ॥"

यहां इस रथका ऊपरका भाग द्युलोक है ऐसा कहा है अर्थात् इसका नीचेका भाग पृथ्वी है और मध्य भाग अन्तरिक्ष है। शरीरमें मस्तिष्क छाती और पाय ये रथके तीन भाग हैं, विश्वमें तीन लोक तीन भाग हैं। शरीरमें दस इन्द्रियां घोडोंके स्थानपर हैं उसी प्रकार जगत्के विशाल रथको दस देव लगे हैं; जिनसे ये दस इन्द्रियां बनी हैं। जिनको शरीरके रथकी ठीक कल्पना हो सकती है उसको विश्वरूपी विशाल रथकी कल्पना हो सकती है। पिण्ड ब्रह्माण्ड, शरीररथ विश्वरथ, इनकी समानतया तुलना स्थान स्थानपर होती है, जो यहां विचारसे जानकर ब्रह्माण्डके विशाल रथकी कल्पना करना उचित है। इस विश्वरथका संचालक ईश्वर इस सूक्तके वर्णनका विषय है। यही "अनड्वान् अथवा इन्द्र" है।

इन्द्र शब्द ईश्वरवाचक प्रसिद्ध है, परंतु 'अनड्वान्' शब्द ईश्वरवाचक होनेमें पाठकोंको शंका होना स्वाभाविक है। क्योंकि 'अनः शकटं वहति इति अनड्वान्' अर्थात् शकट किंवा गाडी खींचनेवाला बैल ऐसा इसका अर्थ है। जिस प्रकार शकटको बैल

चलाता है उसी प्रकार विश्वरूपी रथको जो चलाता है वह विश्वरथका (अनड्वाह्) बैलही है। विश्वचलानेवाला जो प्रभु है वही इसको खींचता है, किस दूसरेकी शक्ति है इसको चलानेकी? इसलिये प्रथम मंत्रमें कहा है कि "भूमि, अंतरिक्ष, और द्युलोक सब दिशाओंके साथ उसीके आधारसे रहे हैं और वह सब भुवनोंमें प्रविष्ट हुआ है।" (मं० १) इस मंत्रमें जो 'अनड्वान्' शब्द आया है वह सब विश्वको आधार देनेवाले सब विश्वमें व्यापक देवताका वाचक है। यद्यपि 'अनड्वान्' शब्द संस्कृतमें "बैल" का वाचक है तथापि यहां उसका अर्थ 'विश्व-चालक' ऐसा है। कई लोक यहां केवल बैलकीही कल्पना करते हैं और अर्थका अनर्थ करते हैं उनको उचित है कि वे मंत्रके वर्णनकोभी साथ साथ विचार करें और प्रसंगानुकूल अर्थ करके लाभ उठावें।

"जिस रथ का ऊपरका भाग द्युलोक है, मध्यभाग अंतरिक्ष है और निम्न भाग भूमि है, उस रथमें मनुष्यमात्र बैठे हैं, मैं भी उसमें बैठा हूं, और इस रथको चलानेवाले स्वयं प्रभु हैं, ऐसा यह रथ हम सबको अभीष्ट स्थानको पंहुंचा रहा है।" यह अत्यंत श्रेष्ठ काव्यमय कल्पना इस मंत्रमें कही है। अर्जुनका रथ भगवान श्रीकृष्ण चला रहे थे, वस्तुतः "कुरुक्षेत्र" अर्थात् कर्म क्षेत्रमें हरएक मनुष्यका देहरथ परमात्मशक्तिसे ही चलाया जा रहा है। इसी प्रकार विश्वका यह प्रचंड रथ भी उसीकी शक्तिसे चल रहा है। यह कल्पना मनमें लाकर 'विश्वचालक' ईश्वरका ज्ञान प्राप्त करना यहां हरएक मनुष्यको उचित है। इस कल्पनाका जितना अधिक मनन किया जाय उतना परमात्मशक्तिका अधिक ज्ञान प्राप्त हो सकता है और मनुष्य ईश्वरकी अगाध शक्तिको जान सकता है।

जिस प्रकार रथके अनेक विभाग स्वयं अलग अलग होते हुए भी वे भाग रथमें आनेके कारण सबका एक दूसरेके साथ संबंध अटूट हो जाता है और उसमेंसे एक भाग भी ढीला हो जाय तो सब रथ टूट जाता है, इसी प्रकार यह विश्व एक दूसरेसे बंधा है, यद्यपि सूर्य चंद्रादि लोकलोकान्तर एक दूसरेसे बडे अंतर पर हैं तथापि उनका परस्पर वैसाही दृढ संबंध है जैसा रथमें एक चक्रसे दूसरे चक्रके साथ। मनुष्य के शरीरमें भी अनेक अवयव होते हैं, वे अलग अलग होते हुए भी परस्पर संबंधित हैं, उनमेंसे एक अलग हुआ अथवा रोगी हुआ तो सब शरीरपर आपत्ति आजाती है। इसी प्रकार मनुष्य समाजमें ज्ञानी, शूर, व्यापारी और कारीगर ये चार अवयव हैं। ये व्यक्तिशः एक दूसरेसे पृथक् होते हैं, परंतु संघभावसे ऐसे बंधे हुए हैं कि जैसे शरीरमें अवयव। यदि कई व्यक्तियां संघके नियम तोडकर शत्रुके साथ मिलीं तो संघका बल नष्ट होता

है। क्योंकि जैसा व्यक्तिका शरीर रथ है, समाजका शरीर भी रथ है, उसी प्रकार विश्वका शरीर भी एक बडा भारी विशाल रथ है। तीनों स्थानके नियम समान ही हैं। इस रथकी कल्पना करके और इसका मनन करके पाठक बहुत बोध प्राप्त कर सकते हैं। सब विश्व मिलकर एक रथ है, इसमें कोई विभक्त भाग नहीं है, हरएक सजीव या निर्जीव पदार्थ इसी एक रथका अंग है और इसको इसी कल्पनाके साथ यहां रहना चाहिये। इस रथको जो चलाता है वह ही इन्द्र है, वही प्रभु है, वही ईश्वर है-

अनड्वान् इन्द्रः। (मं० २)

इस रथको जो चलानेवाला है वह इन्द्र है, इस जगत् में जो गति आगयी है वह उसकी ही गति है। इस जड जगत् को चेतना देनेवाला है वह एकही ईश्वर है वह क्या करता है, देखिये—

(१) शक्रः त्रयान् अध्वनः विमीते।
(२) भूतं भविष्यत् भुवना दुहानः॥
(३) देवानां सर्वा व्रतानि चरति। (मं० २)

" (१) वह समर्थ तीन मार्गोंको नापता है, (२) भूत, वर्तमान और भविष्य कालके भोग देता है, (३) और देवोंके सब व्रतोंको चलाता है।" ये इसके कार्य हैं।

(१) तीन मार्ग ये हैं— सत्व, रज और तम प्रकृति वालोंके तीन मार्ग होते हैं। किसको किस मार्गसे जाना चाहिये और कैसा जाना चाहिये, वह उसको पता होता है, वही इन तीन मार्गोंका नाप जानता है।

(३) तीन कालोंमें दोहन—भूत वर्तमान और भविष्य कालोंमें यह दोहन करता है और पूर्वोक्त मार्गोंके ऊपरसे चलनेवालोंको भोगके लिये जो चाहिये सो देता है। जिसको जैसा देना योग्य होता है, उसके अनुकूल वैसे उपभोग उसको देता है और उसकी उन्नति वह करता है।

(४) देवोंके व्रतोंको चलाना है-देवोंके व्रत ये हैं, सूर्यका व्रत प्रकाश करनेका है, जलका बहनेका व्रत है, वायुका सुखानेका व्रत है। यह तो बाहरके देवोंके व्रत हैं, शरीरके अंदरके देवोंके ये व्रत हैं, आंखका देखनेका व्रत है, कानका सुननेका व्रत है, प्राणका जीवन देनेका व्रत है, ये सब व्रत आत्माकी शक्तिसे हो रहे हैं।

इसका विचार करनेसे इस परमात्माकी महिमाका पता लग सकता है।

मनुष्योंमें देव।

यह देव जो विश्वरूपी शकटको चलाता है और संपूर्ण भुवनोंमें व्याप्त है वह मनुष्योंमें प्रकट होता है, देखिये—

इन्द्रो मनुष्येषु अन्तः जातः। (मं० ३)

"यह इन्द्र देव मनुष्योंके बीचमें प्रकट होता है।" मनुष्य के हृदयमें वह प्रकट होता है, मनुष्य उसको अपने अंदर देखता और अनुभव करता है, विश्वका ईश्वर मनुष्यके हृदयमें प्रकाशता है। कितना यह सामर्थ्य मनुष्यमें है कि जिसके हृदयमें विश्वका संचालक रहता और प्रकट होता है। मनुष्य को यह अपनी शक्ति जाननी चाहिये। इस ज्ञानका फल देखिये—

(१) अनडुहः विजानन्, (२) यः न अश्नीयात्
(३) सः सुप्रजाः सन् उत्-आरे न सर्पत्। (मं० ३)

"(१) इस विश्वरूपी शकटको चलानेवालेको जो जानता है, (२) वह अपने लिये स्वार्थसे भोग नहीं करता, इस कारण (३) वह सुप्रजा प्राप्त करता हुआ देह पातके नंतर इधर उधर नहीं भटकता," अर्थात् सीधा अपने अमृत धामको पंहुंचता है। इसमें प्रथम परमात्माको जानना, और पश्चात् स्वार्थ छोडकर परोपकारके कार्यमें अपना जीवन समर्पित करना, इन दोनों "ज्ञान और कर्म" का यथावत् अनुष्ठान करनेसे तीसरे मंत्रभागमें कही सिद्धि मिल सकती है। यह ईश्वर किस प्रकार जीवात्माको पवित्र करता हुआ उठाता है, यह चतुर्थ मंत्रमें क्रमपूर्वक कहा है—

(१) पुरस्तात् पवमानः, (२) एनं आप्याययति।
(३) सुकृतस्य लोके अनड्वान् दुहे। (मं० ४)

(१) पहलेसे पवित्रता करता हुआ, (२) ईश्वर इसको बढाता है, पुष्ट करता है और इसकी वृद्धि करता है, (३) पुण्य लोकमें यह इसको तृप्तिके साधन देता है।" परमेश्वरका उपासक होनेसे पवित्र होनेका पहिला लाभ होता है, आत्मिक बलकी वृद्धि होना यह दूसरा लाभ होता है और पुण्य लोक प्राप्त होकर वहां विविध प्रकारकी तृप्ति प्राप्त होना यह तीसरा लाभ है। परमात्मोपासना के यह फल हैं, इस प्रकार पवित्र होता हुआ जीवात्मा उन्नत होता है और अपने निज धामको पंहुंचता है। परमात्मा इस प्रकार सहायक होता है इसी लिये कहा है कि—

विश्वजित्, विश्वभृत्, विश्वकर्मा। (मं० ५)

" वह विश्वको जीतनेवाला, विश्वका पालक और पोषक तथा विश्वसंबंधी सब कर्म करनेवाला है।" इसीलिये उपासक निर्भय होता हुआ उसकी सहायतासे आगे बढता है और अपने प्राप्तव्य स्थानको पंहुचता है। वह स्थान, जहां इसको जाना है, अमृत का केन्द्र है, किस अनुष्ठानसे यह जिवात्मा वहां पंहुचता है, इस विषयका उपदेश षष्ठ मंत्रमें देखने योग्य है—

व्रतेन तपसा यशस्यवः सुकृतस्य लोकं गेष्म। (मं० ६)

"व्रत और तपसे यश प्राप्त करते हुए पुण्य लोक प्राप्त करेंगे।" इस मंत्रभागमें व्रत पालन और तपका आचरण यश और आत्मोन्नतिका साधन है ऐसा स्पष्ट कहा है। विचार करनेसे पता लग जायगा कि यह तो इह परलोककी सद्गति प्राप्त करनेका उत्तम साधन है। इस साधनके करनेसे—

शरीरं हित्वा अमृतस्य नाभिं स्वः आरुरुहुः। (मं. ६)

" शरीर त्यागने के पश्चात् अमृतके केन्द्रमें आत्मप्रकाशसे युक्त होकर ऊपर चढते हैं।" यह है तपका प्रभाव और व्रत पालनका महत्त्व। पाठक इसका महत्त्व जानकर इस मार्गसे अपनी उन्नति सिद्ध कर सकते हैं।

मं०७ में "इन्द्र, अग्नि, प्रजापति, परमेष्ठी, विराट्" आदि नाम उसी एक देवके हैं, ऐसा कहा है, यह बात ऋग्वेदमें मं. १।१६४।४६ में भी अन्य रीतिसे कही है। यही देव सर्वत्र व्यापता है, सबको बलिष्ठ बनाता है और सबका धारण करता है, अर्थात् हरएकको इसका आधार है और हरएकको यह प्राप्य है। किसीको अप्राप्य है ऐसा नहीं है। अष्टम मंत्रका आशय यह है कि यह ईश्वर सबके बीचमें होनेके कारण वह ही सबका मध्य है, इस कारण अन्य विश्व इसके दोनों ओर समान प्रमाणसे है। यह सबके मध्यमें होनेसे यह विश्व इसके दोनों ओर समानतया विभक्त है, यह बात स्वयं सिद्ध हुई है। जिस प्रकार शकटका मध्य दंड दोनों चक्रोंके बीचमेंसे जाता है और उसके पूर्व और पश्चिमकी ओर शकटके दो भाग होते हैं, इसी प्रकार यह ईश्वर विश्वशकटका मध्य दंड है और सब विश्व इसके चारों ओर है।

सप्त ऋषि।

" इस अविनाशी ईश्वरके अथवा आत्माके सात दोहन पात्र हैं और उनमें सात प्रवाह दोहे जाते हैं, इनको सप्त ऋषि करके जानते हैं" (मं. ९) यह नवम मंत्रका

कथन है । ये सात दोहन पात्र अर्थात् दूध दुहनेके बर्तन हमारे सात ज्ञान इंद्रिय हैं । दो आंख रूपका दोहन करते हैं, दो कान शब्द रस का दूध निकालते हैं, दो नाक सुवासका रस लेते हैं और एक मुख मधुरादि रस लेता है । ये सात प्रकृतिमाताका दूध दोहन करनेके बर्तन हैं, येही रस मनुष्य मात्र पीता है और पुष्ट होकर उन्नति प्राप्त करता है । येही सात ऋषि हैं—

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे
सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम् ॥ (यजु० ३४।५५)

" प्रत्येक शरीरमें सप्त ऋषि रहे हैं, ये सात इस शरीर रूपी घरकी प्रमाद न करते हुए रक्षा करते हैं । " यह बात ऊपरवाले मंत्रमें कही है । यहां सात दोहनपात्र जो कहे हैं वेही ये सात ऋषि हैं अथवा ये सात ऋषि इन सात दोहनपात्रोंमें परम माताका दूध निकालते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है । सर्व साधारणतया सप्त ऋषि जो समझे जाते हैं उनका नाम ऊपर दियाही है, परंतु हमारे मनमें एक बात खटकती है वह यह है कि यहां दो आंख, दो कान, दो नाक ये छः ऋषि माने हैं, परंतु वस्तुतः ये अर्थात् दो आंख एकही प्रकार का ज्ञान प्राप्त करते हैं इसलिये इनको भिन्न मानना अयुक्त है । यद्यपि गिनतीके लिये ये सात होते हैं तथापि वस्तुतः ये सात भिन्न हैं ऐसा नहीं माना जा सकता । मंत्रमें सात ऋषि भिन्न माने हैं और उनके दोहन पात्र भी भिन्न माने हैं अर्थात् उनमें दुहा जानेवाला दूध भी भिन्न ही है । यह बात ऊपर माने सप्त पात्र और सप्त ऋषियोंमें सिद्ध नहीं होती इसलिये इनको अन्य स्थानमें ढूंढना चाहिये । हमारे मत से सप्तऋषि और सप्त दोहन पात्र ये है—

१ आत्मा — यह ऋषि परमात्मासे 'आनन्द' रूपी दूध अपनमें दुहता है ।
२ बुद्धि (संज्ञान)—यह ऋषि परमात्मासे 'चित्' अथवा वि-ज्ञान रूपी दूध अपने अन्दर निचोडता है ।
३ अहंकार — यह ऋषि परमात्मासे 'मैं' पनका भाव रूपी दूध निकालता है ।
४ मन — यह ऋषि उसीसे 'मनन शक्ति' रूप दूध दुहता है ।
५ प्राण— यह ऋषि वहांसे ही ' जीवन ' रूपी दूध निकालता है ।
६ ज्ञानेन्द्रिय (संघ)—यह ऋषि वहांसे 'विषयज्ञान' रूपी दूध निचोडता है ।
७ कर्मेन्द्रिय (संघ)-यह ऋषि उसीसे 'कर्मशक्ति' रूप दूध निकालता है ।

ये सात ऋषि एक दूसरे से भिन्न हैं, इनके पास विभिन्न दोहन पात्र हैं और प्रत्येक

का निकाला हुआ दूधभी भिन्न है, और उसके सेवनसे पुष्टिभी भिन्न भिन्न प्रकारकी होती है। इस लिये ये सात ऋषि और ये सात दोहन पात्र हैं ऐसा मानना यहां उचित है। पाठक इस विषयका अधिक विचार करें और उचित बोध प्राप्त करें।

बैल और किसान।

दशम मंत्रमें बैल और किसान के रूपक से बडा बोधप्रद उपदेश दिया है, इसका व्यक्त अर्थ यह है— "पांवोंसे भूमिपर से चलता है, जांघोंसे अन्न उत्पन्न करता है, परिश्रमसे रस बनाता है इस प्रकार बैल और किसान बडा कार्य करते हैं।" यह तो खेतीमें प्रत्यक्ष दिखता है। परंतु इस मंत्रमें केवल इतनाही कहना मुख्य उद्देश नहीं है क्योंकि यहां जिस किसान का वर्णन किया है वह " क्षेत्र-ज्ञ " अर्थात् जीवात्मा है। भगवद्गीतामें इस का नाम 'क्षेत्रज्ञ' आया है। खेतको जाननेवाला किसान जिस प्रकार खेतसे लाभ उठाता है,उसी प्रकार इस शरीर रूपी कार्यक्षेत्र को यथावत् जानने-वाला यह जीवात्मारूपी किसान इस शरीररूपी कर्मक्षेत्र में शुभ विचारोंकी खेती करके बहुत लाभ प्राप्त करता है। इसकी खेतीमें हलचलाने आदिकी सहायता करनेवाला परमेश्वर है जिसका वर्णन इसी सूक्तमें 'अनड्वान्' शब्दसे हुआ है। इस प्रकार यह इसका क्षेत्र है और यह खेती है। किसान इस खेती का उपभोग करनेवाला है। पाठक इस उत्तम रूपकका विचार करके योग्य बोध प्राप्त करें।

बारह रात्री।

ग्यारहवें मंत्रमें " प्रजापतिका व्रत करनेकी बारह रात्रीयां हैं " ऐसा कहा है। रात्री अन्धकारकी द्योतक है, अन्धकार अज्ञान का वाचक है, इस लिये यहां बारह गूढ अंधकारकी रात्रियोंका तात्पर्य बारह प्रकारके गाढ अज्ञान का है। हरएकके अंदर यह अज्ञान रहता है और जिस प्रमाणसे यह दूर होता है उस प्रमाणमें मनुष्यकी योग्य-ता बढती है। जब बारह प्रकारके अज्ञान दूर होते हैं तब यह पुरुष विशुद्धात्मा होता है और मोक्षका भागी होता है। (१) परमात्मा,(२) जीवात्मा, (३) बुद्धि, (४) अहं कार, (५) मन, (६) प्राण, (७) ज्ञानेंद्रिय, (८) ज्ञानेंद्रियोंके विषय,(९) कर्मेन्द्रिय, (१०) कर्मेन्द्रियोंके विषय, (११) शरीर, (१२) विशाल जगत्. इन बारह क्षेत्रोंके संबंधमें बारह अज्ञान, मिथ्याज्ञान, विपरीत ज्ञान अथवा जो कुछ कहा जाय मनुष्यमें रहता है, यह सब हटना चाहिये और इनके विषयमें ज्ञान, विज्ञान,संज्ञान, और प्रज्ञान

प्राप्त होना चाहिये। प्रत्येक मनुष्य विचार करके जाने कि अपने में इन अज्ञानोंमेंसे कौनसा अज्ञान कितना है और कौनसा विज्ञान कितना प्राप्त किया गया है। इसकी पडताल करनेसे पता लग जायगा कि जो मार्ग आक्रमण करना है वह कितना हो चुका है और कितना अभी चलनेका बाकी है। यह परीक्षा ही इस मंत्रने ली है ऐसा पाठक समझें और इस दृष्टीसे अपनी परीक्षा करें। इससे बडा आत्मसुधार हो सकता है।

व्रत।

जिस व्रतसे उक्त प्रकारका, बारह प्रकारका अज्ञान दूर हो सकता है वह व्रत इसी ग्यारहवें मंत्रके उत्तरार्धमें कहा है—

यः ब्रह्म उपवेद तत्० व्रतम्। (मं० ११)

"जो ज्ञान प्राप्त करता है वह उसका व्रत है।" यही व्रत मनुष्यकी उन्नति करता है। ज्ञान प्राप्त करना, अर्थात् पूर्वोक्त बारह प्रकारका अज्ञान और मिथ्याज्ञान दूर करनेके लिये बारह प्रकारका ज्ञान और विज्ञान प्राप्त करना चाहिये। यह व्रत पालन करनेसे इसके अज्ञानका मल धोया जाता है और यह परिशुद्ध होता जाता है। इस लिये यह व्रत जहांतक हो सके मनुष्यको करना चाहिये।

बारहवें मंत्रमें यही अनुष्ठान का स्वरूप कहा है-"मैं प्रातः काल, दोपहरके समय और सायंकालके समय इसका दोहन करता हूं।" यह दोहन क्या है, इसके दोहन पात्र कौनसे हैं और इसके दोहन करनेवाले कौन हैं, इसका वर्णन इसी सूक्तमें इससे पूर्व कहा जा चुका है। यही व्रत है, परमात्मा से उपासना द्वारा ज्ञान और आनंद प्राप्त करना ही यह दोहन है। जो जितना यह दूध पीयेगा वह उतना पुष्ट होगा। "अविनाशी तत्त्वसे यह दोहन होता है यह जो जानता है,"उसीको इस व्रतसे लाभ हो सकता है, यह अंतिम कथन है। यह निःसंदेह सत्य है। पाठक इस प्रकार इस सूक्त का मनन करें और लाभ उठावें।

रोहिणी वनस्पति।

(१२)

(ऋषिः—ऋभुः। देवता-वनस्पतिः)

रोहण्यसि रोहण्यस्थ्नश्छिन्नस्य रोहणी।
रोहयेदमरुन्धति ॥ १ ॥
यत्ते रिष्टं यत्ते द्युत्तमस्ति पेष्ट्रं त आत्मनि।
धाता तद्भद्रया पुनः सं दधत्परुषा परुः ॥ २ ॥
सं ते मज्जा मज्ज्ञा भवतु समु ते परुषा परुः।
सं ते मांसस्य विस्रस्तं समस्थ्यपि रोहतु ॥ ३ ॥

अर्थ— हे औषधि! तू (रोहणी असि) बढानेवाली है, तू (छिन्नस्य अस्थ्नः रोहणी) टूटी हुई हड्डीको पूर्ण करने वाली है। हे (अ-रुन्धति) प्रतिबन्ध न करनेवाली औषधि! (इदं रोहय) इसको भर दे ॥ १ ॥

(यत् ते रिष्टं) जो तेरा अंग चोट खाये हुए है, (यत् ते द्युत्तं) जो अंग जला हुआ है, और जो (ते आत्मनि पेष्ट्रं अस्ति) तेरे अपने अन्दर पीसा हुआ है, (धाता भद्रया) पोषणकर्ता उस कल्याण करनेवाली औषधिसे (तत परुः परुषा पुनः सन्दधत्) उस जोडको दूसरे जोडसे फिर जोड दे ॥ २ ॥

(ते मज्जा मज्ज्ञा संरोहतु) तेरी मज्जा मज्जासे बढे। (उ ते परुषा परुः सं) और तेरी पोरुसे पोरु बढ जावे। (ते मांसस्य विस्रस्तं सं) तेरे मांसका छिन्न भिन्न हुआ भाग बढ जावे। (अस्थि अपि सं रोहतु) हड्डी भी जुडकर ठीक हो जावे ॥ ३ ॥

भावार्थ-यह रोहणी नामक औषधी है, जो टूटे हुए शरीरके अवयव को बढाती है। इसको रोहिणी और अरुंधती भी कहते हैं ॥ १ ॥

शरीरको चोट लगी हो, अंग जला हो, अवयव पीसा गया हो, तोभी इस औषधिसे हरएक जोड पुनः पूर्ववत् होता है ॥ २ ॥

इस औषधिसे शरीरकी मज्जा, पोरु, मांस, और अस्थि बढे और अवयव पूर्व होंगे ॥ ३ ॥

मज्जा मज्ज्ञा सं धीयतां चर्मणा चर्म रोहतु ।
असृक्ते अस्थि रोहतु मांसं मांसेन रोहतु ॥ ४ ॥
लोम लोम्ना सं कल्पया त्वचा सं कल्पया त्वचम् ।
असृक्ते अस्थि रोहतु च्छिन्नं सं धेह्योषधे ॥ ५ ॥
स उत्तिष्ठ प्रेहि प्र द्रव रथः सुचक्रः सुपविः सुनाभिः ।
प्रति तिष्ठोर्ध्वः ॥ ६ ॥
यदि कर्तं पतित्वा संशश्रे यदि वाश्मा प्रहृतो जघान ।
ऋभू रथस्येवाङ्गानि सं दधत्परुषा परुः ॥ ७ ॥

अर्थ— (मज्जा मज्ज्ञा सं धीयतां) मज्जा मज्जासे मिल जावे (चर्मणा चर्म रोहतु) चर्मसे चर्म बढे । (ते असृक् अस्थि रोहतु) तेरा रुधिर और हड्डी बढ जावे, और (मांसं मांसेन रोहतु) मांस मांससे बढ जावे ॥ ४ ॥

हे औषधे ! (लोम लोम्ना सं कल्पय) रोमको रोमके साथ जमा दे । (त्वचा त्वचं संकल्पय) त्वचाको त्वचाके साथ मिलादे । (ते असृक् अस्थि रोहतु) तेरा रुधिर और हाड बढे, (छिन्नं संधेहि) टूटा हुआ अंग जोड दे ॥ ५ ॥

(सः त्वं उत्तिष्ठ, प्रेहि) वह तूं उठ, आगे चल, अब तू (सुचक्रः सुपविः सुनाभिः रथः) उत्तम चक्रवाले उत्तम लोहेकी पट्टीवाले,उत्तम नाभी वाले रथके समान (प्रद्रव) दौड और (उर्ध्वः प्रतितिष्ठ) ऊंचा खडा रह ॥ ६ ॥

(यदि कर्तं पतित्वा संशश्रे) यदि आरा गिरकर घाव हुआ है, (यदि वा प्रहृतः अश्मा जघान) अथवा यदि फेंके हुए पत्थर से घाव हुआ है तो (ऋभुः रथस्य अंगानि इव) सुतार रथ के अवयवोंको जोडता है उस प्रकार (परुषा परुः संदधत्) पोरुसे पोरु जुड जावे ॥ ७

भावार्थ—मज्जा, चर्म, रुधिर, हड्डी और मांस भी इससे बढता है ॥४॥
रोम, त्वचा, रुधिर तथा टूटा अवयव इसे बढता है ॥ ५ ॥

हे रोगी ! तू इस औषधिसे आरोग्य को प्राप्त कर चुका है, अब तू उठ, आगे चल, रथके समान दौड, खडा हो कर चल ॥ ६ ॥

आरा गिरकर, या पत्थर लगकर शरीरपर घाव हुआ हो, तो भी इस औषधिसे सब अवयव पूर्ववत् आरोग्यपूर्ण होते हैं ॥ ७ ॥

रोहिणी औषधि।

वैद्यग्रंथोंमें इस रोहिणी औषधिका नाम "मांसरोहिणी" लिखा है, इसके नाम ये हैं—

अग्निरुहा, वृत्ता, चर्मकषा, वसा, मांसरोही, प्रहारवल्ली, विकषा, वीरवती।

इसके गुण—

स्यान्मांसरोहिणी वृष्या सरा दोषत्रयापहा।

"मांस रोहिणी वीर्यवर्धक और त्रिदोषका नाश करनेवाली है।" और—

शीता कषाया कृमिघ्नी कण्ठशोधनी रुच्या,
वातदोषहारी च। (रा० नि० व० १२)

"यह औषधि शीतवीर्य, कषाय रुची वाली, कृमिदोष दूर करनेवाली ' कण्ठदोष हटानेवाली, रुची बढानेवाली, और वात दोष दूर करनेवाली है।"

इस सूक्तमें 'रोहिणी' के नाम 'भद्रा और अरुंधती' आये हैं परंतु वैद्यशास्त्रग्रंथोंमें ये नाम एकही वनस्पतिके नहीं है। वैद्यग्रंथोंमें इसका नाम 'मांस-रोहि, अथवा मांस रोहिणी' कहा है, यह शब्द इस सूक्तकी ही बात सिद्ध करता है। मांसादि सप्त धातु बढानेवाली यह औषधि है ऐसा इस सूक्तने कहा है और वैद्यक ग्रंथ मांसको बढाती है ऐसा कहते हैं, इसमें बहुत विरोध नहीं है, क्योंकि जिससे रुधिर और मांस बढता है उससे अन्य धातु भी बढते ही है, क्योंकि अन्य धातु रुधिरके आगे स्वयं बनते हैं।

इसके अतिरिक्त इसको ' प्रहारवल्ली ' वैद्यक ग्रंथोंने कहा है। प्रहारवल्ली का अर्थ है घाव ठीक करनेवाली औषधि, यह वर्णन भी इस सूक्तके कथनसे संगत होता है। सातवां मंत्र यही वर्णन कर रहा है। इसका नाम वैद्यग्रंथोंमें ' वीरवती ' अर्थात् ' वीरों वाली ' है। वीर जिसके पास जाते हैं। इस औषधिके पास वीर इसीलिये जाते हैं कि यह शस्त्रास्त्रोंके घावों को अति शीघ्र ठीक करती है। महाभारतमें हम पढते हैं कि दिन भर युद्ध करनेवाले वीरोंके शरीर बाणोंके आघातसे व्रणयुक्त हो जाते थे, पश्चात् वे वीर रात्रीके समय कुछ औषधी लगाकर सो जाते थे, जिससे उनके शरीर सवेरेतक ठीक हो जाते थे और वे पुनः युद्ध करते थे। संभवतः वह वीरोंके पास रहनेवाली वल्ली यही "रोहिणी" ही होगी। इसीलिये इसका नाम वैद्यक ग्रंथोंने 'वीरवती' लिखा है।

यह सूक्त अत्यंत सरल है। पाठक इस वैद्यक ग्रंथोंके वर्णनके साथ इस सूक्तको पढें और लाभ उठावें। ज्ञानी वैद्योंको उचित है कि वे इस औषधिकी खोज करके प्रकाशित करें ताकि वारंवार घावोंसे दुःख भोगने वालों को लाभ प्राप्त होनेकी संभावना हो जावे॥

हस्तस्पर्शसे रोगनिवारण ।

(१३)

(ऋषि—शंतातिः । देवता—चन्द्रमाः, विश्वेदेवाः)

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः । उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः ॥१॥
द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः । दक्षं ते अन्य आवातु व्य१न्यो वातु यद्रपः ॥२॥

आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद्रपः ।
त्वं हि विश्वभेषज देवानां दूत ईयसे ॥ ३ ॥

अर्थ- हे (देवाः) देवो ! हे देवो ! जो (अवहितं) अवनत होता है उसको (पुनः उन्नयथ) तुम फिर उठाते हो । हे देवो ! हे देवो ! (उत आगः चक्रुषं) जो पाप करता है उसको भी (पुनः जीवयथाः) तुम फिर जिलाते हो ॥ १ ॥

(द्वौ इमौ वातौ) यह दोनों वायु हैं, एक (आ सिन्धोः) सिन्धु देश तक जाता है और दूसरा (आ परावतः) बाहर दूर स्थान तक जाता है। इनमेंसे (अन्यः ते दक्षं आवातु) एक तेरे लिये बल बढावे, (यत् रपः अन्यः विवातु) जो दोष है उसको दूसरा बाहर निकाल देवे ॥ २ ॥

हे (वात, भेषजं आवाहि) वायो ! तू रोगनाशक रस ला, हे (वात, यत् रपः, विवाहि) वायो ! जो दोष है, निकाल दे । (हि) क्योंकि, हे (विश्व-भेषज) सर्व रोगके निवारक ! (त्वं देवानां दूतः ईयसे) तू देवोंका दूत होकर चलता है ॥ ३ ॥

भावार्थ— देवता लोग गिरे हुए मनुष्यको भी फिर उठाते हैं और जो पाप करते हैं उसको भी फिर सुधारते हैं ॥ १ ॥

दो प्राण वायु हैं, एक फेंफडोंके अन्दर रुधिरतक जाने वाला प्राण है और दूसरा बाहर जानेवाला अपान है । पहला बल बढाता है और दूसरा दोषोंको हटाता है ॥ २ ॥

वायु रोगनाशक औषध लाता है और शरीरमें जो दोष होते हैं उन दोषोंको हटाता है । यह सब रोगोंका निवारण करनेवाला है, मानो यह देवोंका दूतही है ॥ ३ ॥

त्राय॑न्तामि॒मं दे॒वास्त्राय॑न्तां म॒रुतां॑ ग॒णाः ।
त्राय॑न्तां॒ विश्वा॑ भू॒तानि॒ यथा॒यम॑र॒पा अस॑त् ॥ ४ ॥

आ त्वा॑गमं॒ शंता॑तिभि॒रथो॑ अरि॒ष्टता॑तिभिः ।
दक्षं॑ त उ॒ग्रमाभा॑रिषं॒ परा॒ यक्ष्मं॑ सुवामि ते ॥ ५ ॥

अ॒यं मे॒ हस्तो॒ भग॑वान॒यं मे॒ भग॑वत्तरः ।
अ॒यं मे॑ वि॒श्वभे॑षजो॒ऽयं शि॒वाभि॑मर्शनः ॥ ६ ॥

अर्थ- (देवाः इमं त्रायन्तां) देव इसकी रक्षा करें, (मरुतां गणाः त्रायन्तां) मरुतोंके गण इसकी रक्षा करें। (विश्वा भूतानि त्रायन्तां) सब भूत इसकी रक्षा करें (यथा अयं अरपाः असत्) जिससे यह नीरोग हो जाय ॥ ४ ॥

(शं-तातिभिः) शांतिदायकोंके साथ और (अथो अ-रिष्ट-तातिभिः) विनाशनिवारक गुणोंके साथ (त्वा आ आगमं) तुझको मैं प्राप्त करता हूं। (ते उग्रं दक्षं आ अभारिषं) तेरे लिये उग्र बल मैं लाया हूं। और (ते यक्ष्मं परा सुवामि) तेरे रोगको मैं दूर करता हूं ॥ ५ ॥

(अयं मे हस्तः भगवान्) यह मेरा हाथ भाग्यवान् है (अयं मे भगवत्तरः) यह मेरा हाथ अधिक भाग्यशाली है। (अयं मे विश्वभेषजः) यह मेरा हाथ सब रोगोंका निवारक है। (अयं शिव-अभिमर्शनः) यह मेरा हाथ शुभमंगल बढानेवाला है ॥ ६ ॥

भावार्थ— सब देव, मरुद्गण, तथा सब भूत इस रोगीकी रक्षा करें और यह सत्वर नीरोग हो जावे ॥ ४ ॥

हे रोगी ! मैं तेरे पास कल्याण करनेवाले और विनाशको दूर करनेवाले सामर्थ्योंके साथ आगया हूं। अब मैं तेरे अन्दर बल भर देता हूं और तेरा रोग दूर करता हूं ॥ ५ ॥

यह मेरा हाथ सामर्थ्यशाली है और मेरा दूसरा हाथ तो अधिक ही प्रभावशाली है। मेरे इस एक हाथमें सब रोग दूर करनेवाली शक्तियां हैं, और इस दूसरे हाथमें मंगल करनेका धर्म है ॥ ६ ॥

हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी ।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभि मृशामसि ॥ ७ ॥

अर्थ- (दश शाखाभ्यां हस्ताभ्यां) दशशाखाओंवाले दोनों हाथोंके साथ (जिह्वा वाचः पुरोगवि) जिह्वा वाणीको आगे चलानेवाली करता हूं। (ताभ्यां अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां) उन आरोग्यदायक दोनों हाथोंसे (त्वा आभि-मृशामसि) तुझको स्पर्श करते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ- दस अंगुलियोंके साथ इन मेरे दोनों हाथोंसे तुझे स्पर्श करता हूं और मेरी जिह्वा वाणीसे प्रेरणाके शब्द बोलती है। इस प्रकार नीरोगता करनेवाले इन मेरे दोनों हाथोंसे तुझे स्पर्श करता हूं ॥ ७ ॥

देवोंकी सहायता।

पहिला मंत्र देवोंकी सहायताका वर्णन करता है-"गिरे हुए मनुष्यको भी देव फिर उठाते हैं, एक वार पाप करनेसे जो मरनेकी अवस्थातक पंहुचा है उसको भी देव फिर जीवन देते हैं।" (मं० १) यह प्रथम मंत्रका कथन मनुष्यको बहुत सहारा देनेवाला है। मनुष्य किसी प्रलोभन में फंस कर पाप करता है, पापसे अस्वस्थ होता है, रोगी होता है और क्षीण होने तक अवस्था आती है,मृत्यु आनेकी भी संभावना हो जाती है। ऐसी अवस्थामें पंहुचा हुआ मनुष्य देवताओंकी सहायतासे नीरोग होता है और पुनः दीर्घ आयुष्य प्राप्त कर सकता है। ऐसी अवस्थामें सहायता देनेवाले देव कौनसे हैं? मृत्तिका, जल, अग्नि, सूर्यकिरण, वायु, विद्युत्, औषधि, अन्न, रस, वैद्य आदि देवताएं हैं कि जिनकी सहायतासे मनुष्य रोगोंको दूर करता है और दीर्घ आयुष्य प्राप्त कर सकता है। ये सब देव मनुष्यके सहायक हैं। मनुष्य चिन्तामें न रहे, बीमार होनेपर अत्यधिक चिंता न करे। क्यों कि चिन्ता एक भयंकर व्याधि है। इस चिन्ताको दूर करनेके लिये इस मंत्रके उपदेशपर विश्वास रखे कि पूर्वोक्त देवताओंकी सहायतासे नीरोगता प्राप्त हो सकती है। देव हमारे चारों ओर हैं और वे मनुष्य मात्र की तथा प्राणिमात्रकी सहायता करते हैं, उनकी सहायतासे हीन अवस्थामें पंहुंचा हुआ मनुष्य उन्नत हो सकता है और रोगी भी नीरोग हो सकता है।

प्राणके दो देव।

शरीरमें प्राणके दो देव हैं जो यहां बडा महत्त्व पूर्ण कार्य कर रहे हैं। प्राण और

अपान ये दो देव हैं, एक प्राण हृदयके अंदर तक जाता है और वहां अपनी प्राण शक्ति स्थापन करके मृत्युको हटाता है और दूसरा अपान है जो शरीरके मलोंको दूर करता हुआ विविध रोग बीजोंका नाश करता है। पहिला बल बढाता है और दूसरा दोषोंको दूर करता है, इस रीतिसे ये दोनों देव इस शरीरकी रक्षा करते हैं और आरोग्य बढाते हैं। यह द्वितीय मंत्रका कथन स्मरण रखने योग्य है। यहां प्राण अपान, अथवा श्वास और उच्छ्वास ये भी दो देव हैं ऐसा माना जा सकता है।

देवोंका दूत।

तृतीय मंत्रका कथन है कि "प्राण रोग निवारक शक्ति शरीरमें लाता है और अपान सब दोषोंको दूर करता है, इस प्रकार यह वायु सब रोगोंको दूर करनेवाला देवोंका दूत ही है।" (मं० ३) अपने शरीरमें सब इंद्रियां देवताओंके अंश हैं, उनकी सेवा यह प्राण पूर्वोक्त प्रकार करता है, जीवन शक्तिकी प्रत्येक अवयवमें स्थापना करना और प्रत्येक स्थान के दोष दूर करना यह दो प्रकारकी सेवा इस शरीर रूपी देवमंदिरमें प्राण करता है। इस विचारसे प्राण का महत्त्व जानना चाहिये।

चतुर्थ मंत्रमें " सब देव, सब मरुत् और सब भूतगण इस रोगकी सहायता करें " इस विषयकी प्रार्थना है। इसका आशय पूर्वोक्त विचार से स्वयं स्पष्ट होनेवाला है।

हस्तस्पर्शसे आरोग्य।

हस्तस्पर्शसे आरोग्य प्राप्त करनेकी विद्या आजकल ' मेस्मेरिज्म ' के नामसे प्रसिद्ध है। यह ' मेस्मेरिज्म ' शब्द ' मेस्मर ' नामक युरोपीयन के नामसे बना है, यह विद्या उसने प्रथम युरोपमें प्रकाशित की, इसलिये इस विद्याको उसीका नाम उसका गौरव करनेके लिये दिया गया। म० मेस्मर साहबने पचास वर्ष पूर्व युरोपमें इस विद्याका प्रचार किया, परंतु पाठक इस सूक्तमें ' हस्तस्पर्श से आरोग्य ' प्राप्त करनेकी विद्या देख सकते हैं, अर्थात् यह विद्या वेदने कई शताब्दियां पहलेही प्रकाशित की थी और ऋषिमुनी इसका अभ्यास करके रोगियोंको आरोग्य देते थे। हस्तस्पर्शसे, दृष्टिक्षेपसे, शब्दके कथन मात्रसे, तथा इच्छामात्रसे आरोग्य देनेकी शक्ति योगाभ्याससे मनुष्य प्राप्त कर सकता है, इसके अनुष्ठानकी विधियां वेदादि आर्यशास्त्रों में लिखी हैं। इस विद्याको पाठक इस सूक्तके मं० ५ से ७ तक देख सकते हैं। मनको एकाग्र करना और अपनी सब शक्ति मनमें संग्रहीत करना तथा जिस कार्य में चाहे उसका उपयोग करना यह जिसको साध्य है वह मनुष्य इस से लाभ उठा सकता है, अर्थात् इतनी अनुष्ठान-

से सिद्धि पहिले प्राप्त करनी चाहिये, पश्चात् हस्तस्पर्शसे आरोग्य प्राप्त करनेकी सामर्थ्य प्राप्त हो सकती है।

रोगीपर प्रयोग करनेके समय प्रयोग करने वाला कैसा भाषण करे यही बात इन तीन मंत्रोंमें कही है, यह अब देखिये-

" हे रोगी मनुष्य ! मेरे अंदर शांति और समता स्थापन करनेका गुण है और दोषों तथा विनाशको दूर करनेका भी गुण है। इन गुणोंके साथ मैं तुम्हारे समीप आगया हूं, अब तू विश्वास धारण कर कि, मैं अपने पहिले सामर्थ्यसे तेरे अंदर बल भर देता हूं और अपने दूसरे गुणसे तेरा रोग समूल दूर करता हूं। इस रीतिसे तू निःसंदेह नीरोग और स्वस्थ हो जायगा ॥ (मं०५)

" हे रोगी मनुष्य ! देख ! यह मेरा हाथ बडा प्रभाव शाली है, और यह दूसरा हाथ तो उससे भी अधिक सामर्थ्यवान है। यह मेरा हाथ मानो संपूर्ण औषधियों की शक्तियोंसे भरपूर है और यह दूसरा हाथ तो निःसंदेह मंगल करने वाला है। अर्थात् इसके स्पर्शसे तू निःसंदेह नीरोग और बलवान बनेगा। (मं ६)

"हे रोगी मनुष्य ! ये दस अंगुलियोंके साथ मेरे दोनों हाथ संपूर्ण रोग दूर करनेवाले हैं। इनसे तुमको अब मैं स्पर्श करता हूं, इस स्पर्शसे तेरा सब रोग दूर होगा और तू पूर्ण नीरोग हो जा एगा। तू अब स्वास्थ्य पूर्ण हुआ है, यह मैं अपने सामर्थ्यवान् और प्रभावशाली शब्दोंसे भी तुम्हें कहता हूं। (मं० ७)"

मंत्रोंसे निकलनेवाला आशय अधिक स्पष्ट करनेके लिये कुछ विशेष शब्दोंका भी उपयोग ऊपर लिखे भावार्थमें किया है। इससे पाठकोंको पता लग जायगा कि इसका प्रयोग रोगीके ऊपर किस विधिसे किया जाता है। प्रयोग करनेवालेको अपना मन एकाग्र करना चाहिये और अपनी मानसिक शक्ति द्वारा रोगीके मनको चालना देनी चाहिये। रोगीके मनको प्रभावित करनेसे और अपने पवित्र शब्दों द्वारा रोगीके मनमें विश्वास उत्पन्न करनेसे ही यह बात सिद्ध होती है। जो किसीपर भी विश्वास नहीं रखते वे अविश्वासी लोग इससे लाभ नहीं प्राप्त कर सकते।

आत्मज्योतिका मार्ग।

(१४)

(ऋषिः— भृगुः । देवता-आज्यं, अग्निः)

अजो ह्य१ग्नेरजनिष्ट शोकात्सो अपश्यज्जनितारमग्रे ।
तेन देवा देवतामग्र आयन्तेन रोहान्रुरुहुर्मेध्यासः ॥ १ ॥
क्रमध्वमग्निना नाकमुख्यान्हस्तेषु बिभ्रतः ।
दिवस्पृष्ठं स्व१र्गत्वा मिश्रा देवेभिराध्वम् ॥ २ ॥

अर्थ-(हि अग्नेः शोकात् अजः अजनिष्ट) क्यों कि परमात्मारूप विश्व प्रकाश अग्निके तेजसे अजन्मा जीवात्मा प्रकट हुआ है। (सः अग्रे जनितारं अपश्यत्) उसने पहिले अपने उत्पादक प्रभुको देखा, (अग्रे तेन देवाः देवतां आयन्) प्रारंभमें उसीकी सहायतासे देव देवत्वको प्राप्त हुए, (तेन मेध्यासः रोहान् रुरुहुः) उससे पवित्र बनकर उच्च स्थानोंको प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

(उख्यान् हस्तेषु बिभ्रतः) अन्नोंको हाथोंमें लिये हुए तुम (अग्निना नाकं क्रमध्वम्) अग्निकी सहायतासे स्वर्गको प्राप्त करो। (दिवः पृष्ठं स्वः गत्वा) द्युलोकके ऊपर जाकर आत्मिक ज्योतिको प्राप्त करके (देवेभिः मिश्राः आध्वं) देवोंके साथ मिलकर बैठो ॥ २ ॥

भावार्थ—परमात्माके जगत्प्रकाशक तेजसे यह अजन्मा जीवात्मा प्रकट हुआ। उसी समय उसने अपने पिताका दर्शन किया। देव उसीकी शक्ति प्राप्त करके देवत्वसे युक्त होते हैं। जो उसकी उपासना करते हैं वे पवित्र होते हुए अनेक उच्च अवस्थाओंको प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

अन्नका दान करते हुए तुम इस अग्निकी सहायता से स्वर्गका मार्ग आक्रमण करो। और वहांसे भी अधिक उच्च भूमिकामें जाकर आत्मिक ज्योतिके स्थानको प्राप्त होकर वहां देवोंके साथ बैठो ॥ २ ॥

पृष्ठात्पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम् ।
दिवो नाकस्य पृष्ठात्स्व१र्ज्योतिरगामहम् ॥ ३ ॥
स्व१र्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी ।
यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे ॥ ४ ॥
अग्ने प्रेहि प्रथमो देवतानां चक्षुर्देवानामुत मानुषाणाम् ।
इयक्षमाणा भृगुभिः सजोषाः स्व१र्यन्तु यजमानाः स्वस्ति ॥ ५ ॥

अर्थ– (अहं पृथिव्याः पृष्ठात् अन्तरिक्षं आरुहं) मैं पृथ्वीके पृष्ठभागसे अन्तरिक्ष लोकको चढ गया, (अन्तरिक्षात् दिवं आरुहं) अन्तरिक्षसे द्युलोकपर चढ गया। (नाकस्य दिवः पृष्ठात्) सुखमय द्युलोक के पृष्ठ भागसे (अहं स्वः ज्योतिः अगाम्) मैंने आत्मिक ज्योतिको प्राप्त किया॥३॥

(ये सुविद्वांसः) जो उत्तम विद्वान् (विश्वतो धारं यज्ञं वितेनिरे) जो सब प्रकारकी धारणाशक्ति देनेवाले यज्ञको फैलाते हैं वे (स्वः यन्तः द्यां न अपेक्षन्ते) आत्मिक ज्योतिको प्राप्त करनेवाले स्वर्ग सुखकी अपेक्षा नहीं करते, वे (रोदसी आरोहन्ति) पृथ्वी और स्वर्गके ऊपर चढ जाते है ॥४॥

हे (अग्ने) ! हे प्रकाशक ! (देवतानां प्रथमः प्रेहि) तूं देवोंमें पहिला हमें प्राप्त हो। तू (देवानां उत मानुषाणां चक्षुः) देवों और मनुष्यों का चक्षुही है। (इयक्षमाणाः सजोषाः यजमानाः) यज्ञ करनेवाले और समान प्रीतिभाव रखनेवाले यजमान (भृगुभिः स्वः स्वस्ति यन्तु) तपस्वियोंके साथ आत्मतेजको सुखसे प्राप्त करें ॥ ५ ॥

भावार्थ–पृथ्वीसे अन्तरिक्ष, अन्तरिक्षसे द्युलोक, द्युलोकसे ऊपर आत्मिक प्रकाशका स्थान है। मैंने इसी क्रमसे इन लोकोंको प्राप्त किया है ॥ ३ ॥

जो ज्ञानी विद्वान् विश्वधारक यज्ञको फैलाते हैं वे पृथ्वीसे द्युलोक तक ऊपर चढते हैं और वहांसे भी ऊपर आत्मिक प्रकाशका स्थान प्राप्त करते हुए किसी अन्य सुखकी अपेक्षा नहीं करते ॥ ४ ॥

हे सर्व प्रकाशक ! तू सब देवोंमें मुख्य है, तू हमें प्राप्त हो। तू जैसा देवोंका आंख है उसी प्रकार मनुष्योंका भी है। यज्ञ करनेवाले और सबके ऊपर समानतया प्रेम करनेवाले जो यजमान होते हैं वे तपस्वी मुनियोंके साथही सुख पूर्वक आत्मिक प्रकाशके लोकको प्राप्त करते हैं ॥ ५ ॥

अजमनज्मि पयसा घृतेन दिव्यं सुपर्णं पयसं बृहन्तम् ।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं स्वरारोहन्तो अभि नाकमुत्तमम् ॥ ६ ॥
पञ्चौदनं पञ्चभिरंगुलिभिर्दर्व्योद्धर पञ्चधैतमोदनम् । प्राच्यां दिशि
शिरो अजस्य धेहि दक्षिणायां दिशि दक्षिणं धेहि पार्श्वम् ॥ ७ ॥
प्रतीच्यां दिशि भसदमस्य धेह्युत्तरस्यां दिश्युत्तरं धेहि पार्श्वम् । ऊर्ध्वायां दिश्य१जस्यानूकं धेहि दिशि ध्रुवायां धेहि पाजस्यमन्तरिक्षे मध्यतो मध्यमस्य ॥ ८ ॥

अर्थ-(दिव्यं सुपर्णं पयसं) दिव्य, अत्यंतपूर्ण, तेजस्वी, गतिमान और (बृहन्त अजं घृतेन, पयसा अनज्मि) अजन्मा परम आत्माकी घृत और दुग्धके यज्ञसे पूजा करता हूं। (उत्तमं नाकं अभि आरोहन्तः) उत्तम स्वर्गके ऊपर चढते हुए (तेन सुकृतस्य लोकं स्वः गेष्म) उससे पुण्य के आत्म प्रकाशके लोकको प्राप्त करेंगे ॥ ६ ॥ (एतं पञ्चौदनं ओदनं) इस पांच प्रकारके अन्नको (पञ्चभिः अंगुलिभिः दर्व्या पञ्चधा उद्धर) पांच अंगुलियोंसे पकडी हुई कडछीसे पांच प्रकारसे उपर ला। (अजस्य शिरः प्राच्यां दिशि धेहि) अजन्माका सिर पूर्व दिशामें रख, (दक्षिणायां दिशि दक्षिणं पार्श्वं) दक्षिणदिशा में दाहिने कक्षा भागको रख ॥ ७ ॥

(अस्य भसदं प्रतीच्यां दिशि धेहि) इसका कटिभाग पश्चिम दिशामें धर, और (उत्तरं पार्श्वं उत्तरस्यां दिशि धेहि) उत्तर कक्षा भागको उत्तर दिशामें रख। (अजस्य अनूकं उर्ध्वायां दिशि धेहि) अजन्माकी रीढको ऊर्ध्व दिशामें रख, (अस्य पाजस्यं ध्रुवायां दिशि धेहि) और इसके पेट को ध्रुव दिशामें रख, तथा (अस्य मध्यं मध्यतः अन्तरिक्षे) इसका मध्य भाग अन्तरिक्षमें रख ॥ ८ ॥

भावार्थ—दिव्य पूर्ण तेजस्वी गतिमान और अजन्मा परम आत्माकी ही हम घृतादिकी आहुतियोंके यज्ञद्वारा पूजा करते हैं। इससे उत्तम स्वर्गको प्राप्त करते हुए उसके भी ऊपर के आत्मिक प्रकाशके स्थानको प्राप्त करते हैं॥६॥

यह पांच प्रकारका यज्ञीय अन्न है। पांच अंगुलियोंद्वारा कडछी पकड कर इस अन्नको पांच प्रकारसे ऊपर ले। इस अजन्माका सिर पूर्व दिशामें और दक्षिण कक्षा दक्षिणदिशामें रख ॥ ७ ॥ इसका कटिभाग पश्चिम दिशामें, उत्तर कक्षा भागको उत्तर दिशामें, पीठकी रीढ ऊर्ध्व दिशामें, पेट ध्रुव दिशामें और मध्य भाग अन्तरिक्षमें रख ॥ ८ ॥

शृतमजं शृतया प्रोर्णुहि त्वचा सर्वैरङ्गैः संभृतं विश्वरूपम्।
स उत्तिष्ठेतो अभि नाकमुत्तमं पद्भिश्चतुर्भिः प्रति तिष्ठ दिक्षु ॥ ९ ॥

अर्थ-इस प्रकार (सर्वैः अंगैः संभृतं) सब अंगोंसे सम्यक्तया भरा हुआ अतएव (विश्वरूपं शृतं अजं) विश्वरूप बना हुआ परिपक्व अजन्मा आत्मा को (शृतया त्वचा प्र ऊर्णुहि) परिपक्व आच्छादनसे आच्छादित कर। (सः) वह तू (इतः उत्तमं नाकं अभि उत्तिष्ठ) यहांसे उत्तम स्वर्गको प्राप्त करनेके लिये उठ और (चतुर्भिः पद्भिः दिक्षु प्रतितिष्ठ) चारों पांवोंसे सब दिशाओंमें प्रतिष्ठित हो ॥ ९ ॥

भावार्थ-इस प्रकार अपने सब अंगोंसे परिपूर्ण विश्वरूप बने हुए परिपक्व अजन्मा जीवात्माको परिपक्व परमात्माके आच्छादन से आच्छादित कर और उत्तम स्वर्गलोकको प्राप्त करनेके लिये कटिबद्ध हो और अपने चारों पांवोंसे सब दिशाओंमें प्रतिष्ठित हो ॥ ९ ॥

स्वर्गधाम का मार्ग।

इस सूक्तमें " स्वर्गधाम " का मार्ग बताया है, इस कारण इस सूक्तका महत्त्व अधिक है। पहिले मंत्रमें " परम पिताके अमृतपुत्र " की उत्पत्तिका वर्णन है —

परम पिताका अमृतपुत्र।

अग्नेः शोकात् अजः अजनिष्ट। (मं० १)

" अग्निके प्रकाशसे अजन्मा जीवात्मा प्रकट हुआ है। " यहां अग्निपदसे सर्व प्रकाशक परमात्माका ग्रहण होता है। अथर्ववेदमें काण्ड ९ सू० १० (१५) मंत्र २८ में कहा है कि " एकही सत्य स्वरूप परमात्माका कविजन विविध नामोंसे वर्णन करते हैं, उसी एक परमात्माको इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा, और सत् कहते हैं। " ये सब एकही परमात्माके नाम हैं। इनमेंसे इस सूक्तमें 'अग्नि, (मं० १) दिव्य, सुपर्ण, (मं ६)' ये शब्द आगये हैं। इस परमात्माके तेजसे इस अमृत पुत्रकी उत्पत्ति है। यह उत्पत्ति कथन करनेका उद्देश्य यह है कि यह अमृतपुत्र अपनी उन्नति करके पिताके समान बन सकता है। प्रत्येक प्राणीका पुत्र पिताके समान बनता है, बीजसे वृक्ष होता है, चिनगारीसे दावाग्नि बन सकता है। पुत्रका यह अधिकार ही है कि वह अपने पिताके समान बने। जीवात्माकी उन्नतिकी यह अन्तिम मर्यादा

है। यह मर्यादा बहुत कालके निरन्तरके अनुष्ठानसे समाप्त हो सकती है, तब यह अमृत पुत्र पिताके वैभवसे युक्त हो सकता है। पुत्र पिताके समान आज हो जावे अथवा कुछ कालके पश्चात् हो जावे, 'वह पिताके वैभवको निःसंदेह प्राप्त करेगा' यह सत्य है। वेदने यह विश्वास इस सूक्त द्वारा लोगोंको बताया है। जगत्‌के दुःख देखकर जन निराश न हों, धर्मानुष्ठान करते हुए बढते जांय, जब उनका अनुष्ठान हो जायगा और जब उनके सब मल धोये जांयगे तब वे परम पिताके वैभवसे संपन्न हो जांयगे। अनुष्ठानकी तीव्रता और निर्दोषताके प्रमाणके अनुसार काल थोडा लगेगा अथवा अधिक लगेगा, यह बात प्रत्येकके ऊपरही निर्भर है। पिताके गुण न्यून प्रमाणसे पुत्रमें रहते हैं, इन गुणोंका विकास करनाही पुत्रका कर्तव्य है, पिताकी सहायता सदा तैयार है हि। पुत्रके गुणोंके विकासकी परम सीमा उसका 'पिताके समान बनना' ही है।

पिताका दर्शन।

इस पुत्रने सबसे प्रथम 'जनितारं अपश्यत्' (मं० १) अपने पिताका दर्शन किया था, तत्पश्चात् यह पुत्र संसारमें फंस जानेके कारण उससे विमुख हुआ है। यह विमुखता इस समय इतनी बढ गयी है कि यह पिताको भूल ही गया है। इसलिये यह उस अपने परम पिताका पहले स्मरण करे और पश्चात् दर्शन करे। यही उसकी उन्नति का मार्ग है। उसीके दर्शनसे—

मेध्यासः रोहान् रुरुहुः। (मं० १)

"पवित्र होते हुए उन्नतिके स्थानों पर चढते हैं।" इसी प्रकार पुत्र एक एक सीढी ऊपर चढता है और विशेष अधिकार प्राप्त करता है। पवित्र बनना ही एक मात्र उपाय है जिससे पुत्रका अधिकार बढ सकता है। पवित्र बननेका उपाय भी 'मेध्य' शब्द द्वारा ही बताया गया है। 'मेध्य' अर्थात् 'मेधके लिये योग्य'। 'मेध' का अर्थ 'सत्कार-संगति-दान रूप कर्म।' जिस कर्मसे सत्कार करने योग्य सत्पुरुषोंका आदर होता है, जनता का संगतिकरण होता है और परोपकारार्थ दान दिया जाता है, आत्मसमर्पण किया जाता है, उसका नाम मेध है। इस प्रकारके कर्मसे मनुष्य पवित्र होता है और उच्च भूमिका को प्राप्त करता है। और अन्तमें जहांसे आया वहां पंहुंचता है।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि "इस अग्निकी सहायतासे स्वर्गके मार्गका आक्रमण करो।" वस्तुतः यज्ञमें जो यजन होता है वह परमात्माकाही होता है, तथापि यज्ञ अग्निमें हवन करनेसे प्रारंभ होता है। इस यज्ञके द्वारा आत्मसमर्पणकी दीक्षा दी जाती है। अपने पास का घृत आदिका अर्पण समष्टिके लिये किया जाता है। इस यज्ञसे अर्थात् आत्म-

समर्पण से ही उन्नति होती है। इस स्थूल यज्ञमें, प्रथम कक्षाके यज्ञमें घृत तथा हवन सामग्री की आहुतियोंका अर्थात् अपनेसे भिन्न बाह्य पदार्थोंका समर्पण होता है, आगे जैसी जैसी योग्यता बढ जाती है, उस प्रमाणसे अपने निजके पदार्थोंका समर्पण करना होता है, अन्तमें सर्वमेध यज्ञमें आत्मसर्वस्व का समर्पण होता है जिससे परम उच्च अवस्थाकी प्राप्ति होती है। जिस प्रकार अग्निमें घृतादि पदार्थोंकी आहुतियोंका समर्पण किया जाता है उसी प्रकार— हस्तेषु उख्यान् बिभ्रतः। (मं० २)

"अन्न दान करनेके लिये अपने हातोंमें पकाया हुआ अन्न लेकर तैयार रहो।" क्षुधासे पीडित मनुष्यको अन्न दान करनेसे बडा पुण्य प्राप्त होता है। यहां यह अन्न दान प्रत्यक्ष फल दायक है। भूखसे पीडित को अन्न देते ही उसका आत्मा संतुष्ट होता है, उसका संतोष देखकर दाताका आत्मा भी कृतार्थ होता है। दानसे दाताकी उन्नति होती है इसका अनुभव अन्न दानसे प्रत्यक्ष अनुभवमें आजाता है। यहां अन्न उपलक्षण मात्र है। भूखसे पीडित को अन्न दान, तृषासे पीडितको जल दान, अज्ञानसे पीडितको ज्ञानदान, निर्बलतासे पीडित को बल द्वारा सहायता, निर्धनतासे पीडितको धनदान, पारतंत्र्यसे पीडितको स्वातंत्र्य प्राप्ति करनेके कार्यमें सहायता आदि अनेक विध दान होते हैं, ये सब अन्न दानके उपलक्षणसे जानना चाहिये। ये सब यज्ञ हैं और यज्ञके संगतिकरण कर्मके ये प्रमुख अंग हैं। जनताकी सेवाद्वारा परमात्माका अर्चन इसी रीतिसे होता है। इस यज्ञ द्वारा मनुष्य स्वर्गमें पंहुचता हैं इतनाही नहीं, परंतु उसके भी ऊपर जो आत्मप्रकाशका लोक है वहां जाता है और वहां देवोंके साथ बैठ जाता है। इस प्रकार मनुष्यका देवता बनता है। (मं०२)

पृथ्वीसे अन्तरिक्ष, अन्तरिक्षसे द्युलोक, द्युलोकसे आत्मिक प्रकाशका लोक ऊपर है। यह उच्चता स्थानसे नहीं, प्रत्युत अवस्थासे है। अर्थात् ये चार लोक घरके चार मजलोंके समान एक दूसेरके ऊपर नहीं हैं प्रत्युत एकके अंदर दूसरी और दूसरीके अंदर तीसरी है। स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर, आत्मा ये चार अवस्थाएं मनुष्यके अंदर ही हैं। इनहींके बाह्य रूप पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौ और स्वः (आत्मप्रकाश) हैं और इन्हीका नाम भूः, भुवः, स्व, महः इ० है। जिस प्रकार स्थूलके अंदर सूक्ष्म शरीर होता है उसी प्रकार पृथ्वी लोक के अंदर अन्तरिक्ष लोक होता है। इनमेंसे साधारण मनुष्य स्थूल भूलोकमें विचरता है, अन्तरिक्ष आदि उच्च भूमिकाओंपर वह तब कार्य कर सकेगा, जब वह उतना शुद्ध और परिपक्व होगा। बडे महान तपस्वीयोंके लिये ही यह बात साध्य होती है। (मं० ३)

विश्वाधार यज्ञ।

"यज्ञ (विश्वतो धारं यज्ञं) विश्वको सब प्रकारसे आधार देने वाला है।"(मं.४) यह चतुर्थ मंत्रका कथन पूर्ण रीतिसे सत्य है। यज्ञ का अर्थ है त्याग। इस 'त्याग' से ही जगत् की स्थिति है। हर एक स्थानमें यह सत्य है। पिता अपने वीर्यके त्यागसे संतानको उत्पन्न होनेके लिये आधार देता है और माता अपने गर्भधारणके लिये जो कष्ट होते हैं उनको सहती है और उस प्रमाणसे स्वसुखका त्याग करती है और आगे दुग्धादि पिलाकर भी बहुत त्याग करती है। इस प्रकार मातापिताके अपूर्व त्यागसे संतान निर्माण होता है। इसी प्रकार यह त्याग पशुपक्षी वृक्ष वनस्पति आदि सृष्टिमें भी है, जिससे उनकी सृष्टि रहती है। सूर्य अपने प्रकाशका जगतके लिये अर्पण करता है इसी प्रकार अग्नि, वायु, जल आदि देवताएं अपनी शक्तियोंका जगत्की भलाईके लिये त्याग करती हैं। इस त्यागसे जगत्की स्थिति हुई है। परमात्माने अपने त्यागसे ही यह संसार बनाया है। इस प्रकार विचार करनेसे पाठकोंको पता लग सकता है कि इस त्यागसे अर्थात् आत्म समर्पण रूप महायज्ञसे ही विश्व चल रहा है। इसी लिये यज्ञको संपूर्ण विश्वका आधार कहते हैं वह नितान्त सत्य है।

ये सुविद्वांसः विश्वतोधारं यज्ञं वितेनिरे।
(ते) रोदसी द्यां रोहन्ति, स्वर्यन्तः, न अपेक्षन्ते। (मं० ४)

"जो उत्तम विद्वान इस विश्वाधार यज्ञको फैलाते हैं अर्थात् अपने आयुभर करते हैं वे इस भूमिसे सीधे द्युलोकपर चढते हैं, वे वहांके स्वर्ग सुखकी भी इच्छा नहीं करते और वे उसके भी ऊपर जाकर आत्मज्योतिके प्रकाशमय स्थानको प्राप्त करते हैं।" यह लोक तो आत्मसमर्पण रूप यज्ञ करनेसे ही प्राप्त हो सकता है।

सच्चा चक्षु।

पञ्चम मंत्रमें इस परमात्माको "देवों और मनुष्योंका चक्षु" कहा है—

देवतानां उत मानुषाणां चक्षुः। (मं० ५)

"देवों और मनुष्योंका आंख यह आत्मा है।" मनुष्योंके आंख मनुष्योंके शरीरोंमें रहते ही हैं, परंतु वे स्वयं कार्य नहीं कर सकते। सूर्यके प्रकाशके विना आंख देखनेमें असमर्थ है। इस लिये सूर्यको 'आंखका आंख' कहते हैं। परंतु सूर्य भी परमात्माकी प्रकाश शक्तिके विना प्रकाश देनेका कार्य नहीं कर सकता, इस लिये परमात्माको 'सूर्यका सूर्य' कहते हैं। इससे यह हुआ की "आंखका आंख सूर्य और सूर्यका सूर्य परमात्मा" है, इस लिये वस्तुतः "आंखका सचा आंख" परमात्माही हुआ। यही भाव

ऊपरके मंत्र भागका है। यह केवल आंखके विषयमें ही सत्य है ऐसा नहीं परंतु हरएक इंद्रियके विषयमें भी वैसाही सत्य है, अर्थात् वह जैसा आंखका आंख है उसी प्रकार कान का कान, नाक का नाक, मनका मन और बुद्धिका बुद्धि है। इसी प्रकार सब इंद्रियोंका वही मूल स्रोत है। इसको ऐसा जानना और अनुभव करना विद्या और अनुष्ठानका साध्य है। यही—

देवतानां प्रथमः। (मं. ५)

" सब देवताओंमें यह पहिला है " अर्थात् इसके पूर्व कोई नहीं है, सबके पूर्व यह था और सबके पश्चात् रहेगा। सूर्यादि बडे प्रकाशमान देव निःसंदेह बडे शक्तिशाली है, परंतु इसीकी शक्तिसे वे बने हैं और इसीकी शक्ति लेकर अपना कार्य कर रहे हैं। जिस देवताकी ऐसी महिमा होती है उसीका यजन यज्ञोंमें होता है, इसी लिये ' यज्ञ ' नाम आत्माका है। सच्चा यज्ञ पुरुष वही है। जो यज्ञमें इस यज्ञपुरुषकी पूजा करते हैं वे-

इयक्षमाणाः सजोषाः यजमानाः स्वः भृगुभिः स्वस्ति यन्तु। (मं०५)

" यज्ञ करनेवाले, समान प्रेमभाव रखनेवाले यजमान आत्मिक प्रकाशके स्थानको भृगुओंके संङ्ग सुगमताके साथ जाते हैं। " उसकी पूजा करनेका यह फल है। ' भृगु ' उनका नाम होता है कि जो तपश्चर्यासे अपने पापोंका भर्जन करते हैं। तपके सामर्थ्यसे पापका नाश करनेवाले तपस्वियोंको ' भृगु ' कहते हैं। ये तपस्वी सीधे आत्मिक प्रकाशके लोकको जाते हैं, वहांही ये याजक जाते हैं कि जो पूर्वोक्त प्रकार यज्ञ करते हैं और सब पर समान प्रेम भाव रखते हैं, अर्थात् जिनकी सर्वत्र समदृष्टि हो गई है। अन्य लोग उस आत्मिक लोकको प्राप्त करनेके अधिकारी नहीं हैं। षष्ठ मन्त्रका कथन भी इसी आशयको बता रहा है-

दिव्यं सुपर्णं पयसं बृहन्तं अजं पयसा घृतेन अनज्मि। (मं० ६)

" दिव्य पूर्ण वेगवान् बडे अजन्मा आत्माकी दूध और घीसे मैं यज्ञमें पूजा करता हूं। " यह मन्त्रभाग अत्यन्त स्पष्ट है। यज्ञमें उसीकी पूजा हवनकी आहुतियोंसे होती है। हवनकी आहुतियां देना यह आत्मसमर्पण का प्रारंभ है, इसी यज्ञ का रूप अन्तमें आत्मसर्वस्वका समर्पण होना है। इस पूर्ण समर्पण की पहिली सीढी थोडीसी आहुतियां समर्पित करना है। समर्पण शक्ति बढानेसे ही उसकी सच्ची पूजा होती है और साथ साथ अपनी आत्मिक शक्तिभी बढ जाती है।

तेन उत्तमं नाकं अभि आरोहन्तः
सुकृतस्य स्वः लोकं गेष्म। (मं० ६)

" उससे उत्तम स्वर्गधामको प्राप्त होते हुए हम सुकृत के आत्मज्योतिरूप लोकको प्राप्त करेंगे। " यह पूर्वोक्त प्रकार के आत्मयज्ञका फल है। सच्चे वैदिक यज्ञका यह अन्तिम साध्य है।

पञ्चामृत भोजन।

यहां पञ्चामृत भोजन का विधान है। लोकमें प्रसिद्ध पञ्चामृत सब जानते ही हैं, दूध, दही, घी, मिश्री और मधु इन पांच पदार्थोंको पंचामृत कहा जाता है। परंतु यहां आत्मसमर्पणरूप महायज्ञमें हमारी इंद्रियां गौवें हैं और इस यज्ञमंडपमें उनका दोहन होता है, उस दूधसे जो पंच अमृत बनता है वह यहां अभीष्ट है। यह ' पञ्च+ओदन ' है। पञ्च ज्ञानेंद्रियोंसे प्राप्त होनेवाला यह पञ्च अमृत है। ज्ञान का नाम अमृत है। यहां पंच ज्ञान पञ्चओदन कहा है क्योंकि जैसा ओदन या अन्न स्थूल शरीरका पोषक होता है, उसी प्रकारसे यह पांच प्रकारका ज्ञान रस या " सुधारस " आत्मबुद्धिमन का पोषण करता है। इसका उद्धार करना चाहिये-

एतं ओदनं दर्व्या पञ्चधा उद्धर। (मं०७)

" यह अन्न कडछीसे पांच प्रकारसे ऊपर ले " अर्थात् पांच प्रकारसे इसका उद्धार कर। यह अन्न पंचविध है एक दूसरेसे भिन्न है, पांच प्रकारोंसे इसका उद्धार होना संभव है। इससेही ज्ञात हो सकता है कि यह पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंसे प्राप्त होनेवाला पञ्च विध ज्ञानही है। हरएक इंद्रियसे प्राप्त होनेवाला ज्ञान उच्चनीच होता है, इसीलिये यहां सूचना दी है कि ' उद्धर ' उद्धार कर अर्थात् पांच प्रकार का ज्ञान ऐसा प्राप्त कर कि जिससे उद्धार हो सके। दो प्रकारका ज्ञान सन्मुख आया तो जिससे उद्धार होगा वही ज्ञान स्वीकार कर और अन्यको दूर कर। हरएक विषय में ये दोनों प्रकार मनुष्य के सन्मुख आते हैं। उद्धार चाहने वाले मनुष्यको उचित है कि यह पांच प्रकारका ज्ञान इस प्रकारसे प्राप्त करे कि जिससे अपना निश्चयसे उद्धार हो सके। अन्नका वर्तनसे उद्धार करनेका कार्य कडछीसे अथवा चमससे होता है, इस लिये इस मंत्र में भी कडछी से उद्धार करनेका उपदेश किया है। पञ्च ज्ञान रूपी पञ्च पक्वान्नका उद्धार करनेकी कडछी यहां कौनसी है यह अब विचारणीय प्रश्न है। इस विषयमें निम्नलिखित मंत्र देखने योग्य है—

तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्।
तत्रासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः॥
अथर्व. १०।८।९

"तिरछे मुखवाला एक चमस है, जिसका निम्न भाग ऊपरकी ओर है, उसमें विश्वरूप यश रखा है। वहां ही सात ऋषि साथ साथ रहते हैं, जो इसके रक्षक हैं।" यहां जो चमस कहा है वह मनुष्यका सिर है, इसका मुंह नीचे और निम्न भाग ऊपर है, इसमें विश्वरूप यश नाम विश्वका ज्ञान और आत्माका विज्ञान इकट्ठा हुआ है, सात ऋषि यहां इस सिरमें रहते हैं जो इसके संरक्षक हैं। इस मंत्रसे चमस या कडछीका ठीक पता लग सकता है। यह सब मस्तक का रूपक है, इसीसे ज्ञान रूप पांच प्रकारका अन्न लिया जाता है, और अच्छे बुरेका विचार भी यहां ही होता है।

इस सूक्तके 'दर्वी' शब्दका संबंध इस मंत्रके 'चमस' शब्दसे जोडकर देखें, पाठक जानें की ये दर्वी (कडछी) और चमस एकही है। पाठकोंको सूचनार्थ निवेदन यहां है कि यज्ञमें जो जो सामग्री अथवा चमसादि साधन आवश्यक होते हैं वे सब अन्तमें अपने शरीरपर ही घटाये जाते हैं। वेदकी यह परिभाषा है। यहां चमस शब्द शरीरमें घटाया है, समिधा शब्द अन्य स्थानपर घटाये हैं। इस प्रकार सब पदार्थ भिन्न भिन्न स्थानोंके मंत्रोंमें घटाये हैं। इस प्रकार वेद बतायेगा कि अन्तिम यज्ञ आत्मसर्वस्वके समर्पण से ही होना है। अस्तु इस प्रकार यहां पञ्चविध ज्ञान को अपने उद्धार के लिये प्राप्त करनेका उपदेश सप्तम मंत्रके पूर्वार्धमें किया गया। इसके पश्चात् दो मंत्रोंसे अर्थात् सप्तमका उत्तरार्ध और अष्टम पूर्ण मंत्रसे अपने शरीरको विश्वरूप बनानेका उपदेश कहा है।

विश्वरूप बनो।

अपना शरीर यह केवल अपने लिये नहीं प्रत्युत वह सब विश्वकी भलाई के लिये है, इसको विश्वके लिये समर्पण करना चाहिये। मैं सब जगत्का एक अवयव हूं। अवयवकी पूर्णता अवयवीके लिये समर्पित होनेसे ही हो सकती है। जिस प्रकार शरीरके अवयवकी पूर्णता सब शरीरके भलाईके कार्यमें पूर्णतया समर्पित होनेसे हो सकती है, उसी प्रकार एक मनुष्यकी पूर्णता उसका समर्पण समष्टिके लिये होनेसे ही हो सकती है। यही आत्मसमर्पणकी कल्पना यहां इन मंत्रोंसे बताई है जिसका स्वरूप यह है—

१ पूर्व दिशाके लिये मेरा सिर अर्पण किया है,
२ दक्षिण दिशाके लिये मेरी दक्षिण कक्षा अर्पण की है,
३ पश्चिम दिशाके लिये मेरा पिछला भाग अर्पण किया है,
४ उत्तर दिशाके लिये मेरी उत्तर कक्षा अर्पण की है,

५ ऊर्ध्व दिशाके लिये मेरी पीठकी रीढ अर्पण की है,

६ ध्रुव दिशाके लिये मेरा पेट समर्पण किया है और

७ मध्य दिशा रूप अंतरिक्षके लिये मेरा मध्य भाग है । (मं० ७; ८)

इस प्रकार मेरा संपूर्ण शरीर सब दिशाओंके लिये समर्पित होनेसे "मैं सब विश्वके लिये जीवित हूं ।" मेरा यह यह भाग विश्वके इस इस भागके लिये समर्पित हुआ है, इस प्रकार संपूर्ण विश्वके लिये मेरा आत्मसमर्पण होगया है, अब मेरा जीवन जगत् के लिये हुआ है, मैंने सबकी भलाईके लिये यह आत्मयज्ञ किया है, यह इस उपदेश का तात्पर्य है । इसके पश्चात्–

सर्वैः अंगैः विश्वरूपं संभृतं शृतं अजं

शृतया त्वचा प्रोर्णुहि । (मं० ९)

"अपने सब अंगोंसे विश्वरूप हुए अत एव परिपक्व बने हुए अजन्मा जीवात्माको परमात्माके परिपक्व त्वचा सदृश आच्छादन से आच्छादित करो ।" अपने आपको चारों ओरसे परमात्माद्वारा आच्छादित अनुभव करो, अपने चारों ओर परमात्माका अनुभव करो । यह बात स्वभावतया स्वयं ही हो जायगी । इसके नंतर—

चतुर्भिः पद्भिः दिक्षु प्रति तिष्ठ ।

इतः उत्तमं नाकं अभि उत्तिष्ठ । (मं० ९)

"अपने चारों पावोंसे सब दिशाओंमें प्रतिष्ठित हो और यहांसे सीधा उत्तम स्वर्गके लिये चल ।" अब तुम्हें कोई बीचमें रुकावट नहीं होगी । यहां वर्णन किये हुए चार पांव जाग्रति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्या हैं । चतुष्पाद अज आत्माका वर्णन मांडूक्य उपनिषद्में है—

सोऽयमात्मा चतुष्पाद् ॥२॥ जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः......प्रथमः पादः ॥३॥ स्वप्नस्थानोऽन्तः प्रज्ञः...द्वितीयः पादः ॥ ४ ॥ सुषुप्तस्थान एकी भूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक्चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥ ५ ॥........अदृष्टमव्यवहार्यं.......एकात्मप्रत्ययसारं.... चतुर्थं मन्यन्ते......॥ ७ ॥

मांडूक्य उपनिषद्

"यह अज आत्मा चतुष्पाद है । इसका प्रथम पाद जागृति है जिसमें बाहरके जगत् का ज्ञान होता है । इसका द्वितीय पाद स्वप्न है जिस अवस्थामें इसकी प्रज्ञा अंदर ही

अंदर होती है । इसका तीसरा पाद सुषुप्ति अर्थात् गाढ निद्रा है, जिस समय एकी भूत होकर आनन्द अवस्थामें लीन होता है। और इसका चतुर्थ पाद अदृष्ट तथा अव्यवहार्य है । ''

यह वर्णन इस आत्मा का चतुष्पाद् स्वरूप बता रहा है। कई लोग चार पांवोंका वर्णन होनेसे ' चतुष्पाद अज ' का तात्पर्य ' चार पांव वाला बकरा ' समझते हैं और अर्थका अनर्थ करते हैं, उनको उचित है कि वे इस उपनिषद्के वचन का भी यहां मनन करें । सीधा उत्तम स्वर्ग धाममें जाना इनही चार पावोंसे संभवनीय है यह बात स्पष्ट होनेसे इस विषयमें अधिक लिखनेकी यहां आवश्यकता नहीं है । जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्यामें जो अनुभव मिलते हैं और जाग्रतिमें जो कर्म किये जाते हैं, उनसे मनुष्य की उन्नति होनी है, इसके विना कोई अन्य मार्ग नहीं है ।

एक शंका ।

इस सूक्तमें 'भूलोकसे ऊपर अन्तरिक्ष, अंतरिक्षसे ऊपर स्वर्ग, स्वर्गसे ऊपर आत्म प्रकाश का लोक है, ऐसा कहा है ।(मं०३)' मंत्रमें " आरुह् " पद भी दर्शाता है कि यहां ' उपर चढने का भाव ' है । इस लिये साधारण लोक इन लोकोंको एकके ऊपर दूसरा मानते हैं । ये लोक शरीरमें भी हैं गुदासे नाभीतक भूलोक, नाभीसे गलेतक अन्तरिक्ष लोक, सिर स्वर्ग लोग है और आत्म प्रकाशका लोक हृदय स्थानमें जहां दधुक् होती है वहां है । यहां पता लगता है कि यद्यपि शरीरमें पहिले तीन लोक एक दूसरेके ऊपर हैं तथापि चतुर्थलोक निम्न प्रदेशमें अथवा मध्यमें हैं । अर्थात् यहांका ऊपरका भाव स्थानसे ऊपर ऐसा नहीं है, प्रत्युत अवस्था, योग्यता, श्रेष्ठ अनुभव आदि की उच्चता से यहां मतलब है । वास्तविक स्थिति यह है कि भूः, भुवः, स्वः, महः आदि लोक किंवा पृथिवी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग, आत्मज्योति आदि लोक हरएक स्थानमें हैं । जिस प्रकार एक ही स्थानमें पत्थर, रेत, जल, वायु, उष्णता, विद्युत आदि रहते हैं, उसी प्रकार उक्त सब लोक एकही स्थानमें हैं, जो मनुष्य अपने सूक्ष्म इंद्रियोंको सूक्ष्म लोकोंमें कार्य करने योग्य सूक्ष्म बनाते हैं, वेही उच्च लोकोंके भागी होते हैं, अर्थात् यहां रहता हुआ मनुष्य भी आत्मप्रकाशके लोक का अनुभव ले सकता है ।

पाठक इस सूक्तका इस रीतिसे मनन करें और उचित बोध प्राप्त करके अपनी आध्यात्मिक उन्नतिका मार्ग आक्रमण करें ।

वृष्टि।

(१५)

(ऋषिः—अथर्वा। देवता-मरुतः पर्जन्यश्च)

समुत्पतन्तु प्रदिशो नभस्वतीः समभ्राणि वातजूतानि यन्तु।
महऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु ॥ १ ॥
समीक्षयन्तु तविषाः सुदानवोऽपां रसा ओषधीभिः सचन्ताम्।
वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग्जायन्तामोषधयो विश्वरूपाः ॥ २ ॥
समीक्षयस्व गायतो नभांस्यपां वेगासः पृथगुद्विजन्ताम्।
वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग्जायन्तां वीरुधो विश्वरूपाः ॥३ ॥

अर्थ- (नभस्वतीः प्रदिशः सं उत्पतन्तु) बादलसे युक्त दिशाएं उमड जांय, (वातजूतानि अभ्राणि संयन्तु) वायुसे चलाये गये उदक युक्त मेघ मिलकर आवें। (महऋषभस्य नदतः नभस्वतः) महाबलवान गर्जना करते हुए (नभस्वतः वाश्राः आपः पृथिवीं तर्पयन्तु) बादलोंकी गति युक्त जलधाराएं भूमिकी तृप्ति करें ॥ १ ॥

(तविषाः सुदानवाः समीक्षयन्तु) बलवान जलका उत्तम दान करनेवाले मेघ दिखाई देवें। (अपां रसाः ओषधीभिः सचन्तां) जलोंके रस औषधियोंसे संयुक्त हो जावें। (वर्षस्य सर्गाः भूमिं महयन्तु) वृष्टिकी धाराएं भूमिको समृध्द करें। (विश्वरूपाः ओषधयः पृथक् जायन्तां) विविधरूपवाली ओषधियां अनेक प्रकारसे उत्पन्न होवें ॥ २ ॥

(गायतः नभांसि समीक्षयस्व) गर्जनेवाले मेघोंसे युक्त आकाश दिखाओ। (अपां वेगासः पृथक् उद्विजन्तां) जलोंके वेग विविध प्रकारसे उमड जावें। (वर्षस्य सर्गाः भूमिं महयन्तु) वृष्टिकी धाराएं भूमिको समृद्ध करें। (विश्वरूपाः वीरुधः पृथक् जायन्तां) विविधरूपवाली औषधियां अनेक प्रकारसे उत्पन्न हों ॥ ३ ॥

भावार्थ—चारों दिशाओंमें बादल आजांय, वायु जोरसे बहे, उस वायुसे मेघ आकाशमें आजांय, और बडी गर्जना होकर बडी वृष्टि होवे॥१॥
मेघसे आनेवाला जल वनस्पतियोंको मिले और सब वनस्पतियां उत्तम परिपुष्ट हो जावें ॥ २ ॥

गणास्त्वोप गायन्तु मारुताः पर्जन्य घोषिणः पृथक् ।
सर्गा वर्षस्य वर्षतो वर्षन्तु पृथिवीमनु ॥ ४ ॥
उदीरयत मरुतः समुद्रतस्त्वेषो अर्को नभ उत्पातयाथ ।
महऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु ॥५॥
अभि क्रन्द स्तनयार्दयोदधिं भूमिं पर्जन्य पयसा समङ्ग्धि ।
त्वया सृष्टं बहुलमैतु वर्षमाशारैषी कृशगुरेत्वस्तम् ॥ ६ ॥

अर्थ-हे पर्जन्य! (घोषिणः मारुताः गणाः त्वा पृथक् उपगायन्तु) गर्जना करनेवाले वायुओंके गण तेरा पृथक् पृथक् गान करें। (वर्षतः वर्षस्य सर्गाः हैं। भूमीं अनु वर्षन्तु) वर्षते हुए मेघकी धाराएं पृथ्वीपर अनुकूल वर्षें ॥४॥ हे (मरुतः) वायुओ! (अर्कः त्वेषः नभः) सूर्यकी उष्णतासे बादलोंको (समुद्रतः उत्पातयत) समुद्रसे ऊपर लेजाओ (अथ उदीरयत) और ऊपर उडाओ। (मह ऋषभस्य नदतः नभस्वतः) बडे बलवान् और शब्द करनेवाले बादलयुक्त आकाशसे (वाश्राः आपः पृथिवीं तर्पयन्तु) वेगवान् जल धाराएं पृथ्वीको तृप्त करें ॥ ५ ॥

हे (पर्जन्य) मेघ! तू (अभिक्रन्द) गर्जना कर, (स्तनय) विद्युत् कडका, (उदधिं अर्दय) समुद्रको हिला दे। (पयसा भूमिं समङ्धि) जलसे भूमि भिगादे। (त्वया सृष्टं बहुलं वर्षं एतु) तेरे द्वारा उत्पन्न हुई बडी वृष्टि हमारे पास आवे। (कृश-गुः) भूमीका कृषक (आशार-एषी) आश्रयकी इच्छा करनेवाला होकर (अस्तं एतु) अपने घरको चला जावे ॥ ६ ॥

भावार्थ—गर्जना करने वाले मेघोंसे जोर की वृष्टि हो जावे और उस वृष्टिसे औषधियां उत्तम रसवालीं होवें ॥ ३ ॥ वायु जोरसे मेघोंको लावें और प्रचंड धाराओंसे अच्छी वृष्टि हो जावे ॥ ४ ॥

सूर्यकी उष्णतासे समुद्रके पानी की भांप होकर वायुसे ऊपर जावे, वहां वह इकट्ठी होकर मेघ बनें, वहां बिजली की गर्जना होकर पृथ्वीकी तृप्ति करने वाली वृष्टि होवे ॥ ५ ॥

मेघ गर्जना करें, बिजुली कडके, समुद्र उछल पडें, भूमि पर ऐसी वृष्टि हो जावे कि किसान अपने घर जाकर आश्रय लेवे ॥ ६ ॥

सं वो॑ऽवन्तु सु॒दान॑व॒ उत्सा॑ अजग॒रा उ॒त ।
म॒रुद्भि॑ः प्रच्यु॑ता मे॒घा वर्ष॑न्तु पृथि॒वीमनु॑ ॥ ७ ॥
आशा॑माशां॒ वि द्यो॑ततां॒ वाता॑ वान्तु दि॒शोदि॑शः ।
म॒रुद्भि॑ः प्रच्यु॑ता मे॒घाः सं य॑न्तु पृथि॒वीमनु॑ ॥ ८ ॥
आपो॑ वि॒द्युद॒भ्रं व॒र्षं सं वो॑ऽवन्तु सु॒दान॑व उत्सा॑ अजग॒रा उ॒त ।
म॒रुद्भि॑ः प्रच्यु॑ता मे॒घाः प्राव॑न्तु पृथि॒वीमनु॑ ॥ ९ ॥
अ॒पाम॒ग्निस्त॒नूभि॑ः संवि॒दानो॒ य ओष॑धीनामधि॒पा ब॒भूव॑ ।
स नो॑ व॒र्षं व॑नुतां जा॒तवे॑दाः प्रा॒णं प्र॒जाभ्यो॑ अ॒मृतं॑ दि॒वस्परि॑ ॥ १० ॥

अर्थ-(सु-दानवः उत अज-गराः उत्साः) उत्तम जल देनेवाले बडे स्रोत (वः संअवन्तु) तुम्हारी रक्षा करें । (मरुद्भिः प्रच्युताः मेघाः) वायुओं-द्वारा प्रेरित मेघ (पृथिवीं अनुवर्षन्तु) पृथिवीपर अनुकूल वर्षा करें ॥ ७॥

(आशां आशां वियोततां) दिशा दिशामें बिजलियां चमकें । (दिशो दिशः वाताः वान्तु) हरएक दिशामें वायु बहें । (मरुद्भिः प्रच्युताः मेघाः पृथिवीं अनुसंयन्तु) वायुओं द्वारा चलाये गये मेघ पृथिवीकी ओर अनु-कूलतासे आवें ॥ ८ ॥

(आपः विद्युत अभ्रं वर्षं) जल, विद्युत्, मेघ, वृष्टि (उत अजगराः सुदानवः उत्साः) और बडे जल देनेवाले स्रोत (वः सं अवन्तु) तुम्हारी रक्षा करें । (मरुद्भिः प्रच्युताः मेघाः पृथिवीं अनु प्र अवन्तु) वायुओं द्वारा प्रेरित मेघ भूमिकी रक्षा करें ॥ ९ ॥

(अपां अग्निः) मेघके जलोंमें रहनेवाला विद्युत रूप अग्नि (तनूभिः संविदानः) सब शरीरोंके साथ एकरूप होता हुआ (यः औषधीनां अधि-पा बभूव) जो औषधियोंका पालक होता है (सः जातवेदाः) वह अग्नि (दिवः परि अमृतं वर्षं) आकाशसे अमृतरूपी वृष्टिजल जो (प्रजाभ्यः प्राणं) प्रजाओंके लिये प्राणरूप है (नः) हमारे लिये (वनुतां) देवे ॥ १०॥

भावार्थ- जल देनेवाले मेघ सबकी रक्षा करें, उनसे भूमिपर उत्तम वृष्टि होवे ॥७॥ हरएक दिशामें बिजुलियां चमकें, वायु जोरसे चले, उनसे च-लायेमेघ खूब वृष्टि करें ॥ ८ ॥ मेघ, विद्युत्, वृष्टि, जल, जलस्थान ये सब मनुष्योंकी रक्षा करें । वायुसे चलाये मेघ पृथ्वीपर उत्तम वर्षा करें ॥ ९॥

प्रजापतिः सलिलादा समुद्रादाप ईरयन्नुदधिमर्दयाति ।
प्र प्यायतां वृष्णो अश्वस्य रेतोऽर्वाङेतेन स्तनयित्नुनेहि ॥ ११ ॥
अपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः श्वसन्तु गर्गरा अपां वरुण ।
अव नीचीरपः सृज वदन्तु पृश्निबाहवो मण्डूका इरिणानु ॥ १२ ॥
संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः ।
वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः ॥ १३ ॥

अर्थ-(प्रजापतिः सलिलात् समुद्रात् आपः आ ईरयन्) प्रजापति जलमय समुद्रसे जलको प्रेरित करता हुआ (उदधिं अर्दयाति) समुद्रको गति देता है। इससे (अश्वस्य वृष्णः रेतः प्र प्यायतां) वेगवान् वृष्टि करनेवाले मेघ से जल बढे। वृष्टि (एतेन स्तनयित्नुना अर्वाङ् आ इहि) इस गर्जना करने वाले के साथ यहां आवे ॥ ११ ॥

(अपः निषिञ्चन् असुरः) जलकी वृष्टि करनेवाला मेघ (नः पिता) हमारा पालक है। हे (वरुण) श्रेष्ठ उदकका धारण करनेवाले मेघ ! (अपां गर्गराः श्वसन्तु) जलोंके गडगड शब्द करनेवाले मेघ चलें। (अपः नीचीः अवसृज) जलको नीचेकी ओर प्रवाहित कर (पृश्निबाहवः मण्डूकाः) विचित्र रंगयुक्त बाहूवाले मेंडके (इरिणा अनुवदन्तु) भूमि पर आकर शब्द करें ॥ १२ ॥

(मण्डूकाः पर्जन्यजिन्वितां वाचं) मेंडक पर्जन्यसे प्रेरित वाणीको (अवादिषुः) बोलते हैं, जैसा कि (संवत्सरं शशयानाः व्रतचारिणः ब्राह्मणाः) सालभर एक स्थानमें रहकर व्रत करनेवाले ब्राह्मण बोलते हैं ॥ १३ ॥

भावार्थ— मेघों में विद्युद्रूप अग्नि है वही वृष्टि करता है इस लिये वह औषधियोंका अधिपति है। वह ऊपरसे वृष्टि करे और हमें अमृत जल देवे, उससे प्राणियोंको जीवन मिले, इस प्रकार हम सबकी रक्षा हो ॥ १० ॥

यह प्रजापालक समुद्रके जलको प्रेरित करता है जिससे मेघ होते हैं। इस से भूमिके ऊपर पर्याप्त जल प्राप्त होवे । यह मेघ बिजुलीके साथ हमारी भूमिके पास आजावे ॥ ११ ॥

मेघकी वृष्टिसे पृथ्वीपर बडे स्रोत बहें। जलमें मेंडक उत्तम शब्द करें ॥१२

व्रत करनेवाले ब्राह्मणोंके समान ये मेंडक मानो सालभर व्रत कर रहे थे, अब अपना व्रत समाप्त करके बाहर आये हैं और प्रवचन कर रहे हैं ॥१३॥

उपप्रवंद मण्डूकि वर्षमा वंद तादुरि ।
मध्यें न्हृदस्यं प्लवस्व विगृह्यं चतुरः पदः ॥ १४ ॥
खण्वखा३इ खैमखा३इ मध्यें तदुरि ।
वर्षं वंनुध्वं पितरो मरुतां मनं इच्छत ॥ १५ ॥
महान्तं कोशमुदंचाभि षिञ्च सविद्युतं भवतु वातु वातः ।
तन्वतां युज्ञं बहुधा विसृष्टा आनन्दिनीरोषधयो भवन्तु ॥ १६ ॥
॥ तृतीयोऽनुवाकः ॥

अर्थ-हे (मंडूकि) मेंडकी ! हे (तादुरि) छोटी मेंडकी ! (उप प्रवद) बोल, (वर्ष आवद) वर्षाको बुला। और (ह्रदस्य मध्ये) तालावके मध्यमें (चतुरः पदः विगृह्य) चार पैर लेकर (प्लवस्व) तैर ॥ १४ ॥

(खण्-वखे) हे बिलमें रहनेवाली, हे (खैम-खे) शांत रहने वाली (तदुरि) हे छोटी मेंडकी ! (वर्षं मध्ये वनुध्वं) वृष्टिके बीचमें आनंदित हो। हे (पितरः) पालको ! (मरुतां मनः इच्छत) वायुओंका मननीय ज्ञान चाहो ॥ १५ ॥

(महान्तं कोशं उदञ्च) बडे जलके खजानेको अर्थात् मेघको प्रेरित कर और (अभि षिञ्च) जलसिंचन कर। (सविद्युतं भवतु) आकाश विजुलियोंसे युक्त हो (वातः वातु) वायु बहता रहे। (यज्ञं तन्वतां) यज्ञको करो। (ओषधयः) औषधियां (बहुधा विसृष्टाः) बहुत प्रकारसे उत्पन्न हुई (आनंदिनीः भवन्तु) आनन्द देनेवाली होवें।

भावार्थ-मेंडक मेघोंको बुलावें और वे जलसे तालाब भरनेके बाद उसमें खूब तैरें ॥ १४ ॥

वृष्टि ऐसी हो कि जिसे मेंडक आनंदित हो जांय ॥ १५ ॥

मेघ आजांय, खूब वृष्टि हो, बिजली कडके, वायु बहे, औषधियां पुष्ट हों, खूब अन्न उत्पन्न हो, और यज्ञ बढते जांय ॥ १६ ॥
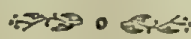
यह सूक्त पर्जन्यका उत्तम काव्य है, अत्यंत स्पष्ट होनेसे इसके स्पष्टीकरणकी आवश्यकता नहीं है।

मुद्रक तथा प्रकाशक— श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा)

अथर्व ४ काण्ड
१६-२५ सूक्त

R. NO.B. 1463

ओं

वैदिक धर्म।

५६

वैदिक तत्त्व ज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

वर्ष १०

अंक ३

क्रमांक १११

फाल्गुन

संवत् १९८५

मार्च

सन१९२९

वार्षिक-मूल्य— म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) विदेशके लि

विषयसूची।

वर्ष १०

अंक ३

क्रमांक १११

फाल्गुन संवत् १९८५

मार्च सन १९२९

वैदिक धर्म.

वैदिक तत्त्वज्ञान प्रचारक मासिक पत्र ।

संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर ।

स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

मुक्तिके अधिकारी !

ये बध्यमानमनु दीध्याना अन्वैक्षन्त मनसा चक्षुषा च ।
अग्निष्टानग्रे प्रमुमोक्तु देवो विश्वकर्मा प्रजया संरराणः॥

अथर्ववेद. २।३४।३

(ये) जो लोग (बध्यमानं) बंधनमें फंसे मनुष्य को (अनुदीध्यानाः) अनुकंपाकी दृष्टिसे मन और चक्षु के द्वारा (अन्वैक्षन्त) देखते हैं । (विश्वकर्मा) विश्वको निर्माण करने वाला देव जो (प्रजया संरराणः) प्रजाके साथ रममाण होता है वह सर्वान्तर्यामी प्रकाशक ईश्वर है वह (तान् अग्रे प्रमुमोक्तु) उनको सबसे पहिले मुक्त करें ।

जो लोग दीन दुर्बल अनाथ असहाय्य और बंधनमें फंसे हैं, उनको सहायता देते हैं, अपनी शक्तिसे उनको लाभ पंहुचाते हैं,उनकी सेवा करते हैं, दुखितोंके कष्ट दूर करनेके लिये स्वयं सेवक बनते हैं, परतंत्रोंको स्वतंत्र बनानेके लिये आत्मसर्वस्व का अर्पण करते हैं,दीनोंको सुखी करनेके लिये दिन रात प्रयत्न करते हैं,वे मुक्तिके अधिकारी हैं। दीनोंकी सहायता करना ही एक मात्र आत्मोन्नति का साधन है ।

स्वाध्याय-वृत्त।

औंधके प्लेगके विषयमें तो अब बहुत आराम है। गतमासमें यहां बडा भारी मेला हुआ था जिसके कारण जनतामें प्लेग पुनः बढ जानेका बडा भारी डर था। परंतु परमेश्वरकी कृपासे केवल चार पांच मनुष्योंको ही मेले के कारण प्लेग हुआ, नगरमें कोई विशेष प्रकोप नहीं हुआ।

इस प्लेगमें श्री० औंध नरेशने नगरके संपूर्ण लोगोंका इनॅक्युलेशन करवाया था, इस लिये प्लेग बढ नहीं सका, जिस प्रबंधके लिये हम औंध नरेशके हार्दिक धन्यवाद गाते हैं। इस वर्ष प्लेगके कारण जितने मृत्यु यहां हुए उतने सबके सब इनाक्युलेशन न किये हुए लोगोंके ही हुए। जिनका इनाक्युलेशन किया गया था, उनमेंसे एककी भी मृत्यु प्लेगसे नहीं हुई। हमारे पासके ग्राममें जहांके ९० लोग ही इनाक्युलेशनकरवानेके लिये राजी हुए अन्योंने इन्कार किया। आश्चर्य यह हुआ कि जितने मृत्यु हुए वे सब इनाक्युलेशन न कि हुएमेंसे ही थे। इससे ज्ञात होता है कि इनाक्युलेशन ठीक समयपर किया जाय तो प्लेगकी संभावना कम होती है।

प्रायः यहांका प्लेग समाप्त होनेके करीब हुआ है। बहुत लोग नगरमें आगये हैं अभी आधे लोग बाहर झोंपडीमेंही हैं। बहुत करके वे अगले मासतक नगरमें आवेंगे। तथापि जिन्होंने इनाक्युलेशन नहीं किया है वे दर्शक लोग एक दो मास इस स्थानपर न आवेंगे तो अच्छा है। हम ऐसा इस लिये लिखते हैं कि जो बाहर के लोग मेलेके दिनों में यहां आयेथे और जिन्होंने इनाक्युलेशन नहीं करवाया था वे प्लेग के भक्ष्य हो गये। इस लिये ऐसे दर्शक लोग इतनी सावधानता रखेंगे तो अच्छा है।

वैदिक धर्म।

"वैदिक धर्म" मासिक के हम इस समय ७२ पृष्ठ प्रतिमास दे रहे हैं। यदि ग्राहक संख्या न बढी और जितनी है उतनी ही रही तो हमें इस वर्ष कमसे कम बारह सौ रु० का घाटा उठाना पडेगा। इसलिये पाठकोंसे हम सूचना करते हैं कि वे इस मासके अन्तत क जितने हो सकते हैं ग्राहक बढाने की सहायता करें। यदि ग्राहक इतनी सहायता नही करेंगे तो या तो पृष्ठ संख्या पूर्ववत् ४८ करनी पडेगी, अथवा मूल्य बढाना पडेगा। अथवा कुछ अन्य उपाय सोचना पडेगा।

स्वाध्याय मंडलमें अब आर्थिक हानि उठाने की शक्ति नाहीं है। कई वर्षों से स्वा० मंडल के सिरपर कर्जा का बोजा है। जिसके कारण उत्पन्न होनेवाली चिन्ता हरएक प्रकार से हमारा उत्साह घटा रही है। ऐसी अवस्था होते हुए भी हमने पृष्ठसंख्या इतनी बढाई है। पाठक इसका विचार करके हमें उचित सहायता दें जो पाठक पृष्ठ संख्या घटानेके इच्छुक हों वे वैसा लिखें. तो हमें पता लग जायगा कि पाठक स्वयं इस कार्य को बढाना चाहते हैं वा घटाना चाहते हैं। अगले मास में यदि उचित सहायता पाठकों से न हुई तो पृष्ठ संख्या बढाने का विचार एकदम कम करना ही पडेग॥

पाठक नये ग्राहकों का चंदा म० आ० से ही ४) भेज दें वी. पी. दूसरों के नाम करनेके लिये हमें कोई न लिखें। प्रायः दूसरों के नामपर भेजी हुई वी. पी. वापस आती है। इसलिये बहुत करके वी. पी. से लाभ के स्थानपर हानी ही होती है।

आशा है कि पाठकगण इसके संबंधमें जो कुछ हो सकता है अति शीघ्रतासे करेंगे।

प्रबंध कर्ता।

अमृत का भोजन।

जो मानसिक परिश्रम अधिक करना चाहते हैं, जो वुद्धि और मनमें अधिक उत्साह तथा बल लाना चाहते हैं, उन्हें श्रेष्ठ भोजन की आवश्यकता है।

इस प्रकार का भोजन वही है जो जल्द हजम होता है और पुष्टिकर भी है। किन्तु हजम करने में हलकापन तथा पौष्टिकपन ये दोनों गुण कुछ अंश में परस्पर विरोधी हैं। तब भी कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं कि उनमें ये दोनों गुण रहते हैं। ऐसी वस्तुओंमें दूध श्रेष्ठ है। जब हम कहते हैं कि "श्रेष्ठ भोजन करो" "अधिक पुष्टिकर अन्न खाओ;" तब कुछ लोगोंको संदेह हो सकता है कि क्या हम मांसाहार का उपदेश करते हैं? इससे इस बातको हम स्पष्टतया बता देना चाहते हैं। इसमें संदेह नहीं कि मांस हजम करनेमें हलका और अधिक पुष्टिकर है। हर्बर्ट स्पेन्सर साहब सरीखे लोगोंका मत है कि मनुष्यको मांसाहार आवश्यक है। किन्तु कई प्रकार का मांस हजम करने में बहुत कठिन होता है और मांस के खाने से कई रोग होते हैं। साथ ही कई यूरोपीय विद्वानों का मत है कि जो पोषण मांससे होता है वही उचित वनस्पतिके खानेसे भी होता है। दूसरे, मांस खाने के लिए जो क्रूरता आवश्यक है उसके प्रति लेखकको बड़ी घृणा है। इसीसे उसका यह उपदेश नहीं है कि मांस खाओ। मांसाहार के अच्छे गुण रखने वाली दूध जैसी वस्तुओंके होते मांस खाने की कोई आवश्यकता नहीं दिखती।

सभी लोग मानते हैं कि शरीरके पोषण के लिए दूधके समान दूसरी वस्तु ही नहीं है। दूध ही ऐसी वस्तु है जिसके अकेलेके सेवन से किसी भी उमर में मनुष्यका पोषण हो सकता है। दूध ही ऐसा अन्न है जो छोटेको तथा बड़ेको, बिमारको, और चंगेको, बलहीन को तथा बलवानको, सबको एकही सा उपयोगी है। उसकी उपयोगिता पर ध्यान देनेसे विदित होगा कि उसका अमृत नाम बिलकुल उचित है। मांस उत्पन्न करनेवाले, उष्णता उत्पन्न करनेवाले आदि अत्यन्त आवश्यक सब द्रव्य दूधमें हैं। इससे जो लोग पूर्णतया शरीरका पोषण करना चाहते हैं वे दूध का अधिक उपयोग करें। बालक के शरीरका उचित पोषण होने के लिए तथा शरीर और मस्तिष्क की अच्छी वृद्धि के लिए इस अन्न की विशेष आवश्यकता है। इससे मा बापों को प्रबन्ध करना चाहिए कि बालकों को दूध काफी मिले। स्कूल जानेवाले १०। १२ वर्ष की उमर वाले बालकों में फी सदी ७५ लडकोंको रोजीना पूरा एक पाव भी दूध नहीं मिलता। ऐसे बालक पाठशालाओं में ५।६ घंटे बैठते हैं और उन्हे पढाई की फिकर हो जाती है। तब वे हृष्ट पुष्ट और बलवान कैसे हो सकते हैं?

जिन्हे यह तीव्र इच्छा है कि हमारा वर्तमान शारीरिक ह्रास घटे वे जहाँ तक बने अन्य उपायोंके साथ अपने आहारमें सुधार करें।× या ऊपर बता दिया

×बहुत पहले से यूरपवासी जान गए हैं कि भारत वासियों का भोजन गरीबी भोजन है। एक लेखक यूरोपीयन तथा नेटिवकी तुलना करते समय कहता है :—

"They (Europeans) were physically stronger than the natives, enfeebled by an enervating climate a SPARE DIET and a life of apathetic indolence."

W. A. D. Adams.

स्पेन्सर साहब का कथन है-"The well-fed races have been the energetic and dominant races" यद्यपि यह कथन पूर्णतया सत्य नहीं है, तब भी वह विचार करने योग्य है।

है कि हमारे भोजन का पौष्टिक अंश बढाने के लिये दूध ही ऐसी वस्तु है जिसका अधिक उपयोग करना चाहिये। इस देश में अच्छी दशा के मनुष्य के भोजन में मांसोत्पादक भाग ६॥ तोले रहता है और उमर के बढने तथा व्यवसाय के अनुसार वह ८।९ तोलों तक बढता है। बम्बई के सुविख्यात डॉ. देशमुख का कथन है कि शरीर का वजन १२५ पौंड होवे तो मांसोत्पादक भाग ९ तोले होना चाहिए। और वजन १५० पौंड होवे तो वह भाग ११ तोले रहना चाहिए। इस प्रकार जो ४।५ तोलों की कमी रहती है उसे पूरी करने के लिए सेरभर दूध के सेवन की आवश्यकता है। दूध में जो भिन्न भिन्न अंश हैं उसके तख्ते को देखनेसे विदित होगा कि, हमेशा के भोजन में जो पौष्टिक अन्न की कमी रहती है वह कभी उपरोक्त प्रमाण में दूध के सेवन से पूरी हो जावेगी।

एक सेर दूध को हर माहमें ५।६ रुपये खर्चा आता है इससे जो लोग हर एक मनुष्य पीछे ७।८ रुपये खर्च कर सकता है उसे भोजन में उक्त सुधार करना चाहिए। इतने थोडे खर्चे से यदि आयु १०।१५ वर्षों से बढ जावे और शरीर में उत्साह सामर्थ्य आदि गुण बढ जावे तो हानि बिलकुल नहीं है, लाभ ही है। जिनका शरीर अभी पूरा बढा नहीं, जिनके शक्ति, उत्साह आदि गुणों पर भावी उन्नति अवलम्बित है उन बालकों के लिए भोजन का महत्व बहुत भारी है। इसी लिए आवश्यक है कि उपरोक्त अन्न कम से कम बालकों को अवश्य मिले। तब यह प्रश्न अनावश्यक है कि "क्या घर के छोटे बच्चे से लकर बूढी नानी तक सब को एक एक सेर दूध की खुराक कर दी जावे ?" क्यों कि उपरोक्त कथन उन्ही के लिए है जिनका अधिक दिन जीना आवश्यक है, और जिनकी बढी हुई शक्तिसे और उत्साह से आमदनी बढने की सम्भावना हो। याद रखना होगा कि पैसे की तंगी के कारण बडे लोग यदि पौष्टिक भोजन न भी करें तो चल सकता है। किन्तु जिनके शरीर की वृद्धि पूर्ण नहीं हुई, जिनके पोषणपर भावी जीवन का आरोग्य, बल, उत्साह आदि बातें निर्भर हैं, उन बालकों के पोषण में असावधानी या कंजूसी नहीं होनी चाहिए। इसी से पालकों को आवश्यक है कि वे बालकों का भोजन उक्त प्रकार का रखें।

यदि लोग अपना कर्तव्य जान लेवेंगे तो वे अडचन में भी कपडा, नाटक आदि में होनेवाला व्यर्थ खर्च न कर अपने बच्चे के लिए ४।५ रुपये महीना खर्च कर सकते हैं। यह फजूल खर्च कदापि नहीं कहा जा सकता। क्यों कि इसका बदला बहुत ही अच्छी तरह से आगे चलकर मिलेगा। बालकों के स्वास्थ्य के लिए यदि ५।६ रुपये महीने का अधिक खर्च हुआ तो एक वर्ष में ७२ रुपया अधिक खर्च होंगे। लडके की शिक्षा का समय १५ वर्ष का मान लिया (अर्थात् ७ से २५ वर्ष की उमर तक, जिसमें कॉलेज की शिक्षा भी आ जावेगी), तो कुल हजार, डेढ हजार रुपया अधिक खर्च होगा। किन्तु इस रकम से जो लाभ होगा उसकी तुलना में तथा कुल खर्चे के मिलान में यह रकम नहीं के बराबर है। यदि कोई मावाप इतने ही से संतुष्ट न हों और वे समझते हों कि पैसे से उनका भारी नुकसान होता है और उसके बदले में पैसा बिलकुल नहीं मिलता,तो उन्हे समझना चाहिए कि उक्त रीतिसे लडके के स्वास्थ्य की फिक्र करने से वह लडका १०।१५ साल अवश्य ही जीवित रहेगा। इस समय में वह उद्योग भी अधिक करेगा। और इस उद्योग तथा रुजगार से जो आमदानी होगी उस से खर्च हुई रकम व्याज समेत वसूल हो जावेगी। इससे मावाप का यह बहाना व्यर्थ है कि उनके पैसे खर्च होते हैं। दूसरे, यदि विचार किया जावे कि कमजोर मनुष्य को दवा पानी कितना करना पडता है और उसमें कितना रुपया खर्च हो जाता है, तो विदित होगा कि छुटपन में स्वास्थ्यरक्षा के लिए किया हुआ खर्च फजूल नहीं है।

बालकों का स्वास्थ्य अच्छा रखनेके लिए आवश्यक है कि मावाप, बच्चे तीन, चार साल के होते तक, उनके भोजन के संबंध में बहुत सावधान रहें। अंग्रेज और देशी वैद्यों का मत है कि दूध के समान बालकों के लिए अच्छा भोजन नहीं। कई लोग बच्चों को सिर्फ दूध पिलाने से खर्च अधिक होता

है इससे जल्द ही बच्चों को अन्न खिलाने लगते हैं, और दूध कम कर देते हैं । किन्तु यह भारी भूल है । खेत में खाद कंजूसी से डालने पर किसान का जो नुकसान होता है, उससे भी अधिक नुकसान बालकों का दूध कम कर देने से होता है, एक अंग्रेज लेखक कहता है ' हम जितनी फिकर घोडे, बैल आदि के छुटपन के पोषण में लेते हैं; कैसा आश्चर्य है कि उतनी भी फिकर हम अपने बच्चों के पोषण की नहीं करते। यह कथन बिलकुल सत्य है। अडचन में पडा हुआ किसान भी बच्छा अच्छा तैयार होवे इसलिए गाय का पूरा दूध न निकाल बच्छेके लिए रख छोडता है। इसी तरह उसे बैलकी आवश्यकता रहने पर भी छोटी उमरवाले कोमल बच्छे को हर में वह नहीं जोतता । किन्तु किसानों से अधिक शिक्षित और होशियार लोग बिलकुल नहीं सोचते कि अपने बच्चों को दूध पूरा मिलता है या नहीं, कोमल उमर में कडी पढाई उससे करानी चाहिए वा नहीं, और छोटी उमरमें उसपर घर गिरस्ती का बोझ डालना उचित है वा नहीं ।

यह पढ कर माबाप कहेंगे, ' हम इन बातों को अच्छी तरह समझते हैं, किन्तु इसके लिए जो पैसा लगता है वह कहाँ से लावें ? यह अडचन यदि आप हटावें, तो बहुत अच्छा होगा । बरना तुम्हारे कथन से क्या लाभ ? " सच है हम लोग बहुत गरीब हैं । लेखक भी इस बात को जानता है, किन्तु उसका कहना इतनाही है कि स्कूल की फीस१रुपये की जगह दो रुपया हो जावे,या १०रु० की जगह१५ रु.हो जावे तो किसी तरह अडचन करके उसे आप देते ही हैं। लडके को एक कुडता और एक कोट (ठण्डके लिए एक ऊनी व रूभरी बण्डी) औरएक चार, छे आने आने की टोपी इतनी पोषाक काफी रहते, आप फैशन के फंद में फँस कर १०।२० रुपये उसकी पोषाकके लिए खर्च करते हैं। इसी तरह यदि आप चाहें तो बालक की भावी भलाई पर ध्यान दे उसके स्वास्थ्यके लिए ४।५रु. महीनेमें खर्च करनेकी गुंजाइश निकाल सकते हैं । किन्तु वास्तव में इस बात में हमें अपनी दारिद्र्यताको दोष न दे अपनी असावधानी एवं लापरवाही को दोष देना चाहिए।

जो मनुष्य अपने लडकों के लिए १०।५ हजार रुपयों से लेकर लाखों की जायदाद छोड जाते हैं या छोड सकते हैं, उनमें से कितने देखते हैं कि उन के लडके उनके ही सदृश तन्दुरुस्त हैं वा नहीं ? या उन बालकों का स्वास्थ्य बिगड तो नहीं रहा ? यदि उन्हे दिखाई दे कि बालकों का स्वास्थ्य बिगडा है तो कितने लोग उसके सुधारने की चेष्टा करते हैं। लडका पढाई में कच्चा रहने पर उसके लिए मास्टर लगानेवाले मनुष्य शहर में कई दिखाई देंगे। किन्तु उसकी उमर के ख्याल से वह छोटा दिखता है, या वह कमजोर है, इससे उसका स्वास्थ्य सुधारने के लिए प्रति मास ४।५ रुपये खर्च करनेवाला बाप शायद ही कोई दिखाई देता है । कितने दुःख की बात है कि लोग जिस शौक से खेतमें खाद डाल-कर पुरुष, देढ पुरुष ऊंचा गन्ना उपजाने का प्रयत्न करते हैं या जिस शौकसे, बच्छे को साँड बनानेकी चेष्टा करते हैं वही शौक, वह दिलचस्पी अपने लड-के को हृष्टपुष्ट बनाने में नहीं दिखाते । यदि यह बात अपढ लोगों में दिखाई दे तो उसमें विशेष आ-श्चर्य नहीं है। क्यों कि वे बेचारे शरीर और मन का सम्बन्ध नहीं जानते । और उन्हे ज्ञात नहीं है कि बलवान शरीर का व्यवहार में कैसा महत्व है। किन्तु जिन्हे यह मालूम होना चाहिए कि स्कूल की परीक्षाएँ ही जीवनका सर्वोपरी उद्देश नहीं है, जो समझ सकते हैं कि कम से कम समय में इन परीक्षा ओं को पास करने ही में बालकों की भलाई नहीं है, वे शिक्षित लोग ही शरीर के संबंध में लापरवाह रहते हैं । क्या यह बडी विचित्र बात नहीं है ?

तब भी हम मानते हैं कि उक्त रीति से बालकोंके आहार का प्रबन्ध करने में खर्च अधिक होगा और इससे माबाप को बालकों का बोझ अधिक मालूम होगा । किन्तु इसके लिए शिकायत करनेसे क्या लाभ ? क्योंकि उन्हे (माबापको) याद रखना होगा कि वे सन्तान उत्पन्न करके उनपर उपकार नहीं करते।किन्तु वे अपने सुखके लिए जे काम करते हैं उसका परिणाम सन्तान है । तब उनका कर्तव्य है कि संतान का उचित रीतिसे पोषण करें। मातापिता को जानना चाहिए कि यदि वे इस कर्तव्यको निबा-

हने में असमर्थ हों तो वे सन्तान उत्पन्न करनेमें बडा भारी पाप करते हैं। जिस बालक का पोषण हम उचित रीतिसे नहीं कर सकते उसे जन्म देकर हम अपने सुखके लिए अपनी सन्तान का जीवन दुःखदाई बनाते हैं। पहले जब लोगोंका पिण्ड बलवान होता था, जब हर किस्मकी सस्ती थी, जिस समय बालकोंको शिक्षामें वा उसके पालन पोषणमें वा खुदके पैरपर खडे रहने की योग्यता प्राप्त करा देनेमें अधिक खर्च न आता था उस समय मातापिता की जवाब देही आज जैसी भारी न थी।

५० वर्ष पहले हिन्दी की ५। ६ क्लासोंकी पढाई हो जाने पर १०।२०रूपये की नौकरी मिलजाती थी। इन १०।२० रुपयोंमें सात आठ मनुष्यों का निर्वाह होता था। किन्तु अब वह समय है जब कि हजार पांचसौ रुपये खर्च करने पर एन्ट्रन्स परीक्षा होती है उसके बाद ३०।४० रूपये की नौकरी के लिए दो, चार साल उम्मेदवारीमें बीताने पडते हैं। और इस प्रकार जो नौकरी मिलती है उसमें कठिनाईसे स्त्री और पुरुष का पेट चलता है। इस प्रकार समय में परिवर्तन हो गया है, सभी व्यवसायोंमें स्पर्धा बढ गई है और पेट पालना कठिन हो गया है। इसी लिए अब शरीरके सामर्थ्य की विशेष आवश्यकता है। वर्तमान समयमें जो बालक रूखी, सूखी रोटी खाकर पढते हैं, उनके शरीर की पूर्ण वृद्धि नहीं हो सकती। छोटी उमरमें कडा परिश्रम करना पडता है इससे वे बडे होने पर कम जोर बने रहते हैं, और उनकी आयुभी कम हो जाती है। अतः ऐसी प्रजा उत्पन्न करनेमें पुण्यकी अपेक्षा पापही अधिक है। देशमें निःसत्व, निर्बल तथा निरुत्साही लोगोंकी संख्या पहलेहीसे अधिक है। ऐसी दशामें गरीब लोग यदि प्रजोत्पत्ति करें तो परिणाम यही होगा कि स्कूलोंमें मास्टरी व दफ्तरोंमें बाबूगिरी की नौकरी मिलने के लिए। लम्बी अर्जियाँ लेकर दौड धूप मचानेवालों कीही संख्या बढेगी। पहले ही से इन लोगों की संख्या बडी है इसीसे वर्तमान दुरवस्था हुई है। यह संख्या और भी अधिक बढाने से देश को रत्ती भर भी लाभ न होगा, बल्कि नुकसान ही अधिक होगा। वर्तमान समय में देशको ५० रु. के बदले ४० रु.वा ४० रु. के बदले ३० रु.में संतोष करने वाले डिग्री धारियों की, वा, २५, २० वा १५ रूपये लेकर किसी भी प्रकार आधा पेट रहकर जिंदगी बसर करने वाले शिक्षितों की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता ऐसे लोगों की है जिनकी यह हिंमत है कि आवश्यकता पडनेपर पृथ्वीपर किसी भी स्थान में जाकर पेट पालेंगे, जिनमें साहस, उत्साह और महत्वाकांक्षा हो।

ऐसे समय में यदि बाबूगिरी करनेवाले कुछ लोग कम भी हो जावें तो क्या हानि होगी? ऐसी दशामें प्रजोत्पत्ति कर महँगाई बढाने की अपेक्षा प्रजोत्पत्ति ही बंद की जावे तो क्या बुरा हो? इसी लिए तथा ब्रह्मचर्य से रहने से पुण्य होता है इस कारण भी गरीब लोगों को चाहिए कि प्रजोत्पत्ति बन्द कर दें और ब्रह्मचर्यसे रहें। इसमें देश की भलाई के साथ ही परमार्थ का साधन भी होगा। अस्तु यह दूसरा विषय है। प्रस्तुत विषय के संबंध में यही कहना है कि देशमें निर्बल निरुत्साही और निःसत्व लोग पहले ही बहुत ज्यादा हैं।

उनकी संख्या न बढाकर यह प्रयत्न किया जाय कि उनकी हालत सुधरे। कम से कम वे लोग अवश्य ही सन्तान उत्पन्न करना बन्द कर दें जिन्हे बालकों को अच्छी तरह शारीरिक तथा मानसिक शिक्षा देने की सामर्थ्य नहीं है। अतएव सब लोगों से विनय है कि शरीर को बलवान, उत्साही और फुर्तिला बनाए रखने के लिए जिस प्रकार का भोजन करने के लिए इस पाठ में कहा गया है उस प्रकार का भोजन वे अपने लिए तथा बालकों के लिए प्राप्त करें। यदि गरीबी के कारण यह नहीं हो सकता तो प्रजोत्पत्ति अंशतः वा बिलकुल बंद कर दी जावे और उन गरीबों का सामर्थ्य बढाने में अपनी सम्पत्तिका व्यय करें।

गौके दूधके विषयमें अथर्व वेदका एक मंत्र यहां देखना योग्य है-

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित्कृणुथा सुप्रतीकम्। भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वो वय उच्यते सभासु॥ अथर्व. ४।२१।६

"गौवें अशक्त को सशक्त बनाती हैं, निस्तेज को तेजस्वी बनाती हैं। घर को कल्याण मय बनाती हैं इस लिये सभाओं में भी गौवों की प्रशंसा होती है।"

तपैदिक की यज्ञ द्वारा चिकित्सा.

(ले०— डा० फुन्दनलाल एम० डी० डी० ए० एल०, एम० आर० ए० एस०)

—o—

भारतवर्ष में जैसे जैसे निर्धनता, निर्बलता और विलासता बढती जाती है वैसे ही तपेदिक भी दिन प्रति दिन उन्नति कर रहा है। बडे बडे नगर तो इसके केन्द्र स्थान ही हैं। पर अब तो कस्बे और ग्राम तक इससे मुक्त नहीं। और मुक्त भी कैसे रह सक्ते हैं जब उसके लिये कोई यत्न ही नहीं किया जाता।

इंगलैण्ड जैसे छोटे से देश ने जहाँ इस रोग की अधिकता भी नहीं, सन् १९११ के बजट में ३१५ करोड रुपया सेनीटोरियम्स के लिये स्वीकार किया था। सेनीटोरियम्स में रह कर रोगी अच्छे होते हैं, उनको तुरन्त नगरों में नहीं भेज दिया जाता किन्तु वहाँ ही निकट के खेतों पर काम पर लगा दिया जाता है ताकि औरों को छूत का भय न रहे। जनता को इस रोग से बचने के नियमों पर व्याख्यान दिये जाते हैं। व्याख्यानों को रुचि कर बनाने तथा जनता पर रोग का वास्तविक रूप प्रकट करने के लिये मैजिकलैन्टर्न से काम लिया जाता है। जनता भी शिक्षित होने के कारण सुगमता से समझ कर उन नियमों पर कटिबद्ध हो जाती है। पर भारतवर्ष की लीला ही विचित्र है। रोग प्रति दिन बढ रहा है; इतने बडे देश में उंगलियों पर गिने योग्य सेनीटोरियम हैं, उनमें भी रोगी जाने से कतराते हैं। जब तक रोगी चलता फिरता रहे डाक्टर के लाख मना करने पर भी सब काम काज करता रहेगा। उसकी जूठन, कपडे थूक इत्यादि से अन्य कुटुम्बी कुछ, परहेज, न करेंगे। कोई समझावे तो सब बातों का जवाब "तकदीर" और "भोग" होगा। मूर्ख ही नहीं बडे बडे पढे लिखे भी जो और सब कामों को तदबीरसे करते हैं स्वास्थ्य को तकदीर पर ही छोड देते हैं।

मुझे अपनी इस रोग की प्रैक्टिस में ६० प्रति शतक रोगी ऐसे मिले हैं जिनको थोडी सी असावधानी तथा दूसरे रोगियों के सम्पर्क और पूर्ण बचाव न रखने के कारण यह रोग हुआ था।

वर्तमान सभ्यता में जीवन व्यतीत करने वाले कोई भी सज्जन अपने को इस रोग से सुरक्षित न समझें। तंग सीने और सूखे शरीर वाले तो इस रोग के चंगुल में आसानी से आही सकते हैं। पर सावधानी न रखने से बडे बडे हृष्ट पुष्ट भी इस रोग का शिकार हो जाते हैं। इस रोग से बचने के लिये जिन नियमों पर आचरण करना आवश्यक है उनको संक्षेप में यहाँ लिखा जाता है।

तपेदिक से बचने के साधन

१—प्रत्येक मनुष्य को कुछ न कुछ, व्यायाम अवश्य करना चाहिये जिससे शरीर पुष्ट बना रहे। ऐसी अवस्था में यदि रोग के कीटाणु शरीर में प्रवेश भी करेंगे तो नष्ट भ्रष्ट हो जावेंगे।

२—अन्धेरे, सील वाले, अपवित्र स्थान में जहाँ प्रकाश और वायु का पूर्ण प्रवेश न हो न रहना चाहिए। अन्वेषण से सिद्ध हो चुका है कि तपेदिक के कीडे जो थूक और पानी यहाँ तक कि बर्फ में भी कई कई मास जीवित रह सकते हैं; खुली हवा में एक सप्ताह में और धूप में कई घण्टों बल्कि कभी कभी कई मिनिटों में ही मर जाते हैं।

३—शक्ति से अधिक कार्य करना और उसके अनुसार भोजन न मिलना। अथवा इसके विपरीत अधिक पौष्टिक भोजन करना और व्यायाम न करके सर्वदा पाचनशक्ति को बिगाडे रखना इस रोग के उत्पादक कारण हैं।

४— अत्यन्त विषय, भोग, बाल विवाह, निकट सम्बन्धियों में विवाह, चिन्ता, अत्यन्त मदिरा पान, स्त्रियों का अधिक पर्दे में रहना, अधिक समय तक बालकों को दूध पिलाना, अधिक समय तक प्रदर रोग अथवा गर्भाशय के रोग रहना, वेगों का रोकना (मल, मूत्र, छींक, काम इत्यादि स्वाभाविक बातें वेग कहाती हैं), बहुत से आदमियों का एक ही बन्द कमरे में सोना इत्यादि भी इसके उत्पादक कारण हैं।

५-- इस रोग के रोगी से विशेष सम्पर्क रखना, उसकी श्वास, थूक, वस्त्र इत्यादि से पूर्ण बचाव न रखना, रोगी को पृथ्वी अथवा दीवार पर थूकने देना भी इस रोग के उत्पादक कारण हैं, क्योंकि अन्वेषण से यह भी सिद्ध हो चुका है कि ऐसे सूखे हुए थूक में भी इस रोग का कीडा ६ मास तक जीवित रह सकता है।

चिकित्सा

वैद्यक, यूनानी, होम्येपैथिक, एलोपैथिक, इत्यादि अनेक तरीके इलाज के इस समय प्रचलित हैं। इनमें से कौनसा तरीका उत्तम है और किस तरीके से कितने रोगी अच्छे होते हैं यह बताना यहां अभीष्ट नहीं है, पर यह सभी कहते हैं कि इस रोग की चिकित्सा करना साधारण बात नहीं है। अतः यहां हम एक विशेष चिकित्सा का वर्णन करते हैं जो प्राचीनकाल में प्रचलित थी, पर अब लुप्त प्राय है। हम कई चिकित्सकों ने उसी लुप्त हुई विद्या को खोज स्वयं अन्वेषण करके असाधारण सफलता प्राप्त की है। अतः लोकहित के लिये वह यहाँ प्रकाशित की जाती है। मेरा अभिप्राय "यज्ञ चिकित्सा" से है। यद्यपि यज्ञ चिकित्सा से अनेक भयानक रोग दूर किये जा सकते हैं किन्तु यहां केवल राजयक्ष्मा (तपेदिक) के विषय में लिखना है।

यज्ञ चिकित्सा क्या है?

रोग नाशक औषधियाँ कूट कर विधिपूर्वक घृत इत्यादि मिला अग्नि में जलाना और उन औषधियों के जले हुए परमाणुओं में मिश्रित वायु को श्वास-द्वारा तथा अन्य लोम छिद्र द्वारा रोगी के शरीर में आरोग्य होने तक नित्य प्रति प्रवेश करना " यज्ञ चिकित्सा " कहाती है।

यज्ञ चिकित्सा क्यों सर्व प्रधान है?

सब बुद्धिमान जानते हैं कि सूक्ष्म वस्तु स्थूल में प्रवेश कर सकती है पर स्थूल सूक्ष्म में नहीं घुस सकता। आटे में मिली हुई शक्कर के सूक्ष्म परमाणु पृथक् करने को मनुष्य की स्थूल उंगलियां असमर्थ हैं, पर चींटी का सूक्ष्म मुंह उसे सुगमता से पृथक् कर सकता है।

अब विचार कीजिए Bacillia Bacteria इतना सूक्ष्म होता है कि यदि साधारण कद वाले Bacteria एक कतार में रखें जावें तो २५००० कीडे एक इञ्च स्थान घेरेंगे। यदि उनको तोला जावे तो एक खस खस के दाने पर बीस अरब कीडे चढ जावेंगे। इतनी सूक्ष्म वस्तु पर स्थूल कण वाली औषधियों की बडी बडी मात्राओं की पहुँच ही दुस्तर है। कीडों को समाप्त करके उन पर विजय पाना तो दूर की बात है। (इसी नियम को न समझ कर लोग तपेदिक को लाइलाज कहते हैं)। पर औषधियों का वह सूक्ष्म तर भाग जो यज्ञ-अग्निद्वारा छिन्न-भिन्न हुआ है कीडों को सुगमता से मार कर रोग दूर कर सकता है। एक बात, दूसरे! तपेदिक में फेफडे विशेषतया आक्रान्त होते हैं। जो औषधि मुंह से खाई जावेगी वह हजम होने पर रस रक्त बनने के पश्चात् फेफडों तक पहुँचेगी पर अग्नि में जलाई हुई औषधि श्वास द्वारा सीधी फेफडे पर स्थाई प्रभाव करेगी, जो किसी अन्य तरीके से सम्भव नहीं, अतः यज्ञ चिकित्सा सर्व प्रधान है। इस विषय में जहाँ अनुभव सिद्ध होने का सबसे बडा प्रमाण है वहाँ अनेक और भी माननीय प्रमाण हैं।

वेद भगवान का प्रमाण

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्, ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्रमुमुक्तमेनम्।

अथर्व० का ३ अनु० ३ सूक्त ११।

(अर्थ)—हे व्याधिग्रस्त (त्वा) तुझको (कम्) सुख के साथ (जीवनाय , चिरकाल तक जीने के लिये (अज्ञात यक्ष्मात्) गुप्त यक्ष्मा रोग से (उत) और (राज यक्ष्मात्) सम्पूर्ण प्रगट राज यक्ष्मा रोगसे (हविषा) आहुति द्वारा (मुञ्चामि) छुडाता हूँ (यदि) जो (एतत्) इस समय में (एनम्) इस प्राणी को (ग्राहिः) पीडा ने या पुराने रोग ने (जग्राह) ग्रहण किया है (तस्याः) उससे (इन्द्राग्नी) वायु तथा अग्नि देवता इसको अवश्य छुडावें ।

इससे साफ तौर पर प्रकट है कि वेद भगवान हर प्रकार के तपेदिक की चिकित्सा चाहे रोग अभी प्रकट हुआ हो वा गुप्त हो । वायु और अग्नि द्वारा और आहुति द्वारा रोगसे छूटने का आदेश करते हैं। दूसरा मन्त्रः-

यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव।
तमाहरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्षमेनं शत शारदाय॥

[यदि] यदि [क्षितायुः] रोग के कारण न्यून आयु वाला हो [यदि वा] अथवा [परेतः] इस संसार के सुखोंसे दूर होगया हो [यदि] चाहे [मृत्योः] मृत्युके [अन्तिकम्] निकट [एव] ही [नीत] आ चुका हो [तम्] ऐसे रोगीको भी [निर्ऋतेः] महारोगके [उपस्थात्] पाससे [आहरामि] छुडाता हूँ [एनम्] इस रोगीको [शत शारदाय] सौ शरत् ऋतुओं तक [अस्पार्षम्] [जीनेके लिये] प्रबल किया है ।

तात्पर्य यह है, चाहे रोगी मृत्युके निकट ही पहुँच गया हो पर अग्नि द्वारा [यज्ञ चिकित्सा] से सौ वर्ष की आयु भोग सकता है । [अर्थात् बीमारी बहुत बढ जाने पर भी इस चिकित्सा से निरोग हो सकता है] । ऐसे ही अनेक मन्त्र विद्यमान हैं, जो देखना चाहे अथर्ववेद का पाठ करें ।

आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ चरक का प्रमाण ।

यया प्रयुक्तया चेष्ट्या राजयक्ष्मा पुरा जितः ।
तां वेदविहितामिष्टिमारोग्यार्थी प्रयोजयेत् ॥
चरक चिकित्सास्थान अ० ८ श्लो० १८३ ।

(अर्थ) जिस यज्ञ के प्रयोग से प्राचीनकाल में राजयक्ष्मा रोग नष्ट किया जाता था, उस वेदविहित यज्ञ को रोग दूर करने के लिये करना चाहिये। चरक संहिता में यक्ष्मा रोग की अन्य चिकित्सा बताते हुए अन्त को यह चिकित्सा बताई है, और इसी पर चिकित्सा समाप्त कर दी गई है ।

होम्योपैथिक मत से पुष्टि ।

होम्योपैथिक चिकित्साके आविष्कार कर्ता महात्मा हैनीमन साहब अधिक निर्बल रोगियों को खिलाने के स्थान में केवल औषधि सुंघाने का परामर्श देते हैं और उसके लिये वह अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Oraganon of the medicines की धारा १९० में लिखते हैं कि मेदे के अतिरिक्त जिह्वा और मुंह में ऐसे भाग हैं जो कि औषधि के प्रभाव को अति शीघ्र ग्रहण करते हैं , किन्तु नाक का भीतरी भाग भी शीघ्रता से प्रभाव ग्रहण करता है ··· ···सबसे अधिक प्रभाव औषधि को सूंघने व श्वास लेने से होता है।

ऐलोपैथिक मत से पुष्टि ।

ऐलोपैथिक डाक्टरी में तपेदिक के रोगी kreosoti और Eucalyptus oil इत्यादि का Inhalation बना कर सुंघाते हैं और इसका प्रभाव तत्काल होता है। वैसे Kreosoti खिलाया भी जाता है,पर वह इतना शीघ्र प्रभाव नहीं करता । ऐसा क्यों होता है ? इसीलिये कि सुंघी हुई दवा के बारीक परमाणु सीधे फेफडे में पहुँच कर अपना प्रभाव तुरन्त दिखाते हैं, पर उनमें वह शक्ति नहीं कि स्थाई प्रभाव रख सकें, जैसा कि अग्नि से छिन्न भिन्न हुई औषधि के परमाणु रख सकते हैं ।

वर्तमान अनुभव की साक्षी ।

लेखक ने अनेक रोगियों पर अनुभव कर यज्ञ चिकित्साको अत्यन्त उपयोगी पाया। यह अवश्य हुआ कि कहीं इस चिकित्सा के साथ रोगी की अवस्थानुसार होम्योपैथिक की सूक्ष्म औषधि अथवा जल चिकित्सा के स्नानों का प्रयोग भी किया गया । इस

विधि से अनेक ऐसे रोगी जिनके जीवन की आशा भी न थी निरोग होगये ।

एक योग्य वैद्य की साक्षी

मैंने अपने कई वर्षों की चिकित्सा अनुभव से निश्चय किया है, कि जो महारोग औषधि भक्षण करने से दूर नहीं होते वे वेदोक्त यज्ञों के द्वारा दूर हो जाते हैं, और कई वर्षों तक रोगियों पर इन यज्ञों का प्रभाव देखता रहा और सिद्धि प्राप्त हुई ।

कविराज पं० सीताराम शास्त्री

हम समझते हैं कि हमने संक्षेप में पर्याप्त प्रमाण इस चिकित्सा की श्रेष्ठता में पेश कर दिये हैं; अतः अब हम उन औषधियों की एक सूची देते हैं, जो तपेदिक नाशक हवन सामग्री में डालना चाहिये । यद्यपि प्रत्येक रोगी की विशेष अवस्था में विशेष विशेष औषधियां न्यून अधिक की जा सकती हैं जिसे साधारण बुद्धि का वैद्य जो औषधि के गुण तथा प्रयोग से विज्ञ है कर सकता है पर साधारणतया निम्नलिखित सामग्री से अनेक रोगियों को लाभ हो सकता है, किन्तु औषधि लिखने से पूर्व हम वह मार्ग भी बता देना उचित समझते हैं, जिस पर चलकर वैद्य प्रत्येक रोगी के लिये उपयोगी सामग्री बना सके । इसी लेख में हमने अथर्ववेद के दो मंत्र दिये हैं, उसी के आगे तीसरे मंत्र में औषधियों का वर्णन है, वह इस प्रकार हैः-

सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषा हार्षमेनम् ।
इंद्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम्।

इस मंत्र का अभिप्राय यह है कि १ - ज्ञान इन्द्रियों की शक्ति बढाने वाली, २ - वीर्य और बल को बढाने वाली और ३- आयु को बढाने वाली औषधियों से यज्ञ करने से तपेदिक नाश हो सकता है । इसी सिद्धान्त को लक्ष्य में रखकर रोगी के अनुसार हवन सामग्री बनाई जाती है, जो इस प्रकार हैः-

तपेदिक नाशक यज्ञ सामग्री ।

मण्डूक पर्णी, ब्रह्मी; इन्द्रायण की जड, शतावरी, असगंध, विधारा, शालपर्णी, मकोय, अडूसा, गुलाब के फूल, तगर, रासना, वंशलोचन, क्षीर का कौली, जटामासी, पण्डरी, गोखरू, पिस्ता, बादाम, मुनक्का, जायफल, लौंग, हर्र बडी मुठली सहित, आमला, जीवंती, पुनर्नवा, नगेन्द्र बामडी, चीड का बुरादा, खूबकलां (सम भाग), गिलोय, गूगल (चार भाग), केसर, शहद, काफूर, देशी (।आग) शकर (दस भाग), घी इतना कि सामग्री खूब सन जावे जिसके लड्डू बन सकें । खुश्क से खाँसी बढने का भय है । साठी के चावलों की खीर पृथक् बनाई जावे ।

अन्य आवश्यक विधि ।

यज्ञ, सूर्य उदय व अस्त दोनों समय करना चाहिए । शीतकाल में प्रातः के स्थान दोपहर को भी कर सकते हैं ।

चीड अथवा बांस के जंगल में बैठ कर यज्ञ करना रोगी को विशेष हितकर है । यज्ञ की अग्नि खूब प्रदीप्त होनी चाहिए । आम अथवा ढाक की सूखी समिधा हों । धुंआ विशेष न होना चाहिए । हवन समय रोगी उच्च स्वर से यज्ञ मंत्र उच्चारण करें । चिकित्सा के साथ साथ बस्ती कर्म तथा जलचिकित्सा रोग दूर करने में विशेष सहायक हैं ।

निर्बल स्वस्थ मनुष्य जिनको तपेदिक होने का भय है इस सामग्रीसे नित्य प्रति यज्ञ करके तपेदिक के भय से मुक्त हो सकते हैं ।

(आर्यमित्र)

योगचिकित्सा का मूल तत्त्व।

(ले० श्री० पं० अत्रि देवजी गुप्त।)

" संयोगादुष्णात्तत्तु गन्धवर्णयोः।
रक्तस्य पित्तमाख्यातम्।"

बालों में यदि पित्त कम हो जावे तो बाल गिरने लगते हैं या श्वेत हो जाते हैं। उनका रंग नष्ट हो जाता है। उसके लिये आग्नेय पदार्थ भल्लातक चित्रक Cantharidus आदि प्रयुक्त करते हैं अर्थात् पित्त वृद्धि करती है। अतः शरीरस्थ उष्मा का नाम ही संताप का हेतु होनेसे पित्त है, चूंकि रक्त में उष्णिमा है। इस लिये वह भी पित्त है।

अग्निमूलं बलं पुसां बलमूलं च जीवितम्।
जाठरो भगवानग्निरीश्वरोऽन्नस्य पाचकः॥
सौक्ष्म्याद्रसानाददानो विवेक्तुं नैव शक्यते।
धन्वन्तरिः।

यदन्नं देहधात्वोजोबलवर्णादिपोषकम्।
तत्राग्निर्हेतुराहारान्न ह्यपक्वद्रसादयः॥ अत्रिः।

श्लेष्मा—श्लिष आलिङ्गने धातुसे श्लेष्मा शब्द बनता है। इसी प्रकार कफ शब्द में " क " शब्द का अर्थ पानी, जल, है और " फ " का समास करने से कफ शब्द बनता है। केन स्फीतिः वृद्धिः अस्य- जलसे जो वृद्धि को प्राप्त हो वह कफ है।

जो जिस के समान गुणी होता है वह अपने समान गुणी को बढाता है। और विरुद्ध गुणी, को घटाता है इस लिये जल अपने समान गुणी शीत, पिच्छिल, श्वेत, गुरु, मधुर श्लेष्मा की वृद्धि करेगा। यह श्लेष्मा एक होता हुआ भी स्थान और कार्यभेदसे पांच प्रकार का है। क्लेदक, अवलंबक, बोधक, तर्पक श्लेषक।

क्लेदक।

आमाशयमें पित्त अग्नि है यदि उसमें कोई चिकनी रखनी वाली वस्तु जो कि आमाशय की मांसपेशियों को अग्नि के दहन से बचाने के लिये न हो तो अग्नि वातसे प्रज्वलित होकर पेशियों का दहन कर देगी। उससे बचाने के लिये आमाशय में ग्रंथियां हैं जो कि उद्रहरिकाम्ल की तीव्रता को कम करती हैं और आमाशय को चिकना रखती है। ग्रंथियों के स्रावका नाम क्लेदक श्लेष्मा है।

जिस समय ग्रंथियां अपना कार्य भली प्रकार न करें तो पित्त को वृद्धि अथवा ह्रास हो जाता है। वृद्धिमें बाहरसे शीत जलका उपयोग किया जाता है और ह्रास में उपवास लंघनादि।

अवलम्बक।

शरीरका अवलम्बन करने से अवलम्बक है। इसका स्थान हृदय और त्रिकस्थान है। मनुष्य जब बैठता है, खडा होता है, चलता है, उस समय उसका संपूर्ण जोर तथा मेरु दण्ड के अन्तिम सिरे पर पडता है। अतः परमात्माने दो बलवान् पेशियों के साथ बडे बडे कसेरुवों से बनाया है। उन कसेरूओं के बीच बीचमें एक गद्दी रख दी है जिससे कि संघर्षण से वह अपना स्थान न छोड दे। एवं स्नायुवों से सम्यक्प्रकार बांध दिया है।

इसी प्रकार फुप्फुस की दोनों तहों के मध्य में भी एक तरल पदार्थ परमात्माने रक्खा है जो कि संघर्षण से बचाता है।

उस चिकने पदार्थ के जीवन का अवलम्बक होने से अवलम्बक श्लेष्मा कहा है। जिस अवस्था में फुप्फुसका तरल भाग नष्ट हो जावे तो रोग उत्पन्न होजाता है। इसी प्रकार यदि त्रिकभागस्थ श्लेष्मा नष्ट हो जावे तो शूल क्षीणता उत्पन्न होती है। उसके लिये शक्तिवर्धक औषध तैलादि प्रयुक्त होते हैं यथा आपतानक त्रिकशूल आदि रोगों में।

बोधक ।

जिस समय मैं भोजन चबाता हूं तो उसमें थूक मिलता है, यह थूक ग्रंथियों का स्राव है। यह ग्रंथियां जिव्हाके नीचे, हनुप्रदेश एवं कण्ठमें हैं। भोजन के साथ जितनी अधिकमात्रामें यह मिलेगा उतना ही भोजन में मधुर रस मधुर विपाक होगा। वह सम्यक्प्रकार जीर्ण हो सकेगा। इस स्रावसे मुख तर चिक्कण रहता है। धत्तूर विषमें ग्रंथियों के अपना कार्य न करने से मुख शुष्क रहता है।

भोजन के साथ उस रसका मिलना अति आवश्यक है। विना रस के मिला भोजन सम्यक् प्रकार जीर्ण नहीं होता।

" तत्र औदकैर्गणैराहारः प्रक्लिन्नो भिन्नसंघातः सुखजरश्च भवति। "

इस श्लेष्माके मिलनेसे भोजन चिकना हो जाता है। सम्यक् प्रकार निळाला जा सकता है। जिस समय स्राव नहीं बनता उस समय मुख शुष्क हो जाता है और तृषा उत्पन्न होती है। भोजन के अतिरिक्त मुख चिकना रखना भी इस श्लेष्मा का कार्य है।

तर्पक ।

मस्तिष्क शिरादि-नासका तर्पण करने से तर्पक कहाता है।

जिस समय यह श्लेष्मा कम हो जाती है उस समय नासा शुष्क रहती है, कान में मैल सुख जाती है। इस शुष्कता के कारण पित्त कुपित हो जाता है, उष्णिमा बढ जाती है जिस से नासासे रक्त प्रवाह आसान होता है। इस के लिये शीतोपचार अर्थात् कफवर्धन चिकित्सा की जाती है एवं कानमें मसृण स्निग्ध तैलादि प्रयोग करते हैं।

एवं उन्माद रोग (Mania) तथा प्रलाप (Delirium) की चिकित्सा में शिर पर शीत परिषेक, तैलाभ्यंगादि करते हैं। अर्थात् श्लेष्मातिसह औषध प्रयोग करते हैं। इससे स्पष्ट है कि स्निग्ध मस्तिष्क सम्यक्प्रकार विषय का ग्रहण कर सकता है अतः स्वस्थविज्ञानमें कहा है-

" सदैवं शीतलं जन्तोर्मूर्ध्नि तैलं प्रदापयेत्।"
शिरःश्रवणपादेषु तं विशेषेण शीलयेत्। "

मस्तिष्क को धक्के एवं चोट आदिसे बचानेके लिये परमात्माने इसे एक तरल पदार्थ में रक्खा है और उपर हड्डियोंका सन्दूक रख दिया है। इसी प्रकार उच्च तोपादिके शब्द को मस्तिष्कमें पहुंचने से पूर्व एक तरल पदार्थमें से गुजारा है जिस से कि उसका वेग कम हो जावे वह मस्तिष्क पर आघात न करे।

उसी तरल पदार्थ का नाम तर्पक है। तर्पण करनेसे नासाकर्ण चक्षु आदिको स्निग्ध रखती है।

श्लेषक ।

मिलाने वाली श्लेष्माका नाम श्लेषक है। यह श्लेष्मा हाथ पांवकी सब सन्धियोंमें रहती है। इसका कार्य सन्धियोंको चिकना रखना है। जिस प्रकारकी मशीन में तैल की आवश्यकता होती है उसी प्रकार संधियोंमें चिकनाईकी आवश्यकता है उसके लिये एक तरहका रस उत्पन्न होता है यदि यह किसी कारण से निकलना बन्द हो जावे तो विकृतावस्था उत्पन्न होती है उसे क्रोष्टुक शीर्ष कहते हैं।

यही श्लेष्मा एक सन्धिको दूसरी सन्धिसे संबंधित रखती है। जिससे कि वह हिल न सके।

संगति ।

पाठकवृन्द! आपने देखा कि शरीरमें चिपकानेवाले पदार्थका नाम श्लेष्मा है। एकही श्लेष्माके स्थान और कार्यभेदसे पांच भाग होगये। अर्थात् चिकना करनेसे आमाशयको क्लेदक, शरीरका अवलंबन होनेसे अवलंबक, रसका बोधक होनेसे बोधक, मस्तिष्क के तर्पण करनेसे तर्पक और संधियोंके जोडनेसे श्लेषक श्लेष्मा है।

" सोम एव शरीरे श्लेष्मान्तर्गतः
शुभाशुभानि करोति।" अत्रिः।
नर्ते देहः कफादस्ति न पित्तान्न च मारुतात्।
शोणितादपि वा नित्यं देह एतस्तु धार्यते।

पाठकवृन्द ! अब आपने देखा कि शरीरमें वात, पित्त, कफ की क्या स्थिति है । शिरोभाग प्रायः कफका स्थान है उरोभाग रक्तका तथा आमाशय भाग (नाभि एवं स्तनका मध्य भाग) पित्तका और पक्वाशय भाग वातका स्थान मुख्यतः है ।

कफके स्थानमें वात एवं पित्त, पित्त के स्थानमें वात और कफ, वात के स्थान में पित्त और कफ भी हैं, परन्त अधिक के कारण वात, पित्त, कफ स्थान का नाम है ।

न हि वातं शिराः काश्चिन्न पित्तं केवलं तथा ।
श्लेष्माणं वा वहन्त्येता अतः सर्ववहाः स्मृताः ॥

यही कारण है शिर भाग में वात का भी प्राधान्य है रक्त का भी प्राधान्य है । शीत व्यापार से कफ एवं वायु दोनों ही प्रकुपित होते हैं, समानगुणी होने से । एवं उष्ण व्यापार से पित्त एवं रक्त दोनों प्रकुपित होते हैं समानगुणी होनेसे । उष्ण व्यापार से वात एवं कफ, शीत व्यापार से रक्त और पित्त दोनों शान्त होते हैं ।

वातपित्तश्लेष्माण एव देहसंभवहेतवः ।
तैरेव अव्यापन्नैरधोमध्योर्ध्वसन्निविष्टैः
शरीरमिदं धार्यतेऽगारमिव स्थूणाभिस्ति-
सृभिरतश्च त्रिस्थूणमाहुरेके । त एव च
व्यापन्नाः प्रलयहेतवः तदेभिरेव शोणितचतु-
र्थैः संभवस्थितिप्रलयेषु अपि अविरहितं
शरीरं भवति । " धन्वन्तरिः ।

चूं कि इस शरीर के आधार के लिये तीन स्तंभ वात, पित्त, कफ हैं इस लिये इसे कोई आचार्य त्रिस्थूण कहते हैं ।

ऊर्ध्वमूलमधःशाखं त्रिस्थूणं पञ्चदैवतम् ।
क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं विद्वान् यो वै वेद स वेदवित् ॥

इन्ही आधारस्थ स्तंभों में अन्तर आनेसे शरीर में अन्तर आ जाता है । उसीसे तीन प्रकार के दुःख व्याधियां, आध्यात्मिक, आधिदैविक, अथवा निज शारीरिक आगन्तुज एवं मानसिक यह तीन प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं ।

अतः आत्रेयका सूत्र है—
नित्याः प्राणभृतां देहे वातपित्तकफास्त्रयः ।
विकृताः प्रकृतस्था वा तान्बुभुत्सेत पण्डितः॥'

ब्रह्माण्ड में जो स्थान वात पित्त कफ का है वही शरीर में त्रिदोष का है । जिस प्रकार सर्वथा सत्वमय रज तम से सर्वथा पृथक् पदार्थ कोई नहीं उसी प्रकार वातमय अथवा पित्तमय पदार्थ कोई नहीं अपि तु तीनों ही मिलकर त्रिगुण की भांति इस शरीर का धारण करते हैं ।

रसादि धातु मलमूत्रादि को दूषितको ' दोष ' (दूषयन्तीति) शब्द से कहते हैं और रसादि सप्त धातु को 'दुष्य' (दुष्यन्तीति) कहते हैं । चूं कि त्रिदोष से दूषित किये जाते हैं । प्रथम विकार वात पित्त-कफ में आता है । अतः इनको विकार से रक्षित रखना अर्थात् प्रकृतावस्थामें रखना और विकृतावस्था को प्रकृतावस्था में लाना चिकित्सा है।

" सर्व एव खलु वातपित्तश्लेष्माणः प्रकृति-
भूताः पुरुषमव्यापन्नेन्द्रियं बलवर्णसुखोप-
पन्नमायुषा महतोपपादयन्ति सम्यगेवाचरि-
ता धर्मार्थकामा इव " अत्रिः ।
सर्व शरीरचराः खलु वातपित्तश्लेष्माणः
सर्वस्मिन् शरीरे कुपिताकुपिताः शुभा-
शुभानि कुर्वन्ति । अत्रिः ।

दोषविकृतिविज्ञान ।

विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते ।
सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च ॥
आत्रेय ।

सर्वेषां च व्याधीनां वातपित्तश्लेष्माण एव
मूलं तल्लिंगत्वात्-दृष्टफलत्वात् आगमाच्च ।"
सुश्रुत ।

अस्मिन्पुनः शास्त्रे सर्वतन्त्रसामान्यात् सर्वे-
षां च व्याधीनां यथास्थूलमवरोधः क्रियते ॥
धन्वन्तरिः ।

कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम् ।
यत्र संगः स्ववैगुण्याद्व्याधिस्तत्रोपजायते ॥
धन्वन्तरिः ।

विना कारण के कोई कार्य नहीं होता । अतः दोषों को विकृत करने का भी कोई कारण हाना चाहिये । चूं कि दोष विकृत का नाम ही रोग, व्याधि, आतंक, दुःख है ।

व्याधिका लक्षण " विविधं दुःखमादधाति इति व्याधिः " यह लक्षण शास्त्रने किया है । सांख्य शास्त्र में दुःख तीन प्रकारका अर्थात् आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक हैं इसी कारण सब तन्त्रों से समहत होनेसे आयुर्वेद को भी यही तीन रोग, अर्थात् आध्यात्मिक मानसिक, आधिभौतिक शारीरिक, आधिदैविक आगन्तुज स्वीकार करने पडे हैं । आगे यही तीन प्रकार के रोग सातप्रकार अर्थात् आदिबल, जन्मबल, दोषबल, संघातबल, कालबल, दैवबल, स्वभावबल की है ।

आदिबल

जो कि शुक्र शोणित के कारण उत्पन्न होती है कुष्ठ अर्श आदि ।

जन्मबल

जो कि माता के अपचारसे अर्थात् स्तन्यके दोषसे, पालनादिके दोषसे उत्पन्न हों । पंगु, अन्धत्व, वामन आदि रोग ।

दोषबल

जो रोगसे रोगान्तर उत्पन्न हो । जैसे प्रतिश्यायसे कास-काससे क्षय आदि ।

संघातबल

दुर्बलका बलवान से विग्रहके कारण हो, जैसे शस्त्र प्रहार, सिंहादिका आक्रमण ।

कालबल

शीत, उष्ण, वर्षा, वात, आतप के कारणसे हो आदि ।

स्वभावबल

क्षुत्, पिपासा, जरा, मृत्यु, निद्रा आदि हैं ।

इस सात अथवा तीन प्रकारके रोगोंके कारण बहुत प्रकारके हैं । परन्तु संक्षेपसे प्राकृत और अप्राकृत दो प्रकार के हैं । इनमें अप्राकृत कारण बहुत है ।

प्राकृत कारण

काल प्रकृति देश प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं ।

अप्राकृत कारण

मिथ्याहार विहारसे उत्पन्न होते हैं ।

काल

अहोरात्र,षड्ऋतु, आहारकाल,त्रयोविभाग आदि दोष प्रकोपक कारण हैं ।

प्रातःकाल स्वभावतः श्लेष्मा संचित होकर कुपित होती है । मध्याह्नकालमें पित्त और अपराह्णकालमें वायु कुपित होता है । इसी प्रकार रात्रिके प्रथम भागमें श्लेष्मा, मध्य भागमें पित्त, पश्चिम भागमें वायु कुपित होता है ।

ग्रीष्म ऋतुमें वायु संचित होती है और शरद् ऋतुमें प्रशमित होती है । वर्षा ऋतुमें पित्त संचित, शरद् ऋतुमें प्रकोप और हेमन्तमें प्रशमन होता है । हेमन्त ऋतुमें श्लेष्मा, संचित, वसंत में प्रकोप और ग्रीष्ममें प्रशमन होता है ।

आयुके बाल्यावस्थामें श्लेष्मा, यौवनावस्थामें पित्त, वृद्धावस्थामें वात आधिक्य होता है । भोजन की प्रथमावस्थामें श्लेष्मा मध्यावस्थामें पित्त, पश्चिमावस्थामें वात प्राबल्य होता है ।

ऋषि आत्रेयने उपरोक्त कारणोंको एक सूत्रमें बांध दिया है । आत्रेय के मतमें रोगोत्पत्तिके तीन ही कारण अर्थात् असात्म्य इन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध-परिणाम है ।

प्रज्ञापराधो विषमास्तथार्थाः हेतुस्तृतीयः
परिणामकालः । सर्वामयानां त्रिविधा च
शान्तिर्ज्ञानार्थकालसमयोगयुक्ताः ॥

यही तीन कारण फिर तीन प्रकारके हैं १-अतियोग २ अयोग ३ मिथ्यायोग ; जैसे आंखोंसे बहुत देखना वह अतियोग है । बिलकुल न देखना अयोग है । बीभत्स रोद्र भयानक दृश्य देखना, कम प्रकाशमें पढना मिथ्यायोग है ।

इसी प्रकार कान, नाक, रसना, त्वक् इनका अतियोग; अयोग, मिथ्यायोग है ।

कर्म, शरीर, वाक्, मनकी चेष्टा का नाम कार्य है । इनका अपने काममें अधिक प्रवृत्ति अतियोग, सर्वथा अप्रवृत्ति अयोग, एवं वेग विधारण, विषम

स्खलन, गिरना, असत्य बोलना आदि मिथ्या योग हैं ।

परिणाम का अर्थ काल अर्थात् शीत, उष्ण, वर्षा का है । शीतका अधिक होना अतियोग, शीत ऋतुमें शीतका न होना अयोग, एवं शीतऋतुमें उष्ण ऋतुका आना मिथ्यायोग है।

इसी प्रकार उष्ण एवं वर्षाऋतु का समझना चाहिये।

कार्यका अतियोग, अयोग, मिथ्यायोग हैं, वही प्रज्ञापराध है । चूंकि प्रज्ञा बुद्धि के अपराधसे पितृ-देवता आदिका अपमान एवं तिरस्कार करता है जिससे कि वह अभिशापादि देते हैं उस से रोगोत्पत्ति होती है ।

इस इन्हीं तीन कारणों के अन्दर ही संक्रामण रोगोंके कारण एवं अन्य रोगों के कारण समाविष्ट है ।

यथा संक्रामक रोगों के कारणों में आत्रेयने बताया है कि जिस समय संक्रामक रोग फैलता है उस समय, वायु, उदक, देश, काल विकृत हो जाते हैं इनके विकार का कारण अधर्म है। अधर्म से लोभादि उत्पन्न होकर शस्त्रप्रहार युद्ध प्रवृत्त होता है उस से संक्रामक रोग उत्पन्न होते हैं, ऐसी कल्पना आत्रेय की है ।

१ किसी मेलेमें विसूचिका (Cholera) फैलती है उस समय चिकित्सक वर्ग पानी के शोधन का यत्न एवं स्वच्छ पानीके प्रयोग का आदेश करते है।

२ रोगी के कमरे गृह आदि की वायु शुद्ध करने के लिये उस गृहमें गन्धक आदि कृमिघ्न वस्तुओं का उपयोग करते हैं ।

३ जिस समय प्लेग फैलती है उस समय रुग्ण स्थान को छोडकर अन्य निरापद स्थान पर चले जाते हैं ।

कालभी अतियोग एवं अयोग अथवा मिथ्यायोग होजाता है । देशमें भी गन्ध-वर्ण-स्पर्शादि विकृत हो जाते है, धान्य सूख जाते हैं इत्यादि विपरीत लक्षण आरम्भ हो जाते हैं ।

उदक ।

इसमें गन्ध, वर्ण,-रस,-स्पर्श का भेद होजाता है, मच्छलियां मर जाती हैं या स्थान छोड कर चली जाती है ।

वात ।

इसी प्रकार वात भी अतियोग, अयोग अथवा मिथ्यायोग--लूका न चलना--बहुत चलना अथवा समय पर न चलना इत्यादि लक्षण होते हैं ।

जिस समय मनुष्य स्वस्थ होता है उस समय सत्व, रज, तम अपनी प्रकृतावस्थामें रहते हैं परन्तु जिस समय रज और तम सत्वगुण का अभिभव कर देते हैं उस समय मनुष्य गण अहिताचार में प्रवृत्त होते हैं । आहार विहार ही दोष के संचय एवं प्रकोप का कारण है ।

जो आहार विहार जिस धातु और दोषके समान गुणी है वह उस दोष और धातुकी वृद्धि करेगा समानगुणी होने से यथा जो भी अग्निगुणी आहार विहार ऋतु आदि है वह शरीरस्थ अग्निपित्तकी वृद्धि करेगी और विपरीत गुणी शीत सौम्य कफ का ह्रास करेगी, विरुद्ध गुणी होनेसे इसी प्रकार जो कफकी वृद्धि करेगी वह पित्त को शांत करेगी ।

कफ और इन क्षय दोनों अवस्थाओंका नाम दुष्ट दोष है, अर्थात् पीडा का कारण है।

आगन्तुज

१ मेरे चोट लगती है उस से वहां सूजन और दर्द उत्पन्न हो जाता है थोडे दिनों में वा कुछ समय बाद वह स्थान उष्ण गरम प्रतीत होता है, कालान्तरमें यदि रोग शान्त न हो तो वह पक जाता है अर्थात् पूय बन जाती है जिस को कि शरीर स्वयं या चिकित्सक बाहर कर देता है ।

इस अवस्थामें व्यथा पहिले उत्पन्न हुई है अर्थात् जिस समय आघात हुआ है उस समय शरीर आघात को न सहन कर सका अतः अनुचित दबाव से उस स्थान पर व्यथा उत्पन्न हुई । तदनंतर उस व्यथा को हटाने के लिये शान्त करनेके लिये शरीर में विकृतावस्था (Patho-logic) उत्पन्न हो गई । यथा रक्त संचार बढगया एवं ज्यादा वेगसे रक्त प्रवाह होनेसे तनी हुई मांस पेशियों में वात प्रकोप होगया। समान कारण होनेसे (क्षोभ-आघात आ

दि कारण से) तदनन्तर रक्तसंचार की वृद्धि होनेसे पित्त प्रकोप होता है। एवं सबसे अन्तमें कफ प्रकुपित होता है, अर्थात् शरीरसे अधिक मात्रामें लसीका (lymph) बाहर आता है और मृतश्वेताणु पूयरूपमें परिवर्तित हो जाते हैं।

२ मैं अनुचित रूपमें भोजन करता हूं अर्थात् गरिष्ठ भोजन खाता हूं जिससे खट्टे डकार और मलबन्ध होजाता है। उस मलबंधके कारण मेरे पेटमें शूल (Colic) उत्पन्न होजाता है, थोडे समय बाद शरीर उष्ण होजाता और ताप परिणाम बढ जाता है, एवं शिर दर्द, बेचैनी आदि अन्य लक्षण हो जाते हैं। इस के साथ भूक सर्वथा नष्ट होगई। यह विकृतावस्था है।

इस अवस्थामें शरीर के अन्दर विकृतावस्था उत्पन्न हुई, अर्थात् भोजन एक प्राकृतावस्था है, उससे साधारणतः कोई विकार उत्पन्न नहीं होता, परन्तु अत्यधिक भोजनको आमाशय पचन न हीं सका जिससे समानकारण क्षोभादिसे वात प्रकोप हुई उसने पाचक पित्तको प्रकुपित किया जिस से कि खट्टे डकार,आम्लोद्गारा उत्पन्न हुई एवं तदनन्तर कुछ काल बाद कफ भी कुपित हो जाता है जिस से कि क्षुधा नष्ट हो जाती है, कफ पाचक अग्नि को आच्छादित कर लेता है, जिस प्रकार की गीली भस्म के नीचे अग्नि नहीं जलती।

पाठकवृन्द ! आपके सामने दोनों अवस्थायें समान हैं, केवल कारणान्तर है, अर्थात् प्रथमावस्था में कारण बाहर से है जिस से कि वात, पित्त, कफ कुपित होते हैं, द्वितीयावस्थामें कारण अवश्य बाह्य है परन्तु कोप शरीर में होता है, उससे व्यथा आदि लक्षण त्रिदोष के कुपित होने से हुए हैं और प्रथमावस्था में शूलादि लक्षण त्रिदोष के कुपित हुए विना आघात से ही हुए है।

परन्तु त्रिदोष कुपित दोनोंमें हुवे। एक में प्रथम और दूसरे में कुछ कालान्तरमें। परन्तु त्रिदोष कुपित दोनों में हैं, अतः चिकित्सा स्नेह, स्वेप उपनाह विरेचक, स्वेदक औषध प्रयोग दोनों में समान एक ही हैं। चिकित्सक ज्वर और शोथ की चिकित्सा एकही आधार पर करते हैं। अतः -

" आगन्तुर्हिव्यथापूर्वमुत्पन्नो जघन्यं वातपित्त श्लेष्माणं वैषम्यमापादयति निजे तु वातपित्तश्लेष्माणः पूर्वं वैषम्यमापद्यन्ते जघन्यं व्यथामभिनिवर्तयन्ति।" अग्निः।

क्रिमि

जिस प्रकार आगन्तुज प्रहरादि कारण से त्रिदोष कुपित होते हैं, इसी प्रकार क्रिमि भी त्रिदोष को कुपित करने का कारण होते हैं।

परन्तु क्रिमि हमारे शरीर में प्रत्येक समय में वर्तमान रहते हैं, जिस प्रकार विष प्राणों का बचाने वाला एवं प्राणनाशक दोनों गुणवाला है, केवल युक्तिकी अपेक्षा करता है, उसी प्रकार क्रिमि शरीर के नाशक और पोषक हैं। उचित रूप से बनाई गई दहीं (दधि) का क्रिमि शरीर का वर्धक अर्श रोगका नाशक है और वही कृमि अधिक खट्टी दहीं अधिक मात्रा में रक्त दुष्ट एवं वातरक्त कुष्ठ उत्पन्न करनेवाला है, अतः धन्वन्तरिने कहा है-

" हिंसाविहारीणि - महावीर्याणि - रक्षांसि पशुपति-कुबेर-कुमारानुचराणि मांसशोणितप्रियत्वात् क्षतजनिमित्तं प्राणिनमुपसर्पन्ति, सत्कारार्थं जिघांसूनि वा कदाचित्।"

आयुर्वेद शास्त्र में क्रिमियों को राक्षस निशाचर आदि नामों से स्मरण किया है, चूंकि इनका आक्रमण का समय आहार आदि रामायण प्रसिद्ध राक्षसों से मिलते हैं, अर्थात् अन्धेरे में जहां सूर्य का प्रकाश न जावे एवं गन्दी नालियों में तथा मांसादि के खाने के लिये आक्रमण करते हैं। यथा- तपेदिक (यक्ष्मा रोग) का कृमि-।

अतः इनकी चिकित्सा, धूप, होम, सूर्य धूप आदि है-

तेषां सत्कार कामानां प्रयतेतान्तरात्मना।
धूपत्स्रूपहारांश्च भक्ष्यांश्चैवापहारयेत्॥
द्विरह्नः कारयेद्धूपं दशरात्रमतीन्द्रितः।
सूमीपरिप्लुपत्रभ्यां सर्पिषा लवणेन च। धन्वन्तरिः।

संसार में जादू करनेवाले या भूतविद्या करने वाले, सरसों, घृत आदि की बलि देते हैं। इस धूप या होम से उनका सत्कार होता है अतः वह

प्रसन्न होकर वापिस हो जाते हैं, (विस्तार के लिये लेखक का प्राचीन शल्य तन्त्र देखिये)

प्रतिशक्ति-

कितना भी बलवान् बीज क्यों न हो बिना उप जाऊ भूमि एवं पानी धूपादि के बिना वह अंकुरित नहीं हो सकता, उसी प्रकार क्रिमि चाहे कितने ही भयानक रोगों के शरीर पर आक्रमण करे, वह तब तक सफल नहीं हो सकते जब तक हमारा शरीर उन को अनुकूल न हो, अर्थात् शरीर जिस समय निर्बल होगा वह उसी समय आक्रमण करके रोग उत्पन्न कर देंगे । जिस प्रकार शत्रुका किला जिस समय और जिस स्थान पर निर्बल होगा शत्रु उसी समय और उसी स्थान पर आक्रमण कर कृतकार्यता प्राप्त कर लेते हैं । उसी प्रकार क्रिमि जिस समय भी शरीर को निर्बल देखते हैं उस समय आक्रमण कर रोग उत्पन्न कर देते हैं ।

परमात्माने रोगों से बचने के लिये प्रत्येक मनुष्य को थोडी बहुत शक्ति प्रदान की है । किसी में अधिक और किसी में कम। यह प्रतिशक्ति अवस्थाओं के अनुसार अधिक और कम भी हो सकती है।

इसके अतिरिक्त प्रतिशक्ति को हम उत्पन्न भी कर सकते हैं उस प्रतिशक्ति को कृत्रिम प्रतिशक्ति कहते हैं जैसे कि मसूरिका (Small pox) या प्लेग के समय (Vaccination) से की जाती है । इस कृत्रिम प्रति शक्ति के लिये स्वस्थ प्राणियों में धीरे धीरे विषकी मात्रा उचित उपायों से प्रविष्ट कर उनका (Serum) ले कर उस से (Vaccine or serum) स्वस्थ पुरुष में प्रविष्ट करते हैं जिस से कि रोगी में वह अवस्था (रोगावस्था) उत्पन्न हो जाती है परन्तु बहुत मृदुपन से और आगे के लिये वह उस रोग से बच जाता है ।

विषकन्या-

प्राचीन कालमें इसी विधि से विषकन्या बनाते थे अर्थात् शैशवावस्था से ही कन्या को विष थोडी थोडी मात्रा में दिया जाता था और शनैः शनैः उस मात्रा को साधारण मनुष्य के लिये घातक मात्रातक या उस से भी अधिक कर देते थे । यह विष उस के संपूर्ण शरीरस्थ धातु-रस-रक्त स्रावों में पहुँच जाता था, अतः जब कोई ऐसी कन्या से मैथुन, संभोग, चुम्बनादि करता तो उस विषयुक्त स्राव के संपर्क से मर जाता ।

हन्ति स्पृशति स्वेदेन , गम्यमाना च मैथुने ।
पक्वं वृन्तादिव फलं प्रशातयति मेहनम् ।
डल्हण ।

प्राचीन काल में चाणक्य ने इसी विषकन्या के द्वारा पर्वतेश्वर को मारा था ।

पाठकवृन्द ! नव्य मतसे कृत्रिम प्रतिशक्ति उत्पन्न करने की विधि शुद्ध प्रयोग नहीं कही जा सकी चूंकि स्वस्थ मनुष्य में रोग उत्पन्न करना शुद्ध प्रयोग नहीं है ।

प्रयोगः शमयेद्व्याधीं योऽन्योऽन्यमुदीरयेत् ।
नाऽसौ विशुद्धः शुद्धस्तु शमयेद्यो न कोपयेत्।

संगति—

परन्तु प्राचीन काल का प्रयोग अर्थात् प्रतिशक्ति उत्पन्न करने की विधि शुद्ध प्रयोग है, वह इस के लिये तप, ब्रह्मचर्य रसायन सेवनादि करते थे। जिस से कि रोग से बचने के अतिरिक्त रिष्ठ— (निश्चित मृत्युसूचक लक्षण) से भी बच जाते थे-

सेवनं ब्रह्मचर्यस्य तथैव ब्रह्मचारिणाम् ।
संकथा धर्मशास्त्राणां महर्षीणां जितात्मनाम्॥
सत्यं भूतदया दानं बलं यो देवतार्चनम् ।
सद्वृत्तस्यानुवृत्तिश्च प्रशमो तृप्तिरात्मनः ॥
येषामनियतो मृत्युः तस्मिन्काले सुदारुणे ॥

पाठकवृन्द! अब आप ही विचार कर लें कौनसा पथ श्रेय है । यह बात सत्य है कि प्राच्य मत दुर्गम है परन्तु शुद्ध प्रयोग है। नव्य मत सरल तथा अशुद्ध प्रयोग है ।

" रसायनतपोजप्यतत्परैर्वा निवार्यते । "
धन्वन्तरिः ।

यही कारण है संक्रामक रोगों की अवस्था में जनपद को छोड कर जंगलों में ऋषिगणों की सेवा में रत रहते थे, जहां कि संक्रामक रोग कम प्रभाव करते थे । एवं आसनादि व्यायाम अथवा हठ योग के आधार पर शरीरकी रक्षा करते थे, जिससे कि शरीरके अन्तःस्राव जीवनके आधारभूत पदार्थोंको वृद्धि होती थी और विषनिःसारक अंग

(मूत्र-मल-स्वेदादि) वृक्क, आंत्र, त्वचा आदि उत्तेजित रहते थे। एवं विषोंको सम्यक् प्रकारसे बाहर करते थे, जिससे कि शरीरमें प्रतिशक्ति उत्पन्न होती थी।

" सर्व एव विकारा निजा नाऽन्यत्र वातपित्तकफेभ्यो निर्वर्तन्ते यथा समयि परिपतन् स्वांछाया नातिवर्तन्ते तथा स्वधातुवैषम्यनिमित्ताः सर्वविकारा वातपित्तकफान्तातिवर्तन्ते, वातपित्तश्लेष्मणा पुनः स्थानसंस्थानप्रकृतिविशेषानभिसमीक्ष्य तदात्मकानपि च सर्वविकारास्तानेवोपदशन्ति बुद्धिमन्तः।" अत्रिः।

रोगोत्पत्तिका कोई कारण क्यों न हो वह त्रिदोष पर अवश्य प्रभाव करेगा विना इस प्रभाव के वह रोगोत्पन्न नहीं कर सकता।

स्वधातुवैषम्यनिमित्तजा ये विकारसंघा बहवः शरीरे। न ते पृथक् पित्तकफानिलेभ्यः आगन्तवस्ते ततो विशिष्टा ॥ अत्रि।

इन्हीं त्रिदोषके कारण चिकित्सा भी त्रिसूत्रमें नियमित है अर्थात् वातके लिये बस्ति तैल, पित्तके लिये विरेचन, घृत, और कफके लिये वमन, मधु यह चिकित्सा सूत्र है। इसीके आधार पर नव्य और प्राच्य चिकित्सक किसी न किसी रूपमें औषध प्रयोग करते हैं।

मुझे सन्निपात ज्वर (Typhoid Fever) होता है, उस समय का उद्देश्य आंत्रोंका स्वच्छ तथा (anteseptic)एवं शुद्ध रखना है। वह रोगके लिये कोई (antidote) प्रतिविष नहीं देना यथा अम्लके लिये क्षार प्रयोग। वह विषको बाहर करने के लिये विरेचक एवं मूत्रल-स्वेदक उपाय (औषध या अन्य स्वेदादि) का प्रयोग करते हैं एवं इन उपायों के साथ वह उपद्रवोंसे भी बचाता है। उनके लिये वह कोई विशेष औषध नहीं प्रयोग करता, अपि तु विषनिःसारक अंग-आंत्र-वृक्क, त्वचाको उत्तेजित रखता एवं भोजन को नियम करता है, रोगीको पूर्ण विश्राम देता है। उसका इस सारी चिकित्साका उद्देश्य शरीरकी विकृतावस्थाको प्रकृतावस्थामें लाना ही है, अर्थात् त्रिदोषको समानावस्थामें कर दे।

त्रिदोषमें यदि वातका ह्रास हो जावे तो उसे बढाया जाता है, यदि वातवृद्धि हो तो उसे क्षय किया जाता है, इसी प्रकार पित्तकी वृद्धि और ह्रास, एवं कफकी वृद्धि और ह्रास की चिकित्स करनेकी आवश्यकता पडती है।

त्रिदोषके समान शरीरस्थ सप्त धातु रस-रक्त-मांसमेद-अस्थि, मज्जा-शुक्र-आर्तव, एवं शरीरस्थ मल-पुरीष, स्वेद, आदि भी शरीरमें वृद्धि या ह्रासको प्राप्त होते हैं, परन्तु इनमें इस परिवर्तनका कारण वात पित्त कफ ही है।

अस्थियोंमें वात, रस-रक्तमें पित्त, मांसमेद-मज्जामें कफ, शुक्रमें तीनोंका स्थान हैं। अतः पित्त विकृत होकर प्रथम रसरक्तादिको अपने स्थानमें विकृत होगा वहांसे अन्य धातुओंको कुपित करता है।

अतः इस दोष विकृतिसे बचने के लिये क्षीण दोषों को बढना चाहिये, वृद्ध दोषों का क्षय करना चाहिये, एवं सम दोषोंका पालन करना चाहिये।

इसी त्रिदोष के शरीर का आधार होनेसे इस शरीरको त्रिस्थूण कहा है, एवं पञ्च महाभूत पञ्च ज्ञानेन्द्रिय का अधिष्ठान होनेसे पञ्च दैवत शब्दसे कहा है।

ऊर्ध्वमूलमधःशाखं त्रिस्थूणं पञ्चदैवतम्।
क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं विद्वान्यो वै वेद स वेदवित् ॥
" दोष एव हि सर्वेषां रोगाणामेककारणम्।"

जिस प्रकार पक्षी अपनी छायाको नहीं लांघ सकता। उसी प्रकार कोई भी रोग इस त्रिदोष के विना नहीं हो सकता अतः त्रिदोष के आधार पर चिकित्सा करे-

"विकारनामाकुशलो न जिन्हीयात्कदाचन।
न हि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थितिः।"

मृत्यु

चिकित्सक एवं चिकित्सा करवानेसे पूर्व रोगी के मनमें यह सन्देह होता है कि यदि मृत्यु निश्चित है तो चिकित्साका क्या प्रयोजन? और यदि अनिश्चित है तो पथ्यादि का क्या प्रयोजन ?

सन्देह ठीक है, चूं कि यदि आयुको नियतमान लिया जावे तो रसायन, मन्त्र, यज्ञ, तप, ब्रह्मचर्य या

धर्मादि व्यर्थ हो जावे, चिकित्सा निष्फल हो जावे, लोकमें राजाका भय न रहे । और इसके साथ इस कलियुग में आयुका प्रमाण १०० वर्ष नियत है। अतः कौनसा पक्षभ्रम है अतः यह शंका उत्पन्न होती है ।

आयुर्वेदवित् अथर्वाने १०१ मृत्युसंख्या मानी है, जिनमें एक मृत्युकाल मृत्यु है और शेष शतमृत्यु अकालमृत्यु हैं।

एकोत्तरं मृत्युशतमथर्वाणः प्रचक्षते । तत्रैकः
कालसंज्ञस्तुशेषा आगन्तवः तुस्तः ॥ धन्वन्तरि ।

अ[illegible] शतवर्षसे पूर्व अकाल मृत्यु और शतवर्ष-पश्चात् कालमृत्यु है ऐसा अथर्वाका विचार है ।

परन्तु जो भी मरता है वह काल समय में ही मरता है विना समय के कोइ नहीं मरता अतः अकाल मृत्यु नहीं है ऐसा कई मानते हैं ।

नाकाले म्रियते कश्चिद्विद्धः शरशतैरपि ।
कालप्राप्तस्य कौन्तेय प्रजायन्ते तृणान्यपि ॥व्यास ।

नाकाले म्रियते कश्चिन्नास्ति मृत्युरकालजः ।
यो यस्मिन्म्रियते काले मृत्युकालः स तस्य हि॥

इसके अतिरिक्त अकाल मृत्युपोषक वचन भी मिलते हैं । यथा-

जलमग्निर्विषं शस्त्रं स्त्रियो राजकुलानि च ।
अकालमृत्यवो ह्येते तेभ्यो बिभ्यति पण्डितः। व्यास।

कालः सुरैरपि वञ्चयितुं न शक्यो।
वक्ष्ये विधानमपमृत्युविनाशनाय ।
मृत्युर्भविष्यति कथंचन नापमृत्युः
व्यर्थास्तदा चरक-सुश्रुत-वाग्भटाद्याः ॥

संगति-

जिस प्रकार की काल समयमें पुष्प होता है और अकाल असमय में भी पुष्प होता है और जिस प्रकार काल समयमें भी फल-वर्षा होती है, उसी प्रकार मृत्यु-समय-कालमें भी होती है और असमय अकालमें भी होती है ।

जिस प्रकारकी एक गाडी और बैल उचित पथ एवं उचित भारादिसे चलाई जावे वह अपने समयमें जाकर नष्ट होती है परन्तु यदि अधिक भार अथवा अनुचित-विषम-पर्वतादिपर चलाया जावे या शीघ्र चलाइ जावे तो शीघ्र नष्ट हो जाती है । उसी प्रकार यदि सम्यक् हिताहारादिसे जीवन व्यतीत किया जावे तो कालमृत्यु होती है ।

यथा वर्षमकाले च यथा पुष्पं यथा फलम् ।
यथा स्याद्दीपनिर्वाणमकाले मरणं तथा ॥
विध्वग्वातादिभिर्यद्वद्दीपो वर्त्यादिसंयुतः ।
निर्वाप्यते क्षणाद्देही तथैवागन्तुमृत्युभिः ॥ त्रयी।

एक आश्चर्य ।

नहीं कह सकते कि भारतवर्ष की किस वस्तु का कैसा उपयोग होगा । हिंदुस्थान के पक्षियों के पर युरप की स्त्रियों की टोपियों की शोभा बढाते हैं। अंदाज लगाया गया है कि हर साल करीब तीस लाख पक्षि मेमों की सुंदरता बढाने के लिए मारे जाते हैं ।

भारतवर्ष की हजारों गायें युरपवासियों की क्षुधा शांत करने के हेतु मारी जाती हैं । इस गोरक्षक देश से ही गोमांस के सहस्रों डब्बे परदेश भेजे जाते हैं ! काल की महिमा कैसी विचित्र है ?

अखबारों में छप चुका है कि हिन्दुस्थान की गायें दूध के सत्त्व में संसार में सबसे बढकर हैं, स्पर्शजन्य रोग भी इन्हे कम होते हैं इसीसे सैकडों गायें अमेरिका में भेजी गईं ।

आस्ट्रेलिया का निसत्त्व गेहूं यहां लाया जाता है और उसके बदले यहाँ का उत्तम गेहूं परदेश में भेजा जाता है । यह बात अब नवीन नहीं है ।

ब्रह्मदेश का अव्वल दर्जे का चाँवल, कारवार का अव्वल दर्जे का खोपडे का तेल, मलाबार की अव्वल दर्जे की सागोन की लकडी आदि वस्तुएँ ' खास यूरप के लिए रक्षित माल ' कहकर भेजी जाती हैं । अब यह हालत है कि ये अव्वल दर्जे की वस्तुएँ यहाँ हम लोगों को दाम देकर भी नहीं मिल सकतीं ।

किन्तु अब के अखबारों में जो बात प्रसिद्ध हुई है वह तो अत्यन्त आश्चर्यकारी है। वह यूरप में भेजे जानेवाली एक अजीब वस्तु के बारे में है। वह वस्तु है "बंदर"।

कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था कि यह हिन्दुस्थान का बन्दर किसी भी काम के लिए यूरप में भेजा जा सकता है। किन्तु हालही में खबर आई है कि लखनौ की ओर से पांच हजार बन्दर जर्मनीमें भेजे गये। निःसंदेह यह बडे आश्चर्य की बात है !!

यूरप में कंठ-ग्रन्थी का कोई रोग प्रबल हुआ है। बहुधा यह रोग व्यभिचार से होता है। जर्मन डाक्टरों ने इस रोग को अच्छा करने के लिए एक अजीब युक्ति निकाली है। वह युक्ति है हिन्दुस्थान के बन्दरकी ग्रीवा-नलिका निकालकर रोगी को लगाना। शस्त्रक्रिया की दृष्टि से यह सुधार अवश्य है किन्तु इसके लिए हिन्दुस्थान के कितने बन्दरों का संहार होगा कौन जाने।

यूरप के लोगों की रहन सहन ऐसी कृत्रिम हो गई है कि उस बर्ताव के कारण भिन्न भिन्न रोग होते हैं। यदि वे अपनी रहन सहन में सुधार न करेंगे तो क्या आश्चर्य कि उन्हें बन्दर की हड्डी गले में बांधकर जीने का मौका आजाय।

यूरप की रीतिरस्मों का अंध अनुकरण हमारे देश में भी जारी है। इस प्रकार अंध अनुकरण करनेवालों को चाहिए कि वे देख लेवें कि इन रीतिरस्मों का यूरपवालों पर क्या परिणाम हो रहा है। और सोच लेवें कि उनके कौन गुणों का अनुकरण करना हमारी वर्तमान परिस्थिति में हमें लाभदायक है।

अंध अनुकरण कभी भी लाभदायक नहीं होता।

वसिष्ठ शब्द के अर्थ।

(ले०-श्री. ब्रह्मदत्तशास्त्री, अजमेर)

(गतांकसे)

इस सूक्त के प्रारम्भ में स्वामी दयानन्द ने यह लिखा है:—

'अथाध्यापकाध्येतारः किं कुर्यु रित्याह' अर्थात् 'अब यह कहते हैं कि अध्यापक और विद्यार्थी क्या करें'?

स्वामीजी की इस अवतरणिका से यह प्रकट होता है इस सूक्त में अध्यापक और विद्यार्थियों के कर्तव्य बताये गये हैं। इस सूक्त भूमिका के आधार पर यह कहना सर्वथा उचित है कि ऊपर उद्धृत किये गये प्रथम मन्त्र में अध्यापक सब ओर से अर्थात् चारों ओर स्थित हुए अपने ब्रह्मचारियों को शास्त्रों का उपदेश और शिक्षा दें।

'श्वित्यञ्चः' 'वृद्धि को प्राप्त होते' यह ब्रह्मचारियों का विशेषण है,। ब्रह्मचारी प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त होता है। शरीरसे, मनसे, तेज से, हर प्रकार से ब्रह्मचारी प्रतिक्षण, वृद्धि को प्राप्त होता है। ऐसे वृद्धि शालि को पढाने से ही शास्त्र की वृद्धि होती है। 'दक्षिणतस्कपर्दाः' यह विशेषण इस ध्वनि से युक्त है कि विद्यार्थी बालों के बार बार बनवाने वाले और काढ़ने शृङ्गारने वाले नहीं। इन बातों में व्यर्थ कालक्षेप, व्यय और मिथ्या सौन्दर्याभिमान बढता है। विद्यार्थी का जीवन साधारण, किन्तु तपो मय, होना चाहिये। विद्यार्थी शास्त्र के समझने और धारण करने की शक्ति भी रखते हों। प्रज्वलित अग्नि में दी हुई घृताहुतिही यथेष्ठ फल दे सकती है। राख में डाला हुआ घृत व्यर्थ ही क्षीण होता है। अतः बुद्धिमान् शिष्य की बुद्धि की परीक्षा करके ही विद्या पढानी चाहिये। ऐसों को पाकर गुरु को बडा आनन्द मिलता है। आंखों को पाकर अन्धको, निधिको पाकर रङ्क को, और स्वाति जलको पाकर चातक को, जिस प्रकार आनन्द होता है, उसी प्रकार सच्छिष्य को प्राप्त कर गुरूको। ऐसे छात्र वास्तव में गुरु की रक्षा करने वाले होते हैं। उसकी प्यारी विद्या रूप सम्पतिके बचाने वाले होते हैं। (क्रमशः)

विद्यार्थी का ब्रह्मचर्य ।

(ले०- श्री. व्यं. ग. आवडेकर)

आजकल यदि कोई जटिलतर समस्या हमारे समाज के सन्मुख है, तो वह है विद्यार्थियों का ब्रह्मचर्य । वास्तव में ब्रह्मचर्य कायम रहना एक स्वाभाविक बात है । वह तो निसर्ग का नियम ही है । परन्तु आजकल यही दिखाई देता है कि ब्रह्मचर्य भ्रष्ट होना ही नियम सा मालूम होता है !! अतएव प्रत्येक का यही कर्तव्य है कि इतनी विपरीत परिस्थिति का कारण ढूंढे ।

राष्ट्र के नेता इस प्रश्न की ओर ध्यान नहीं देते । कारण यही कहा जाता है कि वे राजकीय काम करने में लगे हैं। अतएव उन्हें समय नहीं है । यदि यह कहें कि शिक्षक और विद्याधिकारी इस ओर ध्यान दें, तो वहां भी कुछ आशा नहीं दीखती। शिक्षक और विद्याधिकारी का सम्पूर्ण ध्यान इसी ओर है कि विद्यार्थी जलदी परीक्षा कैसे पास होगा। तब उन्हें इस विषय की ओर ध्यान देने का प्रयोजन ही क्या ? अब यदि कोई शिक्षक कुछ प्रयत्न करे और कुछ परीक्षाओं स बालकों का स्वास्थ्य सुधारने का उपक्रम करे तो संभव है उसके विद्यार्थि उस वर्ष उतने पास न हो सकेंगे जितने आवश्यक हैं । ऐसी दशा में वरिष्ठ अधिकारी उसे डांट देंगे । क्यों कि विद्या देना ही शिक्षा विभाग का कर्तव्य है और मानो स्वास्थ्य-सुधार शिक्षा-विभाग का ध्येय नहीं हैं ! और जब तक सरकार स्वास्थ्य सुधारने के लिए कोई विभाग नहीं खोलती तब तक शिक्षक वा विद्याधिकारी क्यों कर इस बात पर ध्यान दें ?

राष्ट्र के नेता, शिक्षक, विद्याधिकारी वा सरकारी अधिकारी देश के आधार स्तंभों के स्वास्थ्य के लिए पूर्ण उदासीन हैं । तब यदि कोई यह सोचे कि विद्यार्थियों के पालक इस समस्या को हल करेंगे, तो वहाँ तो उदासीनता की सीमा ही मालूम होती है । क्यों कि पालकों को यह ज्ञान ही नहीं है कि "मेरा पुत्र- मेरा निजी पुत्र-क्या पढता है, दो माह के पूर्व वह शरीर से कैसा था और अब कैसा है आदि बातें मालूम करना अपना कर्तव्य है ।" इस अज्ञान के रहते यदि पालक विद्यार्थियों के स्वास्थ्य के बारे में उदासीन हों तो आश्चर्य ही क्या ?

ऐसे उदासीन पालकों की अधीनता में फँसा हुआ, परीक्षाओं के पेंच से निचोडा गया, परकीय भाषाद्वारा दी जानेवाली शिक्षा रूप अग्नि में भुना हुआ, अनुत्पादक शिक्षा के मिलने से जिसका भविष्य-काल निरुत्साह और निराशा से दारुण ज्ञात होता है, परकीय राज के कारण जिसकी उन्नति के सभी मार्ग बंद हो गए हैं, अमुक दिशा से जाने से अवश्यही उन्नति होगी ऐसी निश्चित दिशा जिस के लिए बची नहीं है, ऐसा बेचारा, असहाय हमारा विद्यार्थि-वर्ग है । इसी नवयुवक विद्यार्थी पर ही देश का भवितव्य निर्भर है ।

विद्यार्थि की उमर छोटी होती है । उसे अनुभव नहीं रहता । उसे यह भी नहीं समझता कि क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए । ऐसी अवस्था में उसके बिगडने का आरंभ होता है। जब वह बिगडते बिगडते सीमा के परे हो जाता है, तब उसे होश आता है , तब वह स्वावलम्बन की चेष्टा करता है ।

हमारे पास प्रतिदिन विद्यार्थियों के अनेक पत्र आते हैं। सैकडों पत्रों को पढने से हृदय फटसा जाता है और यह देखकर दुःख और आश्चर्य भी होता है कि इस महत्वपूर्ण प्रश्न की ओर कोई भी क्यों कर नहीं देखता ! यदि देश की भवितव्यता के आधार ही इस प्रकार जलभुन जावेंगे, तो आगे क्या होगा ?

संसार के प्रत्येक सुधरे राष्ट्र ने विद्यार्थियों के स्वास्थ्य- सुधार के लिए नए नए उपाय किए हैं । पर हमारे देश में इस के संबंध में क्या हुआ है ?

सुधार के लिए तो कुछ नहीं हुआ पर उनके मन विकारवश करने के लिए भी दिनप्रतिदिन नए नए प्रयत्य हो रहे हैं।

समाचार-पत्रों में छपनेवाले चटकीले, भडकीले पर अशिष्ट इश्तहारों का इस संबंध में प्रथम विचार होना चाहिए। लब्ध-प्रतिष्ठ राष्ट्रीय नेता जिन पत्रों का संचालन करते हैं उन पत्र-पत्रिकाओं में छपने वाले इश्तहार ग्राहक के कुटुम्ब के नवयुवकों के स्वास्थ्य का कैसा भारी सत्यानाश करते हैं! प्रतिष्ठा प्राप्त नेताओं के पत्रों द्वारा होनेवाली इस भयानक हानि को जब हम देखते हैं, तब यही स्पष्टतया कहना पडता है ये सच्चे नेता ही नहीं हैं।

इसके बाद दूसरी आक्षेपार्ह बात पत्र-पत्रिकाओं में छपनेवाली आषुक- माषुक की कथाएं हैं। वर्तमान समय में 'माला' ओं का प्रचार अधिक हो रहा है। ये 'मालाएँ' अधिकतर इसलिए निकाली जाती हैं कि जिसमें बिक्री अधिक हो। और उनके संचालक यही समझते हैं कि जब तक उनमें शृंगार-प्रधान कथाएं न होगी उनकी बिक्री न होगी। हीन-भाग्य यही है कि माला-लेखक वा मासिक-पत्र-लेखक उत्कट एवं हीन शृंगार की घातक कथाओं को छोड अन्य कुछ लिख ही नहीं सकते। यदि नियत-काल में प्रकाशित होनेवाले पत्र पत्रिकाएँ इसलिए हैं कि उन से समाज की उन्नति हो तो समाज को गढ्ढे में डालने का यह प्रयत्न क्यों किया जाता है? उन्नतिशील देश में ऐसे साहित्य को कानून से प्रतिबंध किया जाता और हीन शृंगार-प्रचुर कथा-लेखकों को कठोर सजा भी होती।क्यों कि ये लेखक किसी खूनी से भी देश के नव-युवकों के आयुष्य का अधिक नाश कर रहे हैं। राष्ट्र का प्रचण्ड दुर्भाग्य है कि ऐसे लोग आज ग्रन्थकार होने का मान पारहे हैं। नाटककार और उपन्यास लेखक इन्ही के वर्ग के हैं।

समाज में हीन भावनाओं का विकास करने का कार्य 'सीनेमा' भी करता है। सीनेमा में दिखाए जानेवाले कुछ पौराणिक, कुछ शिक्षा विषय के और कुछ ऐतिहासिक चित्रपटों को छोड शेष सब चित्रपट केवल आषुकमाषुक के अंगविक्षेपों का हीन प्रदर्शन है। देश के युवक इन चित्रपटों को देखते हैं और उनमें असमय में बुरे विचार उत्पन्न होने लगते हैं। क्या इन बातों पर समाज ध्यान देगा? क्या कोई सोचेगा कि दिनप्रतिदिन सिनेमा देखकर दिल बहलाना कैसा घातक हो रहा है?

इसी प्रकार और कितनी ही बातें खुले आम हो रहीं हैं जिनसे नवीन पीढी का स्वास्थ्य, बल, और आरोग्य मिट्टी में मिल रहा है। इस घात को रोकना प्रत्येक राष्ट्र—हितैषी का निःसंदेह आद्य कर्तव्य है।

देश की जवान संतान के स्वास्थ्य की रक्षा का उपाय हरएक स्थान में किया जाना आवश्यक है। पाठकों में से जिन्हे देश के युवकों की जरा भी चिंता है, जो भावी पीढी के सुख की हृदय से फिकर करते हैं, उन्हे आवश्यक है कि वे अपने अपने गांव में जितना हो सके प्रयत्न करें।

लडका जब तक बारह वर्ष का नहीं होता उसकी रक्षा ईश्वर के नियम करते हैं। अतएव कमसे कम बारा वर्षकी अवस्था तक उसके मन में अस्वाभाविक विकार उत्पन्न न होने देना चाहिए। परन्तु विश्वस्त खबर से हमे निश्चय हो चुका है कि बारह वर्ष की अवस्था में लडके को और दस वर्ष की अवस्था में लडकी को ऐसी बातें मालूम हो जाती हैं जो उन्हे कदापि मालूम न होनी चाहिये। जवानी के विकार समझने लगते ही समझ लेना चाहिए कि 'कुमार अवस्था' नष्ट हुई। और इष्ट यही है कि कुमार अवस्था जितनी अधिक टिक सके उतनी ही टिकाई जाय। मनुष्य का भवितव्य इस कुमार अवस्था को स्थिर बनाए रखने पर ही निर्भर है। वाचक स्मरण रखें कि जितने वर्ष 'कुमार अवस्था' अचल रहेगी उसके चार गुना वा अधिक पांच गुना ही मनुष्य का अयुष्य रहता है। अर्थात् यदि किसी बालक के १२ वें वर्ष में ही कुमार अवस्था का अन्त हो कर जवानी के अंकुर फूटे तो उसकी आयु का अन्त ५० वर्ष के करीब ही हो जावेगा।

इस कुमार अवस्था को बालक के १६ से २५ वर्ष की आयु तक भी प्रयत्न से बढा सकते हैं। शृंगऋषि जवानी की आयु को पहुंच चुका था और उसका सब अध्ययन भी पूर्ण हो चुका था। परन्तु न तो

उसकी 'कुमार' अवस्था ही नष्ट हुई थी और न उसमें जवानी का अंकुर ही उत्पन्न हुआ था। ऐसा मनुष्य सहज ही में १०० या १२५ वर्ष जीवित रह सकता है।

अब तक के विवेचन से विदित होगा कि वर्तमान समय के विद्वानों की मृत्यु पचास वर्ष के इधर उधर ही क्यों होती है! ब्रह्मचर्य पालन करनेका मतलब यही है कि कुमार अवस्था अधिक समय तक स्थिर रहे। कुमार अवस्था जितने अधिक दिन टिकेगी, उतनाही ओज शरीर में बढेगा और उससे आरोग्य, बल और दीर्घ आयुष्य प्राप्त होगा।

हमने स्वयं शहर और गांव की परिस्थिति का अवलोकन किया है। इस अनुभव के बल पर हमें निश्चय हो चुका है कि शहर की अपेक्षा गांवों में कुमार अवस्था अधिक समय तक टिकती है। अतएव जो मातापिता चाहते हैं कि उनके लडकों की कुमार अवस्था अधिक समय तक स्थिर रहे और जिन मातापिताओंको अपने बालकोंके स्वास्थ्य की कुछ भी पर्वाह है उन्हे आवश्यक है कि वे कोई ऐसा उपाय करें जिसमें उनके लडके गांवों में रहें और वहीं उनका लालन पालन हो। लोगों को चाहिए कि वे जो नए नए उद्योग-धंधे खोलें वे जहां तक बने गांव-खेडों में ही खोलें। इससे ग्रामीण जनता को भी लाभ होगा और बालकोंका अपरिमित हित होगा।

गांवखेडोंमें रहनेवाले लडके बीस पचीस वर्ष तक प्रौढा अवस्थाको प्राप्त नहीं होते और लडकियां सोला, सतरा वर्ष तक प्रौढा नहीं होतीं। परन्तु शहर में लडके बारा वर्ष की अवस्था में और लडकियां दस वर्ष की अवस्था में प्रौढ हुई दिखाई देती हैं। यह ग्रामीण और शहर की परिस्थिति का भेद है। यदि पालक ग्रामों के निवास से प्राप्त होनेवाला स्वाभाविक परिस्थिति का लाभ उठा सकें तो बालकों के स्वास्थ्य को भारी मात्रा में लाभ पहुँचावेंगे।

प्रत्येक पालक को आवश्यक है कि वह अपने बालकों की कुमार अवस्था को अधिक समय तक स्थिर रखने का भरसक प्रयत्न करें। इस प्रयत्न में उसे अपनी परिस्थिति का ध्यान रखकर ही उपाय करना होगा।

मनुष्य कोई पुरुषार्थ नहीं कर सकता जबतक उसके पास आरोग्य, बल और दीर्घ आयुष्य ये तीन बातें न हों। और इन तीनों बातों की जड ही कुमार अवस्था स्थिर रहने में है। तभी तो अपरिहार्य है कि पालक इन बातों का पूर्ण विचार करें और बालकों के स्वास्थ्य को सुधारें।

यह कदापि संभव नहीं कि बालक अपने तई जानलें कि कुमार अवस्था किसे कहते हैं, वह अधिक समय तक किस प्रकार स्थिर रखी जा सकती है, उसके अधिक समय तक टिकने से लाभ क्या है और कुमार अवस्था का जल्द अंत होने से क्या हानी हो सकती है। वे तो इन बातों को तभी समझते हैं जब उनकी हालत खराब हो जाती है। इसीसे पालकों को चाहिए कि वे बालकों की दशा बिगडने के पहिले ही फिकर करें।

जो विदेशी सभ्यता भारतवासियों में घुस रही है, वह सभ्यता जहां कहीं घुसी है उसने कुमार अवस्था का नाश कर डाला है। कई लोग व्यर्थ ही कह बैठते हैं कि जब यह सभ्यता अमरिका और यूरोप को कोई हानि नहीं पहुंचा सकी तब उससे हमारे देश में ही क्यों हानि होगी?

वास्तव में उचित यही है कि इस प्रकार का प्रश्न करने के पूर्व वे यथार्थ हाल मालूम कर लें। वे प्रत्यक्ष अनुभव करलें कि नवीन सभ्यता से पूर्ण कुटुम्ब के स्वास्थ्य, बल और दीर्घ आयुष्यका क्या हाल है, नवीन सभ्यतासे युक्त गांव का और प्रान्त का स्वास्थ्य, बल और दीर्घ आयुष्य किस प्रकार है। साथ ही वे यह भी देखें समझदार विदेशी लोग उन्हीं की घातक रीतिरस्मों की किस प्रकार निंदा करते हैं। तब उनको सहज ही में दिख पडेगा कि नवीन सभ्यता के कारण हमारे देशवासियों की कुमार अवस्था किस प्रकार नष्ट हो रही है।

—:—

नवयुवक ध्यान दें ।

हम लोगों को खूब समझ लेना चाहिए कि विधायक कार्यक्रम तब तक न सँम्हलेगा जब तक हमे उत्साही कार्य कर्ता न मिलेंगे । वे कार्यकर्ता ऐसे हों जिन्हे रातदिन काम, काम और काम के सिवा और कुछ भी नहीं सूझता। संसार को भूलने के लिए, अहंकारको मारकर देहात में अपनेको बंद कर लेनेके लिए वे तैयार होने चाहिए। माता अपने प्यारे बालक के लिए हर प्रकार के कष्टोंके झेलती है। किन्तु ऐसा करते समय उसकी यह इच्छा कदापि नहीं रहती कि इसके लिए उसकी प्रशंसा सारे संसारमें होवे । सम्भव है उसकी यह इच्छा होगी कि मेरा पुत्र आगे किसी समय मेरा सेवा करे। हम लोगोंको इससेभी अधिक निरपेक्ष होना आवश्यक है। जिन लोगोंमें रह कर हम काम करेंगे, जिनकी चिन्ता करनेमें हम सब आयु भर कष्ट उठावेंगे, उन लोगोंसे भी एक मीठे वचन की अभिलाषा हमें न रखनी चाहिए । हमें ऐसी तैयारी रखनी होगी कि सेवाके बदलेमें हमें लत्ताप्रहार ही मिलेगा। हम महारकी सेवा करते हैं इससे ब्राह्मण अप्रसन्न हो जावेंगे, हम भंगियोंकी सेवा करते हैं इससे धेड नाराज हो जावेंगे। किन्तु हमें यह सब सह लेना होगा। आज दिन तक बात कुछ और थी। एकही ओर से आघात सहना पडता था। अबतक राजनैतिक काम करनेवाले को सरकारकी मार सहनी पडती थी और सामाजिक कार्य करनेवाले को लोगोंकी मार। किन्तु अब दोनों विपदाएँ एक साथ आती हैं। दोनों मार एक साथ सहनीं पडती हैं। हमें ऐसी ही सहन शक्तिवाले, कडे, तथा दृढ मनुष्योंकी आवश्यकता है। बिना ऐसे लोग मिले वर्तमान समयमें कामही नहीं चल सकता।

तो क्या आज हमे ऐसे लोग न मिलेंगे? क्या भारत माता वंध्या हो गई ? मुझे ऐसा नहीं लगता। यह बात मानने के लिए मेरा मन तैयार ही नहीं। इसमें संदेह नहीं कि आज बहुतेरे लोक उकता गए हैं। उनमें कष्ट सहनेकी ताकत नहीं है । किन्तु ऐसे लोगों को हम कष्ट देनाही नहीं चाहते। बल्कि उनके कष्टों को दूर करने का ही यह प्रयत्न है। हम मध्यम वर्गसे लोगों को लेना चाहते हैं। नीचे के वर्ग के लोगों को ग्लानि हुई है। ऊपर का वर्ग गाढ निद्रामें है। तिसपर भी मध्यम वर्गसे आशा की जाती है। इस वर्ग के नवयुवकों को अपनी आयुके दो चार वर्ष राष्ट्रकी सेवा में खर्च करने चाहिए।

बहुतेरे नवयुवक देश सेवा करना चाहते हैं। किन्तु उन्हे इस बातकी कल्पना भी नहीं होती कि देशसेवा करना याने क्या करना। उनके हृदयमें केवल यही भाव रहता है कि देशसेवा करना। इस देशसेवा की उमंग को कोई कविता लिखकर तृप्त करता है, कोई वृत्त-पत्र में लेख लिखकर शांत हो जाता है। बस यही उनकी देश-सेवा की सीमा है। उन्हे देशसेवा की स्पष्ट कल्पना ही नहीं होती। इससे वे नहीं जानते कि प्रारम्भ कहाँसे हो। ऐसे सब नवयुवकों को देने के लिए काफी काम हमारे पास है। उदाहरण के लिए देखिये —

(१) राष्ट्रीयशाला का काम, (२) छात्रालय का काम (३) अंत्यज सेवा का काम, (४) ग्राम रचना का काम, (५) खादी-मंडल का काम (६) प्रचारक का काम (७) सूत की क्लास का काम, (५) छापाखानेका काम, (८) कांग्रेस कमेटी का काम (१०) धर्म प्रचार करना। आदि अनेकानेक काम योग्य मनुष्यों की मार्गप्रतीक्षा कर रहे हैं। इन सब कार्यों में नवयुवकों को देशसेवा और निष्काम कर्म की शिक्षा मिलेगी। अधिक मनुष्य मिलजाने से नये काम शुरू किये जा सकते हैं। न्यूनाधिकतासे यही हाल बहुतेरे स्थानों का है। अब तो वर्तमान समयके नवयुवकों के सन्मुख यह समस्या न होनी चाहिए कि देश सेवा करें, तो करें किस प्रकार? देशसेवाके दरवाजे चारों ओर खुले ही हैं। आओ और अपना काम जहां तक हो सके अतिशीघ्र संभालो!

सर्वसाक्षी प्रभु।

[१६]

(ऋषिः—ब्रह्मा । देवता—वरुणः । सत्यानृतान्वीक्षणम् ।)

बृहन्नेषामधिष्ठातान्तिकादिव पश्यति ।
यस्तायन्मन्यते चरन्त्सर्वं देवा इदं विदुः ॥ १ ॥
यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम् ।
द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः ॥ २ ॥

अर्थ- (एषां बृहन् अधिष्ठाता अन्तिकात् इव पश्यति) इनका बडा अधिष्ठाता समीपके समान देखता है । (यः तायन्) जो फैलाता और पालन करता, (चरन्) विचरता और चलाता हुआ, (मन्यते) जानता है । (देवाः इदं सर्वं विदुः) दिव्य जन यह सब जानते हैं ॥ १ ॥

(यः तिष्ठति, चरति) जो खडा होता है अथवा चलता है, (च यः वञ्चति) और जो ठगाता है, (यः निलायं चरति, यः प्रतंकं) जो गुप्त व्यवहार करता है अथवा खुला व्यवहार करता है तथा (द्वौ संनिषद्य यत् मंत्रयेते) दो जन एक साथ बैठकर जो कुछ विचार करते हैं (तत) उस सबको (तृतीयः राजा वरुणः वेद) तीसरा राजा वरुण जानता है ॥ २ ॥

भावार्थ—इन संपूर्ण लोक लोकान्तरोंका एक बडा अधिष्ठाता है जो इन सबका निरीक्षण प्रत्येकके समीप रहनेके समान करता है, वह सबका विस्तार करता है और रक्षा करता है; सबको चलाता है और सबमें विचरता है तथा सबको जानता है । उस प्रभुके ये गुण सब ज्ञानीजन जानते हैं ॥ १ ॥

कोई मनुष्य ठहरा हो, कोई चलता हो, कोई किसीको ठगाता हो, कोई घरके अंदर छिपकर कुछ करता हो और कोई, खुली जगहमें कार्य करता हो, अथवा दो मनुष्य एक स्थानमें बैठकर कुछ आपसमें गुप्त विचार कर-ते हों, इन सब बातोंको यह प्रभु उसी समय जानता है ॥ २ ॥

उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञ उतासौ द्यौर्बृहती दूरेअन्ता ।
उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी उतास्मिन्नल्प उदके निलीनः ॥ ३ ॥
उत यो द्यामतिसर्पात्परस्तान्न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः ।
दिव स्पशः प्र चरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम् ॥ ४ ॥
सर्वं तद्राजा वरुणो वि चष्टे यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात् ।
संख्याता अस्य निमिषो जनानामक्षानिव श्वघ्नी नि मिनोति तानि॥५॥

अर्थ- (इयं भूमिः) यह पृथिवी, (उत उत असौ बृहती दूरं अन्ता द्यौः) और यह बडा दूर अन्तरपर दिखनेवाला द्युलोक है; यह सब (वरुणस्य राज्ञः) वरुणराजाका है। (उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी) और दोनों समुद्र वरुणकी दोनों कोखें हैं, (उत अस्मिन् अल्प उदके निलीनः) तथा वह इस अल्प उदकमें भी लीन हुआ है ॥ ३ ॥ (उत यः परस्तात् द्यां अतिसर्पात्) और जो दूर द्युलोकके भी परे भी चलाजावे (सः वरुणस्य राज्ञः न मुच्यातै) वह इस वरुणराजा के शासनसे छूट नहीं सकता। (अस्य दिवः स्पशः इदं प्रचरन्ति) इस दिव्यदेवके दूत इस जगत्में संचार करते हैं। वे (सहस्र-अक्षाः भूमिं अतिपश्यन्ति) हजार आंखवाले भूमिको विशेष देखते हैं॥ ४ ॥

(राजा वरुणः तत् सर्वं विचष्टे) वरुणराजा उस सबको देखता है (यत् रोदसी अन्तरा यत् परस्तात्) जो भूमि और द्युलोकके बीचमें है और जो परे है। (जनानां निमिषः अस्य संख्याताः) मनुष्योंकी पलकों के झपकोंको भी उसने गिना है। (तानि निमिनोति) उनको वह नापता है (इव श्वघ्नी अक्षान्) जैसे जुआडी पासोंको नापता है ॥ ५ ॥

भावार्थ— यह भूमि और यह बडा द्युलोक तथा इनके बीचके सब पदार्थ उसी प्रभूके हैं। ये बडे समुद्र उसकी कोखोंमें हैं, यह जैसा बडे समुद्रोंमें है वैसाही पानीकी छोटीसी बूंदमेंभी है ॥ ३ ॥ यदि कोई कुकर्म करके द्युलोकसेभी परे दूर कहीं भाग जावे तो भी वह इस प्रभुके शासनसे नहीं छूट सकता, क्योंकि इसके दिव्य गुप्त चर इस जगत् में संचार करते हैं और वे हजारों आंखोंसे इस भूमिका निरीक्षण करते हैं ॥ ४ ॥

जो कुछ इस भूमि और द्युलोकके मध्यमें है उस सबका निरीक्षण वह प्रभु स्वयं करता है। यहां तक कि मनुष्योंके पलकोंकी झपकोंको भी वह गिनता है, अर्थात उसको अज्ञात ऐसा कुछभी नहीं है ॥ ५ ॥

ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः।
छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु ॥ ६ ॥
शतेन पाशैरभि धेहि वरुणैनं मा ते मोच्यनृतवाङ् नृचक्षः।
आस्तां जाल्म उदरं संसयित्वा कोश इवाबन्धः परिकृत्यमानः ॥ ७ ॥
यः समाम्यो३ वरुणो यो व्याम्यो३ यः संदेश्यो३ वरुणो यो विदेश्यः।
यो दैवो वरुणो यश्च मानुषः ॥ ८ ॥

अर्थ- हे (वरुण) वरुणदेव ! (सप्त सप्त त्रेधा विषिताः) सात सात तीन प्रकारसे बंधे हुए (ये ते रुशन्तः पाशाः तिष्ठन्ति) जो तेरे विनाशक पाश हैं वे (सर्वे अनृतं वदन्तं छिनन्तु) सब असत्य बोलनेवालेको बांध दें अथवा छिन्नभिन्न करें। (यः सत्यवादी तं अतिसृजन्तु) जो सत्यवादी है उसको छोड दें॥ ६ ॥ हे (वरुण) ईश्वर ! (शतेन पाशैः एनं अभिधेहि) सौ फांसोंसे इसको बांध ले। हे (नृचक्षसः) मनुष्योंको देखनेवाले ! (अनृतवाक् ते मा मोचि) असत्य बोलने वाला तेरेसे न छूट जावे। (जाल्मः उदरं स्रंसयित्वा) दुष्ट नीच अपने उदरको गिराकर, (अबन्धः कोश इव) न बंधे कोशके समान (परिकृत्यमानः आस्तां) कटा हुआ पडा रहे ॥ ७ ॥ (वरुणः यः समाम्यः) वरुण जो समानभाव रखनेवाला और (यः व्याम्यः) जो विषम भाव रखनेवाला है। (वरुणः यः सं-देश्यः, यः वि-देश्यः) वरुण जो समान देशमें रहनेवाला और जो विशेष देशमें रहनेवाला है, (वरुणः यः दैवः यः च मानुषः) वरुण जो देवोंके संबंधी और जो मनुष्य संबंधी है ॥ ८ ॥

भावार्थ- जो असत्य बोलते हैं उनको वह प्रभु अपने हिंसक पाशोंसे बांध देता है और जो सत्यवादी होते हैं उनको मुक्त करता है ॥ ६ ॥ हे प्रभो ! तू दुष्टको सैकडों पाशोंसे बांध देता है, असत्यवादी तेरे पाशोंसे नहीं छूट सकता। जो दुष्ट मनुष्य अपने पेटके लिये दूसरोंको सताता है, तू उसके पेटका नाश करता हुआ अन्तमें उसका भी नाश करता है ॥७॥ सबके साथ समान भाव रखनेवाला, सब देशमें समान रीतिसे रहने वाला एक दिव्य वरुण देव अर्थात् परमेश्वर है, इसी प्रकार विषम भाव रखनेवाला और छोटे छोटे स्थानोंमें रहनेवाला एक मानुष वरुण अर्थात् मनुष्योंमें रहनेवाला जीवात्मा भी है ॥ ८ ॥

*

तैस्त्वा सर्वैरभि ष्यामि पाशैरसावामुष्यायणामुष्याः पुत्र ।
तानु ते सर्वाननुसन्दिशामि ॥ ९ ॥

अर्थ- हे (अमुष्यायण) हे अमुक पिताके पुत्र ! हे (अमुष्याः पुत्र) अमुक माताके पुत्र ! (असौ) वह तू (त्वा) तुझको (तैः सर्वैः पाशैः अभिष्यामि) उन सब पाशोंसे बांधताहूं। और (तान् सर्वान् उ ते अनु संदिशामि) उन सबको तेरेलिये प्रेरित करता हूं ॥ ९ ॥

भावार्थ— हे अमुक मातापिताके सुपुत्र ! तू उत्तम रीतिसे सत्य व्यवहार कर अन्यथा उस प्रभुके पाशोंसे तू बांधा जायगा जिन पाशोंका वर्णन यहां किया जाचुका है ॥ ९ ॥

सर्वाधिष्ठाता प्रभु ।

इस सूक्तमें सर्वसाक्षी, सर्वद्रष्टा, सर्वाधिष्ठाता प्रभुका वर्णन है। यह सूक्त इतना सुबोध, स्पष्ट और भावपूर्ण है कि जिसकी प्रशंसा हमारे शब्दोंसे होना असंभव है। प्रथम मंत्रमें कहा है कि—“इस जगतका एक बडा अधिष्ठाता है वह सब जनोंके व्यवहारोंको हरएकके पास रहनेके समान देखता है।” हरएक मनुष्य इस कथनका स्मरण रखे। वह प्रभु जो कार्य करता है उसका वर्णन इसी सूक्तके प्रथम मंत्रमें निम्नलिखित शब्दों द्वारा हुआ है—

(१) तायत्-(ताय्-संतानपालनयोः) वह सबको फैलाता अर्थात् विस्तार करने अथवा पूर्ण बढनेका अवसर देता है; तथा सबका यथा योग्य पालन करता है। किसी प्रकार न्यूनता होने नहीं देता। यह उसकी सबके ऊपर बडी दया है। (मं. १)

(२) चरन्-वह सर्वत्र जाता है, सर्वस्थानोंमें उसकी प्राप्ति है, सबको वह चलाता है। वह सर्वव्यापक है। (मं० १)

(३) मन्यते-(मन्-ज्ञाने)-जानता है, वह सर्वज्ञ है। (मं० १)

(४) अन्तिकात् इव पश्यति-पास रहनेके समान सबके व्यवहार यथावत् देखता है। वह सर्वत्र व्यापक होनेसे वह सबका उत्तम प्रकारसे निरीक्षण करता है (मं०१)

(५) अधिष्ठाता—वह सबका मुख्य अधिष्ठाता, शासक और प्रभु है। उसके ऊपर को[illegible] नहीं है। (मं० १)

उसकी सर्वज्ञता।

'[illegible] सबके व्यवहार पास रहनेके समान पूर्ण रीतिसे देखता है' ऐसा जो प्रथम मंत्र[illegible] कहा है, उसका ही स्पष्टीकरण द्वितीय मंत्र द्वारा हुआ है। "कोई मनुष्य किसी स्थ[illegible]पर ठहरा हो, चलता हो, दौडता हो, छिपकर कुछ करता हो अथवा खुले स्थानमें [illegible]यवहार चलाता हो, दो मनुष्य अथवा अधिक मनुष्य बिलकुल एकान्तमें कुछ विचार करते हों तो यह सब उस प्रभुको यथावत् विदित हो जाता है, (मं० २) अर्थात् उससे छिपकर कोई मनुष्य कुछ भी कर नहीं सकता। यह उसकी सर्वज्ञताका उत्तम वर्णन है।

भूमि यहां अपने पास है और द्यौ बडी दूर है, तथापि इन सब पर उसी प्रभुका समान अधिकार है। इतने बडे विस्तार वाले विश्वपर उस अकेले का ही स्वामित्व है। वह इतना बडा हैं कि ये सब समुद्र उसकी कोखमें है। यह इतना बडा होता हुआ भी इस छोटेसे जलके एक बूंदमें भी वह विराजमान है, प्रत्येक सूक्ष्मसे सूक्ष्म अणुरेणुमें वह पूर्ण तया व्यापक हुआ है। (मं० ३) यह तृतीय मंत्रका कथन है।

प्रबल शासक।

उसका शासन ऐसा प्रबल है कि कोई मनुष्य उसके शासनाधिकारसे छूटनेके लिये कहीं भी भाग गया और द्युलोकसे भी परे चलागया, तो भी वह उससे दूर जा नहीं सकता, कहां भी गया तो भी वह उसके शासनमें ही रहेगा। वह स्वयं सबका निरीक्षण करता है और उसके दूत भी ऐसे प्रबल हैं कि उनकी दृष्टि सबके ऊपर एकसी ही रहती है। (मं० ४)

जो कुछ इस द्युलोकके बीचमें है उस सबको वह प्रभु जानता ही है, यहां तक वह देखता, गिनता और नापता है कि आंखोंके पलकोंके झपक किसके कितने हुए हैं यह भी उसको ज्ञात है। जो इतनी बारीकीसे सब कुछ देखता है, उसको न समझते हुए क्या कोई मनुष्य कुछ भी कर सकता है ? कभी नहीं (मं० ५) इसलिये सब मनुष्योंको यह मानना चाहिये कि वह हमारा निरीक्षक है, अतः उसको अपने सम्मुख मानते हुए उत्तम कर्म करके अपना अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्धी हरएकको प्राप्त करनी चाहिये।

उसके पाश।

जगत्, शरीर, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, मन, चित्त, बुद्धि इन सात क्षेत्रोंमें उनके पाश फैले हैं। प्रत्येक क्षेत्रके अनुकूल उसके पाश हैं और प्रत्येक क्षेत्रमें भी सत्व (पुत्र) इन तीन भेदोंसे पाश भी भिन्न हैं। ये सब पाश "असत्य भाषण करनेवालेको बांधते हैं और सत्यवादीको मुक्त करते हैं।" (मं० ६) सत्यनिष्ठाका यह महत्त्व पाठक जानें और जहांतक हो सके वहां तक सत्य पालनमें दत्त चित्त होकर अपने जन्मकी सार्थकता करें। सप्तम मंत्रका आशय भी ऐसाही है।

अष्टम मंत्रमें "दैवी वरुण और मानुष वरुण" का वर्णन है। इस वर्णनसे वैदिक वर्णन शैलीका पता लगता है इसलिये इसके विषयमें थोडासा विवरण करना चाहिये-

दो वरुण।

दिव्य वरुण.	मानुष वरुण.
१ समाम्यः—सबके साथ समान भाव रखनेवाला,	१ व्याम्यः—विषम भावसे देखनेवाला,
१ संदेश्यः—समान देशमें रहने वाला अर्थात् सब स्थानोंमें समानतया रहनेवाला,	२ विदेश्यः—जो स्थान विशेषमें रहने वाला है,
३ दैवः—जो देवसंबंधी है,	३ मानुषः—जो मनुष्योंके संबंधमें है,
४ वरुणः—जो श्रेष्ठ ईश्वर है।	४ वरुणः—जो श्रेष्ठ जीवात्मा है।

परमेश्वर सबके साथ समान व्यवहार करनेवाला, सब स्थानोंमें समान रीतिसे व्यापनेवाला देव है, और जीवात्मा हरएकके साथ विषमवृत्तिसे व्यवहार करनेवाला तथा छोटे छोटे स्थानमें रहनेवाला है। दोनों अपनी अपनी कक्षामें वरुण ही हैं, परंतु एककी व्यापकता बडी है और दूसरेकी छोटी है। एकही शब्दसे जीवात्मा परमात्मा का वर्णन किस ढंगसे होता है यह बात यहां पाठक देखें। यह वेदकी वर्णन शैली है।

अन्तिम मंत्रमें मनुष्य मात्रके लिये संदेश दिया है कि इस प्रभुके उपासक बनो, उसके आदेशमें रहो और सत्य पालन द्वारा उसके अनुकूल चलो। जो लोग ऐसा न करेंगे वे उसके पाशसे बांधे जांयगे। जो सत्य पालन करेंगे वे मुक्त हो जांयगे।

अपामार्ग औषधि ।

[१७]

(ऋषिः— शुक्रः । देवता–अपामार्गः वनस्पतिः ।)

ईशानां त्वा भेषजानामुज्जेष आ रंभामहे ।
चक्रे सहस्रवीर्यं सर्वस्मा ओषधे त्वा ॥ १ ॥

सत्यजितं शपथयावनीं सहमानां पुनः सराम् ।
सर्वाः समह्व्योषधीरितो नः पारयादिति ॥ २ ॥

अर्थ–हे ओषधे ! (भेषजां ईशानां त्वा उत् जेषे आरभामहे) औषधियोंमें विशेष सामर्थ्यवाली तुझ औषधिको अधिक जयशाली बनानेकेलिये यह प्रयोगका प्रारंभ करता हूं । (सर्वस्मै त्वा सहस्रवीर्यं चक्रे) सब रोगोंके निवारण के लिये तुझे हजारों वीर्योंसे युक्त करता हूं ॥ १ ॥

(सत्यजितं) निश्चयसे जीतनेवाली (शपथ-यावनीं) आक्रोशको दूर करनेवाली, (सहमानां) रोगका पराजय करनेवाली, (पुनः सरां) विशेष करके सारक अथवा विरेचक गुणसे युक्त, इसीप्रकारकी (सर्वाः ओषधीः समह्वि) सब औषधियोंको प्राप्त करता हूं । ये औषधियां (इतः नः पारयात) इन रोगोंसे हमें पार करें ॥ २ ॥

भावार्थ–औषधियोंमें विशेष सामर्थ्यवाली औषधियां हैं और अन्य औषधियां प्रयोगविशेषसे सामर्थ्यशाली बनाई जाती हैं ॥ १ ॥

निश्चयसे रोगदूर करनेवाली, रोगीका आक्रोश दूर करनेवाली, रोगीकी सहन शक्ति बढानेवाली, रेचकगुणसे युक्त, औषधियां होती हैं जिनकी सहायतासे हम रोगोंसे मुक्त होते हैं ॥ २ ॥

या शुशापु शपनेनु याघं मूरमादुधे ।
या रसस्यु हरणाय जातमारेभे तोकमत्तु सा ॥ ३ ॥
यां ते चुक्रुरामे पात्रे यां चुक्रुर्नीललोहिते ।
आमे मांसे कृत्यां यां चुक्रुस्तया कृत्याकृतो जहि ॥ ४ ॥
दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्वमिराय्यः ।
दुर्णाम्नीः सर्वा दुर्वाचुस्ता अस्मन्नाशयामसि ॥ ५ ॥

अर्थ- (या शपनेन शशाप) जो आक्रोशसे दुष्ट शब्द बोलती है, (मूरं अघं आदधे) जो मूढता लानेवाला पाप धारण करती है, (या रसस्य हरणाय) जो साररूप रसका हरण करनेके लिये (जातं आरेभे) नये जन्मे बालककोभी पकडती है, (सा तोकं अत्तु-त्ति) वह बीमारी संतानको खाजाती है ॥ ३ ॥

(यां ते आमे पात्रे चक्रुः) जिस हिंसक प्रयोगको तेरे लिये कच्चे मिट्टीके बर्तनमें बनाते हैं, (यां नील-लोहिते) जिसको नील और लाल होनेतक पकाये बर्तनमें करतें हैं, तथा (आमे मांसे) कच्चे मांसमें (यां कृत्यां चक्रुः) जिस हिंसा प्रयोगको करते हैं (तया कृत्याकृतः जहि) उससे उन हिंसा करनेवालों का ही नाश कर ॥ ४ ॥

(दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं) बुरे स्वप्नोंके आने, दुःखदायी जीवन बनना, (रक्षः अ-भ्वं अ-राय्यः) रोगक्रिमियोंका निर्बलताकारक, निस्तेजताको बढानेवाला जो रोग है तथा (दुः- नाम्नीः सर्वाः दुर्वाचः) दुष्ट नामवाली बवासीर और उसके संबंधके सब बुरे रोग ये सब (अस्मत् नाशयामसि) हमसे नाश करें ॥ ५ ॥

भावार्थ— कई रोगोंसे रोगी चिल्लाता है, कईयोंमें मूर्छा आजाती है, कईयोंमें रक्त क्षीण होता है, कई रोग तो नवजात लडके को होते हैं और उसका भी नाश करते हैं ॥ ३ ॥

जो हिंसाप्रयोग कच्चे बर्तनमें, पक्के बर्तनमें और कच्चे गूदेमें बनाया जाता है। उन हिंसक प्रयोगोंसे वेही हिंसक लोग नष्ट होते हैं ॥ ४ ॥

बुरे स्वप्नका आना, जीवनकी उदासीनता, निस्तेजता और क्षीणता, बवासीर, चिडचिडा स्वभाव ये सब इस औषधिसे हट जाते हैं ॥ ५ ॥

क्षुधामारं तृष्णामारमगोतामनपत्यताम् ।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥ ६ ॥
तृष्णामारं क्षुधामारमथो अक्षपराजयम् ।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥ ७ ॥
अपामार्ग ओषधीनां सर्वासामेक इद्वशी ।
तेन ते मृज्म आस्थितमथ त्वमगदश्चर ॥ ८ ॥

अर्थ- (क्षुधामारं तृष्णामारं) क्षुधासे मरना, तृष्णासे मरना, (अ-गो-तां अन्-अपत्यतां) इंद्रिय अथवा वाणीका दोष, संतान न होना, अर्थात् नपुंसकता, हे (अपामार्ग) अपामार्ग औषधि ! (त्वया तत् सर्वं वयं अप मृज्महे) तेरी सहायताके साथ उक्त सब दोषोंको हम दूर करते हैं ॥ ६ ॥

(तृष्णामारं क्षुधामारं) तृष्णासे मरना, भूखसे मरना तथा (अक्ष पराजयं) इंद्रियका नाश होना, (अपामार्ग) हे अपामार्ग औषधि ! (सर्वं तत् त्वया वयं अप मृज्महे) सब वह दोष तेरी सहायतासे हम दूर करते हैं ॥ ७ ॥

हे अपामार्ग औषधि ! तू (सर्वासां ओषधीनां एकः वशी इत्) सब औषधियोंको वशमें रखनेवाली एक ही औषधि निश्चयसे है । (तेन ते आस्थितं) उससे तेरे शरीरमें स्थित रोगको हम (मृज्मः) दूर करते हैं हे रोगी ! (अथ त्वं अगदः चर) अब तू नीरोग होकर चल ॥ ८ ॥

भावार्थ- बहुत भूख और बहुत प्यास लगना, इंद्रियोंके दोष, वंध्यापन आदि सब अपामार्ग औषधिके प्रयोगसे दूर होते हैं ॥ ६ ॥

भस्मरोग और प्यास लगानेवाला रोग, तथा इंद्रियोंकी कमजोरी अपामार्ग औषधिके प्रयोगसे दूर होजाती हैं ॥ ७ ॥

अपामार्ग औषधि सब औषधियोंको, मानो, वशमें रखनेवाला औषध है । शरीरके सब रोग उससे दूर होते हैं और मनुष्य उसके सेवनसे नीरोग होकर विचरता है ॥ ८ ॥

(१८)

सुमं ज्योति॒ः सूर्ये॑णा॒न्हा रात्री॑ स॒माव॑ती ।
कृणोमि॑ स॒त्यमू॒तये॑ऽर॒साः स॑न्तु कृ॒त्व॑रीः ॥ १ ॥
यो दे॑वाः कृ॒त्यां कृ॒त्वा हरा॒दवि॑दुषो गृ॒हम् ।
व॒त्सो धा॒रुरि॑व मा॒तरं॒ तं प्र॒त्यगुप॑ पद्यताम् ॥ २ ॥
अ॒मा कृ॒त्वा पा॒प्मानं॒ यस्तेना॒न्यं जिघांसति ।
अश्मा॑न॒स्तस्यां॑ द॒ग्धायां॑ बहु॒लाः फट् क॑रिक्रति ॥ ३ ॥

अर्थ— (सूर्येण समं ज्योतिः) सूर्यके समान ज्योती है, और (अह्ना समावती रात्री) दिनके समान रात्री है । सब (कृत्वरीः अरसाः सन्तु) विनाशक बातें रसहीन हो जांय । (सत्यं ऊतये कृणोमि) सत्यको मैं रक्षाके लिये करता हूं ॥ १ ॥

हे (देवाः) देवो ! (यः कृत्यां कृत्वा अ-विदुषः गृहं हरात) हिंसक प्रयोग करके अज्ञानीके घरका हरण करे, (धारुः वत्सः मातरं इव) दूध पीनेवाला बालक अपनी माताके पास जानेके समान, वह हिंसक विधि (तं प्रत्यक् उपपद्यतां) उसके प्रति लौटकर जावे ॥ २ ॥

(यः पाप्मानं कृत्वा) जो पाप करके (तेन अमा अन्यं जिघांसति) उससे साथ दूसरेको मारना चाहे, (तस्यां दग्धायां) उसके जल जानेपर (बहुलाः अश्मानः फट् करिक्रति) बहुत पत्थर फट शब्द करेंगे अर्थात नाश करेंगे ॥ ३ ॥

भावार्थ—सब विनाशक प्रयत्न असफल हो जांय । सत्यहीसे सबकी उत्तम रक्षा हो सकती है, देखो सूर्यकी सत्य ज्योती आकाशमें चमकरही है, जिससे दिनका प्रकाश फैलता है। इसी प्रकार सत्यसे उन्नति होगी ॥ १ ॥

जो घात पातके प्रयोग करके दूसरोंके घरबारका नाश करते हैं, वे प्रयत्न वापस जाकर उन घातक लोगोंका ही नाश करें ॥ २ ॥

जो स्वयं पाप कर्म करके उससे दूसरेका भी साथ साथ नाश करना चाहता है, उस प्रयत्नसे उसी पापीका स्वयं नाश होगा, जैसा तपे हुए पत्थर स्वयं फट जाते हैं ॥ ३ ॥

सहस्रधामन्विशिखान्विग्रीवाञ्छायया त्वम्।
प्रति स्म चक्रुषे कृत्यां प्रियां प्रियावते हर ॥ ४ ॥
अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम्।
यां क्षेत्रे चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पुरुषेषु ॥ ५ ॥
यश्चकार न शशाक कर्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम्।
चकार भद्रमस्मभ्यमात्मने तपनं तु सः ॥ ६ ॥

अर्थ- हे (सहस्र-धामन्) सहस्र धामवाले ! (त्वं विशिखान् विग्रीवान् शायय) तूं शिखारहित और ग्रीवारहित करनेवालों को सुलादे। (प्रियां कृत्यां चक्रुषे प्रियावते) प्रिय कृत्य करनेवालेको प्रियके पास (प्रति हर स्म) पहुंचा ॥ ४ ॥

(अनया ओषध्या सर्वाः कृत्याः अदूदुषम्) इस औषधिसे सब दुष्ट कृत्योंका नाशकरता हूं। (यां क्षेत्रे चक्रुः) जो खेतमें किया हो, (यां गोषु) जो गौओं में और (या वा ते पुरुषेषु) जो तेरे पुरुषों में किया है ॥ ५ ॥

(यः चकार) जो करता था परंतु (कर्तुं न शशाक) पूर्ण काटनेके लिये समर्थ न हुआ, परंतु (पादं अंगुरिं शश्रे) पांव अंगुलि आदि तोड दी है, (अस्मभ्यं भद्रं चकार) हमारे लिये उसने कल्याण किया परंतु (सः आत्मने तपनं) उसने अपने लिये पीडा प्राप्त की है ॥ ६ ॥

भावार्थ- जो दूसरोंका गला काटने और शिखादि काटनेवाले घातक होते हैं उनका नाश कर और प्रिय कार्यकरनेवालेको उसके प्रेमीके पास सुरक्षित पंहुचाओ ॥ ४ ॥

इस औषधीसे सब नाशक दुष्ट रोगादि दूर हो जाते हैं। खेतोंमें, गौ आदि पशुओंमें और मनुष्योंमें होनेवाले सब दोष इससे दूर होते हैं॥ ५ ॥

जो दूसरोंका सर्वस्व नाश करना चाहता है, परंतु कर नहीं सकता, इसलिये कुछ अवयवका ही नाश करता है, या अल्पसी हानी करता है, उसने तो अपनी ही हानी की है। हमारा तो कल्याण ही उससे हुआ है ॥ ६ ॥

अपामार्गोऽप मार्ष्टु क्षेत्रियं शपथश्च यः ।
अपाह यातुधानीरप सर्वा अराय्यः ॥ ७ ॥
अपमृज्य यातुधानानप सर्वा अराय्यः ।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥ ८ ॥

[१९]

उतो अस्यबन्धुकृदुतो असि नु जामिकृत् ।
उतो कृत्याकृतः प्रजां नडमिवा छिन्धि वार्षिकम् ॥ १ ॥

अर्थ- (अपामार्गः क्षेत्रियं, यः शपथः च अपमार्ष्टु) अपामार्ग औषधि क्षेत्रिय रोगको और जो दुर्वचनका स्वभाव है उसको दूर करे । (अहं सर्वाः यातुधानीः अराय्यः अप) और सब पीडा करनेवाली निस्तेजताको दूर करे ॥ ७ ॥

(यातुधानान् अपमृज्य) यातना देनेवालोंको दूर करके तथा (सर्वाः अराय्यः अप) सब निस्तेजताओंको दूर करके हे (अपामार्ग) अपामार्ग औषधि ! (त्वया वयं तत सर्वं अप मृज्महे) तेरे योगसे हम वह सब कष्ट दूर करते हैं ॥ ८ ॥

(उतो अबन्धुकृत् असि) यदि तू शत्रु बनानेवाला है वा (उतो नु जामिकृत असि) बंधु बनानेवाला है, तू (उतो कृत्याकृतः प्रजां) हिंसा कर्म करनेवालों की संतानोंको (वार्षिकं नडं इव आछिंधि) वर्षामें उत्पन्न होनेवाले घासके समान दूर कर ॥ १ ॥

भावार्थ— अपामार्ग औषधिसे मातापितासे प्राप्त हुए क्षेत्रियरोग, चिडचिडापन, जिसमें रोगी चिल्लाता है वे रोग, यातना जिसमें बहुत होती हैं, तेजहीन शरीर होता है, वे सब दोष दूर होते हैं ॥ ७ ॥

यातना बढानेवाले और तेज घटानेवाले दोष अपामार्ग औषधिके प्रयोगसे हम दूर करते हैं ॥ ८ ॥

तू स्वयं शत्रु बनानेवाला हो वा मित्र बढानेवाला हो, परंतु अपने समाजसे घातक कर्म करनेवालोंको सपरिवार दूर कर ॥ १ ॥

ब्राह्मणेन पर्युक्तासि कण्वेन नार्षदेन ।
सेनेवैषि त्विषीमती न तत्र भयमस्ति यत्र प्राप्नोष्योषधे ॥ २ ॥

अग्रमेष्योषधीनां ज्योतिषेवाभिदीपयन् ।
उत त्रातासि पाकस्याथो हन्तासि रक्षसः ॥ ३ ॥

यददो देवा असुरांस्त्वयाग्रे निरकुर्वत ।
ततस्त्वमध्योषधेऽपामार्गो अजायथाः ॥ ४ ॥

अर्थ— (नार-सदेन कण्वेन ब्राह्मणेन) नरोंकी परिषदोंमें बैठनेवाले विद्वान ब्राह्मणने (परि उक्ता असि) तेरा वर्णन किया है। हे (ओषधे) औषधि ! तू (त्विषीमती सेना इव एषि) तेजस्वी सेनाके समान रोगरूप शत्रुपर हमला करती है, (यत्र प्राप्नोषि) जहां तू प्राप्त होती है (तत्र भयं न अस्ति) वहां भय नहीं रहता है ॥ २ ॥

(ज्योतिषा इव अभिदीपयन्) तेजसे प्रकाशित करती हुई (ओषधीनां अग्रं एषि) ओषधियोंके आगे आगे तू जाती है। (उत पाकस्य त्राता असि) और परिपक्कका रक्षक और (रक्षसः हन्ता असि) रोग बीजोंकी नाशक तू है ॥ ३ ॥

(अदः यत् अग्रे त्वया देवाः) वह जो पहिले तेरे साथ रहनेसे देवोंने (असुरान् निरकुर्वत्) असुरोंको हटाया था, हे (ओषधे) ओषधि ! (ततः त्वं अपामार्गः अजायथाः) उससे तू अपामार्ग नामक ओषधि रूपमें प्रकट हुयी है ॥ ४ ॥

भावार्थ– बडी परिषदोंमें बैठनेवाले विद्वान पण्डितोंका मत है कि यह औषधी रोगोंका पूर्ण नाश करती है, और जहां जाती है वहां रोगका भय शेष नहीं रहता ॥ २ ॥

यह तेजस्वी औषधी वनस्पतियोंमें मुख्य है, यह शुभ गुणोंकी रक्षक और रोगबीजोंकी नाशक है ॥ ३ ॥

जिस बलसे देवोंने असुरोंको हटाया था, उस बलको लेकर यह अपामार्ग औषधि उत्पन्न हुई है ॥ ४ ॥

विभिन्दती शतशाखा विभिन्दन्नाम ते पिता ।
प्रत्यग्वि भिन्धि त्वं तं यो अस्माँ अभिदासति ॥ ५ ॥

असद्भूम्याः समभवत्तद्यामेति महद्व्यचः ।
तद्वै ततो विधूपायत्प्रत्यक्कर्तारमृच्छतु ॥ ६ ॥

प्रत्यङ् हि संबभूविथ प्रतीचीनफलस्त्वम् ।
सर्वान्मच्छपथाँ अधि वरीयो यावया वधम् ॥ ७ ॥

अर्थ- तू (शतशाखा विभिन्दती) सेकडों शाखावाली होकर रोगोंका भेदन करती है। (विभिन्दन् नाम ते पिता) विभेदन करनेवाला तेरा पिता है। (यः अस्मान् अभिदासति) जो हमारा नाश करता है (त्वं तं प्रत्यक् विभिन्धि) तू उसे हरप्रकारसे नष्ट कर ॥ ५ ॥

(असत भूम्याः समभवत) असत्यरूप दुष्टता भूमीसे उत्पन्न हुई तो भी वह (तत् महत् व्यचः द्यां एति) वह बडा विस्तृत होकर आकाशतक फैलता है। (ततः तत वै कर्तारं विधूपायत) वहांसे वह निश्चयपूर्वक कर्ताको ही संतप्त करता हुआ (प्रत्यक् ऋच्छतु) उसीको वापस पंहुंचता है ॥ ६ ॥

(त्वं हि प्रत्यङ् प्रतीचिनफलः संबभूविथ) तू ही प्रत्यक्ष उलटे फल करनेवाला उत्पन्न हुआ है, इसलिये (मत् सर्वान् शपथान्) मुझसे सब बुरे वचनोंको और (वरियः वधं अधियावय) ऊपर उठनेवाले शस्त्रको दूर कर ॥ ७ ॥

भावार्थ— यह औषधि अनेक प्रकारसे रोगोंको दूर करती है तथा इस औषधिको जो अपने पास रखता है वह भी रोगोंको दूर कर सकता है। इसलिये जो रोग हमारा नाश करते हैं उनको इस औषधिसे दूर किया जावे ॥ ५ ॥

भूमिपर थोडा भी असत्य उत्पन्न हुआ तथापि वह शीघ्रही सर्वत्र फैलता है और वापस आकर कर्ताका भी नाश करता है ॥ ६ ॥

इस औषधिमें दोषोंको उलटा करनेका गुण है इस लिये दुर्भाषण और जो भी विनाशक दोष हों उनको इससे दूर किया जावे ॥ ७ ॥

शतेन मा परि पाहि सहस्रेणाभि रक्ष मा ।
इन्द्रस्ते वीरुधां पत उग्र ओज्मानमा दधत् ॥ ८ ॥

अर्थ- (शतेन मा परिपाहि) सौ उपायोंसे मेरी रक्षा कर और (सहस्रेण मा अभिरक्ष) हजारों यत्नोंसे मेरा संरक्षण कर। हे (वीरुधां पते) औषधियोंके स्वामी ! (उग्रः इन्द्रः ते ओज्मानं आदधात्) उग्र वीर इन्द्र तेरे अंदर पराक्रमकी शक्ति धारण करे ॥ ८ ॥

भावार्थ—सौ और हजारों रीतियोंसे यह वनस्पति रक्षा करती है क्यों कि इस में इन्द्रका तेज भरा है ॥ ८ ॥

अपामार्ग औषधि ।

हिंदीभाषामें ' लटजीरा, चिरचिरा ' ये नाम जिसके हैं उसको संस्कृतमें ' अपामार्ग ' औषधि कहते हैं । इसके तीन भेद हैं, श्वेत, कृष्ण और लाल ये अपामार्गके तीन भेद हैं । ये तीनोंके गुण समानही हैं जिनका उल्लेख वैद्यक ग्रंथोंमें इस प्रकार किया है—

तिक्तोष्णः कटुः कफघ्नः अर्शःकण्डूदुरामघ्नो रक्तघ्नः ग्राही वान्तिकृत । राजनि. व. ४

(सन्निपातज्वरचिकित्सायां) पृश्निपर्णी त्वपामार्गः । चक्रपाणिदत्तद्रव्यगुणः ।

दीपनः तिक्तः कटुः पाचको रोचनः छर्दिकफमेदोवातघ्नः हृद्रोगाध्मानार्शः कण्ड्वादिकं हन्ति । भावप्र०पू०भा० १

तत्पत्रं रक्तपित्तघ्नं । मद०व० १ ।

श्वेतश्चापामार्गकस्तु तिक्तोष्णो ग्राहकः सरः । किञ्चित्कटुः कान्तिकरः पाचकोऽग्निदीपकः । नस्ये वान्तौ प्रशस्तः स्यात्कफकण्डूदरापहः । दुर्नामानं रक्तरुजं मेदोरुदुदरे तथा । वातसिध्मापचीदद्रुवान्त्यामानां विनाशकः । रक्तापामार्गकः किञ्चित्कटुकः शीतलः स्मृतः मन्यावष्टम्भवमिकृद्वातविष्टम्भकारकः । रूक्षो व्रणं विषं वातं कफं कण्डूं च नाशयेत् । बीजमस्य रसे पाके दुर्जरं स्वादु शीतलं । मलावष्टंभकं रूक्षं वान्तिकृत्कफपित्तजित् । तोयापामार्गकश्चोक्तः कटुः शोथकफावहः । कासं वातश्च शोषं च नाशयेदिति च स्मृतः । वै० निघं० ।

अपामार्ग वनस्पतिका यह वर्णन वैद्यक ग्रंथोंमें है। इसका तात्पर्य यह है—"अपामार्ग वनस्पति तिक्त, उष्ण, कटु, कफ नाशक; बवासीर, खुजली, आम और रक्तके रोगोंका नाश करनेवाली है, वान्ति करनेवाली है। सन्निपात ज्वरकी चिकित्सामें पृश्निपर्णी और अपामार्ग इनका उत्तम उपयोग होता है। यह पाचक, दीपक अर्थात् भूख लगानेवाली, वमन, कफ, मेद, वात, हृद्रोग, आध्मान, बवासीर आदिका नाश करती है। अपामार्ग तिक्त, उष्ण, ग्राहक और सारक है। शरीरकी कान्ति बढानेवाला, पाचक और अग्नि प्रदीप्त करने वाला है। नस्य और वान्तिमें यह प्रशस्त है। बवासीर, रक्तदोष, मेद, उदर आदिका नाशक है। व्रण, विष, वात, कफ, खुजकी, आदिको दूर करता है।"

यह अपामार्गका वैद्यक ग्रंथोंका वर्णन देखकर हम इन सूक्तोंमें कहे वर्णनका विचार करेंगे। सूक्त १७—१९ इन तीनों सूक्तोंमें इसी 'अपामार्ग' वनस्पतिका वर्णन है, इन तीनों सूक्तोंका भी एकही 'शुक्र' ऋषि है।

क्षुधा और तृष्णा मारक।

सू. १७ मं. ६—७ में 'क्षुधासे मरनेका रोग' अर्थात् जिसमें भूख अधिक लगती है, जितना खाया जाय उतना भस्म होजाता है इस कारण जिसको भस्मरोग कहते हैं, तथा 'तृषाका रोग' जिसमें प्यास बहुत लगती है, इन रोगोंको अपामार्ग औषधि दूर करती है ऐसा कहा है। यही बात ऊपर लिखे वचनमें कही है—

बीजमस्य रसे पाके दुर्जरं स्वादु शीतलम्।

"अपामार्गका बीज पचनके लिये कठिन है, स्वादु और शीतल है।" पचन कठिनतासे होता है इसलिये यह भस्मरोगके लिये अच्छा है और शीतल होनेसे तृष्णारोगको शमन करता है। इस प्रकार वैद्यशास्त्रका वर्णन मंत्रोक्त वर्णनके साथ पढनेसे मंत्रका आशय स्वयं स्पष्ट हो जाता है।

बवासीर।

सू० १७ मं० ५ में 'दुर्णाम्नीः शब्द आगया है। वैद्यक ग्रंथमें 'दुर्नामा' शब्द आगया है। यह बवासीरका वाचक शब्द है। वेदमें जहां औषधि प्रकरणमें 'दुर्नामन्, शब्द आता है वहां प्रायः बवासीर का संबंध रहता है। कई लोग 'दुष्ट वाणी, आदि भिन्न अर्थ करते हैं। परंतु वह ठीक नहीं है। वेदमें यह 'दुर्नामन्' नाम बवासीरके लिये आया है। 'दुर्नाम, दुर्णाम, दुर्वाच्' ये शब्द बवासीरके विविध भेदोंके ही वाचक हैं।

दुष्ट स्वप्न।

दुष्ट स्वप्न आना यह पित्तके कारण, पेटके दोषके कारण अथवा आमदोषके कारण होता है। वैद्यक ग्रंथोंमें इस अपामार्गको पित्तशामक, पाचक, अग्निप्रदीपक, दीपक, रुचि[illegible]क कहा है। सूक्त १७ के पंचम मंत्रके पूर्वार्धमें जो रोग कहे हैं उनका इनहींसे संबंध है, जैसा देखिये—

१ दौष्वप्न्यं—दुष्ट स्वप्न आना, निद्रा गाढ न आना,
२ दौर्जीवित्यं—जीवितके विषयमें उदासीनता मनमें उत्पन्न होना,
३ रक्षः—विविध प्रकारके कृमिदोष होना,
४ अ-भ्वं—शरीरकी वृद्धि न होना, परंतु शरीरकी कृशता बढना, क्षीणता उत्पन्न करनेवाले रोग,
५ अ-राय्यः—राय् अर्थात् तेज, शोभा, कान्ति जो स्वस्थ शरीर पर होती है, वह न होना, फीका रंग होना।

ये पञ्चम मंत्रके रोगवाचक शब्द वैद्यक ग्रन्थों के पूर्वोक्त वर्णनके साथ पढनेसे इनका आशय खुल जाता है। ये सब अपचनके रोग हैं और श्वेत अपामार्ग अग्नि प्रदीप्त करनेवाला होनेके कारण इन रोगोंका नाशक निश्चयसे हो सकता है।

सारक।

सूक्त १७ के द्वितीय मंत्रमें 'सरां' पद है, और उक्त वैद्यक ग्रंथमें 'सरः' पद है। दोनोंका आशय 'सारक, रेचक' अर्थात् शौच शुद्धी करनेवाला है। शौच शुद्धि होनेसे भुख बढना, अग्निदीपन होना स्वाभाविक है। आगे तृतीय मंत्रमें 'रसस्य हरणं' पद है। रसका हरण होनेसे ही शोष होता है और प्यास बढती है। "तृष्णामार" रोग इसी कारण होता है। इस रोगकी यह दवा है। शरीरके रस का हरण जिस रोगमें होता है उस रोगका शमन इस अपामार्ग औषधिसे होता है। इस सूक्तके द्वितीय और तृतीय मंत्रमें "शपथ" शब्द बारबार आगया है। शपथ का अर्थ है दुर्भाषण, जिस समय मनुष्यका स्वभाव चिडचिडा होता है उस समय मनुष्य की प्रवृत्ति दुर्भाषण करनेकी ओर हो जाती है। चिडचिडा स्वभाव पेटके कारण होता है। यह दोष इस अपामार्ग औषधिके सेवन से दूर हो जाता है। क्योंकि इससे अपचन दोष दूर होता है, पेट ठीक

होता है और पेटके ठीक होनेसे चिडचिडा स्वभाव दूर होता है और दुर्भाष करनेकी प्रवृत्ति भी हट जाती है।

१७ वें सूक्तका शेष वर्णन अपामार्गकी प्रशंसा परक है; इसलिये उसके विषयमें अधिक लिखना आवश्यक नहीं है।

सूक्त १८ वेमें मं० २ से ६ तक कुछ ऐसे घातक कृत्यका वर्णन है जो दूसरेके घातके लिये दुष्ट मनुष्य किया करते हैं। क्षेत्रमें, गौओंके नाश के लिये और मनुष्यके नाशके लिये करते हैं। इस प्रांतमें हमने देखा है कि अन्त्यजोंमें से एक जाती जो मृत गौका मांस खाती है, वह प्रायः ऐसे प्रयोग करती है। खेतोंमें जहां गौवें घास खानेके लिये जाती हैं, वहांके घासमें कुछ विष रखा जाता है। घास खानेसे वह विष गौआदि पशुओंके पेटमें जाता है और वह पशु घण्टा आध घंटामें मर जाता है। पशु मरनेके पश्चात् वे ही अन्त्यज लोग उसको ले जाते हैं और खाते हैं। खेतमें गौओंके संबंधमें ये लोग ये घातक प्रयोग किया करते हैं और बडे प्रयत्न करनेपर भी इनसे गौओंका बचाव करनेका उपाय अभीतक प्राप्त नहीं हुआ है।

इस उपायके विषयमें सू. १८ के सप्तम मंत्रमें वेदने कहा है कि अपामार्ग औषधिके उपयोगसे पूर्वोक्त विष दूर होता है और पशु बच सकता है। वैद्यक ग्रंथमें वचनमें अपामार्गका गुण विषनाशक लिखा है। इस गुणके कारणही पूर्वोक्त घातक प्रयोगमें इस औषधिसे लाभ होता है। इस सूक्तके अन्य शपथादिके विषयमें पूर्व सूक्तमे प्रसंग में लिखा जा चुका है, वही यहां समझना चाहिये।

यहां इस सूक्तमें एक दो बातें सामान्य उपदेशके विषयमें बडी महत्त्वकी कही हैं जो हरएक पाठक को अवश्य ध्यानमें धारण करनी चाहिये—

सत्यसे रक्षा।

ऊतये सत्यं कृणोमि। (सू० १८।१)

" रक्षाके लिये सत्यको किया है " अर्थात् यदि रक्षा करनेकी इच्छा है तो सत्य पालन करना चाहिये। सत्यसे ही सबकी रक्षा होना सम्भव है। दूसरेका घातपात करने वाले इस बातका स्मरण रखें की, इन घातक कृत्योंसे उनकी उन्नति कभी नहीं हो सकती। सत्य पालन यह एक मात्र उपाय है जिससे उनकी उन्नति और रक्षा हो सकती है। सत्य प्रत्यक्ष सूर्यके समान है, प्रकाशपूर्ण होनेसे दिन भी सत्यरूपही है, इनसे जिस प्रकार अन्धकारका नाश होता है उसी प्रकार सत्यसे असत्यको दूर किया जाता है।

दूसरेके घातके यत्नसे अपना नाश।

द्वितीय मन्त्रमें यह बात अधिक स्पष्ट कर दी है कि " जो इस प्रकारके दुष्ट कृत्य करके दूसरोंको कष्ट देना चाहते हैं उनका ही नाश अन्तमें हो जाता है, जिस प्रकार बालक माताके पास जाता है उसी प्रकार उनका यह घातक बच्चा उन के ही पास जाता है। " (सू० १८ । २) यह बोध स्मरण रखने योग्य है षष्ठ मन्त्रमें यही बात दुहराई है " दुष्ट मनुष्यने जिनका बुरा करनेका यत्न किया उनका तो कल्याण हुआ, परन्तु उसी घातकको कष्ट हुआ। " (सू० १८। ६) ऐसा ही हुआ करता है। इस लिये घातपातके भाव अच्छे नहीं हैं, क्योंकि अन्तमें उनसे उन दुष्टोंका ही नाश होजाता है। इस प्रकार १८ वे सूक्त का विचार हुआ। अब १९ वें सूक्त का विचार करते हैं—

असत्यसे नाश।

असद्भूम्याः समभवत्तद्यामेति महद्व्यचः।
तद्वै ततो विधूपायत्प्रत्यक्कर्तारमृच्छतु ॥ (मं ६)

इस सूक्तमें छठे मंत्रमें असत्यसे कर्ताका ही कैसा नाश होता है यह बात विस्तार पूर्वक कही है। " पृथ्वीपर थोडा भी असत्य किया तो वह चारों ओर फैलता है, और वह कर्ताको कष्ट देता हुआ उसीका नाश करता है। (मं० ६) इस लिये कभी असन्मार्गसे जाना नहीं चाहिये। जगत्में सुख और शान्ति फैलानेका यह एक ही मार्ग है कि प्रत्येक मनुष्यको सिखाया जावे कि वह कभी असत्यमें प्रवृत्त न हो और सत्यपालनमें ही दत्तचित्त हो जावे।

द्वितीयमंत्रमें अपामार्गका वर्णन करते हुए कहा है कि " जहां यह औषधि पहुंचेगी वहां कोई भय नहीं रहेगा " इतना इस आपामार्ग औषधिका महत्त्व है। तृतीय और चतुर्थ मंत्रमें भी इसी औषधिकी प्रशंसा कही है। और शेष मंत्रोंमें काव्यमय वर्णन द्वारा इसी अपामार्ग वनस्पतिका गुणवर्णन किया है।

वैद्योंको इन तीनों सूक्तोंका अधिक विचार करना चाहिये, क्योंकि यह उनका ही विषय है।

※

दिव्य दृष्टि।

(२०)

(ऋषिः- मातृनामा। देवता-मातृनामा)

आ पश्यति प्रति पश्यति परा पश्यति पश्यति ।
दिवमन्तरिक्षमाद्भूमिं सर्वं तद्देवि पश्यति ॥ १ ॥
तिस्रो दिवस्तिस्रः पृथिवीः षट् चेमाः प्रदिशः पृथक् ।
त्वयाहं सर्वा भूतानि पश्यानि देव्योषधे ॥ २ ॥
दिव्यस्य सुपर्णस्य तस्य हासि कनीनिका ।
सा भूमिमा रुरोहिथ वह्यं श्रान्ता वधूरिव ॥ ३ ॥

अर्थ-हे (देवि) दिव्य दृष्टिदेवी! तू (तत् आपश्यसि) वह सब प्रत्यक्ष देखती है, (प्रति पश्यति प्रत्येक पदार्थको देखती है, (परा पश्यति)दूरसे देखती है,(पश्यति) और देखती है (दिवं अन्तरिक्षं आत् भूमिं) द्युलोक, अन्तरिक्षलोक और भूमिको अर्थात् (सर्वं पश्यति) यह सह देखती है ॥ १ ॥

हे देवि ओषधे! (तिस्रः दिवः तिस्रः पृथिवीः) तीनों द्युलोक और तीनों पृथिवीलोक (इमाः च पृथक् षट् प्रदिशः) और ये पृथक् छः प्रदिशाएं और (सर्वा भूतानि) सब भूत इन सबको (अहं त्वया पश्यामि) मैं तेरे सामर्थ्यसे देखता हूं ॥ २ ॥

(तस्य दिव्यस्य सुपर्णस्य) उस दिव्य सूर्यकी (कनीनिका ह असि) छोटी प्रतिमा तू है। (सा) वह तू (भूमिं आरोहिथ) भूमिपर आगई है (श्रान्ता वधूः वह्यं इव) थकी हुई वधू जिसप्रकार रथपर बैठती है ॥ ३ ॥

भावार्थ— हे दिव्य दृष्टि! तेरी कृपासेही सब ओर देखा जाता है, और त्रिलोकीके अंतर्गतके सब पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त किया जाता है ॥ १ ॥

इस औषधिके प्रयोगसे दृष्टि उत्तम होती है और जिससे त्रिलोक, सब दिशाएं और सब भूत आदिका ज्ञान प्राप्त किया जाता है ॥ २ ॥

सूर्यकी ही छोटीसी प्रतिमा यहां हमारा आंख है। जिस प्रकार कुलवधू थक कर रथमें बैठजाती है, उस प्रकार यह नेत्ररूपी कुलवधू थक कर इस शरीररूपी रथमें आकर बैठ गई है ॥ ३ ॥

तां मे सहस्राक्षो देवो दक्षिणे हस्त आ दधत्।
तयाहं सर्वं पश्यामि यश्च शूद्र उतार्यः ॥ ४ ॥
आविष्कृणुष्व रूपाणि मात्मानमप गूहथाः।
अथो सहस्रचक्षो त्वं प्रति पश्याः किमीदिनः ॥ ५ ॥
दर्शय मा यातुधानान्दर्शय यातुधान्यः।
पिशाचान्त्सर्वान्दर्शयेति त्वा रभ ओषधे ॥ ६ ॥

अर्थ—(सहस्राक्षः देवः तां मे दक्षिणे हस्ते आदधत्) सहस्र नेत्रवाले सूर्यदेवने उस दृष्टिको मेरे दक्षिण हाथमें रखा है। (तया अहं सर्वं पश्यामि) उससे मैं सब देखता हूं (यः च शूद्रः उत आर्यः) जो शूद्र है और जो आर्य है ॥ ४ ॥

(रूपाणि आविष्कृणुष्व) रूपोंको प्रकटकर (आत्मानं मा अप गूहथाः) अपनेको मत छिपा रख। (अथो) और हे (सहस्र-चक्षो) हजार नेत्रवाले देव ! (त्वं किमीदिनः प्रतिपश्याः) तू अब क्या भोगूं ऐसा कहनेवालोंको देख ॥ ५ ॥

(मा यातुधानान् दर्शय) मुझको यातनादेनेवालोंको दिखा। (यातुधान्यः दर्शय) पीडक वृत्तियोंको दिखा। हे ओषधे ! तू (सर्वान् पिशाचान् दर्शय) सब रक्तपीनेवालोंको दिखा, (इति त्वा आरभे) इसलिये तेरी सहायता लेता हूं ॥ ६ ॥

भावार्थ- सूर्य देवने यह दर्शनशक्ति मुझे दी है जिससे मैं सब देखता हूं और यह भी जानता हूं कि कौन श्रेष्ठ है और कौन दुष्ट है ॥ ४ ॥

दिव्य दृष्टिसे सब रूपोंका प्रकाश हो जावे, कोई इससे छिपकर न रहे, कौन दुष्ट अपने स्वार्थ भोगके लिये दूसरोंको कष्ट देता है यह भी इससे ज्ञात होवे ॥ ५ ॥

कौन कष्ट देनेवाले हैं, उनकी सहायकाएं कौन हैं, दूसरोंका रक्त चूसनेवाले कौन हैं, यह सब इसे ज्ञात हो जावे ॥ ६ ॥

कश्यपस्य चक्षुरसि शुन्याश्चं चतुरक्ष्याः ।
वीध्रे सूर्यमिव सर्पन्तं मा पिशाचं तिरस्करः ॥ ७ ॥
उदग्रभं परिपाणाद्यातुधानं किमीदिनम् ।
तेनाहं सर्वं पश्याम्युत शूद्रमुतार्यम् ॥ ८ ॥
यो अन्तरिक्षेण पतति दिवं यश्चातिसर्पति ।
भूमिं यो मन्यते नाथं तं पिशाचं प्र दर्शय ॥ ९ ॥
॥ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अर्थ-(कश्यपस्य चक्षुः असि) तू द्रष्टाकी आंख है, (चतुरक्ष्याः शुन्याः च) चार आंखवाली शुनीकी भी तू आंख है (वीध्रे सर्पन्तं सूर्यं इव) आकाशमें चलनेवाले सूर्यके समान (पिशाचं मा तिरस्करः) रुधिर पीनेवालेको मत छिपने दे ॥ ७ ॥

(किमीदिनं यातुधानं) आज क्या भोग करूं ऐसा कहनेवाले यातना देनेवाले दुष्टको (परि-पाणात् उदग्रभं) रक्षासे मैंने पकडा है । (तेन) उससे (अहं सर्वं पश्यामि) मैं सब देखता हूं (उत शूद्रं उत आर्यं) कौन शूद्र है और कौन आर्य है ॥ ८ ॥

(यः अन्तरिक्षेण पतति) जो अन्तरिक्षसे चलता है(यः च दिवं अतिसर्पति) और जो द्युलोककोभी लांघता है (तं पिशाचं प्रदर्शय)उस रुधिरमें भी जानेवालेको दिखादे ॥ ९ ॥

भावार्थ- सच्चा द्रष्टा आत्मा है, वह आंखसे देखता है वही चार विभागोंमें कार्य करनेवाली बुद्धिका भी आंख है ॥ ७ ॥

मैंने अपना रक्षाका प्रबंध ऐसा किया है कि कौन स्वार्थी भोगतृष्णाके लिये दूसरोंको कष्ट देते हैं इसका पता लग जावे । इससे मैं श्रेष्ठ और दुष्टको यथावत् जानता हूं ॥ ८ ॥

अन्तमें जो अन्तरिक्षमें चलता है, द्युलोकका भी उल्लंघन करता है और भूमिका भी जो नाथ है उसका दर्शन इसी दृष्टिसे हो जावे ॥ ९ ॥

मातृनाम्नी औषधि ।

संस्कृतमें ' माता ' नामवाली औषधियां अनेक हैं उनमें ' आखुकर्णी, महाश्रावणिका और घृतकुमारी ' ये तीन दृष्टिदोषका निवारण करनेवाली प्रसिद्ध हैं —

सं[illegible]त नाम	भाषामें नाम	गुण
१ अ[illegible]बुकर्णी	भोपली	(वै० निघं) चक्षुष्या (नेत्रका बल बढानेवाली)
२ [illegible] श्रावणिका	—	(रा० नि० व० ५) लोचनी (नेत्र बलवर्धक)
३ [illegible]नकुमारी	घिऊकुमारी	(भा०) नेत्र्या (,,)

"[illegible]ाता" इन तीनोंका नाम है और ये तीनों औषधियां नेत्रके लिये हितकारक हैं। यहां इस सूक्तमें इनमेंसे कौनसी अपेक्षित है, इसका निश्चय करना सुविज्ञ वैद्योंका ही का[illegible]है। इस औषधिके प्रयोगसे नेत्रका बल बढाकर अति वृद्ध अवस्थातक नेत्र उत्तम [illegible] करने योग्य अवस्थामें रखना अनुष्ठानी मनुष्यके लिये संभव है। यहां "माता और मातृनाम्नी" दोनोंका एकही आशय है।

पहिले दो मंत्रोंमें इस 'माता' औषधिका तथा "दर्शनशक्ति"का वर्णन है। दृष्टिसे सब कुछ देखा जाता है और इस औषधीसे दृष्टि बलवती हो जाती है, इस लिये इस औषधिकी कृपासे, मानो, हरएक मनुष्य सब कुछ देख सकता है।

तृतीय मंत्रमें कहा है कि हमारी दृष्टि सूर्य की पुत्री है, वह हमारे आत्माके साथ व्याही है। वह यहां अपने पतिके घर— इस जीवात्माके शरीररूपी घर–में आगई है। यहां आकर सुसरालका बहुत कार्य करनेसे थक गई है और थक जानेके कारण उसने विश्राम किया है अर्थात् वृद्धावस्थामें दृष्टि मन्द होगई है, इस समय इस 'माता' औषधिके प्रयोगसे वह थकी हुई दृष्टि पुनः पूर्ववत् तरुणी जैसी हो सकती है।

चतुर्थ मंत्रका कथन है कि सहस्राक्ष सूर्य देवने यह दृष्टि हमें दी है; जिससे सब कुछ देखा जाता है। यहां स्थूल पदार्थोंके दर्शनसे भी और अधिक देखनेका वर्णन है जैसा 'आर्य और शूद्र'त्वका ज्ञान भी प्राप्त करना। कौन मनुष्य श्रेष्ठ है और कौन दुष्ट है, इसकाभी विचार उसका बाह्य आचार देखनेसे विदित होजाता है यह तात्पर्य यहां है। वेदने यहां स्थूल देखते हुए सूक्ष्मका ज्ञान प्राप्त करनेकी शिक्षा दी है। पंचम और षष्ठ मंत्रकाभी यही आशय है। षष्ठ मंत्रका कथन है कि "यह दृष्टि वस्तुतः आत्माका ही चक्षु है।" अर्थात् इस शरीरमें "द्रष्टा" अपना जीवात्मा है। वही इस आंखकी खिडकीसे बाहरके पदार्थ देखता है। इसलिये सच्चा चक्षु तो उसके पास है और यह हमारा नेत्र केवल खिडकी जैसा है। इसलिये इस मंत्रमें कहा है कि आत्माका अंतर्यामीका आंखही सच्चा आंख है, जो खुलना चाहिये। जीवात्माका नाम "कश्यप" अथवा 'पश्यक' है।

क्यों कि वही देखनेवाला है। उसके पास एक 'चार आंखवाली शुनी' अर्थात् कुत्ती है, जो इस शरीररूपी अध्यात्मक्षेत्रमें रक्षाका कार्य करती है, यह चार आंखवाली

कुत्ती हमारी बुद्धि है और वह स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण इन चार भूमिकाओंमें अपने चार आंखोंसे देखती है। इन प्रत्येक कार्यक्षेत्रमें देखनेका उनका अंग भिन्न भिन्न है। यह वहांका यथार्थ ज्ञान देती है और वहां घातक शत्रु घुसने लगा तो उसको हटा देती है, और इन क्षेत्रोंको सुरक्षित रखती है। जब तक यह चार आंखवाली कुत्ती जागती है तब तक यहां सूर्यके प्रकाशके समान तेजस्वी प्रकाश होता है, जिस प्रदेशमें जिवात्मा अपने घातक वैरियोंको अलग करता हुआ अपने मार्गसे आगे बढता है। यहां इस सप्तम मंत्रने दृष्टिके चार क्षेत्र बताये हैं और सूचित किया है कि केवल इस स्थूल आंखको खुला रखनेसे कार्य नहीं चल सकता, प्रत्युत इन चार विभिन्न आंखोंको खोलनेका यत्न होना चाहिये और वहांकी अवस्था देखनेकी शक्ति लानी चाहिये। स्थूल दर्शन शक्तिकी अपेक्षा यहांकी दृष्टी बडी सूक्ष्म है जो सूक्ष्म बातोंको देखती है।

अष्टम मंत्रमें उपदेश दिया है कि पूर्वोक्त चार कार्य क्षेत्रोंमें (परि-पाणं) सुरक्षा का ऐसा प्रबंध करना चाहिये कि वहां घातक दुष्ट कोई आगये तो उनको पकडकर एकदम दूर करना चाहिये। कभी घातक दुष्ट भाव वाले को अपने स्थूल सूक्ष्म कारण आदिमें घुसने देना नहीं चाहिये। जो मनुष्य अपने संपूर्ण कार्यक्षेत्रोंमें इस प्रकार का सुरक्षाका प्रबंध करता है वह उन्नत होता है, अन्य गिर जाते हैं।

अन्तिम मंत्रमें कहा है कि "जो प्रत्येक पदार्थके अन्दर विचरता है, जो द्युलोकके भी परे है और जो इस भूमिका एक मात्र स्वामी है उसको देख।" इसको देखना यह अन्तिम देखना है। इस परमात्माका दर्शन करना यह अन्तिम वस्तुका दर्शन करना है। इसका नाम 'पिशाच' कहा है 'पिशित+अश्' अर्थात् रक्तके प्रत्येक कण कणमें जो पहुंचा है, प्रत्येक पदार्थमें हरएक कणमें जो फैला है उसको देखना चाहिये। जिस समय उसका दर्शन होता है उस समय मनुष्यकी अन्तिम आंख खुल जाती है और यह मनुष्य दिव्य पुरुष हो जाता है। उस परमात्माका प्रत्यक्ष करना मनुष्य मात्रका कर्तव्य है। यह अनुष्ठान करना चाहिये, जिस समय अन्दरकी पवित्रता होगी उसी समय उसके दर्शन होंगे।

वेदने यहां स्थूल पदार्थको दिखाते दिखाते, सूक्ष्म पदार्थोंको तथा सूक्ष्मतम परमात्माको भी दर्शानेका किस युक्तिसे प्रयत्न किया है यह पाठक अवश्य देखें। स्थूल नेत्र इंद्रिय का बल बढानेवाली 'माता' नामक औषधि आन्तरिक आंखोंकी शक्ति बढानेवाली भी "औषधि" ही है, परंतु यहां 'ओष+धी' (दोष+धी) दोषोंको धोकर अन्तः शुद्धि करना ओषधिका सांकेतिक तात्पर्य है। इस प्रकार अर्थके श्लेष का मनन करके पाठक इस सूक्तका उपदेश जानें।

गौ।

(२१)

(ऋषिः-ब्रह्मा । देवता-गावः)

आ गावो॑ अग्मन्नु॒त भ॒द्रम॑क्र॒न्त्सीद॑न्तु गो॒ष्ठे र॒णय॑न्त्व॒स्मे ।
प्र॒जाव॑तीः पुरु॒रूपा॑ इ॒ह स्यु॒रिन्द्रा॑य पू॒र्वीरु॒षसो॒ दुहा॑नाः ॥ १ ॥
इन्द्रो॒ यज्व॑ने गृण॒ते च॒ शिक्ष॑त॒ उपेद्द॑दाति॒ न स्वं मु॑षायति ।
भूयो॑भूयो र॒यिमिद॑स्य व॒र्धय॒न्नभि॑न्ने खि॒ल्ये नि द॑धाति देव॒युम् ॥ २ ॥

अर्थ- (गावः आ अग्मन्) गौवें आगई हैं और (उत भद्रं अक्रन्) उन्होंने कल्याण किया है। (गोष्ठे सीदन्तु) वे गोशालामें बैठें और (अस्मे रणयन्) हमें सुख देवें। (इह प्रजावतीः पुरुरूपा स्युः) यहां उत्तम बच्चोंसे युक्त बहुत रूपवाली हो जांय। (इन्द्राय उषसः पूर्वीः दुहानाः) और परमेश्वरके यजनके लिये उषःकालके पूर्व दूध देनेवाली होवें ॥ १ ॥

(इन्द्रः यज्वने गृणते च शिक्षते) ईश्वर यज्ञकर्ता और सदुपदेश कर्ताको सत्य ज्ञान देता है। वह (इत् उप ददाति) निश्चय पूर्वक धनादि देता है (स्वं न मुषायति) और अपनेको नहीं छिपाता। (अस्य रयिं भूयः भूयः इत् वर्धयत) इसके धनको अधिकाधिक बढाता है और (देवयुं अभिन्ने खिल्ये निदधाति) देवत्व प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवालेको अपनेसे भिन्न नहीं ऐसे स्थिर स्थानमें धारण करता है ॥ २ ॥

भावार्थ- गौवें हमारे घरमें आगई हैं और उन्होंने हमारा कल्याण किया है। वह गौवें इस गोशालामें बैठें और हमारा आनंद बढावें। वह गौवें यहां बहुत बच्चोंसे युक्त और अनेक रंगरूपवालीं होकर ईश्वर के यज्ञके लिये प्रातःकाल दूध देनेवाली होवें ॥ १ ॥

ईश्वर सत्कर्म कर्ता और सदुपदेश दाताको उत्तम ज्ञान देता है और धनादि भी देता है तथा उसके सन्मुख अपने आपको प्रकट करता है। वह ईश्वर इस उपासकके धनकी वृद्धि करता है और देवत्वकी इच्छा करनेवाले भक्तको अपने ही अंदरके स्थिर स्थानमें धारण करता है ॥ २ ॥

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति ।
देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सह ॥३॥
न ता अर्वा रेणुककाटोऽश्नुते न संस्कृतत्रमुप यन्ति ता अभि ।
उरुगायमभयं तस्य ता अनु गावो मर्तस्य वि चरन्ति यज्वनः ॥४॥
गावो भगो गाव इन्द्रो म इच्छाद्गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः ।
इमा या गावः स जनास इन्द्र इच्छामि हृदा मनसा चिदिन्द्रम् ॥५॥

अर्थ-(ताः न नशन्ति) वह यज्ञकी गौवें नष्ट नहीं होती, (तस्करः न दभाति) चोर उनको दबाता नहीं,(आसां व्यथिः आ दधर्षति) इनको व्यथा करनेवाला शत्रु इनपर अपना अधिकार नहीं चलाता (याभिः देवान् यजते) जिनसे देवोंका यज्ञ किया जाता है और (ददाति च) दान दिया जाता है (गोपतिः ताभिः सह ज्योक् इत् सचते) गोपालक उनके साथ चिरकालतक रहता है ॥ ३ ॥

(रेणुक-काटः अर्वा ताः न अश्नुते) पांवोंसे धूलि उडानेवाला घोडा इन गौवोंकी योग्यता प्राप्त नहीं कर सकता। (ताः संस्कृतत्रं न अभि उप यन्ति) वे गौवें पाकादि संस्कार करनेवालेके पास भी नहीं जातीं। (ताः गावः) वे गौवें (तस्य यज्वनः मर्त्यस्य) उस यज्ञ कर्ता मनुष्यकी (उरु-गायं अभयं अनु विचरन्ति) बडी प्रशंसनीय निर्भयतामें विचरती हैं॥४॥

(गावः भगः) गौवें धन है, (गावः इन्द्रः) गौवें प्रभु हैं, (गावः प्रथमस्य सोमस्य भक्षः) गौवें पाहिले सोमरसका अन्न हैं (मे इच्छात्) यह मैं जानता हूं। (इमाः या गावः) ये जो गौवें हैं। हे (जनाः) लोगो! (सः इन्द्रः) वही इन्द्र है। (हृदा मनसा चित् इन्द्रं इच्छामि) हृदयसे और मनसे निश्चय पूर्वक मैं इन्द्रको प्राप्त करनेकी इच्छा करता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ- इन गौओंका नाश नहीं होता, चोर उनको नहीं चुराता है, न इनको कोई कष्ट देता है। इनके दूधसे ईश्वरका यज्ञ किया जाता है। इस प्रकार गौओंका पालनकर्ता गौओंके साथ चिरकाल आनंदमें रहता है॥३॥ फुर्तीले घोडेको भी गायकी योग्यता प्राप्त नहीं होती। ये गौवें अन्न पकानेवालेकी पाक शालामें नहीं जातीं। ये गौवें यजमानकी निर्भय रक्षामें विचरती हैं ॥४॥ गौवेंही मनुष्यका धन, बल, और उत्तम अन्न हैं। इसलिये मैं सदा गौवोंकी उन्नति हृदय और मनसे चाहता हूं ॥ ५ ॥

यूयं गा॑वो मेदयथा कृशं चि॑दश्रीरं चि॑त्कृणुथा सुप्रती॑कम् ।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वो वय॑ उच्यते सभासु॑ ॥ ६ ॥
प्रजाव॑तीः सूयव॑से रुशन्तीः शुद्धा अपः सु॑प्रपाणे पिब॑न्तीः ।
मा वः स्तेन ई॑शत माघशं॑सः परि॑ वो रुद्रस्य॑ हेतिर्वृ॑णक्तु ॥७ ॥

अर्थ—हे (गावः) गौओं ! (यूयं कृशं चित् मेदयथ) तुम दुर्बलको भी पुष्ट करती हो, (अ-श्रीरं चित् सुप्रतीकं कृणुथ) निस्तेज को भी सुंदर बनाती हो। हे (भद्रवाचः) उत्तम शब्दवाली गौवों ! (गृहं भद्रं कृणुथ) घरको कल्याणरूप बनाती हो इसलिये (सभासु वः बृहत् वयः उच्यते) सभाओंमें तुम्हारा बडा यश गाया जाता है ॥ ६ ॥

(प्रजावतीः) उत्तम बच्चोंवाली (सु-यवसे रुशन्तीः) उत्तम घासके लिये भ्रमण करनेवाली, (सु-प्रपाणे शुद्धाः अपः पिबन्तीः) उत्तम जल स्थानमें शुद्धजल पीनेवाली गौवों । (स्तेनः अघशंसः वः मा ईशत) चोर और पापी तुमपर अधिकार न करे। (वः रुद्रस्य हेतिः परिवृणक्तु) तुम्हारी रक्षा रुद्रके शस्त्रसे चारों ओर से होवे ॥ ७ ॥

भावार्थ— अत्यंत दुर्बल मनुष्यको गौवें अपने दूधसे पुष्ट बनाती हैं। निस्तेज पांडुरोगीको सुंदर तेजस्वी करती हैं। गौवोंका शब्द कैसा आल्हाद दायक होता है। ये गौवें हमारे घरको कल्याणका स्थान बनाती हैं, इसी लिये सभाओंमें गौओंके यशका वर्णन किया जाता है ॥ ६ ॥

गौवें उत्तम बछडोंसे युक्त हों, वे उत्तम घांस खा जांय, शुद्ध स्थानका पवित्र जल पीयें। कोई पापी या चोर उनका स्वामी न बने और वे सर्वदा सुरक्षित रहें ॥ ७ ॥

गौका सुंदर काव्य ।

यह सूक्त गौका अत्यंत सुंदर काव्य है । इतना उत्तम वर्णन बहुतही थोडे स्थानपर मिलेगा। गौका महत्त्व इस काव्यमें अति उत्तम शब्दों द्वारा बताया है। जो लोग गौका यह काव्य पढेंगे, वे गौका महत्त्व जान सकते हैं। गौ घर की शोभा, कुटुंबका आरोग्य बल और पराक्रम तथा परिवारका धन है, यह इस सूक्तमें स्पष्ट शब्दों द्वारा बताया है।

गौ घरकी शोभा है।

इस विषयमें निम्न लिखित मंत्रभाग देखिये—

(१) गावः भद्रं अक्रन्। (मं० १)

(२) गावः! भद्रं गृहं कृणुथ। (मं० ६)

"गौवें घरको कल्याणका स्थान बनाती हैं।" अर्थात् जिस घरमें गौवें रहती हैं वह घर कल्याणका धाम होता है। जो पाठक गौका महत्त्व जानेंगे वे इस बातकी सत्यता का अनुभव कर सकते हैं।

पुष्टि देनेवाली गौ।

मनुष्यकी पुष्टि बढानेवाली गौ है, इस लिये हरएक घरमें गौका निवास होना चाहिये। इस विषयमें निम्न लिखित मंत्र भाग देखिये—

(१) गावः अस्मे रणयन्। (मं० १)

(२) गावः! यूयं कृशं चित मेदयथ। (मं० ६)

अश्रीरं चित सुप्रतीकं कृणुथ। (मं० ६)

"गौवें हमें रमणीय बनाती हैं। कृश मनुष्यको गौवें पुष्ट बनाती हैं। निस्तेजको सतेज करती हैं।" इसी लिये घरमें गौ रखनी चाहिये और हरएकको उस गौ माताका दूध पीना चाहिये। तथा उसकी उत्तम सेवा करना चाहिये। हरएक गृहस्थीका यह अवश्यक कर्तव्य है।

गौ ही धन, बल और अन्न है।

मनुष्यको धन, बल और अन्न गौ ही देती है। सब यश गौसे प्राप्त होता है इस विषयमें निम्नलिखित मंत्र भाग देखिये—

(१) गावः भगः। गावः इन्द्रः। गावः सोमस्य भक्षः।

इमाः याः गावः स इन्द्रः। (मं- ५)

"गौवें धन हैं, गौवें ही इन्द्र (बलकी देवता) हैं, गौवें ही (दूध देनेके कारण) अन्न हैं। जो गौवे हैं वही इन्द्र है।" गौवोंको 'धन' कहा ही जाता है। महाराष्ट्रमें गौका नाम 'धण' है, यह धन शब्द का ही अपभ्रष्ट रूप है। धनकी देवता वेदमें भग है, वह गौके रूपमें हमारे पास आगई है। जो लोग गौको अपने घरमें स्थान नहीं देते वे, मानो, धन को ही अपने घरसे बाहर निकाल देते हैं।

'इन्द्र है देवता बल, पराक्रम और विजयकी है। वही गौके रूपमें हमारे घर में आती है जो कोई अपने घरमें गौका पालन नहीं करता वह, मानो, बल पराक्रम और विजय उन्हीं दूर करता है।

अन्नकी देवता 'सोम' है वही गौके रूपमें हमारे पास आती है। गौ स्वयं दूध देती है जिससे दही, छाछ, मक्खन, घी आदि अमृतरूप पदार्थ बनते हैं। बैलके यत्नसे अन्न उत्पन्न होता है। इस प्रकार गौ हमारा अन्नका प्रबंध करती है। ऐसी उपयोगी गौको जो लोग अपने घर नहीं पालते वे, मानो, अन्नको ही दूर करते हैं। इस प्रकार गौके पालनसे धन बल और अन्न प्राप्त होता है और गौको न पालनेसे दारिद्र्य, बल-हीनत्व और योग्य अन्नका अभाव इनकी प्राप्ति होती है। इससे पाठक ही विचार करें कि गोपालनसे कितने लाभ हैं और गौको न पालनेसे कितनी हानियां हैं। यदि बलवान्, धनवान, यशस्वी, प्रतापी होनेकी इच्छा है, तो गौको पालना चाहिये, और गौका दूध प्रतिदिन पीना चाहिये।

यज्ञके लिये गौ।

परमेश्वरकी प्रसन्नताके लिये यज्ञ और यज्ञकी सांगता के लिये गौ होती है। वैदिक धर्ममें जो कुछ किया जाता है वह परमात्मा के नामसे और यज्ञके नामसे ही किया जाता है। सब कर्मका अन्तिम फल मनुष्यकी उन्नति ही है, परंतु उसका सब प्रयत्न 'यज्ञ' के नामसे होता है। गौका दूध तो मनुष्य ही पीते हैं, परंतु घरमें गौका पालन यज्ञकी सांगता के लिये किया जाता है, अपना पेट भरनेके लिये नहीं। यह त्याग की शिक्षा वैदिक धर्ममें इस प्रकार दी जाती है। प्रथम मंत्रमें 'उषाके पूर्व गौ दूध देती है और उस दूधसे इन्द्रका यज्ञ होता है,' ऐसा जो कहा है इसका हेतु यही है। यज्ञका शेष घृत दूध आदि मनुष्य पीते हैं। परंतु वह भोगके हेतुसे नहीं पीते, परंतु 'ईश्वरका प्रसाद' मानकर पीते हैं। गौ परमेश्वर के यज्ञके लिये है, उसका प्रसाद रूप दूध पीया जाता है। इतने विश्वाससे और भक्तिसे यदि दूध पीया जाय तो वह निःसन्देह अत्यंत लाभकारी होगा।

इस यज्ञसे "देव भी मनुष्यके लिये धन यश ज्ञान आदि देता है और अपने पासके स्थिर धाममें उसको रखता है।" (मं० २)

यह द्वितीय मंत्रका कथन है। यज्ञके भावसे सब कर्म करनेसे यह लाभ होना स्वाभाविक है। तृतीय मंत्रका कथन है कि 'यज्ञके लिये गौ होती है, इस लिये उसका नाश नहीं होता, रोग उसको कष्ट नहीं देता, चोर उसको चुराता नहीं, शत्रु उसको

सताता नहीं, ऐसी सुरक्षित अवस्थामें गौवें यजमानके पास रहती हैं, यजमान देवोंकी प्रसन्नताके लिये यज्ञ करता है और उसीसे उसके पास गौवोंकी संख्या बढती है' चतुर्थ मंत्रमें भी गौका महत्त्व ही वर्णन किया है। 'घोडा गौ जैसा मनुष्य लिये उपयोगी नहीं है, गौवें पाकसंस्कार करने वालेके पास कभी नहीं जाती, वे गौ यजमान की विस्तृत रक्षामें रहती हैं और आनंदसे विचरती हैं।" यह सब वर्णन का यज्ञके लिये उपयोग होता है यही बात बता रहा है।

अवध्य गौ।

ऐसी उपयोगी गौ है, इस लिये वह अवध्य होनी ही चाहिये। इस विषयमें शंका नहीं हो सकती। इस चतुर्थ मंत्रमें यही बात विशेष स्पष्टतापूर्वक कही है। देखिये—

तस्य यज्वनः मर्तस्य उरुगायं अभयं ताः गावः
अनु विचरन्ति। (मं० ४)

"उस याजक मनुष्यके बहुत प्रशंसनीय निर्भयतामें वे गौवें विचरती हैं।" अर्थात् यज्ञकर्ता यजमानके पास गौवें निर्भयतासे रहतीं हैं, वहां उनको किसी भी प्रकार कोई पीडा दे नहीं सकता। गौवोंके लिये यदि कोई अत्यन्त निर्भय स्थान हो सकता है तो वह यजमानका घर ही है। यह वर्णन देखनेसे स्पष्ट हो जाता है कि 'यजमान गौको काटकर उसके मांसका हवन करता है' यह मिथ्या कल्पना है। गोमेधमें भी गोमांस हवनका कोई संबंध नहीं है, इसविषयमें इसी मंत्रका तृतीय चरण देखने योग्य है—

ताः गावः संस्कृतत्रं न अभि उपयन्ति। (मं० ४)

"वे गौवें मांससंस्कार करनेवालेके पास नहीं जाती।" अर्थात् गौके मांसका पाक संस्कार कोई नहीं करता यहां 'संस्कृतत्र' शब्द है। 'संस्कृतः' का अर्थ है अच्छी प्रकार "काटने वाला" यहां 'कृत्' धातुका अर्थ काटना है। काटे हुए मांसको पकानेवाला जो होता है उसका नाम 'संस्कृत+त्र' है। जो पशुको काटते हैं और जो पशुको पकाते हैं उनके पास कभी गौ नहीं पंहुचती। अर्थात् गौके मांसका यज्ञमें या पाकमें कहीं भी संस्कार नहीं होता है। गोमांसके हवनका तथा गोमांसके भक्षणका यहां पूर्ण निषेध है। गौवें यजमान की विस्तृत रक्षामें रहती हैं, इसलिये यज्ञमें गोवध, गोमांस हवन अथवा गोमांससंस्कार भी संभवनीय नहीं हैं। इस मंत्रने इतनी तीव्रताके साथ गोमांस संस्कार का निषेध किया है कि इसको देखनेके पश्चात् कोई यह नहीं कह सकता कि वेदके गोमेधमें गोमांस हवन का संबंध है।

उत्तम घास और पवित्र जलपान।

यजमान यज्ञके लिये गौकी रक्षा करता है इसलिये वह उनकी पालनाका बडा प्रबंध करता है। यह प्रबंध किस प्रकार किया जाय इस विषयमें अन्तिम मंत्र देखने योग्य है।

(गावः) सूयवसे रुशन्तीः।
सुप्रपाणे शुद्धा अपः पिबन्तीः॥ (मं० ७)

—" गौवें उत्तम घास खावें और उत्तम जलस्थानमें शुद्ध जल पीवें।" शुद्ध घास खाने और शुद्ध जल पीनेसे गौकी उत्तम रक्षा होती है। इस प्रकार गौकी रक्षा करें और गौके दूध से सब पाठक हृष्ट पुष्ट बलिष्ट यशस्वी तेजस्वी प्रतापी और दीर्घायु हों।

गौकी पालना।

गौकी पालना कैसी करनी चाहिये इस विषयका उत्तम उपदेशभी इनही मंत्रोंसे हमें मिलता है। "उत्तम स्थानका शुद्ध जल गौको पिलाना चाहिये" यह वेदकी आज्ञा है। शुद्ध जल हो और वह उत्तम स्थानका हो। पाठक यह स्मरण रखें कि गौ जो खाती है और जो पीती है उसका परिणाम आठ दस घण्टोंमें उसके दूधपर होता है, यह नियम है। जलका भी यह नियम है कि वह स्थान के गुणदोष अपने साथ ले जाता है। हिमालय के पहाडोंसे आनेवाला जल दस्त लानेवाला होता है, कई स्थानोंका कब्जी करनेवाला और कई स्थानोंका ज्वर उत्पन्न करनेवाला होता है। इसकारण गौको अच्छे आरोग्य पूर्ण जलस्थान का शुद्ध जल ही पिलाना चाहिये, जिससे दूधमें अच्छे अच्छे गुण आ जावें और उस दूधको पीनेवालोंको अधिकसे अधिक लाभ प्राप्त होवे।

घासभी अच्छी भूमिका होना चाहिये और (सु-यवस्) उत्तम जौ आदिका होना चाहिये। बुरे स्थानका बुरी प्रकार उत्पन्न हुआ नहीं होना चाहिये। कई लोग गौको ऐसी बुरी चीजें खिलाते हैं कि उससे अनेक दोषों से युक्त दूध उत्पन्न होता है। गौवें मनुष्य के शौच आदिको भी खाती हैं। यह सब दोष उत्पन्न करनेवाला है। उत्तम घास और शुद्ध जल खा पी कर गौसे जो दूध उत्पन्न होगा वही आरोग्य वर्धक होगा। गौ पालने वाले इन निर्देशोंसे बहुत बोध प्राप्त कर सकते हैं।

क्षात्रबल संवर्धन।

(२२)

(ऋषिः-वसिष्ठः, अथर्वा वा। देवता-इन्द्रः)

इममिन्द्र वर्धय क्षत्रियं म इमं विशामेकवृषं कृणु त्वम्।
निरमित्राँनक्ष्णुह्यस्य सर्वांस्तान्रन्धयास्मा अहमुत्तरेषु ॥ १ ॥

एमं भज ग्रामे अश्वेषु गोषु निष्टं भज यो अमित्रो अस्य।
वर्ष्म क्षत्राणामयमस्तु राजेन्द्र शत्रुं रन्धय सर्वमस्मै ॥ २ ॥

अर्थ-हे इन्द्र! तू (मे इमं क्षत्रियं वर्धय) मेरे इस क्षत्रियको बढा, और (मे इमं विशां एकवृषं त्वं कृणु) इस मेरे इस क्षत्रियको प्रजाओंमें अद्वितीय बलवान् तू कर। (अस्य सर्वान्) अमित्रान् निरक्ष्णुहि) इसके सब शत्रुओंको निर्बल कर और (अहं-उत्तरेषु) मैं-श्रेष्ठ मैं-श्रेष्ठ इस प्रकार की स्पर्धामें (तान् सर्वान्) उन सब शत्रुओंको (अस्मै रन्धय) इसके लिये नष्ट कर ॥ १ ॥

(इमं ग्रामे अश्वेषु गोषु आभज) इस क्षत्रियको ग्राममें तथा घोडों और गौवेंमें योग्य भाग दे। (यः अस्य अमित्रः तं निः भज) जो इसका शत्रु है उसको कोई भाग न दें। (अयं राजा क्षत्राणां वर्ष्म अस्तु) यह राजा क्षात्रगुणोंकी मूर्ती होवे। हे इन्द्र! (अस्मै सर्वं शत्रुं रन्धय) इसके लिये सब शत्रु नष्ट कर ॥ २ ॥

भावार्थ- हे प्रभो! इस मेरे राष्ट्रमें जो क्षत्रिय हैं उनके क्षात्रतेज को बढा और इस राजाको सब प्रजाजनोंमें आद्वितयि बलवान् कर। इस हमारे राजाके सब शत्रु निर्बल हो जावें और सब स्पर्धाओंमें इसके लिये कोई प्रतिपक्षी न रहे ॥ १ ॥

प्रत्येक ग्राममें, घोडों और गौओंमें से इस राजाको योग्य करभार प्राप्त हो। इस के शत्रु निर्बल बन जांय। यह राजा सब प्रकार क्षात्र शक्तियों की मूर्ति बने और इसके सब शत्रु दूर हो जावें ॥ २ ॥

अयमस्तु धनपतिर्धनानामयं विशां विश्पतिरस्तु राजा।
अस्मिन्निन्द्र महि वर्चांसि धेह्यवर्चसं कृणुहि शत्रुमस्य ॥ ३ ॥
अस्मै द्यावापृथिवी भूरि वामं दुहाथां घर्मदुघे इव धेनू।
अयं राजा प्रिय इन्द्रस्य भूयात्प्रियो गवामोषधीनां पशूनाम ॥४॥
युनज्मि त उत्तरावन्तमिन्द्रं येन जयन्ति न पराजयन्ते।
यस्त्वा करदेकवृषं जनानामुत राज्ञामुत्तमं मानवानाम् ॥ ५ ॥

अर्थ—(अयं धनानां धनपतिः अस्तु) यह सब धनोंका स्वामी होवे (अयं राजा विशां विश्पतिः अस्तु) यह राजा प्रजाओंका पालक होवे। हे इन्द्र ! (अस्मिन् महि वर्चांसि धेहि) इसमें बडे तेजोंको स्थापन कर। (अस्य शत्रुं अवर्चसं कृणुहि) इसके शत्रुको निस्तेज कर ॥ ३ ॥

हे द्यावापृथिवी ! (घर्मदुघे धेनू इव) धारोष्ण दूध देनेवाली दो गौवोंके समान (अस्मै भूरि वामं दुहाथां) इसके लिये बहुत धनादि प्रदान करो। (अयं राजा इन्द्रस्य प्रियः भूयात्) यह राजा इन्द्रका प्रिय होवे तथा (गवां पशूनां ओषधीनां प्रियः) गौ पशु और औषधियोंका प्रिय होवे ॥ ४ ॥

(ते उत्तरावन्तं इन्द्रं युनज्मि) तेरे साथ श्रेष्ठ गुणवाले प्रभुको मैं संयुक्त करता हूं। (येन जयन्ति) जिससे विजय होता है और कभी (न पराजयन्ते) पराजय नहीं होता है। (यः त्वा जनानां एकवृषं) जो तुझको मनुष्योंमें अद्वितीय बलवान और (उत मानवानां राज्ञां उत्तमं करत्) मनुष्योंके राजोंमें उत्तम करे ॥ ५ ॥

भावार्थ-इस राजाको सब प्रकारके धन प्राप्त हो, यह राजा सब प्रजाजनोंका उत्तम पालन करे, इस राजामें सब प्रकारके तेज बढें और इसके सब शत्रु फीके पडें ॥ ३ ॥

ये दोनों द्यावा पृथिवी लोक इसको सब प्रकारके धन देवें, यह राजा सबका प्रिय बने। ईश्वर, मनुष्य, पशुपक्षी और औषधीयोंके विषयमें भी यह प्रेम रखे ॥ ४ ॥

यह राजा ईश्वरके साथ अपना आंतरिक संबंध जोड दें, जिससे इनका सदा जय होवे और पराजय कभी न होवे। यह राजा इस प्रकार मनुष्योंमें अद्वितीय बलवान और मनुष्यों के सब राजोंमें श्रेष्ठ होवे ॥ ५ ॥

उत्तरस्त्वमधरे ते सपत्ना ये के च राजन्प्रति शत्रवस्ते ।
एकवृष इन्द्रसखा जिगीवां छत्रूयतामा भरा भोजनानि ॥ ६ ॥
सिंहप्रतीको विशो अद्धि सर्वा व्याघ्रप्रतीकोऽव बाधस्व शत्रून् ।
एकवृष इन्द्रसखा जिगीवां छत्रूयतामा खिदा भोजनानि ॥ ७ ॥

अर्थ-हे राजन्! (त्वं उत्तरः) तू अधिक ऊंचा हो, (ते सपत्नाः) तेरे शत्रु और (ये के च ते प्रति-शत्रवः) जो कोई तेरे शत्रु हैं वे (अधरे) नीचे होवें। तू (एक वृषः) अद्वितीय बलवान, (इन्द्रसखा) प्रभुका मित्र (जिगीवान्) जयशाली होकर (शत्रूयतां भोजनानि आभर) शत्रु जैसा आचरण करनेवालोंके भोजनके साधन यहां ला ॥ ६ ॥

(सिंहप्रतीकः सर्वाः विशः आद्धि) सिंहके समान प्रभावशाली होकर सब प्रजाओंसे भोग प्राप्त कर। (व्याघ्रप्रतीकः शत्रून् अव बाधस्व) व्याघ्रके समान बलवान् होकर अपने शत्रुओंको हटादे। (एकवृषः इन्द्र-सखा जिगीवान) अद्वितीय बलवान, प्रभुका मित्र, और विजयी बनकर (शत्रूयतां भोजनानि आ खिद) शत्रूकेसमान व्यवहार करनेवालोंके भोजनके साधन छीनकर ले आ ॥ ७ ॥

भावार्थ-यह राजा उंचा बने और इसके सब शत्रु नीचे हों। यह अद्वितीय बलवान्, ईश्वरका भक्त और विजयी होकर शत्रुका पराभव करके उनके उपभोगके पदार्थ प्राप्त करे ॥ ६ ॥

सिंह और व्याघ्रके समान प्रतापी बन कर सब प्रजाओंसे योग्य भोग प्राप्त करें और शत्रुओंको दूर करे। अद्वितीय बलवान्, प्रभुका भक्त और विजयी बनकर शत्रुका पराभव करके उनके धन अपने राज्यमें ले आवे ॥७॥

स्पर्धा।

'अहं-उत्तरेषु' यह शब्द प्रथम मंत्रमें है। यह स्पर्धाका वाचक है। 'मैं सबसे ऊंचा होऊं' यह इच्छा प्रत्येक मनुष्यमें रहती है। मैं सबके आगे बढूं, मैं सबसे अधिक ज्ञान प्राप्त करूं, मैं सबसे अधिक यश, धन प्रभुत्व आदि प्राप्त करके सबसे अधिक प्रतापी यशस्वी और समर्थ बनूं। यह इच्छा हरएकमें होती ही है। धर्मभावसे इस इच्छाका उत्तम उपयोग करके मनुष्य उच्च हो सकता है। इस प्रकार ऊंचा होनेके लिये अपने शत्रुओंसे अपना बल बढाना चाहिये। शत्रुने जितनी विद्या, बल, कला और हुनर

प्राप्त किया है उससे अपनी विद्या, बल, कला और हुनर बढ जानेसे ही मनुष्यकी उन्नति हो सकती है। उन्नति का कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

यह सूक्त सामान्यतः क्षत्रियोंका यश बढानेका उपदेश करता है और विशेषतः राजा का बल बढानेका उपदेश दे रहा है। सब जगत्में अपना राष्ट्र अग्र स्थानमें रहने योग्य उन्नत करना हरएक राजाका आवश्यक कर्तव्य है। हरएक कार्यक्षेत्रमें जो जो शत्रु होंगे, उनको नीचे करके अपने राष्ट्रके वीरोंको उन्नत करनेसे उक्त सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

हरएक मनुष्यकी ऐसी इच्छा होनी चाहिये कि मेरे राष्ट्रके क्षत्रिय वीर बडे विजयी हों, किसी राष्ट्रके पीछे हमारा राष्ट्र न रहे। वेद कहता है कि 'अहं-उत्तरेषु' यह मंत्र राष्ट्रके हरएक मनुष्यके मनमें जाग्रत रहे। मैं सबसे आगे होऊंगा, मेरा राष्ट्र सब राष्ट्रों-के अग्रभागमें रहेगा, इस की सिद्धि के लिये हरएक के प्रयत्न होने चाहिये। प्रत्येक मनुष्य अपने गुण और कर्मकी वृद्धिकी पराकाष्ठा करके अपने आपको और अपने राष्ट्र-को उच्च स्थानमें लानेका प्रयत्न करे। यह भाव 'अहं-उत्तरेषु' पदमें है। प्रत्येक मनुष्यमें जैसा क्षात्रतेज रहता है उसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्रमें भी रहता ही है। इस गुण-का उत्कर्ष करना चाहिये, इस गुणके उत्कर्षसे ही शत्रु कम हो सकते हैं।

राजाको चाहिये कि वह अपने राष्ट्रमें शिक्षाका ऐसा प्रबंध करे कि जिससे सब प्रजा एक उद्देश्यसे प्रेरित होकर सब शत्रुओंका पराजय करनेमें समर्थ हो। हरएक कार्य-क्षेत्रमें किसी प्रकार की भी असमर्थता न हो। "विशां एक वृषं कृणु त्वं।"(मं. १) प्रजाओंमें अद्वितीय बल उत्पन्न करनेवाला तू हो, यह अंदरका तात्पर्य इस मंत्रमें है। यही विजयकी कूंजी है। राजाका प्रधान कर्तव्य यही है कि वह प्रजामें अद्वितीय बल की वृद्धि करे। यह बल चार प्रकार का होता है, ज्ञानबल, वीर्यबल, धनबल और कलाबल। यह चार प्रकार का बल अपने राष्ट्रमें बढा बढाकर अपने राष्ट्रको सब जगत् में अग्र स्थानमें लाकर ऊंचे स्थानपर रखना चाहिये, तभी सब शत्रु हीन हो सकते हैं। यहां दूसरोंको गिरानेका उपदेश नहीं प्रत्युत अपने राष्ट्रीय उद्धार करनेका उच्च उपदेश यहां है। दूसरेभी उन्नत हों और हम भी हों। उन्नतिमें स्पर्धा हो, गिरावट की स्पर्धा न हो। मंत्रका पद 'अहं-उत्तरेषु' है न कि 'अहं-नीचेषु'। पाठक इस दिव्य उपदेशका अवश्य मनन करें।

यह सूक्त अत्यंत सरल है और मंत्रका अर्थ और भावार्थ पढनेसे सब आशय मनके सामने खडा हो सकता है, इस लिये इसके स्पष्टीकरण के लिये अधिक लिखनेकी आव-श्यकता नहीं है।

पाप मोचन।

(२३)

(ऋषिः- मृगारः । देवता- प्रचेता अग्निः)

अग्नेर्मन्वे प्रथमस्य प्रचेतसः पाञ्चजन्यस्य बहुधा यमिन्धते ।
विशोविशः प्रविशिवांसमीमहे स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ १ ॥
यथा हव्यं वहसि जातवेदो यथा यज्ञं कल्पयसि प्रजानन् ।
एवा देवेभ्यः सुमतिं न आ वह स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ २ ॥

अर्थ- (यं बहुधा इन्धते) जिसको बहुत प्रकार प्रकाशित करते हैं, उस (पाञ्चजन्यस्य प्रचेतसः प्रथमस्य अग्नेः) पंच जनोंमें निवास करनेवाले विशेष ज्ञानी और सबमें प्रथमसे वर्तमान प्रकाशक देवताका (मन्वे) मैं मनन करता हूं। (विशः विशः प्रविशि-वांसम् ईमहे) प्रत्येक प्रजाजनमें प्रविष्ट हुएको हम प्राप्त करते हैं (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ १ ॥

हे (जात-वेदः) उत्पन्न हुए पदार्थमात्रको जाननेवाले! (यथा हव्यं वहसि) जिस प्रकार तू हवनको पंहुंचाता है और (प्रजानन् यथा यज्ञं कल्पयसि) जानता हुआ जिस प्रकार यज्ञको बनाता है (एव देवेभ्यः सुमतिं नः आवह) उसी प्रकार देवोंसे उत्तम मतिको हमारे पास ले आ और (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह तू हमें पापसे बचाओ ॥ २ ॥

भावार्थ-पांचों प्रकारके मनुष्योंमें जो चेतना देता है और विविध प्रकारसे प्रकट होता है उस प्रत्येक के हृदय में ठहरकर प्रकाश देनेवाले परमात्माको हम प्राप्त करते हैं जो हमें पापसे बचावे ॥ १ ॥

जिस प्रकार हवन किये हुए हवन द्रव्योंको अग्नि सब देवोंके पास पंहुंचाता है उसी प्रकार यह महान् देव सब दिव्य भाववालोंके पास रहने वाली सुमति हमारे अंतः करणमें स्थिर करे और हमें पापसे बचावे ॥ २ ॥

यामन्यामन्नुपयुक्तं वहिष्ठं कर्मन्कर्मन्नाभगमग्निमीडे ।
रक्षोहणं यज्ञवृधं घृताहुतं स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ३ ॥
सुजातं जातवेदसमग्निं वैश्वानरं विभुम् ।
हव्यवाहं हवामहे स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ४ ॥
येन ऋषयो बलमद्योतयन्युजा येनासुराणामयुवन्त मायाः ।
येनाग्निना पणीनिन्द्रो जिगाय स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ५ ॥

अर्थ-(यामन् यामन् उपयुक्तं) प्रत्येक समयमें उपयोगी (कर्मन् कर्मन् आभगं) प्रत्येक कर्ममें भजनीय, और (वहिष्ठं) अत्यंत बलवान् (अग्निं ईडे) सर्व प्रकाशक देवकी मैं स्तुति करता हूं। वह (रक्षोहणं यज्ञवृधं घृताहुतं) राक्षसोंका नाशक, यज्ञको बढानेवाला, यज्ञमें घृतकी आहुतियां जिसके लिये दी जाती हैं (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥३॥

(सु जातं जातवेदसं) उत्तम प्रसिद्ध, बने हुए विश्वको जाननेवाले, (विभुं वैश्वानरं) सर्वव्यापक विश्वके नेता और (हव्यवाहं हवामहे) अन्नके देनेवाले प्रभुकी हम प्रार्थना करते हैं कि (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ४ ॥

(येन युजा ऋषयः बलं अद्योतयन) जिसकी सहायतासे ऋषिलोग बल प्रकाशित करते आये हैं, (येन असुराणां मायाः अयुवन्त) जिसकी सहायतासे राक्षसोंकी कपटयुक्तियोंको दूर किया, (येन अग्निना इन्द्रः पणीन् जिगाय) जिस तेजस्वी देवताकी सहायतासे इन्द्रने आसुरी व्यवहार करनेवालोंको जीता था (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥५॥

भावार्थ-प्रत्येक समय सहायता देनेवाला, हरएक कर्म में सेवा करने योग्य, बलवान, प्रकाशक, दुष्टोंको दूर करनेवाला, यज्ञकी वृद्धि करनेवाला और जिसके लिये यज्ञमें आहुतियां दी जाती हैं वह ईश्वर हमें पापसे बचावे ३

उत्तम प्रसिद्ध, सर्वज्ञ, सर्व व्यापक, सबको चलानेवाला, अन्नका दाता जो एक ईश्वर है उसीकी हम प्रार्थना करते हैं कि वह हमें पापसे बचावे ४

ऋषि लोग जिसके पाससे बल प्राप्त करते हैं, जिस की सहायतासे देव असुरोंका पराभव करते हैं तथा जिसके आधारसे कुटिल व्यवहार करनेवालोंका पराजय किया जाता है वह ईश्वर हमें पापसे बचावे ॥ ५ ॥

येन॑ दे॒वा अ॒मृत॑म॒न्वविं॑न्द॒न्येनौष॑धी॒र्मधु॑मती॒रकृ॑ण्वन् ।
येन॑ दे॒वाः स्व १ राभ॑र॒न्त्स नो॑ मु॒ञ्च॒त्वंह॑सः ॥ ६ ॥
यस्ये॒दं प्र॒दिशि॒ यद्वि॒रोच॑ते॒ यज्जा॒तं ज॑नित॒व्यं॑ च॒ केव॑लम् ।
स्तौम्य॒ग्निं ना॑थि॒तो जो॑हवीमि॒ स नो॑ मु॒ञ्च॒त्वंह॑सः ॥ ७ ॥

अर्थ-(येन देवाः अमृतं अन्वविन्दन्) जिसकी सहायतासे देवोंने अमृत प्राप्त किया, (येन औषधीः मधुमतीः अकृण्वन्) जिसके योगसे औषधियोंको मधुर रसवाली बनाया है, (येन देवाः स्वः आभरन्त) जिसके आश्रयसे देवता लोग आत्मिक बल प्राप्त करते हैं (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ६ ॥

(यस्य प्रदिशि इदं केवलं) जिसके शासनमें वह विश्व किसी अन्यकी अपेक्षा न करता हुआ रहा है (यत् विरोचते) जो इस समय प्रकट हो रहा है (यत् जातं जनितव्यं च केवलं) जो पहिले बनाथा और जो भविष्यमें केवल बनेगा, (नाथितः अग्निं स्तौमि जोहवीमि) सनाथ होकर मैं तेजस्वी देवकी स्तुति और पुकार करता हूं (सः नः अंहसः पातु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ७ ॥

भावार्थ- जिसकी सहायतासे देवतालोग अमरत्व प्राप्त करते हैं, जिसने औषधियां मधुर रसवाली बनायी हैं, जिसने देवतालोगोंमें आत्मिक बल भर दिया है वह देव हमें पापसे बचावे ॥ ६ ॥

भूत भविष्य और वर्तमान समयों में प्रकाशित होनेवाला यह संपूर्ण विश्व जिस के शासन में रहता है उसकी मैं स्तुति प्रार्थना और उपासना करके याचना करता हूं कि वह परमेश्वर हमें पापसे बचावे ॥ ७ ॥

पापसे मुक्ति ।

मनुष्यमें पापका भाव रहता है जो हरएक की उन्नति के पथमें रुकावटें उत्पन्न करता है। इस लिये पाप भावसे बचनेका उपाय हरएकको करना चाहिये। यहां २३—२९ये सात सूक्त इसी उद्देश्यके आगये हैं, इन सातोंका ऋषि 'मृगार' है। इस ऋषिके नामका अर्थ "आत्मशुद्धि करनेवाला" ऐसा है। इस २३ वें सूक्तमें अग्नि नामसे बोधित होनेवाले परमेश्वरकी सहायतासे पाप मुक्त होनेका उपदेश है। इस पृथ्वीपर पहिली प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाली शक्ति 'अग्नि है' 'अग्निमें प्रकाशकताका गुण तथा अन्यान्य गुण जो

विद्यमान हैं वे जिस परमेश्वरने रखे हैं वही सच्चा अग्निका अग्नि है। इस दृष्टिसे यहां अग्नि पदका प्रयोग किया गया है। जो देव सबसे पहिला है अर्थात् जिसके पूर्वका कोई देव नहीं, जो ज्ञानी है, जो पञ्चजनोंके हृदयोंमें निवास करता है, हरएकके अंदर जो प्रविष्ट हुआ है, जो यज्ञका बढानेवाला है, हरएक समयमें जिसकी सहायतासे हमारी स्थिति होती है, प्रत्येक कर्म जिसकी पूजाके लिये किया जाता है, जो दुष्टोंको दूर करता है और यज्ञद्वारा जो सज्जनोंका संगतिकरण करता है, इस प्रकार दुष्टोंका बल घटाकर जो सज्जनोंकी रक्षा करता है, जो सर्वत्र प्रसिद्ध है, सर्वत्र व्यापक होता हुआ संपूर्ण जगत् का जो चालक है, जिसके लिये जैसा अन्न चाहिये वैसा उसके लिये जो उत्पन्न करता है, ज्ञानी लोग जिससे बल प्राप्त करते हैं, क्षत्रिय वीर जिससे शत्रुपर विजय प्राप्त करते हैं, दुष्ट रीतिसे व्यवहार करनेवालोंका जिसकी व्यवस्थासे पराभव होता है, जो सबको अमृतत्त्व देता है, जिसने औषधियोंमें विविध मधुर रस रखे हैं, जिससे आत्मिक बल प्राप्त होता है, और जिसका शासन सब भूत, भविष्य, वर्तमान संसारपर अबाधित रीतिसे चलता है अर्थात् जिसके शासनमें बाधा डालनेवाला कोई नहीं है वह एकही प्रभु इस जगत्का पूर्ण शासक है, उसकी उपासना हम करते हैं, वह हमें निश्चय पूर्वक पापसे बचावेगा। उसके गुणोंका मनन करनेसे और उसके गुणोंकी धारणा अपने अंदर करनेसे ही जो शुभ भावनाएं मनमें स्थिर होती हैं उससे पाप प्रवृत्ति हट जाती है। इस लिये परमेश्वर उपासना मनुष्यकी अन्तः शुद्धि करती है ऐसा कहते हैं वह बिलकुल सत्य है।

इस अग्निकी विभूति मनुष्यके अंदर वाणीका रूप धारण करके रहती है 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्रविशत्' ऐसा ऐतरेय उपनिषद् में कहा है। इससे वाणीसे पाप न करनेका निश्चय करना चाहिये। विचार उच्चार और आचार यह क्रम है, मनसे विचार होता है, पश्चात् वाणीसे उच्चार होता है और नंतर शरीरसे कर्म होता है। इससे स्पष्ट है कि विचारके पश्चात् उच्चारका पातक होता है। पाठक अपने ही पासके संसारमें देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि वाणीका प्रयोग ठीक रीतिसे न होनेके कारण ही जगत् में कितने झगडे और पाप हो रहे हैं। यह बात तो सबके परिचयकी है कि वाणी का योग्य उपयोग करनेसे प्रचंड अनर्थ टल जाते हैं। इस लिये जो पापसे बचना चाहते हैं वे अपने वाणीको सबसे पहले शुद्ध करें और पापसे बचें।

अब अगला सूत्र देखिये—

(२४)

(ऋषिः– मृगारः । देवता– इन्द्रः)

इंद्रस्य मन्महे शश्वदिदस्य मन्महे वृत्रघ्न स्तोमा उप मेम आगुः ।
यो दाशुषः सुकृतो हवमेति स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ १ ॥
य उग्रीणामुग्रबाहुर्ययुर्यो दानवानां बलमारुरोज ।
येन जिताः सिन्धवो येन गावः स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ २ ॥
यश्चर्षणिप्रो वृषभः स्वर्विद्यस्मै ग्रावाणः प्रवदन्ति नृम्णम् ।
यस्याध्वरः सप्तहोता मदिष्ठः स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ३ ॥

अर्थ-(इन्द्रस्य मन्महे) इन्द्रका हम ध्यान करते हैं (अस्य वृत्रघ्नः इत् शश्वत् मन्महे) इस शत्रुनाशक प्रभुका निश्चयसे हम सदा ध्यान करते हैं, (इमे स्तोमाः मा उप मा अगुः) ये इसके स्तोम मेरे पास आगये हैं। (यः दाशुषः सुकृतः हवं एति) जो दानी सत्कार्यके कर्ता के पुकार को सुनकर आता है (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ १ ॥

(यः उग्रबाहुः) जो बलवान वीर (उग्राणां ययुः) प्रचण्ड वीरोंकाभी चालक है और जो (दानवानां बलं आरुरोज) असुरोंके बलको तोड देता है (येन सिन्धवः गावः जिताः) जिसने नदियां और गौवें जीतकर वश में की हैं (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ २ ॥

(यः चर्षणिप्रः वृषभः स्वर्विद्) जो मनुष्योंको पूर्ण करनेवाला, बलवान् और आत्मिक प्रकाशको पास रखनेवाला है (ग्रावाणः यस्मै नृम्णं प्रवदन्ति) ये पत्थर जिसके पास बल है ऐसा कहते हैं, (यस्य सप्त होता

भावार्थ—सब जगत के प्रभुका हम ध्यान करते हैं, उसके गुणोंका हम मनन करते हैं, वह शत्रुओंका नाश करनेवाला प्रभु है उसके प्रशंसाके स्तोत्र ही हमारे मनके सन्मुख आते हैं। निःसंदेह वह सत्कर्म करनेवाले दानी महोदयकी प्रार्थना सुनता है। वह हमें पापसे बचावे ॥ १ ॥

जो बलवान् प्रभु वीरोंको भी वीर्य देनेवाला है, दुष्टोंके बलका जो नाश करता है, जिसका अमृत रस धारण करती हुई नदियां और गौवें इस पृथ्वीपर विचरती हैं वह प्रभु हमें पापसे बचावे ॥ २ ॥

जो मनुष्योंको पूर्ण बनानेवाला बलवान् और आत्मशक्तिका ज्ञाता

यस्यं वशासं ऋषभासं उक्षणो यस्मैं मीयन्ते स्वरंवः स्वर्विदें ।
यस्मैं शुक्रः पवते ब्रह्मंशुम्भितः स नों मुञ्चत्वंहंसः ॥ ४ ॥

यस्य जुष्टिं सोमिनंः कामयंन्ते यं हवंन्त इषुंमन्तं गविष्टौ ।
यस्मिंन्नर्कः शिश्रिये यस्मिन्नोजः स नों मुञ्चत्वंहंसः ॥ ५ ॥

अध्वरः मदिष्ठः) जिसके सात होतागण जिसमें कार्य करते हैं ऐसा अहिंसामय यज्ञ अत्यंत आनन्द देनेवाला है (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ३ ॥

(यस्य वशासः ऋषभासः उक्षणः) जिसके कार्यके लिये गौवें, बैल और सांड होते हैं, (यस्मै स्वर्विदः स्वरवः मीयन्ते) जिस आत्मिक बलवाले-के लिये सब यज्ञ होते हैं (यस्मै ब्रह्मशुम्भितः शुक्रः पवते) जिसके लिये वेदोच्चारसे पवित्र हुआ सोम शुद्ध किया जाता है (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ४ ॥

(सोमिनः यस्य जुष्टिं कामयन्ते) सोमयाजक जिसकी प्रीतिकी इच्छा करते हैं, (यं इषुमन्तं गविष्टौ हवन्ते) जिस शस्त्रवालेको इच्छापूर्तिके लिये पुकारते हैं (यस्मिन् अर्कः शिश्रिये) जिसमें सूर्य आश्रय लेता है (यस्मिन् ओजः) जिसमें बल रहा है (सः नः अंहसः मुंञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ५ ॥

है। साधारण पत्थर भी जिसके बलकी प्रशंसा करते हैं और जिसके लिये सब यज्ञ चलाये जाते हैं वह प्रभु हमें पापसे बचावे ॥ ३ ॥

जिसके यज्ञकर्ममें गौ, बैल आदि पशु भी अपना बल लगाते हैं, जिस-के आत्मिक बलके लिये ही अनेक यज्ञ किये जाते हैं, जिसके यज्ञमें मंत्रोंसे पवित्र हुआ सोम शुद्ध किया जाता है वह प्रभु हमें पापसे बचावे ॥ ४ ॥

जिसकी संतुष्टिके लिये सोमयाजक यज्ञ करते हैं, जिसकी प्रार्थना अपनी इच्छा पूर्तिके लिये की जाती है, जिसके आधारसे सूर्य जैसे गोल रहे हैं इतना प्रचंड बल जिसमें है वह प्रभु हमें पापसे बचावे ॥ ५ ॥

यः प्र॒थ॒मः कर्म॒कृत्या॑य ज॒ज्ञे यस्य॑ वी॒र्यं॑ प्रथ॒मस्यानु॑बुद्धम् ।
येनो॑द्य॑तो वज्रो॒ऽभ्याय॒ताहिं॒ स नो॑ मुञ्च॒त्वंह॑सः ॥ ६ ॥
यः सं॑ग्रा॒मान्नय॑ति॒ सं यु॒धे व॒शी यः पु॒ष्टानि॑ संसृ॒जति॑ द्व॒यानि॑ ।
स्तौमीन्द्रं॑ नाथि॒तो जो॑हवीमि॒ स नो॑ मुञ्च॒त्वंह॑सः ॥ ७ ॥

अर्थ-(यः प्रथमः कर्मकृत्याय जज्ञे) जो पहिला कर्म करने के लिये ही प्रकट हुआ है। (यस्य प्रथमस्य वीर्यं अनुबुद्धम्) जिस अद्वितीय देव का पराक्रम सर्वत्र जाना जाता है (येन उद्यतः वज्रः अहिं अभ्यायत्) जिससे उठाया वज्र शत्रु का सब प्रकारसे हनन करता है (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ६ ॥

(यः वशी संग्रामान् युधे सं नयति) जो वश में रखने वाला योद्धाओं-के समूहोंको युद्ध करनेके लिये चलाता है (यः द्वयानि पुष्टानि संसृजति) जो दोनों पुष्टोंको संगतिके लिये छोडता है इस प्रकारके (इन्द्रं नाथितः स्तौमि) प्रभुकी उस नाथके वश में रहता हुआ मैं स्तुति करता हूं और (जोहवीमि) उसको बारबार पुकारता हूं (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ७ ॥

भावार्थ-जो जगद्रूपी कार्य करनेके लियेही पहलेसे प्रकट हुआ है, इस कार्यसे जिसका बल जाना जाता है, जिसके वज्रके सन्मुख कोई शत्रु खडा नहीं रह सकता, वह प्रभु हमें पापसे बचावे ॥ ६ ॥

जो सबको वशमें रखता है, जो धर्मयुद्धके लिये प्रेरित करता है, जो दोनों बलवानोंको मित्रता करनेके लिये प्रेरित करता है, उसकी आज्ञामें रहता हुआ मैं उसकी प्रार्थना करता हूं कि वह हमें पापसे बचावे ॥ ७ ॥

पापसे बचाव।

अग्निके उद्देश्यसे परमात्माकी प्रार्थना गत सूक्तमें की गई, अब इस सूक्तमें परमेश्वर-की प्रार्थना इन्द्र नामसे की गई है। इन्द्र बलकी देवता है, सबमें जो बलका संचार होता है वह इन्द्रके प्रभावसे ही है। इन्द्रके बलसे ही सब बलवान हुए हैं। बलके विना कृमिकीट पतंग भी नहीं ठहर सकते यह दर्शानेके लिये तृतीय मंत्रमें कहा है कि—

ग्रावाणः यस्मै नृम्णं प्रवदन्ति । (मं० ३)

" ये पत्थर बल जिसके लिये कहते हैं । " अर्थात् बलके लिये जिसकी प्रशंसा करते हैं । बल इसीके पाससे प्राप्त होता है ऐसा निश्चयपूर्वक बताते हैं । पत्थर कहते हैं कि अपने अंदर जो बल है, जो दृढता है, और जो शक्ति है वह उसीकी है । जिस प्रभुके लिये ये सब यज्ञ होते हैं । यह साक्षी जैसी पत्थर देते हैं इसी प्रकार हरएक पदार्थ दे सकता है क्यों कि हरएक पदार्थका बल उसीसे प्राप्त हुआ होता है ।

यह ईश्वर (प्रथमः) आदि देव है और इसका प्रकट होना (कर्मकृत्याय) इस जगद्रूपी कर्म करनेके लिये ही है अर्थात् यह प्रकट होकर जगद्रूपी कार्य करता है किंवा इस जगद्रूपी बडे कार्यको देखनेसेही उसके अस्तित्वका ज्ञान होता है और (अस्य प्रथमस्य वीर्यं अनुबुद्धं) इस आदिदेवके बल और पराक्रमका ज्ञान हो सकता है । यदि यह बडा कार्य सन्मुख न आया तो किसको कैसा उसका पता लग सकता है । यह प्रचंड सामर्थ्य इसी प्रभुका है इस लिये कोई शत्रु इसके सन्मुख खडा रह नहीं सकता । यह तो—

उग्राणां उग्रबाहुः । (मं० २)

' वह उग्रवीरोंको भी वीर्य देनेवाला बाहुबलशाली वीर है " अर्थात् हमारे उग्रसे उग्र जो वीर हैं वे उसके वीर्यसे वीर्यवान् हुए हैं, उसके बलसे बलिष्ठ और उसके सामर्थ्यसे समर्थ बने हैं । यह अनुभव यदि वीर पुरुष करेंगे तो उनकी समर्थता विशेष प्रभावशाली होगी । इस लिये निवेदन है कि कोई अपने बलकी घमंडसे दूसरोंको कष्ट न पहुंचावे । जिस बलके कारण उसके मनमें घमंड उत्पन्न होती है वह बल तो उसी प्रभुका है, यदि वह अपना बल वापस लेगा तो फिर किस बलके कारण ये लोग घमंड करेंगे ? इसका विचार करके अपने बलसे दूसरोंको लाभ पंहुंचानेका यत्न करें न की दूसरोंको दबानेका । यही उपाय पापसे बचनेका है ।

वीर लोग इसीके बलसे प्रेरित होकर युद्ध करते हैं । धर्मयुद्ध करनेवाले भी इसीके बलसे युक्त होते हैं, यही सबका सच्चा नाथ है । जो लोग इसको नाथ मानकर अपने आपको सनाथ समझेंगे, वेही पापसे बच सकते हैं ।

सब यज्ञकर्ता अपने यज्ञ इसीकी प्रीतिके लिये करते हैं। सब यज्ञोंमें इसीके लिये हवन किया जाता है, यज्ञमें दिया हुआ दान इसीको पहुंचता है और वह दाताकी कामना पूर्ण करता है इस परमेश्वर की भक्तिसे मनुष्य पवित्र बनें और पापसे बचें ॥

(२९)

(ऋषिः- मृगारः। देवता- सविता, वायुः,)

वायोः सवितुर्विदथानि मन्महे यावात्मन्वद्विशथो यौ च रक्षथः।
यौ विश्वस्य परिभू बभूवथुस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ १ ॥

ययोः संख्याता वरिमा पार्थिवानि याभ्यां रजो युपितमन्तरिक्षे।
ययोः प्रायं नान्वानशे कश्चन तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ २ ॥

अर्थ— (वायोः सवितुः) वायु और सविता इन दो देवोंके (विदथानि मन्महे) जानने योग्य गुणोंका हम मनन करते हैं। (यौ आत्मन्वत् जगत् विशथः) जो दोनों आत्मावाले जंगम जगत् में प्रविष्ट होते हैं (यौ च रक्षथः) और जो दोनों रक्षा करते हैं। (यौ विश्वस्य परिभू बभूवथुः) जो दोनों संपूर्ण जगत्के तारक होते हैं (तौ नः अंहसः मुञ्चतं) वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ १ ॥

(ययोः पार्थिवानि वरिमा संख्याताः) जिन दोनोंके पृथिवीके ऊपरके विविध कर्म गिन लिये हैं। (याभ्यां अन्तरिक्षे रजः युपितं) जिन दोनोंने मिलकर अन्तरिक्षमें मेघमंडल को धारण किया है, (कश्चन ययोः प्रायं न अन्वानशे) कोई भी जिनकी गतिको नहीं प्राप्त होता है (तौ नः अंहसः मुञ्चन्तं) वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ २ ॥

भावार्थ— विश्वमें वायु और सूर्य (तथा शरीरमें प्राण और नेत्र) ये दोनों अनेक प्रकारसे प्राणिमात्रकी धारणा करते हैं। ये सब प्राणियों में व्यापक होकर उनकी रक्षा करते हैं। ये दोनों सब जगत् के तारक होते हैं इसलिये वे हमें पापसे बचावें ॥ १ ॥

इन दोनोंके अनंत कर्म हैं। ये ही अन्तरिक्षमें मेघ मंडलका धारण करते हैं। इनके साथ किसी अन्य की तुलना नहीं हो सकती है। ये दोनों हमें पापसे बचावें ॥ २ ॥

तवं व्रते नि विंशन्ते जनांसस्त्वय्युदिते प्रेरंते चित्रभानो ।
युवं वायो सविता च भुवंनानि रक्षथस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ३ ॥
अपेतो वायो सविता च दुष्कृतमप रक्षांसि शिमिंदां च सेधतम् ।
सं ह्यू१र्जया सृजथः सं बलेन तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ४ ॥
रयिं मे पोषं सवितोत वायुस्तनू दक्षमा सुंवतां सुशेवंम् ।
अयक्ष्मतातिं मह इह धंत्तं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ५ ॥

अर्थ– हे (चित्रभानो) विचित्र प्रभायुक्त! (तव व्रते जनासः नि विशन्ते) तेरे व्रतमें ही सब मनुष्य रहते हैं। (त्वयि उदिते प्रेरते) तेरा उदय होनेपर कार्यमें प्रेरित होते हैं। हे (वायो सविता च) वायो और हे सविता! (युवं भुवनानि रक्षथ) तुम दोनों सब प्राणियोंकी रक्षा करते हो (तौ नः अंहसः मुञ्चतं) वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ ३ ॥

हे (वायो सविता च) वायो और सविता! (इतः दुष्कृतं अप सेधतं) यहांसे दुष्कर्म करनेवालोंको दूर हटा दो तथा (रक्षांसि शिमिदां च) घातकों और पीडकोंको भी दूर करो। (ऊर्जया बलेन हि सं सृजथः) शारीरिक और आत्मिक बलसे हमें संयुक्त करो और (तौ नः अंहसः मुञ्चतं) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ४ ॥

हे सविता और हे वायो! (मे तनू) मेरे शरीरमें (सुसेवं रयिं) सेवन करने योग्य कान्ति और (पोषं दक्षं) पुष्टियुक्त बल (आ सुवतां) उत्पन्न करें (इह महः अयक्ष्मतातिं धत्तं) यह बडी नीरोगता धारण करें और (तौ नः अंहसः मुञ्चतं) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ५ ॥

भावार्थ— सूर्य विचित्र तेजवाला है, (शरीरमें आंख भी वैसीही है) इसके उदय होने अर्थात् खुल जानेके पश्चात् ही प्राणीकी प्रवृत्ति कार्य में होती है। विश्वमें वायु और सूर्य (तथा शरीरमें प्राण और आंख) प्राणियोंकी रक्षा करते हैं वे हमें पापसे बचावें ॥ ३ ॥

ये दोनों सबको दुराचारसे बचावें, घातकों और पीडकोंको सर्वथा दूर करें, शारीरिक शक्ति और आत्मिक बल प्रदान करें और हमें पापसे बचावें ॥ ४ ॥

इन दोनोंसे मेरे शरीरमें तेजस्विता, पुष्टि, बल और नीरोगता प्राप्त हो और वे हमें पापसे बचावें ॥ ५ ॥

प्र सुमतिं सवितर्वाय ऊतये महस्वन्तं मत्सरं मादयाथः ।
अर्वाग्वामस्य प्रवतो नि यच्छतं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ६ ॥
उप श्रेष्ठा न आशिषो देवयोर्धामन्नस्थिरन् ।
स्तौमि देवं सवितारं च वायुं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ७ ॥

पञ्चमोऽनुवाकः ।

अर्थ- हे सविता और हे वायो ! (ऊतये सुमतिं प्रयच्छतं) रक्षाके लिये उत्तम बुद्धि दान करो । (प्रवतः वामस्य अर्वाक् नियच्छतं) प्रकर्षयुक्त धनका भाग हमें प्रदान करो । तथा (महस्वन्तं मत्सरं मादयाथः) वृद्धि करनेवाला सोमादि अन्न तृप्तिके लिये दो और (तौ नः अंहसः मुञ्चतं) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ६ ॥

(नः श्रेष्ठाः आशिषः) हमारी श्रेष्ठ आकांक्षाएं (देवयोः धामन् उप अस्थिरन्) उक्त दोनों देवोंके धाममें स्थिर होवें । (सवितारं वायुं च देवं स्तौमि) सविता और वायु देव की मैं स्तुति करता हूं इस लिये कि (तौ नः अंहसः मुञ्चतं) वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ ७ ॥

भावार्थ- ये दोनों हमारी रक्षा करनेके लिये हमें शुद्ध बुद्धि, उत्कर्षको ले जानेवाला धन और पोषक अन्न देवें और हमें पापसे बचावें ॥ ६ ॥

ये हमारी श्रेष्ठ आकांक्षायें ये दोनों देव सुनें और पूर्ण करें तथा हमें पापसे बचावें ॥ ७ ॥

सविता और वायु ।

सविता और वायु इन दो देवोंका वर्णन इस सूक्तमें है । सूर्य और हवा यह इनका प्रसिद्ध अर्थ है । मनुष्य के आरोग्य के लिये सूर्य और वायुका कितना उपयोग है यह सब जानते ही हैं । सूर्य न रहा और वायु न रहा तो मनुष्यका जीवन उसी समय नष्ट होगा । सूर्यप्रकाश विपुल मिलनेसे और शुद्धवायु विपुल प्राप्त होनेसे मनुष्य नीरोग हो सकता है और अंधेरे घरमें रहनेसे और दूषित वायुमें रहनेसे विविध प्रकारकी बीमारियां मनुष्यके पीछे लगती हैं । यह विषय वेदमें अनेक स्थानोंपर आगया है तथा यह विषय

अब सर्व साधारणको भी ज्ञात हुआ है । इसलिये इन दो देवोंका हमारी नीरोगताके साथ कितना घनिष्ठ संबंध है यह यहां विशेष निरूपण करनेकी आवश्यकता नहीं है ।

सूर्य देवता ।

"सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुपश्च" (ऋग्वेद) यह ऋग्वेदमें कहा है । सूर्य स्थावर जंगमका आत्माही है । इतना सूर्यका महत्त्व है । सूर्यके कारण ही स्थावर जंगम पदार्थ रहते हैं, सबकी स्थिति सूर्यके कारण है, इतना सूर्यका महत्त्व होनेसे सूर्यदेवका संबंध हमारे आरोग्यसे कितना है यह स्वयं ज्ञात हो सकता है ।

यह सूर्य हमारे शरीरमें अपने एक अंशसे नेत्र इंद्रियमें रहा है । 'सूर्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत् ।'(ऐ० उप०) सूर्य आंख बनकर चक्षुओंमें रहा है । नेत्र इंद्रिय स्वयं प्रकाश है, इस नेत्रसे प्रकाशका किरण निकलता है और उसका परिणाम बाह्यपदार्थपर होता है । ब्रह्मचर्यादि सुनियमयुक्त व्यवहारोंसे यह अपने अंदरका सामर्थ्य बढता है और अनियमसे घटता भी है । यह नेत्रस्थानमें रहा हुआ सूर्यका अंश हमें योग्य और अयोग्य पदार्थोंका दर्शन कराता है । इस नेत्रेन्द्रियका पिता सूर्य है । यह नेत्र अपने पितासे प्रकाशकी सहायता लेकर यहांका कार्य चलाता है और विविध रूपोंको बताता है । अपनी उन्नतिका साधन करनेवालोंका दर्शन करने और अवनति करनेवालोंका दर्शन न करनेसे साधक पापसे बच जाता है । यह है सूर्य देवका पापसे बचानेका कार्य । पवित्र दृष्टिसे अनेक प्रकार पापसे बचना संभव है । सब सृष्टिको परमात्मशक्तिरूप मानने और देखनेसे मनुष्य की दृष्टिही पवित्र हो जाती है । दृष्टिकी पवित्रता होनेसे मनुष्य पापसे बच जाता है । मनुष्य जो पाप करता है वह दृष्टिके दोषसे ही करता है । विचार करनेसे पाठकोंको स्वयं ज्ञात होगा कि दृष्टिकी पवित्रतापर ही बहुत सारी मनुष्यकी शुद्धता निर्भय है । दृष्टि बंद रही तो काम, लोभ, मोह आदि विकार उतने प्रमाणसे कुछ अंशमें कम रहेंगे ।

वाणी, बल और नेत्र ।

पूर्व सूक्तोंमें अग्निके मिषसे वाणिकी शुद्धता, इन्द्र के मिषसे बलकी पवित्रता और इस सूक्तमें सूर्यके मिष से नेत्र इंद्रियकी पवित्रता प्राप्त करनेकी सूचना कही है । पापसे बचनेका अनुष्ठान यह है । इस प्रकार अपने अंदरकी शक्तियोंको पवित्र और पुनीत

करनेसे मनुष्य पापसे बचता है। यह अनुष्ठान करनेसे बाह्य देवताओंकी सहायता सदा उपस्थित रहती ही है, परंतु उस सहायतासे वेही लोग लाभ उठा सकते हैं, जो पूर्वोक्त प्रकार अपनी अन्तः शुद्धि करनेका अनुष्ठान करते रहते हैं। अन्योंको वैसा लाभ नहीं हो सकता।

सूर्यचक्र।

सूर्यका दूसरा अंश पेटके पास सूर्यचक्रमें रहता है इस का अधिकार पचन इंद्रियपर रहता है। पेटके बराबर पीछे यह चक्र है। इसमें सूर्य शक्ति रहती है जो अन्न पाचन का कार्य करती है। इसके कार्यके लिये ही सोम आदि अन्न रस दिये हैं। (मं० ६)ऐसे शुद्ध अन्नका भक्षण करना और अशुद्ध अन्नका सेवन न करना, यह पथ्य उनको संभाल ना चाहिये, जो पापसे बचना चाहते हैं। अशुद्ध अन्नसे मनकी वृत्ति ही दुष्ट बनती है और शुद्ध अन्न के सेवनसे पवित्र बनती है जो पवित्र बनना चाहते हैं वे इसका अवश्य मनन करें।

प्राण।

अब वायुका विचार करना चाहिये। 'वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्।' (ऐ० उ०) वायु प्राण बनकर नाकके द्वारा फेफडों में जाता है और वहां रक्तकी शुद्धि करता है। इसके शुद्धता करनेके कारण ही प्राणी जीवित रहते हैं। इसके अशुद्ध होनेके कारण प्राणी मर जाते हैं इस प्रकार यह जीवनका हेतु है। योगशास्त्रमें इसी प्राणका आयाम 'प्राणायाम' कहलाता है। जिस प्रकार धोंकनीसे वायु देकर प्रदीप्त किये अग्निमें सुवर्ण आदि धातु परिशुद्ध होते हैं, इसी प्रकार प्राणायामद्वारा उत्पन्न होने वाले अग्निप्रदीपनसे शरीरके और इंद्रियोंके सब दोष नष्ट होते हैं। मन शान्त होता है तर्क, वितर्क और कुतर्क नहीं करता। इस कारण आत्मिक शक्तिकी उन्नति होनेमें सहायता होती है। पापसे बचनेमें वायु देवताकी सहायता इस प्रकार होती है। अनुष्ठान करनेवाला पुरुष जब अपने अंदर रहनेवाले इन देवोंको ठीक मार्गपर चलाता है, तब बाहरके देवोंकी सहायता स्वयमेव उसको प्राप्त होती है। यह पापसे बचनेका अनुष्ठान है। पाठक इसको अपने अंदर घटावें और लाभ उठावें।

मुद्रक तथा प्रकाशक— श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा)

R. NO.B. 1463

ओ३म्

वैदिक धर्म।

वैदिक तत्त्व ज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

वर्ष १०

अंक ४

क्रमांक ११२

चैत्र

संवत् १९८५

एप्रैल

सन१९२९

वार्षिक मूल्य— म० आ० से ४)   वी० पी० से ४॥)   विदेशके लिये ५)

वर्ष १०

अंक ४

क्रमांक ११२

वैदिक धर्म.

चैत्र

संवत् १९८६

एप्रैल

सन १९२९

वैदिक तत्त्वज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।

संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।

स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

ज्ञानी के अपमान का घोर परिणाम।

उग्रो राजा मन्यमानो ब्राह्मणं यो जिघत्सति।
परा तत्सिच्यते राष्ट्रं ब्राह्मणो यत्र जीयते॥

अथर्व. ५।१९।६

" जो राजा अपने आपको शक्तिमान और पराक्रमी समझकर ज्ञानीको क्लेश देता है, उसका वह राष्ट्र बहुत ही गिर जाता है, जिसमें ज्ञानीको दबाया जाता है। "

राजा अपनी शक्तिकी घमंडमें आकर जहां ज्ञानी जनोंको सताने का यत्न करता है, उस राजा का राष्ट्र बहुत गिर जाता है और अन्तमें उस राजाका भी अधःपात होता है। इसलिये राजाको उचित है कि वह अपने राज्यमें ज्ञानी जनोंका आदर करे, और उनको सन्मान देवे, जिससे उनके ज्ञानसे राष्ट्रकी उन्नति सदा होती रहे।

वैदिक धर्म ।

"वैदिक धर्म" मासिक की पृष्ठसंख्या हमने ७२ की है। परंतु इतने अल्प मूल्य के लिये इतना बडा मासिक सदा के लिये दिया नहीं जा सकता। मासिक अल्पमूल्य होनेसे प्रतिमास हमें १००) रु० से अधिक घाटा उठाना पडता है। पाठकोंको कईवार चेतावनी दी गई, उस कारण कई ग्राहकोंसे उत्तर भी आगये जिनकी समालोचना हम इस लेखमें करना चाहते हैं-

(१) एक ग्राहक लिखते हैं कि "यदि ग्राहक संख्या न वढी तो मूल्य बढाकर घाटा पूर्ण किया जावे।" यह लिखना ठीक ही है, परंतु यदि व्ययके हिसाबसे मूल्य बढाना हो तो मूल्य ६॥) रु. करना पडेगा। तब जाकर वैदिक धर्मका व्यय भुगता जायगा। क्या सब ग्राहक इतना मूल्य बढानेमें सहमत हैं? या पृष्ठ संख्या पूर्ववत् कम करना उनको अच्छा प्रतीत होता है?

हम विज्ञापनोंसे अपने पृष्ठ खराब नहीं करते। यदि विज्ञापन लिये जांयगे तो घाटा नहीं रहेगा। परंतु धार्मिक मासिक आजकल के विज्ञापनोंसे शोभित नहीं हो सकता ऐसी हमारी संमति है। इसलिये इस आमदनी की दिशा हमको छोड देना ही चाहिये। पाठक इस बातका विचार करें और इस मासिक के लिये जो कर सकते हैं, अति शीघ्र करें।

(२) दूसरे ग्राहक लिखते हैं कि "अथर्ववेद भाष्यके समान ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, शतपथ आदि ब्राह्मण, आरण्यक और षड्दर्शन आदि आर्ष-ग्रंथोंके सुबोध भाष्य इसी प्रकार इसी ढंगसे वैदिक धर्म मासिकमें मुद्रित किये जांय।"

यह सूचना प्रथम देखनेके लिये अच्छी लगती है परंतु यदि ऐसा किया जाय तो १०० वर्षोंमें भी कोई एक ग्रंथ पूर्ण नहीं होगा। हम इस समय करीब ४८ पृष्ठ अथर्ववेद भाष्यके दे रहे हैं, इस से संपूर्ण अथर्ववेद ग्राहकोंके पास पहुंचनेके लिये ८ वर्ष लगेंगे। और यदि उक्त प्रकार अनेक ग्रंथ इकट्ठे आरंभ किये जांयगे तो ग्रंथ समाप्तिका वायदा सौ सालका बन जायगा। इसलिये इस प्रकार संदेह उत्पन्न करनेवाला कार्य करनेमें अब हमारी रुची नहीं है। ग्राहकोंके पास नियत मुद्दतमें एक ग्रंथ भी संपूर्ण अवस्थामें पहुंचेगा तो उससे ग्राहकोंका अधिक लाभ होगा, परंतु पचास ग्रंथ अधूरे ग्राहकोंको मिलें तो उनका कोई लाभ नहीं है। इस लिये यह सूचना लाभकारी नहीं है।

(३) तीसरे कई ग्राहक लिखते हैं कि वैदिक धर्ममें अथर्ववेद स्वाध्याय के पृष्ठ न देते हुए उनका स्वतंत्र मासिक शुरू किया जावे। अर्थात् वैदिकधर्म ३२ पृष्ठोंका करके उसका मूल्य ३) रखा जावे और अथर्व वेदका दूसरा मासिक ५० पृष्ठोंका शुरू किया जावे जिसका मूल्य ४) रखा जावे।

यदि ग्राहक इस प्रकार की योजना पसंद करेंगे तो वैसा किया जा सकता है। परंतु इस समय वैदिक धर्म में जो स्वाध्याय दिया जाता है वह ग्राहकों को बहुत सस्ता मिलता है और प्रचारकी दृष्टिसे भी इसमें धर्मप्रचारका लाभ अधिक है। तथापि यदि कई ग्राहकों को अथर्ववेद पढनेकी इच्छा नहीं है और इस प्रकार उनपर वेद पढनेका भार अधिक पड रहा है तो हम इस प्रकार दो मासिक अलग अलग करेंगे। इससे डाकव्यय आदि व्यय व्यर्थ बढेगा परंतु यदि ग्राहक वेद पढाईका बोझ समझेंगे तो ऐसा ही करना पडेगा।

(४) इसके अतिरिक्त कई ग्राहक हमें वारंवार प्रेरणा दे रहे हैं कि यह अथर्ववेद का भाष्यका ढंग बडा अच्छा है और इसके पृष्ठ अधिक बढाये जांय।

बारंवार इस प्रकारके पत्र आनेके कारण हमने पृष्ठ बढाये जिसका परिणाम हमारे लिये किसी भी प्रकार इस समय तक अच्छा नहीं निकला।

ग्राहक संख्या बढनेके विना यह व्यय सहा नहीं जा सकता। कई ग्राहक ग्राहकसंख्या बढानेका यत्न कर रहे हैं उनका हार्दिक धन्यवाद है। कई ग्राहक अपने मित्रोंके नाम वी. पी. भेजनेकी प्रेरणा हमें करते हैं। इस मासमें हमने देखा कि इस प्रकार भेजी हुई वी. पि. योंमेंसे आधी वी-पियां वापस आगई हैं। प्रत्येक वी. पी. के कारण हमारा चार आनेका नुकसान मान लिया जाय तो ग्राहकोंके मित्रोंके नाम भेजी वी. पि. यों के कारण हमारा करीब पचीस रु० का नुकसान हो चुका है। ग्राहकोंसे सविनय प्रार्थना यह है कि वे चंदा म. आ. द्वारा भेज दें। जो लोग उनकी मित्रताके कारण ग्राहक होना स्वीकार करते हैं वे वी. पी. के समय अपना निश्चय कायम नहीं रखते। जो ग्राहक हमारी सहायता करना चाहते हैं वे इस अनुभव का विचार करके ही सहायता करें।

जो पाठक वैदिक धर्मका पठन प्रतिमास करेंगे उनका अथर्ववेदका अध्ययन साठ आठ वर्षोंमें सुगमतासे संपूर्ण हो जायगा। जो इस लाभ का विचार करेंगे वे स्वयं ग्राहक बनेंगे और दूसरोंको भी प्रेरणा करेंगे।

यदि ग्राहक अपने ऐसे मित्रोंके नाम और पते हमारे पास भेजेंगे कि जो वैदिक धर्म के प्रेमी हों, तो उनके नाम पर हम नमूना अंक भेज देंगे। पाठक इस प्रकार अनेक रीतियोंसे सहायता कर सकते हैं।

प्रबंध कर्ता.

वशिष्ठ शब्द के अर्थ।

(ले०—श्री· ब्रह्मदत्तशास्त्री, अजमेर)

(गतांकसे समाप्त)

' श्वित्यञ्चः ' का अर्थ सायण ने ' श्विर्ति श्वेतवर्णमञ्चन्ति ' श्वेतवर्णवाले ' किया है। स्वामी जी ने ' टुओश्वि गतिवृध्ययोः ' धातु से ' वृद्धिको प्राप्त हुए। सायण ने ' धियं ' पदका अर्थ ' कर्म ' किया है, स्वामी जी ने ' प्रज्ञा ' वा ' बुद्धि '। सायण के दिमाग में शायद, त्रिशङ्कु को यज्ञ न कराने वाले और पिता का पक्ष लेकर अपने कर्तव्य कर्म को पूर्ण करने वाले वसिष्ठ के सौ पुत्रोंका इतिहास अर्थ करते समय विद्यमान था। स्वामी जी की बुद्धि ऐतिहासिक वासनासे भी शून्य थी। 'बर्हिषः' का अर्थ सायण रूढ लेता है। अर्थात् यज्ञ। स्वामी जी बृह् धातु का ही अर्थ लेते हैं।

इन दोनों अर्थों की तुलना और विश्लेषण से यह परिणाम निकलता है कि सायण मीमांसाकार के इस मतको स्पष्ट स्पष्ट मानते हुए भी कि वेद में इतिहास नहीं है, ऐतिहासिक अर्थ करता है। और व्याकरण और निरुक्त से प्रत्येक पद की ऐसी चीरफाड नहीं करता। वह रूढ अर्थों को अवश्य स्थान देता है। उनका अनुसरण करता ही है। परन्तु स्वामी दयानन्द के वेदार्थों में ऐतिहासिकता की गंध भी नहीं है यही कारण है कि उसमें प्रत्येक पद की धातु, व्युत्पत्ति, और निरुक्ति पर तथा ब्राह्मण ग्रथों की व्याख्यापर बहुत ध्यान रखा गया है।

❀

वैद्य सावधान रहें !

भारत वर्षमें आर्यवैद्य बहुत हैं तथापि भारतीय सरकार इन आर्यवैद्योंको उचित उत्तेजना नहीं देती है । शिक्षित जन भी प्रायः विदेशी डाक्तरोंपर अधिक विश्वास रखते हैं और आर्यवैद्योंपर उनकी अपेक्षा कम । इस प्रकार आर्यवैद्योंको न तो सरकार से सहायता मिलती है और न जनता से, तथापि साधारण लोगोंका विश्वास इन वैद्योंपर अभीतक है, जिस कारण आर्यवैद्य जीवित रहे हैं ।

वस्तुतः आजकलका जमाना ऐसा है कि जिसमें अपने अस्तित्व के लिये विशेष प्रयत्न न किया जाय तो मृत्यु निश्चित ही है। आर्यवैद्य इस नियम को स्मरण नहीं रखते । कुछ वैद्य " वैद्य संमेलन " आदि द्वारा प्रयत्न कर रहे हैं, इन प्रयत्नों के लिये यद्यपि वे प्रशंसा के लिये योग्य हैं, तथापि इन प्रयत्नों में इतना बल इस समय तक नहीं उत्पन्न हुआ है, कि जिससे उन वैद्योंपर आनेवाली बडी भयानक आपत्ति टल जाय । जहां हजार अश्वशक्ति के प्रयत्न की आवश्यकता है वहां इन वैद्योंसे एक चूंटी की शक्तिका प्रयत्न हो रहा है, इस से अन्त में क्या परिणाम होगा, इसका विचार स्वयं वैद्यों को ही करना चाहिये ।

बहुतसे वैद्य अपनी औषधियाँ स्वयं बनाते हैं और कई वैद्योंके औषधिनिर्माण के बडे बडे कारखाने भी हैं । परंतु इनमें भस्म, मात्रा अवलेहादि औषधों और रसायनोंका परिमाणनियमन (Standerdization) नहीं है। एक ही रसायन यदि दस वैद्योंसे मूल्य दे कर मंगवाया जाय, तो कमसे कम दस प्रकारका मिल जायगा। और एकही वैद्यसे या एकही आर्यवैद्यक-औषधिनिर्माण भवन से एक ही औषध दो तीनवार मंगवाया जाय, तो भी प्रायः प्रतिवार भिन्न प्रकारका आता है । यह बडा भारी दोष है जो वैद्यों को तत्काल दूर करना चाहिये ।

हमने गत वर्ष आठ स्थानों से कुछ च्यवनप्राश अवलेह मंगवाया था, जिसमें आश्चर्य की बात यह देखी की एकका एकसे कुछ भी मेल नहीं था । एक बहुत पतला था, एक बहुत गाढा था, एक की रुची पाक जलने के समान थी, एकमें मीठा अत्यधिक था तो दूसरेमें अति न्यून होने से कुछ सफेत सा पदार्थ जो सडान के कारण उत्पन्न होता है, उपर आया था । अन्य औषधियोंका अनुभव भी ऐसा ही है। इस प्रकार अनुभव देखने से हमारा निश्चय हुआ कि इस विषय में वैद्यों को सावधान करना आवश्यक है । इतने अनुभवमें हमें एकही स्थान का अनुभव हुआ कि वहांसे एकही प्रकारकी औषधें निश्चयपूर्वक मिलती हैं, परंतु अन्य स्थानोंका अनुभव इससे भिन्न है जो ऊपर दिया है ।

इस अवस्थाके साथ आप यूरोप अमेरिका के औषधों के कारखानों के औषध देखिये । एकही औषध सर्वत्र एक जैसा प्रमाणयुक्त मिलता है । यह बात हमारे वैद्यों को देखना चाहिये । विश्वास क्यों उत्पन्न होता है और क्यों नहीं होता इसके ये कारण हैं ।

बुरे हों या भले हों, यथाशास्त्र किये हों अथवा शास्त्रहीन रीतिसे किये हों, आर्यवैद्य अपने औषध यहां ही बनवाते हैं अर्थात् ये सब स्वदेशी होते हैं । यह धंदा बडा भारी है और यदि यह धंदा भी विदेशी लोगोंके हाथ में जाने लगा, तो वैद्योंको ही इसका उत्तर देना चाहिये ।

हमें निश्चयसे मालूम है कि कई वैद्य देशी औषधी के नामसे विदेशी औषधों का उपयोग करते ही हैं । भोले लोग आर्यवैद्यक का इलाज हो रहा है ऐसा मानते हैं, और जो दवा डाक्तरोंसे लेनेसे यूरोपकी दवा लेनेका ख्याल करते हैं वेही लोग वही दवा देसी वैद्योंसे लेकर आयुर्वेदिक औषध लिया ऐसा मानते हैं ! जिस देशमें आर्यवैद्यक का धंदा करनेवाले वैद्य ही स्वयं इतना विश्वासघात करते हैं उस देशमें आर्यवैद्यक की उन्नति होने की क्या आशा की जा सकती है ? वैद्यों से पूछा जाय

तो वे कहते हैं कि हमें राजाश्रय नहीं, परंतु ऐसे व्यवहार चलाने वालों को परमेश्वर राजाश्रय क्यों देवे ? क्या परमेश्वर के पास सचाईका कोई मान नहीं है ? यदि वैद्यों को अपने आर्य वैद्यकमें किसी बीमारीकी दवा नहीं है ऐसा ख्याल हो, तो उनको स्पष्ट शब्दों में वैसा कहना चाहिये । परंतु चुपचाप युरोपीयन दवाइयां लेकर अपनी आर्यवैद्यककी औषधियां करके प्रयुक्त करना ठीक नहीं है। इसीसे अविश्वास बढता है और अविश्वास ही सर्वस्व नाशका मुख्य हेतु है ।

हमें निश्चयसे मालूम है कि कई वैद्य और कई रसायन भस्म आदि बनाने वाले कारखानदार भी भस्म आदि करनेके समय युरोपके कारखानोंमें बने धातुओंके धातुक्षार आदि लेते हैं और आगेके संस्कार आर्यवैद्यक की रीतिसे करके लोह ताम्र आदि भस्म बनाते हैं । इस प्रकार करने वाले एक रीतिसे युरोपीयन कारखानदारोंके एजंट ही होते हैं । इस ढंगसे इन वैद्योंने ही अपना धंदा युरोपीयन कारखानदारोंके सुपुर्द करीब करीब किया है । अपने हाथसे अपनी गर्दन काटनेके समान ही यह बात है, इसका परिणाम ये वैद्य थोडेही समयमें जानेंगे और उस समय उनको पश्चात्ताप करना पडेगा ।

युरोपीयन लोग तो चाहते ही हैं कि हिंदुस्थानी लोग युरोपका माल लें। कई शताब्दियोंसे उनकी यह हार्दिक इच्छा है और यह उनकी इच्छा भारत के दुर्दैवसे और आलस्यसे सफल भी हो चुकी है। कपडे आदि बनानेका व्यवसाय भारतीयोंने छोड दिया और यह धंदा अब युरोपका व्यवसाय होगया है। इसीप्रकार कई भारतीय व्यवसाय स्वयं भारतीयों ने युरोपके आधीन कर दिये हैं और स्वयं निराहार रहनेका व्रत लिया है । इस समयतक आर्यौषधियां बनानेका व्यवसाय भारतीयोंकाही था। किसी भी युरोपीयन ने इसमें हस्ताक्षेप नहीं किया था, परंतु अब युरोपीयनोंका ध्यान इस महत्वपूर्ण व्यवसायकी ओर चला गया है । आर्यवैद्य इसका विशेष विचार करें।

जर्मनीमें " मर्क एण्ड कम्पनी " नामक एक कंपनी है जो औषधियां बनानेवाली मशहूर है। इस के समान जगत् में कोई बडा कारखाना नहीं है कि जहां युरोपीयन रीतिकी दवाइयां तैयार होती हों। इस कारखाने वाले ने इस वर्ष आर्य वैद्यके भस्म रसायन आदि बनानेका निश्चय किया है और 'मकरध्वज' नामक सुप्रसिद्ध रसायन सबसे प्रथम बनानेके लिये हाथमें लिया है ।

जो काम जर्मन लोग हाथमें लेते हैं वह कार्य वे करके छोडते हैं। उनके साधन बडे हैं, उनकी बुद्धि विशाल है और उनका शास्त्रीय विज्ञान अपार है। ऐसे प्रबल शत्रु जिस समय आर्य वैद्योंके सामने आकर युद्धके लिये खडे हो जाते हैं, तब परिणाम क्या होगा, वह तो हमारे सन्मुख प्रत्यक्ष ही दीख रहा है । साल छः मासमें जर्मनी में बना हुवा मकरध्वज यहां आवेगा और संभव है कि भारतीय वैद्य जर्मनीका बना मकरध्वज लेकर अपना करके बेचेंगे । जर्मनीकी स्पर्धामें हमारे वैद्य किसी प्रकार ठहर नहीं सकते, यह बात हमें सूर्य प्रकाशके समान स्पष्ट दीख रही है ।

यदि भारतीय वैद्य सुसंघटित होकर इस समयभी वैज्ञानिक रीतिसे शास्त्रीय उपाय योजनाओंके साथ कार्य करेंगे, तो अबभी बचाव हो सकता है। परंतु इतनी कार्य क्षमता हमारे वैद्योंमें चाहिये ।

हमारे भस्मोंमें एक पुटी, शतपुटी, सहस्रपुटी, सूर्य पुटी, चन्द्रपुटी आदि भेद होते हैं। जर्मनके शास्त्रज्ञोंने इनका सूक्ष्मदर्शक यंत्रसे तथा अन्यान्य परीक्षाओंसे परीक्षण, निरीक्षण और पृथक्करण किया है और उन्हों ने निश्चय किया है कि शतपुटी अभ्रक और सहस्र पुटी अभ्रक के एकाणुक द्व्यणुक और त्र्यणुककी स्थिति (Atomic structure) में क्या भेद होता है। अधिक अग्निपुटोंसे अणुओंका सूक्ष्मीकरण होता है अर्थात् यदि अभ्रक का एक अणु एक पुटी अभ्रकमें रहा तो शतपुटी अभ्रक में उसकी सूक्ष्मता दस हजारवे भाग तक पहुंचती है और सहस्रपुटी अभ्रक में दस लाखवे भाग तक सूक्ष्मता पहुंचती है । जितना अणुओंका सूक्ष्मीकरण अधिक होगा उतनी औषधकी तीव्रता

और गुणकारिता भी बढ जायगी। यह बात वनस्पति के विषयमें भी उतनीही सत्य है । साधारण पिप्पली औषधी लीजिये। साधारण चूर्ण जितना गुणकारी होता है उससे अधिक सूक्ष्मतर अवस्थातक पहुंचाया हुआ चूर्ण अधिक गुणकारी बनता है। धातुओं अथवा रसोंके विषयमें तो यह बात अधिक ही सत्य है।

जर्मन शास्त्रज्ञोंने हमारे पारदादि भस्मोंका इस प्रकार परीक्षण किया है और आयुर्वेदिक पद्धतिसे किये हुए भस्मोंका परमाणुसूक्ष्मीकरण किस भस्मके किस अवस्थामें कितना होता है, इसका गणित उन्होंने निश्चित रीतिसे सूक्ष्मदर्शक यंत्रादि अनेक साधनों द्वारा किया है। यह तो उनकी पूर्व तैयारी होगई है।

हमारे वैद्य सहस्रपुटी अभ्रक तैयार करनेके लिये तीन चार वर्ष लगायेंगे और प्रतिदिन थोडा थोडा परमाणुओंका सूक्ष्मीकरण करते जांयगे । जर्मन शास्त्रज्ञोंका कहना है कि वे विद्युच्छक्तिद्वारा एकही प्रयोगसे सहस्र पुटी अभ्रक बना देंगे । अर्थात् आर्य वैद्य जितने सूक्ष्मीकरण के लिये तीन चार वर्षका परिश्रम करते हैं वह परमाणुओंका सूक्ष्मीकरण एक दिनमें वे करेंगे, क्योंकि धातुओंके परमाणुओंको तोडनेवाली शक्ति आर्य वैद्योंके पास केवल अग्नि है और जर्मन शास्त्रज्ञोंके पास बडी भारी प्रभावशाली विद्युत् है। अग्नि जो कार्य चार वर्षों में कर सकती है वह कार्य इस महाविद्युत्से एक ही दिन में किया जा सकता है। सहस्रपुटी अभ्रक का एक परमाणु दस लाख भागोंमें विभक्त करना होता है, वह कार्य विद्युत द्वारा अतिशीघ्र होना संभव है। अन्यान्य औषधियोंके रसोंका प्रभाव भी इसी प्रकार अतिशीघ्र उस पर डाला जा सकता है।

जर्मन शास्त्रज्ञ जो बोलते हैं वैसा करके बताते हैं, इस लिये जैसा वे बोल रहे हैं वैसा वे करके बतायेंगे इसमें हमें संदेह नहीं है । इसी प्रकार के अद्भुत चमत्कार उन्होंने करके बताये हैं और अब वे हमारे आर्य वैद्यक के औषधों के पीछे पडे हैं और उनका मकरध्वज रसायन तो अतिशीघ्र दुकानोंमें आवेगा।

आर्यवैद्य जिस प्रयोग के लिये तीन चार वर्ष लगाते हैं और इतने मेहनतसे बनानेके कारण जो रसायन ६०) रु. तोला या १००) रु. तोला बेचते हैं। वही रसायन जर्मन शास्त्रज्ञ एकदो दिनोंमें बनायेंगे और अतिशीघ्र बन जाने के कारण २) रु. तोला बेचेंगे। उनका भस्म आधुनिक शास्त्रीय रीतिसे सुपरीक्षित होने के कारण प्रतिवार एक जैसा निश्चयपूर्वक बनेगा और जो गुण प्रथम दिन करेगा वही गुण अन्तिम दिन भी कर सकेगा। परंतु वैद्योंकी अग्नि देश काल परिस्थिति के कारण भिन्न उष्णतावाली या न्यूनाधिक उष्णतावाली होने के कारण और सालों साल चलनेवाले मानवी प्रयत्नों की न्यूनाधिकता होने के कारण इनके परिणाममें न्यूनाधिकता होना स्वाभाविक है और इस न्यूनता का अनुभव हमने भी किया है।

परिश्रम से ही सब लोग बचना चाहते हैं आर्य वैद्य भी इसमें अपवाद होंगे तो भारतवर्षका सौभाग्य होगा। जो रसायन घरमें बनाने में कई दिन लगेंगे और जिसके लिये बहुत धनका व्यय होगा, वही रसायन यदि अपने द्वारपर अतिसस्ता बना बनाया मिल जायगा, तो आर्य वैद्य वह न लेंगे और अपना स्वयं बाननेका परिश्रम करते जांयगे, ऐसा विश्वास हमारे मनमें नहीं उत्पन्न होता है। जो इस समय भी कई दवाइयां यूरोपकी बनी बनायीं अपने आर्यवैद्यक के नाम से बेचते हैं वे फल वैसा नहीं करेंगे, तो एक आश्चर्यकी ही बात होगी।

हमारी परमेश्वर से प्रार्थना है कि वह कृपा करे और हमारी शंका निरर्थक सिद्ध हो। जिस ढंगसे देसी वैद्य कार्य करते हैं उस ढंगसे तो हमारा निश्चय है कि एक दिन ऐसा आजायगा कि डाक्टरों के समानही देसी वैद्य भी जर्मन कारखानदारों के एजंट बने हुए नजर आवेंगे।

इसलिये हम वैद्यों और वैद्य संमेलनों के संचालकों से प्रार्थना करना चाहते हैं कि वे इस आगामी भय का अतिशीघ्र परंतु शान्तिपूर्वक विचार करें और जहांतक हो सके वहां तक यत्न करके इस देशी धंदे को अपने हाथसे जाने न दें।

वैदिक धर्म में आनंदकी दृष्टि ।
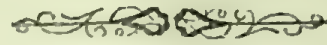
(ले०—श्री०पं० लक्ष्मण शास्त्रीजी जोशी, प्राज्ञपाठशाला; वाई)

को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्, यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् ॥

तत्वज्ञान समाजमें ज्ञान प्राप्त करनेके विविध प्रयत्नोंका फल है। अतः किसी समाजका तत्वज्ञान उस समाजकी जीवनयात्रा का पूर्ण स्पष्टीकरण करता है। यदि किसी भी समाज के तत्वज्ञान को देखाजाए तो उस समाजके धार्मिक, नैतिक, राजकीय, आर्थिक तथा वैज्ञानिक इतिहासका स्वरूप हमारे ध्यान में जल्दी से आसकता है। अथवा उस समाजके इतिहास को देखकर हम उसके तत्वज्ञान का सुगमतासे विवेचन कर सकेंगे। तत्वज्ञान भवसागरमें समाजरूपी बडीभारी नौका का यंत्र है। इसीसे समाज की गति की दिशा निश्चित होती है। तत्वज्ञानी कर्णधार होता है। समाजका तत्वज्ञान बदलनेपर उसमें क्रान्ति उठ खडी होती है। अथवा क्रान्ति हुई तो उस समाजका तत्वज्ञान बदल जाता है। इतिहास का तत्वज्ञान पर या तत्वज्ञान का इतिहास पर एकसा परिणाम होता है।

भारतीय आर्य जब भारत में आकर के बसे तब वीर, आक्रमणशील, जयिष्णु, आदर्शपुरुष विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु आदि राजर्षियों और प्रजापतियों का जो तत्वज्ञान था उसे श्रीकृष्णने भगवद्गीतामें दर्शाया है। लङ्कापर चढाईकर आर्योंके विश्वव्यापी होने और अपनी संस्कृतिको चिरस्थायी बनाकर उसे सुरक्षित करनेवाले श्री रामचंद्रका तत्वज्ञान योग वासिष्ठमें "अन्तस्त्यागी बहिःसंगी लोके विचर राघव" ऐसा कहा हुआ है। छान्दोग्य में "असुराणां ह्येषोपनिषत्" असुरोंका यह देहात्मवादी तत्वज्ञान है ऐसा माना है।

उससे असुर संस्कृति की सब हिलचालों तथा आसुरी संपत्ति सुलझती है। ग्रीस देशके इतिहास और उसके तत्वज्ञानमें किस प्रकारका सम्बन्ध था, इसका अनुमान प्लेटोके "सुराज्य" नामक ग्रंथसे होता है। संसारकी हलचल पर स्थिरप्रभाव कर गई हुई फ्रान्सकी भयंकर और अस्थिर राज्य क्रांति में और रूसो के समतादर्शन में विद्यमान सम्बन्ध इतिहास में जागरूक है। २५० वर्ष पूर्व महाराष्ट्र में धर्म स्थापक पुरुषोंने और ईश्वरीय अवतारों ने जो राज्यक्रांति सह्याद्रि पर्वत के आश्रयमें रहकर उत्पन्न की थी; उसकी जडमें सर्व शक्तिमान् उपदेशक समर्थ का "अध्यात्मसार" था। लोकोंके मनों को प्रबुद्ध करनेवाला रामदासका मनोबोध था। समाज को आनन्द मंदिर बनानेवाला, विश्वमें और समाजमें रामराज्य का वर्णन करनेवाला, तुष्टि, पुष्टि, और दृष्टिसे युक्त रामदासका ब्रह्मज्ञान था। समर्थका आनन्दवनभुवन, रामराज्य तथा अध्यात्मसार पढने से उस में क्या रहस्य भरा हुआ है यह दिखाई देगा। भारतवर्ष में नये परिवर्तन की नव वसन्त की सूचना देनेवाले लोकमान्य तिलकने समाजमें नया परिवर्तन लगानेकी अपेक्षा कर्मयोगके तत्वज्ञानको ही गीतारहस्य में प्रतिपादन किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि समाजके इतिहास और तत्वज्ञानमें नित्य सम्बन्ध है।

तत्वज्ञान और समाजका विकास ।

सामाजिक जीवनका विकास तत्वज्ञानके आधीन है। तत्वज्ञानको ही आर्य लोक वेदान्त मानते हैं। तत्वज्ञान को सर्वांग विचार से "दर्शन" ऐसी संज्ञा होती है। दर्शन अर्थात् दृष्टि। दृष्टि से सृष्टि उत्पन्न होती है। यह दृष्टि जितनी निर्मल निर्दोष, स्थूल सूक्ष्मावगाहिनी, वर्तमान, भूत तथा भविष्य का ज्ञान रखनेवाली, दूरस्थ या समीपस्थ वस्तुओंका

ग्रहण करनेवाली होगी, उतना समाजका विकास सुसम्बद्ध, केन्द्रानुसारी तथा सर्वांगीण होता है। इस विकासका मतलब अभ्युदय है । इस अभ्युदयसे समाजका और तदन्तर्गत व्यक्तिका निःश्रेयस निष्पन्न होता है । अभ्युदय समाजका फूल और निःश्रेयस फल है। निःश्रेयस सम्पन्न पुरुष से अभिप्राय है स्थितप्रज्ञ पुरुष । इन आदर्श पुरुषोंकोही पुरुषोत्तम (Super-man) कहा जाता है ।

तत्वज्ञान का लक्षण अथवा व्याख्या !

ज्ञानसे इच्छा उत्पन्न होकर तब प्रयत्न होता है । और फिर प्रयत्नसे ज्ञान होता है। समाजमें मनुष्यके पोषणार्थ, जीवन वर्धनार्थ, आनन्दके लिए, दुःख-निवारणार्थ, या गुण विकासनके लिए जितने प्रयत्न होते हैं वे सब ज्ञानसे हाते हैं । और उन सब प्रयत्नों से ज्ञान प्राप्त होता है । उन ज्ञानोंको तर्क शास्त्रमें प्रतिपादित नियमानुसार भाषामें लिखनेसे शास्त्र ऐसी संज्ञा होती है । समाजमें जितने विविध व्यापार या क्रियायें चलती हैं उतनी सब शास्त्रमें हैं । ये शास्त्र या ज्ञान जितने परस्पर सुसंगत होंगे उतना समाजमें प्रचलित प्रयत्न सुपुष्पित और सुफलित होंगे । सर्व शास्त्रोंका जो निष्कर्षभूत परम सिद्धान्त है उसका सम्पूर्णतया विचार करके वेदान्त या तत्वज्ञान निष्पन्न होता है । सर्व शास्त्रोंमें ग्रथित हुए हुए अनुभवों विचारों का समूह रूपसे अवलोकन करके वेदान्त तैयार होताहै । मनुष्यके प्रयत्नों का, सुख दुःखोंका या सफलता का अंतिम निर्णय तत्वज्ञान से या वेदान्तसे प्रकट हुआ हुआ है । अर्थात् वेदान्त शब्दका निर्वचन " वेदका अर्थात् ज्ञानका अंत यानि समाप्ति या फल" ऐसा करनेसे कार्य का उद्वाह हो सकेगा ।

तत्वज्ञान के दो प्रकार-- १ प्रवर्तक; २ निवर्तक.

तत्व ज्ञान दो प्रकार का है । एक तो समाज के प्रचलित सब प्रयत्नों का और जीवनपोषक तथा वर्धक क्रियाओं को असत्य, असार, व्यर्थ ठहराता है, और दूसरा समाज के प्रयत्नों को सार्थक बताता हुआ उचित दिशा दिखाकर उत्तेजना देता है । और सब प्रयत्न मानव समाज के लिए परिणाम में हितकर कैसे हो सकते हैं, इस बातकी विवेचना करके उस का स्पष्टीकरण करता है । पहिला तत्वज्ञान निरोधक है और दूसरा प्रवर्तक है। पहिले में विषाद और उदासीनता उत्पन्न करके सब प्रयत्नों को रोकने का स्वभाव है,पर दूसरे में उत्साह शक्ति उत्पन्न करके सब क्रियाओं को पूर्ण, सुसंगत और सुफलित करने का स्वभाव है । दोनों ही तत्वज्ञान भूतहितकी दृष्टि को लक्ष्य में रखकर उपदेश कर रहे हैं । दोनोंही वेदान्त जीवकी परम शान्ति का विचार कर रहे हैं !

जयिष्णु आर्यों का वेदोंमें परम सिद्धान्त !

भारतीय संस्कृति में उपरोक्त दोनों ही प्रकारों के सैंकडों दर्शन उत्पन्न हुए हुए हैं । उनमें उपनिषदों का तत्वज्ञान आर्यों के पूर्ण विकसित विचारों का फल है । इस तत्व ज्ञान के मनन से आर्यों की अश्रुत और अविज्ञात हलचल और संस्कृतिका वास्तविक अर्थ हमें मालूम होता है । उनही से धर्मका, नीतिका, व्यवहार का, परमार्थका, और सब मानव प्रवृत्तिका, किंबहुना विश्वके आधारभूत सिद्धान्त का ज्ञान हमें मिलता है ! वह सिद्धान्त निम्न वाक्य में प्रतिपादित किया हुआ है—

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभि संविशन्तीति । तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति । तै० उ० ३॥

" आनन्द से विश्वकी उत्पत्ति होती है, आनन्द से विश्वकी स्थिति है, और आनन्द में ही विश्व का लय होता है । यह समझने की सच्ची उत्कट इच्छा उत्पन्न होनी चाहिए, क्यों कि यह आनन्द ही ब्रह्म है । " इसी सिद्धान्त पर इस समय हमें विचार करना है ।

तात्विक सिद्धान्तकी परीक्षा करने की तीन रीतियां ।

तत्वज्ञान में तत्वविचिकित्सकों ने अनेक प्रकारों

से सिद्धान्तों का विवेचन किया है। हमारे विवेचन के सुभीते के लिए हम उन अनेक पद्धतियों का तीन पद्धतियों में समावेश करेंगे।

(१) प्रमाणों से वस्तुकी अथवा विषय की सिद्धि, अर्थात् प्रमाण पद्धति,

(२) मानस शास्त्रीय परीक्षण, अर्थात् मानसिक पद्धति;

(३) नीति शास्त्रीय परीक्षण, अर्थात् नैतिक पद्धति.

ये तीन पद्धतियां केवल तत्वज्ञान परही अवलम्बित हैं ऐसी बात नहीं है। अन्य शास्त्रों में भी थोडा बहुत इनका उपयोग होता है। इनमें से प्रथम पद्धति सब वस्तुओं के यथार्थ ज्ञान के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि। (सांख्य कारिका ३) ' प्रमाण के सिवाय प्रमेयकी सिद्धि नहीं होती। ' प्रमाण अर्थात् प्रमाका असाधारण कारण। प्रमा अर्थात् यथार्थ ज्ञान। यथार्थ ज्ञान का असाधारण अर्थात् मुख्य साधन का विचार करनेवाले स्वतंत्र शास्त्र प्राचीन कालमें हिन्दुस्थानमें तथा ग्रीक देशमें और इस समय इसी को यहां न्यायशास्त्र या तर्कशास्त्र कहते हैं। तर्कशास्त्रसे सिद्ध हुए नियमों द्वारा किसी भी विषय की परीक्षा होजानेपर वह विषय श्रद्धास्पद हो जाता है।

हेतु (कारण) से कोई भी विषय सिद्ध होता है या नहीं यह बात देखने के लिए दूसरी पद्धति द्वारा परीक्षा करनी जरूरी है। दूसरी रीति मानस शास्त्र द्वारा परीक्षा करने की है। विवक्षित विचार या कल्पना मनुष्य के मनमें क्यों आई, किस परिस्थिति के प्रभाव से वह विचार उत्पन्न हुआ, उस कल्पना ने किस किस मानव समाजमें कैसे कैसे रूप धारण किए, उस कल्पना का पूरा इतिहास क्या है, उस कल्पना ने किस किस मानव विकार पर और विचारपर अपना प्रभाव जमाया, ये प्रश्न इस दूसरी पद्धति पर छोडने योग्य हैं।

तीसरी रीति नीति शास्त्रसे परीक्षा करने की है। किसीभी विचारका मनुष्यके आचरणपर क्या प्रभाव पडता है, सदाचरण या दुराचरण की दृष्टिसे मनुष्य के जीवनमें क्या फरक पडना संभव है आजतक उस विचारका क्या परिणाम हुआ ? इन प्रश्नों के उत्तर इससे देने हैं।

उपरोक्त तीनों पद्धतियों का उपयोग करने से किसी भी तात्विक विचारपर अच्छा प्रकाश पडता है।

उदाहरणार्थ कुछ सिद्धान्त।

पहिला ईश्वर विषयक सिद्धान्त- ईश्वर की सिद्धि नैयायिक अनुमान प्रमाणसे करता है। किसी भी कार्य के लिए ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न की जरूरत है। जिन उपादान कारण प्रभृति साधनों से जो कोई कार्य उत्पन्न होते हैं, उन साधनों की व्यवस्था और योजना विचार पूर्वक या ज्ञान पूर्वक होती है। परन्तु केवल ज्ञानसे काम नहीं चलता फिर इच्छा की जरूरत है। और इच्छाकी अगली पौडी प्रयत्न ही है। ऐसा सिद्धान्त सिद्ध करके उसके आधार से अत्यन्त सुव्यवस्थित, नियमबद्ध, आश्चर्यमय और अचिंत्य इस विश्वरचना की जडमें सर्वज्ञता, अनन्त इच्छाशक्ति और पूर्णप्रयत्न होना चाहिए, ऐसा अनुमान नैयायिक आदि तार्किकोंने किया हुआ है।

' रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् '। (ब्र. सू० २-२-१) इस सूत्रमें बादरायणाचार्यने यही उत्पत्ति करके निरीश्वर सांख्य का खण्डन किया हुआ है। यह हुआ ईश्वरविषयक कल्पना का तर्क पद्धति द्वारा स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न।

ईश्वर विषयक कल्पनाका दूसरी पद्धतिसे विवेचन पाश्चात्य विद्वानोंने किया है। जंगली मनुष्य, आधे जंगली मनुष्य और संस्कृति संपन्न मनुष्य, इनके धर्म विषयक कल्पना का अभ्यास करके ईश्वर विषयक कल्पना के विविध रूपोंका निरूपण उन्होंने उन ग्रन्थोंमें किया है। जंगली मनुष्य को ईश्वर मौजी और क्रूर है ऐसा प्रतीत होता है। संस्कृति में प्रविष्ट हुआ हुआ मनुष्य संसार में विद्यमान मेघ, पर्जन्य, प्रकाश, विद्युत्, अग्नि इत्यादि विविध शक्तियोंको देवता अनुभव करता है। और संस्कृति से सम्पन्न मनुष्य को सत् और असत् का निपटा करनेवाला, प्रेममय पिता या माता रूप

ईश्वर जगका शासन करता है ऐसा प्रतीत होता है। इत्यादि प्रकार का ईश्वर विषयक विचारक्रम उनों ने शोध निकाला है । ईश्वर विषयक कल्पना का यह मानसिक इतिहास हुआ । ईश्वर विषयक इतनी भव्य, उदात्त, सुंदर, काव्यमय कल्पना जगत् में किसी भी महान् कवि की प्रतिभा से निर्माण नहीं हुई है । सौन्दर्य विषयक कल्पना का रमणीय और पवित्र विकास ईश्वर आराधना से जगतमें बहुत हुआ है; इत्यादि विविध विचार दूसरी पद्धतिमें अन्तर्भूत होते हैं ।

तीसरी रीति को किन्हीं नीति शास्त्रज्ञोंने ईश्वर के विषय में स्वीकृत की है । 'सत्यानृते अवपश्यञ्जनानाम् ' (ऋ० ७ । ४९ । २) जनोंके सदाचरण दुराचरणों का न्याय करनेवाला,धर्म और अधर्मका फल दाता यदि कोई न माना जावे तो नीतिकी उपपत्ति कैसे होगी ? माता को बच्चेके लिए कष्ट सहने चाहिए, देशभक्तोंको देशके लिए अपने सिर अर्पण करने चाहिए, साधुओंको लोक हितके लिए दुःख उठाने चाहिए, सत्यनिष्ठोंको सत्यके लिए विष के प्याले अमृत सम मानकर पीने चाहिए इत्यादि जो श्रेष्ठ कर्म हैं उनका यदि कठोर निसर्ग में कुछ भी मूल्य नहीं है तो फिर नीति किस मर्ज की दवा है?इस लिए ऐसा नहीं माना जा सकता । सदाचरण कभी भी निष्फल होने वाला नहीं । उस की व्यवस्था इस विश्वमें होनी चाहिए कोई भी सर्व द्रष्टा न्यायाधीश इस विश्वके सिंहासनपर आरूढ होना चाहिए; ऐसा विचार किन्ही नीति शास्त्रज्ञों के मनमें आता है । यही विचार ' फलमत उपपत्तेः'। (ब्र०सू० ३-२-३८) इस सूत्र में दर्शाया है । ईश्वर तर्क शास्त्रकी पद्धति से सिद्ध हो या न हो, परन्तु ईश्वर विषयक मनोहर कल्पनाका मनुष्यके आचरण पर बडाभारी प्रभाव डालता है इसमें संशय नहीं ।

इस रीतिसे इन तीनों उपपत्तियों से ईश्वर के स्पष्टीकरण के अनुसार ही पुनर्जन्म, विकासवाद, अज्ञेयवाद इत्यादि तात्विक विचारों का स्पष्टीकरण किया जा सकता है । हर्ष, भय, शोक, काम, क्रोध इत्यादि विकार बाह्य विषयों के संसर्ग से बढते हैं । विषसे डर विषके दुष्परिणाम केअनुभवसे बढता है, देशपर प्रीति विचारों के बाद मनुष्य करने लगता है । बालकोंको तो जन्मसेही हर्ष, भय, शोक, काम, क्रोध आदि विकार कुछ हदतक थोडी बहुत मात्रामें पाए जाते हैं, इस से उन विकारों की जडमें पूर्वानुभव या पूर्वाभ्यास होना चाहिए ऐसे अनुमानसे पूर्व जन्म की सिद्धि गौतमने न्याय दर्शन में की है। ' पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबंधाज्जातस्य हर्षशोकभयसंप्रतिपत्तेः ' । (न्याय सू० ३-१-१९) 'वीतरागजन्मादर्शनात् ' (न्या० सू. ३-१-२५) इन सूत्रोंमें उपरोक्त विषय दर्शाया है ।

पूर्व जन्मकी अर्थात् शरीरभिन्न जीवात्मा विषयक कल्पना की मानवशास्त्र की दृष्टिसे परीक्षा यूरोप में मनुष्यजातिशास्त्र (Anthropology) में की गई है । उसमें प्रेत पूजक जंगली मनुष्य से लेकर संस्कृति सम्पन्न मनुष्यतक, मरण के बाद जीवन की कल्पना का विकास या परिवर्तन दिखाया है ।

नीतिविज्ञोंने और धार्मिकों ने नीतिके संरक्षणार्थ पूर्व और उत्तर जन्म की कल्पना करनी ही चाहिए ऐसा माना है । नहीं तो जगतमें वैषम्य का राज्य है ऐसा मानना पडेगा । जन्मसेही दरिद्री और श्रीमन्त,रोगी और निरोगी,बुद्धिमान् और निर्बुद्धि शान्त और तप्त, सज्जन और दुर्जन ऐसे भेद क्यों हों ? सदाचारी मनुष्यको या प्रयत्नशील मनुष्यको इस जन्मकी समाप्ति तक ही अच्छा फल मिलता है ऐसा नहीं । उसी प्रकार अधार्मिक दुर्जन और मनुष्योंको संसारमें बहुतवार ऐश्वर्य और मान प्रयत्नसे ही मिलता है । संसार में न्याय का साम्राज्य होना चाहिए, अर्थात् इस जन्ममें या उत्तर जन्ममें सत्कर्मों का फल मिलना चाहिए और दुराचरणके दुष्परिणाम भी अवश्य भोगने पडने चाहिए। इस धार्मिक लोकों की दृष्टि को देखनेसे पुनर्जन्म की कल्पनाका नैतिक पद्धतिसे अर्थ स्पष्ट होता है। यही दृष्टि ' नाकृताभ्यागमप्रसङ्गात् । (न्या० सू० ३-२-७३) इस सूत्रमें दर्शायी है ।

डार्विन, स्पेन्सर, हेकेल इत्यादियोंने प्राणिशास्त्र में और अन्य शास्त्रोंमें क्रांति करनेवाला विकास वादका सिद्धान्त प्रमाण पद्धति द्वारा शोध निकाल

है। उसका मानसइतिहासगत दो सौ वर्षों को पाश्चात्य संस्कृतिका इतिहास देखनेसे स्पष्ट समझमें आएगा। पुनर्जन्मकी कल्पना जिस पाए पर खडी की जाती है उसे विकास वादसे डांवाडोल किए जाने पर मनुष्यके आचरणकी उपपत्ति, ऐहिक सुखवाद और गुण परिणाम वाद इस पर ठहरने लगे। इस कारण नैतिक कल्पना और धार्मिक कल्पना में टूटटाट होगई; और अब तो अन्तमें मनुष्यके आचरणमें बडी भारी क्रान्ति करने का काल समीप समीप आता जा रहा है। उपरोक्त तीनों पद्धतियोंका स्पष्टीकरण करने के लिए उपर निर्दिष्ट तीन उदाहरण बस होंगे।

आनन्द सिद्धान्त का विचार मुख्यतया दूसरी और तीसरी पद्धतिसे करना है। उपनिषदों में सारे विश्वमें आनन्द रूप तत्व भरा हुआ है ऐसा सिद्धांत बार बार प्रतिपादन किया हुआ प्रतित होता है। 'आनन्दमयोऽभ्यासात् '। (ब्र. सू०१-१-१२)मनुष्यके मनमें यह सिद्धान्त किस कारणपरम्परासे उद्भव हुआ ? विश्वमें प्रत्येक वस्तुके आदि, मध्य और समाप्तिमें होने वाले आनन्दका स्फुरण ऋषि की प्रतिभा को कैसे गोचर हुआ ? इतनी गहन परन्तु शुद्ध सुंदर परन्तु गंभीर भावना द्रष्टाके अन्तःकरणमें कैसे उदय हुई ? ऐसे प्रश्न तत्व जिज्ञासुके मनमें उत्पन्न होते हैं। ये प्रश्न मानसिक और नैतिक पद्धतिसे मुख्यतः छोडदेने योग्य हैं। प्रमाण या तर्क से आनन्दमय तत्व की परीक्षा करने की शक्ति प्रस्तुत लेखक में नहीं है। ' नैषा तर्केण मतिरापनेया। ' (कठो० १-२-९) तर्क से यह तत्व अगम्य है। शब्द इस विषयमें गूंगा है ! चंचल और बहिर्मुख मन की वहांतक पहोंच नाहीं !

उपनिषदोंमें विचारोंके स्फुरणकी दिशा।

प्रत्येक परिणत वैदिक विचार, शरीर, समाज, जीव, सृष्टि और विश्व के अनुभवोंसे उत्पन्न हुए हुए हैं। वैदिक प्रतिभा भूमिपर फैले हुए अनन्त विश्वके स्वभावके और उनके अन्तस्थ शक्तिके स्पष्टीकरण करनेका बराबर प्रयत्न कर रही है। वैदिक प्रतिभा अनन्तमें तन्मय होनेके लिये बराबर प्रयत्न करती रहती है। आर्ष प्रतिभा अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव सृष्टिमें एकत्वका शोध कर रही है। अनेकोंमें दिखने वाले विविध स्वभावोंमें एक भाव अथवा एक तत्व ढूंढकर अन्तमें वह कृतकृत्य हो रही है ! आर्ष विचार प्रथम अन्वयी पद्धतिसे उत्पन्न होता है और अन्तमें जहां जरूरत हो वहां व्यतिरेक पद्धति का अंगीकार कर वह समाप्त होता है। अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव ये तीन शब्द वैदिक वाङ्मयमें बार बार आते हैं। इनका अर्थ इस प्रकार है। अध्यात्म अर्थात् शरीर संबन्धी, अधिभूत अर्थात् जीव सृष्टि सम्बन्धी और अधिदैव अर्थात् सर्व विश्वसंबन्धी। अध्यात्ममें शरीर, मन, इन्द्रियां और विकार विचार इनका अन्तर्भाव होता है। शरीरमें, प्राणिसृष्टिमें और विश्वशक्तिमें समानता या समान कार्य जब ऋषिको दिखता है तब ऋषिकी प्रतिभाको समानतत्वका अनुभव होता है। इस पद्धतिका अनुसरण करते हुए उपनिषदोंमें विश्वके विश्वव्यापी मूलकारण प्राणात्मक, ज्योतिःस्वरूप, सत् और चित् है ऐसा प्रतिपादन किया हुआ है। आनन्द तत्वका स्पष्टीकरण करनेको सुलभ बनानेके लिए दिग्दर्शनार्थ प्राण, ज्योति, सत् और चित् इन तत्वोंका स्पष्टीकरण करते हैं।

प्राण।

शरीरमें सब अवयवोंको, सब इन्द्रियोंको और मनो व्यापार को जीवन देनेवाली, सामर्थ्य देनेवाली तथा उत्साह उत्पन्न करने वाली प्राण शक्ति दिखती है। प्राण शक्ति अर्थात् क्रिया शक्ति ऐसा श्रीमत् शंकराचार्यने उपनिषद् भाष्यमें माना है। भौतिक शास्त्रमें इसका पर्याय (Energy) शक्ति ऐसा है। शरीरमें प्रत्येक वस्तुका स्फुरण, जीवन, धारण प्राणोंसे होता है। रोज नया उत्साह, तेज तथा ओज प्राणके प्रभावसे उत्पन्न होता है। जीवसृष्टिमें औषधियोंमें और वनस्पतियोंमें प्रत्येक क्षणमें इस प्राण शक्तिका प्रभाव दृष्टि गोचर होता है। उषा, नया उम,

ता हुआ सूर्य, प्रभात, वनराजि, निर्मल जल, शुद्ध वायु, चंद्रिका, तारागण, शरद् ऋतु इत्यादियोंमें इस प्राण शक्ति की महिमा प्रत्यक्ष हो रही है। सब इन्द्रियों और मनके थक कर सोजानेपर प्राण शरीर में जागृत रहकर क्रियाको चालु रखता है। मनकी सर्व प्रकारकी गति इसी शक्तिके आधीन है। रथ चक्रकी नाभि (मध्य) में जैसे आरे स्थिर रहते हैं वैसे सब इन्द्रियां और मन प्राणके आश्रयसे रहते हैं। 'सर्वाणि ह इमानि भूतानि प्राणमेवाभि संविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते। (छां. उ. १-११-४) 'स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः। (कौ० उ० ३-८) 'एष लोकाधिपतिरेष लोकेशः'। (कौ० उ० ३-८) इत्यादि उपनिषद् वाक्योंमें सबसे श्रेष्ठ लोकोंका अधिपति और लोकेश ऐसा एक प्राण जगत्को व्याप्त कर रह रहा है ऐसा प्रतिपादन किया हुआ है। क्यों कि उपनिषदोंमें द्रष्टाको शरीरमें, प्राणिमात्रमें और विश्वमें उसी शक्तिका विलास दिखता है! 'प्राणो ह पिता माता प्राण आचार्यः'। (छां. उ० ९७-१५-१) ऐसा ब्राह्मी दृष्टिको दिखता है। 'अत एव प्राणः'। (ब्र. सू. १-१-२३) 'प्राणस्तथाऽनुगमात्'। (ब्र. सू. १—१—२८) इन ब्रह्म उपनिषद् वाक्योंका समन्वय कर प्राण अर्थात् परमात्मा ऐसा सिद्ध किया गया है।

ज्योति।

विश्वका मूल तत्व प्रकाश अथवा ज्योति है,ऐसा एक सिद्धान्त उपनिषदोंमें कहा हुआ है। यह विचार उपरोक्त कही गई पद्धति के अनुसारही ऋषिको स्फुरण हुआ। प्राणिमात्रके व्यवहार और वनस्पति के जीवन, सूर्य और चन्द्रमा के प्रकाशपर अवलम्बित हैं। मनुष्य के व्यवहार मनोरूप ज्योतिसे व्यवस्थित हुए हुए चलते हैं। रात्रि के समय घनघोर अन्धकार में करोडों ज्योति नभो-मण्डल में प्रकाशित होती हुए दिखती हैं। मन, चक्षु, सूर्य, चन्द्रमा, तारागण इत्यादियों के स्थान में प्रतीत होनेवाली ज्योति एक है। सूर्यके तेजसे जिस प्रकार सर्व रत्नोंका तेज चमकता है, उसी प्रकार इन सबमें एकही प्रकाश भरा हुआ है! ऐसी भावना ऋषिके मनमें उत्पन्न हुई हुई दिखती है। 'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमन्तः पुरुषे ज्योतिः'। (छां० उ० ३-१३-७) 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः'। (तै० ब्रा० ३-१२-९-७) 'मनो ज्योतिर्जुषताम्॥ (तै० ब्रा० १-६-३-३) 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति (कौ. उ. २-५-१५) 'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासते ऽमृतम्'। (बृ० उ० ४-४-१६) इत्यादि वाक्यों का निर्णय 'ज्योतिश्चरणाभिधानात्'। (ब्र० सू० १-१-२४), 'ज्योतिर्दर्शनात्' (ब्र. सू. १-३-४०) इन सूत्रों में किया हुआ है।

सत्।

सत् यह विश्वके सर्व स्वरूप को व्याप्त करके स्थित है। जगकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण सत् है, ऐसा विचार ऋषिके अन्तःकरण में उठा। विश्वके स्वरूप दर्शनमें ही ऋषिको 'सत्ता' का साक्षात्कार हुआ। प्रत्येक क्षणमें प्रत्येक विचार के अन्दर 'सत्ता' का अनुभव प्रत्येक को होता है। सब ज्ञानेन्द्रियां और मन प्रत्येक क्षणमें "सत्ता" को आलिङ्गन दे रहे हैं। अभाव तक की प्रतीतिभी भावरूप वस्तुकी अपेक्षा से होती है। प्रत्येक रूप नाममें सद्रूप वस्तुका उल्लेख होता है। यह चमत्कार प्रत्येक को प्रतिदिन विश्वास के लिए दिखाई देता है। प्रत्येक वस्तु सत् है यह जब दिखता है तब ऋषिकी विशाल प्रतिभा, विश्व एक सत्ताका आविर्भाव है ऐसी एकमेवाद्वितीय खोज करती है। सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छां० उ०६-२) एक शुद्ध अव्यक्त का ही यह बहुत विध व्यक्त अनन्त प्रपंच है। क्योंकि 'कथमसतः सज्जायेत'। (छां० उ० ६।२) 'असत्से सत् कैसे निर्माण होगा? यह सद्रूप ब्रह्मके विचार के उदयका ऐसा खुलासा उपनिषदोंसे मिलता है।

चित् या विज्ञान।

ज्ञानके बिना वस्तुकी सिद्धि नहीं होती। बाह्य जग और मनोविकार इनका ज्ञान हमारेमें होता है; परंतु उस ज्ञानके सिवाय उस ज्ञानके बाहिर उस

वस्तुके अस्तित्व के लिए क्या प्रमाण है ? सारांश यह है कि प्रमाण का अर्थ है ज्ञान। ज्ञान होता है अतः वस्तु है। ज्ञान को जो वस्तु नहीं छूती वह नहीं है ऐसा हम मानते हैं। सुख का ज्ञान होता है अतः सुखकी इतनी कीमत है! सारांशतः आकाशका गुम्मज, उसमें झाडफानुस की तरह लटके हुए तारागण, चक्रकी तरह गरगर शब्द करके घूमने वाले ग्रह, यह भूमण्डल, अनन्त सागर, ये सब इस विज्ञानका खेल है। ज्ञानसे बाहिर इन सबकी शून्य कीमत है। सब जीवोंके व्यापार, मानव व्यवहार, सब शास्त्र और वेद प्रज्ञामें स्थित हैं। 'एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्च महाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषी-त्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव बीजानीतराणि चेत-राणि चाण्डजानि च जारजानि च स्वेदजानि चोद्भि-ज्जानि चाश्वा गावः पुरुषा हस्तिनो यत्किं चेदं प्राणि जङ्गमं च पतति च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म'। (ऐ० उ० ३-३) इस वाक्यमें उपरोक्त विचार दर्शाया हुआ है।

आनन्द सिद्धान्तकी कारणभूत विचार परंपरा कहां मिलेगी ?

औपनिषद् विचार किस रीतिसे उत्पन्न होता है इस बातका दिग्दर्शन करनेके लिये प्राण, ज्योति, सत् और प्रज्ञान अथवा चित् इनका स्पष्टीकरण किया है। उपनिषदों में प्रदर्शित विचारों का भार-तीय दर्शनों अग्रस्थान है यह बात लक्ष्य में रखकर आनन्दमय परब्रह्मकी शोध के मूलमें विद्यमान वि-चारपरम्परा पर सूक्ष्म दृष्टीसे विचार करना भार-तीयों का परम कर्तव्य है। इसी सूक्ष्म विचार पर भारतीय समाजका अभ्युदय निर्भर है। सारे विश्व में आनन्द है और परमात्मा आनन्दरूप है यह वि-चार भारतीयों के सौभाग्यसे उन्हें प्राप्त है! इस वि-चार की मूल पीठिका कहां मिलेगी ? ऐसा प्रश्न उत्पन्न होता है। शंकराचार्य के ग्रन्थमें परमात्मा सच्चिदानन्दरूप है यह सिद्धान्त मेघगर्जनासे उप-दिष्ट है। पर उसका मूल, उसकी आधारभूत विचार-परम्परा शंकराचार्य के भाष्य में पता नहीं चलता। सारे विश्वमें आनन्दमय ब्रह्म व्याप्त है, ऐसा क्यों ? किस कारणसे ? इन प्रश्नोंके उत्तर ' शास्त्र ऐसा कहते हैं इसलिए ' ऐसे आचार्योंसे मिलेंगे। ' शास्त्र योनित्वात्। तत्तु समन्वयात्। (ब्र० सू० १।१।३-४) वेदरूप शास्त्र वाक् से वेदवाक्योंका समन्वय करो तो ब्रह्म आनन्दमय है यह ज्ञात होगा; ऐसा आचार्य कहते हैं। क्योंकि आचार्यों के सिद्धान्त के अनुसार प्रपंच अनर्थ से भरा हुआ है; प्रपंच दुःखमूल है; मृग के फंसवानेवाली मृगतृष्णिका है।

आनन्द मीमांसा की दृष्टिसे वाङ्मय का अवलोकन।

दार्शनिक विषयोंपर अनेक ग्रन्थ संस्कृत भाषामें बने हुए हैं। सैंकडों दार्शनिक सम्प्रदाय बने हुए हैं। भारतीय संस्कृति पर दार्शनिक विचारोंका बडा भारी प्रभाव पडा है। अतः दार्शनिक विचारों का अवलोकन जरूरी है। ' दर्शनानां दर्शनीयतमं ' हुए हुए सांख्य दर्शनमें प्रपंचके विषयमें विचित्र विचार मार्ग दिखाई देता है। सांख्यको सारा संसार दुःख त्रयसे पोषित दिखाता है।

आधिभौतिक, आधिदैविक और अध्यात्मिक ये तीन ही दुःखकी परिभाषायें सांख्य में लिखी हैं।

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततो भावात् ॥
सांख्यकारिका- १।

दुःखत्रय के आघातसे पीडित जीव के लिए तर-नेका एक ही उपाय है और वह तत्वज्ञान है। अन्य उपाय दुःखका पूर्ण प्रतिकार करने में समर्थ नहीं ऐसा इस कारिका का अभिप्राय है। सर्वत्र दुःख जिस दृष्टि से दिखाई दे रहा है उस दृष्टिसे सर्वव्या-पी आनन्द दृष्टि गोचर नहीं हो सकता।

न्याय दर्शनमें मोक्षशास्त्रके विचारणीय विषय १२ बताए गये हैं। उनमें दुःख प्रधान विषय है।

आत्मशरीरेन्द्रियार्थ बुद्धिमनः प्रेत्यभावफलदुः-खापवर्गास्तु प्रमेयम् ॥ न्या. सू. १-१-५। " आत्मा, शरीर,इन्द्रियां, उनके विषय, ज्ञान, मन, प्रवृत्ति, दोष, पुनर्जन्म, फल, दुःख और मोक्ष ऐसे मोक्ष शा-

सूत्रके १२ विषय होते हैं"। दुःख शब्दका अर्थ वात्स्यायनने इस प्रकार किया है—

सुखसाधनस्य दुःखानुषङ्गाद् दुःखेनाविप्रयोगाद्विविधबाधनायोगाद् दुःखमिति समाधिभावनमुपदिश्यते । न्या. भा. १। १। ९। संसारमें उपलब्ध होनेवाले सुखसाधन दुःखसे निरन्तर सम्बद्ध हैं। वे दुःख बराबर दुःख मिश्रित हैं। उन साधनों में विविध आफतें पडी हुई हैं इस लिए सब सुख साधन मूर्तिमन्त दुःख हैं ऐसा एकाग्रचित्तवाले को चिंतन करनेका उपदेश दुःख इस शब्दसे गौतमने किया है। " यथा मधुविषसम्पृक्तान्नमनादेयमित्येवं सुखं दुःखानुषक्तमनादेयमिति । - ऐहिक जगत् में सुखसाधन और ऐहिक सुख मधु और विष मिले हुए अन्न की तरह है। मोक्ष के लिए खटपट न करने वाले जीव कष्टदेनेवाला, पापमय, घोर संसारमें फंसेहुए हैं ऐसा वात्स्यायने न्याय भाष्यमें माना है। न्याय वार्तिकमें जगत्में २१ तरह का दुःख है ऐसे वर्णित है। "एकविंशति प्रभेदभिन्नं पुनर्दुःखं शरीरं,षडिन्द्रियाणि षड् विषयाः षड्बुद्धयः सुखं दुखं चेति । शरीरं दुःखायतत्वाद् दुःखम्। इन्द्रियाणि विषया बुद्धयश्च तत्साधनभावात् । सुखं दुःखानुषङ्गात् । दुःखं स्वरूपत इति। तस्य हानिर्धर्माधर्मसाधनपरित्यागेन अनुत्पन्नयोर्धर्माधर्मयोरनुत्पादेव उत्पन्नयोश्चोपभोगात् प्रक्षयेणेति । न्या० वा० १-१-१। तात्पर्य- शरीर, छः इद्रियां, उनके छः विषय, उन विषयोंकी छः संवेदना, सुख और दुःख मिलकर इक्कीस प्रकारका दुःख है। शरीरमें दुःख माननेका कारण शरीर दुःखोंका घर है। इन्द्रियां, विषय और विषयोंकी संवेदना ये दुःखके साधन होनेसे उन्हें भी दुःख ऐसा माना है। सुखतक दुःखसे व्याप्त होनेसे दुःख है और दुःख यह स्वयं दुःख है ही। इन २१ प्रकार के दुखोंका नाश धार्मिक और अधार्मिक कर्मोंके त्यागसे होता है। इन दुःखोंका कारण अविद्या तृष्णा है ऐसा अन्यत्र न्यायवार्तिकमें कहा हुआ है।

न्यायदर्शनके अनुसार वैशेषिक दर्शन की स्थिति है। वैशेषिक और न्याय दर्शनके अनुयायी एकही हैं। दोनों ही की जगत् विषयक विचार पद्धति समान ही है। सप्तपदार्थ, परमाणुवाद, आरंभवाद इत्यादि मुख्य सिद्धान्त दोनोंके एक ही हैं । अतः ये दोनों दर्शनोंका बननेके कुछ समय बाद एक दर्शनमें विश्वका विचार मुख्यतया आया है। और न्याय दर्शनमें प्रमाणोंकी विशेषतः तर्कोंकी अधिकतया छाननी की गई है। ज्ञान साधनका यह शास्त्र अधिकतया विचार करता है । वैशेषिक दर्शन परमाणुवादियोंकी ontalogy है और न्यायदर्शन Epistemology है। पर वैशेषिक सूत्रों में दुःख वादका उल्लेख मिलता नहीं है । क्योंकि यह दर्शन बुद्धकालसे पूर्व ही सूत्र रूपमें लिखा गया था। वस्तुतः षड् दर्शनोंमें विचार परंपरा बुद्धकाल के पूर्व से ही बराबर चली हुई है। बुद्धके बाद षड् दर्शनोंमें दुःखवाद ने प्रमुखता पाई। सांख्य शास्त्र की दृष्टिसे देखा जाए तो प्रपंच को दुःखमय माननेका कारण नहीं है। विश्व के द्वन्द्वमय होनेसे सुख दुःख के द्वन्द्व प्रपंचसे प्राप्त होंगे ही। सुख सत्वगुण के आधीन होनेके कारण समाजमें सात्विक आचरण अर्थात् नैतिक आचरण जितना जितना अधिक होगा उतना उतना सामाजिक दुःख कम होता जाएगा। दारिद्र्य, रोग,दुष्काल इत्यादियोंका समाज व्यवस्थाओंमें दोष ही प्रमुखतः कारण होता है। बहुसंख्यक प्रापंचिक आपत्तियों की समाज व्यवस्था जबाबदार है। सत्य गुण के उत्कर्ष से सुखों की झडी लग जाती है ऐसा सांख्यका सिद्धान्त है। न्याय-वैशेषिक दर्शनों की भी यही राय है। नैयायिक कट्टर जगत्सत्यवादी हैं। मायावाद अथवा बौद्धोंके क्षणिक वादका तो यह दर्शन स्पर्श भी सह नहीं सकता। सुखात्मक स्वतंत्र वृत्ति का परिगणन करने कारण दुःखको इतना महत्व देनेकी जरूरत न थी। जगत् में यदि दुःख के समान सुख मान लिया जाता तो फिर मोक्ष में कमी आने का कोई कारण नहीं था। योग दर्शन की भी उपरोक्त दिखायेके अनुसार गति है।

योग दर्शन में प्रपंच दुःखका वर्णन और सिद्धियों का साधकके लिए सविस्तर वर्णन किया गया है। 'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' योग सू.२।१५ "प्रपंचमें सर्व

सुख परिणाममें दुःखजनक हैं; उनके प्राप्त करने में अत्यन्त ताप होता है और उनका मनपर हुए हुए संस्कारोंसे पुनः पुनः वासना उत्पन्न होकर मनकी अस्वस्थता उत्पन्न होती है; अतः विवेकी पुरुषकी दृष्टिमें प्रापंचिक सुख मूर्तिमंत दुःख है। योगसूत्रोंके व्यास भाष्यमें प्रपंचके दुःखमय होनेका बार बार जिक्र किया गया है । 'विषयसुखं चाविद्या' । यो० सू० भा० २-१५ । सर्व विषय सुख केवल भ्रम या आभास हैं । 'विषयानुवासितो दुःखपङ्के निमग्न इति' । यो० भा० २-१५ । 'ऐहिक विषयोंकी इच्छा करनेवाला पुरुष दुःखों के कीचड में फंसा हुआ है' । 'दुःखबहुलः संसारो हेयः' । (यो. सू. भा. २-१५) दुःखपूर्ण यह संसार छोडा देना चाहिए ! अनित्य, अशुचि, दुःखात्मक और अनात्म स्वरूप यह संसार जीवको नित्य, शुचि, सुखस्वरूप और आत्म स्वरूप प्रतीत होता है ! शरीर जो वास्तवमें अत्यन्त बीभत्स है वह पवित्र है ऐसी कल्पना मनुष्य सर्वथा करता है । 'तथाशुचौ परमबीभत्से काये शुचिख्यातिः ।' उक्तं च—

स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निस्पन्दान्निधनादपि ।
कायमाधेयशौचत्वात् पंडिता ह्यशुचिं विदुः ॥
इति । यो. सू भा. २-५ ।

"यह शरीर घृणित स्थानसे उत्पन्न होता है; अपवित्रता का पिण्ड; अस्थि मांस और खून से बना हुआ;क्षण क्षण में पसीना आदि मलों का छोडने वाला है । इसे सर्वदा शुद्ध रखना पडता है अतः तज्ज्ञ लोक शरीर को अपवित्र मानते हैं ।" इस प्रकार की विचार सरणि शरीर और प्रपंचके विषयमें योगशास्त्रमें लिखी हुई है । पूर्व मीमांसा में केवल वेदवाक्यों कि अर्थ पद्धति ऊहापोह होनेसे प्रपंच के विषयमें कोईभी विचार दिया हुआ प्रतीत नहीं होता । ब्रह्म सूत्रभी इस विषयमें चूप हैं । क्यों कि उनमें उपनिषद् वाक्यों के समन्वयके सिवाय और कुछ नहीं है ।

ब्रह्ममीमांसाके भाष्यकार प्रपंचके विषयमें सांख्य योग के अनुसार अपना अभिप्राय प्रकट करते हैं । भगवान् पूज्यपाद शंकराचार्य तो जानबूझकर अंशतः बुद्ध मतानुवादी हैं । 'दुःखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्तयेत्' । इस माडूक्य कारिकापर उन्होंने इस प्रकार लिखा है-'सर्व द्वैतमाविद्या विजृंभितं दुःखमेव' । सर्व प्रपंच अविद्याके कारण होता हुआ दुःख रूप है । ऐतरेयोपनिषत् भाष्य में संसार सागर के वर्णन इस प्रकार किया हुआ है ।

'अग्न्यादयो देवता अस्मिन् संसारार्णवे अविद्याकामकर्मप्रभवं दुःखोदके तीव्ररोगजरामृत्यु-महाग्राहे अनादौ अनन्ते अपारे निरालम्बे विषयेन्द्रियजनितसुखलवक्षणविश्रामे पञ्चेन्द्रियार्थतृष्णामारुतविक्षोभोत्थितानर्थशतमहोर्मौ महारौरवाद्यनेकनिरयगतहाहेत्यादिकूजिताक्रोशनोद्भूतमहारवे सत्यार्जवदानदयाहिंसाशमदमधृत्याद्यात्मगुणपाथेयपूर्णज्ञानोडुपे सत्संगसर्वत्यागमार्गे मोक्षतीरे एतस्मिन्महत्यर्णवे पतितवत्यः' । ऐ. उ. शा. भा. २ । १ तात्पर्य- यह संसार बडाभारी सागर है; अविद्या, कामना और कर्म इससे उत्पन्न होनेवाले हैं। इसमें अगाध जल है। तीव्र रोग, जरा और मृत्यु ये इसमें भयंकर जलचर हैं । विषयेन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न होनेवाले क्षणिक सुख ही इसमें विश्रामके छोटे छोटे— स्थान हैं । विषय तृष्णा की महावायु से क्षोभ उत्पन्न होकर सैंकडों अनर्थसमूह उत्पन्न होते हैं। रौरव आदि नरकोंमें पतित दुःखित जीवकी आह इसकी गर्जना है। ज्ञान इसमें तैरनेके लिए नाव है, और सत्य, अहिंसा इत्यादि सद्गुण ये ही इस नौकामें हैं। सत्संगति और सर्व सन्यास इस नौकाके लिए मार्ग और मोक्ष हैं-तीर हैं !" गर्भवास, जन्म, जरा और मृत्यु से युक्त यह जीवन महान अनर्थ रूप है । यह अनर्थ अविद्यासे पैदा होता है अतः उसके नाशका साधन ब्रह्मविद्या शंकराचार्य ने बताया है । 'अस्यानर्थहेतोः प्रहाणायात्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते' । ब्र. सू० शां. भा. १-१-१ । मध्व रामानुज आदि ब्रह्ममीमांसा के भाष्यकारोंने प्रपंच दुःखमय है ऐसा यद्यपि शोर मचामचा कर नहीं कहा तथापि वे दुःखवाद की छापसे अपने आपको बचा नहीं सके हैं । मध्वाचार्य ने गीता भाष्यमें, गृहस्थाश्रम में अपवित्रता उत्पन्न करनेवाली क्रिया मनुष्यके हाथों से होती है अतः परमेश्वरको सन्यास अधिक प्रिय है ऐसा माना है । रामानु-

आचार्य मनुष्य, देव आदि योनिस्थ जीव तापत्रय से तप्त होता है अतः वह विष्णु की शरण में जाकर तापत्रयसे मुक्त होवे ऐसा मानते हैं।

संसारके दुःखों के भयङ्कर चित्रको पूर्ण रूपसे प्रथमतः भगवान् बुद्धने खींचा है। बौद्धदर्शनके चार मुख्य सिद्धान्त हैं। किंबहुना बौद्ध दर्शन की भी चतुःसूत्री ही है। 'दुःखं दुःखं, स्वलक्षणं स्वलक्षणं, क्षणिकं क्षणिकं, शून्यं शून्यं'। ये हैं वे चार सूत्र। जहां तहाँ दुःख पसरा हुआ है; सुख आभासमात्र है ऐसा प्रथम सूत्रका अभिप्राय है। संसारमें किन्हीं भी दो वस्तुओंमें सादृश्य या समानतत्व जैसा कुछ नहीं हैं ऐसा दूसरे सूत्रका आशय है। प्रत्येक वस्तु क्षणिक है अर्थात् क्षणभङ्गुर है, प्रकृति अथवा ब्रह्म असत्य है, परमाणु यदि हैं तो वे प्रतिक्षणमें नष्ट और नवीन उत्पन्न होते हैं, ऐसा तीसरे का मतलब है। मोक्ष अर्थात् सर्व शून्यावस्था। उसमें आत्मा, ज्ञान, सुख, दुःख,पाप किंवा पुण्य कुछ नहीं है। यही शून्यावस्था सब के लिए परम साध्य है। जीवरूपी दीपका बुझाना यही परम निर्वाण है! निर्वाण का अर्थ बुझाना ऐसा चौथे सूत्र का अर्थ है। इन चार सूत्रों के अर्थ बौद्धदर्शनोंमें चारों पंथ अपने अपने मतानुसार प्रसंग विशेषसे भिन्न भिन्न करते हैं। परन्तु ऊपर दिया गया अर्थ सामान्यतया सर्वमान्य है। यह जगत् और जीवित दुःखमय (दुःखं), शृङ्खलारहित— (स्वलक्षण) और क्षणभङ्गुर (क्षणिक) है; उसकी समाप्ति (शून्य) यह परम साध्य है। इस प्रकारका उपरोक्त चतुःसूत्री का तात्पर्य एक वाक्य में कहा जा सकता है। भगवान् बुद्ध के जीवन के कार्य 'दुःख को शोध और उस के नाशके साधनों की खोज" था ऐसा हम कह सकते हैं। भगवान् बुद्धका मुख्य आदेश क्या था यह हम उस के जीवन के महत्व के प्रसंगों पर विचार करके ठहरा सकते हैं। बोधि सत्त्वका जन्म उत्तम खानदानी घरानेमें हुआ था। सांसारिक सुख पर्याप्त मात्रा में प्राप्त थे। एक दिन बागमें रथमें सवार होकर जा रहे थे। मार्ग में एकाएक बुढापेसे पीडित, पलितकेश, दन्तहीन, कूब निकाले हुए एक बुड्ढा लाठी टेक टेक कर धीरे धीरे जाते हुए मिला। बोधिसत्वने उसे देखते ही अपने सारथि से कहा ऐसी अवस्था इस मनुष्य को क्यों प्राप्त हुई! सारथि कहने लगा प्रत्येक जन्मेहुए प्राणीको आयुष्य के अन्त में यह दशा प्राप्त होती है। यह सुन बोधिसत्व अत्यन्त खिन्न हुआ फिर एकवार बागमें जाते हुए उसे महारोगी मिला। तीसरी वार उसे प्रेत दिखा। और चौथीवार उसे संन्यासी मिला। जरा, मृत्यु और रोग यह प्रत्येक मनुष्य के पीछे समान रूपसे लगे हुए हैं, यह देख वास्तवमें जीवन असार है ऐसा बोधिसत्व के मनमें आया। ये बोधिसत्त्व के वैराग्य के चार कारण उसके चरित्रमें पाए जाते हैं 'चत्तारि पुब्बनिमित्तानि' ऐसा पालिभाषामें इससे कहा जाता है। इन चार कारणों से अन्तमें बोधिसत्वने घर को छोडा! इस प्रसंग का नाम 'महाभिनिष्क्रमण' ऐसा है।

'कामतण्हा भवतण्हा विभवतण्हा'। कामवासना, सांसारिकवासना, वैभवकी वासना ये मनुष्यको बडेभारी गढहे में धकेलते हैं। जन्मदुःखं, जरादुःखं, व्याधिदुःखं, मरणदुःखं, प्रियवियोगदुःखं, अप्रियसंयोगदुःखं इत्यादि अनेक दुःख जीवके पीछे लगे हुए हैं। संसारदावाग्निमें जीव पक्षी पडकर के भुनकर ही निकलता है। दुःख रूपी अग्निसे दशों दिशाएं प्रज्वलित हुई हुई हैं। महामोहरूपी कालसर्प दंशसे प्राणोंमें तृष्णा की लहर उठती है! ऐसा विचार बोधिसत्त्व के मनमें उत्पन्न हुआ और उससे वह उद्विग्न हो उठा! संसाररूपी महारोग की दिव्य औषधी प्राप्त करने के लिए उसने कितने वर्ष वनवास भोगा! अन्तमें उसे दिव्यज्ञान मिला! सात दिन तक सख्त उपवास करने के बाद बोधिवृक्ष के नीचे उसे सत्यज्ञान उपलब्ध हुआ। उसे साक्षात्कार हुआ। उसे ब्रह्मका साक्षात्कार हुआ नहीं, ईश्वर दिखा नहीं, और नहीं आत्मज्ञान ही प्राप्त हुआ। तो फिर कौनसा ज्ञान हुआ। दुःखकी जड उसे मिल गई और उसके शमन का उपाय भी मिला! उसे दुःख और दुःखनाश के कार्य कारण भाव का पता चल गया। उस कार्य कारणभाव के स्वामी को पालीभाषा में 'पटिच्चसमुप्पाद' और संस्कृत भाषामें 'प्रतीत्य समुत्पादः" ऐसा कहा

जाता है। प्रतीत्य समुत्पाद का अर्थ है कार्यकारण भाव। यह कार्यकारणभाव भगवान् शंकराचार्यको पूर्ण मान्य है। 'सर्वेषामप्ययमप्रत्याख्येयः' (ब्र.सू. शां. भा. २-२-१९) इस कार्यकारणभाव से कोई भी बच नहीं सकता। वह कार्य कारण परम्परा इस प्रकार है।- 'अविद्यासंस्कारः विज्ञानं नामरूपं षडायतनं स्पर्शो वेदना तृष्णा उपादानं भवो जातिःजरा मरणं शोकः परिदेवना दुःखं दुर्मनास्ता इत्येवं जातीयका इतरेतरहेतुकाः सौगते समये क्वचित्संक्षिप्ता निर्दिष्टाः क्वचित्प्रपञ्चिताः'। ब्र. सू. शां. भा. २-२-१९। भगवान् बुद्ध के मतसे दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग ये चार सत्य हैं। दुःख, दुःखकारण, दुःखनाश और दुःखनाशका मार्ग ऐसा हम दूसरे शब्दों में कह सकते हैं। इसको 'आर्य सत्यें' ऐसा कहा है। बौद्ध दर्शनमें दुःख पदके अर्थमें सारे विश्वका समावेश किया जाता है। इस विषय में अभिधर्म कोश में और उसकी टीका में कही गई बात का संक्षेप इस प्रकार है-"तत्र दुःखं रूपस्कन्धो वेदनास्कन्धः संज्ञास्कन्धः संस्कारस्कन्धो विज्ञानस्कन्धश्चेति। तत्रैकादशविधो रूपस्कन्धः चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं जिह्वा कायः रूपं शब्दो गन्धो रसः स्पर्शः अविज्ञप्तिश्चेति। अथवा इन्द्रियपञ्चकं विषयपञ्चकं भूतचतुष्टयं च। वेदनास्कन्धः सुखदुःखोपेक्षात्मकः। संज्ञास्कन्धः नीलत्वादिविषयकः सविकल्पप्रत्ययः। संस्कारस्कन्धः रागद्वेषमानमात्सर्यजातिजरा— मरणादिरूपः। विज्ञानस्कन्धश्च सर्वविषयज्ञानरूपः।"दुःखरूप हुआ हुआ यह प्रपंच एक बडा वृक्ष है जिसकी रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान ये उसकी बडी बडी शाखएं हैं। पांच शाखा ओं वाला यह दुःखरूप प्रपंच का वृक्ष है ऐसा भगवान् बुद्ध का अभिप्राय उसके उपदेशोंमें स्थान स्थान पर व्यक्त होता है। '

> फेन पिण्डोपमं रूपं वेदना बुद्बुदोपमा।
> मरीचिसदृशी संज्ञा संस्काराः कदलीनिभाः॥
> मायोपमं च विज्ञानमुक्तमादित्यबन्धुना॥

(माध्यमक वृत्तिः भाग १ पृ. ४१ रशियन प्रत)

तात्पर्य-इन्द्रियां,विषय और चार महाभूत इनकी रूप संज्ञा है। ये रूप केवल फेन सदृश हैं। सुख दुःखात्मक अनुकूल और प्रतिकूल वेदना बुद्बुदों के समान हैं। वस्तु विषयक होनेवाला धर्मधर्मि भाव की कल्पना यह मृगजल है। जन्म, जरा, मरण, राग, द्वेष, मान, मात्सर्य इत्यादि संस्कार केलेके थम्भे के अनुसार असार हैं और रूप रसादि विषयों का ज्ञान इन्द्रजालके सदृश असत्य है ऐसा भगवान् बुद्धने संयुक्त निकायमें (३-१४२)उपदेश किया है। भगवान् बुद्ध के तत्वज्ञान का और धर्म का वैदिक धर्म पर और संस्कृतिपर बडा भारी प्रभाव पडा है।

संस्कृति निर्माण करने वाले महा पुरुषों में बुद्ध की गणना की गई है। नैतिक धर्मकी (Ethical Religion)स्थापना प्रथमतः बुद्धने की है ऐसा जगत् में प्रसिद्ध है। ऐहिक विषय सर्प की शय्या के समान हैं। ऐसे उपदेश से विरक्ति पैदाकर प्रपंचका त्याग यही मोक्ष का उपाय है, इस विषय की स्थापना मुख्यतया बुद्धने की। दुःखवाद का वैराग्य से सम्बन्ध है और वैराग्य का अंशतः नीति से सम्बन्ध है, अतः अहिंसा, संतोष आदि नैतिक धर्मका उपदेश बुद्धने किया। और इसी दुःखवाद से ही बुद्धोत्तर कालीन बहुत से भारतीय वाङ्मय व्याप्त हैं। वस्तुतः नीति की उपपत्ति वैराग्यसे अथवा दुःखवादसे पूर्णतया सम्बन्ध नहीं रखती। पूर्ण नीति की स्थापना प्रपंचका तिरस्कार करनेसे नहीं हो सकती। सब मनुष्यों के पारस्परिक आचरण का सच्चा निर्णय नीति शास्त्रमें किया जाता है। मनुष्यमात्रके हितसे सम्बन्ध रखने वाले आचरण का नाम नीति है। अतः नीतिके सत्य स्वरूपको प्रकट करने का सामर्थ्य दुःख वादमें नहीं है। नीतिमें प्रवृत्ति का पूर्ण स्वरूप प्रकट होता है। किंबहुना प्रवृत्ति मार्ग का शुद्ध और परम विकासका नाम परम नीति है! दुःखवाद और प्रवृत्तिमार्ग का स्वाभाविक वैर है ! नीति में प्रवृत्ति का शुद्ध और सत्य स्वरूप प्रकट होता है। इसलिए दुःखवाद और नीतिस्थापना इन का पूर्ण संबन्ध होना संभव नहीं !

ऐहिक दुःख वादका नाम जैनदर्शनोंमें भी मिलता है। शरीर रूपी पींजरे में जीव रूपी तोता बन्द है। किसी तलाव के तलेमें विद्यमान कीचड में जैसे कोई सूखा हुआ कद्दू फंसा पडा हो ठीक वैसे ही इस

विश्वके प्रपंचके कीचडमें जीवात्मा फंसा हुआ पडा है। उसको इसमेंसे छुडाने के लिए ही जैनाचार्योंने धर्मोपदेश किया। शरीर हिंसाके विना रहता नहीं अतः वह पापमय है। प्रपंचमें व्यावहारिक प्रवृत्ति का मिथ्या प्रवृत्ति या आस्रव ऐसा जैन भाषा में नाम दिया हुआ है। शम दम आदि रूप आचरण की संवर और तप्तशिलारोहण, केशलुञ्चनादि प्रवृत्तिकी निर्जर संज्ञा है। तप्तशिलारोहण का अर्थ है खूब तपे हुए पत्थर पर खडा रहना और केशोलुञ्चन का अर्थ है कि चिमटे से अथवा हाथसे डाढीके बाल उखाडना। संवर और निर्जर आचरण से जीवपक्षी शरीरके पींजरेसे और पाप पुण्यके बन्धनसे मुक्त होकर आलोक आकाश में विहार करने लगता है। आलोकाकाश जैनमतानुसार सर्व जगके ऊपर विद्यमान मोक्षस्थान है। प्रपंचके सम्बन्धमें प्रत्येक जैनको ऊपरोक्त बात ध्यानमें रखनी चाहिए ऐसा कहा हुआ है—

(१) अनित्यभावना= अर्थात् इस जगत् में नित्य कुछ नहीं है ऐसा विचार।

(२) अशरणभावना = जगत् में हमारा कोई भी आसरा नहीं है ऐसा विचार।

(३) संसृति भावना = पूर्वके, हालके और उतरके जन्ममें दुःख ही अधिक है ऐसा विचार।

(४) एकत्वभावना= इस जगत् में हम अकेले ही हैं ऐसा विचार।

(५) अशुचिभावना = यह शरीर अपवित्र है ऐसा चिंतन।

बौद्धों और जैनों में दुःखवाद, अहिंसा, सन्यास, निरीश्वरवाद और वेदोंका अप्रामाण्य इनमें अत्यन्त साम्य है।

भारतीय वाणीपर दुःखवाद का कितना प्रभाव पडा है इस बात का विचार करने से गत तीन हजार वर्षोंके भारत के इतिहास का अर्थ खुलने में देर नहीं लगेगी ! आधी संस्कृतभाषा दर्शनों से व्याप्त है। दार्शनिक भाषामें प्रपंचकी पर्याप्त निन्दा की गई है। और इसका परिणाम प्राकृत भाषाके सारस्वतपर भी विना हुए रहा नहीं है।

शिक्षा का उद्देश।

शिक्षा विना मनुष्य का जीवन सफल नहीं होता। यदि ऐसी कोई वस्तु है जिससे मनुष्य का सब प्रकारसे उत्कर्ष हो सके, तो वह उचित शिक्षा के सिवा अन्य कोई नहीं। मनुष्य का मनुष्यत्व शिक्षा ही से प्रकट होता है और विशेष रूपसे विकसित होता है। उचित शिक्षा के अभाव से मनुष्य राक्षस बन जावेगा। परन्तु यदि मनुष्यको देवता बनाना हो तो उसे उचित शिक्षा से ही सहायता लेनी होगी। पूजनीय ऋषि बृहस्पतिजीने ऋग्वेद के ज्ञान सूक्तमें अशिक्षित मनुष्य का वर्णन किया है। उससे विदित होता है कि अपढ मनुष्य की स्थिति कैसी करुणास्पद होती है। वह सूक्त इस प्रकार है–

"उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्। उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः।"

ऋग्वेद मण्डल १० सू. ७१ मं. ४.

"(१)अपढ मनुष्य वाणी को देखते हुए भी वह उसके लिए न देखने समान ही रहती है, (२) दूसरा कोई अपढ मनुष्य वाणी को सुनते हुए भी वह उसके न सुनने के बराबर है, (३) किन्तु शिक्षित मनुष्यको विद्या वैसा ही आनन्द देती है जैसा पतिव्रता स्त्री अपने पतिको सुख देती है।"

अपढ मनुष्यके सामने कोई उत्तम ग्रन्थ हो, तो वह उस ग्रन्थ को आँखों से देखता है, किन्तु वह पढ न सकने के कारण, उससे कुछ भी लाभ नहीं उठा सकता। कोई उत्तम वक्ता जब उत्तम व्याख्यान

देता है, तब उसके शब्द शिक्षित मनुष्य भी सुनता है और अशिक्षित भी। परन्तु केवल शब्दोंके सुनने से कुछ लाभ नहीं हो सकता। इन शब्दों को सुनकर उनके भावों समझना, व्याख्यान शिक्षा को ग्रहण करना दूसरे मनुष्य के लिए असम्भव है क्यों कि यह शक्ति देनेवाली शिक्षा उसे नहीं मिली। सारांश अशिक्षित मनुष्य आँखों के रहते भी अन्धा और कानोंके रहते भी बहरा रहता है। इसी तरह उसे अन्य अवयव रहते भी उनके न रहने के समान उसकी दशा करुण होती है। इसीसे कहा है—

"अक्षण्वंतः कर्णवंतः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः॥"

ऋग्वेदमण्डल १०, सू. ७१ मं. ७

अर्थात् "यद्यपि यह बात सत्य है कि सभी मनुष्योंके आँखें और कान होते हैं, किन्तु केवल कुछ ही-अर्थात् शिक्षित मनुष्य ही, मनके वेगमें असाधारण रहते हैं।"

केवल आँखें, कान तथा अन्य अवयव रहने ही से कुछ भी लाभ नहीं होता। जब तक विद्या का संस्कार नहीं हुआ तब तक अन्य अवयवों सेमनको कोई लाभ नहीं पहुँच सकता। क्यों कि-

यदीं शृणोति अलकं शृणोति न हि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्॥

ऋ० १०।७१।६

"वह अशिक्षित मनुष्य जो कुछ सुनता है, वह उसका सुनना व्यर्थ है क्यों कि वह सुकृत का मार्ग ही नहीं समझता।"

अशिक्षित मनुष्य की दशा इस प्रकार शोचनीय रहती है। आंखोंसे देखते हुए और कानों से सुनते हुए उसे अपने कल्याण का मार्ग नहीं सूझता। इस लिए हरएक मनुष्यको आवश्यक है कि वह सुशिक्षा प्राप्त कर लें और अपनी भलाई का मार्ग पहिचान ले। उपरोक्त सूक्तमें यह भी बतलाया है कि सुशिक्षा प्राप्त विद्वान की योग्यता कैसी भारी रहती है।-

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत। अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥ ऋ. १०।७१।२

'जिस प्रकार छन्ने से छानकर आटा शुद्ध किया जाता है उसी तरह मनसे शुद्ध किया हुआ वचन विद्वान ज्ञानी पुरुष बोलता है। ये लोग ही हितकारक उपाय जानते हैं और इन्हीं के वचनों में कल्याण करनेवाली लक्ष्मी निवास करती है।'

ज्ञानी मनुष्य की ऐसी भारी योग्यता है। वह भले और बुरे की परीक्षा कर सकता है, भलाई का मार्ग निश्चित कर सकता है, लोगोंकी भलाईके उपाय वह काममें ला सकता है। सारांश यह कहने में कोई हानि नहीं कि उसके वचन में साक्षात् श्री लक्ष्मीका निवास है। ऋग्वेदने यह सिद्धान्त लोगोंको बतलाया है कि अच्छी शिक्षासे मनुष्य की सब प्रकार से उन्नत्ति होती है। अशिक्षित की उन्नति होना असम्भव है। इससे वैदिक धर्मका कथन है कि अच्छी शिक्षा प्राप्त करना मनुष्य का आद्य कर्तव्य है।

(१) शिक्षा से ग्रन्थों का सार विदित होता है, (२) उपदेश का भाव समझ में आता है, (३) सुकृत का मार्ग पहिचाना जाता है, (४) कर्तव्य तथा अकर्तव्य का निर्णय कर सकते हैं, (५) उन्नति का साधन करने वाले उपायों का निश्चित ज्ञान होता है और (६) शब्दों की कीमत बढती है अर्थात् विज्ञान जो शब्द कहे वे फजूल न होवें सारगर्भित होवें।

पाठकों को चाहिए कि वे अपने मन में विचार कर देखें कि ऋग्वेद के कथनानुसार क्या वर्तमान शिक्षा से लाभ होते हैं ?

(१) शिक्षा से ग्रन्थों का सार विदित होना चाहिए। यदि ऐसा न हुआ तो वह मनुष्य (पश्यन् अपि वाचं न ददर्श) आंखे रहते हुए भी अंधा ही है। वर्तमान समय में विद्यार्थि छः वर्ष की अवस्था में स्कूल में जाता है। करीब बीस, बाईस सालतक अतीव परिश्रम से पुस्तकें पढ कर परीक्षा उत्तीर्ण होता है। अब यह देखना है कि करीब दो तप विद्याध्ययन में बिताकर भी कितने विद्यार्थि ग्रन्थों का सार पहिचान ने की योग्यता प्राप्त करते हैं। अधिक तर यूरोपीय तत्त्व-ज्ञान के ग्रन्थ ही पढाए जाते हैं। किन्तु यूरोपीय ग्रन्थों में जो शेरनी का दूध है वह कितने लोग हजम कर सकते हैं ? स्वतन्त्र

विचार के इतने ग्रन्थों के रहते, दो तप तक उनका अध्ययन करने पर भी स्वतंत्र विचार के पुरुष क्यों नहीं उत्पन्न होते ? कहना पडता है कि पढे हुए ग्रन्थों का सार जैसे समझना चाहिए वैसे हम नहीं समझते । यूरप के साहित्य में जो स्वतन्त्र विचारोंका वायुमंडल है, और जो वहाँ राष्ट्रीय जीवन में पुष्टि करता है; वही वायुमण्डल हमारे देश में स्वतंत्रता उत्पन्न न कर ' गुलामी-मन ' क्यों कर उत्पन्न करता है ?

इससे स्पष्ट है कि हमारी वर्तमान शिक्षाप्रणाली में दोष हैं । हमारे देशी ग्रन्थों का अध्ययन देखें, तो उसमें भी नहीं दीखता कि हमारे तत्त्वज्ञान के ग्रन्थों का सार लोग समझे हों । अर्थात् वर्तमान शिक्षा पुस्तकीय ज्ञान की वृद्धि कर रही है, पर मन पर जो इष्ट संस्कार होने चाहिए वे नहीं होते । इसके विपरीत हमारे मन ऐसे बन रहे हैं कि उन पर पूर्वी तथा पाश्चात्य श्रेष्ठ तत्त्वज्ञान का असर ही न होने पावे ! श्रेष्ठ तत्त्वज्ञान के ग्रन्थों का अध्ययन करने पर भी मन के ' गुलामी विचारों ' का कलंक नहीं मिटता ! वर्तमान शिक्षा प्रणाली ऐसी है । सूज्ञों को चाहिए कि इस पर विचार करें ।

(२) ग्रन्थपठन के सम्बन्ध में जो बात कही है वही उपदेश श्रवण में भी सत्य प्रतीत होती है । बहुतेरे लोगों को व्याख्यान सुनने का शौक रहता है । परन्तु वे ऐसे ढीले भी होते हैं कि जो सदुपदेश वे सुन कर आए हैं उसे आचरण में नहीं लाते । स्वदेशी कपडे पर दिये हुए सुरुचिर व्याख्यान की तारीफ करते हुए विदेशी कपडा खरीदनेवाले श्रोता महाशयों की संख्या कम नहीं है । और और बातों का यही हाल है । आज पचीस वर्षों से देश में गर्जना हो रही है कि हमें राष्ट्रीय शिक्षा की आवश्यकता है, किन्तु किसी एक भी प्रान्त में सच्ची राष्ट्रीय शिक्षा का योग्य दिशामें आरम्भ नहीं हुआ । सब ओर एकसी शिथिलता है । यह माना कि यह शिथिलता शिक्षा से ही दूर होगी । पर वह दूर होगी, सुशिक्षासे । वर्तमान शिक्षासे वह कदापि दूर नहीं होगी । इस शिक्षासे उपरोक्त ग्रन्थ में लिखी (*शृण्वन्न शृणोति एनाम्*) ' सुनते हुए भी बहिरे पन की स्थिति बढ रही है । इस लिए सच्ची राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली का आरम्भ एकदम होना चाहिए ।

(३) शिक्षा का तीसरा फल है सुकृत का मार्ग जानना । पाठक गण, जरा विचारिये तो वर्तमान शिक्षा से हमारे युवक सुकृत का मार्ग जानने लगे हैं या उनकी हालत (न हि प्रवेद सुकृतस्य पंथाम्) ' सच्चे सुकृत का मार्ग नहीं जानते ' की हुई है । सच्ची सुशिक्षासे उन्नति का सच्चा मार्ग ज्ञात होना ही चाहिए । वर्तमान शिक्षा केवल ' बाबू ' बनाने की है । तब इस शिक्षा से शिक्षित मनुष्यों को भी सच्ची उन्नति का मार्ग कैसे ज्ञात होगा ? जो शिक्षा की संस्था बाबू बनाने के लिए खोली गई उसमें से स्वतन्त्रताके तेजस्वी वीर कैसे बनेंगे ? इस तीसरी कसौटी पर कसने से भी वर्तमान शिक्षा हीन ही सिद्ध होती है ।

(४) शिक्षा से कर्तव्य, अकर्तव्य समझना चाहिए । सुशिक्षितों के मन के छन्ने से छनकर कर्तव्य का आटा साफ होकर बाहर आना चाहिए, (सक्तुमिव तितउना पुनन्तः) तथा अकर्तव्य का भूसा अलग हो जाना चाहिए । किन्तु वर्तमान शिक्षितजनों को देखने से स्पष्टतया विदित होता है कि उनसे उपरोक्त बात नहीं बनती । यदि वे ऐसी छानबीन कर सकते तो आज जैसे व्यर्थ मतभेद उनमें न होते । हमारा यह मतलब नहीं कि मनुष्योंमें मतभेद होनेही नहीं चाहिए । हमारा कहना है कि वे मतभेद राष्ट्रीय उन्नति के पोषक हों । उन मतभेदों से प्रजा की शक्ति बढनी चाहिए । वर्तमान मत भेद राष्ट्रीयता की हानि करने वाले हैं इससे वे जनता के सहायक नहीं घातक हैं । इसीलिए शिक्षा सच्ची राष्ट्रीय दृष्टि से देनी चाहिए । केवल साक्षरता की वृद्धि करनेको शिक्षा नहीं कहते । शिक्षा का उद्देश है शील उच्च बनाना। भेदके रहते भी संगठनसे पोषक कार्य हो सकते हैं । वर्तमान शिक्षासे शील ही बिगड रहा है और इस ओर असावधानी बतलाने से अब न चलेगा ।

(५) शिक्षा से उन्नति के उपायों का निश्चित ज्ञान होना चाहिए । परन्तु वर्तमान शिक्षा से वह

नहीं होता। यही कारण है कि बहुत नेता अंधेरे में टटोलते हुए नजर आते हैं। राष्ट्रीय शिक्षा का पवित्र, साफ प्रकाश होनेपर टटोलने की आवश्यकता ही नहीं होती। वह राष्ट्रीय शिक्षा का प्रकाश हमारे देश में नहीं है। यहाँ तो 'कुली खाने' का अस्पष्ट भ्रान्ति उत्पन्न करनेवाला प्रकाश है। इसी लिए दो तप विद्याध्ययन में विताने पर भी यह डर रहता ही है कि 'अब क्या करूं, और कैसे करूं।'

(६) शिक्षा से शब्दों की शक्ति (वाचि लक्ष्मीः) वा शब्दों का प्रभाव बढना चाहिए। शिक्षित मनुष्य के कहे शब्द प्रत्यक्ष श्रीलक्ष्मीमय होने चाहिए। किन्तु आजकल के शिक्षित कितनाही रोवें उनके रोने की कोई कदर ही नहीं करता। ऐसे मूल्यहीन शब्द किस कामके !

सारांश सब ओर से विचार करनेपर यही सिद्ध होता है कि वर्तमान अराष्ट्रीय शिक्षा निस्संदेह हमारा न्हास कर रही है। हमारे पूज्य ऋषियों ने शिक्षा की परीक्षा के हेतु और भी कसौटियां बतलाई हैं। उन्हे भी अपन देख लें -

सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥

तैत्तिरिय आरण्यक ८।१।१

[अधीतं नौ सह अवतु, नौ सह भुनक्तु भोजयतु, सह वीर्यं करवावहै, नौ अधीतं तेजस्वि अस्तु, मा विद्विषावहै ।]

(१)अध्ययन किया हुआ ज्ञान हमारी रक्षा करें (२) वह ज्ञान हमें भोजन देवे, (३) उस ज्ञान के बलपर हम पराक्रम करते रहेंगे, (४) हमारा अध्ययन तेजस्वी रहे, और (५) अध्ययन किये हुए ज्ञान के कारण हममें द्वेष उत्पन्न न होवें।

आरण्यक के इस मन्त्र में बतलाया है कि शिक्षा का क्या फल होना चाहिए। यह मन्त्र उपनिषद में भी आया है। तब यदि हम कहें कि इस मन्त्र में बताए हुए फल उपनिषद को भी मंजूर हैं, तो हानि नहीं। शिक्षा से पांच लाभ होने चाहिए, या यों कहिए कि जिससे ये पांच लाभ होंगे वही शिक्षा है। शिक्षा से शिक्षार्थी को जो लाभ होना आवश्यक हैं वे इस प्रकार हैं:-

(१) शिक्षा प्राप्त होनेपर स्वसंरक्षण की शक्ति बढनी चाहिए।

(२) जीवन-निर्वाह या रोटी पानी की समस्या संतोषदायक रीति से हल होनी चाहिए।

(३) पराक्रम करने की हिम्मत बढनी चाहिए।

(४) तेजस्विता बढनी चाहिए। तथा

(५) आपस का द्वेष घट जाना चाहिए।

जिस शिक्षा से ये पांच बातें बनेंगी वह सच्ची शिक्षा है। इसी को 'राष्ट्रीय शिक्षा' कह सकते हैं। अब देखिए वर्तमान शिक्षा कैसी है:-

(१) वर्तमान शिक्षा से शिक्षित लोगों में आत्मरक्षा की शक्ति घटती जा रही है। जिस मात्रामें विद्या अधिक उसी मात्रा में आत्मरक्षा की शक्ति कम है।

(२) वर्तमान शिक्षा जीवन-निर्वाह का प्रश्न संतोषजनक रीति से हल नहीं करती। शिक्षा पूर्ण होनेपर युवक के सामने यह प्रश्न आता है कि 'जीवन निर्वाह के लिए अब मैं क्या करूं ?' और नोकरी के लिए अर्जी भेजने के सिवा दूसरा उपाय ही नहीं रहता। इस प्रकार पराधीन बनानेवाली शिक्षा कदापि राष्ट्रीय शिक्षा नहीं है।

(३) शिक्षासे पराक्रम करने की शक्ति बढनी चाहिए पर वर्तमान शिक्षासे वह घटती है। यह बात सब लोगों के अनुभव की है इससे इसके सम्बन्ध में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं।

(४) शिक्षा से तेजस्विता बढनी चाहिए। पर उसके बदले आज कल की शिक्षा से निस्तेजता अवश्य ही बढ रही है।

(५) शिक्षा के कारण आपस का द्वेष घटना चाहिए। पर आजकल की शिक्षा से आपसी द्वेष दिन ब दिन बढता जाता है। भिन्न भिन्न जातियों में लडाइयां हो रहीं हैं, बन्धुभाव घट रहा है, संघशक्ति का न्हास होकर एकता के स्थान में फूट हो रही है।

यह शिक्षा शुरु होने के पूर्व, इस देश के लोगों में आत्मरक्षा की शक्ति, जीवन निर्वाह के प्रश्न को हल करने की आदत, पराक्रम के लिए उत्साह

तेजस्विता तथा आपस की एकता कुछ भी तो थी। किन्तु ज्यों ज्यों यह शिक्षा बढती जा रही है त्यों त्यों सद्गुण का न्हास और दुर्गुण की वृद्धि हो रही है।

किसी भी काल का आप अनुभव लीजिए। आपको विदित हो जावेगा कि राष्ट्रीय शिक्षासे लोगों में तेजस्विता बढती है और अराष्ट्रीय शिक्षा से तेजस्विता का न्हास होता है। कोई कोई प्रश्न करेंगे कि 'राष्ट्रीय शिक्षा' क्या बला है? इतिहास, गणित, भूगोल ये ही विषय पढने होते हैं। उनमें 'राष्ट्रीय' क्या है और 'अराष्ट्रीय' क्या है? इस प्रश्न का उचित उत्तर देना सम्भव है, परन्तु यहाँ, स्थान के अभाव से, केवल तत्व का ही विवेचन करना निश्चय किया है।

भारतवर्ष का इतिहास राष्ट्रीय दृष्टिसे पढाना हो, तो उसमें श्री शिवाजी महाराज, राणा प्रतापसिंह आदि इतिहास प्रसिद्ध पुरुषों का हाल बताते समय, उनकी राजनीति का मर्म और उनका कार्य उचित रीतिसे समझाना होगा। साथ ही विद्यार्थियों के मन में यह बात दृढतासे जम जानी चाहिए कि ऐसे दिग्विजयी पुरुष हमारे देशमें हो सकते हैं। प्रचलित शालोपयोगी इतिहास देखिए। उसमें स्वदेशके वीरों की हँसी उडाई है और विदेशी वीरोंका गौरव किया है। इससे विद्यार्थियों के दिल में निराशा छा जाती है। वे समझने लगते हैं कि हम लोग प्रथम से ही बलहीन तथा तेजहीन हैं। जिस इतिहास से वीरता बढानी चाहिए उस इतिहास से वीरता की जड में कुठाराघात किया जा रहा है। इसीलिए इतिहास पढानेकी वर्तमान प्रणाली बिलकुल अराष्ट्रीय है।

भूगोल पढाते समय ध्यान देना होगा विद्यार्थियों में स्वदेश के स्थानों के प्रति आदर भाव उत्पन्न हो, स्वदेश के उद्यम तथा व्यवसाय के लिए जो वस्तुएँ उपयोगी हैं उनका ज्ञान हो, स्वदेश के पहाड नदियाँ आदि के विषयमें तथा भिन्न भिन्न नगरों के विषयमें आत्मीयता की वृद्धि होवे। किन्तु वर्तमान शिक्षा से तो अपने नाम भी हमलोग भूल रहे हैं। "गौरीशंकर" नाम भूलकर 'एवरेस्ट' नाम शिक्षित समाज के अधिक परिचय का हो रहा है। इसी प्रकार अन्य बातों को जानिए।

यह सच है कि राष्ट्रीय गणित पढाते समय दो और दो मिलकर पांच नहीं होते। किन्तु विद्यार्थियों को गणित के स्वदेश के आचार्योंका कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। इसके विपरीत विदेशी ग्रन्थ कर्ता लोग ही अधिक परिचय के हो जाते हैं।

इन सब बातों पर ध्यान देने से विदित होगा कि नवयुवक आजकल की शिक्षा के कारण अपने आप को किस प्रकार भूल रहे हैं। सच है कि कुछ शिक्षित महाशय ऐसी विपरीत परिस्थिति में भी अपने आप को न भूलकर जनता में स्वाभिमानकी वृद्धि कर रहे हैं। किन्तु यह उन पुरुषों का विशेष प्रशंसनीय गुण है। वह इस वर्तमान शिक्षाका परिणाम नहीं है। क्योंकि श्रेष्ठ पुरुषोंने प्रथम ही से स्पष्ट रीतिसे जाहिर कर दिया है कि यह आधुनिक शिक्षा बुरी, घातक एवं अराष्ट्रीय है।

महात्मा गांधीजी ने वर्तमान शिक्षा का बहिष्कार किया है। किन्तु आजकल के शिक्षितों ने इस बहिष्कार में उन्हे सहायता न की। इसका यही कारण है कि इस शिक्षा का जो परिणाम साधारणतः होता है उसी परिणाम से ये शिक्षित लोग ग्रस्त हैं। इसी लिए वे आधुनिक शिक्षा के घोर दुष्परिणामों को नहीं देख सकते।

हम अपने पाठकों के सन्मुख इस शिक्षा से होने वाले धार्मिक कुपरिणाम को विशेष रूपसे रखना चाहते हैं। इस शिक्षा से लोगों की धर्म की श्रद्धा घट रही है। ये विश्वास ही नहीं करते कि धर्म नामका हमारी भलाई का कोई सच्चा मार्ग है। हमारा धर्म सबमें श्रेष्ठ तथा अत्यन्त शास्त्रीय है। तिसपर भी आत्मीयता को नष्ट करनेवाली इस शिक्षा प्रणालिनें शिक्षितों को ऐसा चक्कर खिलाया है कि वे समझने लगे हैं कि यह धर्म हमारी प्रगति के मार्ग में प्रतिबन्ध करता है।

यह शिक्षा इसी लिए है कि ऐसे भाव उत्पन्न हों। तब उसका वैसा परिणाम हुआ इसमें आश्चर्य ही क्या? हमारा कर्तव्य इस समय यही है कि हम इस घातक लहर को रोक दें और शिक्षा की दिशा हमारे अनुकूल बना दें। इस ओर जितने प्रयत्न अब होंगे उतने ही आवश्यक हैं।

चिकित्सा सूत्र ।

(पं. अत्रिदेवजी गुप्त)

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः ।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥
याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः ।
सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद्भिषजां स्मृतम्॥
अत्रिः।

त्रिदोष वात पित्त कफमें विकार आनेका नाम रोग, आतंक, यक्ष्मा है। इनको अपनी वास्तविक स्थितिमें लाना ही चिकित्साका उद्देश्य एवं चिकित्सा है।

और इन दोषों का अपनी अवस्थामें आना स्वभाविक है अर्थात् हेतु (मिथ्याहार विहार से) के विषम होनेसे देहस्थ धातु रस रक्तादि विषम हो जाते हैं चूं कि वह उनसे बनते है। जिस प्रकार नीले सूत्रसे नीला ही कपडा बनता है, अतः हेतुके समान होनेसे देहधातु भी समान हो जावेंगे चूं कि अपने असले रूपमें आना ही धातवों का स्वभाव है। धातुवों के अपने नियत परिमाण में रहना ही आरोग्य है।

जायन्ते हेतुवैषम्याद्विषमा देहधातवः।
हेतुसाम्यात्समस्तेषां स्वभावो परमः सदा ॥
अत्रिः।

अन्तः कारण को हटा देना ही चिकित्सा है।

हेतुव्याधिविपर्यस्तविपर्यस्तार्थकारिणाम् ।
औषधान्नविहाराणामुपयोगः सुखावहः ॥

जिस प्रकार की एक गिरे हुए व्यक्तिको दूसरा व्यक्ति सहायता देकर खडा कर देता है उसी प्रकार औषधी भी रुग्ण पुरुष के लिये सहायक है। पुरुष स्वयं उठता है केवल दूसरे व्यक्ति की सहायतासे वह शीघ्र उठ जाता है, यही लाभ औषध का है। अतः किसीने कहा है, कि

पथ्ये सति गदार्तस्य किमौषधिनिषेवणैः ।
पथ्येऽसति गदार्तस्य किमौषधिनिषेवणैः ।

अर्थात् यदि रोगी पथ्य करे तो औषध का क्या प्रयोजन, और यदि पथ्य न करे तो उस के लिये संपूर्ण आयुर्वेद शास्त्र निष्फल है।

चिकित्सासूत्र ।

१-दोषाणां च द्रुमाणां च मूलेऽनुपहते सति ।
रोगाणां प्रसवानां च गतानामागतिर्ध्रुवा ॥
२- दोषाः कदाचित्कुप्यन्ति जिता लंघनपाचनैः ।
ये तु संशोधनैः शुद्धा न तेषां पुनरुद्भवः ॥
३ समैस्तु हेतुभिर्यस्माद्धातून्संजनयेत्समान् ।
चिकित्सा प्राभृतस्तस्माद्दाता देहसुखायुषाम् ॥
४ त्यागाद्विषमहेतूनां समानां चोपसेवनात् ।
विषमा नानुबध्नन्ति जायंते धातवः समाः ॥
५ पूर्वः पूर्वोऽतिवृद्धत्वात् वर्धयेद्धि परं परम् ।
तस्मादतिप्रवृद्धानां धातूनां ह्रासनं हितम् ॥
६ दोषा क्षीणा बृंहयितव्याः कुपिताः प्रशमयितव्याः वृद्धा निर्हर्तव्याः समाः परिपाल्याः इति सिद्धान्तः।

यही चिकित्सा दो प्रकार की है-

१ स्वस्थ पुरुष के ऊर्ज बलको बढाने की।
२ रोगी पुरुष के रोग को नष्ट करने की।

यही दो उद्देश्य धन्वन्तरिने चिकित्सा के बताये हैं, इसी बात को ध्यानमें रखनेका आदेश आत्रेय ने किया है।

" वत्स सुश्रुत ! इह खलु आयुर्वेदप्रयोजनं व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः स्वस्थस्य रक्षणं च । " धन्वन्तरिः ।

" शरीरधातूनां प्रकृतिभूतानां तु खलु वातादीनां परमारोग्यं, तस्मादेषां प्रकृति भावे । प्रयतितव्यं बुद्धिमद्भिः । " अत्रिः ।

इन्हीं दोनों उद्देश्यों के लिये संपूर्ण चिकित्साशास्त्र है—

शरीरं सर्वथा सर्वं सर्वदा वेद यो भिषक्।
आयुर्वेदं स कार्त्स्न्येन वेद लोकसुखप्रदमिति ॥

प्रथम उद्देश्य के लिये रसायन एवं वाजिकरण ऋषियोंने बनाये हैं ।

द्वितीय उद्देश्य के लिये काय, शल्य, शालाक्य, अगद आदि अंग है ।

उपरोक्त दोनों सिद्धि जिस उपाय से हो वही औषध है, वही चिकित्सा है ।

यही कारण है, कि कृष्णात्रेयने तीन प्रकार की औषध मानी है। अर्थात्—

१ दैवव्यापाश्रय- दैवाधीन- जैसे मणि मुक्तादि धारण, मन्त्र, होम, नियम, प्रायश्चित्त, उपवासादि हैं।

२ युक्तिव्यापाश्रय- जैसे शीतज्वरमें उष्णोपचार उष्ण ज्वरमें शीतोपचार ।

२ सत्वविजय- जैसे स्वप्नदोषकी चिकित्सामें मनको वश में करना । यक्ष्मा की चिकित्सामें रोगी को आशावादी रखना ।

अतः अब आप देख सकते हैं औषध दवाई, चिरायता, क्युनीन आदिका नाम ही नहीं अपि तु जिससे भी उपरोक्त दोनों उद्देश्य सिद्ध हो वही औषध है, वही चिकित्सा है, और चिकित्सा करने का उद्देश्य या अर्थ यही है कि विषम वातादि दोषों तथा रक्तादि धातुओं को सम किया जावे, बढे हुवे को घटाया जावे, घटे हुवों को बढाया जावे एवं जो सम हो उन की रक्षा की जावे ।

चिकित्सा या औषध (जो कि दोष को नष्ट करे) केवल रोग के अच्छा होनेमें सहायक है- रोग स्वयं अपने अपने अंदर से अच्छा होता है ।

जिस प्रकार की मेरे व्रण (Ulcer) को चिकित्सक अच्छा करनेके लिये कृमिघ्न (Antiseptic) औषध का ही प्रयोग करता है, व्रण स्वयं अन्दर से रोहण करता है । इसके लिये शक्तिवर्धक भोजन घृत दुग्धादि देता है एवं प्रकृति के साथ साथ चलता है ।

मैं अहिताचार करता हूं उससे मुझे अतिसार हो जाता है, अर्थात् प्रकृति चाहती है, कि अनावश्यक पदार्थ (विष Toxin) को शरीर से बाहर कर दे इसके लिये शरीरसे आगेसे अधिक मात्रामें पानी निकलता है, जिस से कि वह उस विषको बाहर कर दे । एवं क्षुधा नष्ट हो जाती है। जिससे कि शरीर चाहता है कि अन्य कार्यभार न पडे अतः क्षुधा नष्ट होती है।

अब विज्ञ चिकित्सक इस समय स्तम्भक(Astringent) औषध का प्रयोग नहीं करता अपि तु प्रकृति के साथ साथ चलता है अर्थात् वह प्रकृति की अतिसारकी क्रिया को मृदुविरेचक(Laccative) औषध एरण्डतैल उष्ण नमकीन पानी इत्यादिसे बढाता है जिससे कि विष बाहर निकल जाता है और रोग शान्त हो जाता है। एक व्यक्तिको यक्ष्मा(Pthysis) रोग होता है उसके लिये योग्य चिकित्सक निम्न आदेश देता है।

१ धूपमें ज्यादा रहा करो। खुली वायुका सेवन करो।
२ फास्फोरस, कैलसियम औषध का प्रयोग करो ।
३ जो खावे वह पच जावे, थोडा थोडा खावे ।
३ पूर्ण विश्राम करे । परिश्रमसे बचे ।

पाठकवृन्द ! यह मुख्य आदेश है-- आइये देखें कि प्रकृतिके साथ चिकित्सक चलता है या नहीं ।

१यक्ष्माका कृमि धूपसे आधे घण्टेमें नष्ट हो जाता है, जहाँ धूप नहीं जाती एवं बुरी वायुमें रहने वालों को यक्ष्मा होती है, अन्यों को नहीं ।

२ यक्ष्मा का कृमि फुप्फुसमें फास्फोरस,तथा केलसियमवाले तन्तुओं से घिर जाते हैं जहां कि ये बढ नहीं सकते, शरीरमें पौष्टिक पदार्थ अस्थि एवं मांस मज्जादि में फास्फोरस और कैलसियम का भाग अधिक है ।

(क्रमशः)

पाप-मोचन।

(२६)

(ऋषिः- मृगारः। देवता—द्यावापृथिवी।)

मन्वे वां द्यावापृथिवी सुभोजसौ सचेतसौ ये अप्रथेथाममिता योजनानि।
प्रतिष्ठे ह्यभवतं वसूनां ते नो मुञ्चतमंहसः॥ १॥
प्रतिष्ठे ह्यभवतं वसूनां प्रवृद्धे देवी सुभगे उरूची।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः॥ २॥
असन्तापे सुतपसौ हुवेऽहमुर्वी गम्भीरे कविभिर्नमस्ये।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः॥ ३॥

अर्थ—हे द्यावा पृथिवी! (सुभोजसौ सचेतसौ) तुम दोनों उत्तम भोग देनेवाले, और उत्तम ज्ञानवाले हो; (वां मन्वे) तुम दोनोंका मैं मनन करता हूं। (ये अमिता योजनानि अप्रथेथां) जो तुम दोनों अपरिमित योजनों की दूरीतक फैले हो, (हि वसूनां प्रतिष्ठे अभवतां) क्यों कि तुम दोनों निवास करनेवाले प्राणी आदिकोंको आधार देनेवाले होते हो (ते नः अंहसः मुञ्चतं) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ॥ १॥

तुम दोनों (प्रवृद्धे सुभगे उरूची देवी) बडे विशाल, उत्तम ऐश्वर्यसे युक्त विस्तृत देवियां (वसूनां प्रतिष्ठे हि अभवतं) निवास करनेवालोंको आश्रय देनेवाली हो। ये (द्यावापृथिवी मे स्योने भवतं) द्यावापृथिवी मेरे लिये सुखदायी हों और (ते नः अंहसः मुञ्चतं) वे दोनों हमें पापसे बचावें॥ २॥

(अहं) मैं (सुतपसौ असन्तापे) उत्तम तेजस्वी परंतु सन्ताप न देनेवाली (कविभिः नमस्ये उर्वी गभीरे) कवियोंद्वारा नमन करने योग्य बडी लंबी चौडी और बडी गंभीर द्यावा पृथिवी की (हुए) प्रार्थना करता हूं। ये (द्यावा०) मेरे लिये सुख देनेवाली हों और हमें पापसे बचावें॥ ३॥

ये अमृतं विभृथो ये हवींषि ये स्रोत्या बिभृथो ये मनुष्यान् ।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ ४ ॥
ये उस्रिया विभृथो ये वनस्पतीन्ययोर्वां विश्वा भुवनान्यन्तः ।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ ५ ॥
ये कीलालेन तर्पयथो ये घृतेन याभ्यामृते न किं चन शक्नुवन्ति ।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ ६ ॥
यन्मेदमभिशोचति येनयेन वा कृतं पौरुषेयान्न दैवात् ।
स्तौमि द्यावापृथिवी नाथितो जोहवीमि ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ ७ ॥

अर्थ- (ये अमृतं ये हवींषि विभृथः) जो तुम दोनों अमृतरूपी जल और अन्नका धारण करती हो (ये स्रोत्याः ये मनुष्यान् बिभृथः) जो नदी आदि प्रवाहोंको और जो मनुष्योंको धारण करती हो। वे तुम (द्यावा०) द्यावापृथिवी मेरे लिये सुख देनेवाली बनो और हमें पापसे बचाओ॥ ४ ॥ (ये उस्रियाः ये वनस्पतीन् बिभृथः) जो तुम दोनों गौओं और वनस्पतियोंका धारण पोषण करती हो; (ययोः वां अन्तः विश्वा भुवनानि) जिन तुम दोनोंके बीचमें सब भुवन हैं, वे (द्यावा०) तुम द्यावा पृथिवी मेरे लिये सुखदायक हों और वे हमें पापसे बचावें ॥ ५ ॥ (ये कीलालेन ये घृतेन तर्पयथः) जो तुम दोनों अन्न और पेयसे सबको तृप्त करते हो, (याभ्यां ऋते किंचन न शक्नुवन्ति) जिन तुम दोनोंके विना कोई भी कुछ भी कर नहीं सकते, वे तुम (द्यावा०) द्यावा पृथिवी मेरे लिये सुखदायी बनो और हमको पापसे बचाओ ॥ ६ ॥ (येन येन वा पौरुषेयेण कृतं) जिस किसी कारणसे पुरुष प्रयत्नसे किया हुआ, (न दैवात्) दैवकी प्रेरणासे किया हुआ नहीं, (यत् इदं मे अभिशोचति) जो यह मुझे शोकमें डालता है, उस कष्टको दूर करनेके लिये (द्यावा पृथिवी स्तौमि) द्यावा पृथिवी की मैं स्तुति करता हूं और(नाथितः जोहवीमि) मैं उनसे सनाथ होकर पुकारता हूं कि (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे दोनों हम सबको पापसे बचावें ॥ ७ ॥

द्यावा पृथिवी ।

यह सूक्त मृगार सूक्तोंमें पापमोचन विषयका चतुर्थ सूक्त है । और इसमें द्युलोक और पृथिवी लोक के योगसे पातक से मुक्त होनेकी आकांक्षा की है । पृथिवी लोक

वह है जिसके ऊपर हम रहते हैं और द्युलोक वह है जो तारोंसे युक्त आकाश है। अर्थात् यह सब ब्रह्मांड इन के बीचमें समाया है। कोई चीज इनसे बाहर नहीं है। जितनी सब शक्तियां हैं इनके बीचमें आगई हैं। इन सब शक्तियोंकी सहायतासे हमें अपना सुधार करके पापसे मुक्त होना है।

ये द्यावापृथिवी देवता (अमिता योजना। मं०१) अगणित योजन विस्तृत हैं। ये कितने विस्तृत हैं इस का गणित नहीं हो सकता। आकाश का विस्तार जाना नहीं जा सकता है और न गिना जाता है। संक्षेपसे कहना हो तो इतनाही कहा जा सकता है कि ये दोनों (प्रवृद्धे उरूची। मं०२; उर्वी, गंभीरे। मं.३) बडे विस्तृत महान गंभीर हैं अर्थात् बडे गहरे हैं। तथापि इनकी गहराईका किसीको पता नहीं लग सकता।

ये दोनों हरएक पदार्थ मात्रके लिये (प्रतिष्ठे) आधार देती हैं। इनकी शक्तियोंका विचार करनेसे (स-चेतसौ) मनमें एक प्रकारका स्फुरण होता है, इसलिये (कविभिः नमस्ये) कवि लोक इनके विषयमें बडा आदर धारण करते हैं। इनमें सूर्यादि तेजस्वी गोल (सु-तपसौ) उत्तम प्रकार प्रकाशित हो रहे हैं तथापि ये किसीको (अ-सन्तापे) सन्ताप नहीं देते, प्रत्युत संतप्त हृदय जब इनकी ओर दृष्टिक्षेप करता है तब उनके हृदयका दुःख दूर होता है और वहां शान्तिका राज्य होता है।

ये दोनों लोक (सु-भोजसौ) उत्तम भोजन देते हैं। (कीलालेन तर्पयतः) अन्नसे संतुष्ट करते हैं और जब तृषा लगती है तब भी (घृतेन) जलसे शान्ति देते हैं। क्यों कि इनके अंदर (अमृतं हवींषि बिभ्रतः) जल और अन्न रहता है। इनके अंदर (उस्रियाः) गौवें हैं जो उत्तम दूध देती हैं, तथा उत्तम वनस्पतियां हैं जो उत्तम रस देती हैं। इस कारण इन दोनोंसे सबका पालन पोषण होता है। मनुष्योंको जिस समय शोक होता है उस समय मनुष्य पृथ्वी या आकाशके उत्तम दृश्य देखें और उनमें दिव्यताका अनुभव करें। इससे उनका शोक पूर्णतया दूर हो सकता है। द्युलोक पिता है और पृथ्वी माता है। मानो, यह दोनों मिलकर एक गृहस्थीका परिवार है। देखो, ये कैसे अपनी सब शक्तियोंसे परोपकार कर रहे हैं। ये अपने तेजसे हमें मार्ग बताते हैं, अन्नसे हमारी तृप्ति करते हैं, जलसे हमारी शान्ति बढाते हैं और अन्यान्य रीतिसे हमारी सहायता करते हैं। इसी प्रकार हम अपनी शक्तियोंका परोपकारार्थ व्यय करना चाहिये, हमें अपने अन्तःकरण इनके समान विस्तृत और उदार बनाना चाहिये। अपना जीवन जनताकी भलाईके लिये समर्पण करना चाहिये। और सब जगत्को एक परिवार मानकर सब के साथ इनके सदृश समान व्यवहार करना चाहिये। यह है पापमोचन का मार्ग।

*

(२७)

(ऋषिः— मृगारः । देवता-मरुतः ।)

मरुतां मन्वे अधि मे ब्रुवन्तु प्रेमं वाजं वाजसाते अवन्तु ।
आशूनिव सुयमानह्व ऊतये ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १ ॥
उत्समक्षितं व्यचन्ति ये सदा य आसिञ्चन्ति रसमोषधीषु ।
पुरो दधे मरुतः पृश्निमातॄंस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ २ ॥
पयो धेनूनां रसमोषधीनां जवमर्वतां कवयो य इन्वथ ।
शग्मा भवन्तु मरुतो नः स्योनास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ३ ॥
अपः समुद्राद्दिवमुद्वहन्ति दिवस्पृथिवीमभि ये सृजन्ति ।
ये अद्भिरीशाना मरुतश्चरन्ति ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ४ ॥

अर्थ- (मरुतां मन्वे) मरुतों का मैं मनन करता हूं कि वे (मे अधि ब्रुवन्तु) मुझे उपदेश दें और वे (इमं वाजं वाजसाते अवन्तु) इस अन्न की अन्नदान के प्रसंग में रक्षा करें। (सुयमान् आशून् इव) उत्तम नियमोंसे चलनेवाले घोडोंके समान इनको (ऊतये अह्वे) रक्षाके लिये मैं बुलाता हूं। (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हमको पाप से बचावें ॥१॥

(ये सदा अक्षितं उत्सं व्यचन्ति) जो सदा अक्षय जलप्रवाहको फैलाते हैं (ये ओषधीषु रसं आसिञ्चन्ति) जो औषधियोंमें रस सींचते हैं इस प्रकारके (पृश्निमातॄः मरुतः पुरः दधे) अन्तरिक्षरूप मातासे उत्पन्न मरुतों को मैं अपने सन्मुख रखता हूं, वे हमको पापसे बचावें ॥ २ ॥

(धेनूनां पयः) गौओंके दूधको (ओषधीनां रसं) औषधीयोंके रसको, (अर्वतां जवं) और घोडोंके वेगको (ये कवयः इन्वथ) जो तुम कवि होकर प्राप्त करते हो, वे (मरुतः नः शग्माः स्योनाः भवन्तु) मरुद्गण हमें शक्ति देने और सुख देनेवाले होवें और हमें पापसे बचावें ॥ ३ ॥

(ये समुद्रात आपः दिवं उद्वहन्ति) जो समुद्रसे जल को द्युलोक तक पहुंचाते हैं और जो (दिवः पृथिवीं अभि सृजन्ति) द्युलोकसे पृथ्वीपर पुनः छोडते हैं (ये ईशानाः मरुतः अद्भिः चरन्ति) जो समर्थ मरुत् जलों के साथ विचरते हैं वे हमें पापसे बचावें ॥ ४ ॥

ये कीलालेन तर्पयन्ति ये घृतेन ये वा वयो मेदसा संसृजन्ति ।
ये अद्भिरीशाना मरुतो वर्षयन्ति ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ५ ॥
यदीदिदं मरुतो मारुतेन यदि देवा दैव्येनेदृगार ।
यूयमीशिध्वे वसवस्तस्य निष्कृतेस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ६ ॥
तिग्ममनीकं विदितं सहस्वन्मारुतं शर्धः पृतनासूग्रम् ।
स्तौमि मरुतो नाथितो जोहवीमि ते नो मुञ्चन्त्वंहस ॥ ७ ॥

अर्थ- (ये कीलालेन ये घृतेन तर्पयन्ति) जो अन्न और पेयसे सबकी तृप्ति करते हैं (ये वा वयः मेदसा संसृजन्ति) और जो अन्नको पुष्टिकारक पदार्थ के साथ उत्पन्न करते हैं, (ये ईशानाः मरुतः अद्भिः वर्षयन्ति) जो समर्थ मरुत् जलोंसे वृष्टि करते हैं, वे हमें पापसे बचावें ॥ ५ ॥

हे (देवाः मरुतः) दिव्य मरुतो ! (यदि इदं मारुतेन) यदि यह जगत् वायुसे युक्त हुआ, (यदि दैव्येन ईदृक् आर) और यदि दिव्य शक्तिसे युक्त हुआ, तो हे (वसवः) निवासको ! (तस्य निष्कृतेः यूयं ईशिध्वे) उस के उद्धारके लिये तुम ही समर्थ हो, वे तुम हमें पापसे बचाओ ॥ ६ ॥

(मारुतं अनीकं शर्धः) मरुतों का सैनिक बल (पृतनासु तिग्मं) सेनाओं में तीक्ष्ण और (सहस्वत् उग्रं विदितं) बलयुक्त प्रचण्डशक्तिवाला सबको विदित है । इस लिये मैं (मरुतः स्तौमि) मरुतोंकी प्रशंसा करता हूं और (नाथितः जोहवीमि) उनसे सनाथ होकर उनको बुलाता हूं कि वे हमें पापसे बचावें ॥ ७ ॥

मरुत् देवता ।

मरुत् नाम विश्वमें वायुका है, देहमें प्राण भी मरुत् कहलाता है। इसका नाम मरुत् इसलिये है कि यह (मर्+उत्) मरनेवालोंको ऊपर उठाता है। शरीर मरनेवाला है उसको उठाकर खडा करनेवाला प्राणवायु ही है मरनेवालेको उठाने का चमत्कार प्राणही करता है, किसी अन्यमें यह शक्ति नहीं है । जैसे पशुओंमें घोडे वेगवान् होते हैं उसी प्रकार देवोंमें वायु वेगवान् है । इनके कारण ही सब प्रकारका (वाजं) बल, अन्न, जीवन आदि यथायोग्य रीतिसे अपने अपने स्थानमें रहता है । वायु न केवल मनुष्योंका प्राण है परंतु औषधि वनस्पतियोंमें भी वही जीवनका संचार करता है, और वनस्पतियोंसे जो

उत्तमोत्तम रस प्राप्त होता है वह सब इसी प्राण का कार्य है । वनस्पतियोंमें पौष्टिक रस, गौओंमें अमृतके समान दूध, आकाशमें मेघोंमें निर्दोष जल रखनेवाला यह विश्वव्यापक प्राणही है ।

यह विश्व प्राणही समुद्रसे जलको ऊपर लेजाता है, वहां उसके मेघ बनते हैं और वृष्टि द्वारा फिर शुद्ध जल हमें प्राप्त होता है यह इसीका चमत्कार है । पृथ्वीके ऊपरके सब अन्न और पेय इसीके कारण मिलते हैं, हरएक अन्नपानमें जो पौष्टिक सत्वांश है वह इसीकारण है । यह जीवन देनेवाली प्राण शक्ति वायुमें है, इसीलिये वायुको सबका निवासक कहा है ।

जो वीरोंमें तेज बल सामर्थ्य और वीर्य है वह सब इसी के कारण है; यह मरुतोंका और प्राणोंका कार्य सबको देखना चाहिये । देखनेसे पता लगेगा कि पापसे बचनेका उपदेश मरुत् किस ढंगसे दे रहे हैं ।

जगत्में देखिये अन्य सब देव अस्तको जाते हैं, परंतु वायुरूपी प्राण सदा समरस रहकर सबको जीवन देता है। इसी प्रकार शरीरमें सब अन्य इंद्रिय तथा अवयव अन्नका भोग लेते हैं और कार्य करनेसे थक भी जाते हैं और विश्राम भी लेते हैं । परंतु प्राण ही ऐसा एक है कि जो स्वयं भोग नहीं लेता, न विश्राम चाहता है और न कभी थक जाता है । निःस्वार्थ सेवा करनेका उपदेश इससे प्राप्त होता है। जो जनताकी निःस्वार्थ सेवा करेंगे वे निष्पाप बन जांयगे ।

वेदमें 'मरुत्' देवता द्वारा वीरोंका वर्णन होता है। मरते हैं और फिर ऊपर उठते हैं यह अर्थ इस (मर्+उत्) शब्दमें ऋषि देखते हैं । शरीरमें देखिये प्राण शरीरमें जाता है, वहांका कार्य करता है, अर्थात् शरीरके लिये स्वयं मर जाता है, और फिर उठता है यह भाव यहां प्रत्यक्ष है । प्रतिक्षणमें शरीरके लिये प्राण मरता है, इसीलिये शरीर जीवित रहता है । प्राणका परोपकार शरीरपर होता है, इसी लिये शरीर जीवित रहता है । अर्थात् इस प्राणके यज्ञसे शरीरकी स्थिति होती है । अपने सब समाज अर्थात् राष्ट्रमें भी यही होना चाहिये । राष्ट्रकी भलाईके लिये जब अनेक वीर आत्मसमर्पण रूप यज्ञ करते हैं तब राष्ट्र यशस्वी होता है । जब स्वार्थी लंपट मनुष्य राष्ट्रमें अधिक संख्यामें होते हैं तब वह राष्ट्र गिर जाता है; मनुष्य इसी आत्मसमर्पणसे निष्पाप बनता है यह बोध यहां मिलता है ।

(२८)

(ऋषिः- मृगारः । देवता -- भवाशर्वौ)

भवाशर्वौ मन्वे वां तस्य वित्तं ययोर्वामिदं प्रदिशि यद्विरोचते ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ १ ॥

ययोरभ्यध्व उत यद्दूरे चिद्यौ विदिताविषुभृतामसिष्ठौ ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ २ ॥

सहस्राक्षौ वृत्रहणा हुवेऽहं दूरेगव्यूती स्तुवन्नेम्युग्रौ ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ३ ॥

अर्थ-हे (भव-शर्वौ) जगत् उत्पन्न करनेवाले और जगत् का लय करने वाले ! (वां मन्वे) तुम दोनोंका मनन करता हूं । (तस्य वित्तं) उसको तुम दोनों जानते हो । (यत् इदं प्रदिशि विरोचते) जो यह दिशाओंमें चमकता है वह सब (ययोः वां) जिन तुम दोनोंकाही है (अस्य द्विपदः यौ ईशाथे) इस द्विपाद जगत्के जो तुम दोनों स्वामी हो, (यौ चतुष्पदः) जो चार पांव वालोंके भी स्वामी हो (तौ नः अंहसः मुञ्चतं) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ १ ॥

(ययोः अभ्यध्वे उत यत् दूरे) जिन तुम दोनोंके समीप यह सब है और जो दूर भी है और (यौ चित् इषुभृतां असिष्ठौ विदितौ) जो निश्चयसे बाण धारण करनेवालोंके बाण फेंकनेके समय तुम दोनों जाने जाते हो, जो तुम दोनों द्विपाद और चतुष्पादों के स्वामी हो, वे दोनों तुम हमें पाप से बचाओ ॥ २ ॥

(सहस्राक्षौ शत्रुहणौ) तुम दोनों हजारों आंखवाले और शत्रुविनाशक हो (दूरे-गव्यूती उग्रौ) तथा दूरतक गमन करने वाले उग्र हो, तुम दोनोंको (अहं हुवे स्तुवन् एमि) मैं पुकारता हूं और स्तुति करता हुआ प्राप्त होता हूं । जो तुम दोनों द्विपाद और चतुष्पादों के स्वामी हो, वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ३ ॥

यावा॒रेभा॑थे ब॒हु सा॒कमग्रे॒ प्र चेद॑स्त्राष्ट्र॒मभि॒भां जने॑षु ।
याव॒स्येशा॑थे द्वि॒पदो॒ यौ चतु॑ष्पद॒स्तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः ॥ ४ ॥

ययो॑र्व॒धान्नाप॒पद्य॑ते॒ कश्च॒नान्तर्दे॒वेषू॒त मानु॑षेषु ।
याव॒स्येशा॑थे द्वि॒पदो॒ यौ चतु॑ष्पद॒स्तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः ॥ ५ ॥

यः कृ॒त्या॒कृन्मू॒ल॒कृद्या॑तु॒धा॒नो॒ नि तस्मि॑न्धत्तं॒ वज्र॑मुग्रौ ।
याव॒स्येशा॑थे द्वि॒पदो॒ यौ चतु॑ष्पद॒स्तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः ॥ ६ ॥

अधि॑ नो ब्रूतं॒ पृत॑नासूग्रौ॒ सं वज्रे॑ण सृजतं॒ यः कि॑मी॒दी ।
स्तौमि॑ भवाश॒र्वौ ना॑थि॒तो जो॑हवीमि॒ तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः ॥ ७ ॥

अर्थ-(अग्रे यौ साकं बहु आरेभाथे) पहिले जो तुम दोनोंने मिल जुल कर बहुत कार्य आरंभ किये और (जनेषु च आभिभां इत् प्र अस्राष्ट्रम्) लोकों में तेजको उत्पन्न किया। जो तुम दोनों द्विपाद और चतुष्पाद के स्वामी हो वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ४ ॥

(ययोः वधात) जिनके वध करनेकी सामर्थ्यसे (देवेषु उत मानुषेषु अन्तः) देवों और मनुष्योंके अन्दर (कश्चन न अप-पद्यते) कोई भी नही बच सकता, और जो द्विपाद और चतुष्पादों के स्वामी हो, वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ५ ॥

(यः कृत्याकृत) जो हिंसा करनेवाला (यः यातुधानः मूल-कृत्) जो यातना बढानेवाला मूलको काटनेवाला हो (तस्मिन्, उग्रौ, वज्रं निधत्तं) उसपर, हे उग्रवीरो ! अपना वज्र गिराओ। जो ऐसे तुम दोनों द्विपादों और चतुष्पादों के स्वामी हो, वे हमको पापसे बचाओ ॥ ६ ॥

हे (उग्रौ) उग्रस्वभाव वालो ! (नः पृतनासु अधिब्रूतं) हमसे समूहों में, सेनाओं में योग्य उपदेश करो ! (यः किमीदी) जो स्वार्थी हो उस पर वज्रेण संसृजतं) वज्रप्रहार करो। इसलिये मैं (भवाशर्वौ) भव और शर्वकी (स्तौमि) स्तुति करता हूं। और (नाथितः जोहवीमि) उनसे सनाथ होकर उनको पुकारता हूं कि (तौ नः अंहसः मुञ्चतं) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ७ ॥

भव और शर्व ।

ये दो शक्तियां हैं, एक ' भव ' अर्थात् बढानेवाली वर्धक शक्ति है और दूसरी ' शर्व ' अर्थात् घातक शक्ति है । इस सब जगत् में ये दो शक्तियां कार्य कर रही हैं । एक से वृद्धि हो रही है और दूसरीसे नाश हो रहा है । बालक में विनाशक शक्तिका जोर कम रहता है और वर्धक शक्तिका अधिक रहता है, इस कारण बालक बढता है । वृद्ध में यह बात उलटी होजाती है इसकारण वृद्ध क्षीण होता है । जगत् में इन दोनों परमात्मशक्तियोंका कार्य किस प्रकार चल रहा है यह बात इस सूक्त में अच्छी प्रकार बतायी है । मनुष्य में भी ये दोनों शक्तियां हैं । जो मनुष्य पापसे बचना चाहता है उस को उचित है कि वह इन शक्तियोंका ऐसा उपयोग करे कि जगत् में उससे घात-पात न बढे, परंतु शान्ति और सुख बढे । इस प्रकार करनेसे मनुष्य पापसे बच सकता है ।

मनुष्यमें 'भव' शक्ति है जिससे वह नाना प्रकारके सुखोपभोगके और दूसरे पदार्थ उत्पन्न करता है और मनुष्यमें दूसरी 'शर्व' शक्ति भी है, जिससे वह तोडमरोड कर विघातक कार्य भी करता है । जो मनुष्य पापसे बचना चाहता है, उसको उचित है कि वह अपनी भवशक्तिका उपयोग लोककल्याणके सत्कार्योंमें करे । अर्थात् जनताका जिससे हित होगा ऐसे शुभ कार्य करनेमें उक्त शक्तिका उपयोग करे । उसके पास दूसरी शर्वशक्ति है, इससे घात पात किया जा सकता है यह बात सत्य है; परंतु इसका भी उपयोग जनताकी भलाईके लिये किया जा सकता है । जो मानवोंकी उन्नतिका विघात करनेवाले दुष्ट हों उनको दूर करनेके कार्यमें इस शक्तिका उपयोग करनेसे यह विघातक शक्ति भी परोपकार करनेवाली बन सकती है । इस प्रकार इस शक्तिका भी उपयोग जब परोपकारमें होगा तब मनुष्यकी दोनों शक्तियोंसे परोपकार होनेके कारण इसका संपूर्ण जीवन यज्ञमय होगा और इसके पाप नष्ट होंगे और यह पुण्यात्मा बनता जायगा । यह उपाय आत्मशुद्धिके लिये आवश्यक है जो इस सूक्त द्वारा सूचित किया है । इस लिये पाठक इन शक्तियोंको अपने अंदर देखें और उनसे उक्त प्रकार व्यवहार करके अपने आपको पापसे बचावें ।

(२९)

(ऋषिः— मृगारः । देवता—मित्रावरुणौ)

मन्वे वां मित्रावरुणावृतावृधौ सचेतसौ द्रुह्वणो यौ नुदेथे ।
प्र सत्यावानमवथो भरेषु तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ १ ॥
सचेतसौ द्रुह्वणो यौ नुदेथे प्र सत्यावानमवथो भरेषु ।
यौ गच्छथो नृचक्षसौ बभ्रुणा सुतं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ २ ॥
यावङ्गिरसमवथो यावगस्तिं मित्रावरुणा जमदग्निमत्रिम् ।
यौ कश्यपमवथो यौ वसिष्ठं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ३ ॥
यौ श्यावाश्वमवथो वध्र्यश्वं मित्रावरुणा पुरुमीढमत्रिम् ।
यौ विमदमवथः सप्तवध्रिं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ४ ॥

अर्थ—हे (मित्रा-वरुणौ) मित्र और वरुण ! (वां मन्वे) मैं आप दोनोंका मनन करता हूं, आप दोनों (ऋतावृधौ सचेतसौ) सत्यको बढाने वाले और स्फूर्ति देनेवाले हैं,(यौ द्रुह्वणः नुदेथे) जो तुम दोनों द्रोहकारियोंको हटा देते हो। (भरेषु सत्यावानं प्र अवथः) स्पर्धाओं में सत्य पालन करनेवालेकी उत्तम रक्षा करते हो। (तौ नः अंहसः मुञ्चतं) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ १ ॥

(यौ भरेषु सत्यावानं अवथः) जो तुम दोनों स्पर्धाओं में सत्यपालक को बचाते हो, (यौ सचेतसौ द्रुह्वणः नुदेथे) जो दोनों सचेत होकर, द्रोहकारीको हटाते हो, और (यौ नृचक्षसौ) जो मनुष्योंका निरीक्षण करनेवाले दोनों (बभ्रुणा सुतं गच्छथः) पोषक शक्तिके साथ यज्ञके प्रति पहुंचते हो, वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ २ ॥

(यौ मित्रावरुणा) जो दोनों मित्र और वरुण (अंगिरसं अगस्तिं जमदग्निं अत्रिं अवथः) अंगिरा, अगस्ति, जमदग्नि और अत्रिकी रक्षा करते हो,(यौ कश्यपं अवथः यौ वसिष्ठं) जो कश्यप और वसिष्ठकी रक्षा करते हो वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ ३ ॥

(यौ मित्रावरुणौ) जो दोनों मित्र और वरुण (श्यावाश्वं,वध्र्यश्वं, पुरुमीढं, अत्रिं अवथः) श्यावाश्व, वध्र्यश्व, पुरुमीठ, और अत्रिकी रक्षा करते हो (यौ विमदं सप्तवध्रिं अवथः) जो विमद और सप्तवध्रीकी रक्षा करते हो॥४॥

यौ भरद्वाजमवथो यौ गविष्ठिरं विश्वामित्रं वरुण मित्र कुत्सम् ।
यौ कक्षीवन्तमवथः प्रोत कण्वं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ५ ॥
यौ मेधातिथिमवथो यौ त्रिशोकं मित्रावरुणावुशनां काव्यं यौ ।
यौ गोतममवथः प्रोत मुद्गलं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ६ ॥
ययो रथः सत्यवर्त्मर्जुरश्मिर्मिथुया चरन्तमभियाति दूषयन् ।
स्तौमि मित्रावरुणौ नाथितो जोहवीमि तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ७ ॥

अर्थ-(यौ मित्र वरुण) जो मित्र और वरुण (भरद्वाजं गविष्ठिरं विश्वामित्रं कुत्सं अवथः) भरद्वाज, गविष्ठिर, विश्वामित्र और कुत्सकी रक्षा करते हो, (यौ कक्षीवंतं कण्वं प्र अवथः) जो कक्षीवान और कण्वकी रक्षा करते हैं वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ ५ ॥

(यौ मित्रावरुणौ) जो दोनों मित्र और वरुण (मेधातिथिं, त्रिशोकं, काव्यं उशनां अवथः) मेधातिथि, त्रिशोक काव्य उशनाकी रक्षा करते हो (यौ गौतमं उत मुद्गलं अवथः) जो गौतम और मुद्गलकी रक्षा करते हो वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ ६ ॥

(ययोः सत्यवर्त्मा ऋजुरश्मिः रथः) जिनका सत्यमार्गवाला सरल रश्मियोंवाला रथ (मिथुया चरन्तं दूषयन् अभियाति) मिथ्याचारीको सताता हुआ चलता है, उन (मित्रावरुणौ स्तौमि) मित्र और वरुणकी मैं स्तुति करता हूं और उनसे (नाथितः जोहवीमि) सनाथ होकर उनको पुकारता हूं कि वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ ७ ॥

मित्र और वरुण ।

मृगार सूक्तोंमें यह सप्तम या अन्तिम सूक्त है । २३-२९ ये सात सूक्त पापमोचन विषयके हैं और इन सातों सूक्तोंका ऋषि मृगार है। ये सूक्त भाषाकी दृष्टिसे बहुत सरल हैं, परंतु पापमोचनके अनुष्ठानकी दृष्टिसे बडे गंभीर हैं । इनका विषय ठीक प्रकार समझमें आनेके लिये निम्न लिखित कोष्टक देखिये —

सूक्त	देवता	अपने शरीरमें शक्ति	अनुष्ठानविधि,
२३	अग्नि	वाक्शक्ति	वाक्संयम
२४	इन्द्र	बल	बलका सदुपयोग

२५	वायुः, सविता	प्राण, नेत्र	प्राणायाम और नेत्रकी पवित्रता
२६	द्यावापृथिवी	स्थूलसूक्ष्मशक्तियां	सत्कर्ममें अपनी शक्तियोंका समर्पण
२७	मरुतः	प्राण	प्राणायाम
२८	भवाशर्वौ, रुद्रः	वर्धक और घातक शक्तियां	अपनी इन शक्तियोंका उत्तम उपयोग करना
२९	मित्रावरुणौ	मित्रभाव और श्रेष्ठभाव	दोनोंका सदुपयोग

इस कोष्टक का निरीक्षण करनेसे पता लग जायगा कि पापमोचन का अनुष्ठान किस रीतिसे किया जाता है। इस अनुष्ठानका तात्पर्य समझनेके लिये एक उदाहरण लीजिये, एक मनुष्य कहता है कि "सूर्यदेव हमें मार्ग दिखावे" इस वाक्यसे सूर्यका मार्ग दिखानेसे संबंध है यह बात निश्चित होगई। परंतु यदि कोई मनुष्य अपने आंख बंद करेगा, और मार्गकी ओर अपनी दृष्टि नहीं डालेगा, तो सूर्य भगवान् सहस्र किरणोंसे प्रकाश करता हुआ भी उसको मार्ग नहीं दिखा सकेगा। इस से अनुष्ठान का मार्ग निश्चित हुआ। वह यह है कि "मनुष्य अपने अंदरकी शक्तिको सन्मार्गका बोध होने योग्य सरल मार्गपर रखनेका यत्न करे और बाह्य शक्तियोंकी सहायता प्राप्त करनेकी इच्छा करे।" ऐसा करनेसे ही उसकी कामना पूर्ण हो सकती है।

किसी मनुष्यको किसी नगरको जाना है, वह मार्ग जानना चाहता है। यदि वह अपने आंख खोलकर अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर मार्ग देखनेका यत्न करेगा, तो ही वह सूर्य देवताके प्रकाशसे अधिकसे अधिक लाभ उठा सकता है। इसी प्रकार अन्यान्य विषयोंके संबंधमें जानना चाहिये। यहां प्रचलित विषय 'पापमोचन' है। भक्त अपने आपको पापसे बचाना चाहता है, इसलिये उसको पूर्वोक्त उदाहरणके न्यायसे ही अपनी सब शक्तियोंका संयम करके उनके संयम द्वारा अपने आपको पापसे बचानेका परम यत्न करना चाहिये, और उस प्रयत्नके करनेके समय बाह्य शक्तियोंकी सहायता प्राप्त हो, ऐसी इच्छा करनी चाहिये। स्मरण रहे की बाह्य शक्तियां तो पूर्ण रीतिसे सहायता देनेके लिये तैयार ही हैं, जो न्यूनता है वह अपने प्रयत्नकी ही है। आंख बंद करनेवाला मनुष्य सूर्य प्रकाशसे लाभ नहीं उठा सकता, प्रत्युत आंख खोलकर देखनेवाला ही लाभ उठा सकता है, अर्थात् इस पुरुषका प्रयत्न अवश्य होना चाहिये। यही बात विशेष स्मरण रखने योग्य है। ऊपरके संपूर्ण सातों सूक्तोंमें जो सात बाह्य शक्तियोंकी प्रार्थना की है और उनकी सहायताकी याचना की है वह अपने अनुष्ठानकी तैयारीके साथ ही की है, यह पाठकोंको अवश्य स्मरण रखना चाहिये। अन्यथा अनुष्ठानके विना

ये सूक्त कोई लाभ दे नहीं सकते ।

' सूर्य हमें मार्ग दिखावे ' ऐसा कहनेवालेको अपने आंख खोलकर मार्ग देखनेका यत्न करना चाहिये, 'जल हमारी तृषा शांत करे ' ऐसा कहनेवाले को प्रथम जल अपने हाथ में लेकर पीनेका प्रयत्न करना चाहिये, ' अन्न हमारे शरीरकी पुष्टि बढावे ' ऐसी प्रार्थना करनेवालेको उचित है कि वह उत्तम अन्न तैयार करे और उसका सेवन विधि युक्त रीतिसे करे और पश्चात् कहे की यह अन्न मेरा शरीर पुष्ट करे । हरएक प्रार्थना उसके पूर्व करने योग्य अनुष्ठान की सूचना करती है यह बात ध्यानमें धारण करने योग्य है । प्रत्येक प्रार्थनाका अनुष्ठानपूर्वक उच्चार होना चाहिये । अनुष्ठान पूर्वक की हुई प्रार्थना ही सफल होती है, अर्थात् अनुष्ठान रहित प्रार्थना निष्फल होती है । वैदिक प्रार्थनाओंसे मनुष्यको जो उन्नतिका मार्ग दिखाई देता है वह इस रीतिसे अनुष्ठान पूर्वक प्रार्थना करनेसे ही है अन्यथा नहीं ।

अनुष्ठान अपने अन्दरके देवताओंद्वारा अर्थात् अपने इंद्रियों और अवयवों द्वारा किया जाता है, इनका संबंध जिन बाह्य देवताओंसे है उनसे सहायतार्थ प्रार्थना की जाती है । अर्थात् कोई प्रार्थना अनुष्ठानके विना नहीं की जाती । पहिले अपनेसे जितना हो सकता है उतना अनुष्ठान करके जब अपनी शक्ति अल्प प्रतीत होती है और अधिक शक्तिकी प्रबल इच्छा उत्पन्न होती है, उस समय प्रार्थनाका समय होता है । इस रीतिसे इन सातों सूक्तोंका मनन करने से पापमोचन के अनुष्ठानकी रीतिका स्वयं पता लग जाता है । सारांश रूपसे इन सूक्तोंसे बोधित होनेवाला अनुष्ठान यह है ।

" वाणीको पवित्र बनानेका प्रयत्न करना, अर्थात् मुखसे अपवित्र शब्दोंका उच्चारण न करना, अपने बलका उपयोग सत्कर्ममें करना और कभी परपीडा न करना, अपने प्राणों का कुंभकादि द्वारा आयाम करके मनको शांत और गंभीर बनाना, नेत्रादि इंद्रियोंको शुभ कर्मों में लगाना और उनको अशुभ प्रवृत्तिसे हटाना, अपने अंदर जो कोई सामर्थ्य हो उसको सत्कर्ममें लगाना और असत्कर्मसे दूर रहना, संपूर्ण दश प्राणोंका व्यवहार उत्तम चलानेका यत्न करना, अपने अंदर वर्धक और घातक शक्तियां हैं, उनसे किसीका घात पात न करना, परंतु उन शक्तियोंको सन्मार्गमें प्रवृत्त करना, अपने अन्दर जो मित्रभाव है और वरिष्ठताका भाव है उसकी प्रवृत्ति मंगल कार्यमें करना और उनको अमंगल कार्योंसे दूर करना ।" सारांशरूपसे यह अनुष्ठानकी विधि है । इसमें जिस अपनी शक्तिद्वारा अनुष्ठान किया जा रहा हो, उसके साथ संबंध रखनेवाली बाह्य

देवताकी प्रार्थना अधिक शक्ति प्राप्त करनेकी इच्छासे करना चाहिये । अर्थात् अपना अनुष्ठान और प्रार्थना एक क्षेत्रकी होनी चाहिये। पानी पीनेके समय अन्नकी प्रार्थना न हो और भोजन करनेके समय दूसरे किसी अन्य देवकी प्रार्थना न हो । प्रार्थनासे अपना संबंध विश्वकी विशाल शक्तियोंसे किया जाता है । इस एकतानतासे बडा लाभ होता है ।

२९ वें सूक्तमें कहा है कि जो (सत्यवान्) सत्यका पालन करनेवाला होता है, उस को परमात्माकी शक्तियोंकी सहायता मिलती है (मं. १-२)। इन मंत्रोंमें यह कह कर आगे सत्यपालन करनेवाले अनुष्ठानी महात्माओंको किस प्रकार सहायता मिली है इसकी नामावली दी है। ये नाम एक एक विशेष गुण की सूचना दे रहे हैं, इस कारण इन नामोंका विचार करनेसे कौन अनुष्ठानी मनुष्य ईशकी सहायता प्राप्त कर सकता है इसका बोध होता है। इसलिये इनका श्लेषार्थ देखते हैं—

१ सत्यवान् — सत्यप्रतिज्ञ, सत्यका पालन करनेवाला,
२ अंगिरस् — अंगोंमें जो जीवन रस है उसकी विद्या जाननेवाला ।
३ अगस्ति — (अग-स्ति) पापको दूर करनेके प्रयत्नमें जो दत्तचित्त होता है।
४ जमदग्निः — (जमत्+अग्निः) प्राण आदि अग्नियोंको प्रज्वलित करनेवाला,
५ अत्रिः — (अतति) भ्रमण करके उद्धारके लिये यत्न करनेवाला,
६ कश्यपः — (पश्यकः) सूक्ष्मदर्शी ।
७ वसिष्ठः — सबका सुखपूर्वक निवास करानेवाला
८ श्यावाश्वः — (श्यै गतौ) गतिशील, प्रयत्नशील,
९ वध्र्यश्वः — (वध्रि) स्तब्ध (अश्वः) घोडोंवाला अर्थात् जिसके इंद्रिय रूपी घोडे चंचल नहीं हैं।
१० पुरुमीढः —(पुरु) बहुत (मीढ) धनादि साधन संपन्न ।
११ विमदः-(विगतः मदः) जिसकी घमंड नष्ट हुई है ।
१२ सप्तवध्रिः-जिन्होंने अपने सातों इंद्रियोंको स्तब्ध किया है ।
१३ भरद्वाजः-(भरत्+वाजः) जो अन्नका दान करता है ।
१४ गविष्ठिरः- (गवि) वाणीमें जो स्थिर रहता है अर्थात् जो अपने वचन का सच्चा है।
१५ विश्वामित्रः-(विश्वस्य मित्रः) सबका मित्र, किसीका द्वेष न करनेवाला ।
१६ कुत्सः-दोषोंकी निंदा करनेवाला,

१७ कक्षीवान्-(कक्षी) गतीशील, प्रयत्नशील,

१८ कण्वः-शब्दविद्यामें प्रवीण,

१९ मेधातिथिः-(मेधा) बुद्धिको प्राप्त करनेवाला,

२० त्रिशोकः- स्थूल सूक्ष्म और कारण इस तीन विषयोंके अज्ञान का जिसको शोक होता है ।

२१ उशाना काव्यः—संयमी कवि,

२२ गोतमः--(गो) गतिशील, प्रयत्नशील,

२३ मुद्गलः—(मुद्) आनंदको धारण करनेवाला, आनन्द वृत्तिसे रहनेवाला ।

इन ऋषिनामोंके श्लेषार्थ ये हैं, पाठक मनन करेंगे तो उनको इन शब्दोंसे अधिक बोध भी प्राप्त हो सकते हैं । इन अर्थोंसे पता चलता है कि आत्म-सुधारका प्रयत्न ये किस ढंगसे करनेवाले हैं । इस प्रकारके प्रयत्न करनेवालोंको पूर्वोक्त देवताएं सब प्रकार की सहायता करतीं हैं और उनकी उन्नति होनेके लिये मदत देती हैं । जो लोग इनके समान प्रयत्न करेंगे उनको भी इसी प्रकार देवताओंसे सहायता प्राप्त होगी । परंतु जो लोग अपनी उन्नतिके प्रयत्नमें दक्ष नहीं होते, उनको सहायता प्राप्त नहीं होती, इस विषयमें दो शब्द देखिये

(१) द्रुह्वन्-द्रोह करनेवाला, घातपात करनेवाला, (मं० १-२)

(२) मिथुया चरन्-मिथ्या व्यवहार करनेवाला, (मं० ७)

पाठक यहां स्मरण रखें कि अग्नि वायु सूर्यादि देवताएं सदा सहाय करनेके लिये तैयारही हैं, परन्तु उनसे सहायता प्राप्त करनेका यत्न मनुष्यको करना चाहिये । मनुष्य से यत्न न हुआ तो लाभ होना असम्भव है । जो मनुष्य आत्मसुधारका यत्न करते हैं वे पूर्वोक्त ऋषियोंके समान उन्नति प्राप्त करते हैं, अन्य लोग प्रयत्न न करनेके कारण पीछे रहते हैं । उन्नतिका यह नियम पाठक स्मरण रखें ।

इस प्रकारके जो लोग होते हैं, उनकी अवनति होती जाती है । इस लिये पाठकोंको उचित है कि वे अपनी उन्नतिका अनुष्ठान करें, सन्मार्गसे चलें, पूर्वोक्त ऋषिजीवनोंका आदर्श अपने सन्मुख रखें और उन्नतिके पथसे सीधे ऊपर चढें । कदापि अवनतिके मार्गसे न चलें ।

राष्ट्री देवी ।

(३०)

(ऋषिः— अथर्वा । देवता-वाक्)

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥ १ ॥

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तः ॥ २ ॥

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवानामुत मानुषाणाम् ।
यं कामये तन्तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥ ३ ॥

अर्थ—(अहं) मैं परमात्मशक्ति (रुद्रेभिः वसुभिः आदित्यैः विश्वेदेवैः चरामि) रुद्रों, वसुओं, आदित्यों और विश्वेदेवोंके साथ चलती हूं। (अहं उभा मित्रावरुणा बिभर्मि) मैं दोनों मित्र और वरुणको धारण करती हूं और (अहं इन्द्राग्नी, अहं उभा अश्विना) मैं इन्द्र और अग्नि, तथा मैं दोनों अश्विनोंको धारण करती हूं ॥ १ ॥

(अहं राष्ट्री) मैं प्रकाशक शक्ति (वसूनां सङ्गमनी) वसुओंको प्राप्त करानेवाली, और (चिकितुषी) ज्ञान देने वाली हूं इस लिये (यज्ञियानां प्रथमा) सब पूजनीयों में पहिली पूजने योग्य हूं। (तां भूरिस्थात्रां मां) उस विविध प्रकारसे स्थित मुझको (भूरि आवेशयन्तः देवाः) बहुत प्रकारके आवेशको प्राप्त होने वाले देव (व्यदधुः) विशेष प्रकारसे धारण करते हैं ॥ २ ॥

(देवानां उत मानुषाणां जुष्टं) देवों और मनुष्योंको स्वीकार करने योग्य (इदं) यह भाषण (अहं स्वयं एव वदामि) मैं स्वयं ही बोलती हूं। (यं कामये) जिस जिसको मैं योग्य समझती हूं (तं तं उग्रं कृणोमि) उस उसको मैं उग्र वीर बनाती हूं तथा (तं ब्रह्माणं, तं ऋषिं, तं सुमेधां) उसीको ब्रह्मा, ऋषि अथवा उसी को उत्तम बुद्धिमान करती हूं ॥ ३ ॥

मया सोऽन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणति य ईं शृणोत्युक्तम् ।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धेयं ते वदामि ॥ ४ ॥
अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उं ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥ ५ ॥
अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम् ।
अहं दधामि द्रविणा हविष्मते सुप्राव्या३ यजमानाय सुन्वते ॥ ६ ॥
अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्व१न्तः समुद्रे ।
ततो वि तिष्ठे भुवनानि विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि ॥ ७॥

अर्थ-(यः विपश्यति) जो यह विशेष रीतिसे देखता है (सः मया अन्नं अत्ति) वह मेरी कृपासे अन्न खाता है। (यः प्राणति) जो प्राण लेता है और (यः ईं उक्तं शृणोति) जो भाषण सुनता है वह सब मेरी शक्तिसे ही है। जो (मां अमन्तवः) मुझे न माननेवाले हैं (ते उपक्षयन्ति) वे विनाशको प्राप्त होते हैं। हे (श्रुत) सुननेवाले ! (श्रुधि) श्रवण कर। (ते श्रद्धेयं वदामि) तेरे लिये श्रद्धा रखनेयोग्य यह उपदेश मैं करती हूं ॥ ४ ॥

(ब्रह्म-द्विषे शरवे हन्तवै उ) ज्ञानके द्वेषी घात पात करनेवालेका नाश करनेके लिये (अहं रुद्राय धनुः आतनोमि) मैं रुद्रके लिये धनुष्यको तानती हूं, (अहं जनाय समदं कृणोमि) मैं जनोंके लिये हर्ष देनेवाले पदार्थ उत्पन्न करती हूं, (अहं द्यावा-पृथिवी आविवेश) मैंने द्यावापृथिवी में प्रवेश किया है ॥ ५ ॥

(अहं आहनसं सोमं बिभर्मि) मैं प्राप्त करने योग्य सोम राजाका धारण करती हूं। (अहं त्वष्टारं उत पूषणं भगं) मैं त्वष्टा और पूषाका धारण करती हूं। (अहं हविष्मते सुन्वते यजमानाय) मैं हवन करने और सोमसवन करनेवाले यजमान के लिये (सुप्राव्या द्रविणा दधामि) उत्तम रक्षा करने योग्य धन देती हूं ॥ ६ ॥

मैं (अस्य मूर्धन् पितरं सुवे) इसके सिरपर रक्षकको नियुक्त करता हूं। (मम योनिः समुद्रे अप्सु अन्तः) मेरा मूलस्थान प्रकृतिके समुद्रके जलोंके मध्यमें है। (ततः विश्वा भुवनानि वितिष्ठे) वहांसे सब भुवनोंमें विशेष रीतिसे स्थित होती हूं (उत वर्ष्मणा अमूं द्यां उपस्पृशामि) और

अहमेव वातं इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिम्ना सं बभूव ॥ ८ ॥

॥ षष्ठोऽनुवाकः ॥

॥ अष्टमः प्रपाठकः ॥

अपनी महिमासे उस द्युलोकको स्पर्श करता हूं ॥ ७ ॥

(विश्वा भुवनानि आरभमाणा) सब भुवनोंका आरंभ करनेवाली (अहं एव वातः इव प्रवामि) मैं ही अकेली वायुके समान फैलती हूं। और (दिवः परः) द्युलोकके परे और (एना पृथिव्यै परः) इस पृथ्वीके भी परे (महिम्ना एतावती संबभूव) अपने महत्त्वसे इतनी विशाल होती हूं ॥ ८ ॥

राष्ट्री देवी।

'राष्ट्री देवी' यह परमात्माकी प्रचंड तेजस्वी शक्तिका नाम है। यह शक्ति स्वयं अपनी महिमा वर्णन कर रही है, ऐसा काव्यमय वर्णन इस सूक्तमें है। तृतीय मंत्रमें कहा ही है कि "(अहं एव स्वयं इदं वदामि) मैंही यह स्वयं कहती हूं।" इस लिये यह वर्णन अन्य सूक्तोंके वर्णनकी अपेक्षा विशेष महत्त्व का है यह बात स्वयं स्पष्ट हो रही है। पाठक भी इस दृष्टिसे इसका अधिक मनन करें। यह सूक्त परमात्म शक्तिका वर्णन करनेके कारण इस सूक्तके आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक अर्थ संभवनीय हैं। आधिदैविक अर्थ अग्नि इन्द्र आदि देवताओंके संबंधमें होता है, यह अर्थ हमने मंत्रके अर्थ करते हुए दिया है। परमात्माकी शक्ति अग्नि, इन्द्र, अश्विनी देव आदि सृष्ट्यन्तर्गत महाशक्तियोंमें प्रकाशित हो रही है, यह भाव आधिदैविक अर्थमें प्रधान रहता है। पाठक इस अर्थको पूर्वस्थलमें देखें। अब यहां आध्यात्मिक और आधिभौतिक अर्थ देते हैं। आध्यात्मिक अर्थ अपने शरीरमें देखना होता है और आधि दैविक अर्थमें जहां परमात्मा की शक्तिका संबंध जानना होता है, वहां आध्यात्मिक अर्थमें जीवात्माकी शक्तिका संबंध देखना होता है। यहां अब यह आध्यात्मिक अर्थ देखिये-

आध्यात्मिक भावार्थ।

" मैं जीवात्माकी शक्ति हूं और मैं (रुद्रेभिः) प्राणोंके साथ (वसुभिः) निवासक जलादि शारीरिक धातु रसोंके साथ (आदित्यैः) आदान शक्तियोंके साथ तथा (विश्वदेवैः) सब इंद्रियों के साथ रहकर वहां का व्यव-

हार चलाती हूं । मैं शरीरके (मित्रा-वरुणौ) सौर और सोम शक्तियोंको अर्थात् आग्नेय और रसात्मक शक्तियोंका धारण करती हूं । मैं (इन्द्र-अग्नी) जीवन विद्युत् और शरीरकी उष्णताको कायम रखती हूं और मैं ही (अश्विनौ) दोनों प्राण और अपानको चलाती हूं ॥ १ ॥ मैं शरीरकी (राष्ट्री) प्रकाशक शक्ति हूं अर्थात् मेरे प्रभावके कारण इस देहमें तेजस्विता स्थिर रहती है, मैं ही यहां (वसूनां संगमनी) रस रक्तादि विविध धातु रसों को उत्पन्न करके शरीरको सुरक्षित रखती हूं । मैं ही (चिकितुषी) ज्ञान देनेवाली हूं इस लिये मैं यहां अध्यात्मयज्ञमें (यज्ञियानां प्रथमा) पूजनीयों में सबसे प्रथम पूजा करने योग्य हूं । मैं (भूरि-स्था-त्रां) विविध अवयवों और इंद्रियोंमें रहकर शरीरकी रक्षा करती हूं और (आवेशयन्तः देवाः) मेरे प्रवेशके कारण सब इंद्रियां मानो (मां व्यदधुः) मेरा ही विविध प्रकारसे धारण करती हैं और मेरी शक्तिसे ही अपना अपना कार्य करने में समर्थ हुई हैं ॥ २ ॥ देव क्या और मनुष्य क्या मुझ आत्मशक्तिकाही महत्त्व गाते हैं, मैं स्वयं भी अपना यह वर्णन करती हूं, जिसपर मैं प्रसन्न होती हूं वह मनुष्य उग्र वीर, ब्राह्मण, ऋषि और ज्ञानी महात्मा बन जाता है ॥ ३ ॥ मनुष्य खाता है, देखता है, श्वास लेता है, शब्द सुनता है वह सब (मया) मुझ शक्तिकी सहायतासे ही करता है । जो लोग मुझे नहीं मानते वे नाशको प्राप्त होते हैं । सब लोग मेरा यह भाषण श्रवण करें और मुझ आत्मशक्तिपर श्रद्धा रखें, श्रद्धासे ही मुझ शक्तिसे उनको लाभ होता है ॥ ४ ॥ ज्ञानविरोधी घातक विचारोंको दूर करनेके लिये मैं ही आत्मशक्ति इस शरीरमें (रुद्राय) प्राणको प्रेरणा करती हूं, मैं ही मनुष्यको आनंद और हर्ष देती हूं, तात्पर्य इस शरीर में (द्यौः) सिरसे लेकर (पृथिवी) पैरतक मैं शक्ति रूपसे फैली हूं ॥ ५ ॥ मैं प्राप्त करने योग्य (सोमं) अन्नका धारण यहां करती हूं, मैं ही (त्वष्टा) भेदक और (पूषा) पोषक शक्तियोंको शरीर में धारण करती हूं । मैं (हवि) उत्तम अन्न और रस स्वीकारने वाले और इस शरीररूपी यज्ञ शालामें शत सांवत्सरीक सत्र करनेवाले को उत्तम यश देती हूं ॥ ६ ॥ मैं इस शरीरके ऊपर रक्षक शक्तिको नियुक्त करती हूं, मैं यहां हृदय के अंदरके हृदयाशयके जीवनरस में रहती हूं, वहां से

हरएक अवयवमें कार्य करती हूं और ऊपर सिरतक फैलती हूं ॥ ७ ॥ सब इंद्रियों और अवयवों को उत्पन्न करती हुई मैं वायुके समान फैलती हूं और इस शरीरमें सिरसे लेकर पैरतक अपनी महिमासे फैली हूं ॥ ८ ॥

अध्यात्मवर्णन का मनन ।

पूर्वोक्त मंत्रोंका यह आध्यात्मिक आशय है । जो आशय अपने अंदरकी शक्तियों-का होता है वह अध्यात्मिक कहलाता है । मंत्रोंमें जो देवतोंके शब्द होते हैं वे ही मनुष्य के अन्दरकी विविध शक्तियोंके वाचक होते हैं, उनको अंन्तःशक्तियोंका वाचक जाननेसे आध्यात्मिक अर्थ जाना जाता है । पाठक इस दृष्टिसे इस सूक्तका मनन कर सकते हैं । ऊपरके आध्यात्मिक अर्थका विचार करनेसे पाठकोंको स्वयं पता लग जायगा कि अध्यात्ममें किस शब्दका क्या अर्थ होता है । अब इसी सूक्तका आधिभौतिक आशय देखिये । मानव संघ या प्राणिसंघके विषयका जो अर्थ होता है वह आधिभौतिक अर्थ होता है—

आधिभौतिक भावार्थ ।

" मैं राष्ट्रशक्ति (रुद्रेभिः) वीरों (वसुभिः) धनिकों (आदित्यैः) विद्या-प्रकाशक विद्वानों और (विश्वेदेवैः) सब ज्ञानियोंके साथ रहती हूं । मैं दोनों (मित्रावरुणौ) मित्र जनों और वरिष्ठ लोगोंको, (इन्द्र-अग्नि) शूर वीरों और ज्ञानियोंको तथा (अश्विनौ) दोनों प्रकारके अश्विनी कुमारोंको अर्थात् वैद्योंको राष्ट्रमें धारण करती हूं ॥ १ ॥ मैं राष्ट्रशक्ति हूं, मैं ही सब धनों और धनिकोंको एकत्रित करती हूं, मैं राष्ट्रशक्ती (चिकितुषी) ज्ञान बढानेवाली हूं, मैं पूजनीयोंमें सबसे मुख्य हूं, मैं राष्ट्रके अनेक स्थानोंमें (भूरि-स्था-त्रां) रहकर राष्ट्रकी रक्षा करती हूं इस मुझ राष्ट्रशक्तिद्वारा (आवेशयन्तः देवाः) आवेश अर्थात् स्फुरणको प्राप्त हुए सब विद्वान लोग, मानो, मेरा ही विशेष प्रकार धारण करते हैं ॥ २ ॥ मैं जैसी देवज-नोंको वैसी ही साधारण मनुष्योंको भी सेवनीय हूं अर्थात् सब मुझ राष्ट्र-शक्तिका धारण करें । मैं स्वयं कहती हूं कि जिसपर मैं प्रसन्न होती हूं वह उग्रवीर, ज्ञानी, ऋषि अथवा बुद्धिमान् मनुष्य बनता है ॥ ३ ॥ राष्ट्रमें जो पुरुष अन्न भोग लेते हैं, जो देखते हैं, सुनते हैं अथवा जो श्वासोच्छ्वास

करते हैं वह सब मेरी ही शक्तिसे करते हैं। (मां अमन्तवः) मुझ राष्ट्रशक्तिका अपमान करनेवाले अथवा मुझे मान न देनेवाले लोग नाश को प्राप्त होते हैं। हे लोगो ! यह बात तुम श्रद्धासे सुनो इसमें तुम्हारा हित है ॥ ४॥ (ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवै) ज्ञान प्रचारके द्वेषी और घातपात करनेवाले दुष्टोंका नाश करनेके लिये मैं ही (रुद्राय धनुः आतनोमि) वीर पुरुषोंके पास सब शस्त्रास्त्र तैयार रखती हूं। मेरी कृपासे ही राष्ट्रके लोग आनंदमें रहते हैं, मानो मैं राष्ट्रशक्ति पृथ्वीसे लेकर द्युलोकतक अर्थात् सर्वत्र फैली हूं॥ ५॥ मैं राष्ट्रशक्तिही प्राप्त करने योग्य (सोमं) सोम आदि वनस्पतियोंका अन्न धारण करती हूं। (अहं त्वष्टारं) मैं कारीगरों-का और (पूषणं भगं) पोषण कर्ता धनवानोंका राष्ट्रमें धारण करती हूं। जो (हविष्मते यजमानाय) अन्नादि द्वारा यज्ञ करनेवाले सज्जन होते हैं, उनको मैं उचित प्रमाणमें धन देती हूं॥ ६॥ मैं ही राष्ट्रशक्ति (अस्य मूर्धन् पितरं सुवे) इस राष्ट्रके सिरपर रक्षा करनेवाले राजाको उत्पन्न करती हूं, मेरी उत्पत्ती (सं+उत्+द्रे) एक होकर उत्कर्षके लिये जो राष्ट्रीय प्रयत्न होते हैं, उन प्रयत्नोंमें होती है। यहां मैं उत्पन्न होती हूं और पश्चात् राष्ट्रके हरएक कोनेमें फैलती हूं, तब ऐसा प्रतीत होता है कि मैं पृथ्वीसे स्वर्गतक फैली हूं॥ ७॥ राष्ट्रमें मैं सब संस्थाओंको आरंभ करती हूं और चलाती हूं। मानो, मैं प्रचंड वायुके समान संचार करती हूं, यहां तक कि ऊपरसे नीचे तक मेरा अपूर्व संचार होता है, यह मेरी महिमा है॥ ८॥

इस राष्ट्रीय अर्थका मनन।

इस सूक्तके आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक ये तीनों भावार्थ यहां दिये हैं, पाठक इन तीनोंकी तुलना अच्छी प्रकार करें और उत्तम बोध प्राप्त करें। वैयक्तिक और राष्ट्रीय इन अर्थोंके विषयमें विशेष उपदेश प्राप्त करना चाहिये, क्यों कि मनुष्यका कर्मक्षेत्र ही यह है। इन मंत्रोंके शब्द तीनों भूमिकाओंमें किस प्रकार अर्थ बताते हैं यह निम्नलिखित कोष्टकसे ज्ञात हो सकता है। —

मंत्रके शब्द	आधिदैविक भाव	आधिभौतिक भाव	आध्यात्मिक भाव
रुद्राः	मेघस्थानीय विद्युत	वीर	प्राण

वसुः	पृथिव्यादि आठ वसु	धन और धनिक	शरीरस्थ धातु
आदित्यः	सूर्य	ज्ञानप्रकाशक	मस्तिष्क
विश्वेदेवाः	सब प्रकाशमान आग्न्यादि देव	सब कर्मचारी गण	सब इंद्रिय
मित्रः	सूर्य	प्रकाशक विद्वान	नेत्र
वरुणः	चन्द्र	शान्तज्ञानी	मन
इन्द्रः	विद्युत्	शूर	जाग्रत मन्
अग्निः	अग्निः	वक्ता	वाणी
अश्विनौ	अश्विनी	वैद्य	श्वासउच्छ्वास
त्वष्टा	देवशिल्पी	कारीगर	विभाजकशक्ति
पूषा	पोषक दैवी शक्ति	पोषणकर्ता	पोषकशक्ति
समुद्रः	प्रकृति	लोगोंकी हलचल	हृदय
द्यौः	द्युलोक	ज्ञानी	सिर
पृथिवी	भूलोक	सेवक	पांव

मंत्रके शब्द इस रीतिसे अन्यान्य भूमिकाओंमें अन्यान्य अर्थोंके वाचक होते हैं। इन अर्थोंको जाननेसे ही मंत्रका संपूर्ण अर्थ जानना संभव है। व्यक्तिमें गुणोंके रूपसे अर्थ देखना है, राष्ट्रमें गुणी जनोंका भाव लेना है और विश्वमें उक्त देवोंको देखना होता है। जैसा व्यक्तिमें शौर्य गुण है, इससे शत्रु दूर किये जाते हैं; इसी गुणसे गुणी बने हुए शूर क्षत्रिय वीर राष्ट्रमें होते हैं,इनमें शौर्य गुणका प्राधान्य होता है, इनका ही रूप विश्वमें इन्द्र शक्ति है जो विद्युद्रूपमें दीखती है। व्यक्तिमें शौर्य; राष्ट्रमें शूर और विश्वमें विद्युत् ये सब वैदिक इन्द्र देवताकी विभूतियां हैं। पाठक इस प्रकार सब देवताओंकी विभूतियां जानेंगे तो उनको एकही वेद मंत्रसे सब भूमिकाओंमें क्या बोध लेना है, इसका ज्ञान हो सकता है।

इस सूक्तमें "राष्ट्री" शब्द है। राष्ट्र जिसके कारण रहता है, जिस शक्तिसे राष्ट्र उत्तम अवस्थामें रहता है, जिस शक्तिसे राष्ट्र बढता है और अभ्युदयसे युक्त होता है उस शक्तिका नाम राष्ट्री है। यह राष्ट्र शक्ति "आदित्य, रुद्र, वसु और विश्वेदेव" इनके साथ रहती है, यह प्रथम मंत्रका कथन है। ये देवतावाचक चार शब्द क्रमशः

"ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र" अर्थात् कारीगरोंके वाचक हैं। ब्रह्मवर्चस पूर्ण आदित्य ब्राह्मण वर्णका बोधक, रुद्र वीरभद्र आदि नाम शौर्यादि के लिये सुप्रसिद्ध हैं, अतः ये क्षत्रिय वर्ण के वाचक, वसु शब्द धनवानों और धनोंका प्रसिद्ध है अतः यह वैश्योंका सूचक और विश्वेदेव शब्द सब अन्य व्यवहार कर्ताओंका वाचक होनेसे अवशिष्ट कारीगरोंका वाचक है। देवताओंमें इन्ही शब्दों द्वारा चातुर्वर्ण्य बोधित होता है और इन देवताओंके मंत्रोंसे चातुर्वर्ण्यके धर्म कर्मोंका बोध हो सकता है। यह राष्ट्री शक्ति इन लोगोंके अंदर रहती है, इनमें कार्य करती है और इनके द्वारा प्रकट होती है।

यह राष्ट्रीय शक्ति (अग्निः=ब्रह्म) ब्राह्मणों, (इन्द्र=क्षत्र) क्षत्रियों, (मित्र) सहायकों, (वरुणो राजा) राजपुरुषों और (अश्विनौ=अश्विनी कुमारों) आयुर्वेद के विद्वानोंको आश्रय देकर इनका धारण पोषण करती है। राष्ट्रमें इनका पोषण करके इन के द्वारा अन्य साधारण जनोंको सुख पहुंचाती है। यह इस राष्ट्रीय शक्तिकी महिमा देखने योग्य है।

यह राष्ट्रीय शक्ति (वसूनां संगमनी) सब प्रकारके धनधान्यों को प्राप्त कराती है। राष्ट्रीय शक्तिका जिस देश में उत्कर्ष होने लगता है वहां उस शक्तिके विकासके कारण सब प्रकारके धन इकठे होने लगते हैं, तथा जिस देशमें राष्ट्र शक्तिका विकास बंद होता है, उस देश में दरिद्रता बढती है। पतित राष्ट्र और उन्नत राष्ट्रका यह विपन्नता और संपन्नतासे संबंध देखने योग्य है, इतिहासमें पाठक इसका अनुभव कर सकते हैं।

इस राष्ट्र शक्तिका मनुष्यों में आवेश होता है, अर्थात् जिस समय ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र और निषाद अपनी राष्ट्रभक्तिके साथ एक होकर बडे राष्ट्रीय पुरुषार्थ में प्रवृत्त होते हैं, उस समय इस राष्ट्री देवीका संचार उन मनुष्यों में होता है, (भूरि+आवेशयन्तः) विशेष प्रकारका दैवी आवेश मनुष्योंमें उस समय होता है और ऐसे दैवी स्फुरणसे युक्त हुए लोग संख्यामें थोडे भी क्यों न हों, शक्तिका बडा कार्य करके दिखा देते हैं। यह राष्ट्रीदेवी के आविष्कारका चमत्कार है। इसी लिये उनको सब (यज्ञियानां प्रथमा) पूजनीयों में पहिली पूजा करने योग्य करके कहते हैं। चारों वर्ण इसकी पूजा अपने हृदय में करते हैं और राष्ट्रभक्तिसे अपने हृदय परिपूर्ण करते हैं। वेदमें अन्यत्र भी कहा है कि—

इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः।
बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः॥ ऋग्वेद १।१३।९

" मातृभाषा, मातृसभ्यता और (मही) मातृभूमि ये तीन देवियां कल्याण करने

वाली हैं। इसलिये ये अन्तःकरणमें विना विस्मरण हुए स्थान प्राप्त करें।" अर्थात् हर एक मनुष्यके मनमें इन तीन देवियोंको योग्य और सन्मानका स्थान प्राप्त हो। और कभी ऐसा न हो कि लोग इन तीन देवियोंका योग्य आदर न करें। इस मंत्रके उपदेशानुसार मातृभूमिकी भक्ति हरएकको करनी चाहिये और यही उपदेश इस सूक्तके द्वितीय मंत्रमें "(प्रथमा यज्ञियानां राष्ट्री) यह राष्ट्रशक्ति पूजनीयोंमें सबसे प्रथम पूजा करने योग्य है," इन शब्दोंद्वारा कहा है। यदि इस जगत् में सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करनेकी इच्छा है तो इस राष्ट्रदेवताकी पूजा करना चाहिये और उस देवीके लिये अपना बलि देनेके लिये सिद्ध होना चाहिये।

राष्ट्र देवी तब प्रसन्न होती है जब लोग उसकी प्रीतिके लिये अपने सर्वस्वका समर्पण करनेको तैयार होते हैं। ज्ञानी जन सदा ही राष्ट्र देवीके लिये अपने सर्वस्वका अर्पण करनेको तैयार होते हैं। इसीलिये ऐसा त्यागी पुरुष (सः अन्नं अत्ति) अन्न भोग प्राप्त करता है ऐसा चतुर्थ मंत्रमें कहा है।

यदि उस मातृभूमिकी योग्य उपासना न की अथवा इसका अपमान किया, किंवा इसका योग्य सत्कार नहीं किया तो, ऐसे (अ-मन्तवः उपक्षयन्ति) राष्ट्रीय शक्तिका अपमान करनेवाले लोग सत्वर नाशको प्राप्त होते हैं। यह बात (श्रदेयं वदामि) विश्वास रखने योग्य है अर्थात् ऐसा होता ही है। पाठक राष्ट्र भक्तिका महत्त्व कितना है यह बात इस मंत्रसे जानकर कभी राष्ट्रद्रोहका कार्य न करें और सदा राष्ट्र भक्ति करते हुए और राष्ट्रके लिये आत्मसर्वस्वका समर्पण करके अपने जीवनका सर्वमेधयज्ञ करने द्वारा विजयी और यशस्वी होवें।

राष्ट्रके अंदर भी जो दुष्ट लोग होते हैं, वे सज्जनोंको क्लेश देते हैं, तथा राष्ट्रके बाहर भी जो दुष्ट दुर्जन होते हैं वे भी राष्ट्रपर हमला करके घातपात और खून खराबी करते हैं। इनका नाश करनेके लिये राष्ट्रके (रुद्राय) वीरपुरुषोंके पास (धनुः) विविध प्रकारके धनुष्यादि शस्त्रास्त्र तैयार रखनेका कार्य राष्ट्रशक्तिका ही है। जो राष्ट्र जीवित और जाग्रत होता है वह अपने शत्रुके निःपातके लिये आवश्यक शस्त्रास्त्र तैयार रखता ही है और योग्य प्रसंगमें योग्य रीतिसे उनका उपयोग करके विजय भी प्राप्त करता है। अभ्युदय प्राप्त करनेवाले राष्ट्रको अपनी रक्षाके लिये जाग्रत रहना अत्यंत योग्य और अत्यंत आवश्यक भी है।

यह राष्ट्र शक्ति (त्वष्टारं) कारीगरोंका पोषण करती है इसी प्रकार जो मनुष्य जनोंका पालन पोषण करते हैं उन (पूषणं) पोषक जनोंका अथवा उन (भगं) भाग्य

वानोंका उत्तम प्रकार धारण पोषण करती है । ऐसे पुरुषोंको कभी अवनतिमें नहीं रखती, प्रत्युत उन्नत करती है । इसी प्रकार जो लोग अपने धनधान्यका (यजमान) यज्ञ करते हैं, अर्थात् जनताकी भलाईके लिये अपने धनधान्यका समर्पण करते हैं, उनको कभी धनकी न्यूनता नहीं रहती । अर्थात् जितना वे दान करते हैं उससे अधिक (द्रविणा दधामि) धन उनको प्राप्त होता है, फिर वे अधिक दान करते हैं और फिर उनका धन बढता ही जाता है । इस प्रकार यज्ञसे वृद्धि होती है और जनता का सुख बढता ही जाता है ।

राष्ट्रके ऊपर नियामक और पालक को उत्पन्न करना और राजगद्दीपर उसकी स्थापना करना (अस्य मूर्धन् पितरं सुवे) यह राष्ट्र-शक्ति ही करती है । अर्थात् जीवित और जाग्रत राष्ट्रके लोग अपनी राज्य शासन व्यवस्थाके लिये सुयोग्य राज्याध्यक्षका स्वयं निर्वाचन करते हैं और उसको राज्यके ऊपर नियुक्त करते हैं । यह राष्ट्र शक्तिका उत्पत्तिस्थान (समुद्रे अन्तः) राष्ट्रीय हलचलके महासागरके अंदर होता है । " (सं०) एक होकर (उत्) उत्कर्षके लिये (द्र) गति करना अथवा प्रयत्न करना राष्ट्रीय हलचल का स्वरूप है ।" इसका ही नाम 'समुद्र' (सं+उत्+द्र) है । इस हलचलमें यह राष्ट्रशक्ति प्रगट होती है और हरएक के अन्तःकरणमें फैलती है, मानो इस प्रकार यह (विश्वा भुवनानि वितिष्ठे) संपूर्ण भुवनोंमें फैलती है, अर्थात् भूमिसे स्वर्गतक विस्तृत होती है, हरएक कार्यमें यह प्रकट होती है, हरएक हलचलके तय में यह रहती है । इस प्रकार इसकी महिमा है ।

जिस समय जनतामें राष्ट्रशक्तिका संचार होता है उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्रशक्ति रूप (वात इव प्रवामि) झंझावात का जोरसे प्रवाह चल रहा है । और इसका वेग रोकना अब असंभव है । इस शक्तिका वेग यहांतक प्रचंड होता है कि (दिवः परः) द्युलोकसे भी परे और (एना पृथिव्याः परः) इस पृथ्वीके भी पार वह वेग कार्य कर रहा है । आकाश पाताल इस शक्तिसे भरे हैं और कोई स्थान खाली नहीं है ।

राष्ट्र शक्तिका महिमा यह है । जो इसके उपासक होते हैं वे अपने राष्ट्रको अभ्युदयके उच्च शिखरपर स्थापित करते हैं यह जानकर पाठक राष्ट्रभक्ति द्वारा मिलने वाली उन्नति प्राप्त करें और आगेके अभ्युदय के लिये अपने आपको योग्य बनावें ।

उत्साह ।

(३१)

(ऋषिः—ब्रह्मा, स्कन्दः । देवता मन्युः)

त्वया॑ मन्यो स॒रथ॑मारु॒जन्तो॒ हर्ष॑माणा हृषि॒तासो॑ मरुत्वन् ।
ति॒ग्मेष॑व॒ आयु॑धा सं॒शिशा॑ना॒ उप॒ प्र य॑न्तु॒ नरो॑ अ॒ग्निरू॑पाः ॥ १ ॥
अ॒ग्निरि॑व मन्यो त्विषि॒तः स॑हस्व सेना॒नीर्नः॑ सहुरे हू॒त ए॑धि ।
ह॒त्वाय॒ शत्रू॒न्वि भ॑जस्व॒ वेद॒ ओजो॒ मिमा॑नो॒ वि मृधो॑ नुदस्व ॥२॥

अर्थ— हे (मरुत्वन् मन्यो) मरनेकी अवस्थामें भी उठनेकी प्रेरणा करने वाले उत्साह ! (त्वया स-रथं आरुजन्तः) तेरी सहायतासे रथ सहित शत्रुको विनष्ट करते हुए और स्वयं (हर्षमाणाः हृषितासः) आनन्दित और प्रसन्नचित्त होकर (आयुधाः सं-शिशानाः) अपने आयुधोंको तीक्ष्ण करते हुए (तिग्म-इषवः अग्निरूपाः नरः) तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रवाले अग्निके समान तेजस्वी नेतागण (उप प्र यन्तु) चढाई करें ॥ १ ॥

हे (मन्यो) उत्साह ! (अग्निः इव) तू अग्निके समान (त्विषितः सहस्व) तेजस्वी होकर शत्रुको परास्त कर । हे (सहुरे) समर्थ ! (हूतः नः सेनानी एधि) पुकारा हुआ हमारा सेनाको चलानेवाला हो । (शत्रून् हत्वाय) शत्रुओंको मारकर (वेदः विभजस्व) धनको बांट दे और (ओजः विमानः) अपने बलको मापता हुआ (मृधः वि नुदस्व) शत्रुओंको हटा दे ॥ २ ॥

भावार्थ- मनुष्यको उत्साह हताश होने नहीं देता। जिनके मनमें उत्साह रहता है वे शत्रुओंको नष्ट करते हैं, और प्रसन्न चित्तसे अपने शस्त्रास्त्रोंको सदा सज्ज करके अपने तेजको बढाते हुए, शत्रुपर चढाई करते हैं ॥ १ ॥

उत्साहसे तेज बढता है, उत्साहसे ही शत्रु परास्त होते हैं। उत्साही पुरुष सेनाचालक होगा, तो वह शत्रुका नाश करके धन प्राप्त करता है। फिर अपने बलको बढाता हुआ दुष्टोंको दूर कर देता है ॥ २ ॥

सहस्व मन्यो अभिमातिमस्मे रुजन्मृणन्प्रमृणन्प्रेहि शत्रून् ।
उग्रं ते पाजो नन्वा रुरुध्रे वशी वशं नयासा एकज त्वम् ॥ ३ ॥
एको बहूनामसि मन्य ईडिता विशंविशं युद्धाय सं शिशाधि ।
अकृत्तरुक्त्वया युजा वयं द्युमन्तं घोषं विजयाय कृण्मसि ॥ ४ ॥

अर्थ- हे (मन्यो) उत्साह! (अस्मै अभिमातिं सहस्व) इसके लिये अभिमान करनेवाले शत्रुको पराजित कर (शत्रून् रुजन् मृणन् प्रमृणन् प्रेहि) शत्रुको तोडता हुआ, मारता हुआ, और कुचलता हुआ चढाई कर । (ते उग्रं पाजः ननु आ रुरुध्रे)तेरा प्रभावशाली बल निश्चय से शत्रु को रोक सकता है। हे (एकज) अद्वितीय ! (त्वं वशी वशं नयासै) तूं स्वयं संमयी होनेके कारण शत्रुको अपने वशमें कर सकता है ॥ ३ ॥

हे (मन्यो) उत्साह ! तू (एकः बहूनां ईडिता असि) अकेलाही बहुतोंमें सत्कार पानेवाला है । तू (विशं विशं युद्धाय सं शिशाधि) प्रत्येक प्रजाजनको युद्धके लिये उत्तम प्रकार शिक्षित कर। हे (अ-कृत्त-रुक्) अटूट प्रकाशवाले ! (त्वया युजा वजं) तेरी मित्रता के साथ हम (द्युमन्तं घोषं विजयाय कृण्मसि) हर्ष युक्त शब्द विजय के लिये करते हैं ॥ ४ ॥

भवार्थ—उत्साहसे शत्रुका पराजय कर और शत्रुओंका नाश उत्साहसे कर। उत्साहसे तुम्हारा बल बढेगा और तुम शत्रुको रोक सकोगे। हे शूर ! तू पहिले अपना संयम कर और जब तुम अपना संयम करोगे तब तुम शत्रुकोभी वशमें कर सकोगे ॥ ३ ॥

स्वभावतः उत्साही पुरुष बहुतोंमें एकाध होता है और इसलिये सब उसका सत्कार करते हैं। शिक्षाद्वारा ऐसा प्रबंध करना चाहिये कि राष्ट्रका हरएक मनुष्य उत्साही हो जावे और जीवनयुद्धमें अपना कार्य करनेमें समर्थ होवे। उत्साहसेही प्रकाश बढता है और विजय की घोषणा करनेका सामर्थ्य प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

*

विजेषकृदिन्द्र इवानवब्रवो ३ स्माकं मन्यो अधिपा भवेह ।
प्रियं ते नाम सहुरे गृणीमसि विद्मा तमुत्सं यत आबभूथ ॥ ५ ॥
आभूत्या सहजा वज्र सायक सहो बिभर्षि सहभूत उत्तरम् ।
क्रत्वा नो मन्यो सह मेद्येधि महाधनस्य पुरुहूत संसृजि ॥ ६ ॥
संसृष्टं धनमुभयं समाकृतमस्मभ्यं धत्तां वरुणश्च मन्युः ।
भियो दधाना हृदयेषु शत्रवः पराजितासो अप नि लयन्ताम्॥ ७ ॥

अर्थ- हे (मन्यो) उत्साह! (इन्द्रः इव विजेषकृत) इन्द्रके समान विजय करनेवाला और (अनव-ब्रवः) उत्तम वचन बोलनेवाला होकर (इह अस्माकं अधिपाः भव) यहां हमारा स्वामी हो । हे (सहुरे) समर्थ ! (ते प्रियं नाम गृणीमसि) तेरा प्रिय नाम हम उच्चारते हैं । (तं उत्सं विद्म) और उस स्रोत को जानते हैं कि (यतः आबभूथ) जहांसे तू प्रकट होता है ॥ ५ ॥

हे (वज्र सायकं सहभूत) वज्रधारी, बाणधारी और साथ रहनेवाले ! तू (आभूत्या सहजाः) ऐश्वर्यके साथ उत्पन्न होनेवाला (उत्तरं सहः बिभर्षि) अधिक उत्तम बल धारण करता है । ते (पुरुहूत मन्यो) बहुतवार पुकारे गये उत्साह ! तू (क्रत्वा सह) कर्म शक्तिके साथ (मेदी) मित्र बन कर (महाधनस्य संसृजि) बडा धन प्राप्त करनेवाले महायुद्धके उत्पन्न होनेपर (एधि) हमें प्राप्त हो ॥ ६ ॥

(मन्युः वरुणः च) उत्साह और श्रेष्ठत्वका भाव (उभयं धनं) दोनों प्रकारका धन अर्थात (संसृष्टं) उत्पन्न किया हुआ और (सं-आकृतं) संग्रह किया हुआ, (अस्मभ्यं धत्तां) हमें दें । (हृदयेषु भियः दधानाः शत्रवः) हृदयोंमें भयोंको धारण करनेवाले शत्रु (पराजितासः अप नि-लयन्तां) पराजित होकर दूर भाग जावें ॥ ७ ॥

भावार्थ- उत्साहही इन्द्रके समान विजय करनेवाला है। उत्साह कभी निराशा के शब्द नहीं बुलवाता। इसलिये हमारे अन्तःकरणमें उत्साहका स्वामित्व स्थिर होवे । हम उन समर्थ महापुरुषोंका नाम लेते हैं कि जिनके अन्तःकरणमें उत्साहका स्रोत बहता रहता है ॥ ५ ॥

उत्साहके साथ सब शस्त्रास्त्र तैयार रहते हैं। उत्साहके साथ सब

ऐश्वर्य रहते हैं और उत्साहही अधिक बलका धारण करता है। यह प्रशंसनीय उत्साह सदा हमारा साथी बने और उसके साथ रहनेसे जीवन-युद्धमें हमारा विजय होवे ॥ ६ ॥

उत्साह और वरिष्ठता ये दो गुण साथ साथ रहते हैं, और ये सब धन प्राप्त कराते हैं। स्वयं उत्पन्न किया हुआ और स्वयं संग्रह किया हुआ धन इनसे प्राप्त होता है। उत्साही पुरुषके शत्रु मनमें डरते हुए परास्त होकर भाग जाते हैं ॥ ७ ॥

यशका मूल मंत्र।

मनुष्य सदा यश प्राप्त करनेकी इच्छा करता है, परंतु बहुत थोडे मनुष्योंको पता है कि अपने मनमें उत्साह रहनेसे ही यश प्राप्त होनेकी संभावना होती है। यश प्राप्त होनेका कोई दूसरा मार्ग नहीं है। इस सूक्तमें इसी "उत्साह" को प्रेरक देवता मान कर उसका वर्णन किया है; जो पाठक यशस्वी होना चाहते हैं वे इस सूक्तका मनन करें और उत्साहको यश देनेवाला जान कर अपने मनमें उत्साहकी स्थापना करके जगत्में यशस्वी बनें। यशस्वी बननेका उपाय जो तृतीय मंत्रमें कहा है सबसे प्रथम देखने योग्य है—

त्वं वशी (शत्रून्) वशं नयासि। (मं० ३)

" स्वयं तू पहिले वशी अर्थात् संयमी बन, अपने आप को तू सबसे प्रथम वशमें कर, पश्चात् तू अपने शत्रुओंको वशमें कर सकेगा।" शत्रुओंको वशमें करनेका काम उतना कठिन नहीं है। जितना अपने अन्तःकरणको वशमें करनेका कार्य कठिन है। जिन्होंने अपने आपको वशमें कर लिया उन्होंने, मानो, सब शत्रुओंको वशमें कर लिया।

सब उद्धार अपने हृदयसे प्रारंभ होता है, इसलिये शत्रुको वशमें करनेका कार्य भी अपने हृदयसे ही प्रारंभ होना चाहिये। हृदयके अंदर काम क्रोधादि अनेक शत्रु हैं जिनको परास्त करनेसे अथवा उनको वशमें करनेसे ही मनुष्यका बल बढता है और पश्चात् वह शत्रुको वश करनेमें समर्थ होता है। " अपने आपको वशमें करो तब तुम शत्रुको वशमें कर सकोगे," यह उन्नतिका नियम है। पाठक गण इस नियमको अच्छी प्रकार स्मरण रखें।

उत्साह का महत्त्व ।

वेदमें 'मन्यु' शब्द उत्साह अर्थमें आता है। जिसको 'क्रोध' अर्थ वाला मान कर बहुत लोग अर्थका अनर्थ करते हैं। इस सूक्तमें भी 'मन्यु' शब्द 'उत्साह' अर्थमें है। यह उत्साह क्या करता है देखिये-जब यह उत्साह अपने (स-रथं) मन रूपी रथपर आरूढ होता है, उस समय मनुष्य(हर्षमाणाः) प्रसन्न चित्त होते हैं, उनका (हृषितासः) मन कभी निराशायुक्त नहीं होता, आनंदसे सब कार्य करनेमें समर्थ होता है। उत्साहसे (मर्+उत्+वन) मरनेकी अवस्थामें भी उठनेकी आशा बनी रहती है, कैसी भी कठोर आपत्ति क्यों न आजाय, मन सदा उल्हसित रहता है। उत्साहसे मनुष्य (अग्नि-रूपाः नरः) अग्निके समान तेजस्वी बनते हैं। (शत्रून् हत्वा) शत्रुओंको मारनेका सामर्थ्य उत्पन्न होता है। जिस मनुष्यमें यह उत्साह अन्तः शक्तियोंका (नः सेनानीः) संचालक सेनापति जैसा बनता है वहां (ओजः मिमानः) बल बढता है और (मृधः विनुदस्व) शत्रुओंको दूर करनेकी शक्ति उत्पन्न होती हैं । उत्साहसे (उग्रं पाजः) विलक्षण उग्र बल बढता है जिसके सामने (ननु आररुध्रे) कोई शत्रु ठहर नहीं सकता अर्थात् यह उत्साही पुरुष सब शत्रुओंको रोक रखता है, और पास आने नहीं देता। राष्ट्रमें (विशं विशं युद्धाय सं शिशाधि) हरएक मनुष्यको ऐसी शिक्षा देनी चाहिये कि जिस शिक्षाको प्राप्त करनेसे हरएक मनुष्य अपने जीवनयुद्धमें निश्चयपूर्वक विजय प्राप्त करनेके लिये समर्थ हो जावे। (विजयाय घोषं कृण्मसि) विजयका आनंद ध्वनि ही मनुष्य करें और कभी निराशाके कीचडमें न फंसे । यह उत्साह (विजेष-कृत्) विजय प्राप्त करानेवाला है। इस समय इन्द्रादिकोंने जो विजय प्राप्त किया है वह इसी उत्साहके बलपर ही किया है। एक वार मनमें जो मनुष्य पूर्ण निरुत्साही बनता है वह आगे जीवित भी नहीं रहता। अर्थात् जीवन भी इस उत्साहपर निर्भर रहता है। इसलिये हमारे मनका (अस्माकं अधिपाः) स्वामी यह उत्साह बने और कभी हमारे मनमें उत्साहहीनता न आवे। यह उत्साह ऐसा है कि जिसके (सह-भूत) साथ बल उत्पन्न हुआ है। अर्थात् जहां उत्साह उत्पन्न होगा वहां निःसंदेह बल उत्पन्न होगा ही। इसीलिये हरएक मनुष्यको चाहियें कि वह अपने मनमें उत्साह सदा स्थिर रखनेका प्रयत्न करे और कभी निराशाके विचार मनमें आने न दें। इसी उत्साहसे सब प्रकार के धन मनुष्य प्राप्त कर सकता है। शत्रुको परास्त करता है और विजयी होता हुआ इहपर लोकमें आनंदसे विचरता है।

पाठक इस विचारके साथ इस सूक्त का मनन करें और उचित बोध प्राप्त करें।

(३२)

(ऋषिः—ब्रह्मा, स्कंदः। देवता—मन्युः)

यस्ते॑ म॒न्योऽवि॑धद्वज्र सायक॒ सह॒ ओज॑ः पुष्य॑ति॒ विश्व॑मानु॒षक्।
सा॒ह्याम॒ दास॒मार्यं॒ त्वया॑ यु॒जा व॒यं सह॑स्कृतेन॒ सह॑सा॒ सह॑स्वता ॥ १ ॥
म॒न्युरिन्द्रो॑ म॒न्युरे॒वास॑ दे॒वो म॒न्युर्होता॒ वरु॑णो जा॒तवे॑दाः।
म॒न्युर्विश॑ ईडते॒ मानु॑षी॒र्याः पा॒हि नो॑ मन्यो॒ तप॑सा स॒जोषाः॥ २ ॥

अर्थ— हे (वज्र सायक मन्यो) शस्त्रास्त्रयुक्त उत्साह! (यः ते अविधत्) जो तेरा सेवन करता है वह (विश्वं सहः ओजः) सब बल और सामर्थ्यको (आनुषक् पुष्यति) निरन्तर पुष्ट करता है। (सहस्कृतेन सहस्वता) बलको बढानेवाले और विजयी (त्वया युजा) तुझ साहायकके साथ (वयं दासं आर्यं साह्याम) हम दासों और आर्योंको अपने वशमें करेंगे ॥ १ ॥

(मन्युः इन्द्रः) उत्साहही इन्द्र है, (मन्युः एव देवः आस) उत्साह ही देव है, (मन्युः होता वरुणः जातवेदाः) उत्साहही हवन कर्ता, वरुण और जातवेद अग्नि है। वह (मन्युः) उत्साह है कि जिसकी (याः मानुषीः विशः ईडते) जो मानव प्रजाएं हैं वे सब प्रशंसा करती हैं। हे (मन्यो) उत्साह ! (सजोषाः तपसा नः पाहि) प्रीतिसे युक्त होकर तू तपसे हमारी रक्षा कर ॥ २ ॥

भावार्थ-- जिसके पास उत्साह होता है, उसको सब प्रकारका बल और शस्त्रास्त्रोंका सामर्थ्य प्राप्त होता है और वह हरएक प्रकारके शत्रुको वशमें कर सकता है ॥ १ ॥

इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि सब देव इस उत्साहके कारण ही बडे शक्तिवाले हुए हैं। मनुष्य भी इसी उत्साहकी प्रशंसा करते हैं क्योंकि यह उत्साह अपने सामर्थ्यसे सबको बचाता है ॥ २ ॥

अभीहि मन्यो तवसस्तवीयान्तपसा युजा वि जहि शत्रून् ।
अमित्रहा वृत्रहा दस्युहा च विश्वा वसून्या भरा त्वं नः ॥ ३ ॥
त्वं हि मन्यो अभिभूत्योजाः स्वयंभूर्भामो अभिमातिषाहः ।
विश्वचर्षणिः सहुरिः सहीयानस्मास्वोजः पृतनासु धेहि ॥ ४ ॥
अभागः सन्नप परेतो अस्मि तव क्रत्वा तविषस्य प्रचेतः ।
तं त्वा मन्यो अक्रतुर्जिहीडाहं स्वा तनूर्बलदावा न एहि ॥ ५ ॥

अर्थ- हे (मन्यो) उत्साह ! (तवसः तवीयान् अभीहि) महान् से महान् शक्तिवाला तू यहां आ। (तपसा युजा शत्रून् विजहि) अपने तपके सामर्थ्यसे युक्त होकर शत्रुओंका नाश कर। (अमित्रहा, वृत्रहा, दस्युहा त्वं) शत्रुओंका नाशक, आवरण करनेवालोंका नाशक और डाकुओंका नाशक तू (नः विश्वा वसूनि आभर) हमारे लिये सब धनोंको भर दे ॥ ३ ॥

हे (मन्यो) उत्साह ! (त्वं हि अभिभूति-ओजाः) तूही विजयी बलसे युक्त, (स्वयं-भूः भामः) अपनीही शक्तिसे बढनेवाला, तेजस्वी, (अभिमाति-षाहः) शत्रुओंका पराभव करनेवाला, (विश्वचर्षणिः सहुरिः) सबका निरीक्षक, समर्थ, (सहीयान्) और बलिष्ठ हो। तू (पृतनासु अस्मासु ओजः धेहि) युद्धोंमें हमारे अन्दर शक्ति स्थापन कर ॥ ४ ॥

हे (प्रचेतः मन्यो) ज्ञानवान् उत्साह ! मैं (तव तविषस्य अभागः सन्) तेरे बलका भाग न प्राप्त करनेके कारण (क्रत्वा अप परेतः अस्मि) कर्मशक्तिसे दूर हुआ हूं। इस लिये (अक्रतुः अहं तं त्वा जिहीड) कर्महीन सा होकर मैं तेरे पास प्राप्त हुआ हूं। अतः तू (नः स्वा तनूः बलदावा आ इहि) हमको अपने शरीरसे बल का दान करता हुआ प्राप्त हो ॥ ५ ॥

भावार्थ-उत्साहसे बल बढता है और शत्रु परास्त होते हैं। डाकु चोर और दुष्ट दूर किये जा सकते हैं और सब प्रकार का धन प्राप्त किया जा सकता है ॥ ३ ॥

उत्साहसे विजयी बल प्राप्त होता है, शत्रुओंका पराभव हो जाता है, अपनी सामर्थ्य बढ जाती है, तेजस्विता फैलती है, और हरएक प्रकारका बल बढता है। वह उत्साह का बल युद्धके समय हमें प्राप्त हो ॥ ४ ॥

जिसके पास यह उत्साह नहीं होता है, वह कर्म की शक्तिसे हीन हो

अयं ते अस्म्युप न एह्यर्वाङ् प्रतीचीनः सहुरे विश्वदावन् ।
मन्यो वज्रिन्नभि न आ ववृत्स्व हनाव दस्यूँरुत बोध्यापेः ॥ ६ ॥
अभि प्रेहि दक्षिणतो भवा नोऽधा वृत्राणि जङ्घनाव भूरि ।
जुहोमि ते धरुणं मध्वो अग्रमुभावुपांशु प्रथमा पिबाव ॥ ७ ॥

अर्थ-हे (सहुरे) समर्थ ! हे (विश्वदावन्) सर्वस्वदाता ! (अयं ते अस्मि) यह मैं तेरा ही हूं। (प्रतीचीनः नः अर्वाङ् उप एहि) प्रत्यक्षतासे हमारे पास आ। हे (मन्यो) उत्साह ! हे (वज्रिन) शस्त्रधर ! (नः अभि आववृत्स्व) हमारे पास प्राप्त हो। (आपेः बोधि) मित्रको पहचान, (उत दस्यून् हनाव) और हम शत्रुओंको मारें ॥ ६ ॥

(अभि प्र इहि) आगे बढ। (नः दक्षिणतः भव) हमारे दहनी ओर हो। (अध नः भूरि वृत्राणि जंघनाव) और हमारे सब प्रतिबन्धोंको मिटा देवें। (ते मध्वः अग्रं धरुणं) तेरे मधुर रस का मुख्य धारण करने वालेको (जुहोमि) मैं स्वीकार करता हूं। (उभौ उपांशु प्रथमा पिबाव) हम दोनों एकान्तमें सबसे पहिले उस रसका पान करें ॥ ७ ॥

जाता है। इसलिये हरएक मनुष्यको उचित है कि वह अपने मनमें उत्साह धारण करे और बलवान बने ॥ ५ ॥

उत्साहसे सब प्रकारका बल प्राप्त होता है। यह उत्साह हमारे मनमें आकर स्थिर रहे और उसकी सहायतासे हम मित्रोंको बढावें और शत्रुओंको दूर करें ॥ ६ ॥

उत्साह धारण करके आगे बढ। शत्रुओंको परास्त कर और मधुर भोगोंको प्राप्त कर ॥ ७ ॥

उत्साह का धारण।

पूर्व सूक्तमें कहा हुआ उत्साहका वर्णन ही इस सूक्तमें अन्य रीतिसे कहा है। जिस पुरुषमें उत्साह नहीं होता, वह अभागा होता है; ऐसा इस सूक्तके पञ्चम मंत्रमें कहा है। यह मंत्र यहां देखने योग्य है—

अभागः सन्नप परेतो अस्मि तव क्रत्वा तविषस्य ॥ (मं० ५)

"उत्साहके बलका भाग प्राप्त न होनेके कारण मैं कर्म शक्तिसे दूर हुआ हूं और

अभागा बना हूं। " उत्साह हीन होनेसे जो बडी भारी हानी होती है वह यह है। उत्साह हट जाते ही बल कम होता है, बल कम होते ही पुरुषार्थ शक्ति कम होती है, पुरुषार्थ प्रयत्न कम होते ही भाग्य नष्ट हो जाता है, इस रीतिसे उत्साहहीन मनुष्य नष्ट होजाता है।

परंतु जिस समय मनमें उत्साह बढ जाता है उस समय वह उत्साही मनुष्य (स्वयं-भूः) स्वयं ही अपना अभ्युदय साधन करने लगता है, स्वयं प्रयत्न करनेके कारण (भामः) तेजस्वी बनता है, (अभिमाति-साहः) शत्रुओंको दबाता है, और (अभि-भूति-ओजाः) विशेत सामर्थ्यसे युक्त होता है। इससे भी अधिक सामर्थ्य उसकी हो जाती है जिसका वर्णन इस सूक्तमें किया है। इसका आशय यह है कि जो मनुष्य अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त करना चाहता है, वह उत्साह अवश्य धारण करे। उत्साह हीन मनुष्यके लिये इस जगत्में कोई स्थान नहीं है और उत्साही पुरुषके लिये कोई बात असंभव नहीं है। पाठक इसको स्मरण रखके अपने मनमें उत्साह बढावें और पुरुषार्थ प्रयत्न करके सब प्रकार का यश प्राप्त करें और इहपर लोकमें आदर्श पुरुष बनें।

उत्साह मनमें रहता है, यह इन्द्रका स्वभाव-धर्म है। वेदके इन्द्र सूक्तोंमें उत्साह बढानेवाला वर्णन है। जो मनुष्य अपने मनमें उत्साह बढाना चाहते हैं वे वेदके इन्द्र सूक्त पढें और उनका मनन करें। इन्द्र न थकता हुआ शत्रुका पराभव करता है, यह उसके उत्साह के कारण है। इन सूक्तोंमें भी इसी अर्थका एक मंत्र है जिसमें कहा है कि " इस उत्साहके कारण ही इन्द्र प्रभावशाली बना है।" इसलिये पाठक इन्द्रके सूक्त मनन पूर्वक देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि उत्साह क्या चीज है और वह क्या कर सकता है। उत्साह बढाने के लिये उत्साही पुरुषोंके साथ संगती करना चाहिये। उत्साही ग्रंथ पढना चाहिये और किसी समय निरुत्साह का विचार मनमें आगया, तो उसको हटाकर उसके स्थानमें उत्साह का विचार स्थिर करना चाहिये। थोडा भी निरुत्साह मनमें उत्पन्न हुआ तो अल्प समयमें बढ जाता है और मनको मलिन कर देता है। इसलिये उन्नति चाहनेवाले पुरुषोंको उचित है कि वे इस रीतिसे अपने मनकी रक्षा करें।

पाप नाशन ।

(३३)

(ऋषिः—ब्रह्मा । देवता-पाप्मनाशनः अग्निः)

अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घमग्ने॑ शुशु॒ग्ध्या र॒यिम् ।
अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घम् ॥ १ ॥
सु॒क्षे॒त्रि॒या सु॑गातु॒याव॑सू॒या च॑ यजामहे ।
अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घम् ॥ २ ॥
प्र यद्भन्दि॑ष्ठ एषां॒ प्रास्माका॑सश्च सू॒रयः॑ ।
अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घम् ॥ ३ ॥
प्र यत्ते॑ अग्ने सू॒रयो॒ जाये॑महि॒ प्र ते॑ व॒यम् ।
अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घम् ॥ ४ ॥
प्र यद॒ग्नेः सह॑स्वतो वि॒श्वतो॒ यन्ति॑ भा॒नवः॑ ।
अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घम् ॥ ५ ॥

अर्थ—हे (अग्ने) प्रकाशक देव ! (नः अघं अपशोशुचत्) हमारा पाप निःशेष दूर होवे और हमारे पास (रयिं शुशुग्धि) धन शुद्ध होकर आवे। (नः अघं अप शोशुचत्) हमारा पाप दूर होवे ॥ १ ॥

(सुक्षेत्रिया सुगातुया) उत्तम क्षेत्रके लिये, उत्तम भूमिके लिये, (च वसुया यजामहे) और धनके लिये हम यजन करते हैं। हमारा पाप दूर होवे ॥ २॥

(एषां यत भन्दिष्ठः प्र) इनके बीचमें जिस प्रकार अत्यंत कल्याण युक्त होऊं (अस्माकासः सूरयः च) और हमारे ज्ञानी जन भी उत्तम अवस्था प्राप्त करें । इसके लिये जैसा चाहिये वैसा हमारा पाप दूर होवे ॥ ३ ॥

हे (अग्ने)) तेजस्वी देव ! (यत ते सूरयः) जैसे तेरे विद्वान हैं वैसे (ते वयं प्र जायेमहि) तेरे बनकर हम श्रेष्ठ हो जांयगे, इस लिये हमारा पाप दूर होवे ॥ ४ ॥

(यत) जैसे (सहस्वतः अग्नेः) बलवान अग्निके (भानवः विश्वतः प्रयन्ति) किरण चारों ओर फैलते हैं, उस प्रकार मेरे फैलें, इसलिये हमारा पाप दूर होवे ॥ ५ ॥

त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि ।
अप नः शोशुचदघम् ॥ ६ ॥
द्विषो नो विश्वतोमुखाति नावेव पारय ।
अप नः शोशुचदघम् ॥ ७ ॥
स नः सिन्धुमिव नावाति पर्षा स्वस्तये ।
अप नः शोशुचदघम् ॥ ८ ॥

अर्थ- हे (विश्वतो-मुख) सब ओर मुखवाले देव ! (त्वं हि विश्वतः परिभूः असि) तू ही सब के ऊपर होनेवाला है, वैसा बननेके लिये हमारा पाप दूर होवे ॥ ६ ॥

हे (विश्वतो-मुख) सब ओर मुखवाले देव ! (नावा इव) नौका के समान (नः द्विषः अतिपारय) हमें शत्रुओंके समुद्रसे पार कर और हमारे पाप दूर कर ॥ ७ ॥

(सः) वह तू (नः अतिपर्ष) हमें पार कर (नावा सिंधुं इव) जैसे नौका से समुद्र के पार होते हैं। और (स्वस्तये) कल्याणके लिये (नः अघं अप शोशुचत) हमारे सब पाप दूर हों ॥ ८ ॥

पापको दूर करना।

इस सूक्तमें पापको दूर करनेसे जो अनेक लाभ होते हैं उनका वर्णन है। पापको दूर करनेसे और शुद्ध होनेसे (रयि) धन मिलता है, (सुक्षेत्र) उत्तम क्षेत्र प्राप्त होता है, (सुगातु) उत्तम मार्ग उन्नतिके लिये खुला होता है, (भन्दिष्ठः) कल्याण प्राप्त होता है, (सूरयः) विद्वानोंकी संगति मिलती है, (सूरयः जायेमहि) ज्ञान संपन्नता प्राप्त होती है, (भानवः विश्वतः यन्ति) प्रकाश चारों ओर फैलता है, (परिभूः) सबसे अधिक प्रभाव हो जाता है, (अतिपारयति) दुःख दूर हो जाते हैं और (स्वस्ति) कल्याण प्राप्त होता है, ये लाभ पापको दूर करनेसे होते हैं। जिस प्रमाणसे पाप दूर होगा और पवित्रता हो जायगी, उस प्रमाणसे उक्त लाभ हो जांयगे। पाठक इस बातका उत्तम स्मरण रखें और जहां तक हो सके वहां तक प्रयत्न करके स्वयं निष्पाप बननेका यत्न करें, तो उक्त लाभ स्वयं ही उनके पास चलकर आ जांयगे।

(३४)

(ऋषिः--अथर्वा। देवता—ब्रह्मौदनं)

ब्रह्मा॑स्य शी॒र्षं बृ॒हद॑स्य पृ॒ष्ठं वा॑मदे॒व्यमु॒दर॑मोद॒नस्य॑।
छन्दां॑सि प॒क्षौ मुख॑मस्य स॒त्यं वि॑ष्टा॒री जा॒तस्तप॒सोऽधि॑ य॒ज्ञः॥ १ ॥
अ॒न॒स्थाः पू॒ताः पव॑नेन शु॒द्धाः शुच॑यः शुचि॒मपि॑ यन्ति लो॒कम्।
नैषां॑ शि॒श्नं प्र द॑हति जा॒तवे॑दाः स्व॒र्गे लो॒के ब॒हु स्त्रैण॑मेषाम् ॥ २ ॥

अर्थ- (अस्य ओदनस्य शीर्षं ब्रह्म) इस अन्नका सिर ब्रह्म है। (अस्य पृष्ठं बृहत्) इस अन्नकी पीठ बडा क्षत्र है। और (ओदनस्य उदरं वामदेव्यं) इस अन्नका उदर-मध्यभाग-उत्तम देव संबंधी है। (अस्य पक्षौ छन्दांसि) इसके दोनों पार्श्वभाग छन्द हैं और (अस्य मुखं सत्यं) इसका मुख सत्य है। इसकी (तपसः) उष्णतासे (विष्टारी यज्ञः अधिजातः) फैलनेवाला यज्ञ होता है ॥ १ ॥

(अन्-अस्थाः) अस्थिरहित, (पवनेन शुद्धाः पूताः शुचयः) प्राणायामसे शुद्ध, पवित्र, और निर्मल बने हुए (शुचिं लोकं अपि यन्ति) शुद्ध लोकको प्राप्त होते हैं। (जातवेदाः एषां शिश्नं न प्रदहति) अग्नि इनके सुख साधन रूप इन्द्रियको नहीं जला देता और (स्वर्गे लोके एषां बहु स्त्रैणं) स्वर्गलोकमें इसको बहुत सुख होता है ॥ २ ॥

भावार्थ— इस अन्नका सिर ब्राह्मण, पीठ क्षत्रिय, मध्य भाग वैश्य [और शेष भाग शूद्र] है। छंद इसके दाये बाये भाग हैं, इसका मुख सत्य है। इस अन्नसे विस्तृत यज्ञ सिद्ध होता है ॥ १ ॥

विदेही, शुद्ध, पवित्र, और निर्मल बनते हुए यज्ञकर्ता लोग उच्च लोकको प्राप्त करते हैं। सुख प्राप्त करनेके इसके इंद्रिय अग्निसे नहीं जलते हैं; उच्च लोकमें वह ये सुख प्राप्त करता है ॥ २ ॥

विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनानवर्तिः सचते कदा चन ।
आस्ते यम उप याति देवान्त्सं गन्धर्वैर्मदते सोम्येभिः ॥ ३ ॥
विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनान्यमः परि मुष्णाति रेतः ।
रथी ह भूत्वा रथयान ईयते पक्षी ह भूत्वाति दिवः समेति ॥ ४ ॥
एष यज्ञानां विततो वहिष्ठो विष्टारिणं पक्त्वा दिवमा विवेश ।
आण्डीकं कुमुदं सं तनोति बिसं शालूकं शफको मुलाली ।
एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत्पिन्वमाना
उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः ॥ ५ ॥

अर्थ- (ये विष्टारिणं ओदनं पचन्ति) जो इस व्यापक अन्नको पकाते हैं (एनान् कदाचन अवर्तिः न सचते) इनको कभी भी दरिद्रता नहीं प्राप्त होती है। जो (यमे आस्ते) नियममें रहता है वह (देवान् उपयाति) देवोंको प्राप्त होता है। और वह (सोम्येभिः गन्धर्वैः संमदते) शान्त गन्धर्वोंसे मिलकर आनन्द प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

(ये विष्टारिणं ओदनं पचन्ति) जो इस व्यापक अन्न को पकाते हैं (यमः एनान् रेतः न परिमुष्णाति) यम इनके वीर्यको नहीं कम करता। वह (रथी ह भूत्वा रथयाने ईयते) रथी होकर रथ मार्गसे विचरता है। और (पक्षी ह भूत्वा अति दिवः सं एति) पक्षीके समान होकर द्युलोक को पार करके ऊपर जाता है ॥ ४ ॥

(एष यज्ञानां वहिष्ठः विततः) यह सब यज्ञोंमें श्रेष्ठ और विस्तृत है। इस (विष्टारिणं पक्त्वा दिवं आ विवेश) विस्तृत यज्ञका अन्न पकाकर यजमान द्युलोकमें प्रविष्ट होता है। (शं-कफः मुलाली) शान्तचित्त होकर

भावार्थ- जो लोग इस अन्नदानरूप यज्ञको करते हैं उनको कभी कष्टकी अवस्था नहीं प्राप्त होती। वह अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये यम पालन करता हुआ देवत्व प्राप्त करता है और वहांका आनंद प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

जो लोग इस अन्नदान रूप यज्ञको करते हैं वे कभी निर्वीर्य नहीं होते। वे इस लोकमें रथोंमें बैठते हैं और रथी कहलाते हैं और अन्तमें द्युलोक के भी ऊपर पंहुचते हैं ॥ ४ ॥

घृतह्रदा मधुकूलाः सुरोदकाः क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना ।
एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत्पिन्वमाना
उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः ॥ ६ ॥
चतुरः कुम्भांश्चतुर्धा ददामि क्षीरेण पूर्णाँ उदकेन दध्ना ।
एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत्पिन्वमाना
उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः ॥ ७ ॥

मूलशक्तिकी वृद्धि करनेवाला (आण्डीकं कुमुदं बिसं शालूकं) अण्डेके समान बढनेवाले आनन्ददायक कमल कन्दके समान बढनेवाले को (संतनोति) ठीक प्रकार फैलाता है। (एताः सर्वाः धाराः त्वा उपयन्तु) ये सब धाराएं तुझे प्राप्त हों, (स्वर्गे लोके मधुमत् पिन्वमानाः समन्ताः पुष्करिणीः) स्वर्गलोकमें मधुर रसको देनेवाली सब नदियां (त्वा उप तिष्ठन्तु) तेरे समीप उपस्थित हों ॥ ५ ॥

(घृतह्रदाः मधुकूलाः) घीके प्रवाहवाली, मधुर रसके तटवाली, (सुरोदकाः) निर्मल जलसे युक्त (उदकेन दध्ना क्षीरेण पूर्णाः) जल, दही और दूधसे परिपूर्ण (एताः सर्वा धाराः त्वा उपयन्तु०) ये सब धाराएं तुझे प्राप्त हों। स्वर्गलोकमें मधुररसको देनेवाली सब नदियां तेरे समीप उपस्थित हों ॥ ६ ॥

(क्षीरेण दध्ना उदकेन पूर्णान्) दूध, दही और उदकसे भरे हुए (चतुरः कुम्भान् चतुर्धा ददामि) चार घडोंको चार प्रकारसे प्रदान करता हूं। ये सब धाराएं तुझे प्राप्त हों,स्वर्ग लोकमें मधुर रसको देनेवाली सब नदियां तेरे समीप उपस्थित हों ॥ ७ ॥

भावार्थ-यह अन्नयज्ञ सब यज्ञोंमें श्रेष्ठ है,जो इसको करते हैं वे स्वर्ग प्राप्त करते हैं। वहां शान्तिसे युक्त होते हुए अन्तःशक्तिसे संपन्न होकर आनंद प्राप्त करते हैं। वहां सब मधुर रस अनायाससे उनको प्राप्त होते हैं॥५॥

घी, शहद, शुद्ध जल, दूध, दही आदिके स्रोत मिलनेके समान पूर्ण तृप्ति उनको प्राप्त होती है ॥ ६ ॥

दूध, दही, जल और शहद से पूर्ण भरे हुए चार घडे विद्वानोंको दान करनेसे उच्च लोक प्राप्त होकर पूर्ण तृप्ति प्राप्त होती है ॥ ७ ॥

इममोदनं नि दधे ब्राह्मणेषु विष्टारिणं लोकजितं स्वर्गम्।
स मे मा क्षेष्ट स्वधया पिन्वमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुघा मे अस्तु ॥८॥

अर्थ— (इमं विष्टारिणं लोकाजितं स्वर्गं ओदनं) इस विस्तृत लोकोंको जीतनेवाले और स्वर्ग देनेवाले अन्नको (ब्राह्मणेषु निदधे) ज्ञानियोंके लिये प्रदान करता हूं। (स्वधया पिन्वमानः) अपनी धारक शक्तिसे तृप्त करनेवाला(सः मे मा क्षेष्ट) वह अन्नदान मेरी हानि न करे। (विश्वरूपाः कामदुघा धेनुः मे अस्तु) विश्वरूपी कामना पूर्ण करनेवाली काम धेनु मेरे लिये होवे ॥ ८ ॥

भावार्थ- यह अन्नका दानरूप यज्ञ करनेसे और यह अन्न ज्ञानियोंको देनेसे किसी प्रकारकी भी हानि नहीं होती है। अपनी शक्तिसे तृप्ति होनेकी अवस्था प्राप्त होनेके कारण, मानो सब कामनाओंको पूर्ण करनेवाली कामधेनु ही प्राप्त होती है ॥ ८ ॥

अन्नका विष्टारी यज्ञ।

"विष्टारी यज्ञ" का वर्णन इस सूक्तमें किया है। "विष्टारी" शब्दका अर्थ है "विस्तार करनेवाला" अर्थात् जिसका परिणाम बडा विस्तृत होता है। यह यज्ञ (ओदनस्य) अन्नका किया जाता है। अन्न पका हो, या कच्चा हो, अर्थात् पका कर तैयार किया हुआ हो अथवा धान्यके रूपमें हो अथवा जिससे धान्य खरीदा जाता है ऐसे धनादिके रूपमें हो, इस सबका अर्थ एकही है।

इस सूक्तमें "पचन्ति" क्रिया है जो पकाये अन्नकी सूचना देती है, तथापि यह भाव गौण मानना भी अयोग्य नहीं होगा। सप्तम मंत्रमें (क्षीर, दधि, उदक, मधु) दूध, दही, उदक, और शहद ये चार पदार्थ विष्टारी यज्ञमें दान देनेके लिये कहे हैं। ये पदार्थ कोई पके अन्नके रूपमें नहीं हैं। दूध तपाया जा सकता है, परंतु शहद और दहि पकानेकी वस्तु नहीं है। इसलिये इस विष्टारी यज्ञकेलिये सब अन्न पकाया ही होना चाहिये ऐसी बात नहीं है। उत्तम पक्ष तो पकाये अन्नका दान करना अर्थात विद्वानोंको खिलाना ही है, मध्यम पक्ष विद्वानोंको धान्य समर्पण करना है और गौणपक्ष धान्य खरीदनेके धन आदि साधन अर्पण करना है। जल, शहद, दूध, घी, मक्खन, तथा खान

पानके अन्यान्य पदार्थ देना भी इस यज्ञ का अंग है। जलदान करनेका अर्थ कूआ खुदवाकर अर्पण करना, दूध देनेका तात्पर्य दूध देनेवाली गौवें देना। शहद घी आदि तैयार अवस्थामें देना इत्यादि बातें स्पष्ट हैं।

ब्राह्मणोंको दान।

यह विष्टारी यज्ञका दान ब्राह्मणों को देना चाहिये इस विषयमें अष्टम मंत्रमें कहा है-

इमं ओदनं निदधे ब्राह्मणेषु। (मं० ८)

" यह अन्न ब्राह्मणोंको देता हूं।" अर्थात् यह अन्न ब्राह्मणों में विभक्त करता हूं। किसी अन्य के लिये देना नहीं है। ऐसा क्यों करना इसका थोडासा विचार करना चाहिये। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद ये पंचजन हैं, इनमें से क्षत्रिय राज-प्रबंध का कार्य करता है और ऐश्वर्यसंपन्न तथा अधिकारसंपन्न रहता है, इस लिये उसको दान लेनेकी आवश्यकता नहीं है। वैश्य कृषि और क्रयविक्रयादि व्यापार करता है तथा सूद भी प्राप्त करता है, इस लिये धनसंपन्न होनेके कारण उसको दान लेनेकी आवश्यकता नहीं है। शूद्र सब कारीगरी करनेवाले और उत्पादक धंदा करनेवाले होते हैं, इस लिये उनके पास धन होता है, अतः काम धंदा करके धन कमानेकी शक्यता होनेके कारण इनको दान लेनेकी आवश्यकता नहीं है। निषाद प्रायः जंगल में रहते हैं, स्थायी गृहादि बनाकर नहीं रहते, वनमें जहां वन्य खाद्यपेय प्राप्त होगा, वहां जाकर निवास करते हैं। इस लिये ये किसी के पास दान नहीं मांग सकते। शेष रहे ब्राह्मण, इनके पास कोई उत्पादक धंदा नहीं कि जिससे ये धन कमावें, राज्य प्रबंधमें विशेष अधिकार इनको नहीं है जिस से क्षत्रियके समान इनकी संपन्नता बढ सके, इस लिये इसकी जन्मसिद्ध निर्धनता रहती है। दूसरेने धनधान्य दिया तो इसकी वृत्ति चलेगी, अन्यथा भूखा रहना ही आवश्यक होगा, इस लिये ब्राह्मण को दान देना चाहिये। ब्राह्मण ही दान लेनेका अधिकारी है इस का सामाजिक दृष्टिसे यह कारण है।

ब्राह्मणोंको दान क्यों दिया जाय?

अन्य वर्णके लोग ब्राह्मणोंको दान क्यों दें इसका भी कारण ढूंढना चाहिये। इस सूक्तमें दान का जो फल लिखा है वह इस प्रसंगमें देखिये—

(१) शुद्ध, पवित्र, निर्मल और विदेही होकर पवित्र लोक को प्राप्त करता है। (मं० २)

(२) स्वर्गलोक प्राप्त करता है। (मं० ४)

(३) स्वर्ग लोकमें उसको मधुररस की धाराएं प्राप्त होती हैं। (मं५-७)

ये फल अलौकिक हैं अर्थात् भूलोकमें यहां प्राप्त होनेवाले नहीं हैं। स्वर्ग में क्या होता है और क्या नहीं इस विषयमें साधारण मनुष्य को यहां ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। तथापि इस विषयमें थोडीसी कल्पना आनेके लिये स्वर्गका थोडासा स्वरूप कथन करते हैं —

मृत्युलोक।

(१) इहलोक— इस लोकमें मनुष्य जीवित अवस्थामें रहते हैं। स्थूल शरीरसे विचरते हैं, अपने स्थूल इंद्रियोंसे सुख दुःखका अनुभव प्राप्त करते हैं। मनुष्यका जीवन इस लोकमें होनेके कारण यहांके अनुभव प्रत्यक्षानुभव करके कहे जाते हैं।

स्वर्गलोक।

(२) परलोक—दूसरा लोक। इस में यह देह छोडनेके पश्चात् प्राप्त होनेवाले लोकोंका समावेश होता है। इस स्थूल देहसे इस जगत्में जिस प्रकार व्यवहार होते हैं, उसी प्रकार सूक्ष्म देहोंसे अन्य लोकोंमें व्यवहार होते हैं परंतु इसमें थोडासा भेद है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण ये चार प्रकार के देह मनुष्य को प्राप्त होते हैं और ये एक दूसरेके अंदर रहते हैं। जिस प्रकार स्थूल देहका कार्यक्षेत्र इस दृश्य जगत्में है, उसी प्रकार सूक्ष्म देहोंका कार्यक्षेत्र सूक्ष्म जगत् में होता है। स्थूल देहसे सूक्ष्म जगत् में कार्य नहीं हो सकता, परंतु सूक्ष्म देहोंसे स्थूल जगत् में अंशरूप प्रेरणाका कार्य हो सकता है यह सत्य है, तथा केवल सूक्ष्म देहोंसे अर्थात् मरण के पश्चात् अवशिष्ट रहे हुए सूक्ष्म देह से इस स्थूल जगत् में कार्य नहीं कर सकते। इन लोकोंका विचार करनेके लिये इस व्यवस्था की ठीक कल्पना होनी चाहिये।

वासनादेह।

स्थूल देहका कार्य सब जानते ही हैं, इसके अंदर पहिला सूक्ष्म देह "वासना देह" है, भद्र और अभद्र वासना मनुष्य करता है, वह इस देहसे करता है। जो मनुष्य घात पात और हिंसा आदि की अभद्र वासनाओंसे अपने आपको अपवित्र करते हैं और इसी प्रकारके दुष्ट कार्योंमें अपनी आयु व्यतीत करते हैं, उनका यह वासना देह बडा मलिन होता है और जो लोग अपनी वासनाएं पवित्र करते हैं शुद्ध और निष्पाप कामनाओंका धारण करते हैं, उनका वासनादेह शुद्ध और पवित्र बनता है।

मृत्यु आनेसे मनुष्यका स्थूल देह नष्ट हुआ तो भी स्थूल देहके नाशसे यह "वासना देह" नष्ट नहीं होता, अर्थात् मृत्युके नंतर भी और स्थूल देह नष्ट हो जानेपर भी यह जीव अपने वासना देहसे अपनी वासनाएं करता रहता है। आमरणान्त हिंसक वृत्तिसे रहे हुए मनुष्यकी वासनाएं हिंसामय क्रूर होती हैं और शांत तथा सम वृत्तिसे रहे हुए मनुष्याकी शांतिसे पूर्ण निर्भय वृत्तिकी वासनाएं होती हैं। हिंसापूर्ण वासनाओंसे अशांति और निर्भयताकी वासनाओंसे शांति होती है। वासना देहके कार्य क्षेत्रमें मनुष्यको इस प्रकार सुख दुःख केवल अपनी वासनाओंसे ही प्राप्त होता है। बुरी वासनोंके प्राबल्यसे जो अशान्ति होती है उसीका नाम नरक है और शुभ वासनाओंकी प्रबलतासे मनुष्य स्वर्ग सोपानके मार्गसे ऊपर चढता है अर्थात् शान्तिसुखका अनुभव मरणोत्तरके कालमें भी करता है। मनुष्य अपना स्वर्ग और नरक स्वयं बनाता है ऐसा जो कहते हैं उसका हेतु यही है। जो मनुष्य अपने अंदर शुभ वासनाओंको स्थिर करता है और आत्मशुद्धिका साधन करता है वह अपने लिये स्वर्ग रचता है और जो मनुष्य अपने अंदर हीन वासनाएं बढाता है, वह अपने लिये नरकका अग्नि प्रज्वलित करता है।

नरकके दुःख।

कामी और क्रोधी पुरुष अपनी कुवासनाएं अतृप्त रहनेके समय कैसे तडफते रहते हैं, इसका अनुभव जिनको है वे जान सकते हैं कि मरणोत्तरके कालमें अशुभ वासनाओंके भडक उठनेसे मृतात्माको कैसा तडफना पडता होगा, यही उसका नरक वास है। इस वासना देहका बुरी वासनाओंका जाल जबतक चलता रहता है तबतक यह तडफना उसके लिये अत्यंत अपरिहार्य ही है और कोई दूसरा इस समय उसके इन कष्टोंको दूर नहीं कर सकता। क्यों कि उसके ये कष्ट स्वयं उसकी अंदरकी वासनाओंके कारण होते हैं। जब वासनाएं उठ उठ कर उनका परिणाम न होनेके कारण कुछ समयके पश्चात् स्वयं नष्ट होती हैं, तब उसका यह नरक वास समाप्त होता है।

इस रीतिसे शुभाशुभ वासनाकी तरंगें उठना जब बन्द हो जाता है तब इसका यह भोग समाप्त होता है, मानो इस समय इसका वासना देहभी फट जाता है अर्थात् इस की वासना देहकी भी मृत्यु हो जाती है। इस वासना देहसे मनुष्य स्वप्न देखता है। शुभ और अशुभ स्वप्न का अनुभव होना शुभाशुभ वासनाओंसे ही होता है। यदि मनुष्य अपने स्वप्नोंका विचार करेगा, तो भी उसको अपने मरणोत्तर की स्थितिकी कल्पना हो

सकती है और अपनी वासनाओंकी शुभाशुभ अवस्थाकाभी पता उसको लग सकता है, तथा मरणोत्तर नरक प्राप्त होगा या स्वर्ग प्राप्त होगा, इसकाभी ज्ञान हरएक को इससे हो सकता है। अपनी वासनाओंकी परीक्षा से यह समझना कठिन नहीं है।

कल्पवृक्ष और कामधेनु।

जब पूर्वोक्त प्रकार वासनादेह की मृत्यु हो जाती है तब मृतात्माका कारणदेह कार्य करने लगता है। यहां यदि उसके शुभ और सत्य प्रियताके विचार हुए तो उसको अपने संकल्पोंसे ही सुख और आनंद मिलता है। जो कल्पना होगी, वह मूर्तरूपमें इस समय उपस्थित होगी। यही कल्पवृक्ष का स्थान है, या स्वर्गीय कामधेनुभी यही है। जो कल्पना उठेगी वह मूर्तरूप धारण करके इसके सन्मुख आजायगी। शुभ मंगल कल्पनाओंसे सुख और अन्य कल्पनाओंसे दुःख होगा। कल्पवृक्षके नीचे बैठा हुआ मनुष्य यदि " व्याघ्रका हमला अपने ऊपर होने की कल्पना " करेगा तो उसकी कल्पना होते ही व्याघ्रका हमला होकर वह उसी समय मर जायगा। इसमें कल्पवृक्षका कोई दोष नहीं है, परंतु कल्पना करनेवालेका ही दोष है। क्योंकि दूसरा मनुष्य सुमधुर फलभोज की कल्पना करके सुमधुर फलोंका आस्वादभी लेगा। यह केवल कल्पनाके ही खेल हैं। इस कारण देहकी अवस्थामें येही संकल्पोंके खेल होते हैं। यदि इसके शुभ संकल्प बने हों, तो इस समय उसके लिये ये शुभसंकल्प अत्यंत सुख दे सकते हैं। स्वर्गलोकमें घी, दूध, शहद,दही की मीठी नदियां प्राप्त होंगी, और अन्यान्य सुख मिलेगा, ऐसा जो इस सूक्तमें कहा है, वह सुख इस प्रकार उसके शुभ विचारोंके कारणही उसको प्राप्त होगा। शहदकी कल्पना होते ही वह उसको प्राप्त होगा और इसी प्रकार अन्यसुख भी इसको मिलेंगे। मंत्र ५ से ८ तक जो स्वर्ग सुख का वर्णन किया है, उसका तात्पर्य यह है। अष्टम मंत्रमें—

विश्वरूपा धेनुः कामदुधा मे अस्तु। (मं० ८)

" विश्वरूपी कामनापूर्ण करनेवाली कामधेनु मुझे स्वर्गमें मिले " ऐसा जो कहा है, यह कामधेनु इसी समय इस रीतिसे प्राप्त होती है। इस स्वर्गलोक के संकल्पका प्रभाव देखिये कैसा वर्णन किया है—

संकल्पसिद्धि।

अथ यद्यन्नपानलोककामो भवति… ॥ ७ ॥ अथ यदि गीतवादितलोककामो भवति… ॥ ८ ॥ अथ यदि स्त्रीलोककामो भवति… ॥ ९ ॥

यं यं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन संपन्नो महीयते ॥१०॥
छां० ८।२।७—१०

" अन्नपान, गानाबजाना, स्त्रीसुख आदि जिसकी कामना वह इस समय करता है, उसके संकल्पसे ही उसको उन सब सुखोंकी प्राप्ति होती है । " यह छांदोग्य उपनिषद् में कहा हुआ वर्णन इस सूक्तके वर्णनके साथ पाठक देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि दोनों वर्णन समान ही भाव व्यक्त कर रहे हैं ।

स्वर्गमें शहद, दही, दूध, घी, शुद्धोदक आदिकी नहरें हैं, यह बात वस्तुतः नहीं है। परंतु शहदकी कल्पना उठनेसे जितना चाहे बडा शहदका तालाब या स्रोत उसको प्राप्र हो सकता है और उसके सेवन करनेका आनंद उसको केवल संकल्पके प्रभावसे ही मिल सकता है ।

इस सूक्तमें " स्वर्गलोकमें बहुत (बहु स्त्रैणं) स्त्रीसुख (मं० २); मीठे रसकी धाराएं (मधुमत् पिन्वमानाः धाराः मं० ५-७); (घृतन्ह्रदाः) घीके तालाब, (मधुकूलाः) शहदकी नदियां, (क्षीरेण दध्ना पूर्णाः) दूध और दहीसे भरे हौज (मं० ८) " इत्यादि जो वर्णन है वह पूर्वोक्त रीतिसे अनुभवमें आनेवाला है, यह पाठक स्मरणमें रखें । 'कारण' शरीरकी यह अवस्था है जहां सङ्कल्पकी सिद्धी होती है ।

कुराणमें बहिश्त ।

कुराण शरीफ में जो " बहिश्त " की कल्पना है और उस बहिश्त में पानीके स्रोत बहने और शहदकी नदियां होनेका जो वर्णन है वह इस सूक्तसे लिया हुआ प्रतीत होता है । इस सूक्तके पंचम मंत्रमें " वहिष्ठः " शब्द है जो स्वर्गदायक यज्ञका वाचक है और साथ साथ स्वर्गका भी दूरतः वाचक है, उसीका रूपान्तर कुराणशरीफका "बहिश्त" है । नदियां और स्रोत दोनों स्थानपर समान हैं। परंतु वेदादि ग्रंथोंमें जो स्वर्गकी कल्पना विशद की है और ऊपर बताये छांदोग्योपनिषद् में जो कल्पना स्पष्ट कर दी है, उस प्रकार कुराणशरीफ् में नहीं की है, इसलिये उस ग्रंथके माननेवालोंको प्रतीत होता है, कि वहां सचमुच शहदकी नदियां हैं । परंतु वैदिक धर्म के ग्रंथोंमें स्वर्गकी स्पष्ट कल्पना बता दी है, इसलिये हमें पता है कि वहां संकल्पके बलके कारण उक्त अनुभव आते हैं और वहांके अनुभव उस 'कारण' शरीरकी अवस्थामें निःसंदेह सत्य हैं । अन्य धर्म ग्रंथोंके वचनोंका वेदके वचनों के साथ इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टिसे विचार किया जायगा, तो उनके संदिग्ध वचनोंका ठीक अर्थ ध्यानमें आजायगा

और धर्मवचनोंका ठीक ठीक अर्थ सबको विदित होगा। ऐसा होनेसे कई झगडे मिट जांयगे, परंतु ऐसा होने के लिये तुलनात्मक धर्म ग्रंथोंके वचनोंका विचार होना आवश्यक है। जब वह शुभ समय आ जायगा, तबही सत्य धर्म का प्रचार और विचार संभवनीय है।

मनो-रथ।

इस प्रकार स्वर्गकी पुष्करिणी और कामधेनु क्या है उसका तात्पर्य क्या और उस का अनुभव किस समय कैसा होता है इस बातका विचार हुआ। स्वर्गधाम का अनुभव 'कारण' शरीरमें पूर्वोक्त प्रकार होता है। इसको "मनोदेह" अथवा "मनोरथ" अर्थात् मनरूपी रथ भी कह सकते हैं। इसका वर्णन चतुर्थ मंत्रमें इस प्रकार है—

रथी ह भूत्वा रथयान ईयते। (मं० ४)

"यह रथमें बैठता है और महारथी बनकर चलता है।" यह उसका 'मनो-रथ' ही है। मनके संकल्पके रथमें बैठता है और जिस सुखको चाहे केवल संकल्पसे ही प्राप्त करता है। अब पाठक यहां अवश्य देखें कि मनके शुभ संकल्प जीतेजी स्थिर होनेकी कितनी आवश्यकता है। अशुभ संकल्प हुए तो येही संकल्प राक्षस बनकर इस समय इसके पीछे पडते हैं और अनेक भयंकर दृश्योंका अनुभव यह उस समय करता है। बडे डरसे व्याकुल होता है। उसकी कल्पना पाठक पूर्वोक्त वर्णनसे ही कर सकते हैं।

शुभसंकल्पोंको मनमें स्थिर करनेवाले के लिये जो लाभ होते हैं उनका वर्णन इस सूक्तमें निम्नलिखित प्रकार है—

नैषां शिस्नं प्रदहति जातवेदाः। (मं० २)
नैनान् यमः परिमुष्णाति रेतः। (मं० ४)

"अग्नि शुभसंकल्पधारी मनुष्यका शिस्न जलाता नहीं, और यम उसका वीर्य कम नहीं करता।" अर्थात् जो अशुभ विचारोंका सतत चिन्तन करते रहते हैं उनका शिस्न अग्नि जलाता है और यम उनको निर्वीर्य बना देता है। इन अशुभ विचारोंके कारण वह मनुष्य इन्द्रिय शक्तियोंसे हीन होता है और क्षीणवीर्य भी बनता है। इस जगत्में भी यह अनुभव पाठकोंको मिल सकता है। जो दुराचारी होते हैं और दुष्टविचारोंसे अपने मनको कलंकित करते हैं, वे यहां ही क्षयी निर्वीर्य और निस्तेज होते हैं। मृत्युके पश्चात् वासना-देहमें जिस समय उसकी वासनाएं भडक उठतीं हैं उस समय उसके

दग्ध हो जानेके कष्ट कल्पनासे ही पाठक जान सकते हैं । विषयवासनाओंकी ज्वालाएं उठ उठ कर उसको प्रतिक्षण जला देती हैं और उस समय उसकी जलन असह्य हो जाती है । यह तो अनियमसे वर्ताव करनेवालोंकी अवस्था है । धर्मनियमोंसे चलनेवालोंकी अवस्था भी देखिये—

यमोंका पालन ।

(यः) यमे आस्ते (स) उपयाति देवान् । (मं० ३)

" यो यममें रहता है वह देवोंको प्राप्त होता है " अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांच यमोंको जो अपने आचरणमें लाता है, वह स्वर्ग निवासी देव ही बन जाता है । शुभ विचार उसके मनमें स्थिर रहनेके कारण मरनेके पश्चात् दुष्ट वासनाओंके कष्ट उसको होते ही नहीं, परंतु वह सीधा स्वर्ग धाममें कल्पवृक्षोंके वनमें कामधेनुओंका दूध पीता हुआ और अमृत रसधाराओंका मधुर आस्वाद लेता हुआ पूर्वोक्त प्रकार आनंदमें रमता और विचरता है । वह शुभ संकल्पोंसे शुद्ध पवित्र और मलहीन होकर परिशुद्ध अवस्थामें विचरता है (मं० २) । मनुष्यको प्रयत्न करके ऐसी अपनी मनोभूमिका बनाना आवश्यक है । यह सब उन्नति यज्ञसे हो जाती है । और इसी कार्य के लिये इस " विष्टारी यज्ञ " की रचना है ।

ब्राह्मणका घर ।

इस यज्ञमें ब्राह्मणोंको अन्नदान किया जाता है । यहां प्रश्न होता है कि यह अन्नदान ब्राह्मणोंकोही क्यों होता है और इसका बडा विस्तृत फल क्यों होता है । ब्राह्मणकी कल्पना केवल एक गृहस्थ मात्रकी कल्पना नहीं है । हरएक ब्राह्मण अध्ययन अध्यापन करनेवाला होनेके कारण हरएक सच्चे ब्राह्मणका घर विद्यालय अथवा विश्वविद्यालय होता है, इस लिये जो दान ऐसे ब्राह्मणको दिया जाता है वह विश्वविद्यालयकोही दिया जाता है । थोडेसे विद्यार्थियोंको पढानेवाला ब्राह्मण अध्यापक कहलाता है, सेकडों विद्यार्थियोंको विद्यादान करनेवाला ब्राह्मण आचार्य पदवीके लिये योग्य होता है और हजारों विद्यार्थियोंको विद्या देनेवाले ब्राह्मणको कुलपति कहते हैं । अर्थात् इस एकके नीचे विद्यार्थियोंकी संख्याके अनुसार सेंकडों अध्यापक होते हैं । अर्थात् ब्राह्मणका अर्थ गुरुकुल, विद्यालय और विश्वविद्यालयका आचार्य और भट्टाचार्य । इसको दान देनेसे वह दान सब विद्यार्थियोंका भला करता है अर्थात् परम्परासे वह दान राष्ट्रके हरएक घरतक पहुंचता है ।

गुरु--कुल।

राष्ट्रके विद्यार्थी-प्रायः त्रैवर्णियोंके विद्यार्थी अथवा समय समय पर पंच वर्णियों के भी विद्यार्थी—ब्राह्मणों के घरोंमें रहकर विद्याभ्यास करते थे। कोई ब्राह्मण ऐसा नहीं होता था कि जो अध्यापन न करता था। एक एक कुलपतिके आश्रम में दस हजार से साठ साठ हजार तक विद्यार्थी पढते थे। और प्रायः ब्राह्मणों के घर " गुरु-कुल "ही हुआ करते थे। पाठक यह अवस्था अपने आंखके सामने लावेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि, ब्राह्मणको दिया हुआ दान सब राष्ट्रमें अथवा सब जनतामें किस रीतिसे विस्तृत होता है, फैलकर हरएक के पास किस रीतिसे जाकर पहुंचता है।

दानकी रीति।

ऐसे ब्राह्मणों के आश्रमों की भूमिमें कूवे खुदवाकर जलदान करना, बहुत दूध देने वाली गौवें उनको देकर दूध देना, शहद, मीठा, मिश्री, घी, मक्खन आदि का दान करना, गेहूं चावल आदि धान्य देना अथवा धान्य की जहां अच्छी उपज होती है ऐसी भूमि दान करना, अथवा आश्रम में अन्न लेजाकर वहां पकाकर वहांके आश्रम-वासियोंको खिलाना, अथवा लड्डू आदि पदार्थ बनवाकर वहां भेजना, किंवा अन्य रीतिसे अन्नदान करना। यह विष्टारी यज्ञकी रीति है। यह बडा उपकारी यज्ञ है और यह दानयज्ञ करनेसे पूर्वोक्त प्रकार स्वर्ग आदि का सुख प्राप्त हो सकता है।

शुभभावनाकी स्थिरता।

जब मनुष्य इस प्रकारका दान करता है तब उस के मनमें शुभ भावना होती है। वारंवार इस प्रकारका दान करनेसे वह शुभ भावना मनमें स्थिर हो जाती है। दान करनेसे मनकी प्रसन्नता भी बढ जाती है। स्वयं भोग भोगनेसे जो प्रसन्नता नहीं होती वह दान देनेसे प्राप्त होती है। और वारंवार दान देनेसे वह मनमें स्थिर हो जाती है। इस रीतिसे यह विष्टारी यज्ञ मनुष्यके मनपर शुभसंस्कार स्थिर करता है। येही शुभ संस्कार उसका मन जीवित अवस्थामें प्रसन्न रखने के लिये सहाय्यक होते हैं और मरणोत्तर भी पूर्वोक्त प्रकार प्रसन्नता देते हैं। इस रीतिसे यह यज्ञ मनुष्यकी उन्नति करता है।

मुद्रक तथा प्रकाशक— श्री० दा० सातवलेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा)

ॐ

वैदिक धर्म।

वैदिक तत्त्व ज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवलेकर.

वर्ष १०

अंक ५

क्रमांक ११३

वैशाख

संवत् १९८५

मई

सन१९२९

वार्षिक मूल्य— म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) विदेशके लि...

विषयसूची।

अथर्व वेदका सुबोध भाष्य.

प्रथम काण्ड मूल्य २) डा. व्य. ॥)

द्वितीय काण्ड मूल्य २) डा व्य. ॥)

इन्द्रशक्तिका विकास मूल्य॥) डा व्य≡)

गोमेध मूल्य १) डा व्य ॥)

मंत्री स्वाध्यायमंडल औंध (जि. सातारा.

यजुर्वेद

इस पुस्तकमें यजुर्वेदका प्रत्येक मंत्र अलग अलग छापा है। अक्षर सुंदर और मोटे हैं। जिल्द सर्वांग सुंदर है। इस प्रकार यजुर्वेदका सर्वांगसुंदर पुस्तक किसी स्थानपर मुद्रित नहीं हुआ है। यह ग्रंथ अत्यंत सुंदर मुद्रित होनेसे नित्य पाठके लिये अत्यंत उपयोगी है। इस में वाजसनेयि और काण्व शाखाके मंत्रोंकी परस्पर तुलना भी देखने योग्य है। ऋषिसूची, देवतासूची और विषय सूची स्वतंत्र दी है।

मूल्य—

यजुर्वेद विनाजिल्द		१॥)
,,	कागजी जिल्द	२)
,,	कपडेकी जिल्द	२॥)
,,	रेशीमकी जिल्द	३)

प्रत्येक पुस्तक का डा० व्य० ॥) अलग होगा अति शीघ्र मंगवाइये।

स्वाध्याय मंडल औंध (जि. सातारा)

वर्ष १०

अंक ५

क्रमांक ११३

वैशाख

संवत् १९८६

मई

सन १९२९

शंबूक की कथा — यह बातें, ...
... के होंगे। उसका है, पर जब वह ...
... श्रीरामचन्द्रजी के पहुंचेगी तब हँसी
जीवन व्यतीत इस बातमें को

वैदिक तत्त्वज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।

संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।

स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

गणपति की उपासना।

गणानां त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम्।
ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आनः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम्॥

ऋ० २।२३।१

हे (ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पते) अनेक प्रकारके ज्ञानों के स्वामिन्! हे परमेश्वर! तू (गणानां गणपतिं) संपूर्ण पदार्थोंके समूहका मुख्य पालक है, और तूही (कवीनां कविं) कवियोंका भी आद्य कवि है, तस्मात् (उपमश्रवस्तमं) उपमा देनेके लिये अत्यंत योग्य है। तू सब जगत का (ज्येष्ठ राजं) श्रेष्ठ राजा है, उस (त्वा हवामहे) तेरी हम सब मिल कर प्रार्थना करते हैं। (नः शृण्वन्) यह हमारी प्रार्थना सुनकर तू (ऊतिभिः सादनं सीद) अपनी संरक्षक शक्तियों के साथ हमारे इस हृदय के मंदिरमें आकर विराजमान हो।

ईश्वर सब ज्ञानोंका उगम, सब पदार्थ मात्रका श्रेष्ठ अधिपति, सब कवियोंमें आद्यकवि, पहिले से प्रसिद्ध, अत्यंत श्रेष्ठ उपमा देने योग्य होता हुआ सबका एकमात्र अधिराजा है। सब मनुष्य इकट्ठे होकर अपने सब दुःख दूर करने की शक्ति अपने में उत्पन्न होने के लिये उस ईश्वर की मनोभावसे प्रार्थना करें। भक्तिसे की हुई प्रार्थना वह अवश्य सुनता है और भक्तों का अवश्य संरक्षण करता है।

वैदिक धर्म।

"वैदिक धर्म" के संबंधमें ग्राहक लिखते हैं कि —

(१)

"अथर्व वेद का भाष्य जीवन संग्रामके लिये अत्यन्त ही सहाय्यकारी है। इस लिये यह भाष्य जितनी जल्दी पूर्ण होगा उतनी जल्दी भारतवासी उच्च आचरणवाले बनेंगे और अपने अधिकारोंपर अटूट कबजा जमावेंगे। यदि इस साल नवीन ग्राहकों के बननेपर भी कुछ हानि रह जावे तो स० १९३० में वार्षीक चन्दा ५) पाच रु० कर देंगे तो पुराने ग्राहक इस १) रु० की पर्वाह न करेंगे। पृष्ठ संख्या कम करनेसे राष्ट्रीय उन्नतिमें हानि होगी। राष्ट्रीय उन्नतिके लिये करोडों जीवन बलिदान करने पडते हैं, यहां तो केवल १) रु० का ही त्याग है। वैदिक धर्मी वीरों के पहचानने का यह सरल उपाय है।...... ईश्वर स्वाध्याय मंडल की अवश्य सहायता करेंगे।

(ब्र० हू०। निलगिरी ता. २६।४।२९)

(२)

दूसरे एक ग्राहक विस्तार पूर्वक निम्नलिखित सूचना भेजते हैं —

"आप वैदिक धर्म की पृष्ठ संख्या कम न करें। जो ७२ पृष्ठ संख्या है वह रहने दें। ग्राहक न बढे और अगले सालतक घाटा उठाना पडा तो आप६॥) रु० चंदा कर सकते हैं इस प्रकार चंदा बढा कर अपने घाटे की पूर्ति कर सकते हैं। साथ ही साथ प्रचलित देशकी अवस्थापर आप अपने विचार भी वैदिक धर्म में प्रकाशित कीजिये ताकि उन विचारोंके साथ पाठक वेदके मंत्रोंके भाष्यको भी पढें। आजकल राजकीय आन्दोलन की रुचि बढ

ऐसा करने से ग्राहक संख्या बढ

वैदिक धर्म और अथर्ववेद स्वाध्याय अलग अलग न करें। ऐसा करनेसे कोई लाभ नहीं होगा। क्यों कि जो लोग वैदिक धर्म के ग्राहक होनेसे अथर्ववेद पढते हैं वे स्वतंत्र रीतिसे ग्राहक बनेगें ऐसा हमें प्रतीत नहीं होता है। इस लिये प्रचार के उद्देश्य से भी वैदिक धर्म से अथर्ववेद के स्वाध्याय को अलग करना योग्य नहीं है।

हमसे जितनी सहायता "वैदिक धर्म" मासिक के लिये होगी उतनी हम अवश्य करेंगे।

(कां० रेवा० जो०। ता० ८।४।२९ मेवळी)

इस प्रकार के पत्र ग्राहकोंके पास से आ रहे हैं। 'पृष्ठ संख्या कम न करना, यही पृष्ठ संख्या रखना और आवश्यकता होने पर चन्दा बढाना' यही सब का सार है। जो ग्राहक संख्या बढाने की सहायता कर रहे हैं उनके लिये हार्दिक धन्यवाद है। और जो सहायता अन्य प्रकार से करते हैं उनका भी धन्यवाद है।

हमारी हार्दिक इच्छा है कि चंदा न बढाते हुए ही इसी चन्देमें इतना बडा मासिक दिया जाए, परंतु यह सब ग्राहक बढनेपर निर्भर है।

चन्दा समाप्ति की सूचना एक मास पहिले हम देते हैं। एक मास तक कुछ उत्तर न आया तो दूसरे मासमें वी. पी. करते हैं। परंतु कई ग्राहक ऐसे हैं कि हमारी सूचना का कुछ भी उत्तर नहीं देते और वी. पी. करनेपर वापस करते हैं। जो ग्राहक रहना नहीं चाहते वे पहले सूचना देंगे तो प्रत्येक वी. पी. के पीछे हमारा चार छः आनेका नुकसान नहीं होगा। ग्राहक इसका विचार करें।

प्रबंध कर्ता "वैदिक धर्म"

तपस्या का पातक।

रामायण के उत्तर-काण्ड में ' शंबूक की कथा ' है। प्रायः सभी लोग उसे पढ चुके होंगे। उसका सारांश इस प्रकार है " प्रभु श्रीरामचन्द्रजी के राज्य में संपूर्ण प्रजा सुख-पूर्वक जीवन व्यतीत करती थी। इतने ही में एकाएक एक दुर्घटना हुई। एक ब्राह्मण का लडका छोटी ही उमर में मर गया। ब्राह्मण ने समझ लिया कि राज्य में कोई पाप हुए बिना अकालमृत्यु नहीं हो सकती। यही सोच ब्राह्मण श्रीरामचन्द्रजी के पास पहुंचा, और उसने सब हाल उन्हे सुनाया। श्रीरामचन्द्रजीने खोज कराई, तब पता चला कि, शंबूक नामक एक शूद्र तपस्या कर रहा है। तब रामचन्द्रजीने उस तपस्वी शूद्रका सिर काट डाला। ऐसा करनेपर ब्राह्मण का पुत्र जीवित हुआ। और इस प्रकार रामचन्द्रजी का कलंक छूटा। "

इसपर कईयों का आक्षेप है कि ' यदि शूद्र तपस्या करने लगें तो फिर ब्राह्मणों की श्रेष्ठता कैसे रहेगी ? तब ब्राह्मणों को भू-देव कौन मानेगा ? रामायण में यह कथा इस गरजसे लिख दी गई है कि जिससे ब्राह्मणों का बडप्पन बना रहे।' इत्यादि।

जो लोग यह कहते हैं कि इतिहास-पुराण में बुरा (उनकी दृष्टिमें) लिखा है, वह सब ब्राह्मणों ने अपना वर्चस्व बढाने के लिए घुसेड दिया है, वे पहले सोच लें कि कहीं उनके लेखों में इतिहास के अज्ञान का प्रदर्शन तो नहीं होता।

आवश्यकता तो इस बात की है कि प्रथम अपने प्राचीन ग्रंथों की कथाओं का, उस समय की सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितिपर दृष्टि रख, अच्छा अध्ययन किया जाय। फिर चाहे ब्राह्मण दोषी हो चाहे क्षत्रिय। परन्तु विचार करने की यत्किंचित भी चेष्टा न कर किसी भी बात का अत्यधिक विपर्यास कर अपने मस्तिष्क का पागलपन दूसरी जातियों के मत्थे मढना उचित नहीं। यह बात, यद्यपि, विपक्षियों को आज अच्छी लगती है, पर जब वह निष्पक्षपाती विद्वानों के सन्मुख पहुंचेगी तब हँसी हुए बिना रह नहीं सकती।

इस बातमें कोई भी संदेह नहीं करता कि इतिहास और पुराण की बहुतसी कथाएं उनमें पीछे से शामिल करा दी गई हैं। परन्तु शामिल कराने वाले का उद्देश तो उन्ही दिनों की इतिहास की दृष्टि बता सकेगी। इन कथाओं की वा अन्य किन्हीं कथाओं की महत्ता तब तक नहीं विदित हो सकती, जब तक कथाओं के लिखने के समय की सामाजिक, धार्मिक, राजकीय और आर्थिक दशा न समझ ली जाय। इन कथाओं का तत्कालीन परिस्थिति से ऐसा घनिष्ठ संबंध है कि जो उस पर ध्यान न देकर इन कथाओं के संबंध में लिखते हैं उनकी निःसंदेह विद्वानों के सामने हंसी होती है।

' ईसप-नीति ' नाम की पुस्तक में नीतिकुशल ईसप ने जो कथाएं लिखीं हैं वे तत्कालीन राजकीय परिस्थिति में क्रांति कराने के लिए ही लिखीं थीं। और इष्ट क्रांति उनके कारण हुई भी। इस बात पर विचार करने ही से पता चलेगा कि कुत्ते-बिल्ली की कथाओं से राष्ट्र की भवितव्यता का कैसा निकट संबंध है। इस उदाहरण को पुराना और विदेशी कहकर यदि छोड दें, तो अपने देश के कई नाटक आदि ग्रंथ भी ऐसे मिलेंगे। मराठी भाषा के ' कीचकवध ' आदि नाटक वर्तमान परिस्थिति का विचार करकेही लिखे गये हैं। इन नाटकों को देखनेवाला तत्काल जान सकता है कि वे व्यंग अर्थ से लिखे गये हैं। इसका कारण यही है कि नाटक देखनेवाला अपनी परिस्थिति से परिचित रहता है। इसीसे नाटक लिखनेवाला दर्शक के मनपर जिस बात का परिणाम कराना चाहता है वह बात सहज ही में दर्शकों के मन में जमजाती है।

वाचक इससे समझ गये होंगे कि 'कीचक-वध' जैसे तात्कालिक महत्व के नाटकों में रंगमंचपर कीचक का वध दिखलाना मुख्य उद्देश नहीं होता। मुख्य उद्देश बिलकुल भिन्न होता है । और वह कहीं भी शब्दों द्वारा स्पष्ट रीतिसे व्यक्त नहीं किया जाता । परंतु कथा की रचना ही इस प्रकार से की जाती है कि वह हेतु श्रोता के मनपर पूर्णतया प्रतिबिंबित हो जाय । इसी को शास्त्रकार " अर्थवाद " कहते हैं । सभी शास्त्रकार इतिहास पुराणों की बहुतेरी कथाओं को 'अर्थ वादात्मक' समझते हैं । यदि यह बात मानली जाय कि कथाएँ अर्थवादात्मक होती हैं,तब उनके उद्देश की पूर्ति के लिए यह आवश्यक नहीं होता कि उनमें ऐतिहासिक सत्य हो, या वे प्रक्षिप्त न हों । वे जिस अर्थवाद के लिए लिखी गई हों, अर्थात् जिस विशेष बात को बतलाने के लिए लिखी गई हों वह बात श्रोता को प्रतीत हो जाने ही से उन कथाओं का काम हो जाता है । कभी कभी ऐसा भी होता है कि वह खास मौका या वह अवसर निकलजानेपर उन कथाओं का महत्व भी नष्ट हो जाता है। पर इस पर किसीका भी वश नहीं चलता । यह तो अवश्य ही होगा । वैसा हो जानेपर वे कथाएं ग्रंथ में केवल लिखी रह जाती हैं ।

यही कारण है कि शास्त्रकारोंने श्रुति का धर्म ही सनातन अर्थात् चिर काल तक टिकनेवाला माना है । अन्य धर्म अर्थात् स्मृति, इतिहास और पुराण का धर्म खास खास समय के लिए है । इस बातमें सब शास्त्रकारों का ऐकमत्य है। जब हम शास्त्रकारों की मानी हुई इस बात को देखते हैं तब हमें विदित हो जाता है कि भिन्न भिन्न पुराण भिन्न भिन्न विगत समय का धर्म बतलाते हैं अतएव आज उनसे विशेष लाभ नहीं है । यदि पुराणों का कुछ उपयोग हुआ तो करना चाहिए, न हुआ तो छोड देना चाहिए । उसके लिए विवाद मचाने की बिलकुल आवश्यकता नहीं ।

' जिस विशेष समय की वह कथा है, उस समय भी शूद्रों को तपस्या करने की मनाई क्यों ? ब्राह्मण मात्र तप करें और शूद्र उससे वंचित क्यों रखें जांय? यह पक्षपात किस लिए ? होना यह चाहिए कि जिसको जो अच्छा दिखे सो करे। ऐसा इस समय के शिक्षित लोग कहते हैं। परंतु असली बात यह है कि इस प्रकार के विचार उत्पन्न होने और सच मालूम होने का कारण आज की परतंत्रता है। आज की परतंत्रता के कारण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के व्यवसाय ही बंद पड गये हैं। वे सब व्यवसाय परकीयों के अधीन हैं । अतएव यच्चयावत लोगों को मुंशीगिरी के लेखन व्यवसाय की ओर ही दृष्टि रखना अतीव आवश्यक हो गया है । इसीसे प्रत्येक मनुष्य नोकरी मिलने के लिये स्पर्धा करता है। परंतु जिस दासता के कारण अथवा जिन परकीय लोगों के कारण सब का वृत्तिक्षय हुआ है, उसका उन्हें अबतक पता ही नहीं है!!! वे सच्चे शत्रु को मित्र समझ रहे हैं और जो कभी भी शत्रु न थे उन्ही को वे शत्रु समझने लगे हैं ।

अब देखें कि यदि शूद्र तपस्या करने बैठें तो क्या होगा? यदि ब्राह्मणों के समान चारों वर्ण वेदाध्ययन जपजाप्य, योगसाधन, त्रिकाल स्नान आदि करने लगें और इन अनुत्पादक धंधों में समय बिताने लगें तो जो भयंकर आर्थिक आपत्ति देश पर गुजरेगी, उसकी थोडीसी भी कल्पना यदि किसीको होगी तो शंबुककी कथाके सब आक्षेप स्वयं मिट जांयगे ।

सब शूद्र उत्पादक व्यवसाय करनेवाले हैं । सब कारीगर (Arts-men and Crafts-men) शूद्र हैं। यदिये सब लोग तप करने बैठें,तो राष्ट्र की उत्पादक शक्ति नष्ट हो जानेसे यह राष्ट्र आर्थिक संकट के कारण मिट्टी में मिल जायगा। यदि शूद्र अपने उत्पादक धंधे बंद कर दें, तो वैश्य व्यापार किस बातसे करेंगे ? व्यापार के लिए कुछ न कुछ उत्पन्न होने की आवश्यकता है । उत्पन्न करले वाले शूद्र तपस्या करने में दिन बितायें तो वैश्यों का व्यवसाय बैठ जायगा । इससे संपत्ति नष्ट हो जावेगी! तब क्षत्रियों को रक्षा करने के लिए कुछ बचेगा ही नहीं । क्षत्रिय और ब्राह्मण ये दो वर्ग राष्ट्रमें अनुत्पादक व्यवसाय करनेवाले होते हैं। वैश्य लोग अंशतः उत्पादक धंधा करते हैं और शूद्र संपूर्णतया उत्पादक धंदा करते हैं ।

राष्ट्रमें यदि सुस्थिति रखनी हो तो अनुत्पादक व्यवसायों में अनावश्यक भीड न होने देनी चाहिए; और उत्पादक धंधों में ऐसा प्रबंध होना चाहिए जिससे परस्पर स्पर्धा न बढे। हमारे चातुर्वर्ण्य में यह बात उत्तम रीतिसे साधी गई थी। ब्राह्मण प्रतिशतक पांच,क्षत्रिय प्रतिशतक पचीस,वैश्य प्रतिशतक दस और शूद्र प्रतिशतक साठ यह है प्राचीन प्रबंध। धंदे भिन्न भिन्न जातियों में बांट दिये हैं अतः परस्पर स्पर्धा होनी संभव ही नहीं। सब धंदे समान महत्व के गिने गये हैं, एक जाति दूसरी जाति का धंदा न करे यह मूल भावना है इन कारणों से अपने धंदों को इतना अधिक संरक्षण मिला है कि जितना संरक्षक जकात (कर) से भी मिलना संभव नहीं। परतंत्रता के कारण सभी लोगों के व्यवसाय बैठ गये यह प्रश्न ही भिन्न है। परंतु स्वतंत्रता होने पर इस संरक्षण से जो लाभ हो सकते हैं वे पिछले इतिहासमें आज भी हम देख सकते हैं।

आजकल राजनिर्बंध न होने के कारण ब्राह्मण लुहार बने और क्षत्रिय हाथ में लोटा-आचमनी ले पंडिताई करने लगे। परंतु इससे जो हानि हुई वह हृदयद्रावक है। वर्तमान समय में बी. ए. पढा हुआ मनुष्य मास्टरी अर्थात् ब्राह्मणों का धंधा करके चालीस रुपये बडी कठिनाई से पा सकता है। परंतु अपढ बढई सहज ही में साठ सत्तर रुपये महावारी कमा लेता है। अनुत्पादक धंदे का शिक्षक और उत्पादक धंदे का बढई दोनों की आमदनी का अंतर विचारणीय है। शिक्षक के व्यवसाय में आदर का मोह है। तो उस आदर के लिए आमदनी डुबानी पडती है और शरीर खराब करना पडता है। आदर या मान कुछ कम रहते भी उत्पादक धंदों में लगे हुए लोगों का शरीर स्वस्थ, बलवान और नीरोग रहता है। पहले धंदे जातियों पर अवलंबित रहते थे वैसे अब नहीं हैं; पर ध्यान रहे कि शारीरिक स्वास्थ्य व्यवसायों पर निर्भर है। एक ही बढई के घर में एक भाई बढई और दूसरा शिक्षक बना, तो शिक्षक की अपेक्षा बढई ही अधिक धन प्राप्त करता है और स्वस्थ एवं सुदृढ रहता है। और धनको उत्पन्न करता है।

ब्राह्मणों के व्यवसाय के काम प्रायः बैठकर ही करने पडते हैं। अर्थात् शारीरिक श्रम बहुत कम होते हैं। इससे बुद्धि और विचार-शक्ति बढती है परंतु शरीर क्षीण होता है। इसीसे इस अनुत्पादक धंदे में प्रतिशतक पांचसे अधिक लोग न होने चाहिए। अन्य सब व्यवसायों में व्यावहारिक कामों के योग्य बुद्धि बढती है, संपत्ति मिलती है और शरीर मजबूत रहता है। इसी से इन धंदों में पंचानवे प्रतिशतक मनुष्य रहने चाहिए।

क्षणभर मानलो कि ब्राह्मणों के व्यवसाय में नव्वे प्रतिशतक लोग हो गये और अन्य कामों के लिए दस प्रतिशतक लोग ही रहे, तो आर्थिक अडचनों के मारे राष्ट्र मरणोन्मुख हो जावेगा। ठीक ऐसा ही आज हमारे देश का हाल है। यदि अब्राह्मणों का आन्दोलन और भी बढ जायगा तो हमारा देश अधिक आपत्ति में ही पडेगा। शिक्षित लोगों की बेकारी का यही सच्चा कारण है। यदि हर एक मनुष्य मनचाहा उद्योग करने की स्वतंत्रता पा लेवे तो स्पर्धा उत्पन्न होकर लाभ का घट जाना अपरिहार्य हो जाता है।

" स्पर्धा व्यवहार की जननी है सही, पर वह लाभ का वध करनेवाली भी है। " यह अर्थशास्त्र का सिद्धान्त भूल जाने से काम न निकलेगा। यदि यहाँ भी यही बात शुरू हो जाय कि जिसको जो चाहे सो व्यवसाय करे तो बेकार लोगों की संख्या भी अपरिमित बढ जावेगी।

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि तप किसको करना चाहिए और किसको तप न करना चाहिए। इस बात का विचार करते समय देश की आर्थिक परिस्थिति और उत्पादक तथा अनुत्पादक धंदों में लगे हुओं के संख्या प्रमाण पर भी दृष्टि डालनी होगी। राष्ट्र में यह संख्याप्रमाण सदैव सम होना चाहिए विषम कदापि न होने पावे। उसमें अमुक जाति का महत्व बढाना और अमुक जाति का महत्व घटाना ऐसी क्षुद्र भावनाओं के लिए स्थान ही नहीं रहता।

अब शंबूक की कथापर विचार करें। यह कथा रामायण के अंतिम भाग में लिखी गई है। सब

संशोधकों का एकमतसे यही कहना है कि महाभारत के पश्चात् रामायण लिखी गई । सब लोग मानते हैं कि महाभारत का अंतिम संस्करण ईसाके पूर्व तीन चार शतक में लिखा गया । उसके पश्चात् रामायण का अंतिम काण्ड लिखा गया होगा । अथवा यदि यह मान लिया जाय कि प्रक्षिप्त भाग उस समय लिखा गया तो वाचकों को सहज ही में प्रतीत होगा कि वह ऐसा समय था जब बौद्ध मत का प्रभाव चारों ओर प्रस्थापित था ।

बौद्धोंने जातिभेद तोड दिया, वर्ण नष्ट किये,और सबके लिए सम प्रमाण में निर्वाण का मार्ग खोल दिया । बौद्ध-संघोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र एकसे हो गये । सभी मोक्ष के अधिकारी थे । निर्वाण के सिवा अन्य बात किसीको भी मोहक न थी; अतः हर कोई सीधा मोक्ष का मार्ग लेता, तप करता, और शरीर को कष्ट देता । फिर अन्य व्यवसाय कौन करता ? बस यही सारे देश का हाल था । सभी को निर्वाण प्राप्तिके लिए उत्सुक बनाकर भगवान् बुद्धने ही इस आपत्तिको देश पर लाई। संसार की आवश्यकता ही क्या? यह कह कर कोई भी विवाह करके प्रपंच के लिए तैयार न होता था । हमे निर्वाण चाहिए, संसार के मोहमें कौन पडे ? यह कह कर बहुतेरे लोग अपना अपना व्यवसाय छोड कर निर्वाण के लिए बौद्ध-विहारों में इकट्ठे हुए । अब वाचक स्वयं सोचें कि राष्ट्र पर इस समय क्या बीति न होगी ? मोक्ष के प्रलोभन से लोगों को छुडाना अति ही कठिन काम है । बौद्धों की अविचारी समता और निर्वाण की लालसाने लोगों की जो भयंकर हालत कर दी थी, उसकी कुछ कल्पना करनी हो तो क्षणभर सोचिए कि खेती की फिकर छोड कर यदि सब किसान तप करने लगें या ऐसे ही अन्य किसी कार्यमें लग जावें तो फसल का क्या हाल होगा ?

ऐसी अवस्था में धर्माचार्योंपर कैसा भारी उत्तरदायित्व आ पडता है ! ! लोगों को निर्वाण की भूख लगी, उन्हे अन्य कुछ भी न सूझता था, संपूर्ण कारीगरी के काम बंद हो गए, सब व्यवसाय रुक गए, इससे सब लोग आर्थिक संकट में पड गए, सभी लोग ' भिक्षु ' बनने लगे । अब इन निर्वाण-पथ-स्थित भिक्षुओं को भिक्षा कौन दे ? भिक्षा देनेवाले भी तो आवश्यक हैं न ? इन भिक्षुओं की संख्या जब तक प्रतिशतक चार या पांच रहती है, तब तक वे देशों के लिए बोझ नहीं होते । परंतु यदि वे पचास प्रतिशतकसे भी अधिक हो जाँय तो समाज पर कितना बोझ पडेगा ? चारोंही वर्णोंके स्त्री-पुरुष निर्वाण की आशा से भिक्षु बने । ये स्त्री-पुरुष विहारों में खा-पीकर आराम से पडे रहने लगे । तब उनमें अनैतिक विहार आरंभ हुए । यहां तक कि भगवान बुद्ध को भी बुढापेमें पश्चात्ताप करना पडा । यह बात भगवान बुद्ध के चरित्रमें ही लिखी है। उस समय के धर्माचार्यों के सन्मुख दूसरी बृहत् समस्या यह थी कि गृहस्थाश्रम की संस्था पुनः किस प्रकार आचार में प्रचलित की जाय ? कारण यह था कि भिक्षु और भिक्षुणीयां विहारों में उक्त प्रकार से रहने लगे जिससे कुटुंब-संस्था ही नष्ट हो गई थी ।

तीसरा प्रश्न जो उस समय के आचार्यों के सन्मुख उपस्थित हुआ वह यह था कि वृद्धोंको कौन सम्हाले ? तरुण पुरुष और स्त्रियां भिक्षु और भिक्षुणी बन गईं तब घरमें जो वृद्ध स्त्री-पुरुष बचें उनकी देखभाल करनेको कोई न बचा । अतः उन वृद्धों को बडा कष्ट होने लगा । इस संकट से उन्हे बचाना आवश्यक हो गया ।

ऐसे कई अनिष्ट परिणाम बौद्ध धर्म की क्रांति के कारण और निर्वाण का मोह तीव्रतम हो जाने से हुए । देश के तत्कालीन लोगों पर हुए इन सब कुपरिणामोंका विचार यहां करने की आवश्यकता नहीं । प्रस्तुत विषय के लिए उक्त तीन प्रश्नों का विचार करना ही पर्याप्त होगा ।

उक्त आपत्तियों में से एक एक भी राष्ट्र का नाश करने में समर्थ है । तब वे तीनों आपत्तियां जिस समय इकट्ठी आन पडीं उस समय के अनर्थ का क्या कहना ? उसकी तो केवल कल्पना ही की जा सकती है । विचार शील मनुष्य समझ सकते हैं कि धर्मके संचालकोंको उस समय एक जटिल समस्या का सामना करना पडा होगा । सब लोग समता,निश्च-

बंधुत्व, निर्वाण, अहिंसा आदि श्रेष्ठ-तत्वोंके तूफान में फंस गये थे, इससे संसार में बैठने के लिए कोई तैयार न था। इस बिगडे सिलसिले को सुधारना और वर्णाश्रम धर्मसंस्था पर सबको लाना बडा कठिन काम था। इस दशा को आज भी सब लोग समझ सकते हैं क्यों कि आज भी समाज का सिलसिला बिगड गया है और वह सुधारने से भी नहीं सुधारता।

समाचारपत्र और मासिक पत्रिकाएं चला कर समाज का मन बदलने का वह समय न था। उस समय मोक्ष की इच्छा अत्यंत जागृत थी। अतः यदि कुछ संभव था तो इस मुख्य बात के अनुकूल पुराणकी कथाओं से ही संभव था। हरिदास और पौराणिक लोग समाज में इन कथाओं को कहकर ही जनता का मन झुकाने की चेष्टा करते थे। अतएव जो कुछ सुधार करना हो वह पुराण की कथाओं से, स्मृतियों के अर्थ बदलकर, कथाओं के रूपक बैठालकर, उपनिषद् और गीता के श्लोकों का इष्ट अर्थ करके ही हो सकती थी। इस परिस्थिति को थोडे समयमें बदलना असंभव था। इसीसे इतिहास और पुराणों में काल की परिस्थिति के अनुरूप कथाएं बनाकर शामिल की गईं। इन कथाओं के लेखकों का उद्देश बुरा न था क्यों कि वे आजकल के नेताओं के समान स्वार्थ साधने की गरज से सत्य को झूठ सिद्ध करनेवाले न थे। अब तक हमने जिस परिस्थिति का वर्णन किया है, उस कठिन परिस्थिति को यदि अच्छी तरह समझ लें, तो विदित होगा कि ऐसी महत्तर आपत्ति को पार कर समाज को सुरक्षित रखने के लिए जो कथाएं लिखी गईं उनका महत्व क्या है?

प्रथम हम शंबूक की कथा ही लेंगे। उसमें लिखा है कि "यदि शूद्र तपस्या करे तो आर्थिक पाप होता है और उससे लडके अकाल में मरते हैं।" वाचक उपरोक्त वर्णन से जान सकते हैं कि यह पाप कैसे होता है। कारीगर लोग यदि धनोत्पादक उद्योग-धंदे छोडकर तपस्या के समान अनुत्पादक व्यवहार करने लगें तो समाज में धन नहीं रहता और दिन प्रतिदिन दरिद्रता आती जाती है। दारिद्र्यावस्थामें बालकों की मृत्युसंख्या बढना स्वाभाविक ही है। दरिद्रता के कारण बडे बडे मनुष्य भी छोटी उमर में मरने लगते हैं, तब छोटे बालक मरेंगे इसमें आश्चर्य ही क्या? जब यह बात हम समझ लेंगे तब हमें विदित होगा कि शूद्र के पाप का बालक की अल्प वय की मृत्यु से क्या संबंध है। तभी हम लोग यह भी जान लेंगे कि कथा की बात ऊटपटांग नहीं है।

कथा का उद्देश और उस समय की परिस्थिति को देखने से पता चलता है कि पवित्र और उच्च लेखक के स्वप्न में भी अमुक जाति का महत्व घटाना और अमुक का बढाना ऐसी कोई बात न थी। लेखक का एकमात्र श्रेष्ठ उद्देश था कि अनुत्पादक धंदों में अनावश्यक भीड न हो और अनुत्पादक धंदों की ओर झुका हुआ जन समाज उस ओर से लौट पडे।

अब वर्तमान परिस्थिति की ओर दृष्टि डालिए। इस समय समता, विश्व-बंधुता जैसे अनेक मोहक नामों से देशके कारीगर लोग मुंशीगिरी, शिक्षक का काम आदि अनुत्पादक पेशों को प्राप्त करने की कोशिश कर रहे हैं। वे इस समय समझते हैं कि यह बडा प्रगतिक कार्य है। परंतु यह आंदोलन बुद्ध आंदोलन जैसा ही है। यदि जाति-विशिष्ट भावना को बिलकुल छोड दें और सोचें कि संपूर्ण भारतवर्ष के मनुष्यों में से लोग उत्पादक और अनुत्पादक व्यवसायों में किस प्रमाण में बँट रहे हैं तो स्पष्ट होगा कि हमारे टूटे फूटे स्वराज के दिनों में जितने लोग धनोत्पादक धंधों में लगे हुए थे उससे अब बहुत ही कम लगे हैं। अनुत्पादक धंधों में भीड होने लगी है और इससे चारों ओर बेकारी बढने लगी है और दारिद्र्य बढ रहा है।

यूरोपीयन लोगों की बहुत दिनों की यही इच्छा है कि इस भारतवर्ष में जातियां आपस में लडें और कोई भी धनोत्पादक धंदा न करे। यूरोप में उद्योग-धंधों की वृद्धि होवे और हिंदुस्थान उनका सदा का ग्राहक बन जाय। यहां जो शिक्षा प्रचलित है जिसके कारण हिंदुस्थानी लोग उत्पापक धंदे कर ही नहीं सकते और अनुत्पादक धंदों में ही अधिक

ध्यान देते रहते हैं। यह शिक्षा भी इसी गरज से जारी है। इस शिक्षा में ही पले हुए हमारे नेता भी समता, विश्व-बंधुता आदि शब्द सीख गये हैं। परंतु हम नहीं जानते कि उसके भीतर उलटे स्क्रू के चक्कर से हम किस प्रकार नीचे गिर रहे हैं। वर्तमान समय की आपत्ति न तो धार्मिक है और न राजनैतिक है, वह केवल आर्थिक है। यह वास्तविक सत्य होते हुए भी चतुर यूरोपीयन लोगोंने भारतीय कारीगरों को विश्वास करा दिया है कि जिन यूरोपनिवासियों ने उन के व्यवसाय डुबोये और उन्हे सदा के लिए आर्थिक संकट में डाल दिया, वे यूरोपीन ही उनके तारक हैं और शिक्षित तथा प्रगति करती हुई हिन्दी जातियाँ ही उनकी मारक हैं !! आज की शिक्षाने जो मोहनी फैलाई है वह यही है। इस शिक्षा की पद्धति में भी कैसा भारी राजकाज है सो इन लोगों को कुछ वर्ष के बाद मालूम होगा। इस बात के लिखने का कारण यही है कि शंबूक की कथा जैसे रामायण के लिखने के समय उपयोगी थी वैसे वह आज भी है। उसका उपदेश समझने की जितनी आवश्यकता आज है उतनी आवश्यकता शायद उन दिनों में भी न थी, जब कि यह कथा लिखी गई थी। उस समय देश की भीतरी क्रांति से लोग अनुत्पादक धंदों को अपना रहे थे, पर आज परकीय शासन के कारण देश के उत्पादक धंदों को डुबाकर परकीयों के कारखानों को जीवित रखने के लिए ये लोग अनुत्पादक व्यवसायों की ओर प्रवृत्त किये जा रहे हैं। इससे प्रतीत होगा कि ये आंदोलन करनेवाले लोग अपनी ही हलचल से 'स्वतः का नाश और शत्रु का लाभ कर रहे हैं।" यही कारण है कि वर्तमान समय की परिस्थिति बहुत बिकट है।

इस व्यापक दृष्टि से देखने से प्रकट होगा कि अब्राह्मणों का— क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रोंका-अनुत्पादक धंधों में पडना उन्हींका नाश करावेगा। यह राष्ट्रीय पाप है।

हम वाचकों को सूचित करते हैं कि वे उक्त दृष्टिसे शंबूक की कथा को देखें। उस कथा में उन्हे सनातन आर्थिक सिद्धान्त ही दिखाई देगा। यूरोपीयन लोग और उनके अनुगामी कुछ देशी विद्वान वारंवार कहते रहते हैं कि ये और ऐसी कथाएं पीछे से पुराणों में घुसेड दी गईं, इन कथाओं में विषमता की भावना भरी है, ये कथाएँ अनैतिहासिक एवं कभी न घटी घटनाएँ हैं। हमी लोगों में से कई लोग हैं वे इन बातों पर विश्वास करते हैं। परन्तु कोई भी यह नहीं देखता कि इन कथाओं की जड में कौनसा सिद्धान्त स्थित है। इसपर आश्चर्य न करें तो और क्या करें ?

अब तक इस का विचार कर देखा गया कि इस कथा का उद्देश क्या है। इन लोगोंका दूसरा सिद्धान्त है कि " ब्राह्मणों का महत्व बढाने के लिए ऐसी कथाएं लिखकर पक्षपात किया गया है। इस सिद्धान्त का अब विचार करना है। इस बात का विचार करने की गरज से ही इस लेखके आरंभ में हमने दो घटनाओं का उल्लेख किया है। देखना है कि उन आपत्तियों से बचने के लिए पुराण के लेखकों ने कौनसी कथाएँ रचीं।

महाभारत के आदि-पर्व के आरंभ ही में जरत्कारु नामके तपस्वी विद्वान ब्राह्मण की कथा है। " इस ब्राह्मण विद्वान ने निश्चय किया था कि आजन्म ब्रह्मचारी रहूंगा और इसी निश्चय से वह तपस्या कर रहा था। आगे चलकर उसे उसके पितरों का दर्शन हुआ। ये पितर इस विद्वान के अविवाहित रहने से दुःखी थे क्योंकि उन्हे सद्गति नहीं मिलती थी। तब आगे चलकर पितरों को सद्गति प्राप्त करा देने के लिए जरत्कारुने विवाह किया। इस जरत्कारु के पुत्र उत्पन्न होते ही उसके पितरों को सद्गति मिली।"

इस कथा में लोगों को विवाह करके गृहस्थाश्रम स्वीकार करने का उपदेश किया गया है। इसमें कहा गया है कि अविवाहित रह कर ही तप करने से सद्गति नहीं मिलती अपितु पुत्र उत्पन्न कर वंश चालू रखना ही आवश्यक है। इस कथा में ब्रह्मचर्य या तपस्या का पाप करनेवाला ब्राह्मण है। यहां भी जाति के संबंध की निंदा अथवा प्रशंसा नहीं है। किन्तु इसमें अत्यंत सद्धेतु ही अभिप्रेत है और वह उद्देश यही है कि बौद्ध धर्म के कारण नष्ट

होनेवाली गृहस्थाश्रम की व्यवस्था पुनः प्रस्थापित की जाय। यदि पुराण लेखक ब्राह्मणोंका पक्षपात करनेवाले होते तो वे इसप्रकार ब्राह्मणकी निंदा न करते। उनको वस्तुतः समाज को ठीक मार्गपर लानेकी इच्छा थी और जातिद्वेषकी उच्चनीचताकी कल्पना भी उनके मनमें नहीं थी। इसी लिये शंबूक जैसे शूद्रकी तपस्या का जैसा उन्होंने निषेध किया उसी प्रकार जरत्कारु ब्राह्मण की तपस्याका भी निषेध किया।

आजकल फ्रान्स में आजन्म विवाह न करनेवाले लोगोंकी संख्या बढ रही है। इससे फ्रान्स की आबादी घट रही है। जिस कारण से जरत्कारु ब्राह्मण की उपरोक्त कथा महाभारत में लिखी गई वही कारण आज भयानक स्वरूप धारण कर फ्रान्स के नेताओं के सामने उपस्थित है। जरत्कारु की कथा लिखनेवालेने उस समयकी जनता की परलोकमें सद्गति पाने की ओर जो मनःप्रवृत्ति थी उसीके आधार पर कथा लिखी और जनता के मनमें बदल करा दिया। परंतु फ्रान्स के निवासियों की प्रवृत्ति तो भौतिक है, पितर स्वर्ग में जावें या नरक में, उन्हे उसकी पर्वाह नहीं है। वे लोग इस बात का विचार करने को भी तैयार नहीं हैं। अतः फ्रान्स की सरकार ने लडकों की संख्या की बढती पर वेतन की वृद्धि का प्रमाण निश्चित किया है और इस प्रकार अविवाहित रहने की प्रवृत्ति को रोकने का प्रयत्न जारी रखा है। यूरोप और अमेरिका के मासिक पत्र-पत्रिकाओं में भी आदर्श कुटुम्ब और गृहसौख्य की कथाएँ प्रकाशित कर विवाह करने की ओर लोगों के चित्त आकर्षित करने का प्रयत्न किया जा रहा है। यह न भूलना चाहिए कि कालमान के अनुसार कथाओं के ढाँचे भले ही भिन्न हों परन्तु उनका उद्देश एक ही है।

अब देखिए वृद्ध माता पिता की शुश्रूषा के लिए क्या किया गया। लोगों की भिक्षु बनने की प्रवृत्ति के कारण जनता में वृद्ध मातापिता के प्रति अनास्था उत्पन्न हुई। उसे दूर करने के लिए महाभारत के वनपर्व के अध्याय ११५ में कौशिक ब्राह्मण की कथा लिखी है। यह ब्राह्मण भी घरद्वार छोडकर भिक्षावृत्ति से रहता था और तपस्या करता था। उसे एक खटीक का शिष्य बनाकर यह उपदेश दिया गया है कि " मा बाप की सेवा शुश्रूषा से ही सद्गति होती है।" इस कथा के द्वारा जनता के दिल पर भी उक्त उपदेश पूर्णतया जमा देने की कोशिश की गई है। साथ ही यह भी कहा गया है कि मातापिता की शुश्रूषा नवयुवक गृहस्थाश्रम का स्वीकार करके करें। स्मरण रहे कि यह कथा भी एक ब्राह्मण की है। जो लोग शूद्र शंबूक की कथा को देख कर उन लेखकोंपर ब्राह्मणों का पक्षपात करने का कलंक लगाते हैं, उनको उचित है कि वे ऐसी कथाओं को देखें कि जहां ब्राह्मणोंकी तपस्या वृत्ति को छुडाने के लिये उनको खटीक का शिष्य बनाकर आदर्श गृहस्थाश्रम का उपदेश दिया है। क्या कभी पक्षपाती लेखक अपनी जाती के लिये भी ऐसी बातें लिख सकते हैं। अर्थात् उनमें जातीका पक्षपात बिलकुल न था, प्रत्युत राष्ट्र की रक्षा का भाव था।

यदि पुराण-लेखकों का उद्देश ब्राह्मणों का पक्षपात करने का और अन्य जातियों को निम्न श्रेणि में डालने का होता, तो ऊपर दो कथाएँ ब्राह्मण के संबंध में न होती। ये दोनों ब्राह्मणों की कथाएँ देखकर उक्त उद्देश झूट सिद्ध होता है। दोनों कथाओं में ब्राह्मणों को भी यही उपदेश किया गया है कि वे तपस्या का सामाजिक पातक न करें परंतु गृहस्थाश्रम स्वीकार कर संसार सुखपूर्वक निबाहें। अतएव जातिविषयक पक्षपात, जो आजकल के अर्ध शिक्षित लोग कर रहे हैं और समय समयपर पक्षपातपूर्ण लेख लिख रहे हैं, उन दिनोंके लेखकों में था ही नहीं। इन जातिविषयक पक्षपात में सने हुए लोगों को स्मरण रखना चाहिए कि उनके समान पक्षपातपूर्ण लेखक-वर्ग अब तक इस भारतवर्ष में उत्पन्न हुआ ही नहीं था। उत्तमोत्तम कथाओं का विपर्यास करने की धृष्टता इसी टोली के लोगों में दिखाई देती है। जो कथाएँ पूर्वकाल में सभी जातियों के उद्धार के लिए लिखी गईं थीं वे खुद न समझकर और उन्हे समझने की कोशिश न कर विपरीत दर्शाना और इस प्रकार जन–

मन को कलुषित करना भी कोई छोटा मोटा पाप नहीं है ।

प्राचीन काल की कथाओं पर लिखते समय उन दिनों की आर्थिक, सामाजिक, और राजनैतिक अवस्था को अच्छी तरह समझ लेनेकी कोशिश करनी चाहिए। वर्ना जो लेख तैयार होंगे वे अनर्थ कारक ही होंगे ।

इस समय तक पौराणिक कथाओं के विषय में कईलोगोंने बहुतसी टीका टिप्पणीयां लिखी हैं, कई योंने छोटे और बडे ग्रंथ भी निर्माण किये हैं, उनमें से ईसाई और मोहमदी लोगों के ग्रंथों को छोड दिया जाय तो हमारे लोगों के ग्रंथों में भी वह विवेचनात्मक खोज की बुद्धि नहीं दिखाई देती कि जिसकी अत्यंत आवश्यकता है। जिस कथापर टिप्पणी लिखनी हो उसका मूल पहिले देखना चाहिये, उस समय की आर्थिक, सामाजिक और राजकीय परिस्थिति देखनी चाहिये । दोनों की तुलना करके शांतिसे विचार करना चाहिये कि लेखक ने यह कथा ऐसी क्यों घडी। इतनी खोज के पश्चात् जो लेख लिखा जायगा उसका ही कुछ मूल्य होगा, अन्य लेख जो उक्त विचार के विना ही लिखे जाते हैं वे कागज का मूल्य घटानेवाले हो रहे हैं ।

इस लेख में शंबूक, जरत्कारु और कौशिक की तीन कथाओंका विचार करके बताया कि ये कथाएं बुद्धकाल के पश्चात् लिखी गई। बुद्ध धर्म के कारण जो तीन आपत्तियां समाज पर आ पडीं थीं, उनको दूर करनेके लिये ये कथाएं लिखीं गईं थीं और इन में जैसा कारीगर वर्ग के शूद्र को तपस्या न करने का उपदेश कहा है, उसी प्रकार ब्राह्मणोंको भी तपस्या न करते हुए उत्तम गृहस्थाश्रम करके आदर्श गृहस्थी बनने का उपदेश दिया है। इस कारण ऐसी कथाओंमें पक्षपात का अंश भी नहीं है। पाठक इस रीतिसे इन कथाओं का विचार करें।

वैदिक धर्ममें आनन्दकी दृष्टी।

(गताङ्कसे आगे)

(ले० श्री. पं. लक्ष्मण शास्त्री जी जोशी, प्राज्ञपाठ शाला, वाई)

सांख्यके दुःखवादका महाभारतपर असर पडा !

आत्मशक्ति के लिए प्रयत्न शील यतियों तथा मुनियोंने सांसारिक सुखकी कीमत दर्शाने के लिए तथा संसारसे विरक्ति उत्पन्न करने के लिए गर्भवासका काल्पनिक दुःख, दूषित समाजव्यवस्थामें तथा उटपटांग राज्यमें होनेवाली कुटुंबकी दुर्दशा, जरादुःख, मृत्युदुःख इत्यादि दुःखों से परिपूर्ण संसार का भयानक चित्र खींचा है ! असत्य, दारिद्र्य, चोरी, लुच्चाई, व्यभिचार, धन यौवन आदि का गर्व इत्यादि दोष विषयवासनासे होते हैं, यह देख विषयसुख विषसदृश है ऐसा प्रतिपादन किया है। उपनिषत् काल के बाद या उसके अन्तमें सांख्यकार पैदा हुए । सांख्यकारने पारमार्थीक कल्याण का मार्ग संन्यासको या प्रपंचत्यागको ठहराया। सांसारिक खटपट, व्यावहारिक झगडे तथा अन्य व्यवसाय मोक्ष साधनमें रुकावट होनेसे इन सबका

त्याग ही सर्व श्रेष्ठ मार्ग ठहराया गया । और एक बार त्याग किया कि पुनः उसमें साधक न आफसे अतः ऐहिक जगत् की वस्तुओंसे तिरस्कार पैदा करानेके लिए दुःखवाद की स्थापना की गई। योग शास्त्रमें इसी अभ्यास को 'प्रतिपक्षभावना' संज्ञा है। सांख्य की विचार पद्धतिमें दुःख मीमांसा बढने लगी। सांख्यने मनुष्य के मनका एकांगी विकास करनेका प्रयत्न किया। उसमेंउस को विश्वके प्रति वैराग्य उत्पन्न करना ही मुख्य उपाय प्रतीत हुआ। उस उपायकी पूर्ण सिद्धि के लिए दृश्य विश्व के प्रति तिरस्कार पैदा करनेका प्रयत्न किया जाने लगा।

वस्तुतः सांख्य शास्त्र की दृष्टि से इस जगतमें सुख और दुःख इन दोनोंका मिश्रण है ऐसा मानने में कोई भी विघ्न नहीं पडता। सुखं दुःखमिहोभयम् (म. भा. शां. प. १९०-१४) किंबहुना समाजमें सात्विक आचरण का जितना विकास होता जाएगा, लोकोंकी नीतिमत्ता जितनी सुधरेगी उतना सुखका अधिक आविर्भाव होगा, ऐसा सांख्य शास्त्रकी दृष्टिसे सिद्ध किया जा सकता है। 'सत्वं सुखे संजयति'; सत्वगुणों का सुख कार्य है। परन्तु संन्यासाश्रममें प्रपंचके प्रति पूर्ण विरक्ति आवश्यक होनेसे उसके लिए दुःख मीमांसाका उदय हुआ। उसका अधिकारी संन्यासी है। सांख्य तत्त्व ज्ञानमें संसार से निवृत्त यति के लिए दुःखवाद का उद्भव हुआ। उसका प्रभाव उसके समकालीन महाभारतादियोंपर पडा। सुखाद्बहुतरं दुःखं जीविते नास्ति संशयः ॥ (शां. प. २०५-६, ३३०-१६) " इस जीवन में सुखकी अपेक्षा दुःखही अधिक है।' गीतामेंभी मनुष्यका जन्म अशाश्वत, दुःखोंका घर और पृथ्वीपरका संसार असुखमय है। (गीता ८-१५ और ९-३३) ऐसा कहा है। 'न संसारे सुखस्य गन्धमात्रमप्यस्ति। (गी. शां. भा. ५-२२) संसार सर्वदा दुःख पूर्ण ही रहेगा ऐसा दुःखवाद का मथितार्थ है।

दुःखमीमांसा उत्पन्न होनेके कारण।

ऐहिक जीवन दुःखपूर्ण है यह कल्पना दशोपनिषदोंमें नहीं है। दुःख मीमांसाकी उत्पत्ति सांख्य संन्यासीओं तथा नैष्ठिक ब्रह्मचारीओं की वाणी से हुई है। उसका पूर्ण मध्याह्न बौद्धक्रांति के समय हुआ ! बौद्ध क्रांतिके पूर्वही उत्पन्न हुए हुए वैशेषिक, नैयायिक, ब्रह्ममीमांसक इत्यादि दार्शनिकों की वाणीसे उत्पन्न दुःखमीमांसा बुद्धोत्तर कालमें पूर्णतदा विकसित हुई। बुद्धोत्तर कालीन वैदिक धर्मियोंकी वाङ्मय इस दुःख मीमांसामें व्याप्त होगई। दुःखमीमांसा क्यों उत्पन्न हुई ? इस का उत्तर अनेक प्रकारसे दिया जा सकता है। (१) सांख्यादिक दार्शनिकोंने साधकको पूर्ण तत्वज्ञानी बनानेके लिए सन्यासाश्रमको अधिक अनुकूल देखकर उसे टिकाने के लिए तथा अपना संप्रदाय बढानेके लिए संसारको दुःखमय बडे जोरसे प्रतिपादन किया। (२) पौराणिकों ने तथा साधु संतो ने भगवद्भक्ति बढाने के लिए, नीतिसम्पन्न होने के लिए, स्तेय, हिंसा, व्यभिचार, झूट इत्यादि विषयवासनाजन्य पापाचरणों को अटकाने के लिए संसार को दुःख पूर्ण पुकार पुकार कर बताया। (३) संन्यासी, श्रमण, बौद्धभिक्षु, गोसाईं, वैरागी इत्यादियोंने गृहस्थाश्रमी, वर्णधर्म का आदर करने वाले, व्यवहारपटु प्रवृत्तिपंथके वैदिक आचार्यों से अपनी संसारोन्मुख़भूमिका को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए तथा अपनी महत्ता प्रतिपादन करने के लिए दुःखमीमांसा का ढौंग रचा और भारतीय समाजके व्यावहारिक सुखमें तथा आध्यात्मिक सुखमें दुःखरूपी विषका प्रवेश कराया ! (४) दारिद्र्य, रोग, दैवी आपत्तिसे ग्रस्त, हिंमत हारेहुए, दैवके पंजे में फंसहुए पौरुषहीन लोकों ने संसारसे विरक्त होकर संन्यास ले लिया अथवा विरक्तिपंथके अनुगामी हुए और उन्होंने संसारके दुःखोंके अधिक भडकीले चित्र खींचे।

दुःखमीमांसा भारतीय वाङ्मयमें मुख्यतया क्यों और कैसे उत्पन्न हुई इसका थोडासा विवेचन स्थाली पुलाक न्यायसे अब तो किया। संसार दुःखमय है इस विचारका प्रभाव जिस अंतःकरणपर पडा, उस अंतःकरणपर फिर विश्वव्यापी आनन्द तत्वकी स्फूर्ति होनी संभव नहीं है। सम्पूर्ण विश्वमें आनन्दरूप परमात्मा व्याप्त होकर रमा हुआ है इस विचार की समर्थक विचार परंपरा दार्शनिक तथा

बुद्धोत्तर वाङ्मयमें नहीं मिलती। ये वाणीयां दुःख मीमांसा से व्याप्त हैं। यद्यपि यह बात ठीक है कि पौराणिक, दार्शनिक तथा साधुसंतों की वाणीयोंमें आनन्द रूपी परमात्मा का प्रतिपादन किया गया है; परन्तु वह केवल उपनिषदों का अनुवादमात्र है।

उपनिषदों के पूर्वकी वैदिक वाङ्मय और वैदिक संस्कृति आनन्दमीमांसा की जननी है।

उपनिषदों से पूर्वकी वाङ्मय आनन्दमीमांसा के उदयका उषाकाल दिखता है। संहिता तथा ब्राह्मण ग्रंथोंमें आनंदमय परब्रह्मके उदयका स्वागत करनेवाली उषाके मंगलमय लाल रंगका प्रकाश दृष्टिरूपी मनको रिझाता है। इस आदन्दमय चित्सूर्य के उदय कालमें बहनेवाला मंद वायु दृष्टिके मानस सरोवरमें आनन्दकी तरंगे उछालता है। धर्म और नीतिकी समाजमें स्थापना करनेवाले ब्रह्मज्ञ ऋषि तथा आचार्य उस आनन्द सूर्यको अर्ध्य प्रदान करते हैं,ऐसा उपनिषदोंके पूर्वकालीन वाङ्मयके पढनेसे प्रतीत होती है। इन वेदकालीन ऋषियोंको आरोग्य सम्पन्न, द्रढिष्ठ तथा बलिष्ठ शरीरमें आनन्दकी प्रतीति होती है! कीर्ति, यश, अन्न, पशु, ब्रह्म तेज और सौवर्ष की आयुकी प्रत्येक पुरुषको प्राप्ती होवे,सन्मार्ग और सत्प्रयत्नसे इन वस्तुओंका प्रत्येकको लाभ मिले ऐसे आशीर्वाद से ऋषियोंके अन्तःकरण भरेहुए दीखते हैं। नीति, धर्म, ब्रह्मतेज तथा क्षात्रतेज से सम्पन्न समाज आनन्दका खजाना है ऐसा ऋषियोंको दृष्टिगोचर होता है! श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य और अन्न से शरीरबल तथा मनोबल बढानेका ऋषि उपदेश करते हैं। नीरोग काया, मेधा, प्रजा, पशु, ब्रह्मवर्चस और अन्न ये जीवनरूपी यज्ञकी सामग्री है ऐसा उन्हें मालूम देता है। ऋषियोंके मनको मृत्युकी फांसी से डर नहीं लगता; क्योंकि मृत्यु यह एक विश्रांतिस्थान है ऐसी ऋषियोंकी भावना है। ऋषि केवल अपमृत्युकी निन्दा करते हैं,क्योंकि अपमृत्यु समाज में स्व अपराधसे आती है ' अमृतमित्येवामुत्रो पासीतायुरितीह '। [श. ब्रा. १०-२-२] ' शरीर के लिए १०० वर्षकी आयु चाहिए और आत्माको मोक्ष चाहिए! ' यह है ऋषियोंका शास्त्र। प्रपंच नश्वर है इसलिए अपने हाथोंसे उसे बिगाड डालना चाहिए यह ठीक नहीं है। सगे संबन्धी, बंधु, प्रियजन आदियोंके वियोगको खेल समजते हुए अचल चित्तसे ऋषि उसे देखते हैं। प्रत्येक व्यक्तिके उत्कर्षका मार्ग और अध्यात्मिक उन्नति का मार्ग ऐहिक जीवनके प्रदेशसे प्रारंभ होता है। ऐहिक जीवन, कुटुम्ब तथा समाज ये मनुष्यकी परमोन्नतिके एक मात्र साधन हैं!

अतः ऐहिक व्यवहार, शरीर,कुटम्ब और समाज को शुद्ध, बल संपन्न तथा आनन्दमय करनेके लिए ऋषियोंका मार्ग चला हुआ है ऐसा वैदिक वाङ्मयसे स्पष्ट हो रहा है। ब्रह्मतेज युक्त ब्राह्मण, दुष्टोंका नाश करनेवाला प्रतापी योद्धा, सभाओंको जीतने वाला ज्ञान सम्पन्न युवा पुरुष, गृहकार्यदक्ष सुशील युवती, सस्य शालिनी पृथ्वी, चपल उत्तम घोडे,पुष्ट बैल इत्यादि ऐश्वर्यसे परिपूर्ण तथा सम्पन्न समाज ऋषिके अन्तः करणमें नई नई आशाओंसे पूर्ण प्रतिभाको उत्पन्न करता है। ऋषिको सारी सृष्टि खिली हुई सी प्रतीत होती है। उसमें मधु भरा हुआ देख कर ऋषि का मन गुंजार करता है। मधुमान् सूर्य विश्वकी प्रदक्षिणा करता है! मधुयुक्त निर्मल जलसे भरी नदीयां बह रही हैं! उषा और रात माधुर्यसे भरे हुए हैं। पृथिवी माताके पेटमें मधु भरापडा है। प्रकाशमान पिता-द्युलोक मधुसे भरा पडा है। वनस्पतियोंमें भी मधु परिपूर्ण हुआ हुआ है। गायोंके स्तनोंसे मधु बह रहा है!

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः।
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः॥ १॥
मधुनक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः।
मधु द्यौरस्तु नः पिता॥ २॥
मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः।
माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥ ३॥
(ऋ १।९०। ६-८)

वैदिक ऋषियों में जयिष्णु समाज की सब प्रकार की महत्वाकांक्षायें प्रतिबिंबित हुई हुई हैं। दुर्जनों के दौर्जन्यका प्रतिकार करने का सामर्थ्य ऋषियों में

है। तप और पराक्रम ये ऐश्वर्य के साधन हैं! यश, कीर्ति और प्रताप ये कल्पनातीत हैं। ऋषियों के हृदयमें आशावाद भरा हुआ है। उत्साह और प्रयत्न का अभाव वैदिक वाङ्मय में कहीं भी नहीं मिलता। वैदिक वाङ्मय आशासे पुष्पित है। उस में आशावाद के बाद सत्कर्म, सामर्थ्य, सत्य, ज्ञान और तप का अधिष्ठान है। शुद्ध सौन्दर्य के प्रति ऋषियों को तिरस्कार नहीं हैं। वैदिकवाङ्मय से आनन्द की फव्वारे उडते हुए दिखाई दे रहे हैं। आध्यात्मिक आनंद और आधिभौतिक आनन्द को वैदिक वाङ्मय में मिलाया गया है।

वैदिक वाङ्मयमें हमें आनंद मीमांसा की मूल पीठिका मिलती है। शरीर, मन, कुटुम्ब, समाज, धर्म और देवताओंके विषयमें वैदिक वाङ्मयमें प्रकट किए गए विचारों से आनन्द मीमांसा का उदय होता है। अतः संक्षेपसे हमें यहां उन वैदिक विचारों का मनन करना चाहिए।

शरीर विषयक वैदिक विचार।

शरीर मलमूत्र आदि गंद का घर है ऐसी कल्पना वेदमें नहीं मिलती-

शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि राजा मे प्राणो अमृतँ सम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम् ॥ ५॥

जिह्वा मे भद्रं वाङ् महो मनो मन्युः स्वराड् भामः। मोदाः प्रमोदा अङ्गुलीरङ्गानि मित्रं मे सहः॥ ६॥ बाहू मे बलमिन्द्रियँ हस्तौ मे कर्म वीर्यमात्मा क्षत्रमुरो मम ॥ ७॥

(शु. य० अ० २०)

तात्पर्य-' मेरा सिर साक्षात् लक्ष्मी और प्राण राजा है! आंखें सम्राट् और कान विराट् हैं। मेरी वाणी मूर्तिमंत कल्याण है। बुद्धि प्रकाशरूप है और क्रोध तेजस्वी राजा है! मेरे सब अवयव मोद और प्रमोद के अधिष्ठान हैं, और मेरा सामर्थ्य मित्र है! मेरी बाहुएं साक्षात् बल हैं। दोन हाथ कर्तृत्व और सामर्थ्य हैं तथा मेरी छाती और आत्मा बलवान् वीर हैं!' छान्दोग्यमें वाणी, मन, संकल्प, चित्त, ध्यान, विज्ञान, बल, अन्न, जल, तेज, आकाश, स्मरण-शक्ति, आशा, प्राण, सत्य और सुख, इन की उपासना करने के लिए कहा गया है। बल, अन्न और प्राण इनका शरीरसे संबन्ध है यह बात स्पष्टही है।

मृत्योः पदं योपयन्तो यदैत द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः। आप्यायमानाः प्रजया धनेन शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः !! (ऋ. १०। १८। २)

तात्पर्य ' अपमृत्यु को अवसर मत दो! मृत्यु के पैरको एक ओर हटाते हुए दीर्घ और तेजस्वी आयुष्य प्राप्त करो !! प्रजा और धन से सम्पन्न होवो! पुष्ट होकर सत्कर्मोंसे शुद्ध और पवित्र बनो! इस प्रकार का उपदेश ऋग्वेद में किया गया है।

आयुर्यज्ञेन कल्पताँ श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां वाग्यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पतामात्मा यज्ञेन कल्पतां ब्रह्मा यज्ञेन कल्पतां ज्योतिर्यज्ञेन कल्पतां स्वर्यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम् ॥ २९ ॥ (शु. य. अ. १८)

तात्पर्य- ' सत्कर्मोंसे आयुष्य, क्रियाशक्ति बढावे, चक्षु, श्रोत्र, वाणी और मन समर्थ होवें, आत्मा शुद्ध हो, तेज बढे, स्वर्ग प्राप्त हो, सत्कर्मों से सत्कर्म बढें,' ऐसी इच्छा युजर्वेद में प्रकट की गई है।

आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदम् ॥

तात्पर्य- ' मेरे सब अवयव, वाक्, चक्षु, क्रियाशक्ति, बल ये बढें और उनसे मेरा ज्ञान और ब्रह्मज्ञान बढे। यह प्रार्थना केनोपनिषद् के शांतिमंत्र में की गई है।

पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥ २४ ॥

(शु. य. ३६)

तात्पर्य- ' कर्तृत्व के, दैन्यरहित और शक्ति संपन्न सौ वर्षों की आयु, किंबहुना उससे भी अधिक आयुको प्राप्त हों।' ऐसी आशा प्रत्येक यज्ञ कर्म में वैदिक गृहस्थ प्रकट करता है।

मानसिक उन्नति।

शरीर की उन्नति के साथ मनकी भी प्रगति ऋषियों को अभिप्रेत है। मनसे किया गया प्रत्येक

संकल्प सत्यमय, शुभ, धर्मयुक्त हो ऐसी भावना शिवसंकल्प सूक्तसे प्रकट हो रही है । उदाहरणार्थ एक मंत्र नीचे देते हैं—

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु। यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ३ ॥

(शु. य. ३४)

तात्पर्य- ' मन सब ज्ञानों का उत्पत्तिस्थान है; धैर्य मन का बहुत बडा धर्म है। संसार में न बुझने वाली ज्योति यह मन है। मन की प्रेरणा के विना कोई भी क्रिया नहीं होती। ऐसे इस मन में, हे परमेश्वर! सदा शुभ संकल्प ही उत्पन्न कर।'

श्रद्धाका माहात्म्य बडी उत्तम रीतिसे ऋग्वेदमेंके दसवें मंडलमें प्रतिपादित है—

श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥

(ऋ. १० । १५१। १)

तात्पर्य—' श्रद्धाही सब कल्याणों की शिरोमणि है, ऐसा हमें कहा गया है।' उपनिषद्में सत्यकी महिमा अगाध दर्शाई गई है—

सत्येन पन्था विततो देवयानः ।

तात्पर्य-' देव सत्यके ही मार्गसे गए हैं '।

' ऋतं च सत्यं चाभिद्धात्तपसोऽध्यजायत' ।

(ऋ. १० । १९० । १)

तात्पर्य— तपसे 'सत्कर्म और सत्य उत्पन्न हुए, और उनसे विश्वका निर्माण हुआ '।

सत्येनोत्तभिता भूमिः । ' (ऋ. १०-८५ १)

तात्पर्य—सब पृथिवीका आधार सत्य है।

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते। तयोर्यत्सत्यं यतरदजीय-स्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत् ॥

(ऋ. ७ । १०४ । १२)

तात्पर्य-विवेकशील विद्वान् मनुष्यके मनमें सत्य और असत्य इसका झगडा चलता रहता है। उससे सरल सत्यका, शांतिका राजा सोम संरक्षण करता है और असत्य का नाश करता है।

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः ॥
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानं शुक्रमन्धसः इन्द्रस्ये न्द्रियं पयोऽमृतं मधु ॥ ७७ ॥

(शु. य. १९)

तात्पर्य— परमेश्वरने विश्वके सत्य और अनृत ऐसे दो प्रकारके रूप बनाये, अथवा परमेश्वरने विश्वमें सत्य और असत्य ऐसे दो प्रकार निर्माण किए। असत्यके स्थानमें अश्रद्धाकी स्थापना की और सत्यके स्थानमें श्रद्धाको स्थापित किया। सत्कर्म के प्रभावसे सत्य, सामर्थ्य, भोग्यपदार्थ, अन्नजन्यवीर्य, आत्म सामर्थ्य, दूध, अमृत और मधु इनकी प्राप्ति होती है। सब जगत्को हम प्रेम भरी दृष्टि से देखें और सारा जगत् हमसे प्रेम करे ऐसी इच्छा निम्न मंत्र से स्पष्ट हो रही है-

मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षामहे ॥

(शु. य. ३६)

तात्पर्य- ' सब प्राणीमात्र मुझे मित्रकी दृष्टिसे देखें, और मैं सब प्राणियों को मित्रकी दृष्टिसे देखूं। हम सब परस्पर मित्र भावसे जगतमें देखते हुए रहें।'

सब धन व ऐश्वर्य केवल स्वशरीर पोषणार्थ और स्वसुखार्थ नहीं है। दान ही धनका और ऐश्वर्यका हेतु है।

वाजो नो अद्य प्रसुवाति दानं वाजो देवाँ ऋतुभिः कल्पयाति । वाजो हि मा सर्ववीरं जजान विश्वा आशा वाजपतिर्जयेयम् ॥ (शु. य. १८ । ३३)

तात्पर्य- ' सब ऐश्वर्य आज मुझे दान की प्रेरणा करे ! संपत्ति मुझे देव यजन और पूजनकी प्रेरणा करे। धनसे मुझे पुत्र पौत्र प्राप्त हों, मैं ऐश्वर्यका राजा होकर सब जगत् में विजयी होऊं,दशों दिशाओंमें मुझे विजय प्राप्त हो '।

ऋग्वेदमें अराति शब्द ' आर्योंके शत्रु' इस अर्थ में आया है। अराति अर्थात् दानहीन। राति अर्थात् दान। दानहीन प्रजा आर्यों की द्वेष्य है।

'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य । नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥ (ऋ. १०।११७।६)

तात्पर्य- ' जो मनुष्य देवयजन नहीं करता, मित्रोंको मदद नहीं करता, वह वास्तवमें केवल खाऊ और पापी है । उस मूर्ख को व्यर्थ में धन मिला है । मैं ठीक कहता हूं कि इसमें उसका नाशही है '

नीति की मर्यादा किसी को भी लांघनी नहीं चाहिए ऐसा आर्योंका धर्मनियम है --

सप्तमर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात् । (ऋ. १०।५।६)

तात्पर्य- ' ज्ञानी पुरुषों ने नीतिकी सप्तमर्यादायें बनाई हैं, उनका अतिक्रमण दुष्ट मनुष्य करता है ।'

काम क्रोधादि षड्रिपुओं को जीतना यह एक आवश्यक कर्तव्य है । इससे बिना मनका पूर्णतया विकास नहीं हो सकता । षड्रिपुओं की गूढता का बडी आलंकारिक भाषामें ऋग्वेद में वर्णन किया गया है -

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम् । सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र ॥ (ऋ० ७।१०४।२२)

(अपूर्ण)

हिंदू समाज समर्थ कैसा बनेगा ?

(ले० - श्री. महादेवशास्त्री दिवेकर । अनु० पं. भोलानाथ राव)

प्रकरण सातवाँ । मनोबल विचार

(शास्त्र और शास्त्रकार)

हिंदू समाज में शास्त्र तथा शास्त्रकारों के प्रति बडी चमत्कारिक कल्पना है । इन लोगों का विचार है कि श्रुति स्मृति पुराण इत्यादि जितने और भी धार्मिक ग्रंथ हैं वे अनादि हैं तथा इनकी रचना मनुष्यों द्वारा नहीं हुई है । इन ग्रंथों को अनादि कहना तो कहीं तक उचित भी हो सकता है क्यों कि इनके रचनाकाल का ठीक ठीक समय नहीं विदित होता परंतु इनको अपौरुषेय कहना तो बडी भारी भूल है । पुराणों को व्यास ने लिखा, स्मृतिकारों ने स्मृतियों की रचना की तथा वेदों को ऋषियों ने देखा यह सब जानते हुए भी हम लोग इन लोगों की गणना ईश्वर में करते हैं तथा इनकी कृतियों में आश्चर्यजनक कल्पना करते हैं । अद्भुतपन, चमत्कार तथा आश्चर्योत्पादक कल्पनाएँ समाज के बाल्यावस्था ही में शोभा देती हैं । समाज की प्रौढावस्था में बाल्यावस्था की आश्चर्योत्पादक कल्पना को नियत रखना उसी प्रकार हास्यास्पद है जैसे कि कोई वृद्ध मनुष्य वृद्धावस्था में बालकपन के कपडे पहन कर हास्यास्पद बनता है । बहुत से लोग तो इस प्रकार कहते हैं कि यदि हम लोग यह कहें कि इन ग्रंथों की रचना रागद्वेषशून्य, विद्वान, त्यागी मनुष्यों द्वारा हुई तो साधारण जनता की श्रद्धा धर्म की तरफ कम हो जायगी । परंतु भली भांति विचार करने पर विदित होगा कि आश्चर्य द्वारा भय दिखलाकर उत्पन्न की हुई श्रद्धा अंधश्रद्धा ही होगी । इस अंधश्रद्धा का ही

यह फल है कि वेद के अर्थपर वादविवाद करना एक प्रकार का पाप समझा जाता है। हिंदूसमाज की विचार सरणी इसी प्रकार के अनेक अंधश्रद्धाओं द्वारा कुंठित हो रही है। जो समाज अपने सर्व धर्म ग्रंथों को आश्चर्यों से भरा हुआ समझता है तथा उन्हें रेशमी कपडे में लपेट कर उनकी पूजा करना ही सिद्ध समझता है वह समाज कब उन्नति कर सकता है? जिस समाजमें धार्मिक पुस्तकों को पढने का अधिकार केवल ऋषियों और साधुओं को ही दिया गया है उस समाज की साधारण जनता अपनी उन्नति कैसे कर सकती है। सत्य में हिंदूसमाज में वास्तव बातों की अपेक्षा अवास्तव बाते ही भरीं पडीं हैं। हिंदूधर्म के बारे में " छोटे से बाले मिया और दस हाथ की पूंछ"वाली लोकोक्ति ठीक ठीक चरितार्थ होती है। धार्मिक ग्रंथों के बारे में ऐसी कल्पना करना ही मूर्खता का द्योतक है। ग्रंथकारों ने उन पुस्तकों को वस्त्र में बांधकर पूजा करने के लिये नहीं लिखा है। साधारणतः सब ग्रंथकारों की हार्दिक अभिलाषा यही होती है कि उनके ग्रंथों को सब जनता पढे तथा यदि वे अनुकरणीय हों तो उनके अनुसार चलने का प्रयत्न करें। भारत वर्ष के ग्रंथ कुछ निराले नहीं हैं कि उन्हें अपनी पूजा कराने में ही अच्छा मालुम होता हो। ग्रंथों को पढने पढाने तथा उसपर वादविवाद करने से कोई हानि नहीं होती परंतु मूर्खके घर में देवताओं के बीच में बैठकर ग्रंथ भी रो देते हैं। पिता अपनी पुत्री का विवाह संसारवृद्धि के लिये ही करता है। इसलिये नहीं करता कि पुरुष उसे छिपाकर रखे और उसकी पूजा किया करे। हिंदूओं के धार्मिक विचारों पर कहाँ तक टीका टिप्पणी की जाय। इनका तो यही विचार है धर्मग्रंथों का संपादन ईश्वर द्वारा हुआ है और उनमें सब देवलीलाओं का ही वर्णन है इस कारण उनके बारे में कुछ कहना बुरा है " न देवचरितं चरेत् " के ही आधार पर लोग दृढ हैं।

प्राचीन पंडितों का विचार है कि श्रुति स्मृति पुराण यह सब अपौरुषेय हैं इसकारण से इनमें लिखित मोक्ष प्राप्त करने का विचार तथा उसकी मीमांसा परिपाटी अर्थात् विचार करने की पद्धति भी मनुष्य सामर्थ्य के बाहर है। परन्तु यह जानते हुए भी कि मीमांसा शास्त्र की रचना जैमिनि और शाबर द्वारा हुई है उसे अपौरुषेय कहना दुराग्रह की पराकाष्ठा है। मीमांसा शास्त्र का तात्पर्य भाषाशास्त्र है परन्तु अनेक प्रकार के निबंध ग्रंथों में व्यवहारिक और धर्मविषयक सूक्ष्म प्रश्नों में आग्रह की अपेक्षा दुराग्रह ही विशेष देख पडता है। अर्थात् इन ग्रंथों में यही विचारसरणी है कि धर्मक्षेत्र में वादविवाद करने की अवश्यकता नहीं, जो कुछ स्मृति व पुराणों में लिखा है वही ठीक है और उसी के अनुसार चलना ठीक है। कोई भी इस बात का विचार नहीं करता कि इसी अंधविश्वास द्वारा मनुष्य की स्वतंत्रता का नाश होता है और उनकी बुद्धि संकुचित होकर उनकी आत्मस्वतंत्रता में बाधा पड रही है। धर्मशास्त्रों का मुख्य उद्देश्य मनुष्यों की उन्नति करना है न कि उन्हें पशुओं की श्रेणी में लाना! शास्त्रों में उपर कही हुई कल्पना होने के कारण ही हिन्दूसमाज परंपरा भक्त हुआ है। इतर समाजों में ऐसी अवास्तव कल्पनाएं समूल नष्ट होगई हैं इसी कारण वे विचार शील बन गए हैं। सारांश यह है कि समाज की उन्नति या अवनति उसके धर्म, शास्त्र, व आचार, व्यवहार पर ही निर्भर होती है।

हिंदू जनता शास्त्रों को वेद तथा उनमें दिए हुए सिद्धान्तों को वेदवाक्य मानकर उसमें कुछ भी उलट फेर नहीं करना चाहते। शास्त्रकारों को भी वे लोग देवतुल्य ही मानते हैं। ऐसी संकुचित विचारों वाले हिंदुसमाज की भविष्य में जीवित रहने की आशा नहीं की जा सकती। विचार और अनुभव द्वारा निरीक्षण और परीक्षा से सिद्ध की हुई बातें ही शास्त्र सिद्धान्तों में लिखी रहती हैं। इन सिद्धांतों को अन्वेषना करने वाले बुद्धिमान लोगों को ही शास्त्रकार की संज्ञा मिलती है। पाणिनि ने भाषाशास्त्र में अनेक सिद्धान्तों की खोज की, इससे वे व्याकरण के शास्त्रकार हुए, आर्य भट्ट ने गणित के सूक्ष्म तत्वों का अन्वेषण किया, इससे वे गणित शास्त्रज्ञ हुए। इसी प्रकार मनु, याज्ञ-

वल्क्य पराशरादि ऋषि उस समय के समाजानुकूल आचार विचारों के सिद्धान्तों की रचना के कारण स्मृतिकार हुए । प्रायः सारे विश्व में विचार अनुभव, निरीक्षण तथा परीक्षण द्वारा ही शास्त्रों का निर्माण होता है और इनके निर्माण कर्ता अत्यंत शुद्ध बुद्धि वाले विद्वान ही होते हैं । ग्यालिलिओ ने विद्युतशक्ति का आविष्कार किया । न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण का सिद्धांत संसार के सन्मुख रखा । यही लोग सच्चे कार्य कर्ता थे । इन लोगों ने भी अपनी नम्रता दिखलाने के लिये यही कहा है कि यह सब आविष्कार ईश्वर की कृपा ही से हुआ है परन्तु इससे यह तात्पर्य नहीं है कि इन सब आविष्कारों को स्वयं ईश्वर ने आकर किया। वस्तुतः ईश्वर तो निर्गुण है । वह कोई कार्यकर भी कैसे सकता है । उत्कृष्ट वाङ्मय व शास्त्र सिद्धांत पर सर्व साधारण का समान अधिकार है । प्रत्येक हिंदू जनता को वेद, श्रुति स्मृति का अध्ययन करना चाहिये । इन शास्त्रों में विश्व कल्याण के सूक्ष्मतत्व हैं। प्रत्येक जनता इनसे लाभ उठा सकती है। (पंडितों का कहना है कि यदि छोटी जाति के लोग इन पवित्र ग्रंथों को पढेंगे तो उन्हें सुगति के बदले दुर्गति ही मिलेगी)बडे आश्चर्य की बात है! यदि अच्छे ग्रंथों के मनन करने से दुर्गति मिलती है तो क्या भद्दे और अश्लील ग्रंथों के अवलोकनसे सुगति मिलेगी ? मैक्समूलर एक अंग्रेज महोदयने वेदों का अध्ययन किया तथा जर्मन विद्वानों ने भी इन ग्रंथोंसे लाभ उठाया । हिंदुओं के सन्मुख इन लोगों की गणना शूद्रों में ही है परंतु इसका क्या प्रमाण है कि इन लोगों की दुर्गति होगी। यह सब तो पंडितों की पोप लीला ही है ।

ईश्वर के विषय में जब निर्गुण की कल्पना है तो वह स्वयं सगुण कार्यों को कैसे कर सकता है । उसे जब कुछ कार्य करना होता है तो वह भी सगुण रूप धारण कर मनुष्य रूपसे जो कुछ करना होता है करता है व अपनी इष्ट बात को किसी मनुष्य द्वारा करता है । इस बारे में विशेष वादविवाद की आवश्यकताही नहीं है। ईश्वर की सत्ता अस्तित्व तथा सर्वज्ञता देखकर यही उचित जान पडता है कि शास्त्रों की रचना मनुष्य द्वारा ही हुई है । हिंदूधर्मशास्त्र के सर्व ग्रंथ प्रायः संस्कृत में ही लिखे हुए हैं । यही कारण है कि सर्वसाधारण को उनका ज्ञान नहीं है । शास्त्री और पंडित लोग तो कहते हैं सर्व साधारण को उनका ज्ञान नहीं है इसी कारण उनका इतना सन्मान है । यह भी कहा जाता है कि संस्कृत देवभाषा है और देवरूपी मनुष्यही इनके कर्ता हैं। परंतु यह उचित नहीं मालूम पडता । समाज में अनेक भाषाएं होती हैं । ग्रंथकार को जिस भाषाका भली भांति ज्ञान होता है वह उसी भाषा में अपने ग्रंथ की रचना करता है । उस समय में संस्कृत भाषा का ही प्रचार था, संस्कृत भाषा ही जनता की भाषा थी इसी कारण सर्व धर्मग्रंथों की रचना संस्कृत में ही हुई । यह समझना बडी भारी भूल है कि धर्मग्रंथों की रचना संस्कृतमें इसकारण हुई कि संस्कृत देव भाषा है । शोक है कि हिंदूजनता अधिकार और अनधिकार में ही पडे रह गये और उधर जर्मन, अंग्रेज व अमेरिकन लोगों ने वेद आदि ग्रंथों का अध्ययन करके उनसे लाभ उठा लिया और उठा रहे हैं । अन्य देश की जनता को तो वेद पढनेका अधिकार है पर स्वदेश की स्त्रियों को गीता पढने का भी अधिकार नहीं और शूद्रोंको तो वेद मंत्र सुनने तक का अधिकार नहीं है । ग्रंथ का अध्ययन करना और उस पर विचार करना यह आचरण बनानेकी पहली सीढी है । प्रथम विचार तदनंतर उच्चारण अन्तमें आचार ऐसी स्थिति होते हुए भी कर्मठपन के आचार को ही सच्चा आचार समझकर विचार की ओर ध्यान न देना बडी मूर्खता है । यद्यपि हिंदू समाज धार्मिक तथा श्रद्धावान है तथापि वह अंध श्रद्धावान तथा अंधधर्मनिष्ठ बनता जा रहा है ।

शास्त्र व शास्त्रकारोंको अपौरुषेय कहनेसे उनकी रमणीयता व आकर्षकता की कमी होती है । चकित करने वाली वस्तु प्रेम उत्पन्न नहीं करती परंतु कुतूहल उत्पन्न करती है । रमणीय वस्तु द्वारा प्रेम व आकर्षण ही होता है। समाज चकित करने वाले नेताका अनुकरण नहीं करता परंतु जो नेता सब लोगोंसे मिल जुलकर चलता है तथा लोगोंकी

अन्तःकरणकी बात जान कर बोलता है उसी को सब लोग चाहते हैं। शास्त्र व शास्त्रकारों का भी यही हाल है। शास्त्र व शास्त्रकार ही केवल हिंदू-समाज को चकित नहीं करते परन्तु उनके पढने व पढानेवाले शास्त्री व पंडित समाज भी समाज को चकित करता है। शास्त्र विषय समझने लायक प्रचलित भाषामें न होने के कारण साधारण जनता उससे दूर ही भागती है। यदि शास्त्र के वचन कुछ साधारण भी होते हैं तो भी शास्त्रीय परिभाषाओं-द्वारा पंडित लोग टीका टिप्पणि करके इतना कठिन तथा निरस बना देते हैं कि साधारण जनताके हृदयमें उनके प्रति आश्चर्यका ही भाव उत्पन्न होता है। बहुतसे लोग तो ऐसे देखे गये हैं जो कि शास्त्री विशेषकर शाल दुशाले से सज्जित शास्त्रीको देख कर उसे धोके की ध्वजा कहकर उससे मुंह ही छिपाते हैं। हिन्दुस्थान में सृष्टिसौंदर्यको इतना आनन्ददायक समझते हैं कि बहुतसे लोग तो घर-बार छोडकर उसी फेर में सन्यासी हो जाते हैं। यदि सृष्टि सौंदर्यमें आकर्षकता होती तो मनुष्य उसे देखकर स्वयंको भूल न जाता परंतु उसपर विचार करके संसार को उस सृष्टि से लाभ पहुंचाने की भावना करता। परंतु सृष्टिके चकित करने वाली होने के कारण ऐसा नहीं होता। शास्त्र व शास्त्रकार भी चकित ही करने वाले हैं उनमें अपौरुषेयत्व काही दंभ भरा हुआ है यही कारण है कि पौरुष अर्थात् मानव यत्नको कहीं भी स्थान नहीं है। अब तो शास्त्रों को ईच्छारहित मानकर उनमें आश्चर्यजनक बातें देखकर मुंहमें अंगुली दबाना ही बाकी रह गया है। इन्हीं संकुचित विचारों द्वारा हिंदुस्तानमें नवीन अन्वेषण नहीं हुए। शास्त्र और कला की भी उन्नति रुक गई यहाँ तक कि जो कुछ प्राचीन प्रतिभा थी वह भी परकीय सत्ताके अधिकार में पडकर नष्ट हो गई। वैदिक धर्म में जिस रमणीयता व आकर्षकता का अभाव था उसकी पूर्ति गौतम बुद्ध द्वारा हुई। परंतु उसमें अहिंसा व सन्यास की अधिकता होनेके कारण समाज पर उसका अच्छा परिणाम नहीं हुआ। समाजको भविष्यमें सामाजिक, राष्ट्रीय व जागतिक स्पर्धाका सामना करना है, अतः अब प्राचीन मिथ्या कल्पनाओंको छोड देना ही उचित होगा। आधुनिक काल में समाज के विद्वान पुरुषों को जनता के सन्मुख शास्त्र व शास्त्र सिद्धांतों को रमणीय व आकर्षक बनाकर उन्हें देशी सांचेमें डाल कर विना किसी भेद भाव के शिक्षा देना चाहिये। विचार व अनुभव द्वारा ही शास्त्रों का निर्माण होता है। मनुष्य ही उनके रचना कार हैं। ईश्वरने मनुष्यों को ज्ञान जिज्ञासा प्रदान की है जिसका प्रभाव अवश्य ही संसारमें प्रकट होता है। वेदों के बनानेवाले वसिष्ठ और विश्व मित्र भी मनुष्य ही थे। पंचमहाभूतों को छोडकर सब कुछ मनुष्यकृत है। अब वह समय आगया है कि समाजकी अंधश्रद्धा की जड खोद कर उसे समूल ही नष्ट कर दिया जाय तथा ऐसी ही शिक्षा का प्रचार किया जाय जिससे हिन्दू समाज की अंधविश्वास का नाश हो जाय।

मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो न तु धूमायितं चिरम्॥

महाभारत।

"देर तक धूवां होनेकी अपेक्षा घडीभर भी अग्निकी ज्वाला होना अच्छा है।"

न दुरुक्ताय स्पृहयेत्।

ऋ. १।४१।९

बुरा शब्द अपने मुख से न उच्चारण करना चाहिये।

योग चिकित्सा।

गतांकसे समाप्त।

(ले०—अत्रिदेवजी गुप्त।)

३ इस रोगसे मांसपेशियां विशेष कर फुप्फुस का क्षय नष्ट हो जाता है अतः चिकित्सक मांस रस-का प्रयोग करते हैं विशेष कर जो मांस मनुष्यके मांससे प्रकृति स्वरूपमें अधिक मिलता है जैसे बकरीका, उसके भी फुप्फुसका मांस श्रेष्ठ माना है।

४ इस रोगके कारण क्रियाओंका क्षय हो जाता है अतः चिकित्सक भी उसे सब प्रकारकी क्रियाओं से रोकता है यहां तक कि विस्तरे पर हिलने जुलने से भी मना करता है।

५ इस रोगमें भोजनसे अनिच्छा उत्पन्न होती है अतः इसके लिये स्वादिष्ट एवं रुचिकर फल भोजनको प्रशस्त मानता है।

पाठकवृन्द! आपने देखा कि चिकित्सक प्रकृतिका सहायक है। रोगको प्रकृति स्वयं अच्छा करती है। चिकित्सक धात्री औषध शह सब उसके सहायक मात्र हैं। इस प्रकृतिका अधिष्ठाता परमात्मा है, उसने ही इस पुरुषको उत्पन्न किया है, जो कि पंचमहाभूत एवं क्षेत्रज्ञका संयोग है, इस प्रकृति के सब नियम उसके बनाये हुवे हैं और वह इनका अधिष्ठाता है, वह नहीं चाहता कि पुरुष रोगी रहे अतः वह स्वयं मनुष्यको स्वस्थ करनेका यत्न करता है जिस यत्नमें चिकित्सक एक सहायक मात्र होता है।

शिशु जिस समय अधिक दूध पी जाता है उस समय वमन द्वारा बाहर हो जाता है अर्थात् प्रकृति देखती है कि यह मात्रासे अधिक है, चिकित्सक उसे लंघन (Fasting) बताता है। एवं यदि वमन से बाहर न हो तो अतिसार होता है जिससे रोग शान्त हो जाता है, यदि अतिसार न हो तो चिकित्सक विरेचन देता है जिससे विष बाहर हो जावे।

इस प्रकार प्रकृतिकी सहायता करता है।

यही कारण है, कि जितेन्द्रियता एवं ब्रह्मचर्य संक्रामक रोगोंकी चिकित्सामें आचार्यने स्वीकृत किया है।

" जितेन्द्रियं नानुतपन्ति रोगाः तत्काल—
युक्तं यदि नास्ति दैवम्। "

स्वस्थके लिये भी चिकित्साकी आवश्यकता है जिससे कि भावि रोगोंसे मनुष्य बच सके इसके लिये स्वस्थ-विधिका आदेश भी आचार्य को करना पड़ा है।

हैमन्तिकं दोषचयं वसन्ते।
प्रवाहयन् ग्रैष्मिकमभ्रकाले॥
घनात्यये वार्षिकमाशु सम्यक्।
प्राप्नोति रोगानृतुजान्न जातु॥

जिस प्रकार कि विद्युत् वात वर्षादि आकाशमें होते हैं, परंतु कभी होते हैं और कभी नहीं होते। आकाश सर्वदा वर्तमान रहता है, और जिस प्रकार पानीमें कभी बुल बुले होते हैं और कभी नहीं कारण की अपेक्षा करते हैं। इसी प्रकार शरीरस्थ वातादि भी कारणकी अपेक्षा करके ही रोग ज्वरादि रूपमें होते हैं, इसलिये कारणकी अपेक्षा से ही यह रोग शान्त होते हैं अर्थात् ज्वरादिसे वातादिका सम्बन्ध नष्ट होता है। उस कारण का नाम चिकित्सा है! एवं जिन कारणों से वातादिका ज्वरादिसे संबंध न हो सके उन कारणोंका नाम भी चिकित्सा है। प्रथम चिकित्सा रोगीको स्वस्थ करनेकी है और द्वितीय स्वस्थ को स्वस्थ रखने के लिये है।

आसन भी स्वस्थ पुरुषके स्वास्थ्यको बनाये रखते हैं और बहुतसे रोगोंके कारणोंको नष्ट करते हैं अर्थात् रोगोंको नष्ट करते हैं तो वह भी एक प्रकारकी चिकित्सा है।

आसन—व्यायाम है, व्यायामसे अपचन अजीर्णादि रोग नष्ट होते हैं अतः व्यायामको भी चिकित्सामें गिनती की गई है।

नरो हिताहारविहारसेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः दाता समः सत्यपरः क्षमावान् आप्तोपसेवी च भवत्यरोगः ॥ मतिर्वचः कर्म सुखानुबन्धं सत्यं विधेयं विशदा च बुद्धिः । ज्ञानं तपस्तत्परता च योगो यस्यास्ति तं नानुतपन्ति रोगाः ॥ अत्रिः ।

कारण को हटा देना ही चिकित्सा है। ऐसा सिद्धान्त स्वीकार करके ही कामज्वर की चिकित्सा की जाती है। यही कारण है कि सुरतव्यापारादि मैथुन से उत्पन्न कामज्वर की शान्ति क्रोधसे आयुर्वेद विज्ञोंने स्वीकार की है। एवं ग्रीष्म ऋतु की ऋतुचर्यामें उपरोक्त सिद्धान्त को ध्यानमें रखकर हेमन्त ऋतुचर्या से मैथुन के विषयमें भेद किया है।

"पेयं प्रियायाः मुखमेव केवलम्।"

लोलिम्बराजः।

यह पित्तज्वरकी शीत चिकित्सा में वचन है। आयुर्वेद में कामज्वर से वात कुपित होता है अतः उस की उष्ण चिकित्सा स्वीकृत की है।

विकारः प्रकृतिश्चैव द्वयं सर्वं समासतः।
तद्धेतुवशगं हेतोरभावान्न प्रवर्तते ॥ अत्रिः।

त्रिवर्ग—

संसार में सर्वत्र त्रिवर्ग है। यथा—

१ तीन काल हैं- वर्तमान, भूत, भविष्य।
२ तीन अनादि- परमात्मा, जीव, प्रकृति।
३ तीन लोक - द्युलोक, पृथिवी लोक, पाताल लोक।
४ तीन वर्ग - धर्म, अर्थ, काम।
५ तीन ध्येय - ज्ञान, कर्म, उपासना।
६ तीन वेद - ऋग्, यजुः, साम।
७ तीन इच्छायें - प्राणैषणा, धनेच्छा, परलोकेच्छा (पुत्रेच्छा)
८ तीन ही दुःख- आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक।
९ तीन ही ऋतु - शीत, उष्ण, वर्षा।
१० तीन ही आधार- सत्व, रज, तम।

जब संसार में सर्वत्र त्रिवर्ग हैं तो आयुर्वेद में भी "त्रि" को ही माना है।

१ तीन दोष हैं - वात, पित्त, कफ।
२ तीन कारण हैं- अर्थ, काल, कर्म, (इन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध, परिणाम.)
३ तीन ही शरीरके आधार हैं- आहार, शयन (निद्रा) ब्रह्मचर्य।
४ तीन ही प्रकारकी औषध हैं- देवव्यापाश्रय, युक्तिव्यापाश्रय, सत्वावजयश्च।
५ तीन ही रोग - शारीरिक (आधिभौतिक)२ आधिदैविक (आगन्तुज) ३ मानसिक (आध्यात्मिक)
६ तीन ही शोधन हैं- अंतः परिमार्जन-बहिः परिमार्जन-शस्त्र प्रणिधान।
७ तीन ही रोगस्थान हैं - शाखा, मर्म, कोष्ठ।
८ तीन प्रकारका बल है - सहज, कालज, युक्तिकृत।
९ तीन ही में जीवन - "त्रिपुरस्थाप्य समं शरीरम्" श्वेताश्वतर "समं कायशिरोग्रीवं" गीता.
१० तीनही प्रकारकी व्याधि - सौम्य, आग्नेय, वायव्य।
११ तीनही चिकित्सा - बस्ति, विरेचन, वमन (तैल, घृत, मधु)

पाठक वृन्द! अब आपने देखा, सर्वत्र अन्तर्बाह्य त्रिवर्ग हैं, इसी त्रिवर्ग की संगति कर के आयुर्वेद शास्त्र की उत्पत्ति हुई है। यथा-

" तत्र भिषजा पृष्टेनैवं चतुर्णां ऋक्सामयजुरथर्ववेदानां आत्मनो भक्तिरादेश्या। वेदो हि अथर्वाणः स्वस्त्ययन-बलि-मंगल-होम-नियम-प्रायश्चित्त- उपवास-मन्त्रादिपरिग्रहाच्चिकित्सां प्राह।"

सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वात्-स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वात् भाव-

स्वभावनित्यत्वाच्च । ऊर्ध्वमूलमधःशाखं त्रिस्थूणं पञ्चदैवतम् । क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं विद्वान् यो वै वेद स वेदवित् ॥

आसनों का उद्देश्य ।

" स्थिरसुखमासनम् " पातञ्जल ।

"स्नेहसारोऽयं पुरुषः प्राणाश्च स्नेहभूयिष्ठाः स्नेहसाध्याश्च भवन्ति । " धन्वन्तरिः ।

स्थिरता एवं सुख पूर्वक बैठा जावे वह स्थिति आसन शब्द से कही जाती है । इसके साथ ही उपरोक्त धन्वन्तरिके वचन से प्रतीत होता है कि स्नेह ही पुरुष का सार भाग है। यथा—

१ जिस काष्ठमें स्नेहभाग लचकीलापन-नमी होती है वह अधिक देर शुष्क काष्ठ की अपेक्षा स्थिर रहता है, यथा बेत एवं हरावृक्ष, शुष्क वृक्ष को वायु समूलोन्मूल कर देती है-हरा वृक्ष वातसे झुक जाता है, एवं बेत पानीके प्रबल प्रवात के आगे झुक जाती है ।

इसके साथ शुष्क बांस को मोडने के लिये तैल स्नेह की आवश्यकता होती है ।

२ शिशु में कफ-प्राबल्य होता है जो कि स्नेह तरल पदार्थ है, एवं वृद्ध में वातप्राबल्य होता है, जिससे कि स्नेह-तरल पदार्थ कम हो जाता है। प्रथमावस्थामें आयुवृद्धि है द्वितीयावस्था में आयु-ह्रास है ।

एवं अन्यत्र स्नेह की ही प्रधानता पाते हैं । जिन रोगोंमें स्नेह भाग कम हो जाता है अर्थात् वात वृद्धि होजाती है वह रोग प्रायः असाध्य एवं कृच्छ्रसाध्य है। जैसे वातव्याधि (Nervous system के रोग)

इसलिये आवश्यक है कि इस स्नेहभाग को शरीरमें सुरक्षित रक्खें । सुरक्षित रखनेके साथ इसको अपने नियत परिमाण में भी रखना आवश्यक है । यदि यह स्नेह भाग अधिक बढ जावे तो शरीर में मेदोवृद्धि उत्पन्न करता है एवं यदि कम हो जावे तो शरीर में कृशता उत्पन्न हो जाती है ।

" तत्रातिस्थूलकृशयोर्भूय एवापरे निन्दितविशेषा भवन्ति । " अत्रिः ।

अतः इस स्नेह को शरीर के नियत परिमाण में सुरक्षित रखने के लिये इसकी आय एवं व्यय दोनों आवश्यक हैं ।

भोजन में घृतादिभक्षण अथवा बाह्य तैलादि प्रयोग से शरीर में स्नेह की आय होती है । व्यायाम, उपवास, आयासादि से शरीर में स्नेहका व्यय होता है । इसी कारण से वपु मेह विशेष कर मधुमेह (Diabetes Melitus) की चिकित्सा की जाती है।

अधनस्तु पादत्राणातपत्रविरहितो भैक्ष्या ग्रामैकरात्रानुवासी मुनिरिव संयतात्मा योजनशतमधिकं वा गच्छेत् ॥ धन्वन्तरि ः ।

अतः जिस उपायसे शरीरमें स्नेहकी रक्षा हो सकती है वही उपाय शरीर की स्थिति को बनाये रख सकता है और जो स्थितिको बना रख सकता है वही आसन है ।

शीर्षासनादिसे शरीरके स्नेह भागकी रक्षा होती है अतः उन्हें आसन शब्द से कहा है। स्थितिको रखनेमें आयास, परिश्रम होता है अतः यह एक प्रकारका व्यायाम भी है ।

व्यायाम से स्नेहका व्यय होता है जो की किसी अंशतक अभीष्ट भी है । चूं कि यदि किसी भट्टी में लकडियां जलाते जावें और राख न हटावें तो राख भस्म की वृद्धि होकर अग्निको बुझा देती है । इसी प्रकार शरीरमें स्नेहकी वृद्धि होनेसे शरीरस्थ अग्नि ऊष्मा शान्त हो जाती है जो कि मृत्यु है, अतः भट्टी से राखका निकालना एवं शरीरमें स्नेहका व्यय आवश्यक ही नहीं अपितु अत्यंत आवश्यक है ।

व्यय परिमाण-उचित मात्रामें ही होना चाहिये व्यय के लिये व्यायाम आवश्यक है-अतः धन्वन्तरि ने कहा है, कि—

" शरीरायासजननं कर्म व्यायामसंज्ञितम् ।
आरोग्यं चापि परमं व्यायामादुपजायते ॥
न चास्ति सदृशं तेन किंचित्स्थौल्यापकर्षणम् ।
न च व्यायामिनं मर्त्यमर्दयत्यरयो भयात् ॥
न चैनं सहसाक्रम्य जरा समधिरोहति ।
स्थिरो भवति मांसं च व्यायामाभिरतस्य च।
व्याधयो नोपसर्पन्ति सिंहं क्षुद्रमृगा इव । "

इस प्रकार व्यायाम व्याधि एवं वृद्धावस्था को हटानेसे आरोग्योत्पादन करनेसे रसायन का काम करती है।

परन्तु व्यायाम वही आवश्यक है कि जिससे कि स्नेह भाग का अधिक व्यय न हो। कुश्ती (मल्लयुद्ध) एक उत्तम व्यायाम है परन्तु वह यदि उचित परिमाण (आधेबल) से किया जावे, प्रायः यह व्यायाम करनेवाली व्यक्तियों में देखा गया है कि उनकी मांस पेशियां (Muscles) एवं अंग सुगठित एवं दृढ और सख्त (Stiff) हो जाते हैं। उनमें लचकपन नहीं रहता है। अर्थात् जिस प्रकार अपतानक रोग में अंग सख्त होजाते है, लचकपन नष्ट हो जाता है, वही अवस्था मृदुरूपसे मल्लयुद्धसे उत्पन्न हो जाती है इसका कारण प्रायः अधिक व्यायाम है इससे मांस पेशियां विकसित अधिक मात्रा में होती हैं। यह विकास यदि शनैः शनैः हो तो कुछ पता नहीं लगता परन्तु यदि सहसा होजावे तो " क्षत-क्षीणरोग " उत्पन्न होता है, जिससे कि रक्तस्त्राव हो जाता है।

शनैः शनैः विकास से रक्तवाहिनि यों में रक्त की मात्रा अधिक अधिक होने लगती है। जिससे कि रक्तवाहिनियां फैल जाती हैं। परन्तु अशुद्ध रक्त इतना शीघ्र वापिस नहीं हो सकता, अतः रक्तवाहिनियां (धमनी Arteries) रक्तसे भरी रहती हैं। उन को रिक्त होनेका अवसर नहीं प्राप्त होता। जिसका परिमाण मांसपेशियों का विकास स्वरूप होता है, मांस पेशियां विकसित रहती हैं। धमनियोंमें संकोच न होनेसे पेशियां भी संकुचित नहीं होतीं, अपितु विकसित (Dilated) रहती हैं।

शनैः शनैः यह अवस्था स्वाभाविक हो जाती है। मांस पेशियां विकसित रहती हैं। पूर्णतया संकुचित होकर स्वाभाविक अवस्थामें नहीं आतीं जो कि विकृत अवस्था होती है।

यदि कोई व्यक्ति व्यायाम नहीं करता उसकी मांस पेशियोंमें विकास नहीं होता अपितु संकुचित ही रहती हैं, अतः यह भी विकृतावस्था है।

प्रकृतावस्था यह है जिसमें कि मांसपेशियों और धमनियों का संकोच विकास दोनों हों। जिससे कि प्रकृतावस्थामें अन्तर न आसके।

मुद्गर व्यायामसे भी प्रायः उपरोक्त अवस्था उत्पन्न होती है। इसका कारण प्रायः अत्यधिक व्यायाम है, इन व्यायामों में मात्राका परिमाण प्रायः नहीं रहता। संख्यासे शक्तिका परिमाण नहीं हो सकता। एवं पेशियों में संकोच की अवस्था नहीं आती। विकास ही विकास होता है। इसके विरुद्ध जिमनास्टिक एवं आसन व्यायाम में उपरोक्त हानियों नहीं है। उनमें परिमाण एवं मांस पेशियोंका उचित संकोच विकास होता है।

जो अंग ताडासनसे सीधे किये जाते हैं, वही विपरीतकरण मुद्रासे उलटे किये जाते हैं अर्थात् रक्तसंचारमें परिवर्तन हो गया है।

इस के अतिरिक्त अधिक व्यायाम भी नहीं हो सकती है, शरीर आधे बलसे ही काम करता है सम्पूर्ण बलके लक्षण सहसा स्पष्ट होने लगते हैं यथा—

" हृदिस्थानस्थितो वायुर्यदा वक्त्रं प्रपद्यते।
व्यायामं कुर्वतो जन्तोस्तद्बलार्धस्य लक्षणम्॥
बलस्यार्धेन कर्तव्यो व्यायामो हन्त्यतोऽन्यथा॥
धन्वन्तरिः।

अर्थात् हृदयस्थित वायु जब मुखमें आजावे उस समय व्यायाम बन्द कर देना चाहिये। इस के अतिरिक्त समयकी बहुत बचत है। थोडे ही समयमें व्यायाम का उद्देश्य आसनों से सिद्ध हो जाता है। एवं किसी अन्य सहायक वस्तुकी अपेक्षा नहीं है।

उपरोक्त कारणोंसे आसन व्यायाम अन्य व्यायामों से श्रेष्ठ है।

आसन व्यायाम किसी न किसी रूपमें सब अवस्थाओंमें की जा सकती है। इस व्यायाम से यद्यपि रोग की आक्रमणावस्था (Acute attack) में बहुत अधिक लाभ न हो तथापि शरीर को रोगोंसे बचानेके लिये एवं भावि आक्रमणों से रक्षा करने के लिये तथा पुराने शल्यसाध्य (Chronic Surgical Treatment) रोगोंमें जैसे गर्भपात, गर्भाशय भ्रंश (Retroverson Antioverson) सन्धिवात (Stiffness of joints) आदि रोगों में आसन

चिकित्सा ही लाभ कर है। यह सत्य है कि यदि मुझ से पूछा जावे कि १०५ फार्नहाईट (Hyper Pyrexia) के ताप को आसन चिकित्सासे ही चिकित्सा करो तो संभव है, कि मैं चुप हो जाऊं परंतु इसके साथ यदि मैं यह जानने की इच्छा करूं कि प्रलाप ज्वर और यक्ष्मारोग (Ptyphoid & Pthysis) की चिकित्सा अन्य प्राकृतिक साधनों की उपेक्षा करके केवल औषध मात्रसे (जिस प्रकार को Malaria Fever के लिये कुनैन) ही चिकित्सा करें तो संभव है कि उस पक्षकी भी मेरी अवस्था हो।

अतः दोनों पक्षों के लिये आवश्यक है कि वह एक दूसरे पक्ष की सहायता लें। यह संभव है कि ज्वरके उतरनेपर उस व्यक्तिको आसन एवं प्राकृतिक साधनों के द्वारा इस योग्य बनाया जा सकता है कि वह भावी आक्रमण से बच सके इसी प्रकार प्राकृतिक साधनों के साथही औषध से यक्ष्मा आदि रोग शीघ्र एवं सुगमता से साध्य हो जाते हैं।

आसन का उद्देश्य भावी रोगों से बचने के लिये प्रतिशक्ति उत्पन्न करना ही मुख्य उद्देश्य है।

" Prevention is better than cure. "

" प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादेवास्पर्शनं वरम्।"

मेरे यहां उत्तम चिकित्सक है ऐसा जानकर कोई विष नहीं खाता एवं मैं रोगी हो जाऊंगा चिकित्सा से फिर अच्छा हो जाऊंगा ऐसा जानकर कोई विद्वान् अपथ्य सेवन नहीं करता अपि तु प्रत्येक व्यक्ति स्वस्थ रहनेका यत्न करता है। आसन चिकित्सा में यथा संभव है, औषधियोंका कम प्रयोग है, परन्तु वमन (Emetics) विरेचन (Purgetives) औषधियोंका प्रयोग त्याज्य नहीं है। उनकी आवश्यकता स्वीकृत है।

१ प्रलाप ज्वरका रोगी जिस अवस्था में स्थिर एवं सुखपूर्वक रहता है उस के लिये उस समय के लिये वही आसन है।

अर्थात् कोमल शय्या एवं कोमल बिस्तर पर रोगी को उत्तान लेटाये रक्खे उसे बैटने न दें जिस से आंत्रोंपर दबाव न पडे। एवं यदि करवट लेनी हो तो किसी परिचारिका द्वारा दी जानी चाहिये। मलमूत्रादि भी उत्तानावस्था में ही करवाने चाहिये।

२ पार्श्व शूलका रोगी रुग्ण पार्श्व की ओर उस पार्श्व को दबाकर सोता है जिससे कि उस पार्श्व में क्रिया न हो चूं कि उस से उसे दर्द होती है, अतः स्थिरता एवं सुखपूर्वक वह रुग्ण पार्श्व को दबाकर सो सकता है।

उपरोक्त दोनों अवस्था के लिये वही स्थिति-आसन है। रोगी को पूर्ण विश्राम देना ही चिकित्सा का मुख्य सूत्र है।

अतः आसन शब्दका अर्थ यही है जिससे कि विश्राम एवं सुख प्राप्त हो। काम शास्त्र के जो आसन हैं, उनका भी अर्थ पातञ्जल सूत्रवाला अर्थ अर्थात् स्थिरता एवं सुखपूर्वक स्थिति है। सुरत व्यापार आदि में शुक्र क्षरण आदि से रोकने के लिये, एवं आनन्द भोगने के लिये आसनों का उपयोग वा साधन मुनिने किया है, परन्तु लोक में आसन शब्द प्रायः कामशास्त्र के आसनों में ही समझा जाता है। इसी प्रकार योग के आसनोंका उद्देश्य भी ब्रह्मचर्य समाधिकी स्थितितक पहुंचाता है। गर्भधान के समय उत्तानावस्था में नाक को नाक के सामने, मुखको मुख के सामने, चक्षु को चक्षु के सामने करके गर्भाधान करने का आदेश शास्त्र में किया है अन्य न्युब्जादि स्थिति शास्त्र ने मना की है।

" न च न्युब्जायां पार्श्वगतां वा सेवेत। "

" तस्मादुत्ताना बीजं गृह्णीयात्। "

एवं पुत्रेच्छा से वाम अण्ड को दबावे जिस से कि वह अण्ड क्रियाशील नहीं हो (पश्चिमोत्तान आसन) तथा कन्येच्छा से दक्षिण अण्ड को अक्रियाशील करे।

यही कारण है कि ब्रह्मचर्य के लिये विशेष आसनों का उपयोग करने से क्लीबता भी उत्पन्न हो जाती है।

अतः आसन शब्दका अर्थ स्थिति को सुखपूर्वक बनाना है इसी उद्देश्यके लिये सम्पूर्ण चिकित्सा शास्त्र है। यह उद्देश्य तब सिद्ध हो सकता है जब कि बाधक कारण रोगोत्पत्तिके कारणोंको बीचसे हटा दिया जावे, जिस प्रकार " पलित " रोगमें शिरोभाग स्थित ऊष्माके प्रकोपसे पित्त कुपित

होकर बालोंके रंगको नष्ट करके श्वेत कर देता है उस समय शीर्षासन अथवा शीतोदकसे पित्तकी शान्ति होती है अतः रंग फिर उत्पन्न हो जाता है। कारण हट गया रोग भी हट गया है, अर्थात् बालों की स्वाभाविक स्थिति आसनसे उत्पन्न हो गई अतः आसन स्थिति एवं सुख देनेवाला है, इस कारण यह एक प्रकारकी चिकित्सा है।

चूंकि मलेरिया ज्वरसे स्थितिमें अन्तर आजाता है। जिससे कि दुःख होता है। उसके लिये क्युनिन औषध है—क्योंकि वह प्रकृतावस्थाको उत्पन्न करके सुख देती है।

अतः दोनों को हम चिकित्सा, औषध, भेषज, शब्दसे कह सकते हैं, दोनों से एक कार्यकी सिद्धि होती है।

इसके अतिरिक्त आसन एक व्यायाम भी है। एवं वृद्धावस्था तथा रोगोंसे बचानेके कारण रसायन है।

" व्यायामं कुर्वतो नित्यं विरुद्धमपि भोजनम्।
विदग्धमविदग्धं वा निर्दोषं परिपच्यते ॥ "

व्यायामका अर्थ परिश्रम है जो कि अपनी शक्तिसे आधा करना चाहिये। स्वस्थ मनुष्यको अपनी शक्तिकी अपेक्षा करनी पडती है एवं उसी पुरुषको रुग्णावस्थामें उस समय की शक्तिकी अपेक्षा की जाती है।

यही कारण है कि यक्ष्मा चिकित्सासे स्वस्थ हुये रोगी अथवा अन्य प्रलाप ज्वर से स्वस्थ हुए रोगी को चिकित्सक प्रथम बिस्तर पर सहारे के साथ कुछ ही समय बैठाता है। धीरे धीरे वह उस समयको बढा देता है। फिर आराम कुर्सीपर बैठाता है एवं प्रथम खडा करता है, फिर धीरे धीरे चलता है, फूल तुडवाता है, उनसे मालायें बनवाता है, फिर शाखायें तुडवाता है एवं धीरे धीरे व्यायाम को बढाता है।

चिकित्सक का उद्देश्य उसकी सुखपूर्वक स्थिति का ध्यान रखते हुवे परिश्रम कराना है। यही आसन का उद्देश्य है। इसी उद्देश्य के लिये ही इनका उपयोग प्रारंभ हुआ। इसी उद्देश्यसे ही कामसूत्र ग्रंथों में उपयोग किया गया है,इसी उद्देश्यसे ही चिकित्सा में इनका प्रयोजन है।

चिकित्सितं व्याधिहरं, पथ्यं साधनमौषधम्।
प्रायश्चित्त, प्रशमनं प्रकृतिस्थापनं हितम्।
विद्याद्भेषजनामानि भेषजं द्विविधं च तत्।
स्वस्थस्योजस्करं किंचित्किंचिदार्तस्य रोगनुत्।
अत्रिः।

स्वस्थस्योर्जस्करं यत्तु तद्वृष्यं तद्रसायनम् ॥
अत्रिः ॥

लेखकोंका स्वागत।

१ मृत्यु और परलोक।

(ले० श्री नारायण स्वामीजी महाराज। प्र०—आर्यपुस्तकालय,लाहौर मू. १।) शरीर अन्तःकरण, जीव, मृत्युका स्वरूप, मुक्ति, स्वर्ग नरक आदि गूढ विषयोंका ज्ञान सरल भाषामें देनेवाला यह पुस्तक रोचक ढंगसे लिखा गया है। पुस्तक उत्तम है और अपने धर्मका ज्ञान प्राप्त करनेवाले जिज्ञासूको इसका पाठ अवश्य करना चाहिये।

२ वेदकाल निर्णय।

(अनुवा० पं० रामचन्द्र शर्माजी एम्. ए. तथा पं. केदार नाथ जी सा० भूषण। जलंधर। मू. १) श्री. लोकमान्य तिलक महोदयजीने वेदकालनिर्णय करने के लिये 'ओरायन' (मृगशीर्ष) नामक पुस्तक लिखाथा, इसका यह अनुवाद है। अनुवाद उत्तम हुआ है। वेदकाल के विषयमें विचार करने वालोंको यह पुस्तक अवश्य देखने योग्य है।

३ ओंकार भजनावली।

(सं. श्री. शीतल प्रसाद वैद्य, भागलपुर सिटी। मू. ।) आणे। भजन उत्तम है।

मृत्यु को तरना।

(३५)

(ऋषिः— प्रजापतिः । देवता-अतिमृत्युः)

यमोदनं प्रथमजा ऋतस्य प्रजापतिस्तपसा ब्रह्मणेऽपचत् ।
यो लोकानां विधृतिर्नाभिरेषात्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ १ ॥
येनातरन्भूतकृतोऽति मृत्युं यमन्वविन्दन्तपसा श्रमेण ।
यं पपाच ब्रह्मणे ब्रह्म पूर्वं तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ २ ॥

अर्थ—(ऋतस्य प्रथमजाः प्रजापतिः) ऋत नियम का पहिला प्रवर्तक प्रजापति (ब्रह्मणे यं ओदनं अपचत्) ब्रह्मके लिये जिस अन्नको पकाता रहा, (यः लोकानां वि-धृतिः) जो लोकोंका विशेष धारण करनेवाला है और (न अभि रेषात्) जो कभी किसी को हानि नहीं पहुंचाता है,(तेन ओदनेन मृत्युं अति तराणि) उस अन्न से मैं मृत्युको पार करूं ॥ १ ॥

(येन भूत-कृतः मृत्युं अतितरन्) जिससे भूतोंको बनानेवाले मृत्युके पार होगये, (यं तपसा श्रमेण अन्वविन्दन) जिसको तप और परिश्रमसे प्राप्त किया, और (यं पूर्वं ब्रह्म ब्रह्मणे पपाच) जिसको पहिले ब्रह्मने ब्रह्मके निमित्त पकाया (तेन०) उस अन्नसे मैं मृत्युको पार करूं ॥ २ ॥

भावार्थ—जिसने संपूर्ण सत्य और अटल नियमोंकी सबसे पहिले प्रवर्तन किया, उस प्रजापतिने विशेष महत्त्व प्राप्तिके लिये यह ज्ञान रूप अन्न तैयार किया, यह सब लोकोंका विशेष रीतिसे धारण पोषण करता है और इससे किसीका भी नाश नहीं होता है। इसी ज्ञानसे मैं मृत्युको दूर करता हूं ॥ १ ॥

इसीसे भूतोंको उत्पन्न करनेवाले मृत्युके पार होगये, जिसकी प्राप्ति तप और परिश्रमसे होती है और जो पहिले ब्रह्मने महत्त्व प्राप्तिके लिये परिपक्व किया था, उसी ज्ञानसे मैं भी मृत्युको दूर करता हूं ॥ २ ॥

यो दाधार पृथिवीं विश्वभोजसं यो अन्तरिक्षमापृणाद्रसेन ।
यो अस्तभ्नाद्दिवमूर्ध्वो महिम्ना तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ ३ ॥
यस्मान्मासा निर्मितास्त्रिंशदराः संवत्सरो यस्मान्निर्मितो द्वादशारः ।
अहोरात्रा यं परियन्तो नापुस्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ ४ ॥
यः प्राणदः प्राणदवान्बभूव यस्मै लोका घृतवन्तः क्षरन्ति ।
ज्योतिष्मतीः प्रदिशो यस्य सर्वास्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ ५ ॥

अर्थ—(यः विश्वभोजसं पृथिवीं दाधार) जो सबको भोजन देनेवाली पृथ्वीका धारण करता है, (यः रसेन अन्तरिक्षं आ पृणात्) जो रससे अन्तरिक्षको भर देता है, (यः महिम्ना ऊर्ध्वः दिवं अस्तभ्नात्) जो अपनी महिमासे ऊपर ही द्युलोक को धारण किये हुए है, (तेन०) उस अन्नसे मैं मृत्युको पार करूं ॥ ३ ॥

(यस्मात् त्रिंशत्-अराः मासाः निः—मिताः) जिससे तीस दिन रूपी अरोंवाले महिने बनाये हैं, (यस्मात् द्वादश-अरः संवत्सरः निः मितः) जिससे बारह महिने रूप अरोंवाला वर्ष बनाया है,(परियन्तः अहोरात्राः यं न आपुः) गुजरते हुए दिन रात जिसको प्राप्त नहीं कर सकते (तेन०) उस अन्नसे मैं मृत्युको पार करूं ॥ ४ ॥

(यः प्राण-दः प्राण-द-वान् बभूव) जो जीवन देनेवाला प्राणके दाताओंका स्वामी ही हुआ है (यस्मै घृतवन्तः लोकाः क्षरन्ति)जिसके लिये घृतयुक्त लोक रस देते हैं, (यस्य सर्वाः प्रदिशः ज्योतिष्मतीः) जिसकी सब दिशा उपदिशाएं तेजवाली हैं (तेन०) उस अन्नसे मैं मृत्युको पार करूं ॥ ५ ॥

भावार्थ— जिसने पृथ्वीका धारण किया, अन्तरिक्षमें जलको भर दिया और द्युलोक ऊपर स्थिर किया उस ज्ञान रूप अन्नसे मैं मृत्युको दूर करता हूं ॥३॥ जिससे तीस दिनवाले महिने और बारह महिनों वाला वर्ष बना और प्रतिक्षण गमन करनेवाले दिन रात भी जिसका अन्त न लगा सके, उस ज्ञानरूप पकान्नसे मैं मृत्युको दूर करता हूं ॥४॥ जो स्वयं जीवन शक्ति देनेवाला है और जीवन देनेवालोंका भी जो स्वामी है, जिसकी तृप्तिके लिये संपूर्ण जगत्के रस प्रवाहित हुए हैं और जिसके तेजसे सब दिशाएं तेजोमय हो चुकी हैं, उस ज्ञानरूप अन्नसे मैं मृत्युको दूर करता हूं ॥ ५ ॥

यस्मा॑त्प॒क्वाद॒मृतं॑ संब॒भूव॒ यो गा॑य॒त्र्या अधि॑पति॒र्ब॒भूव॑ ।
यस्मि॒न्वेदा॒ निहि॑ता वि॒श्वरू॑पा॒स्तेनौ॑द॒नेनाति॑ तराणि मृ॒त्युम् ॥ ६ ॥
अव॑ बाधे द्वि॒षन्तं॑ देवपी॒युं स॒पत्ना॒ ये मेऽप॒ ते भ॑वन्तु ।
ब्र॒ह्मौद॒नं वि॑श्व॒जितं॑ पचामि शृ॒ण्वन्तु॑ मे श्र॒द्दधा॑नस्य दे॒वाः ॥ ७ ॥
॥ सप्तमोऽनुवाकः ॥

अर्थ- (यस्मात् पक्कात् अमृतं संबभूव) जिस परिपक्वसे अमृत उत्पन्न हुआ, (यः गायत्र्याः अधिपतिः बभूव) जो गायत्रीका अधिपति हुआ, (यस्मिन् विश्वरूपाः वेदाः निहिताः) जिसमें सब प्रकारके वेद रखे हैं, (तेन०) उस अन्नसे मैं मृत्युको पार करूं ॥ ६ ॥

(देव-पीयुं द्विषन्तं अवबाधे) देवत्वके नाशक शत्रुओं को मैं हटाता हूं। (ये मे सपत्नाः ते अप भवन्तु) जो मेरे प्रतिस्पर्धी हैं वे दूर होवें। मैं (विश्व जितं ब्रह्मौदनं पचामि) विश्वको जीतनेवाला ज्ञान रूपी अन्न पकाता हूं। (देवाः श्रद्धानस्य मे शृण्वन्तु) सब देव श्रद्धा धारण करनेवाले मेरा यह भाषण सुनें ॥ ७ ॥

भावार्थ- जिस परिपक्क आत्मासे अमृत उत्पन्न हुआ है, जो वाणीका पति है और जिसमें सब प्रकार का ज्ञान रखा है, उस ज्ञानरूप अन्नसे मैं मृत्युको दूर करता हूं ॥ ६ ॥

देवत्वका नाश करनेवालोंको मैं प्रतिबंध करता हूं, मेरे प्रतिस्पर्धीयोंको भी मैं दूर करता हूं और जगत को जीतनेवाला ज्ञानरूपी अन्न परिपक्क करता हूं। मैं इसमें श्रद्धा रखनेवाला हूं अतः मेरा यह कथन सब ज्ञानी जन सुनें ॥ ७ ॥

ब्रह्मौदन।

" ब्रह्म " शब्द " ब्रह्म, ईश्वर, आत्मा, ज्ञान " इत्यादि का वाचक है। यहां विशेष कर ज्ञानवाचक है। ' ओदन ' शब्द अन्न का वाचक है। इसलिये ' ब्रह्मौदन ' शब्द ' ज्ञानरूप अन्न ' यह अर्थ बताता है। बुद्धिका अन्न ' ज्ञान ' है। शरीरका अन्न चावल आदि खाद्यपेय है। इंद्रियोंका अन्न उसके विषय हैं, मनका अन्न मन्तव्य है और बुद्धिका अन्न ज्ञान है। आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है, इसमें ' चित् ' शब्द ज्ञान-

वाचक है, अर्थात् इससे स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है। इसका फलित यह हुआ कि आत्माका स्वभाव गुण ही ज्ञान है। यह ज्ञान प्राप्त करके, अर्थात् इसको खा कर बुद्धि पुष्ट होती है।

आत्माका गुण ज्ञान होनेसे वह सदा उसके साथ रहना स्वाभाविक है। जिस प्रकार दीप और प्रकाश एकत्रित रहते हैं, उसी प्रकार आत्माका प्रकाशही ज्ञानरूप है, इस कारण वह उसके साथ रहता है। दीप कहा, अथवा प्रकाश कहा तो दोनों एक ही बात है। व्यवहार में यही बात है, मैं प्रकाशसे पढता हूं या दीपसे पढता हूं, इसका अर्थ एक ही होता है। इसी प्रकार " मैं ज्ञानसे मृत्युको पार करता हूं, अथवा मैं आत्मशक्तिसे मृत्युको पार करता हूं, या आत्मासे मृत्युको दूर करता हूं " इसका तात्पर्य एक ही है।

इस सूक्तमें " मैं ब्रह्मौदन से मृत्युको पार करता हूं " (तेन ओदनेन अतितराणि मृत्युं। मं० १-६) यह वाक्य छः वार आगया है। इसका आशय भी पूर्वोक्त प्रकार ही समझना उचित है। मैं आत्माके ज्ञानरूप अन्नसे मृत्युको दूर करता हूं। गुण और गुणीका अभेद अन्वय मान कर गुणके वर्णनसे गुणीका वर्णन यहां किया है। इसीलिये " पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्युलोक का धारक यह है " यह तृतीय मन्त्रका वर्णन सार्थ होता है। क्योंकि परमात्माने इस त्रिलोकीका धारण किया है इस विषय में किसीको सन्देह नहीं हो सकता। परन्तु इसमें कहा है कि ब्रह्मौदन ने त्रिलोकीका धारण किया है। ज्ञानरूप अन्नसे त्रिलोकीका धारण हुआ है अर्थात् ज्ञान जिसका गुण है उस परमात्मासे त्रिलोकीका धारण हुआ है, यह अर्थ अब इस स्पष्टीकरणसे स्पष्ट हुआ।

इसी दृष्टिसे तृतीय चतुर्थ और पंचम मंत्रोंका आशय जानना उचित है। "जिसका ज्ञान गुण है उसी आत्माने पृथ्वीका धारण किया, अन्तरिक्षमें जल भर दिया और आकाशको ऊपर स्थिर किया है० ॥ ३ ॥ उसी आत्मासे सूर्य चंद्रादिकी गति होकर दिन, महिने और वर्ष बनते हैं, परंतु ये काल के अवयव कालको मापते हुए भी उस परमात्माका मापन करनेमें असमर्थ हैं० ॥ ४ ॥ यह सबको जीवन देता है और सब अन्य जीवन देनेवालोंका यह ईश है, अर्थात् इसकी शक्ति प्राप्त करकेही वे सब जीवन देनेमें समर्थ होते हैं। सब पदार्थमात्र में जो रस होते हैं वे जिसको एक समय ही प्राप्त होते हैं और सब जगत् की दिशा उपदिशाएं जिसके तेजसे तेजस्वी

बनी हैं, उसके ज्ञानामृतसे पुष्ट होता हुआ मैं मृत्युको दूर करता हूं॥ ५ ॥

यह इन तीनों मंत्रोंका आशय है । इन मंत्रोंमें गुणोंके वर्णनसे गुणीका वर्णन किया है। अर्थात् उस आत्मामें जो रस भरा है उसीको प्राप्त करके अमर बनना है और मृत्युको दूर करना है ।

अमृतकी प्राप्ति ।

आगे छठे मंत्रमें, कहाही है कि ' यस्मात् पक्कात् अमृतं सं बभूव (मं० ६) जिस परिपक्क आत्मासे अमृत उत्पन्न हुआ, उस अमृत को प्राप्त करके मैं मृत्युको दूर करता हूं । यह बात स्पष्टही है कि परमात्मा सबसे अधिक परिपक्क, पूर्ण, रसमय, और अमृतरस युक्त है तथा उसी का पान करके सब अन्य जन तृप्त होते हैं । यही गायकी रक्षा (गाय-त्री) करनेवाली वाग्देवी का अधिपति है, इसी लिये उसमें सब वेद रखे हैं । जिसमें वाणी रहती है उसीमें वेद रहते हैं । यह षष्ठ मंत्रका कथन अब स्पष्ट होगया है ।

आत्मशुद्धि ।

सप्तम मन्त्रमें आत्मशुद्धिपर बहुत जोर दिया है, इसका आशय यह है- (१) देव निन्दकोंको दूर करना, (२) प्रतिस्पर्धियोंको दूर करना, (३) सत्यपर श्रद्धा रखना, (४) और विश्वमें विजयके लिये इस ब्रह्मज्ञानरूपी अन्न को पकाना और पश्चात् अन्यों के साथ स्वयं उसको सेवन करना । इससे मनुष्यकी उन्नति होगी और वह मृत्युको दूर कर सकेगा, इसमें कोई संदेह नहीं है । देवकी निंदा करनेके श्रद्धाहीन विचार अपने मनमें उत्पन्न हुए तथा कामक्रोधादि विरोधी भाव मनमें आये, तो उनको दूर करनेसे आत्मशुद्धि होती है और अन्य श्रद्धादिके धारण करनेसे उन्नति होती है । इस रीतिसे मनुष्य शुद्ध और पवित्र होता हुआ मृत्युको दूर कर सकता है ।

तप ।

यह सब तपके आचरणसे और परिश्रमसे साध्य हो सकता है । जो तप करेंगे और आत्मोद्धारके लिये तप करेंगे वेही अपना उद्धार कर सकते हैं, यह द्वितीय मन्त्रका कथन ध्यानमें धारण करके पाठक तपके आचरण द्वारा अपने आपको पवित्र करके मृत्युको दूर करेंगे तो उनका जीवन सफल होगा ।

सत्यका बल।

(३६)

(ऋषिः— चातनः । देवता-सत्यौजा अग्निः)

तान्त्सत्यौजाः प्र दहत्वग्निर्वैश्वानरो वृषा ।
यो नो दुरस्याद्दिप्साच्चाथो यो नो अरातियात् ॥ १ ॥
यो नो दिप्सादद्दिप्सतो दिप्सतो यश्च दिप्सति ।
वैश्वानरस्य दंष्ट्रयोरग्नेरपि दधामि तम् ॥ २ ॥

अर्थ— (सत्य-ओजाः वैश्वा-नरः) सत्य बलवाला विश्वका नेता (वृषा अग्निः) बलवान् तेजस्वी देव (तान् प्रदहतु) उनको भस्म कर डाले, (यः नः दुरस्यात्) जो हमें दुष्ट अवस्थामें फेंके, (च दिप्सात्) नाश करे, (अथो यः नः अरातीयात्) और जो हमारे साथ शत्रुके समान वर्ताव करे ॥ १ ॥

(यः अदिप्सतः नः दिप्सात्) जो निरपराधी हम सबका नाश करनेका यत्न करे, अथवा (यः च दिप्सतः दिप्सति) जो नाश करनेवालेको भी स्वयंही कष्ट देता है, (वैश्वा-नरस्य अग्नेः दंष्ट्रयोः) विश्वचालक तेजस्वी देवकी दोनों दाढोंमें (तं अपि दधामि) उसको मैं धरता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ— जो लोगोंको बुरी अवस्था में फेंक देते हैं, जनोंका नाश करते हैं और शत्रुता करते हैं, उन को सत्य बलवाला विश्वचालक तेजस्वी देव भस्म करे ॥ १ ॥

जो दुष्ट हम सब निरपराधियोंपर हमला करता है अथवा हमारा थोडासा अन्याय होनेपर भी जो अपने हाथ में अधिकार लेता हुआ हमारा नाश करता है, उसको विश्वचालक तेजस्वी देव की दाढों में मैं धर देता हूं ॥ २ ॥

य आगरे मृगयन्ते प्रतिक्रोशे मावास्ये ।
क्रव्यादो अन्यान्दिप्सतः सर्वांस्तान्त्सहसा सहे ॥ ३ ॥
सहे पिशाचान्त्सहसैषां द्रविणं ददे ।
सर्वान्दुरस्यतो हन्मि सं म आकूतिर्ऋध्यताम् ॥ ४ ॥
ये देवास्तेन हासन्ते सूर्येण मिमते जवम् ।
नदीषु पर्वतेषु ये सं तैः पशुभिर्विदे ॥ ५ ॥

अर्थ-(ये आगरे) जो घरमें (प्रति क्रोशे अमावास्ये) कलहके अवसर में अथवा अमावास्याकी रात्रीमें (मृगयन्ते) खोजते फिरते हैं, (अन्यान्) दिप्सतः क्रव्यादः तान् सर्वान्) दूसरोंके घातक मांसभोजी उन सबको (सहसा सहे) अपने बलसे पराभूत करता हूं ॥ ३ ॥

(पिशाचान् सहसा सहे) रक्तपीने वालोंका बलसे पराभव करता हूं। (एषां द्रविणं ददे) इनका धन लेता हूं। (दुरस्यतां सर्वान् हन्मि) दुष्ट अवस्थातक पंहुंचानेवाले सब दुष्टोंका नाश करता हूं। (मे आकूतिः संऋध्यतां) मेरी यह संकल्प सफल हो जावे ॥ ४ ॥

(ये देवाः तेन हासन्ते) जो दिव्य जन उसके साथ हंसी खेल करते हैं, (सूर्येण जवं मिमते) और सूर्यसे वेग का परिमाण करते हैं, उनसे और (नदीषु पर्वतेषु ये तैः पशुभिः) नदियों और पर्वतोंमें रहनेवाले पशुओंके साथ भी मैं (संविदे) मिलता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ-जो घरमें, कलहके समयमें अथवा अमावास्याकी अंधेरी रात्रीमें ढूंढ ढूंढ कर लोगोंको सताते हैं उन सबको अपने बलसे मैं दूर करता हूं ॥ ३॥

रक्त पीने वाले दुष्टोंको मैं दूर करता हूं, और इनका धन छीनता हूं। क्लेश देनेवाले इन दुष्टों का मैं समूल नाश करता हूं। यह मेरी इच्छा सफल हो जावे ॥ ४ ॥

जो सज्जन सदा अपनेही निजानंदमें मस्त रहते हैं और सूर्यकी गतिसे अपने वेगको मिनते हैं उनके साथ, मित्रता करता हूं,इतनाही नहीं अपितु नदीमें रहनेवाले मत्स्यादि तथा पर्वतोंपर रहनेवाले चतुष्पाद प्राणियों के साथ भी मैं अपनी मित्रता पहुंचाता हूं ॥ ५ ॥

तपनो असि पिशाचानां व्याघ्रो गोमतामिव ।
श्वानः सिंहमिव दृष्ट्वा ते न विन्दन्ते न्यञ्चनम् ॥ ६ ॥
न पिशाचैः सं शक्नोमि न स्तेनैर्न वनर्गुभिः ।
पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति यमहं ग्राममाविशे ॥ ७ ॥
यं ग्राममाविशत इदमुग्रं सहो मम ।
पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति न पापमुप जानते ॥ ८ ॥

अर्थ-जैसा (गोमतां व्याघ्रः इव) गौओंके पालन करनेवालोंको व्याघ्रका भय होता है वैसाही मैं (पिशाचानां तपनः असि) रक्त पीनेवालोंको तपानेवाला हूं । (सिंहं दृष्ट्वा श्वानं इव) सिंहको देख कर जिस प्रकार कुत्ते घबडाते हैं उस प्रकार मेरे प्रभावसे (ते न्यञ्चनं न विन्दते) वे दुष्ट लोग अपनी रक्षाका स्थान प्राप्त नहीं कर सकते ॥ ६ ॥

(यं ग्रामं अहं आविशे) जिस ग्राममें मैं प्रविष्ट होता हूं उस ग्राममें (पिशाचैः न सं शक्नोमि) रुधिर पीनेवालोंके साथ मेल नहीं कर सकता, (न स्तेनैः) न चोरोंके साथ और (न वनर्गुभिः) जंगली डाकुओंके साथ मेल कर सकता हूं इस लिये (तस्मात् पिशाचाः नश्यन्ति) उस ग्रामसे रक्त पीनेवाले लोग नाशको प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥

(मम इदं उग्रं सहः) मेरा यह उग्र बल (यं ग्रामं आविशते) जिस ग्राममें प्रविष्ट होता है (तस्मात् पिशाचाः नश्यन्ति) उससे रक्त पीनेवाले नष्ट होजाते हैं और (पापं न उपजानते) पापको भी जानते नहीं ॥ ८ ॥

भावार्थ-गौवें जैसी व्याघ्रसे डरती हैं, उसी प्रकार रक्त पीनेवाले दुष्ट मुझसे घबराते हैं। जिस प्रकार सिंह के सन्मुख कुत्ता नहीं ठहर सकता उसी प्रकार मेरे सन्मुख वे दुष्ट सुखका स्थान नहीं प्राप्त कर सकते ॥ ६ ॥

मैं जिस ग्राममें पंहुचता हूं वहां रुधिर पीनेवाले चोर डाकू आदि सब दुष्ट दूर होते हैं ॥ ७ ॥

मेरा उग्र शौर्य जिस ग्राममें चमकता है वहांसे रुधिर भोजी क्रूर मनुष्य नष्ट होते हैं, अथवा वे वहांही रहे तो वे अपने पापविचार को छोड देते हैं ॥ ८ ॥

ये मां क्रोधयन्ति लपिता हस्तिनं मशका इव ।
तानहं मन्ये दुर्हितां जने अल्पशयूनिव ॥ ९ ॥
अभि तं निर्ऋतिर्धत्तामश्वमिवाश्वाभिधान्या ।
मल्वो यो मह्यं क्रुध्यति स उ पाशान्न मुच्यते ॥ १० ॥

अर्थ-(हस्तिनं मशकाः इव) हाथीको जिस प्रकार मच्छर उस प्रकार (ये मां लपिताः क्रोधयन्ति) जो मुझे बकबक करनेवाले क्रुद्ध करते हैं, (तान् अल्पशयून् इव) उनको अल्प कीटकोंके समान (अहं जने दुर्हितान् मन्ये) मैं लोकोंमें दुःख बढानेवाले मानता हूं ॥ ९ ॥

(तं निर्ऋतिः अभिधत्तां) उसको दुर्गति प्राप्त होवे (अश्वाभिधान्या अश्वं इव) घोडा बांधने की रस्सी जैसे घोडेको प्राप्त होती है । (यः मल्वः मह्यं क्रुध्यति) जो मलिन पुरुष मुझे क्रोधित करता है (सः उ पाशात् न मुच्यते) वह पाशोंसे नहीं छुटता है ॥ १० ॥

भावार्थ-जो दुर्जन अपने दुराचार के द्वारा मुझे क्रोधित करते हैं वे नष्ट होते हैं, क्यों कि मैं जानता हूं कि उनके ही कारण जनताको कष्ट पंहुचते हैं ॥ ९ ॥ जो मलिन आचारवाले मनुष्य होते हैं वे दुर्गतिको निःसंदेह प्राप्त होते हैं और वे बंधनमें फंस जाते हैं । ॥ १० ॥

सत्यका बल ।

सत्य का बल कितना बडा होता है इसका मनोरंजक वर्णन इस सूक्तमें किया है। सप्तम और अष्टम मंत्रमें कहा है कि— " जिस ग्राममें सत्यके बलसे बलवान हुआ मनुष्य पहुंचता है, उस ग्रामसे चोर डाकु लुटेरे दुष्ट और दूसरेका खून चूसनेवाले दूर हो जाते हैं । सत्यनिष्ठ मनुष्य जिस ग्राममें होता है उस ग्राममें दुष्ट मनुष्य नहीं रहता । सत्यका बल जिस ग्रामके मनुष्योंमें होता है वहांसे दुष्ट मनुष्य दूर हो जाते हैं अथवा वहां रहे भी तो वे अपने पापी विचार को त्याग देते हैं ॥ (मं. ७-८) "

ग्राममें एक मनुष्य भी इस प्रकारका सत्यनिष्ठ हुआ तो ग्रामका सुधार हो जाता है । एक मनुष्य सत्यनिष्ठ होनेसे अर्थात् उसके कायावाचामनसा असत्यके कुविचार न उत्पन्न होनेसे वह मनुष्य अपने सत्यके बलसे सब ग्रामके मनुष्योंका उक्त प्रकार सुधार कर सकता है ।

पाठक यहां अनुभव करें कि सत्यका बल कितना बडा है और मनुष्यकी उन्नति इसी सत्यनिष्ठासे है। अपने ग्राममें चोर डाकू लुटेरे या दुष्ट यदि हैं तो समझना चाहिये कि अपने अंदर उतनी सत्यनिष्ठा बढी नहीं कि जितनी बढनी चाहिये। अपने ग्रामकी परीक्षासे इस प्रकार अपनी परीक्षा हो सकती है और अपनी उन्नतिसे इस प्रकार ग्रामकी उन्नति हो सकती है। व्यक्तिका समाजपर और समाजका व्यक्तिपर इस प्रकार प्रभाव होता रहता है।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, तथा शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान ये यमनियम यदि एकभी मनुष्यमें बढ गये और स्थिर होगये तो उसकी अन्तःपवित्रताके कारण वह ग्राम सुधर जाता है। इस लिये इस सत्यके बलको अपने अंदर बढानेका प्रयत्न जहांतक हो सके वहां तक हरएकको करना चाहिये।

दुष्ट मनुष्य।

दुष्ट मनुष्योंके कुछ लक्षण इस सूक्तमें दिये हैं उनका अब यहां विचार करते हैं—

(१) दुरस्यात्-दूसरोंको बुरी अवस्थामें जो फेंकता है; (मं. १)

(२) दिप्सात्-दूसरोंका घातपात अथवा नाश जो करता है। (मं. १, २)

(३) अरातीयात्-जो शत्रुता करता है, निंदा अथवा द्वेष करता है, शत्रुके समान आचरण करता है। (मं. १)

(४) अदिप्सतः दिप्सात्-दूसरोंको कभी कष्ट न देनेवाले सज्जनोंको भी जो क्लेश पंहुंचाता है। (मं. २)

(५) दिप्सतः दिप्सति- थोडासा कष्ट देनेपर भी जो अपने हाथमें न्याय लेकर उसका अपरिमित नुकसान करता है। (मं. २)

(६) आगरे दिप्सति-जो घरमें घुसकर विनाकारण घातपात करता है। (मं. ३)

(७) प्रतिक्रोशे दिप्सति-थोडीसी बातचीत होनेपर जो विनाकारण क्रुद्ध होकर मारपीट करता है। (मं. ३)

(८) आमावास्ये मृगयन्ते-अमावास्याकी रात्रीमें जो ढूंढ ढूंढकर डाका डालते हैं। (मं. ३)

(९) पिशाचाः-कच्चा रक्त पीनेवाले और कच्चा मांस खानेवाले क्रूर मनुष्य। (मं. ४, ६, ७, ८)

(१०) स्तेन-चोर, लुटेरे, डाकू। (मं. ७)

(११) वनर्गु=जंगलमें रहते हुए ग्रामके लोगोंको कष्ट देनेवाले लोग। (मं. ७)

(१२) जने दुर्हितान्-लोगोंका अहित करनेवाले। (मं. ९)

(१३) अल्प शयून-रात्रीमें थोडी निद्रा लेनेवाले अर्थात् शेष रात्रीमें डाका-डालनेवाले डाकू। (मं. ९)

(१४) मल्वः-मलिन आचारवाले, दुष्ट। (मं० १०)

दुष्ट मनुष्योंके ये चौदह लक्षण इस सूक्तमें दिये हैं। इनका विचार करके अपने ग्राममें कौन मनुष्य किस प्रकारका दुष्ट है यह जान सकते हैं और अपने ग्रामका सुधार भी इनको सुधार कर या दूर करके कर सकते हैं। अष्टम मंत्रमें कहाही है कि –"सत्य निष्ठ मनुष्य ग्राममें हुआ तो उसके सत्यके बलसे या तो दुष्ट मनुष्य दूर हो जाते हैं अथवा अपनी दुष्टता छोड देते हैं और सज्जन बनकर रहते हैं।" यही ग्राम सुधारकी रीति है। पाठक इस रीतिका विचार करके इस रीतिके अनुसार अपने स्थानका सुधार कर सकते हैं।

वैश्वानरकी दंष्ट्रा।

दुष्ट मनुष्य अथवा अपराधी मनुष्यको स्वयं दण्ड नहीं देना चाहिये, परंतु "वैश्वानरकी दंष्ट्रा" में उसको रख देना चाहिये, यहउपदेश इस सूक्तके द्वितीय मंत्रमें दिआ है। यह "वैश्वानरकी दंष्ट्रा" क्या पदार्थ है इसका विचार अवश्य करना चाहिये। "विश्व" शब्द का अर्थ "सब" है, 'नर' शब्द मनुष्यवाचक है अर्थात् 'विश्वानर' शब्द 'सब मनुष्योंके समूह' का वाचक है। संपूर्ण मानवोंके एकरूप संघकी कल्पना "वैश्वानर" शब्दसे लेनी प्रतीत होती है। इसकी दंष्ट्रा न्यायालय अथवा पंच के नामसे प्रसिद्ध है। इस न्यायालयके सन्मुख उस अपराधीको रख देना चाहिये। [इस दंष्ट्रा या दाढ अथवा जबडेके विषयमें अथर्ववेद काण्ड ३ सूक्त २६, २७ की व्याख्याके प्रसंगमें विस्तार पूर्वक लिखा है, वह लेख पाठक यहां अवश्य देखें।]

कोई भी मनुष्य अपने हाथमें स्वयं ही शासनाधिकार न ले, प्रत्युत अपने पंचोंके शासनाधिकारमें ही सन्तुष्ट रहे, यह अत्यंत बडी सभ्यताका आदेश है जो ऐसे सूक्तोंमें वेदने दिया है। ग्राम नगर और राष्ट्रमें शान्ति रखनेके लिये इस नियमके पालनकी अत्यंत आवश्यकता है और जो लोग इस प्रकारकी व्यवस्थामें नहीं रहते और अपने हाथमें दण्ड लेते हैं वे सभ्य नहीं कहलाते।

पूर्वोक्त प्रकारके दुष्ट मनुष्योंको दूर करना चाहिये क्योंकि वे (पिशाचाः) अपने स्वार्थके लिये दूसरोंका खून चूसनेवाले हिंसक होते हैं। वैदिक धर्मको अन्तिम अहिंसा ही स्थापित करनी है, इसलिये हिंसकोंका हिंसा भाव दूर करनेके उपाय वैदिक धर्ममें अनेक रीतिसे कहे हैं। इसी हेतुसे इस सूक्तके पञ्चम मंत्रमें नदीयों और पर्वतोंमें निवास करनेवाले जीवजन्तुओंके साथ (सं विदे) संवेदना करनेकी सूचना दी है। संवेदनाका अर्थ ' अपने सुखदुःखके समान उनको भी सुखदुःख होता है ' इस भावकी मनम जाग्रति करना है।

सुधारके दो उपाय।

ये नदीषु पर्वतेषु (पशवः सन्ति) तैः पशुभिः संविदे। (मं० ५)

" जो नदियों और पर्वतोंमें जीवजन्तु रहते हैं उनसे मैं सहृदयता अपने मनमें धारण करता हूं। " यह अहिंसाकी प्रतिज्ञा मनुष्यको करनी चाहिये। " मेरेसे किसीभी जीवजन्तुके लिये कोई भय नहीं होगा, " यह संकल्प करना चाहिये। इस प्रकार अहिंसा और निर्भयताका केन्द्र अपने अन्तःकरणमें जाग्रत होना चाहिये, पश्चात् सब उन्नतियां होनी संभव हैं। यह अपने हृदयकी तैयारी होनेके पश्चात्—

ये देवाः तेन हासन्ते, सूर्येण जवं मिमते। (मं० ५)

"जो देव उस आत्मानन्दसे सदा हंसते रहते हैं और अपनी उन्नतिका वेग सूर्यकी गतिसे मापते हैं।" उन से संगति करनी है। जब पहिले अपने मनके अंदर अहिंसा स्थिर हो जायगी, तब ही ऐसे श्रेष्ठ सज्जनोंकी संगतिसे अधिक लाभ होगा। अर्थात् सुधारके उपाय दो हैं, एक अपने अन्तःकरणको पवित्र बनाना और दूसरा यह है कि दिव्य जनोंसे मित्रता करना। इस प्रकार मनुष्य अचूक उन्नतिके मार्गसे ऊपर चढ सकता है।

ऐसा श्रेष्ठ सत्यनिष्ठ महात्मा जिस ग्राममें पंहुंचता है, उस ग्राममें दुष्ट मनुष्य रहते नहीं और रहे तो वे अपनी दुष्टता दूर करके ही रहते हैं। यह सप्तम और अष्टम मंत्रका कथन विचारशील पाठकोंके मनन करने योग्य है। इस कसौटीसे अपनी पवित्रताकी परीक्षा करते हुए मनुष्यको उन्नतिका मार्ग आक्रान्त करना चाहिये।

रोगकृमिका नाश ।

(३७)

(ऋषिः— बादरायणिः । देवता —अजशृंगी । अप्सराः)

त्वया पूर्वमथर्वाणो जघ्नू रक्षांस्योषधे ।
त्वया जघान कश्यपस्त्वया कण्वो अगस्त्यः ॥ १ ॥

त्वया वयमप्सरसो गन्धर्वांश्चातयामहे ।
अजशृङ्ग्यज रक्षः सर्वान्गन्धेन नाशय ॥ २ ॥

अर्थ—हे (ओषधे) औषधे ! (त्वया अथर्वाणः रक्षांसि जघ्नुः) तेरे द्वारा आथर्वणीविद्या जाननेवाले वैद्य रोगक्रिमियोंका नाश करते हैं । (कश्यपः त्वया जघान) कश्यपने भी तेरे द्वारा नाश किया । (कण्वः अगस्त्यः त्वया) कण्व और अगस्त्यने भी तेरे द्वारा रोगोंका नाश किया ॥ १ ॥

हे (अजशृंगि) अजशृंगी औषधि ! (त्वया वयं अप्सरः गंधर्वान् चातयामहे) तेरे द्वारा हम जलमें फैलनेवाले गायकु क्रिमियोंको दूर हटाते हैं । (गन्धेन सर्वान् रक्षः अज, नाशय) अपने गन्धसे सब रोग क्रिमियोंको दूर कर और नाश कर ॥ २ ॥

भावार्थ–अज शृंगी औषधिकी सहायतासे आथर्वण, कश्यप, कण्व, अगस्ति ने रोगक्रिमियोंका नाश किया ॥ १ ॥

अजशृंगी के द्वारा हम रोग कृमियोंको दूर करते हैं, इस वनस्पति के गन्धसे ही रोगक्रिमि दूर होते हैं ॥ २ ॥

नदीं यन्त्वप्सरसोऽपां तारमवश्वसम् ।
गुग्गुलूः पीला नलद्यौ३क्षगन्धिः प्रमन्दनी ।
तत्परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥ ३ ॥
यत्राश्वत्था न्यग्रोधा महावृक्षाः शिखण्डिनः ।
तत्परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥ ४ ॥
यत्र वः प्रेङ्खा हरिता अर्जुना उत यत्राघाटाः कर्कर्यः संवदन्ति ।
तत्परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥ ५ ॥

अर्थ- (अप्सरसः अपां तारं अवश्वसं नदीं यन्तु) जलके कृमि जलसे परिपूर्ण भरी हुई वेगवाली नदीके प्रति जांये। (गुग्गुलूः) गुग्गुल, (पीला) पीलु, (नलदी) मांसी, (औक्षगन्धि) औक्षगन्धी, (प्रमन्दिनी) प्रमोदिनी ये पांच औषधियां हैं। यह (प्रतिबुद्धा अभूतन) जान जाओ और (तत्) इस लिये हे (अप्सरसः) जलमें फैलने वाले कृमियो ! (परा इत) यहांसे दूर जाओ ॥ ३ ॥

(यत्र अश्वत्थाः न्यग्रोधाः) जहां पीपल वट (शिखंडिनः महावृक्षाः) शिखण्डी आदि महावृक्ष होते हैं, (अप्सरसः) हे जलोत्पन्न क्रिमियो ! (तत् परा इत) वहांसे दूर भागो, (प्रतिबुद्धाः अभूतन) यह स्मरण रखो ॥ ४ ॥

(यत्र वः प्रेङ्खा हरिताः) जहां तुम्हारे हिलनेवाले हरे भरे (अर्जुनाः) अर्जुन वृक्ष हैं (उत यत्र आघाटाः कर्कर्यः) और जहां आघाट और कर्करी वृक्ष अथवा कर कर शब्द करनेवाले वृक्ष रहते हैं, वहां हे (अप्सरसः) जल संचारी कृमियो ! (प्रतिबुद्धाः अभूतन) सचेत होओ और (तत् परा इत) वहांसे दूर जाओ ॥ ५ ॥

भावार्थ— ये क्रिमि नदीके जलमें होते हैं और गुगुल, पीलु, मांसी, औक्षगन्धी, प्रमोदिनी इन वनस्पतियोंसे दूर होते हैं ॥ ३ ॥

जहां पीपल, बड आदि महावृक्ष होते हैं वहांसे ये रोगक्रिमि दूर होते हैं ॥ ४ ॥

जहां वेगवाले अर्जुन वृक्ष, कर्कर करनेवाले और आघाट वृक्ष होते हैं वहांसे भी ये क्रिमि दूर होते हैं ॥ ५ ॥

एयमगन्नोषधीनां वीरुधां वीर्यावती ।
अजशृङ्ग्यराटकी तीक्ष्णशृङ्गी व्यृषतु ॥ ६ ॥
आनृत्यतः शिखण्डिनो गन्धर्वस्याप्सरापतेः ।
भिनद्मि मुष्कावपि यामि शेपः ॥ ७ ॥
भीमा इन्द्रस्य हेतयः शतमृष्टीरयस्मयीः ।
ताभिर्हविरदान्गन्धर्वानवकादान्व्यृषतु ॥ ८ ॥
भीमा इन्द्रस्य हेतयः शतमृष्टीर्हिरण्ययीः ।
ताभिर्हविरदान्गंधर्वानवकादान्व्यृषतु ॥ ९ ॥

अर्थ- (वीरुधां ओषधीनां वीर्यावती) विशेष प्रकार उगनेवाली औषधियोंमें अधिक वीर्यशाली (इयं अजशृंगी आ अगन्) यह अजशृंगी प्राप्त हुई है। यह (अराटकी तीक्ष्णशृंगी व्यृषत) रोगनाशक तीक्ष्णशृंगी औषधी रोगनाश करे ॥ ६ ॥

(आनृत्यतः शिखण्डिनः गंधर्वस्य) नाचनेवाले चोटीवाले गायक (अप्सरापतेः) जलसंचारी कृमियोंके मुखियाका (मुष्कौ भिनद्मि) अण्डकोश तोड देता हूं और (शेपः अपियामि) उसके प्रजननांगका नाश करता हूं ॥ ७ ॥

(इन्द्रस्य शतं अयस्मयीः हेतयः ऋष्टीः भीमाः) सूर्यकी, सैंकडों लोहमय हथियारोंके समान किरणें भयंकर हैं। (ताभिः हविरदान् अवकादान्) उनसे अन्न खानेवाले हिंसक (गंधर्वान् व्यृषतु) कृमियोंका विनाश करे ॥८॥

(इन्द्रस्य हिरण्मयीः ऋष्टीः) सूर्यकी सुवर्णके समान तीक्ष्ण किरणें (शतं हेतयः भीमाः) सैंकडों शस्त्रोंके समान भयंकर है (ताभिः हविरदान् अवकादान् गंधर्वान् व्यृषतु) उनसे अन्न खानेवाले हिंसक रोगक्रिमियोंका विनाश करे ॥ ९ ॥

भावार्थ- सब वनस्पतियोंमें अजशृंगी बडी वीर्यवाली औषधी है इससे निःसंदेह रोगक्रिमि दूर होते हैं ॥ ६ ॥

इससे इन क्रिमियोंके वीर्यस्थानभी नाश किये जा सकते हैं ॥ ७ ॥

सूर्यकी किरणें ऐसी प्रबल हैं कि जिनसे ये क्रिमि दूर हो जाते हैं ॥८॥

सूर्यकी सुवर्णके रंगवाली किरणें बडी प्रभावशाली हैं जिनके योगसे रोगक्रिमि दूर होते हैं ॥ ९ ॥

अवकादानभिशोचानप्सु ज्योतय मामकान्।
पिशाचान्त्सर्वानोषधे प्र मृणीहि सहस्व च ॥ १० ॥
श्वेवैकः कपिरिवैकः कुमारः सर्वकेशकः।
प्रियो दृश इव भूत्वा गन्धर्वः सचते स्त्रियः॥
तमितो नाशयामसि ब्रह्मणा वीर्यावता ॥ ११ ॥
जाया इद्वो अप्सरसो गन्धर्वाः पतयो यूयम्।
अप धावतामर्त्या मर्त्यान्मा सचध्वम् ॥ १२ ॥

अर्थ- हे (औषधे) औषधी (अवकादान् अभिशोचान्) हिंसक और दाह करनेवाले (मामकान् अप्सु ज्योतय) मेरे शरीरके अंदरके जलाशोंमें रहनेवालोंको जला दे। (सर्वान् पिशाचान् प्रमृणीहि) सब रक्तशोषण करने वालोंका नाश कर और (सहस्व च) दबा दे ॥ १० ॥

(एकः श्वा इव) एक कुत्तेके समान है, (एकः कपिः इव) एक बन्दरके समान है, (सर्वकेशकः कुमारः) जिसके सब शरीरपर बाल होते हैं ऐसे कुमारके समान एक है। (प्रियः दृशः इव भूत्वा) प्रियदर्शीके समान होकर (गंधर्वः स्त्रियः सचते) गंधर्व संज्ञक रोग कृमि स्त्रियों को पकडता है। (वीर्यावता ब्रह्मणा तं इतः नाशयामसि) वीर्यवाली ब्राह्मी नामक औषधिसे उसका यहां से हम नाश करते हैं ॥ ११ ॥

हे (गन्धर्वाः) गन्धर्वो ! (यूयं पतयः) तुम पति हो, (अप्सरसः वः जाया इत्) अप्सराएं तुम्हारी स्त्रियां हैं। (अमर्त्याः) हे अमरों ! (अप धावत) यहांसे दूर हट जाओ, (मर्त्यान् मा सचध्वं) मनुष्यों को मत पकडो ॥ १२ ॥

भावार्थ—इस औषधीसे मेरे शरीरके अंदर जलांशमें जो इनका स्थान है और जिनके कारण मेरा शरीरका रक्त सूखता है उनका नाश किया जावे ॥ १० ॥

कुत्ते और बंदरके समान प्रभाव करनेवाले ये रोगोत्पादक क्रिमि स्त्रियोंको पीडा देते हैं, इनको ब्राह्मी वनस्पतिसे दूर किया जाता है ॥ ११ ॥

इस उपायसे इन रोगमूलोंको दूर किया जाता है ॥ १२ ॥

रोग--क्रिमि ।

इस सूक्तमें " रक्षः, रक्षस्, गन्धर्व, अप्सरस्, पिशाच, " ये शब्द रोगोत्पादक जन्तुविशेषोंके वाचक हैं। वैद्यक ग्रंथोंमे इन रोगोंके विषयमें निम्नलिखित वर्णन मिलता है—

(१) गंधर्वग्रहः—माधव निदानमें इसका वर्णन ऐसा मिलता है—

हृष्टात्मा पुलिनवनान्तरोपसेवी स्वाचारः प्रियगीतगन्धमाल्यः ।
नृत्यन्वै प्रहसति चारु चाल्पशब्दं गंधर्वग्रहपीडितो मनुष्यः ॥ (मा० नि०)

गंधर्वग्रहसे पीडित मनुष्यका अन्तःकरण आनंदित होता है वह वनोपवनमें विहार करना चाहता है, गानावजाना प्रिय लगता है, नाचता है और हंसता है, इत्यादि लक्षण गंधर्व ग्रहके लक्षण हैं।

(२) पिशाचग्रहः--इसका लक्षण माधव निदानमें इस प्रकार कहा है—

" उध्दस्तः कृशपरुषोऽचिरप्रलापी दुर्गन्धो भृशमशुचिस्तथातिलोमः।
बह्वाशी विजनवनान्तरोपसेवी व्याचेष्टन् भ्रमति रुदन् पिशाचजुष्टः ॥
(मा० नि०)

" दुर्गन्धयुक्त, अपवित्र रहनेवाला, बहुत खानेवाला, बडबडनेवाला, रोने पीटने वाला आदि प्रकार करनेवाला रोगी पिशाच ग्रहसे पीडित होता है । "

" रक्षः, रक्षस् और राक्षस् " ये शब्द भी इसी प्रकारके रोगोंके वाचक हैं। इस विषयमें रक्षोघ्न औषधि प्रयोगभी वैद्यक ग्रंथमें दिये हैं। देखिये—

(१) भूतघ्नी–भूतरोगका नाश करनेवाली औषधि। प्रपौंडरीक, मुण्डरीक, तुलसी, शङ्खपुष्पी ये औषधियां भूतरोगनाशक हैं।

(२) भूतघ्नः–भूर्ज वृक्ष, सर्षप वृक्ष।

(३) भूतनाशन–भिलावाँ, हिंगु वृक्ष, रुद्राक्ष ।

(४) भूतहन्त्री–दूर्वा, वन्ध्याकर्कोटकी वल्ली ।

(५) पिशाचघ्नः- श्वेतसर्षप वृक्ष ।

(६) रक्षोघ्नं–काञ्जिक, हिंगु, भिलावा, नागरंग, वचा ।

(७) रक्षोहा–माहिषाक्ष गुग्गुली, गुग्गुल ।

इस सूक्तमें भी तृतीय मंत्रमें गुग्गुलु वृक्षको राक्षस, गंधर्व, अप्सरा, पिशाच आदिका नाशक कहा है, इससे ये शब्द किसी प्रकारके रोगविशेषोंके वाचक हैं यह बात

सिद्ध होती है। ऊपर लिखे वृक्ष और वनस्पतियां राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाचोंको दूर करती हैं, इससे सिद्ध होता है कि ये रोगविशेष हैं।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि "अजशृंगीके गन्धसे सब राक्षस (नाशय) नष्ट होते हैं और (अज) भाग जाते हैं। (मं० २)" अर्थात् ये राक्षस सूक्ष्म कृमि अथवा सूक्ष्म रोग-जन्तु होंगे। इस अजशृंगी औषधिसे गंधर्व, अप्सरा और राक्षस रोग दूर होते हैं, यह द्वितीय मंत्रका कथन है। इस अजशृंगीका वर्णन वैद्यक ग्रंथोंमें देखिये—

अजशृंगी— "कटुः, तिक्ता, कफार्शःशूलशोथघ्नी
चक्षुष्या श्वासहृद्रोगविषकासकुष्टघ्नी च। एतत्फलं
तिक्तं कटूष्णं कफवातघ्नं जठरानलदीप्तिकृत हृद्यं
रुच्यं, लवणरसं अम्लरसं च॥ रा० नि० व० ९

"अजश्रृंगी औषधी कफ, बवासीर, शूल, सूजन का नाश करनेवाली, आंखके दोष दूर करनेवाली, श्वास, हृदय रोग, विष, कास, कुष्ट दूर करनेवाली है। इसका फल कफ और वात दूर करनेवाला, पाचक, आदि गुणवाला है।" इसमें मंत्रोक्त रोगोंका नाम नहीं है। तथापि आधुनिक वैद्य ग्रंथोंकी अपेक्षा वेदने यह विशेष ज्ञान कहा है। वैद्योंको इसकी अधिक खोज करनी चाहिये।

लक्षण।

इन भूतरोगोंके लक्षण ग्यारहवे मंत्रमें कहे हैं ये अब देखिये—

(१) श्वाइव-कुत्तेके समान काटता है,

(२) कपिःइव-बंदरके समान कुचेष्टा करता है,

ये लक्षण पिशाच बाधित मनुष्योंमें दिखाई देते हैं। वे रोगी कुत्तेके समान और बंदर के समान व्यवहार करते हैं। जिन रोगोंमें मनुष्य ऐसे व्यवहार करता है उनको उन्माद रोग कहा जाता है। इस उन्मादके ही पिशाच, भूत, रक्षः, राक्षस, गंधर्व और अप्सरा ये नाम अथवा भेद हैं। और इनका नाश इस सूक्त में कहे औषधियों से होता है। औषधियोंसे इनका नाश होता है, इसकारण ये सजीव सूक्ष्म देही क्रिमी होना संभव है, इसके अतिरिक्त 'पिशाच' शब्द इनका रुधिर भक्षक होना सिद्ध करता है, अर्थात् ये क्रिमि शरीरमें जाकर शरीरकाही रुधिर खाते हैं और शरीर को कृश करते हैं। इन का नाश निम्नलिखित औषधियोंसे होता है। इन औषधियोंके गुणधर्म देखिये—

(१) गुगुलूः—इसके संस्कृत नाम ये हैं— "देवधूप, भूतहरः, यातुघ्नः,

रक्षोहा, ” ये इस के नाम इस सूक्तके कथन के साथ संगत होते हैं, अर्थात् इस गुग्गुलके धूपसे भूत, राक्षस, यातुधान नाश होते हैं, यह बात इन शब्दोंसे ही सिद्ध होती है। अब इसके गुण देखिये

जराव्याधि हरत्वाद्रसायनः। कटुतिक्तोष्णः कफवातकासघ्नः।
कृमिवातोदरप्लीहाशोफार्शोघ्नः ॥ रा० नि० व० ॥ १२ ॥

“ इससे बुढापा, और रोग दूर होते हैं, यह कफ, वात, श्वास, कृमि, उदर, प्लीहा, सूजन, बवासीर रोगोंको दूर करता है। ” इस वर्णनसे इसका महत्त्व ध्यानमें आसकता है। (मं ३)

(२) पीला, पल्लि—मंत्रमें ‘ पीला ’ शब्द है, इसका अर्थ चूंटी है। ‘ पीलु ’ शब्द वनस्पति वाचक है जिसको हिंदी भाषा में ‘ झल् ’ कहा जाता है। यह कफ वात पित्त दोषोंको दूर करता है। (मं ३) (भा०प्र.)

(३) नलदा, नलदी= जटामांसीका यह नाम है। इस के गुण— “ जटामांसी कफहृत्, भूतघ्नी, दाहघ्नी, पित्तघ्नी। (रा. नि. व. १२) इस औषधीसे कफरोग, भूतरोग, पित्तरोग ये दूर होते हैं। इस में भूतरोग शमन इस सूक्त के साथ संगत होता है। (मं ३)

(४) औक्षगंधि=ऋषभक औषधीका यह नाम है। इसके गुण-“बल बढानेवाला, शुक्र बढानेवाला, पित्तरक्त दोष दूर करनेवाला, दाह क्षय ज्वरका नाशक है। ” (रा० नि० व० ५) वाजीकरण में इसका बहुत उपयोग होता है।

(५) प्रमंदनी= धातकी वृक्ष। हिंदी भाषामें “ धावई ’ कहते हैं। इस के गुण “ कटुः, उष्णा, मदकृद्विषघ्नी, प्रवाहिकातिसारघ्नी, विसर्पव्रणघ्नी च। (रा०नि० व६) तृष्णातिसारपित्तास्त्रविषक्रिमिविसर्पजित्। (भा० प्र.) ” यह औषधि विष नाशक, अतिसार, विसर्प व्रण और कृमि दोष दूर करनेवाली है। (मं० ३)

इन औषधियोंसे भूत रोग आदि ऊपर लिखे रोग दूर होते हैं। इसी कार्य के लिये अश्वत्थ, पिप्पल आदि महावृक्ष उपयोगी हैं ऐसा चतुर्थ और पञ्चम मन्त्रमें कहा है। इस विषयमें वैद्यशास्त्र का कथन देखिये—

(१) अश्वत्थः—हिंदीभाषामें इसको ‘ पिपर’ कहते हैं। इसको संस्कृतमें, ‘शुचिद्रुम ’ कहते हैं, क्यों कि यह शुद्धता करता है। इसके गुण— ‘ पित्तश्लेष्मव्रणास्रजित् योनिशोधनः वर्ण्यः। (भा. पू. १ भ. वटादिवर्ग) अर्थात् यह पित्त कफ व्रण आदिके

दोष दूर करता है और योनिदोषोंको दूर करता है। यहां पाठक स्मरण रखें कि स्त्रियोंको जो भूत प्रेतादि रोग होते हैं वे विशेष कर योनिस्थानके दोषसे ही होते हैं, इस कारण इस वृक्षका पाठ इस सूक्तमें किया है। इसके फलों के गुण देखिये—

अश्वत्थवृक्षस्य फलानि पक्वान्यतीवहृद्यानि च शीतलानि।
कुर्वन्ति पित्तास्रविषार्तिदाहं विच्छर्दिशोषारुचिदोषनाशनम्॥

रा० नि० व० ११

(१) " पीपरका फल पकनेपर शीतल और हृदयके लिये हितकारी होता है। पित्त, रक्तस्राव, विष, पीडा, दाह, वमन, शोष, अरुची आदि दोषोंको दूर करता है। "

(२) न्यग्रोधः— वट, बड, वर, बर्गट। इस बडके गुण ये हैं— " कफपित्तव्रणापहः। वर्ण्यो विसर्पदाहघ्नः योनिदोषहृत्। (भा०प्र०) ज्वरदाहतृष्णामोहव्रणशोफघ्नश्च। (रा० नि० व० ११) यह वड कफ पित्त व्रण योनिदोष ज्वर दाह तृष्णा मूर्च्छा सूजन आदि रोगोंका नाश करता है।

(३) शिखण्डी– गुञ्जा नामक लता, मोर अथवा मोरका पङ्ख, और स्वर्णयूथिका का वाचक यह शब्द है।

(४) अर्जुनः– हिंदीभाषामें इसको ' कहू, कौह ' कहते हैं। इसके गुण ये हैं— " कफघ्नः, व्रणशोधनः, पित्तश्रमतृष्णाहरः, वातकोपनश्च। (रा० नि० व० ९)। शीतलो हृद्यः क्षतक्षयविषरक्तहरो मेदोमेहव्रणघ्नस्तुवरः कफपित्तघ्नश्च। (भा० पू० १ भ० वटादि०) " यह अर्जुन वृक्ष कफ, व्रण, पित्त, श्रम, तृष्णा को दूर करता है। हृदयके लिये हितकारी है। व्रण क्षय विष रक्त दोष दूर करता है। मेदादि रोग दूर करता है।

(५) आघाटः– अपामार्ग औषधि। हिंदीमें लटजिरा, चिराचिरा कहते हैं। इस पर कई सूक्त हैं (अथर्ववेद का०४ सू०१७—१९ विवरण सहित पढिये। इसमें अपामार्गके गुणधर्म लिखे हैं।)

(६) कर्करी— कर्कटी, कांकडी। [इसके विषयमें अर्थकी खोज करना चाहिये]

ये सब वृक्ष और लतायें पूर्वोक्त रोग दूर करती हैं। इनका वैद्यक ग्रंथोक्त वर्णन और वेद मन्त्रोक्त वर्णन पाठक तुलना करके देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि वेदने इन रोगोंके विषयमें कुछ विशेष ही कहा है।

आष्टम और नवम मन्त्रमें सूर्य किरणोंका उपयोग पूर्वोक्त रोग दूर करनेके कार्यमें हो सकता है ऐसा सूचित किया है।

ग्यारहवे मन्त्रमें (वीर्यावता ब्रह्मणा) वीर्यवती ब्राह्मी औषधिसे ये रोग दूर होते हैं ऐसा कहा है।

(७) ब्राह्मी— हिंदीभाषामें इसको ' वरंभी, ब्रह्मी ' कहते हैं। इसके गुण ये हैं-

ब्राह्मी हिमा सरा तिक्ता मधुर्मेध्या च शीतला।
कषाया मधुरा स्वादुपाकायुष्या रसायनी॥
स्वर्या स्मृतिप्रदा कुष्ठपाण्डुमेहास्रकासजित्।
विषशोषहरी .... ॥ भा० प्र० व॥

" ब्राह्मी वनस्पती बुद्धिवर्धक, स्मृतिवर्धक, आयुष्यवर्धक, कुष्ट पाण्डु मेह रक्तस्राव कांशी विष प्यास आदिको दूर करनेवाली है।

इस ब्राह्मी औषधीके गुण सोमवल्लीके गुणोंसे कुछ अंशमें मिलते जुलते हैं, इस लिये इसके नाम-" सोमवल्लरी, महौषधि, सुरश्रेष्ठा, परमेष्ठिनी, शारदा, भारती " ये आये हैं। बुद्धिवर्धक और आयुष्यवर्धक गुण इस के मुख्य हैं। यह अपूर्व वल्ली है और निश्चयसे गुणकारी है।

यह वैद्योंकी विद्या है इस लिये इस सूक्तका मनन वैद्योंको करना चाहिये। यदि वैद्य इसका विचार करेंगे और लोकोपकारक औषधि प्रयोग निश्चित करेंगे तो जनता के ऊपर विशेष उपकार हो सकते हैं।

"अप्सरस्' शब्दका मूल अर्थ (अप+सरस्) जलके साथ संचार करनेवाला। जलाशयमें संचार करनेवाला। 'मलेरिया' के अर्थात् हिम ज्वरके कृमि जलसंचारी हैं। मच्छरों द्वारा इनका फैलाव होता है और मच्छर गाते रहते हैं, इसलिये ये संभवतः 'गंधर्व' ही होंगे, और इनके आश्रयसे चारों ओर जानेवाले ज्वरोत्पादक क्रिमि अप्सरस् होंगे। गंधर्व और अप्सराओंका इस प्रकरणमें यह संबंध दिखता है। पीपर, वड, अपामार्ग, अर्जुन आदि वृक्षोंके कारण इन रोग कृमियोंका दूर होना लिखा है। इसलिये 'मलेरिया' ज्वर के प्रदेशोंमें इन वृक्षोंकी उपज करके अनुभव देखना चाहिये। इसी प्रकार अजशृंगी गुग्गुलु आदि वनस्पतियोंका भी रोग निवारणार्थ प्रयोग करके देखना योग्य है। वैद्य लोग इस विषयमें खोज करेंगे तो इसका निश्चय शीघ्र हो सकता है।

उत्तम गृहिणी स्त्री।

(३८)

(ऋषिः — बादरायणिः। देवता-अप्सराः। ऋषभः)

उद्भिन्दतीं संजयन्तीमप्सरां साधुदेविनीम्।
ग्लहे कृतानि कृण्वानामप्सरां तामिह हुवे ॥ १ ॥
विचिन्वतीमाकिरन्तीमप्सरां साधुदेविनीम्।
ग्लहे कृतानि गृह्णानामप्सरां तामिह हुवे ॥ २ ॥
यायैः परिनृत्यत्याददाना कृतं ग्लहात्।
सा नः कृतानि सीषती प्रहामाप्नोतु मायया।

अर्थ— (उद्भिन्दतीं साधुदेविनीं) शत्रुको उखाडनेवाली, उत्तम व्यवहार करनेवाली और (संजयन्तीं अप्सरां) उत्तम विजय प्राप्त करनेवाली रमणीय स्त्री को तथा (ग्लहे कृतानि कृण्वानां तां अप्सरां) स्पर्धाके समय उत्तम कृत्य करनेवाली उस स्त्रीको (इह हुए) यहां बुलाता हूं ॥ १ ॥

(विचिन्वन्तीं आकिरन्तीं) संचय करनेवाली और बांटनेवाली (साधु देविनीं अप्सरां) उत्तम व्यवहार करनेवाली स्त्रीको तथा (ग्लहे कृतानि गृह्णानां तां अप्सरां) स्पर्धाके समय उत्तम कृत्य करनेवाली उस रमणीय स्त्रीको मैं यहां बुलाता हूं ॥ २ ॥

(या अयैः ग्लहात् कृतं आददाना) जो शुभ धर्मविधियोंसे स्पर्धामें उत्तम कृत्यको स्वीकार करती है। (सा नः कृतानि सीषती) वह हमारे उत्तम कर्मोंको नियमबद्ध करती हुई (मायया प्रहां आप्नोतु) अपनी

भावार्थ—शत्रुको एक ओर करके ऊपर उठनेवाली,उत्तम व्यवहार दक्ष विजयी और स्पर्धाके समय योग्य कर्तव्य उत्तम प्रकार सिद्ध करनेवाली स्त्रीको हम यहां बुलाते हैं ॥ १ ॥

समयपर संचय करनेवाली और समयपर सत्पात्रमें दान करके योग्य व्यय करनेवाली उत्तम व्यवहारदक्ष तथा स्पर्धाके उत्तम योग्य कर्तव्य उत्तम प्रकार करनेवाली स्त्रीको हम यहां बुलाते हैं ॥ २ ॥

जो स्पर्धाके समय शुभधर्मविधिके अनुसार उत्तम कृत्य करती है तथा

सा नः पर्यस्वत्यैतु मा नो जैषुरिदं धनम् ॥ ३ ॥
या अक्षेषु प्रमोदन्ते शुचं क्रोधं च बिभ्रती ।
आनन्दिनीं प्रमोदिनीमप्सरां तामिह हुवे ॥ ४ ॥
सूर्यस्य रश्मीननु याः सञ्चरन्ति मरीचीर्वा या अनुसञ्चरन्ति ।
यासामृषभो दूरतो वाजिनीवान्त्सद्यः सर्वा लोकान्पर्येतिरक्षन् ।
स न ऐतु होममिमं जुषाणोऽन्तरिक्षेण सह वाजिनीवान् ॥ ५ ॥

कुशल बुद्धिसे प्रगतिको प्राप्त करे ।(सा पयस्वती नः आ एतु) वह अन्नवाली उत्तम स्त्री हमारे पास आवे जिससे (नः इदं धनं मा जैषुः) हमारा यह धन कोई दूसरे न ले जांय ॥ ३ ॥

(शुचं क्रोधं च बिभ्रती) शोक और क्रोधको धारण करती हुई भी (याः अक्षेषु प्रमोदन्ते) जो अपने आंखों में आनन्दित वृत्ति रखती है (तां आनन्दिनीं प्रमोदिनीं अप्सरां) उस आनन्द और उल्हास देनेवाली सुन्दर स्त्रीको (इह हुए) यहां मैं बुलाता हूं ॥ ४ ॥

(याः सूर्यस्य रश्मीन् अनुसंचरन्ति) जो सूर्यके किरणोंमें अनुकूल संचार करती हैं, (वा याः मरीचीः अनुसंचरन्ति) अथवा जो सूर्य प्रकाशमें संचार करती है । (वाजिनीवान् ऋषभः) बलवान् श्रेष्ठ पुरुष (दूरतः सद्यः यासां सर्वान् लोकान् रक्षन् पर्येति) दूरसे ही तत्काल जिनके सब लोगोंकी रक्षा करता हुआ चारों ओर घेरकर आता है । (सः वाजिनीवान्) वह बलवाला पुरुष (इमं होमं जुषाणः) इस यज्ञका स्वीकार करता हुआ, (अन्तरिक्षेण सह नः आ एतु) आन्तरिक विचारके साथ हमारे पास आवे ॥ ५ ॥

जो हमारे सब शुभकृत्योंको उत्तम व्यवस्थासे करती है वह अपनी कुशलबुद्धिसे इस स्थानपर प्रगति करे । वह अन्नवाली स्त्री यहां रहे और उस की व्यवस्थासे यहां का धन सुरक्षित हो जावे ॥ ३ ॥

जो शोक और क्रोध मनमें रहने परभी जो सदा अपने आंखोंमें आनन्दकी प्रभा दिखाती है वह आनन्द और संतोष बढानेवाली स्त्री यहां आवे ॥ ४ ॥

जो सूर्यकी किरणोंमें व्यवहार करती है अथवा सूर्य प्रकाशको अनुकूल

अन्तरिक्षेण सह वाजिनीवन्कर्कीं वत्सामिह रक्ष वाजिन् ।
इमे ते स्तोका बहुला एह्यर्वाङियं ते कर्कीह ते मनोऽस्तु ॥ ६ ॥
अन्तरिक्षेण सह वाजिनीवन्कर्कीं वत्सामिह रक्ष वाजिन् ।
अयं घासो अयं व्रज इह वत्सां नि बध्नीमः ।
यथानाम वं ईश्महे स्वाहा ॥ ७ ॥

अर्थ-हे (वाजिनीवन् वाजिन्) बलवाले ! (अन्तरिक्षेण सह कर्कीं वत्सां) अन्तःकरण के साथ अपने कर्तृत्वशक्तिवाले बच्चीको (इह रक्ष) यहां रक्षा कर। (इमे ते बहुलाः स्तोकाः) ये तेरे बहुत आनन्द हैं, (अर्वाङ् एहि) यहां आ, (इह ते कर्की) यह तेरी कर्तृत्व शक्ति है। (इह ते मनः अस्तु) यहां तेरा मन स्थिर रहे ॥ ६ ॥

हे (वाजिनीवन् वाजिन्) बलवान् ! (अन्तरिक्षेण सह कर्कीं वत्सां) अपने आंतरिक विचारके साथ कर्तृत्व शक्तिवाले बच्चीकी (इह रक्ष) यहां रक्षा कर। उसके लिये (अयं घासः) यह घास है, (अयं व्रजः) यह गौओंका स्थान है, (इह वत्सां निबध्नीमः) यहां बछडीको बांधते हैं। (यथानाम वः ईश्महे) नामोंके अनुसार तुम्हारा आधिपत्य हम करते हैं, (स्व—आहा) हमारा त्याग तुम्हारे लिये हो ॥ ७ ॥

बनाती है, इस प्रकारकी स्त्रियोंकी रक्षा दूरसे अर्थात् योग्य मर्यादासे ही सब पुरुष किया करें। ये बलवान् पुरुष अपने जीवनका यज्ञ करते हुए अपने हार्दिक विचार से स्त्रियोंका आदर करके यहां रहें ॥ ५ ॥

हे बलवाले मनुष्यो ! अपने आन्तरिक प्रेमके साथ बच्चियोंकी रक्षा करो, सन्तानकी रक्षा करना आनन्ददायक कर्म है, आगे होकर यह कार्य करो, इस कार्यमें तुम्हारा मन स्थिर रहे ॥ ६ ॥

हे बलवाले मनुष्यो ! अपने आन्तरिक प्रेमके साथ गौकी बच्चियों की रक्षा करो, गौओं और बछडोंके लिये यह घास है, उनके लिये यह स्थान है, बछडोंको यहां बांधते हैं, और उनके नामोंके क्रमसे उनकी उत्तम व्यवस्था करते हैं, उनके लिये हम आत्मसर्वस्वका समर्पण करते हैं ॥ ७ ॥

दक्ष स्त्रीका समादर।

इस सूक्तमें दक्ष स्त्रीका बहुत आदर किया है। स्त्री गृहिणी होती है, इस लिये घर की व्यवस्था उत्तम रखना और उस कार्य में उत्तम दक्षता धारण करना स्त्रियोंका परम कर्तव्य है। इस विषयके आदेश इस सूक्तमें अनेक हैं जिन का मनन अब करते हैं-

स्त्री कैसी हो ?

(१) संजयन्ती = उत्तम विजय प्राप्त करनेवाली, अर्थात् अपने कुटुंबका विजय करनेके उपायोंको आचरणमें लानेवाली हो। (मं० १)

(२) साधुदेविनी = ' दिव् ' धातुसे ' देविनी ' शब्द बनता है। ' दिव् , धातुके अर्थ- ' क्रीडा, विजयेच्छा, व्यवहार, प्रकाश, आनंद, गति ' इतने हैं। अर्थात् ' साधु देविनी ' शब्दका अर्थ- " क्रीडा या खेल खेलनेमें कुशल, अपने कुटुंबका विजय चाहने वाली, घर में प्रकाश के समान तेजस्विनी होकर रहनेवाली, स्वयं आनंद स्वभाव रहकर सब लोगोंका आनंद बढानेवाली, सबकी प्रगति करनेवाली" इस प्रकार हो सकता है। इस अर्थका संबंध ' संजयन्ती ' शब्दके अर्थके साथ है, इसका पाठक अनुभव करें। (मं १, २, ४,)

(३) उद्भिदन्ती—अपने शत्रुओंको उखाड देनेवाली। (मं० १) इसका भी तात्पर्य ' संजयन्ती ' पदके समानही है, विजयेच्छुक और व्यवहार दक्ष होनेसे शत्रुको उखाडना और विजय प्राप्त करना ये बातें सुसंगत हैं। (मं. १)

(४) ग्लहे कृतानि कृण्वाना = ' ग्लह ' शब्दका अर्थ है ' स्पर्धा '। अपना जीवन एक प्रकारकी स्पर्धा है, इस स्पर्धामें ' कृत ' अर्थात् उत्तम कृत्य अथवा उत्तम प्रयत्न करनेवाली। ' कृत ' शब्दका अर्थ यह है-

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सं पद्यते चरन्॥
चरैव चरैव। ऐ० ब्रा ०७।१५

" सुप्त अवस्थाका नाम कलि है, निद्रा या आलस्य को त्यागनेका नाम द्वापर है, प्रयत्न करनेकी बुद्धिसे उठनेका नाम त्रेता है और कृत उसको कहते हैं कि जिस अवस्थामें मनुष्य पुरुषार्थ करता है। " इस वचन में ' कृत ' का अर्थ दिया है। उन्नतिके लिये प्रबल पुरुषार्थ करनेका नाम कृत है। मानो " मनुष्य का जीवन एक जूवेका खेल " है। इस में सोते रहने वाले लाभ नहीं प्राप्त कर सकते, प्रत्युत सब से उत्तम

जुवे का दान लेनेवाले ही लाभ प्राप्त कर सकते हैं । इस जूवेके ' कलि, द्वापर, त्रेता और कृत ' ये चार दान होते हैं । जो झगडालू और आलसी होते हैं उनको इस जीवनरूपी जुएमें ' कलि ' संज्ञक दान मिलता है जिससे हानि ही हानी होती है, जो साधारण पुरुषार्थ प्रयत्न करते हैं उनको बीचके दो दान मिलते हैं, परंतु जो प्रबल पुरुषार्थी होता है वही ' कृत ' संज्ञक दान प्राप्त करके अधिक से अधिक दान प्राप्त करता है ।

सतरंज या चौपट खेलनेवाले अपने पांसोंसे जो चार प्रकारके दान प्राप्त करते हैं, उन चार दानोंके वाचक ये चार शब्द हैं । 'कृत, त्रेत, द्वापर और कलि' ये चार शब्द क्रमशः उत्तम, मध्यम, कनिष्ट और हानिकारक दानोंके सूचक शब्द हैं । वस्तुतः वेदमें "अक्षैर्मा दीव्यः ।" (ऋ.१०।३४।१३) जूआ मत् खेल इस प्रकारके वाक्योंसे जूवेका निषेध किया है । इसलिये वैदिक धर्ममें जूवेकी संभावना ही नहीं है । तथापि यहां सभी मनुष्य अपने आयुष्यके सतरंजका खेल खेल रहे हैं,अपने आयुष्यका जूआ खेल रहे हैं अथवा चौपट खेल रहे हैं । इसमें कईयोंको यह खेल लाभकारी होता है और कईयोंको हानिकारक होता है । इसलिये इस जीवन रूपी बाजीमें उत्तम रीतिसे यह खेल खेलकर मनुष्य यशके भागी हों, यह उपदेश देनेके लिये रूपकालंकारसे इस सूक्तमें 'ग्लह, कृत, देविनी' ये शब्द दो अर्थोंमें प्रयुक्त हुए हैं। ये शब्द जूवेबाजीका अर्थ भी बताते हैं और श्लेषसे उत्तम विजयी व्यवहार का भी अर्थ बताते हैं । इस रूपक का अर्थ ऊपर बताया है वही है, पाठक इसका विचार करके बोध प्राप्त कर सकते हैं । यहां स्त्रीत्वका निर्देश होते हुए भी पुरुष भी इससे अपने विजयी जीवन बनानेका बोध प्राप्त कर सकते हैं । अस्तु । 'ग्लहे कृतानि कुर्वाणा' का यहां यह अर्थ है -"इस जीवन रूपी स्पर्धाके खेलमें जो स्त्री उत्तम पुरुषार्थ रूपी दान प्राप्त करती है । " अर्थात् उत्तम स्त्री वह है कि जो इस जीवनमें परम पुरुषार्थ प्रयत्न करती है । (मं० १, २) मंत्र ३ में 'कृतं ग्लहात् आददाना' पाठ है । इसका भी उक्त प्रकार ही अर्थ है ।

(५) विचिन्वन्ती, आकिरन्ती-संग्रह करनेवाली, दान देनेवाली । संग्रह करनेके समय योग्य रीतिसे और दक्षतासे संग्रह करनेवाली और दान करनेके समय उदारता पूर्वक दान देनेवाली । स्त्री ऐसी होनी चाहिये कि वह घरमें दक्षतासे और व्यवस्थासे योग्य वस्तुओंका संग्रह करे । तथा दान करनेके समय अपने घर का यश बढने योग्य उदारताके साथ दान करे । 'विचिन्वन्ती' का मूल अर्थ चुन चुनकर पदार्थोंको प्राप्त करनेवाली और 'विकिरन्ती 'का अर्थ 'बिखुरनेवाली' है । यह संग्रह करनेका गुण और

दानका गुण स्त्रीमें इतना हो कि जिससे उसके कुलका यश बढ जाय और कभी यश न घटे ॥ (मं० २)

(६) या अयैः परिनृत्यति—जो शुभ विधियोंसे आनंदसे नाचती है अर्थात् जिसका प्रयत्न सदा सर्वदा धार्मिक शुभ विधि करनेके लिये ही होता है । 'अयः' का अर्थ "शुभ विधि" है (अयः शुभावहो विधिः । अमर कोश १ । ३ । २७) जिसका पूर्व कर्म भी उत्तम है और इस समय का भी कर्म उत्तम है । (मं० ३)

(७) कृतानि स्नीषती-जो उत्तम कर्मोंकी सुव्यवस्था नियमसे करती है, जो घरमें उत्तम व्यवस्थासे सब कार्य करती है । (मं. ३)

(८) पयस्वती-दूधवाली, जिसके पास बच्चोंको देनेके लिये बहुत दूध होता है । (मं. ३) ।

(९) या शुचं क्रोधं च बिभ्रती अक्षेषु प्रमोदन्ते-जो शोक और क्रोध आनेपर भी आंखोंमें प्रसन्नता का तेज धारण करती है। 'अक्ष' शब्दका अर्थ 'आंख और इंद्रिय' है। यहां इंद्रिय अर्थ अपेक्षित है। जो स्त्री अन्तःकरणमें शोक उत्पन्न होनेपर अथवा क्रोध उत्पन्न होनेपर भी रोती पीटती या चिल्लाती नहीं है, प्रत्युत अपने व्यवहारमें इंद्रियोंके व्यापारमें प्रसन्नताकी झलक दिखाती है और हृदयका शोक और क्रोध व्यक्त नहीं करती, वह उत्तम स्त्री है । (मं. ४)

(१०) आनन्दिनी, प्रमोदिनी- आनन्द और हर्षसे युक्त । अर्थात् जो सदा आनन्दित रहती है और दूसरोंको प्रसन्न करनेका यत्न करती है । (मं० ४)

(११) सूर्यस्य रश्मीन् अनुसंचरन्ती- जो सूर्य किरणोंमें भ्रमण करती है । ' मरीचीः अनुसंचरन्ती- जो सूर्य प्रकाशमें भ्रमण करती है । अथवा जो सूर्य प्रकाशको अपने अनुकूल बनाती है । इससे आरोग्य उत्तम होता है । स्त्रियोंको सूर्यप्रकाशमें व्यवहार करना चाहिये । [यहां स्पष्ट होता है कि गोषाकी पद्धति पूर्णतया अवैदिक है ।] (मं. ५)

ये ग्यारह लक्षण उत्तम और दक्ष गृहिणीके हैं । स्त्री, धर्मपत्नी, गृहिणी घरमें किस प्रकार व्यवहार करे, इस विषयपर ये ग्यारह लक्षण बहुत उत्तम प्रकाश डालते हैं । स्त्री और पुरुष इन लक्षणोंका विचार करें और इस उपदेशको अपनानेका यत्न करें । इन लक्षणों में शत्रुको उखाड देना और विजय प्राप्त करना ये भी लक्षण हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि स्त्रियोंमें इतनी शक्ति तो अवश्यही होनी चाहिये कि जिससे वे अपनी रक्षा उत्तम प्रकार कर सकें। आत्मरक्षाके लिये स्त्रियां दूसरेपर निर्भर न रहें । गृह व्यवहारमें

दक्ष, सुज्ञ, निर्भय और अपने कुलका यश बढानेवाली स्त्रियां होना चाहिये। इन लक्षणोंका विचार करनेसे स्त्री शिक्षा किस प्रकार होनी चाहिये इसका भी निश्चय हो सकता है। जिस शिक्षासे स्त्रीके अंदर इतने गुण विकसित होंगे, वह शिक्षा स्त्रियोंको देनी चाहिये। अथवा यों कहिये कि स्त्रीयोंमें शिक्षासे इन गुणोंका विकास करनेका प्रयत्न करना चाहिये। स्त्रीशिक्षाका विचार करनेवाले स्त्रीपुरुष इन आदेशोंका मनन करें।

अप्सरा।

इन लक्षणोंसे युक्त स्त्रीको इस सूक्तमें 'अप्सरा' कहा है। सुंदर स्त्रीको अप्सरा कहते हैं। अप्सरा शब्दके बहुत अर्थ हैं उनमें यह भी एक अर्थ है। स्त्रीकी सुंदरता इस शब्दसे व्यक्त होती है। शरीरकी सुंदरता वस्तुतः उतना सुख नहीं देती जितनी गुणोंकी सुंदरता देती है। इसलिये इन गुणोंसे युक्त सुंदर स्त्री को अपने घरमें गृहिणी बनानेकी सूचना यहां दी है। अपनी सहधर्मचारिणी निश्चित करनेवाले लोग इस उपदेशका मनन करेंगे, तो उनको अपनी सहधर्मचारिणी पसंद करनेके समय बडी सहायता प्राप्त हो सकती है।

पूर्व सूक्तमें ही 'अप्सरा' शब्दका अर्थ रोगोत्पादक क्रिमि है और इस सूक्तमें "सुंदरी गुणवती सुशील स्त्री" है यह देखकर पाठक चकित न हों। एकही शब्दके इसी प्रकार अनेक अर्थ होते हैं। इसी प्रकार 'असुर' शब्द परमेश्वरवाचक और राक्षस वाचक होता है अर्थात् इन शब्दोंके अर्थ इसी प्रकार विलक्षण होते हैं और यह एक वेदकी रीतिही है।

इस सूक्तके प्रथमके पांच मंत्रोंमें दक्ष धर्मपत्नीके शुभ गुणोंका वर्णन है। यह वर्णन जैसा स्त्रियोंको बोधप्रद है उसी प्रकार पुरुषोंके लिये भी बोधप्रद है। आशा है इससे पाठक लाभ उठावेंगे।

रश्मिस्नान।

पञ्चम मन्त्रमें "सूर्यरश्मीन् अनु सञ्चरन्ति। (मं० ५)" सूर्य रश्मियोंके अन्दर अनुकूल रीतिसे सञ्चार करनेकी सूचना दो वार की है। एक ही विषय दो वार कहनेसे वह दृढ करनेका उद्देश होता है। अर्थात् स्त्रियोंका सूर्य किरणोंमें भ्रमण करना वेदको बहुतही अभीष्ट है। स्त्रियां प्रायः घरेलु व्यवहारमें दक्ष रहतीं हैं और पुरुष घरके बाहरके व्यवहार को करते हैं। इसलिये पुरुषोंको उनके व्यवहारके ही कारण सूर्यरश्मिस्नान होता है। स्त्रियां घरके अन्दरके व्यवहार करतीं हैं इस लिये सूर्यरश्मियोंके अमृतरससे वाञ्चित रहती हैं; अतः उनके स्वास्थ्यके लिये इस मन्त्रमें रश्मिस्नानका दो वार उपदेश किया है।

यह उपदेश आजकल इसलिये बहुत आवश्यक और उपयोगी प्रतीत होता है कि आजकलकी स्त्रियां तो गोषामें रहती हैं और इस अवैदिक गोषाकी पद्धतिके कारण सूर्यप्रकाशसे वञ्चित रहती हैं। इस दोषको दूर करनेके लिये वेदने यह उत्तम उपदेश किया है, जिसका हरएक स्त्री पुरुषको अवश्य विचार करना चाहिये ।

स्त्री रक्षा ।

स्त्रियोंकी रक्षा होनी चाहिये । वह दो प्रकारसे हो सकती है एक तो पूर्वोक्त गुणोंका उत्तम विकास स्त्रियोंमें करने से स्त्रियां स्वयं अपनी रक्षा करनेमें समर्थ हो जायगी और अपनी रक्षा करनेके लिये दूसरोंके मुखकी ओर देखने की आवश्यकता उनको नहीं रहेगी । तथापि कई प्रसंग ऐसे हैं कि जिनमें पुरुषोंको स्त्रियोंकी रक्षा करना चाहिये । ऐसे समयोंमें—

यासां सर्वान् लोकान् दूरतः रक्षन् वाजिनीवान् पर्येति । (मं० ५)

" जिन स्त्रियोंके सब लोकोंको दूरसे रक्षा करता हुआ बलवान पुरुष भ्रमण करता है ।" इसका आशय यह है कि पुरुष स्त्रियोंकी रक्षा करनेके समय शिष्टाचार पूर्वक उचित रीतिसे दूर रहकर रक्षाका कार्य करें । स्त्रियोंमें घुस कर अथवा स्त्रियोंका अन्य प्रकार निरादर करके उनकी रक्षाका प्रयत्न करना योग्य नहीं है । जिस प्रकार बडे प्रतिष्ठित पुरुषोंकी रक्षा करनेवाले रक्षक उचित अन्तरपर रहते हुए उनकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार स्त्रियोंकी रक्षा भी उनकी सुयोग्य प्रतिष्ठा करते हुए करना चाहिये ।

इस मंत्रमें और अगले छटे मंत्रमें "अन्तरिक्ष" शब्द 'अन्दरका भाव' इस अर्थमें आया है । अन्तरिक्ष लोक का ही अंश अपने शरीरमें अपना अन्तःकरण है। मानो, यहां का यह शब्द अन्तःकरण का ही वाचक है । तात्पर्य यह है कि जो कुछ कार्य करना हो वह अन्तःकरणसे ही करना चाहिये । ऊपर ऊपरसे किया हुआ कार्य निष्फल होता है और अन्तःकरण लगाकर किया हुआ कार्य सुफल होता है । इस सूचनाका विचार पुरुषार्थ करनेवाले पाठक अवश्य करें । मनुष्यका अभ्युदय अन्तःकरणके सद्भाव पूर्वक किये हुए कर्मसे ही होगा, अन्य मार्ग नहीं है ।

वत्सां इह रक्ष । (मं० ६)

" पुत्रीकी यहां रक्षा कर । " पुत्रीकी रक्षाका उत्तम प्रबंध करना चाहिये । पुत्रीकी रक्षा होनेसे ही आगे वह पुत्री सुयोग्य और सुशील धर्मपत्नी अथवा स्त्री या माता हो सकती है । आजकल पुत्रीका जन्म होते ही घरका सब परिवार दुःखी होता है और प्रायः

पुत्रीका उन्नतिका विचार लोग नहीं करते, ऐसे लोगोंको वेदका यह उपदेश अवश्य ध्यानमें धारण करना चाहिये। जगत् की स्थिति और सन्तानपरंपरा स्त्रियोंके कारण होती है, इसलिये स्त्रियोंकी उन्नतिसे सब जगत्का कल्याण होना संभव है। माता स्वर्गसे भी अधिक श्रेष्ठ है, फिर माताके बालपनमें उसकी रक्षाका प्रबंध उत्तमसे उत्तम होना चाहिये इसमें संदेहही क्या हो सकता है ?

वत्स शब्द जिस प्रकार पशुके बच्चोंका वाचक है उसी प्रकार मनुष्योंके बच्चोंका भी वाचक है। प्रेमसे पुत्रको वत्स और पुत्रीको वत्सा कहते हैं। इसलिये इस षष्ठमंत्रका वत्सा शब्द मनुष्योंकी कन्याओंका वाचक और सप्तम मंत्रका वत्सा शब्द गौ आदि-कोंकी बच्चियोंका वाचक मानना उचित है। सप्तम मंत्रमें बछडेके लिये घास और उसको उत्तम गोशालामें बांधनेका वर्णन होनेसे वहांका वत्सा शब्द गौ आदिकोंकी बछडी है, इसमें संदेह नहीं है, परंतु षष्ठ मंत्रका वत्सा शब्द मनुष्योंके बच्चोंका भी वाचक मानना योग्य है। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे मनुष्योंके बाल बच्चोंकी सुरक्षितताका प्रयत्न मनसे करना चाहिये उसी प्रकार गाय घोडे आदि पाले हुए जानवरोंके बछडोंका भी पालन का प्रबंध उत्तम करना चाहिये। जिस प्रेमसे घरके लोग अपने बच्चोंका पालन करते हैं उसी प्रेमसे पशुओंके संतानोंका भी पालन किया जाय, यह इस उपदेश का तात्पर्य है। उनके घास का प्रबंध उत्तम हो, उनके जलपानका प्रबंध उत्तम हो, उनके रहनेका स्थान प्रशस्त हो, तथा उनके स्वास्थ्यका भी उचित प्रबंध किया जावे। तात्पर्य पाले हुए पशुओंको भी अपनी संतान के समान मानकर उनपर वैसाही प्रेम करना चाहिये।

यह सूक्त अपना प्रेम पशुओंतक पहुंचानेका इस ढंगसे उपदेश दे रहा है। प्रेम जितना बढेगा और चारों ओर फैलेगा उतना अहिंसाका भाव विस्तृत हो जायगा। वैदिक धर्मका अन्तिम साध्य पूर्ण अहिंसाका भाव मन में स्थिर करना है, वह इस रीतिसे निःसंदेह सिद्ध होगा।

स्त्रीका आदर, स्त्रीके अंदर शुभ गुणोंका विकास करनेकी रीति, स्त्रीकी रक्षा, पुत्रीकी रक्षा और बछडोंकी रक्षा आदि अनेक उपयोगी विषय इस सूक्तमें आगये हैं। पाठक इन सब मंत्रोंका अधिक मनन करके योग्य बोध प्राप्त करें और उस बोधको अपने जीवन में ढाल कर अपनी उन्नति करें।

समृद्धिकी प्राप्ति ।

(३९)

(ऋषिः- अंगिराः । देवता- नानादेवताः । संनतिः)

पृथि॒व्याम॒ग्नये॒ सम॑नम॒न्त्स आ॑र्ध्नोत् ।
यथा॑ पृथि॒व्याम॒ग्नये॒ स॒मन॑मन्ने॒वा मह्यं॑ सं॒नम॒: सं न॑मन्तु ॥ १ ॥

पृ॒थि॒वी धे॒नुस्तस्या॑ अ॒ग्निर्व॒त्सः । सा मे॒ऽग्निना॑ व॒त्सेने॒षमू॒र्जं कामं॑ दुहाम् ।
आयु॑ष्प्रथ॒मं प्र॒जां पोषं॑ र॒यिं स्वाहा॑ ॥ २ ॥

अर्थ-(पृथिव्यां अग्नये समनमन्) पृथिवीपर अग्निके सन्मुख नम्र होते हैं, (सः आर्ध्नोत्) वह समृद्ध हुआ है। (यथा पृथिव्यां अग्नये समनमन्) जिस प्रकार पृथिवीमें अग्निके सन्मुख नम्र होते हैं, (एव मह्यं संनमः सं नमन्तु) इस प्रकार मेरे आगे सन्मान देनेके लिये उपस्थित हुए लोग नम्र हों ॥ १ ॥

(पृथिवी धेनुः) भूमि धेनु है (तस्याः अग्निः वत्सः) उसका अग्नि बछडा है। (सा अग्निना वत्सेन) वह भूमि अग्निरूपी बछडेसे (इषं ऊर्जं कामं दुहां) अन्न और बल इच्छा के अनुसार देवे और(प्रथमं आयुः) उत्तम आयु तथा (प्रजां पोषं रयिं) सन्तान, पुष्टि और धन प्रदान करें। (स्वाहा) मैं समर्पण करता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ— पृथ्वीपर अग्निको सन्मान मिलता है क्यों कि वह तेजस्वी है, जिस प्रकार पृथ्वीपर अग्नि संमानित होता है उस प्रकार मैं तेजस्वी बन कर यहां संमानित होऊं ॥ १ ॥

पृथ्वीरूपी गौका अग्नि बछडा है, उसकी शक्तिसे मुझे अन्न,बल, दीर्घ आयु, संतति, पुष्टि और धन प्राप्त हो ॥ २ ॥

अन्तरिक्षे वायवे समनमन्त्स आर्ध्नोत् ।
यथान्तरिक्षे वायवे समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु ॥ ३ ॥
अन्तरिक्षं धेनुस्तस्या वायुर्वत्सः । सा मे वायुना वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम् ।
आयुष्प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा ॥ ४ ॥
दिव्यादित्याय समनमन्त्स आर्ध्नोत् ।
यथा दिव्यादित्याय समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु ॥ ५ ॥

अर्थ-(अन्तरिक्षे वायवे समनमन्) अन्तरिक्ष में वायुके सन्मुख सब नम्र होते हैं। (स आर्ध्नोत्) वह समृद्ध हुआ है। (यथा अन्तरिक्षे वायवे समनमन् जिस प्रकार अन्तरिक्षमें वायुके सन्मुख सब नम्र होते हैं, (एव मह्यं संनमः सं नमन्तु) उस प्रकार मेरे सन्मुख सन्मान देनेके लिये उपस्थित हुए मनुष्य नम्र हों ॥ ३ ॥

(अन्तरिक्षं धेनुः अन्तरिक्ष धेनु है (तस्याः वायुः वत्सः) उसका बछडा वायु है। (सा वायुना वत्सेन) वह अन्तरिक्षरूपी धेनु वायुरूपी बछडेसे (इषं ऊर्जं कामं दुहां) अन्न और बल पर्याप्त देवे और (प्रथमं आयुः) उत्तम दीर्घ आयु (प्रजां पोषं रयिं) सन्तान, पुष्टि और धन प्रदान करें, (स्वाहा) मैं आत्मसमर्पण करता हूं ॥ ४ ॥

(दिवि आदित्याय समनमन्) द्युलोक में आदित्यके सन्मुख सब नम्र होते हैं। (स आर्ध्नोत्) वह समृद्ध हुआ है। (यथा दिवि आदित्याय समनमन्) जिस प्रकार द्युलोकमें आदित्यके सन्मुख नम्र होते हैं (एव मह्यं संनमः सं नमन्तु) इस प्रकार मेरे आगे संमान देने के लिये उपस्थित हुए लोग नम्र हों ॥ ५ ॥

भावार्थ- अन्तरिक्षमें वायुका संमान होता है क्योंकि उसमें बल बढा हुआ है। बलके बढनेसे जैसा वायुका संमान होता है, उसी प्रकार बलके कारण मेरा भी संमान बढे ॥ ३ ॥

अन्तरिक्ष रूपी धेनुका वायु बछडा है, उसकी शक्तिसे मुझे अन्न, बल, दीर्घ आयु, संतान, पुष्टि और धन प्राप्त हो ॥ ४ ॥

द्युलोकमें सूर्यका संमान होता है क्योंकि वह बडा प्रकाशमान है। प्रकाशित होनेसे जैसा सूर्यका सम्मान होता है उसी प्रकार तेजस्विता के कारण मेरा सम्मान बढे ॥ ५ ॥

द्यौर्धेनुस्तस्या आदित्यो वत्सः । सा म आदित्येन वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम् ।
आयुष्प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा ॥ ६ ॥
दिक्षु चन्द्राय समनमन्त्स आर्ध्नोत् ।
यथा दिक्षु चन्द्राय समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु ॥ ७ ॥
दिशो धेनवस्तासां चन्द्रो वत्सः । ता मे चन्द्रेण वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम् ।
आयुष्प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा ॥ ८ ॥

अर्थ-(द्यौः धेनुः) द्युलोक धेनु है (तस्याः आदित्यो वत्सः) उसका सूर्य बछडा है। (सा मे आदित्येन वत्सेन) वह मुझे सूर्य रूपी बछडेसे (इषं ऊर्जं कामं दुहां) अन्न और बल पर्याप्त देवें और (प्रथमं आयुः) उत्तम दीर्घ आयु तथा (प्रजां पोषं रयिं) सन्तति, पुष्टि और धन अर्पण करे। (स्वाहा) मैं समर्पण करता हूं ॥ ६ ॥

(दिक्षु चन्द्राय समनमन्) दिशाओंमें चन्द्रके सन्मुख नम्र होते हैं। (स आर्ध्नोत्) वह समृद्ध हुआ है। (यथा दिक्षु चन्द्राय समनमन्) जैसे दिशाओंमें चन्द्रके सन्मुख नम्र होते हैं (एव मह्यं संनमः सं नमन्तु) इसी प्रकार मेरे सन्मुख सन्मान देनेके लिये उपस्थित हुए लोग नम्र हों ॥ ७ ॥

(दिशः धेनवः) दिशाएं गौएं हैं (तासां चन्द्रो वत्सः) उनका बछडा चन्द्र है। (ताः मे चन्द्रेण वत्सेन) वे मुझे चन्द्ररूपी बछडेसे (इषं ऊर्जं कामं दुहां) अन्न और बल जितना चाहिये उतना देवें और (प्रथमं आयुः) उत्तम दीर्घ आयु तथा (प्रजां पोषं रयिं) सन्तान, पुष्टि और धन अर्पण करें। (स्वाहा) मैं समर्पण करता हूं ॥ ८ ॥

भावार्थ— द्युलोक रूपी धेनुका सूर्य बछडा है उसकी शक्तिसे मुझे अन्न, बल, दीर्घ आयु, संतान, पुष्टि, और धन प्राप्त हो ॥ ६ ॥

दिशाओंमें चन्द्रमाका संमान होता है क्यों कि उसमें शान्ति बढगई है। जिस शान्तिके कारण चन्द्रमाकी प्रशंसा सब दिशाओंमें होती है उस शान्तिके कारण मेरा भी संमान होवे ॥ ७ ॥

दिशारूपी गौओंका चन्द्रमा बछडा है, उसकी शक्तिसे मुझे अन्न, बल, दीर्घायु, संतति, पुष्टि और धन प्राप्त हो ॥ ८ ॥

अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रो अभिशस्तिपा उ ।
नमस्कारेण नमसा ते जुहोमि मा देवानां मिथुया कर्म भागम् ॥ ९ ॥
हृदा पूतं मनसा जातवेदो विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
सप्तास्यानि तव जातवेदस्तेभ्यो जुहोमि स जुषस्व हव्यम् ॥ १० ॥

अर्थ- (अग्नौ अग्निः प्रविष्टः चरति) विशाल परमात्माग्निमें जीवात्मा रूपी अग्नि प्रविष्ट होकर चलता है । वह (ऋषीणां पुत्रः) इंद्रियोंको पवित्र करनेवाला है और (अभिशस्ति-पा उ) विनाशसे बचानेवाला भी है। (ते नमसा नमस्कारेण जुहोमि) तुझे मैं नम्र नमस्कारोंसे आत्मार्पण करता हूं। (देवानां भागं मिथुया मा कर्म) देवोंके सेवनीय भागको मिथ्याचारसे कोई न बनावे ॥ ९ ॥

हे (जातवेदः देव) जन्मे हुए पदार्थोंको जाननेवाले देव ! तू (विश्वानि वयुनानि विद्वान) सब कर्मोंको जाननेवाला है । हे (जातवेदः) जाननेवाले ! (मनसा हृदा पूतं) हृदयसे और मनसे पवित्र किये हुए हव्यको (तव सप्त आस्यानि) तेरे सात मुख हैं (तेभ्यः जुहोमि) उनके लिये समर्पण करता हूं (सः हव्यं जुषस्व) उस हविका तू स्वीकार कर ॥ १० ॥

भावार्थ— परमात्मारूपी विशाल अग्निमें जीवात्मारूप छोटी अग्नि प्रविष्ट होकर चलती है । यह जीवात्माकी अग्नि इंद्रियोंकी पवित्रता करने वाली और गिरावटसे बचाने वाली है। इंद्रियरूपी देवोंका जो कार्यभाग है, वह मिथ्या व्यवहारसे दूषित न हो इस लिये मैं उन अग्नियोंकी नमस्कार द्वारा उपासना करता हूं ॥ ९ ॥

हे सर्वज्ञ ईश्वर! तू हमारे सब कर्मोंको जानता है। इस आत्माके सात मुखोंमें मन और हृदयसे पवित्र किये हुए पदार्थोंका हवन करता हूं, यह हमारा हवन तू स्वीकार कर और हमारा उद्धार कर ॥ १० ॥

उन्नतिका मार्ग

मनुष्यकी उन्नति उसमें सद्गुणोंकी वृद्धि होनेसे ही हो सकती है । यह सद्गुणों की वृद्धि मनुष्योंमें करनेके हेतुसे वेदने अनेक प्रकारके उपाय कहे हैं, इस सूक्तमें इसी उद्देश्यसे चार देवताओंके द्वारा सद्गुण बढानेका उपदेश किया है । देवताओं में जिन गुणों की प्रधानता होती है वे गुण मनुष्यमें बढने चाहिये । इन देवताओंके गुण देखिये-

लोक	देवता	गुण	मनुष्यमें रूप
पृथिवी	अग्नि	तेज, उष्णता,	शब्द
अन्तरिक्ष	वायु	बल, जीवन,	प्राण
द्यु	सूर्य	प्रकाश,	दृष्टि
दिशा	चन्द्र	शान्ति,	मन

लोक देवता और गुण ये हैं। देवताओंके गुण अथवा बल मनुष्यके अंदर किस रूप में दिखाई देते हैं इसका भी पता इससे ज्ञात हो सकता है। मनुष्यका प्रभाव बढना हो तो इन गुणोंके सत्त्वकी वृद्धि होनेसे ही बढ सकता है, दूसरा कोई उपाय नहीं है। पृथ्वी लोकमें अग्नि प्रतिष्ठाको इसलिये प्राप्त हुआ है कि उसमें उष्णता और तेजस्विता बढी हुई है; वह अपनी दाहक शक्तिसे सबको जला सकता है, इस लिये उसका प्रभाव सब पर जमा हुआ है। यदि मनुष्यको अपना प्रभाव बढाना है तो उसको भी अपने अन्दर तेजस्विता बढाना चाहिये। तेजस्विता बढनेसे उसका सम्मान अवश्य बढेगा।

इसी प्रकार अन्तरिक्षमें वायुका महत्त्व विशेष है क्यों कि वह सबको जीवन बल और गति देता है। मनुष्यको उचित है कि वह अपने अन्दर बल बढावे और अपना जीवन उत्तम करे। दूसरोंमें चेतना उत्पन्न करे और सब हलचलों का प्राण बनकर रहे। जो मनुष्य अपनी शक्ति इस प्रकार बढावेगा वह सम्मानित हो जायगा।

द्युलोकमें सूर्यका सम्मान बहुत बडा है क्यों कि उसका प्रकाश सबसे अधिक होता है। इसके सन्मुख सब अन्य तेजस्वी पदार्थ निस्तेज होते हैं। यह ऐसा प्रकाशमान होने से उसका सम्मान सब करते हैं। जो मनुष्य अपना महत्त्व बढाना चाहता है उसको उचित है कि वह अपने अन्दर दिव्य प्रकाश बढावे, और सूर्यके समान ग्रहोपग्रहोंमें मुख्य बने।

इसी प्रकार चन्द्रमाकी प्रतिष्ठा उसकी शान्तिके कारण है। जिस मनुष्यमें शांति स्थिर होती है उसकी भी सर्वत्र प्रतिष्ठा बढती है। इस प्रकार इन देवताओंसे मनुष्य उपदेश प्राप्त कर सकता है और अपनी उन्नति कर सकता है। उन्नत्तिका मार्ग अपने अंदर इन गुणोंकी वृद्धि करना ही है। इस सद्गुणोंकी वृद्धिसे ही अन्न, बल, दीर्घायुष्य, सन्तति, पुष्टि और धन जितना चाहिये उतना प्राप्त हो सकता है, परन्तु सबसे पहिले उन्नति चाहनेवाले मनुष्यको उचित है कि वह अपने अन्दर इन गुणोंकी वृद्धि करें; तत्पश्चात् धनादिकी प्राप्ति तो स्वयं होती रहेगी।

इस सूक्तके आठ मंन्त्रोंमें यह उपदेश दिया है। आगेके नवम और दशम मन्त्रोंमें आत्मशुद्धी करनेका उपदेश है, उसका अब विचार किया जाता है—

परमात्माकी उपासना।

आत्मशुद्धिके लिये परमात्माकी उपासना अत्यन्त सहायक है, इस लिये नवम मंत्र में वह उपासना बतायी है—

अग्नौ अग्निश्चरति प्रविष्टः। (मं० ९)

"बडे विश्वव्यापक अग्निमें एक दूसरा छोटा अग्नि प्रविष्ट होकर चलता है अर्थात् अपने व्यवहार करता है।" यह बात उपासक को अपने मनमें सबसे प्रथम धारण करनी चाहिये। परमात्माकी विशाल अग्नि संपूर्ण जगत्में जल रही है और उसके अंदर अपनी एक चिनगारी है, वह भी उसके साथही चमक रही है। अपने अन्दर और चारों ओर बाहर भी उस परमात्माग्निका तेज भरा पडा है। जिस प्रकार अग्निमें तपता हुआ सुवर्ण शुद्ध होता है उसी प्रकार परमात्मामें तपनेवाला जीवात्मा शुद्ध हो रहा है। परमात्माके पूर्ण आधारमें मैं विराजता हूं, इसलिये मैं निर्भय हूं, मुझे डरानेवाला कोई नहीं है, यह विश्वास इस मन्त्रने उपासकके मनमें स्थिर करनेका यत्न किया है। यह आत्मा कैसा है और उसके गुण धर्म क्या हैं इसका वर्णन भी यहां देखने योग्य है—

ऋषीणां पुत्रः, अभिशास्तिपा। (मं० ९)

"यह आत्मा ऋषियोंका पुत्र है और विनाशसे बचानेवाला है।" अनेक ऋषियोंका मिलकर यह एकही पुत्र है अर्थात् अनेक ऋषियोंने मिलकर इसकी खोज की,और इसका आविष्कार किया, इस लिये ऋषियोंका यह पुत्र है, ऐसा माना जाता है। यह इसका एक अर्थ है। इसका दूसरा भी एक अर्थ है और वह विशेष विचारणीय है। ऋषि शब्दका दूसरा अर्थ 'इंद्रिय' है। सप्त ऋषि का अर्थ 'सात इंद्रियां' है। इन इंद्रियरूपी सप्त ऋषियोंको (पु-त्रः=) नरकसे बचानेवाला यही आत्मा है, क्यों कि आत्माही सबको उच्च भूमिकामें ले जाता है और हीन अवस्थामें गिरनेसे बचाता है। इस लिये इसकी उपासना हरएकको करनी चाहिये।

नमस्कारसे उपासना।

इस आत्माकी उपासना नमस्कारसे ही की जाती है। नम्र होकर, अपने मनको नम्र करके, नमस्कार द्वारा अपना सिर झुकाकर अर्थात् अपने आपको उसके लिये पूर्णतासे समर्पण करके ही अपने अन्तर्यामी आत्माकी उपासना करनी चाहिये—

नमसा नमस्कारेण जुहोमि। (मं० ९)

"नम्र नमस्कारसे आत्मसमर्पण करता हूं।" यहां 'जुहोमि' शब्द समर्पण अर्थमें है।

यज्ञमें हवनका भी यही अर्थ है । अपने पदार्थोंका दूसरोंकी भलाईके लिये समर्पण करनेका नाम हवन है । यहां नमस्कारसे हवन करना है, नमन द्वारा अपना सिर झुकाकर आत्मसमर्पण करनेका भाव यहां है । इस प्रकारके श्रेष्ठ कर्ममें मिथ्याव्यवहार होना नहीं चाहिये । क्योंकि मिथ्या व्यवहारसे ही सब प्रकारकी हानि होती है, इस लिये कहा है—

देवानां भागं मिथुया मा कर्म । (मं० ९)

" देवोंके प्रीत्यर्थ करने के कार्य भाग को मिथ्याचारसे मत् दूषित करना । " यह आदेश हरएक देवयज्ञके विषयमें मनमें धारण करने योग्य है । कई लोग दंभसे संध्या करने बैठते हैं, तथा अन्य प्रकारके मिथ्या व्यवहार ढोंगसे रचते हैं । परंतु ये किस को ठगानेका विचार करते हैं ? परमात्माको ठगाना तो असंभव है, क्यों कि वह सब जानताही है, वह सर्वज्ञ है । इस लिये ऐसे धर्म कर्मोंमें जो दूसरों को ठगानेका यत्न करते हैं वे अन्तमें अपने आपको ही ठगाते हैं और अपनी ही हानि करते हैं । इस लिये किसीको भी मिथ्या व्यवहार करना उचित नहीं है। ईश्वर सर्वज्ञ है, वह हरएक के मनोगत को तत्कालही जानता है, उससे छिपकर कोई कुछ कर नहीं सकता, इस लिये कहा है-

विश्वानि वयुनानि विद्वान् । (मं० १०)

" सब कर्मोंको यथावत् जाननेवाला ईश्वर है । " मनुष्य जो भी कर्म करता है वह उसी समय परमेश्वर जानता है । मनुष्यका कर्म बुद्धि में, मनमें या जगत् में कहां भी होवे, ईश्वर उसी क्षणमें उसको जानता है । इस लिये ऐसी अवस्थामें मनुष्यको मिथ्याव्यवहार करना सर्वथा अनुचित है । मनुष्य को उन्नति प्राप्त करने की इच्छा हो तो हृदय और मन से जितने पवित्र कर्म हो सकते हैं उतने करने चाहिये—

हृदा मनसा पूतं जुहोमि । (मं १०)

" हृदयसे और मनसे जितनी पवित्रता की जा सकती है, उतनी पवित्रतासे पवित्र पदार्थोंका ही सत्कर्म में समर्पण करना चाहिये । " पवित्रतासे उन्नति और मलिनतासे अवनति होती है, यह उन्नति अवनतिका नियम हरएक मनुष्यको स्मरण में अवश्य रखना चाहिये ।

सप्त मुखी अग्नि ।

पूर्वोक्त स्थानमें परमात्मा और जीवात्मा ये दो अग्नि हैं ऐसा कहा है । अग्नि ' सप्तास्य ' अर्थात् सात मुखवाला होता है । यहां भी उसके साथ मुखोंका वर्णन किया

ही है। यह आत्मा सप्तमुखी है, यह सात मुखोंसे खाता है, पञ्च ज्ञानेंद्रिय और मन तथा बुद्धि ये इस के सात मुख हैं। बुद्धिसे ज्ञान, मनसे मनन, और अन्य पञ्च ज्ञानेंद्रियोंसे पञ्च विषयों का ग्रहण यह करता है, मानो, इस आत्माग्नि में ये पांच ऋत्विज हवन कर रहे हैं, अथवा इन सात मुखोंसे यह आत्मा अपना भक्ष्य खा रहा है, अथवा अपना भोग्य भोग रहा है! इस त्रिविध प्रकारके कथनका एकही तात्पर्य है। इसके सातों मुखोंमें हृदयसे और मनसे पवित्र पदार्थोंको अर्पण करना चाहिये—

तव सप्त आस्यानि तत्र हृदा मनसा पूतं जुहोमि। (मं० १०)

"तेरे सात मुख हैं, उनमें हृदय और मनसे पवित्र पदार्थोंको ही समर्पण करता हूं।" यह बडा भारी महत्वपूर्ण उपदेश है, आत्मशुद्धिके लिये इसकी अत्यन्त आवश्यकता है। सातों मुखोंमें पवित्र हव्य का ही हवन करना चाहिये। अर्थात् बुद्धिमें पवित्र ज्ञान, मनमें पवित्र विचार,नेत्रमें पवित्र रूप,कानमें पवित्र शब्द मुखमें पवित्र अन्न और वाणी, नाकमें पवित्र सुगन्ध, और चर्ममें पवित्र स्पर्शविषयका हवन होना चाहिये। इस प्रकार सब ही पदार्थ अत्यन्त पवित्र रूपमें अपने अन्दर जाने लगे तो अन्दरका संपूर्ण वायुमण्डल परिशुद्ध हो जायगा और आत्मशुद्धि होती रहेगी। इस प्रकार अपनी शुद्धि होती रही तो अपने परिशुद्ध आत्माके ऐश्वर्यका वर्णन ही क्या करना है! वह इससे शुद्ध बुद्ध और मुक्त होकर पूर्ण यशस्वी होगा और इसको इस सूक्तमें कहे ऐश्वर्य निःसन्देह प्राप्त होंगे। इस लिये उदय की इच्छा करनेवाले पाठक इस मार्ग का अवश्य अवलम्बन करें और अपना अभ्युदय तथा निःश्रेयस प्राप्त करें।

स्वाहा।

इस सूक्तमें ' स्वाहा ' शब्द कई वार आगया है। ' स्वाहा ' का अर्थ है (स्व+आ+हा) अपना स्वार्पण अर्थात् दूसरोंकी भलाई अथवा उन्नति के लिये अपनी शक्ति का समर्पण करना। इस त्याग भावसे उन्नति होती है। अपनी शक्तिका जनताकी भलाईके लिये समर्पण करने का भाव यहां है। सब प्रकारकी उन्नति के लिये इस त्याग भावकी अत्यंत आवश्यकता है। पूर्वोक्त पवित्रीकरण के साथ रहनेवाला यह त्याग भाव बडाही उन्नति साधक होता है। वैयक्तिक क्या और राष्ट्रीय क्या जो भी उन्नति होनी है वह इस त्यागभावके बढनेसे ही होगी। उन्नतिका दूसरा कोई मार्ग नहीं है। वेदमें " स्वा-हा " शब्द अनेक वार इसी लिये आया है कि वैदिक धर्मियोंके मनपर इस त्याग भावका पक्का परिणाम हो जावे और इसके द्वारा वे इह परलोकमें अपना पूर्ण कल्याण प्राप्त कर सकें।

शत्रुका नाश ।

(४०)

(ऋषिः- शुक्रः । देवता- बहुदैवत्यं ।)

ये पुरस्ताज्जुह्वति जातवेदः प्राच्या दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।
अग्निमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि ॥ १ ॥
ये दक्षिणतो जुह्वति जातवेदो दक्षिणाया दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।
यममृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि ॥ २ ॥
ये पश्चाज्जुह्वति जातवेदः प्रतीच्या दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।
वरुणमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि ॥ ३ ॥
य उत्तरतो जुह्वति जातवेद उदीच्या दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।
सोममृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि ॥ ४ ॥

अर्थ— हे (जातवेदः) सर्वज्ञ ! (ये पुरस्तात् जुह्वति) जो सन्मुख रह-कर आहुति देते हैं और (प्राच्याः दिशः अस्मान् अभिदासन्ति) पूर्व दि-शासे हमें दास बनानेका प्रयत्न करते हैं (ते अग्निं ऋत्वा पराञ्चः व्यथंतां) वे अग्निको प्राप्त हो कर, पराजित होते हुए कष्ट भोगें । (एनान् प्रत्यक् प्रतिसरेण हन्मि) इनका पीछा करके और हमला करके नाश करता हूं ॥ १ ॥

हे (जातवेदः) सर्वज्ञ ! (ये दक्षिणतः जुह्वति) जो दक्षिण दिशासे आहुति देते हैं और (दक्षिणाया दिशः अस्मान् अभिदासन्ति) दक्षिण दिशासे हमारा नाश करना चाहते हैं, (ते यमं ऋत्वा पराञ्चः व्यथतां) वे यमको प्राप्त होकर पराभूत होते हुए दुःखको प्राप्त हों (एनान्०) इनका पीछा करके और इनपर हमला करके नाश करता हूं ॥ २ ॥

हे सर्वज्ञ ! (ये पश्चात् जुह्वति) जो पीछेकी ओरसे आहुति देते हैं और (प्रतीच्या दिशः अस्मान् अभिदासन्ति) पश्चिम दिशासे हमारा घात करना चाहते हैं (ते वरुणं ऋत्वा०) वरुणको प्राप्त करके पराभूत होकर दुःख भोगें, मैं इनपर हमला करके इनका नाश करता हूं ॥ ३ ॥

हे सर्वज्ञ ! (ये उत्तरतः जुह्वति) जो उत्तर दिशासे हवन करते हैं और (उदीच्याः दिशः०) उत्तर दिशासे हमारा नाश करना चाहते हैं वे (सोमं

ये३ऽधस्ताज्जुह्वति जातवेदो ध्रुवाया दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।
भूमिमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि ॥ ५ ॥
ये३ऽन्तरिक्षाज्जुह्वति जातवेदो व्यध्वाया दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।
वायुमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि ॥ ६ ॥
य उपरिष्टाज्जुह्वति जातवेद उर्ध्वाया दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।
सूर्यमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि ॥ ७ ॥
ये दिशामन्तर्देशेभ्यो जुह्वति जातवेदः सर्वाभ्यो दिग्भ्योऽभिदासन्त्यस्मान् ।
ब्रह्मर्त्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि ॥ ८ ॥

अष्टमोऽनुवाकः ॥ नवमः प्रपाठकः ॥

चतुर्थं काण्डं समाप्तम् ॥

ऋत्वा०) सोमको प्राप्त हो कर पराभूत होते हुए दुःख भोगें। मैं इनपर हमला करके इनका नाश करता हूं ॥ ४ ॥

हे सर्वज्ञ! (ये अधस्तात् जुह्वति) जो नीचेकी ओरसे आहुति देते हैं और (ध्रुवायां दिशः०) इस ध्रुव दिशासे हमारा नाश करना चाहते हैं वे (भूमिं ऋत्वा०) भूमिको प्राप्त होकर पराभूत होते हुए कष्ट भोगें! मैं उनपर हमला करके उनका नाश करता हूं ॥ ५ ॥

हे सर्वज्ञ! (ये अन्तरिक्षात् जुह्वति) जो अन्तरिक्षसे आहुति देते हैं और (व्यध्वायां दिशः०) विशेष मार्गवाली दिशासे हमारा नाश करना चाहते हैं वे (वायुं ऋत्वा०) वायुको प्राप्त होकर पराभूत होते हुए कष्ट भोगें। मैं उनपर हमला करके उनका नाश करता हूं ॥ ६ ॥

हे सर्वज्ञ! (ये उपरिष्टात् जुह्वति) जो ऊपरकी ओरसे आहुति देते हैं और इस (ऊर्ध्वाया दिशः०) ऊर्ध्व दिशासे हमारा नाश करते हैं वे (सूर्यं ऋत्वा०) सूर्यको प्राप्त होकर पराभूत होते हुए कष्ट भोगें। मैं उन पर हमला करके उनका नाश करता हूं ॥ ७ ॥

हे सर्वज्ञ! (ये दिशां अन्तर्देशेभ्यः जुह्वति) जो दिशा उपदिशाओंसे आहुति देते हैं और (सर्वाभ्यः दिग्भ्यः०) सब दिशाओंसे हमारा नाश करनेका यत्न करते हैं (ते ब्रह्म ऋत्वा०) वे ब्रह्मको प्राप्त होकर पराभूत होते हुए कष्ट भोगें। मैं उनपर हमला करके उनका नाश करता हूं ॥ ८ ॥

शत्रुका नाश।

जो लोग हमारा नाश करते हैं, हमें दास बनाते हैं अथवा अन्य प्रकारसे हमें सताते हैं, वे सब शत्रु हैं, उनका प्रतिकार करना चाहिये। जो शत्रु होते हैं वे पीछेसे, आगसे, दायीं ओरसे और बायीं ओरसे, नीचेसे अथवा ऊपरसे हमला करते हैं और हमारा नाश करते हैं, किसी किसी समय शत्रु इस प्रकार छिप छिपकर गुप्त प्रयत्नसे हमारा नाश करना चाहते हैं कि साधारण मनुष्य उनके प्रयत्नोंका पता भी नहीं लगा सकते। ऐसे गुप्त शत्रुका नाश करना तो बडा कठिन कार्य है। इस सूक्तमें जिन शत्रुओंका वर्णन है, वे शत्रु तो बडे धर्मभाव का ढोंग दिखाकर विश्वास उत्पन्न करके गुप्त रीतिसे घात करनेवाले हैं। ये शत्रु (जुह्वति) हवन करने का यत्न करते हैं, यज्ञयाग और सत्रका ढोंग रचकर जनता का भला करनेका ही अपना प्रयत्न है, ऐसा विश्वास जनता में उत्पन्न करके अंदर अंदर से नाश करनेकी तैयारी करते हैं। हवनमें ऐसे अविधियुक्त पदार्थ-अर्थात् मांस आदिक—प्रयुक्त करते हैं कि जिनसे देश में रोगोंकी उत्पत्ति हो जावे और उससे मनुष्योंका क्षय हो जावे। यज्ञका और हवन का ढोंग रचकर ऐसे अनर्थकारक कर्म करनेवालोंका जो प्रयत्न होता है उससे जनताका बडा नाश होता है। विधिपूर्वक किये हुए वैदिक यज्ञयाग तो आरोग्य बढानेवाले होते हैं, परंतु ऐसे विधिहीन आहुति देनेके प्रकार जनताका घात करनेवाले होते हैं। ढोंग बढाकर नाश करनेके प्रकार इससे भी और अनेक हैं, पाठक उसका विचार यहां करें। कई शत्रु ऐसे होते हैं कि जो उपकार करनेका भाव दिखाकर अहित ही करते हैं उन सबका यहां विचार करना चाहिये। ऐसे शत्रुओंका नाश करना बडा कठिन होता है, परंतु इनका नाश तो अवश्यही करना चाहिये। क्यों कि खुला हमला करने वाले शत्रुसे ये छिपकर नाश करनेवाले शत्रु बडे घातक होते हैं। इनका नाश करने के लिये कुछ उपाय इस सूक्तमें कहा है। इसका भाव समझनेके लिये निम्नलिखित कोष्टक देखिये—

दिशा	देवता	गुण	कर्म
प्राची	अग्नि	ज्ञान, तेज	अज्ञान नाश.
दक्षिणा	यम	नियमन	दुष्टोंको दण्ड देना
प्रतीची	वरुण	निवारण	शत्रुका निवारण
उदीची	सोम	शान्ति	शान्तिका उपाय
ध्रुवा	पृथ्वी	आधार	सज्जनोंको आधार देना

अन्तरिक्ष	वायु	बल, जीवन	बल का उपयोग।
ऊर्ध्वा	सूर्य	प्रकाश	प्रेरणा करना

दिशाओंके अनेक देवताओंके ये गुण कर्म देखनेसे मनुष्यको पता लग सकता है कि, अपने शत्रुओंको दूर करनेके लिये हमें क्या करना चाहिये। सबसे प्रथम अपने लोगोंके अज्ञान का नाश करना चाहिये और उनको ज्ञान उत्तम प्रकारसे देना चाहिये। जो इस ज्ञानसंवर्धन के कर्म में विरोध करेंगे उनको दण्ड देना चाहिये और फिर कभी विरोध न करें ऐसा योग्य शासन प्रबंध करना चाहिये। इतना करनेपर भी जो शत्रुता करेंगे उनका सुप्रबंधद्वारा निवारण करना चाहिये। सबसे प्रथम शान्ति के उपायोंसे यह पूर्वोक्त प्रबंध करना चाहिये और शान्तिसे उक्त कार्य में असफलता हुई तो शक्तिका भी उपयोग करके दुष्टोंको हटाना चाहिये। सज्जनों की रक्षा और दुर्जनों का नाश करके जनताको अपने अभ्युदय निश्रेयस का मार्ग खुला करना चाहिये। इस प्रकार व्यवस्था करनेसे जनताके अन्दर इतनी शक्ति बढेगी कि स्वयं उनके शत्रु दूर होंगे और फिर रुकावटें उत्पन्न करनेवाले शत्रु उनको सतानेमें असमर्थ हो जांयगे। शत्रु कैसा भी प्रयत्न करे, उस दिशासे अपनी रक्षा करनेका साधन अपने पास पहिलेसे ही तैयार रहना चाहिये। अर्थात् शत्रु यदि ज्ञानसे चढाई करे तो ज्ञान द्वारा उसका प्रतिबंध करना चाहिये, शत्रु बलसे हमला करे तो बल से उसका निवारण करना चाहिये। इसी प्रकार जिन शस्त्रोंको लेकर शत्रु हमपर हमला करेगा, उनका निवारण करनेका पूर्ण प्रबंध अपनेपास रहना चाहिये। ऐसा शत्रु दूर करनेका प्रबंध होता रहा, तो ही जनतामें शान्ति प्रगति और उन्नति हो सकती है। देश शत्रुरहित होनेसे ही मनुष्योंका अभ्युदय होना और उनको निःश्रेयस प्राप्त होना संभव है। शत्रुके हमले वारंवार होते रहे तो उन्नति साधना असंभव है।

इस लिये कायावाचा मनसे तथा अपने पास के अन्यान्य साधनोंसे शत्रुओंको दूर करनेका प्रयत्न होना चाहिये। और अपना आत्मिक,बौद्धिक, मानसिक,शारीरिक तथा अन्य सब प्रकारका बल इतना बढाना चाहिये कि जिससे अपने सामने शत्रु ठहर ही न सकें।

चतुर्थ काण्ड में विषय।

अथर्ववेदके इस चतुर्थ काण्डमें कुल ४० सूक्त हैं। इन चालीस सूक्तोंमें विषय क्रमानुसार सूक्तोंकी व्यवस्था इस प्रकार है। सबसे प्रथम परमात्मविषयक सूक्तोंको देखिये-

परमात्मविषयक सूक्त।

सूक्त १ "ब्रह्मविद्या" – इस सूक्तमें गूढ अध्यात्मविद्याका विचार हुआ है,

सूक्त २ "किस देवताकी उपासना करें"–इस सूक्तमें यह प्रश्न उठा कर एक अद्वितीय परमात्माकी उपासना करनी चाहिये ऐसा कहा है।

सूक्त ११ "विश्वशकटका चालक"– इसमें जगत् रूपी रथका चालक एक ईश्वर है ऐसा कहा है।

सूक्त १४ "आत्मज्योतिका मार्ग" = इस सूक्तमें परम आत्माकी ज्योति प्राप्त करनेका विषय है।

सूक्त १६ "सर्वसाक्षी प्रभु"=इसमें सब जगत्के अधिष्ठाता परमात्माका वर्णन है।

इस काण्डमें ये पांच सूक्त परमात्म विषयक हैं। जो पाठक इसको जानना चाहते हैं वे इन सूक्तोंका अच्छा मनन करें।

पाप मोचन।

सूक्त २३ से २९ तकके सात सूक्तोंमें पाप नाशन का विषय बडा मनोरंजक रीतिसे वर्णन किया है। इसके साथ सू० ३३ भी पाप नाशन विषयका प्रतिपादन कर रहा है। इन सूक्तोंका मनन करनेसे पापको दूर करने द्वारा आत्मशुद्धि करनेकी रीतिका ज्ञान हो सकता है। आत्मशुद्धि होनेसे ही परमात्माकी प्राप्तिका मार्ग मिलना संभव है।

राज्य शासन।

इस चतुर्थ काण्डमें राज्यशासन विषयक सूक्त निम्नलिखित हैं—

सूक्त ३ "शत्रुओंको दूर करना"= इसमें शत्रुको हटानेका उपाय कहा है।

सूक्त ४ "बलसंवर्धन"= इसमें बल बढानेका विषय है।

सूक्त ८ "राजाका राज्याभिषेक"=इसमें राजाका राज्याभिषेक का वर्णन और कौन राजा हो सकता है, इसका भी वर्णन है।

सू ३० "राष्ट्री देवी"=इस सूक्तमें राष्ट्ररूपी देवी का वर्णन करके राष्ट्रशक्तिका महात्म्य दर्शाया है।

सूक्त २२ " क्षात्रबल संवर्धन " = इस सूक्त में क्षात्र बल का संवर्धन करके राष्ट्र बलवान करनेका उपदेश है। सूक्त ४० " शत्रुका नाश " इस में शत्रुका नाश करनेका विषय है। इन छः सूक्तोंमें राज्य शासन का विषय आगया है।

वैद्यक विषय।

इस काण्डके निम्नलिखित सूक्तोंमें वैद्यक विषय है।

सू० ६, ७ "विषको दूर करना"–इन दो सूक्तोंमें विषचिकित्सा है।

सू० ९ "अञ्जन"–इसमें अंजन का विषय है।

सू० १० "शंखमणि"=इसमें शंख से चिकित्सा करनेका उपदेश है।

सू० १२ में " रोहिणी", सू० १७–१९ तक "अपामार्ग", सू० २० में "मातृनाम्नी", सू० ३७ में " रोगकृमिका नाश " सू० १३ में "हस्तस्पर्शसे रोगनिवारण"का अद्भुत मनोरंजक विषय कहा है। इन ११ सूक्तोंका विचार करनेसे इस काण्डकी वैद्यक विद्या जानी जा सकती है। सू० ५ में " गाढनिद्रा " का विषय है इसका भी इसी विषयसे सम्बन्ध है।

गोपालन।

सू० २१ में " गौ पालन " का विषय कहा है, गौके सम्बन्धका प्रेम रखने वालोंको यह सूक्त बडाही बोधप्रद है। सू० १५ में " वृष्टि " विषय है।

गृहस्थाश्रम।

गृहस्थाश्रममें रहनेवालोंको सू० ३८ का " उत्तम गृहिणी स्त्री " यह विषय अत्यन्त बोधप्रद है। विशेष कर स्त्रियोंको इसका बहुत मनन करना चाहिये। सू०३९ में " समृद्धिकी प्राप्ति " यह विषय भी गृहस्थियोंके हित का विषय है। सू० ३४ में " अन्नका यज्ञ " यह विषय गृहस्थियोंका ही है।

मृत्युको पार करना।

सू० ३५ में ' मृत्युको तरना, ' सू० ३६ में " सत्यका बल " ये विषय हरएक मनुष्यके लिये सहायक हैं। इसी प्रकार सू० ३१, ३२ इन दो सूक्तोंमें " उत्साह " विषय हरएक मनुष्यके लिये आवश्यक है।

इस प्रकार इन सूक्तोंके वर्ग हैं। इन सूक्तोंको इकट्ठा पढनेसे बडा बोध प्राप्त हो सकता है। आशा है कि वेद विचार करनेवाले पाठक इस रीतिसे विचार करके लाभ उठावेंगे।

चतुर्थ काण्ड समाप्त।

अथर्ववेदका स्वाध्याय ।

चतुर्थ काण्ड ।

विषयानुक्रमणिका ।

मुद्रक तथा प्रकाशक— श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा)

वर्ष १०

अंक ७

क्रमांक ११५

वैदिक धर्म.

आषाढ

संवत् १९८६

जोलाई

सन १९२९

वैदिक तत्त्वज्ञान प्रचारक ...

वर्ष १०

अंक ७

क्रमांक ११५

आषाढ

संवत् १९८६

जोलाई

सन १९२९

वार्षिक मूल्य— म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) विदेशके

महाभारत।

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास।

इस समय तक छपकर तैयार पर्व।

प्रथम काण्ड मूल्य २) डा. व्य ॥)

द्वितीय काण्ड मूल्य २) डा व्य. ॥)

इन्द्रशक्तिका विकास मूल्य ॥) डा व्य ≡)

गोमेध मूल्य १) डा व्य ॥)

मंत्री स्वाध्यायमंडल औंध (जि. सातारा.)

यजुर्वेद

इस पुस्तकमें यजुर्वेदका प्रत्येक मंत्र अलग अलग छापा है। अक्षर सुंदर और मोटे हैं। जिल्द सर्वांग सुंदर है। इस प्रकार यजुर्वेदका सर्वांगसुंदर पुस्तक किसी स्थानपर मुद्रित नहीं हुआ है। यह ग्रंथ अत्यंत सुंदर मुद्रित होनेसे नित्य पाठके लिये अत्यंत उपयोगी है। इस में वाजसनेयि और काण्व शाखाके मंत्रोंकी परस्पर तुलना भी देखने योग्य है। ऋषिसूची, देवतासूची और विषय सूची स्वतंत्र दी है।

मूल्य—

यजुर्वेद विनाजिल्द		१॥)
,,	कागजी जिल्द	२)
,,	कपडेकी जिल्द	२॥)
,,	रेशीमकी जिल्द	३)

प्रत्येक पुस्तक का डा० व्य० ॥) अलग होगा

अति शीघ्र मंगवाइये।

स्वाध्याय मंडल औंध (जि. सातारा)

वर्ष १०

अंक ७

क्रमांक ११५

वैदिक धर्म.

आषाढ संवत् १९८६ जोलाई सन १९२९

वैदिक तत्त्वज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।

संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।

स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

श्रेष्ठ बनो !

ममत्तु नः परिज्मा वसर्हा ममत्तु वातो अपां वृषण्वान् ।
शिशीतमिन्द्रापर्वता युवं नस्तन्नो विश्वे वरिवस्यन्तु देवाः ॥

ऋ. १ । १२२ । ३

(वसर्हा परिज्मा) सबका निवास करने में समर्थ और जिस की चारों ओर पृथ्वी भ्रमण करती है, ऐसा सूर्य (नः ममत्तु) हमें हर्षित करे। (अपां वृषण्वान् वातः) जलकी वृष्टि करनेवाले मेघोंके साथ वायु (ममत्तु) हमें आनंद देवे। हे इंद्र और पर्वत ! (युवं नः शिशीतं) तुम दोनों हम सबको उत्तम तीक्ष्ण बुद्धिसे युक्त करो और (विश्वे देवाः तत् नः वरिवस्यन्तु) सब देव अपनी शक्तिसे हमें श्रेष्ठ स्थानमें पंहुंचने योग्य बनावें।

इस सृष्टिमें सूर्य,वायु, मेघ,वृष्टि,जल आदि प्रचंड शक्तिवाली देवताएं हैं, ये हमें सुख देवें अर्थात् उनसे प्राप्त होनेवाला सुख स्वीकारने योग्य हमारा मन बने। उग्र सूर्य और शीत जल देनेवाला मेघ हमें उत्साह देवे। मनुष्यको उचित है कि वह बाह्य सृष्टिकी न्यूनाधिकताके कारण दुःखी न होवे। बाहेर की ऋतु आदिकी जोभी व्यवस्था बने उसमें आनन्दका अनुभव करके उत्साहसे अपनी उन्नतिके साधन करनेका अनुष्ठान हरएक को करना योग्य है।

यज्ञोपवीत क्यों पहिना जाता है ?

यज्ञोपवीत आर्यों में बहुत बडा महत्त्व दिया गया है और उस के नियम जो बनाये गये हैं वह यह हैं।

१·नियम पहिला तीन लर तागा किया जाता है।
२· " दूसरा ९६वे छानवे चावे का निर्माण किया जाता है।
३· " तीसरा में फिर तीन लर किया जाता है।
४· " चौथा फिर तीन लर किया जाता है।
५· " पाँचवाँ तीन गाँठ दी जाती हैं।
६· " छठवाँ कहीं कहीं छः गाँठ भी दी जाती है।
७· " सातवाँ मंत्र पढ कर धारण किया जाता है।

नियम पहिला— ब्रह्मचारी जब वेदारम्भ करने के लिये माता पिता के यहाँ से यज्ञोपवीत धारण कर गुरुकुल में पधारता है, उस समय ब्रह्मचारी से आचार्य उच्चारण कराता है। कि यह तीन तागा का यज्ञोपवीत धारण कर परमात्मासे विनय करो कि तीनों वेद अर्थात् ऋक्, यजु, साम का ज्ञान हो।

नियम दूसरा - यह ९६ वे छानवे चावे का यज्ञोपवीत धारण करते हैं, जो ९६ वे छानवे प्रकार की व्याधियाँ हैं याने शारीरिक, आधिभौतिक, आधिदैविक अर्थात् इन तीन प्रकार के तापों में एक एक में ३२ बत्तीस प्रकार की व्याधियाँ हैं उन से निवारित होवें।

नियम तीसरा- ध्येय याने ज्ञान, कर्म, उपासना तीनों प्राप्त हों।

" चौथा- भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल का ज्ञान हो।

" पँचवा- धर्म, अर्थ, काम की कामना पूरी हो।

" छठवाँ- छः ऋतुओं में कोई कष्ट न हो।

" सातवाँ-निम्न लिखीत मंत्र पढ कर यज्ञोपवीत धारण करता है जो मंत्र में खुलासा पढने से विदित हो जाता है।

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्। आयुष्यमग्र्यं प्रति मुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥

ऊपर लिखे हुये लाभ के लिये यह बडे कामसे यज्ञोपवीत का निर्माण ऋषियों ने किया था, वरना तीन, छानवे ९६. वे, फिर तीन, फिर तीन, या छः की जरूरत नहीं, नहीं तो पाँच, १०० पाँच पाँच किया जाता।

आशा है विद्वज्जन विचार करेंगे और जो त्रुटि होगी अपनी अपनी सम्मति प्रदान करने की कृपा करेंगे।

बैजनाथ सिंह
इनानजांव
ब्रह्मा

अहिंदू की शुद्धि

(अहिंदु को हिंदू बनाना।)

लेखांक १

आजकल एक प्रश्न समाज के सन्मुख विशेष रूपसे उपस्थित है। वह प्रश्न है अ-हिंदू को हिंदू बना लेना उचित है या नहीं। अबतक अनेक अहिंदू हिंदू कर लिए गये हैं। विशेषकर पंजाब में इस बात में बहुत कुछ कार्य हुआ है।

इस प्रश्न के दो भाग हैं। एक जन्मसे जो अहिंदु है उसे हिंदू बना लेना और दूसरा किसी कारणवश जो पर-मत में चला गया था उसे पुनः हिंदू बना लेना। अतः आवश्यक यही है कि शुद्धि की शास्त्रीय चर्चा के समय इन दोनों भागों पर विचार किया जाय। इसके लिए पहले निश्चय करना होगा कि हिंदू कौन और अ-हिंदू कौन। जब तक यह निश्चय नहीं होजाता कि हिंदू और अहिंदू के निश्चित लक्षण क्या हैं तब तक कैसे कह सकते हैं कि अ-हिंदू को हिंदू बनाया जाय या न बनाया जाय।

हिंदू शब्द का अर्थ।

" जो हिंसा से दूर रहता है " वह हिंदू है। बुद्धोत्तर काल में इसी अर्थ में यह शब्द बनाया गया। हिंदू धर्म में स्थित अहिंसा का ही बुद्धजीने अवास्तव प्रचार किया। और प्रायः सब जनता पर उसका स्थिर परिणाम भी हुआ। इसी से सब जनता का झुकाव " हिंसासे दूर रहने " की ओर हुआ। आगे चलकर जब सनातन आर्य धर्म का पुनरुद्धार करने का प्रयत्न वैदिक धर्मियोंने किया, तब इस लोकप्रिय अहिंसा की ओर ध्यान न देते हुए वैदिक धर्म को पुनः उठाना असंभव था। बुद्ध की अहिंसा का संस्कार भारतवासियोंपर ऐसा दृढमूल था इसीसे सानातन वैदिक धर्म का पुनरुद्धार करनेवाले आर्यवीर को यह बतलाना आवश्यक था कि यह सिद्धांत हमारे पास है ही। यह तो अनादि काल से चला आया है। बुद्धने इसमें कोई नई बात नहीं बतलाई। हमारे धर्मका नामभी तो इसी तत्त्वका प्रतिपादन करता है। हिंसा से जो दूर रहता है वह हिंदू। हमारे धर्मका परम ध्येय अहिंसा है। इस प्रकार प्रतिपादन करनेवाला यह शब्द बौद्ध धर्मको गिरानेकी इच्छा करनेवाले आर्यवीरों द्वारा इस अर्थ में प्रचलित किया गया। सब जनताका झुकाव पूर्ण रीतिसे अहिंसा की ओर था अतः यह शब्द सहजही में भारतवर्ष में सार्वत्रिक हुआ।

कई लोग यही समझते हैं कि विदेशी लोगोंने यह नाम हिंदुओं को दिया। सिंधु शब्द का उच्चार विदेशी लोग न कर सके। वे सिंधु नदी को हिंदु कहते थे, इसीसे उन्होंने आर्य जाति को यह नाम दिया और आर्योंने उसका स्वीकार किया। यह कल्पना ही अवास्तविक है। हिंदू लोग अत्यंत पुराणप्रिय हैं। वे सहसा पुरानी बात नहीं छोडते। और दूसरे की नई बात नहीं लेते। उनका कटाक्ष रहता है कि दूसरे की भाषा, यावनीया म्लेंच्छ भाषा न सीखें। ऐसे मनुष्य दूसरों का दिया हुआ नाम अपने को और अपने धर्मको लगावेंगे और यह परकीय शब्द कोने कोने तक के हिंदूको सहज प्रिय हो जाय यह तो असंभव है। इसीसे स्पष्ट है कि यह शब्द यच्चयावत् हिंदू को प्रिय हुआ और उन्होंने उसे अपने धर्म को भी लगाया अतः वह शब्द अंतःप्रेरणासे ही उत्पन्न हुआ है। बाहरसे आया हुआ शब्द हिंदुओं को इतना जीवश्च कंठश्च प्रिय कदापि नहीं

हो सकता । यदि हम बुद्धोत्तर काल की परिस्थिति का विचार करें तो हमें इस शब्द की व्युत्पत्ति अच्छी तरह मालूम हो सकती है। इसी दृष्टि से इस शब्द का स्पष्टीकरण होता है और यह भी मालूम होता है कि वह लोगों को इतना अधिक प्रिय कैसे हुआ ।

इस समय विशेष आवश्यकता इस बात की नहीं है कि हमारे सनातन धर्म का परमश्रेष्ठ तत्त्व अहिंसा है । अपने धर्म के चार वर्ण और चार आश्रम देखिए तो यह बात आप समझ जावेंगे। शूद्रों में मांसाहार के रूप से हिंसा वृत्ति है । वह वृत्ति हटते हटते ब्राह्मण में बिलकुल हट गई है । और वे अहिंसादि योगसाधनोंका अनुष्ठान करनेवाले अतएव वे श्रेष्ठ बने । उनमेंभी जो संन्यास आश्रम ग्रहण करनेवाले हैं वे तो "मत्तः सर्वभूतेभ्यः अभयं" अर्थात् मैंने सब भूतों को अभय दिया है यह कहकर पूर्ण निर्वैर अहिंसावृत्ति से रहते हैं। हिंदू धर्म का अंतिम आश्रम अर्थात् अंतिम दृश्य बिंदु इस प्रकार अहिंसापूर्ण है । यह अंतिम सीढी प्राप्त करने के लिए बीच की कई सीढियां हैं । इन नीचे की सीढियोंपर स्थित जो लोग हैं उन्होंने हिंसा की भी, तो वे अंतिम साध्य के मार्ग में होने के कारण उनकी कृतिसे धर्मके मुख्य ध्येयमें कोई बाधा नहीं आती ।

जगत् में कई धर्ममत हैं। परंतु सब में अत्यधिक निरुपद्रवी अर्थात सबमें अधिक अहिंसावादी वैर-हीन वृत्ति के यदि कोई लोग हैं तो वे अकेले हिंदू ही हैं। मुसलमान, ईसाई और हिंदू इन तीनों में हिंदू ही ऐसे हैं जिनमें निर्वैर भाव उनकी मनोवृत्तिमें ही समाया हुआ है । इसका अनुभव चाहे जहां कर लिया जा सकता है । जरा देखिए कि असहाय हिंदू मुसलमानी मुहल्ले में सुरक्षित रहता है या असहाय मुसलमान हिंदू मुहल्लेमें । तब आप समझेंगे कि हिंदूधर्मने हिंदुवृत्ति किस प्रकार मनुष्यता के योग्य अहिंसापूर्ण और निर्वैर बना दी है । यही हिंदू की विशेषता है। मौके पर हिंदू वीरवृत्ति का अंगीकार करेंगे जरूर, पर उनमें क्रूरता कदापि न आवेगी । हिंदू शूर हैं और वीर भी; पर यदि क्रूरता दिखाना है तो वह मुसलमान ही बतला सकता है। क्रूर वृत्ति को हटा कर मनुष्यता को बढाना ही हिंदू धर्म का मुख्य लक्षण है। यह सिद्धांत जैन और बौद्ध लोगोंने परम सीमा को पहुंचाया और हिंदुओंने उसीको व्यवहार्य दशामें अब भी कायम रखा है ।

इसके सिवा हिंदुधर्म का दूसरा लक्षण है वर्गी-करण ,(Classification) अन्य सब धर्मोंके लोग अवर्गीकृत (unclassified) स्थिति में हैं। हमारे समाज को वर्गीकृत करके उसे शास्त्रीय सुव्यवस्था का रूप देनेका कार्य आर्य ऋषियोंने किया है। जिस विलक्षण बुद्धिमानी से चार वर्ण और चार आश्रमों का वर्गीकरण ऋषियोंने किया उस बुद्धि सामर्थ्य की कितनी भी बडाई करो तो भी वह पूरी न होगी । वर्गों के अनुसार व्यवस्था लगाना ही तो शास्त्र (Science) है। वर्ग बनाकर प्रत्येक गुण की वृद्धि करने का प्रबंध करना ही शास्त्रीय प्रगति (Scientific Development) है । समाज का वर्गीकरण दूसरे किसी भी धर्म ने नहीं किया; पर वह हिंदूधर्म ने किया है । यह हिंदुधर्म की विशिष्टता है । यह बात भिन्न है कि आज दिन हिंदू भी उसका महत्व नहीं पहिचानते, । पर उससे यह सिद्ध नहीं होता यह वर्गीकरण अशास्त्रीय है ।

वेदों का प्रामाण्य, उपास्यों की अनेकता और पुनर्जन्म पर विश्वास ये भी हिंदुधर्म के अन्य लक्षण हैं । इस प्रकार हिंदूधर्म के पांच लक्षण हैं: (१) अहिंसा अंतिम ध्येय है, (२) वर्ण और आश्रम व्यवस्था, (३) वेद प्रामाण्य (४) अधिकार भेदों के अनुसार उपास्य भेद का प्रबंध और (५) पुनर्जन्म पर विश्वास ।

अहिंदू कौन है ?

जो लोग ऊपर लिखे पांच लक्षण नहीं मानते वे अ-हिंदू हैं। (१) जिन्होंने अहिंसा तत्त्व व्यवहार में न लाया हो (२) जिस समाज में वर्गीकरण नहीं हुआ, (३) सनातन चले आये हुए ज्ञान को जो नहीं मानते और जो बीच ही में उत्पन्न हुए मत को मानते हैं, (४) उपासनाओं के अधिकार भेद का

जिनमें विचार ही नहीं है और (५) जो पुनर्जन्म नहीं मानते वे अ-हिंदू हैं ।

आज के हिंदू और अ-हिंदू के ये लक्षण हैं। अति-व्याप्ति न होकर इन लक्षणों से हम निश्चय कर सकते हैं कि कौन हिंदू है और कौन अहिंदू ।

धर्म कितने हैं ?

मनुष्य की भीतरी सब शक्तियों का उत्तम विकास करने की शास्त्रीय योजनाएं जिसमें विस्तार से बतलाई हुई रहतीं हैं, आत्मा और अनात्माके संबंध का जिसमें गहरा विचार किया हुआ होता है, मनुष्य की उन्नति के अनुसार उसका योग्य वर्गीकरण करके मनुष्यका दर्जा जिसमें निश्चित किया जाता है, किसी भी वर्ग के मनुष्य को अपनी आध्यात्मिक उन्नति के लिए सदैव मार्ग खुला रहता है और जिसमें संग्राहकता से सबकी उन्नति के लिए समान स्वतंत्रता है उसी को धर्म कहते हैं। इस दृष्टि से देखने पर 'धर्म' नाम जिसके लिए उचित जँचता है ऐसा संसारभर में एकही सनातन वैदिक धर्म है । इसीके धर्म, मानव धर्म, आर्य धर्म , हिन्दू धर्म ऐसे नाम हैं। यह धर्म किसी भी मत वा पंथ का तिरस्कार नहीं करता, किंतु वह अन्य पंथों की योग्यता निश्चित कर देता है और सब से अविरोध से बर्ताव करता है। इतना ही नहीं अनादि कालसे चले आये हुए सनातन ज्ञानका नवीन ज्ञान से मिलाप करके अपना उन्नतिका मार्ग निश्चित करता है। यह विशेषता केवल सनातन वैदिक धर्म में ही है इसीसे इसे धर्म कह सकते हैं।

दूसरे ईसाई, मुसलमान आदि मत वा पंथ हैं। इनमें संग्राहकता बिलकुल नहीं है। इस में एकही एक भावना का अवास्तव पुरस्कार किया हुआ दिखाई देता है । मनुष्य की मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, आत्मा आदि जो अनेक भीतरी शक्तियां हैं उनकी बाढ करने का शास्त्रीय विचार इन मतोंमें बिलकुल नहीं है । आत्मा, अनात्मा का विचार नहीं, समाज का वर्गीकरण नहीं, अन्य पंथों के साथ सहिष्णुता से वर्ताव करने की मनुष्यता नहीं, उलटे दूसरों को गिराकर, नष्ट कर, जैसे बने तैसे भले बुरे उपायों से अपन ही बढें यही पाशवी अहमहमिका इनमें प्रबल है । इसी से इन्हें मत कह सकते हैं, धर्म कदापि नहीं कह सकते ।

इस संसार में 'धर्म' नाम देने योग्य एक मात्र सनातन वैदिक धर्म है जिसे बुद्धोत्तर काल से 'हिंदू धर्म' यह नाम मिला है । ईसाई, मुसलमानी आदि जो अन्य पंथ हैं वे मत हैं । जब उनमें सहिष्णुता बढेगी और अन्य बडे तत्त्व जब उनमें आवेंगे तभी वे मत 'धर्म' कहलाने योग्य होंगे । इसीसे सारे संसार भर में केवल सनातन वैदिक धर्म ही एक मात्र धर्म है । दूसरा धर्मही नहीं। मत मतान्तर जैसे हिन्दू धर्म के भीतर अनेक हैं वैसे ही बाहर भी अनेक हैं ।

इस दृष्टिसे जब विचार किया जाय तो विदित होगा कि 'धर्मान्तर' तो किसी का भी नहीं होता। क्यों कि धर्म तो एक ही है तब धर्मान्तर होना असम्भव है । जो कुछ होता है वह मतान्तर होता है । हिन्दू धर्म के सिवा अन्य धर्मही नहीं है इससे हिंदुओं का दूसरे धर्म में प्रवेश यह बात ही असम्भव है । हाँ, अन्य मत में प्रवेश होना संभव है । अतः यदि कोई ईसाई और मुसलमानी मतों में प्रवेश करे तो वह धर्मान्तर नहीं है केवल मतान्तर है । वाचक इस बात को अच्छी तरह ध्यान में रखें ।

मतान्तर का स्वरूप ।

हिन्दू धर्म के भीतर अनेक मत हैं-शैव, वैष्णव, गाणपत्य, शाक्त, भागवत, वीर वैष्णव, वीर शैव, पशुपत, आदि अनेक पुराने मत हैं। सिक्ख, वारकरी आदि आधुनिक मत हैं । ये सब मत हिन्दूधर्म के पेट में स्थित हैं । आज भी एक मत का हिन्दू दूसरे मत में जाता है और समझता है कि उसने मतान्तर किया । आज जो सिक्ख नहीं है वह कल सिक्ख मत की दीक्षा लेता है और कुछ काल पश्चात वैष्णव आदि चाहे जिस अन्य पंथ में जाता है । यह प्रकार एक हिन्दु धर्म के छत्रके नीचे आज भी जारी है । अतः मतान्तर करना हिन्दुओं के लिए नवीन नहीं है । यह तो हुई हिन्दू धर्म के भीतरी मतों की बात । अब अपने सन्मुख यह प्रश्न

उपस्थित होता है कि यदि कोई हिन्दूधर्म के बाहर का मत स्वीकार कर ले तो क्या वह हिन्दू रहता है? इसका विचार करने के लिए अपने नवीन शुरू हुए देव पंथ और राधास्वामी पंथ का उदाहरण लें। ये पंथ पंजाब में शुरू हुए। उन्हे शुरू होकर पूरे पचास वर्ष भी नहीं हुए। ये नए पंथ है। यदि इनमें हिन्दू चला जावे तब कोई नहीं समझता कि वह अपने हिन्दुत्व से भ्रष्ट हुआ। इन मतों से वापिस आ सकता है। वह कुछ प्रायश्चित्त कर ले या बिना प्रायश्चित के भी वह अपने पहले के मत में लौट कर आ सकता है। यह बात भिन्न है कि यदि नये मत में कोई आचार-भ्रष्टता हो तो उसके लिए उचित प्रायश्चित्त करना पडेगा। परन्तु अन्य मत में जानेपर वह मनुष्य सदा के लिए भ्रष्ट हुआ, उसका पुनः हिन्दू होना असम्भव है ऐसा तो शास्त्र का रुख नहीं है।

हिन्दूधर्म के भीतरी मतों की अपेक्षा बाहरी मत आचारमें कुछ बातों में भ्रष्ट होंगे अथवा उनमें मनमाना बर्ताव करने की स्वतंत्रता होने के कारण उन में जानेपर कुछ अधिक अत्याचार होना संभव है; पर हम इतना ही कहते हैं कि परमत में जानेपर भी वह योग्य प्रायश्चित्त से पुनः शुद्ध होकर पुनरपि उसे हिन्दुत्व के पहले के समान ही अधिकार प्राप्त हो सकते हैं। सम्पूर्ण 'देवल स्मृति' यही बात कहती है। वाचक इस बात को देख लें तब उन्हें खात्री होगी कि मतान्तर से सदाके लिए बहिष्कृत होना असम्भव है।

क्या हिन्दू अ-हिन्दू हो सकता है?

अब अपने सन्मुख यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जो जन्म से हिन्दू है क्या वह सदा के लिए अ-हिन्दू हो सकता है? इसका विचार करने के लिए अपन एक उदाहरण लें।

एक वसिष्ठ गोत्री ब्राह्मण है। उसका विवाह काश्यप गोत्र की कन्या के साथ हुआ। इस दंपती को सन्तती हुई। यह कुटुम्ब रजवीर्य की शुद्धता के विचार से उतना ही शुद्ध है जितना शुद्ध होना चाहिए। अर्थात् इसके शरीर में वसिष्ठ और कश्यप ऋषियों का खून दौड रहा है। इसी के सदृश वाचक चाहें तो क्षत्रिय और वैश्य कुटुम्ब भी ले सकते हैं। परन्तु शुद्धाशुद्धता की बात सिद्ध करने के लिए उक्त एक उदाहरण पर्याप्त है।

यह शुद्ध कुटुम्ब ईसाई पादरी के मोहजाल में फँस गया और गिरजे में जाकर एक दिन ईसाई बन गया। पादरीने कुछ वाक्य कहे और उस कुटुम्ब पर कुछ पानी छिडक दिया और जाहिर किया कि वह कुटुम्ब भ्रष्ट हो गया। दूसरे दिन से इस कुटुम्ब के लोग भी अपने को ईसाई समझने लगे।

अब विचार यही करना है कि जो कुटुम्ब कल तक रक्त-बीज से बिलकुल शुद्ध माना जाता था, वही पादरी के पानी के कुछ झींटे शरीर पर पडते ही कुछ घण्टों में वा कुछ दिन में इतना भ्रष्ट क्यों समझा जावे? शरीर का रक्त वही, आनुवंशिक संस्कार वही, अब तक के संस्कार जरा भी नहीं मिटे, पहले की स्मृति अब भी कायम है, स्थूल शरीर से लगाकर आत्मातक के सब तत्त्व पहले के समान ही कायम हैं, ऐसी दशामें अल्पस्वल्प प्रायश्चित्तसे उन सब को पुनः शुद्ध होते बनना चाहिए। यह सादी, सरल बात स्मृति में स्पष्ट शब्दों में निर्दिष्ट होते हुए भी आज तक हिंदुओंने इस शुद्धि की ओर ध्यान न दिया। इससे हिन्दुओं में से मनुष्य बाहर जाने की क्रिया जारी रही है। परन्तु नवीनता से भीतर आने का अथवा जो पहले इस धर्म के ही थे उनका पुनः भीतर प्रवेश कराने का दरवाजा ही बंद हुआ है। अब देखिए इसका परिणाम क्या हुआ है। जनसंख्या की गिनती के अंक नीचे दीये हैं उनसे वाचकों को विदित होगा कि हिन्दुओं की संख्या किस कदर घटती पर है और अन्य मतवालों की संख्या किस प्रकार बढती जा रही है।

	१८८१	१८९१	१९०१	१९११	१९२१
हिन्दू-	१८७९	२०७१	२०७१	२१७१	२१६२
मुसलमान-	५०७	५७३	६२४	६६६	६८७
ईसाई-	१९	२२	२९	३९	४७

सूचना- यह संख्या लाखों की है।

इस कोष्टक से पाठकों को विदित होगा पिछले चालीस वर्षों में ईसाई लोक साढे तीन गुना से भी अधिक बढे हैं। मुसलमानों की संख्या सवाए से कुछ अधिक हो गई है;पर हिन्दू केवल छटवें हिस्से से ही बढे हैं। पिछले दस वर्ष में तो उनकी बाढ ही रुक गई है और संख्या में तो वे कम ही हो गये हैं। अन्य धर्म अपनी संख्या बढा रहे हैं और हिन्दू अपने संख्यावल की ओर बिलकुल ही ध्यान नहीं देते। यही बात यहाँ पर स्पष्ट होती है।

ऐसी दशा में पाठकों को चाहिए कि वे पतित परावर्तन और शुद्धि करने से होनेवाले लाभ पर ध्यान दें और वे देवलस्मृति के आधार से होनेवाले इस धर्मकार्य में सक्रिय सहानुभूति दिखलावें।

समंत्रका प्रोक्षण का बल।

ऊपर एक कटुम्ब के भ्रष्ट होने का उदाहरण दे कर यह बतलाया है कि ऐसे भ्रष्ट होनेका कुछ मतलब ही नहीं है। रक्त और वीर्य की शुद्धता जबतक है तब तक हिन्दू कभी भी अ-हिन्दू नहीं हो सकता फिर उसके शरीर पर ईसाई पादरीने बाप्तिस्मा का पानी भले ही छिडक दिया हो वा मुसलमान काजीने उसका चमडा भलेही खरोंचा हो। इससे वह अहिन्दू नहीं हो सकता; क्यों कि इतने से बाह्य कारण से उसके शरीर, इंद्रियां, मन, बुद्धि, आत्मा में एकदम फरक पड जाय ऐसी शक्ति इस कृति में है यह कहने को कोई सबूत नहीं। इस बाह्य कृति से जो कुछ भी फरक पडता हो वह गायत्री मंत्र से पवित्र हुए गंगोदक से निश्चय से धो डालना संभव है। पादरी के वा काजी के पानी के छींटों में और बाइबिल या कुरान की आयतों में जितना भी बल होगा, उससे कहीं अधिक बल ओंकार पूर्वक उच्चार किये हुए गायत्री मंत्र में और गंगोदक के प्रोक्षण में अवश्य ही है। अतः जो अनिष्ट फरक परकीयों की उक्त कृति से होना संभव है उसका निवारण अपनी इस कृति से होता है। यह बात ध्यान में आ जानेपर भ्रष्ट होकर हिन्दू का अहिन्दू होना संभव ही नहीं। यदाकदाचित किसी भ्रम भी हुआ तो स्पष्ट ही है कि समंत्रक प्रोक्षण से उसकी शुद्धि भी हो सकती है।

हमने यह कृति कुछ अपनी कल्पना से नवीन निकाली नहीं है। संपूर्ण हिमालय के हिन्दू इसी रीतिका अवलम्ब शुद्धि का आंदोलन आरम्भ होनेसे कई वर्ष पूर्व से करते आये हैं। हमने यह बात अपनी आंखों से प्रत्यक्ष देखी है। जब हम कैलास यात्रा को गये थे तब और तिब्बत की यात्रा के समय भी ये बातें हमने प्रत्यक्ष देखीं हैं। इस समंत्रक प्रोक्षण से वहां के पादरी इतने अधिक डरते हैं कि उतना भय यहां के शुद्धि के आंदोलन से भी यहाँ के पादरियों को नहीं होता। कोटगड, चिनी, स्पूह आदि स्थानों के पादरियों ने हमे बतलाया कि 'यहाँ के इसाइयों के प्रयत्नों में सफलता नहीं होती क्यों कि जो मनुष्य सबेरे ईसाई होता है वह दो पहर को पुनः शुद्ध होकर अपने कुटुम्ब में पहले के समान सम्मिलित हो सकता है।' इस का मतलब ही यह है कि एकवार पैदा हुआ हिन्दू किसी भी कारण से अहिन्दू नहीं हो सकता। यह बात गंगा और ब्रह्मपुत्रा इन नदियों से पवित्र हुए हिमालय के लोग जितनी समझते हैं उतनी वह भारतीय जनता की समझ में नहीं आई है। इसीसे यहां पर पादरियों के प्रयत्न सफल हो रहे हैं।जिस समय समंत्रक प्रोक्षण का और—

गंगा गंगेति यो ब्रूयाद्योजननां शतैरपि।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति॥

" गंगा गंगा " ऐसा सैकडों कोसोंपरसे भी यदि कहें तब भी उस मनुष्य की सब पापों से मुक्तता होती है।" अपनी नदियों की इस पवित्रता पर यदि ध्यान दें तब तो भ्रष्ट होकर पतित हुए मनुष्य के सब पाप 'गंगा' शब्द का उच्चार करते ही या दूसरे किसी के द्वारा 'गंगा' शब्द कहे जाने पर तुरन्त ही नष्ट हो जावेंगे, अतएव अब से आगे वह किसी भी कारण से अहिन्दू नहीं रह सकता। हिन्दुओं के पास इतने भारी सामर्थ्य के रहते भी वे शुद्धि का आंदोलन नहीं कर सकते इस बात से अतीव आश्चर्य होता है। शक्ति भलेही हो पर समय पडने

पर उसका उपयोग करते बनना चाहिए। अनंत अमोघ शक्ति के रहते भी गोवा के गावडे भ्रष्ट होकर अभीतक ईसाई ही बने हैं और उन्हीं के समान लाखों हिन्दू भी हैं। ये सब एकत्र मिल कर एकही बार " गंगा, गंगा " का उच्चार करें अथवा उनपर गायत्री मंत्रसे अभिमंत्रित किया हुआ जल कोई छिडक दे तो उनके जन्म जन्मांतर के पातक उसी क्षण नष्ट हो जावेंगे और वे तत्क्षण हिन्दू हो सकते हैं। पर आश्चर्य यही है कि इस काम के करने का गोवा के हिन्दूओं को साहस नहीं है और एक ब्रह्मचारी मसूरकरके पकडे जाने पर सैकडों ब्रह्मचारी गोवा में जाते नहीं ! हिन्दुओं में प्रचण्ड शक्ति है पर उन्हें इस शक्ति का उपयोग करने की बुद्धि होनी चाहिए।

जाति माननेवाले ईसाई !

गोवा के गावडे जातिबंधन मानने वाले ईसाई हैं। 'जाति माननेवाले ' का अर्थ ' ईसाई ' कभी भी हो नहीं सकता। क्योंकि जातियों के अनुसार मानव रचना केवल एकमात्र हिन्दू धर्म में है। अन्य किसी मत में जातियों का वर्गीकरण नहीं है। तब जो जातियां मानते हैं वे ईसाई कैसे हो सकते हैं ? पहले कभी पादरी ने इनके पूर्वजों पर पानी के छींटे छिडकाए होंगे। इतने से इनके कुल के कुल और कुल के यच्चयावत् लोग हिन्दू के अहिन्दू बन गये और ऐसे ईसाई बने कि अब फिर से हिन्दु नहीं बन सकते। ऐसा उन पादरियों के पानीमें कौनसा बल था ? यदि उनके जलमें कोई बल मान भी लिया तो उसके उलट परिणाम ऊपर बतलाये हुए समंत्रक प्रोक्षणसे नहीं होता यह बात कोई भी सिद्ध कर दे। सब लोगों को हमारा आह्वान है। गायत्री मंत्र का पावित्र्य इसी प्रकार ओंकार, रामनाम, गंगानाम इनकी पुनीत करने की शक्ति शास्त्र ने अनेक बार प्रतिपादित की है। इस शक्ति का उपयोग अपने बांधवों को अपने पास लाने के लिए न करें तो फिर इस शक्ति का उपयोग करने का अवसर ही कौनसा है ?

गोवा में जैसे जाति माननेवाले गावडे ईसाई हैं वैसेही बम्बई प्रान्त से लगाकर गोवा के आगे तक भी हैं। सावंतवाडी आदि प्रांतों का हाल हम प्रत्यक्ष जानते हैं। वहां के कुछ ईसाई जाति मानते हैं इतना ही नहीं वे हिन्दू देवताओं के लिए ब्राह्मणों को भोजन खिलाते हैं। विवाह के समय गोत्र देखनेवाले और जाति का विचार करनेवाले ईसाई सारे कोंकण में हैं। ब्राह्मण जाति का ईसाई महार जाति के ईसाई के साथ विवाह संबंध करने को तैयार नहीं होता। आँख का उदाहरण तो हमने अपनी आंखों देखा है। एक मराठा जाति की ईसाई स्त्री विवाहयोग्य हुई तब उसने बतलाया कि 'ब्राह्मण वा मराठा ईसाइ से मैं विवाह करूंगी दूसरे ईसाइयों से नहीं '। अन्त में उसने ब्राह्मण ईसाई के साथ विवाह किया। इस दम्पति की सन्तती भी आज विद्यमान है। ऐसे विवाह में जातियों का विचार करने के सैकडों अवसर हम जानते हैं। ये हिन्दुओं की जातियों को मानने वाले लोग ईसाई हैं यह बात किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होती। क्योंकि ईसाइयों में ब्राह्मण आदि जातियां नहीं है। अतः इन्हे ईसाई कहना भारी भूल है।

इसी प्रकार अधिक तीव्रता से जातियों को मानने वाले (Caste Christians) ईसाई मद्रास प्रान्त में लाखों से गिने जा सकते हैं। इन्हे अब तक अय्यंगर ईसाई, अय्यार ईसाई, मुदलियार ईसाई, नायडू ईसाई, परया ईसाइ, मुसलमान ईसाई मानते हैं। इतना ही नहीं गिरजे में भी जातियों के अनुसार इनके प्रार्थना के लिए बैठने के स्थान भी भिन्न रहते हैं। ब्राह्मण ईसाई महार ईसाई के पास कदापि नहीं बैठता। वहां के पादरियोंने उनके लिए गिरजा घरों में काठ लगाकर भिन्न भिन्न जातियों के लिए अलग अलग स्थान बना दिये हैं। ये ईसाई बिलकुल हिन्दुओं के समान छूतअछूत मानते हैं और परस्पर में अन्न, उदक वा बेटी व्यवहार बिलकुल नहीं करते। मुसलमान ईसाई के घर हिन्दू ईसाई पानी भी नहीं पीता। इससे स्पष्ट होता है कि इनका रजवीर्य शुद्ध हिन्दु है, इतना ही नहीं उनके सब संस्कार भी जैसे के तैसे ही अब भी कायम हैं।

बम्बइ से लेकर मद्रास तक इस प्रकार जातियां माननेवाले ईसाई तीन चार लाख या इससे भी

अधिक होंगे। ये लोग इतने तैयार हैं कि आपने 'तुम्हें अपनाते हैं, कहने की देरी है कि वे 'हां' कह कर अपने में आजावेंगे । इस प्रकार जन्मसे, कर्मसे, और जातिविशिष्ट अचारसे जो आजतक बिलकुल हिन्द् हैं और जो केवल भ्रम से अपने को ईसाई समझते हैं ऐसों को पुनः अपनाने के लिए बडे भारी शुद्धि संस्कार की कोई आवश्यकता ही नहीं है । यदि कुछ संस्कार ही करना हो तो वह संस्कार करिए जिसका प्रचार हो रहा है । श्रद्धेय स्वामी श्रद्धानन्द जीने इसी रीतिसे सब मल्काना राजपूतों को जो केवल नामधारी मुसलमान थे, शुद्ध कर लिया; और सारी राजपूत जातिने बिना किसी हिचकिचाहट आनाकानी के उन्हे अपने में शामिल कर लिया ।

आश्चर्य यही है कि इतनी सरल रीति के होते भी इसका प्रचार जोरोंसे नहीं होता । जो जातियों को मानते हैं वे हिन्दू ही हैं । किसी भी कारण से वे अ-हिंदू नहीं हो सकते । कुछ संस्कारों के लोप होनेका दोष उनमें उत्पन्न हुआ होगा वह नामस्मरण या ऐसे ही उपायों से दूर हो सकता है । यदि हिन्दू लोग इस सादी, सरल बात को समझेंगे तो सब मिशनरी लोग क्षणभर में यहां से भाग जावेंगे और उनके फैलाए हुए जाल नष्ट हो जावेंगे।

"जो एक बार हिन्दू के घर जन्म लेता है वह किसी भी उपाय से अहिन्दू बन नहीं सकता । " किसी भी अन्य पंथ के संस्कारों में यह शक्ति नहीं जिससे कि वह हिन्दू से अहिन्दू बन जाय । इतना ही नहीं मतान्तर होनेवाला भी यदि समझने लगे कि मैं मुसलमान या ईसाई बन गया तब भी वह सच नहीं है वह भ्रम मात्र है । ज्वर में जब वायु हो जाता है, तब मनुष्य भ्रमसे मनमानी बकवक करता है, अथवा मस्तिष्क में विकृति होनेपर भी मनुष्य मनमाना बकता है । ठीक इसी प्रकार जन्मसे जो हिन्दू है वह यदि बकने लगे कि पादरी के पानी छिडकने से मैं भ्रष्ट हो गया, मेरा मूल का धर्म छूट गया तो वह उसका निरा भ्रम है । यह बात संदेहरहित है । ऐसा होने का संभव नहीं है । यदि माननेसे ही धर्म भ्रष्टता हो सकती तो धर्मभ्रष्ट ईसाई भी स्वतः को हिन्द कहलाते ही हिन्दू क्यों न बने ? दोनों और एक ही नियम लगनेवाला है । परन्तु इससे भी प्रबल कारण है ।

मनुष्य के शरीर में स्थूल शरीर, इंद्रियशरीर (सूक्ष्म शरीर), प्राण शरीर, वैयक्तिक मानस शरीर (कारण देह), बौद्धिक शरीर इतने शरीर हैं और इन सब के भीतर आत्मा है । इन सब का यथायोग्य ऊहापोह हिन्दूधर्मग्रंथों में किया है । अतएव हिन्दूधर्म ही सचमुच एकमात्र मानवधर्म (मनुष्य धर्म,) है । दूसरे किसी भी पंथ के ग्रंथ में यह विचार नहीं है अतः इस पृथ्वीपर दूसरा कोई भी धर्म है ही नहीं ।

आद्य ऋषिकाल से लगाकर आजतक हिन्दू संस्कारों से सुसंस्कृत हुए हिन्दु कुल में जिसने जन्म लिया है उस मनुष्य की देह में और नहीं तो वीस हजार वर्ष के आर्य धर्मके संस्कार हैं । ये सब संस्कार पादरी के पानी से एक क्षण में धुल गये ऐसा सोचना निरा पागलपन है । वीस हजार वर्ष के संस्कारों को धुल जाने के लिए कमसे कम वीस हजार वर्ष तो लगने थे । इस हिसाब से यदि किसी हिन्दू को ईसाई पंथ में प्रविष्ट होना हो तो उसे वीस हजार वर्ष तक ईसाई संस्कारोंका स्वीकार करते रहना होगा । उस समय के पश्चात ही वह कार्य हो सकता है । तब तक हिन्दू के शरीर के हिन्दू संस्कार सदा के लिए मिट जाना संभव ही नहीं है । इस संबंध का शास्त्रीय विवेचन इस प्रकार है-

स्थल शरीर में जितने परमाणु हैं उतने पूर्ण रीतिसे बदलने के लिए पूरे सात वर्ष लगते हैं। यह बात आजके भौतिक शास्त्रज्ञोंने निश्चित की है । यह सिद्धान्त सर्वमान्य है अतएव इसके संबंधमें अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है। मान लीजिए कोई हिन्दू आज ईसाइयों के गिरजाघरमें गया । और पादरीने उसके शरीर पर पानी छिडका । तब भी जब तक उसके सब स्थूल सूक्ष्म शरीरके हिन्दू संस्कारोंसे संपन्न हुए परमाणु सदाके लिए नहीं बदलते, तब तक उस मनुष्य के हिन्दू धर्म का लोप होना असंभव है । बहुतही हुआ तो वह मनुष्य नामसे ईसाई और संस्कारोंसे हिन्दू रहेगा । पर ऐसे नाम मात्र के ईसाई को ईसाई कैसे कह सकते

हैं ? क्यों कि अंतर्याम में प्रत्येक परमाणुके संस्कार रूप से वह हिन्दू ही है।

ऊपर बतलाया गया है कि सात वर्षमें स्थूल शरीरके सब परमाणु बदलते हैं। किन्तु यह फरक स्थूल शरीर भरका है। स्थूल शरीर के परमाणु परिवर्तनसे भी स्थूल शरीर के पूर्वके सब संस्कार नहीं बदलते;क्योंकि आगे आनेवाले परमाणु अंशतः पहले के समान ही आते हैं। अतएव स्थूल शरीरका बिलकुल संस्कार लोप कराना हो तो कमसे कम आठ बार शरीर के परमाणु पूर्ण रीतिसे बदल जाने चाहिए। इस दृष्टिसे ८×७=५६ वर्ष स्थूल शरीर के पूर्व संस्कार लुप्त होने के लिए लगेंगे। स्थूल शरीरके पूर्व संस्कार ५६ वर्षों में लुप्त हो जावें तो सूक्ष्म शरीर के कुछ संस्कार लुप्त होते हैं। इस प्रकार कारण शरीर तक के पूर्व संस्कारों का लोप होने में ५६×६ = ३३६ वर्ष लगेंगे अर्थात् आज यदि कोई हिन्दू अहिन्दू बनने लगे तो वह सच्चा ईसाई बनने के लिए इतना समय लगेगा। परन्तु मनुष्य की आयु तो १०० वर्ष की ही है। अतः इतने वर्ष जीवित रहकर अपने शरीर का पूर्ण परिवर्तन कराना असंभव है। इसीलिए हम कहते हैं कि " जिसने एक बार हिन्दू के घर जन्म लिया वह किसी भी उपायसे अहिन्दु बन ही नहीं सकता "। इसलिए भ्रष्ट होकर अहिन्दू बने हुए यच्चयावत लोग संस्कारसे हिन्दू ही हैं। वे अपने को धर्मांतरित मानते हैं यह भी उनका भ्रम है। अन्य लोग उन्हे धर्मांतरित समझते हैं यह भी उनका भ्रम ही है। भ्रम तो कभी भी सच्चा नहीं हो सकता इससे हिन्दुओं को धर्मांतरित होनेका जो भ्रम हुआ है सो भी सच्चा नहीं है। अर्थात् शास्त्रीय दृष्टिसे हिन्दू का भ्रष्ट होना ही असंभव है।

केवल मानने भर से कोई वैसा बनता नहीं है। पागलखाने में हमने एक पागल आदमी को देखा वह अपने को 'सम्राट' समझता था, दूसरा एक पागल समझता था कि 'मैं कांच का बना हूं'। ये दोनों अपने को जैसा मानते थे वास्तव में वैसे न थे। ये लोग मस्तिष्क बिगड जाने के कारण पूरे पागल बन गये थे। स्याने समझे जानेवाले लोगों में भी अंशतः पागल रहते हैं। इस बात को अब शास्त्रज्ञ ही मानते हैं। अन्य सब बातों में ये लोग स्याने रहते हैं पर मस्तिष्क का एक अंग विकृत रहने से उस विशेष बात के संबंध में वे अंशतः पागल रहते हैं। एक विद्वान गणितज्ञ सब गणित उत्तम रीतिसे करता था,पर ३+२ मिलकर४ कहता था। इस मनुष्य में इतनाही पागलपन था। ऐसे अंशतः पागल कई बातोंमें रहते हैं। इस प्रकार मस्तिष्क का कोई अंग विशेष दूषित हो जानेसे जो अंशतः पागल रहते हैं वे ही कहते हैं कि पादरी के पानी छिडकते ही हिन्दू भ्रष्ट हो गया। ये लोग जानते ही नहीं कि हिंदू शरीर संस्कारों से बना हुआ होता है। अन्य पंथों (Faith) में मतों का परिवर्तन होनेसे दूसरे पंथ में जाना संभव है। यह मत परिवर्तन जल्दी होना संभव है। पर हिन्दुओंका ऐसा नहीं है। हिन्दू धर्म केवल विश्वासात्मक (Faith) नहीं है। हिन्दू धर्म कभी भी नहीं कहता कि पैगंबर पर आंख बंद करके विश्वास करो। किन्तु वह कहता है कि प्रत्येक क्षण में होनेवाले सूक्ष्म संस्कारों का विचार करो। प्रतिक्षण होनेवाले संस्कारोंका विचार करनेवाला हिन्दू धर्म को छोड दूसरा कोई धर्म नहीं है। इसीसे हिन्दू का शरीर संस्कारोंसे बनता है। इसी लिए हजारों वर्षोंके आर्य संस्कार हिन्दू शरीर में होने के कारण वे कुछ पानी के छींटों से लुप्त होना संभव नहीं। इसी लिए हिन्दू लोग अपने संस्कारों का महत्व खूब समझलें और ध्यान में रखें कि हिंदुत्व क्षणभंगुर नहीं है।

जो जाति माननेवाले ईसाई हैं वे तो जातियां मानते हैं अतएव हिन्दू ही हैं, परन्तु जो अपनी जातियां भूल गये हैं वे भी पहले के आर्य—हिन्दू होने के कारण वे भी हिन्दू ही हैं।

आचार भ्रष्टता।

पर-मत का स्वीकार करने के कारण आचार भ्रष्टता आई हुई हो, तब भी उतने से यह सिद्ध नहीं होता कि धर्मान्तर हुआ। यदि आचार भ्रष्टता हुई हो तो उतने के लिए प्रायश्चित्त दिया जा सकता है और प्रायश्चित्त देकर वह पहले के समान हिन्दू बन सकता है।

यह भी देखना होगा कि किस धर्म के संस्कार अधिक हैं। मुसलमानी पंथको शुरू होकर १३००वर्ष हुए, ईसाई पंथ को १९२९ वर्ष हुए। पर हिन्दू धर्म को शुरू हो कर कम से कम २०, ००० वर्ष तो हुए ही हैं अथवा लाखों वर्ष हुए हैं। जिस धर्म के संस्कार इतने वर्ष हिन्दू शरीर में इकत्रित हो रहे हैं, वे सब संस्कार अल्पवयस्क नूतन पंथके कारण नष्ट कैसे होंगे ? जो लोग इस तत्त्वको समझे नहीं हैं वे भूलसे और अज्ञान से मानते हैं कि हिन्दू भ्रष्ट हो जाते हैं। यह शास्त्रीय दृष्टि कदापि नहीं है।

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबंधनैः ।
वैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥ २७॥
स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ २८ ॥
मनु. अ. २

" सोलह संस्कारों से हिन्दुओं का शरीर सुसंस्कृत होकर उसका पाप नष्ट होता है। स्वाध्याय, व्रत, होम, यज्ञयाग, त्रैविद्या इनके संस्कारों से ब्राह्मधर्मका शरीर बनता है। "

पागल लोग भलेही समझते रहें कि हजारों वर्षों के ये संस्कार पादरी के पानी से धुल जाते हैं; परन्तु शास्त्र की दृष्टि से वह कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। जो संस्कार हो चुका है वह फजूल नहीं जाता, वह कायम रहता है। परमत में गये हुए लोग संस्कारों के अभाव के कारण सदोष हुए तब भी वे सदाके लिए पतित नहीं होते, किन्तु वे प्रायश्चित्तार्ह होते हैं। संस्कार लोप भी हुआ तब भी व्रात्यस्तोम आदि करके उसे पुनः उच्च पदपर ला सकते हैं।

इस दृष्टि से विचार करने से विदित होगा कि हिंदुस्थानमें रहे हुए और भ्रष्ट होकर ईसाई और मुसलमना पंथ में गए हुए हिन्दू केवल व्रतलोप के लिए करने के प्रायश्चित्त से सहज ही में शुद्ध हो सकते हैं। उनमें से भी जातियां माननेवाले ईसाई अल्प प्रायश्चित्त से और जातियां न माननेवाले कुछ उस अधिक प्रायश्चित्त से हिन्दुधर्म में वापिस लिए जा सकते हैं। सब धार्मिक लोग इसका विचार करें।

हिन्दुस्थानके बाहर की आर्य जातियां।

यह कहना बडी भूल है कि आर्य लोग केवल हिन्दुस्थान ही में थे और हिन्दुस्थानके बाहर न थे। कास्पीयन (काश्यप) समुद्र तक हिन्दुओं की वस्ती थी। सब प्रजा (काश्यपी) कश्यप से हुई और वहाँ से चारों ओर फैल गई। पुराणों और ब्राह्मणों में ऐसा ही वर्णन है। कश्यप ऋषी का आश्रम उपरोक्त स्थान में था और वहाँ से चारों ओर के देशों में आर्यों के उपनिवेश थे। मालूम होता है वहीं से वे दक्षिण में फैले।

इस कश्यप समुद्र के उस पार दक्षिणी रूस में " बाकू " नामका एक स्थान है। वहीं से सारे जगत में 'मिट्टी का तेल' जाता है। इस बाकू नगर में मिट्टी के तेल के उद्गम स्थान में पुरातन काल का गणेशजी का मंदिर मिला है। यह मंदिर अब तक सुरक्षित है। इससे सिद्ध होता है कि यहाँ पर-कम से कम-यहाँ तक हिन्दू सभ्यता स्थिर रूप से विद्यमान थी। बुद्ध के उत्तरकाल में हिन्दू रूस में कभी भी विजयी बनकर नहीं घूमे। तब यह मन्दिर सिद्ध करता है कि बुद्ध पूर्व काल के हिन्दुओं की बस्ती निःसंदेह इस प्रान्त में थी। इतना पुराना मंदिर दूसरे पंथ के लोग कदापि नहीं बनाते। अतः सिद्ध है कि दक्षिण रूस तक भारतीय हिन्दी सभ्यता थी और उसके अवशेष अबभी वहाँ न्यूनाधिकता से दिखाई देते हैं।

इधर मध्य अमेरिका में मेक्सिको आदि प्रांतों का इतिहास, कथाएं और प्राचीन अवशेषों से हम मान सकते हैं कि आर्यसंस्कृति वहाँतक फैली थी। इसके बहुत से प्रमाण भी अब एकत्रित हो रहे हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं कि ये सब प्रमाण प्राचीन हिन्दू ऐश्वर्य के अवशेष हैं। बहुत दूर की बात जाने दीजिए। कल परसों तक काबुल, कंदहार, गजनी आदि अफगानिस्थान के प्रदेश में सब वस्ती हिन्दू लोगोंकी ही थी। महमूद गजनी के समय में अधिकांश वस्ती हिन्दुओं की ही थी। रामायण महाभारत में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि गांधार देश आर्यवस्ती का देश था। गांधार ही कंदहार है। उस प्राचीन कालमें अफगानिस्थान अहि-गण-स्थान था। ये

'अहि' लोग वे ही हिन्दू थे जिन्हे अब सर्प या नाग कहते हैं। ये 'अहि-गण' मुसलमानों की तलवार के बलि हुए और अब 'अफगान' हुए हैं। ये ही पठान है। मूलके पठान और नाग एक ही हैं। अहि, सर्प और नाग के कुल सब भारतीय अर्यों में हैं। मराठोंके कई कुल अहि जाति के हैं।

जब कि यह बडा भारी प्राचीन हिंदुओंका विस्तार दिख रहा है और स्पष्ट दिख रहा है कि वह जबरदस्तीसे अन्य पंथों में खींचा गया है, तब उपरोक्त पद्धति से ये सब प्रांत शुद्ध करने योग्य हैं क्योंकि वे असली में हिन्दूही थे। ईसाई, मुसलमानी आदि नये पंथ निकलने के पूर्व इस संपूर्ण बृहत् प्रदेशमें एक ही आर्य जाति थी। इसका सबूत यह है कि उत्तर तिब्बत के आगे भी हिन्दू तीर्थ हैं। यदि एक बार मान लें कि मूलतः जो हिन्दू थे वे पुनः शुद्ध हो कर हिन्दू बन सकते हैं, तो काकेशस पर्वत, कास्पीयन समुद्र, दक्षिण रशिया, तिब्बत आदि प्रांतोंके सब लोग पुनः अपने पितृधर्म में निःसंदेह शामिल किये जा सकते हैं। यदि शुद्धि का आंदोलन करनेवाले हिन्दुओं में ईसाई पादरियोंके समान साहस और प्रयत्नशीलता हो जावेगी तो यह सम्पूर्ण प्रदेश वैदिक धर्म से परिपूर्ण होने का संभव है। प्राचीन कालके वर्णन जब हम पढते हैं तब यही अंदाज होता है कि उस समय कमसे कम १२० करोड हिन्दू होंगे। जिस समय मुसलमान लोग आर्यावर्त की ओर आए उस समय भी साठ करोड से अधिक हिन्दू यहाँ थे। पर अब वे केवल २२ करोड ही रह गए हैं और उनमें से प्रतिदिन करीब देड सौ ईसाई पंथ में जा रहे हैं और दो तीन मुलमानी पंथ में शामिल हो रहे हैं। जिस धर्म के देढसौ लोग प्रतिदिन दूसरे पंथ में चले जा रहे हों, तो उस धर्म के माननेवालों की संख्या घट जाने में आश्चर्य ही क्या ?

इस पर इलाज है शुद्धि का। जहाँ कहीं इस इलाजका उपयोग अच्छी प्रकारसे हुआ है, वहाँ परपंथ में प्रवेश करने का मार्ग ही बंदसा हो गया है।

अंग्रेजी हिन्दुस्थान में भी जातियां माननेवाले ईसाइयों की संख्या कम नहीं है। बम्बई से मद्रास तक के समुद्र किनारे का प्रदेश इन्ही लोगों से बसा हुआ है। शुद्धि का यह कार्य अंग्रेजी मुल्क में भी जोरसे शुरू होना चाहिये।

परकीयों की शुद्धि।

अब देखना है कि परकीयों की शुद्धि करें या न करें। वास्तव में इस प्रकार के कार्य का पहले ही आरंभ हो चुका है। स्वामी विवेकानंद, स्वामी रामतीर्थ जैसे महानुभावों ने यूरोप-अमेरिका में इस कार्य का आरंभ कर दिया है। सब लोग जानते हैं कि विदुषी निवेदिताबाई अपनी खुषी से और पार्थिव प्रलोभनों के न होते भी हिन्दूधर्म में आ चुकी थी। उन्होंने हिन्दूधर्म का अभ्यास करके जो ग्रंथ लिखे हैं वे निःसंदेह मननीय हो गये हैं।

थियासफी सोसाइटीने हिन्दूधर्म के विचारों का भंडार अंग्रेजी भाषा में प्रकाशित किया है। उसका परिणाम यूरोपीयन और अमेरिकन लोगों पर इतना हुआ है कि कुछ फ्रेंच लोग स्नान करके शुद्ध रेशमी वस्त्र पहिन कर तथा ऊदबत्ती जलाकर गायत्री मंत्र का जप करने लगे हैं। कई यूरोपीयन लोग हिन्दुस्थान में आकर हिन्दू योगियों के सहवास में रहने लगे हैं। कई यूरोपीयन स्त्रियां हृषीकेश में आकर वहाँ की तपोभूमि में कंद-मूल-फल खाकर रहने लगीं हैं। यदि हिन्दू मिशनरी यूरोप और अमेरिका में जावेंगे तो अपना तत्वज्ञान वहाँ कैसे कैसे चमत्कार कर दिखलावेगा सो इन बातों से मालूम हो सकता है।

उत्तर भारत में आर्य समाज द्वारा जो शुद्धिके प्रयत्न हुए हैं वे सब अन्य संस्थाओंके प्रयत्नोंसे कई गुना बढकर और अधिक चिरस्थायी हैं। इस लिये शुद्धि का विचार करनेके समय आर्यसमाज का कार्य विशेष ही धन्यवाद के लिये योग्य है।

(क्रमशः)

वैदिक धर्म में आनंद की दृष्टी ।

(ले. श्री. पं. लक्ष्मण शास्त्री जी जोशी, प्राज्ञपाठ शाळा, वाई)

सब आनन्दों की एकरूपता ।

व्यक्तिको आरोग्य, शक्ति और संपत्तिसे सुख होता है । कुटुम्बमें पतिपत्नी, माता पुत्र, बंधुभगिनी, इनके पारस्परिक प्रेम से आनन्द होता है । मत्सर-रहित, स्पर्धारहित, प्रयत्नशील, पराक्रमी और ज्ञानी लोकोंकी समाजमें सुख निवास करता है । नियम-बद्ध अनन्त और अचिन्त्य विश्वमें आनन्दकी प्रतीति होती है । काव्योंमें, वाणीयोंमें, कलाओंमें, और सत्कर्मोंमें आनन्दका अनुभव आता है । समाधिमें आनन्दके प्रकाशमें योगी तन्मय हो जाता है । ये सब आनन्द एकही परमानंदके तुषार हैं ऐसा उपनिषद्में कहा हुआ है । एकही सूर्य मण्डल विश्वको प्रकाशित कर रहा है । एकही वायुद्वारा प्राणीमात्र की जीवन-क्रिया चल रही है । एक वीणा सबके मनको रिझाती है । इसी प्रकार एकही आत्मरूप आनन्द उस उस विषयरूपी उपाधिमें सबको आनन्दित करता है । ' एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुप-जीवन्ति [बृ. उ. ४-३-२२] प्राणीमात्रके जीवनका कारणीभूत सुख इस परमानन्दका ही अंश है । '

संस्कृत साहित्यमें नवरसकी उपत्ति उपनिषद्के इस आनन्दके सिद्धान्तानुसार की गई है । रसोंके लक्षण रसगंगाधरमें जगन्नाथ पंडितने इसी दृष्टिसे कहे हैं । ' वस्तुतस्तु वक्ष्यमाणश्रुतिस्वारस्येन रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदवे रसः ।

रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽनन्दी भवति " [तै. उ० २-७] मनुष्यके जीवन में सर्व रस आत्म-रूप हैं । बृहदारण्यकोपनिषदमें प्रेममीमांसा आई है । वहांपर संसारमें मनुष्य प्रेम क्यों करता है इसका उत्तर दिया है । पति, जाया, पुत्र, वित्त, पशु, समाज, देव, प्राणिमात्र अथवा सर्व जगत् के प्रतिप्रेम क्यों होता है? इसका उत्तर 'इन सबमें एकही आत्मा पूर्ण हुआ हुआ बस रहा है ! वह आत्मा आनंदरूप है ! वह सबसे प्रियतम है ! अतः मनुष्य इन सब पर प्रेम करता है ! ' ऐसा दिया है । समाज, प्राणिमात्र और सर्व जगत् में यदि आत्मभाव न होता तो मनुष्यको दुःख मिलता ऐसा वहां पर आगे कहा है । 'ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद क्षत्रं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो लोकान्वेद । [बृ. उ० ४-५-७] ' ब्राह्मण क्षत्रिय तथा सब लोकोंको जो आत्मरूप नहीं समजता उसका अधःपात होता है ! ' बृहदारण्यकमें याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी का संवाद वैदिक वाणी रूपीलता का अत्यन्त सुगन्धित पुष्प है ! यह पति पत्नीका प्रेममय संवाद है । इस संवादमें विश्वमें वर्तमन प्रेमकी मीमांसा उपरोक्तमतानुसार की हुई है। इसी उपनिषदमें अन्यत्र मधु विद्या आई हुई है। मधु अर्थात् जीवन रस, पोषकरस । सारे विश्वमें पोष्य पोषकभाव है । पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आदित्य, दिशा, चन्द्र, विद्युत्, मेघ, आकाश, धर्म, सत्य, वित्त और प्राण इनसे प्राणियोंका जीवन चलता है । इनमें जीवन दायिनी शक्ति मधु एक आत्म-रूप है, ऐसा मधुविद्यासे प्रतीत होता है। प्रेम विद्या, मधुविद्या, या आनन्द विद्या, आत्मानन्द और इतर आनन्दमें अविरोधकी स्थापना करती है । इनकी एकरूपता सिद्ध करती है । इससे आध्यत्मिक जीवन और आधिभौतिक जीवनकी अखण्डता सिद्ध होती है । इसका समन्वय सिद्ध होता है । प्रपंच और परमार्थका झण्डा दूर होता है । प्रपंचके मण्डप पर

परमार्थ आनन्द वहीं विकसित हुई लहराती है ! अनन्दसे त्रिभुवन जगमगा उठता है !

आत्मानन्दकी इच्छासे सब व्यवहारोंको छोडकर गिरिगुहाओंका कुछ लोग आश्रय लेगें, उन्हें उपनिषद् संमति देते हैं। कुछ लोक व्यवहारमें ही यज्ञ, दान और तप के योगसे आत्मानन्दकी प्राप्तिकी खटपट करेंगे। 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन। ... एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति। (बृ. उ. ४–४-२२)। प्रपंचका त्याग वा स्वीकार सब किसीके स्वभावानुसार होगी। शुक, शंकराचार्य और ज्ञानेश्वर, इन जैसे जन्मसेही आत्मतृप्त अपने अपने स्वभावके मुताबिक प्रपंचसे दूर रहेंगे और श्रीकृष्ण, याज्ञवल्क्य, अजातशत्रु, रैक्व और जनक, इन जैसे प्रवृत्तिमय स्वभाववाले पुरुष द्वन्द्वरहित आत्मानंदमें रहते हुए भी सहज लीलासे व्यवहारों में उथेलापथली करते रहेंगे। जिन्हें व्यावहारिक प्रयत्नोंकी अनुकूलता न होगी अथवा जिनका मन स्वभावतः व्यवहारसे निवृत्त होगा वे प्रपंच छोडके परमार्थ करेंगे और इतर प्रपंच में पडे हुए परमार्थ करें गे। याज्ञवल्क्य ब्रह्मज्ञानी थे, पर साथही साथ उनका गृहस्थाश्रमभी संपन्न था। सम्राट् जनकनें ब्रह्मवादियोंकी भरी समाजमें विजय प्राप्त की ! याज्ञवल्क्यके आश्रममें सुवर्ण का ढेर पडा हुआ था! रैक्वने ब्रह्मसाक्षात्कार करके जानश्रुति राजाको उपदेश कर गृहस्थाश्रम स्वीकारा। अजातशत्रु साम्राज्य चलाते हुए गार्ग्य जैसे ऋषिको ब्रह्मोपदेश करता था। कोई भी आश्रम अथवा कोई भी आत्मप्राप्तिमें बाधक नहीं होती।

द्वन्द्व सहिष्णु और द्वंद्वातीत पुरुष जो जो कर्म करता है, उनसे चाहे फल प्राप्ति हो वा न हो उसके आनन्दमें अन्तर नहीं पडता। इतर विनाशी आनन्द और परमानन्दका झगडा यहां मिटा हुआ होता है। ऐहिक जीवन ऐहिक आनन्दसे बढता है। उसका परमानन्दसे विरोध नहीं। यदि ऐहिक जीवन परमानन्दका विरोधी है तो परमानन्दके लिए ऐहिक जीवनको सर्वथा त्याग ही देना चाहिए। परन्तु ऐसा विरोध ही संभव नहीं। क्योंकि ऐहिक आनन्द परमानन्दका अंश है इस बातकी फिर कोई कीमत ही नहीं रहती। इसी प्रकार ' इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः' इस सिद्धान्तका फिर क्या मतलब होगा। ऐहिक जीवनानुकूल क्रिया और परमार्थ का पूर्ण अविरोध है, ऐसा गीताका सिद्धान्त है। और इसीलिए द्वन्द्वातीत और त्रिगुणातीत पुरुषों के ऐहिक जीवन का स्वरूप परमसात्विक होता है ऐसा गीतासे निश्चय पूर्वक प्रतिपादन किया जा सकता है ! गीतामें कहे गए सात्विक कर्म सात्विक धृति, सत्विकज्ञान, सात्विक आहार इत्यादि सर्व सात्विक प्रकार द्वन्द्वातीत पुरुषके ऐहिक जीवन के भाग हैं, अतः परमानन्द और ऐहिक आनन्द का अविरोध सिद्ध होता है। आनन्द विद्याका माहात्म्य तैत्तिरीयोपनिषद्में इस प्रकार वर्णितहै।

> आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते॥ आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसं विशन्तीति॥ सैषा भार्गवी वारुणी विद्या॥ परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता॥ य एवं वेद प्रति तिष्ठति॥ अन्नवानन्नादो भवति॥ महान्भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन॥ महान् कीर्त्या॥ (तै० उ० ३-६)

' सर्व आनन्दरूप है. ऐसा ज्ञान होना चाहिए। प्राणिमात्रकी उत्पत्ति, स्थिति व लय आनन्दमें होता है। यह ज्ञान भृगुने सुना और वरुणने कहा। यह विद्या शुद्ध व सूक्ष्म बुद्धि में प्रवेश करती है। इस विद्या को जिसने प्राप्तकर लिया, उसमें स्थिरता आती है, उसे संपत्ति मिलती है। संपत्तिका वास्तविक भोक्ता बनता है। उसकी प्रजा बढती है, गवाश्वादि पशु प्राप्त हो उठते हैं। ज्ञान तथा शील से वह संसार में चमक उठता है और उसकी कीर्ति से दिग् दिगन्तर व्याप्त हो उठते हैं। यह तत्त्वज्ञान जिस समाज में घर कर लेता है वह समाज पूर्ण विजयी होता है। इस तत्त्वज्ञान का प्रभाव बहुत अधिक है।

> एतँ ह वाव न तपति किमहँ साधुनाकरवम्॥ किमहं पापमकरवमिति॥ (तै० उ० २-९)

' यह तत्वज्ञान जिसे प्राप्त होता है। उसे ' मेरे हाथ से पुण्य क्यों नहीं होते ? पापकी ओर प्रवृत्ति क्यों होती है ? ' इस प्रकारके प्रश्न नहीं सताते।

यह आनन्द सिद्धान्त सब धार्मिक प्रवृत्तियों का आधार है।

भगवद्गीतामें सात्त्विक सुखवाद

भगवद्गीता नीतिशास्त्र है अर्थात् भगवद्गीता समाज के बाह्य व आध्यात्मिक सुखों के साधनीभूत आचरणों का उपदेश करनेवाला शास्त्र है। भगवद्गीता में कर्म, बुद्धि, धृति, तप, दान, आहार इत्यादियों के सात्त्विक, राजस और तामस ऐसा तीन विभाग किए हुए हैं। सत्वसे सुख की उत्पत्ति होती है। सात्विक अर्थात् शुद्ध सुखोत्पादक। जिन साधनों से वा कर्मों से सुख उत्पन्न होता है उन कर्मों का या साधनों का साक्षात् वा परंपरा से व्यक्ति, कुटुम्ब, जाति या राष्ट्र पर यदि कभी भी दुष्परिणाम नहीं होता तो वह उन व्यक्ति वा कुटुम्ब को प्राप्त होनेवाला सुख शुद्ध है। सात्विक कर्मों को दिव्य कर्म कहते हैं। ये ही यज्ञार्थ कर्म हैं। दुष्परिणाम, शक्तिक्षय, सामर्थ्य आदि का विचार न करते हुए किए गए कर्म दुःख के लिए कारण होते हैं अतः इनको तामस कर्म कहा जाता है। कर्तव्याकर्तव्य, भयाभय, बंधमोक्ष आदि का विचार करते हुए धैर्य से और उत्साहसे किए हुए निष्काम कर्म सात्विक कर्म हैं। क्यों कि इन कर्मों के आदि और अन्त में सुख होता है। कर्मों के सुखदुःखात्मक परिणामका विचार न करते हुए किएगए कर्म असत्कर्म होते हैं। सुखात्मक सत्परिणाम सत्कर्मों की कसौटी है।

इसीप्रकार शुद्ध बुद्धि भी सत्कर्मों की एक कसौटी है। द्वन्द्वातीत, आसक्तिरहित बुद्धि शुद्धबुद्धि का परम विकास है। इस परम शुद्धबुद्धि द्वाराही आत्मतृप्तिरूप सुख व्यक्ति को मिलता है। कर्ता की बुद्धिको सनातन धर्ममें बहुत ही अधिक महत्त्व दिया गया है। किसी कार्य में कर्ता का क्या हेतु है और कर्माकर्म की किंमत कर्ता की बुद्धि में क्या है यह यदि न देखा गया तो कर्ता के अन्तःकरण की वास्तविक उन्नति होनी संभव नहीं। कर्ता की बुद्धि को शिक्षा भी प्राप्त नहीं हो सकती। किसी भी क्रिया के ठीक ठीक होने के लिए कर्ता को कर्मोंका साङ्गोपाङ्ग ज्ञान है आवश्यक है। और इसी प्रकार मन की उन्नति भी जरूरी है। केवल कर्मों के दृष्टिगत परिणाम परसे कर्म की परीक्षा करने से समाजमें बुद्धि को शिक्षा न मिलने से कर्मों के परिणाम भी बहुतवार समाज के लिए घातक होंगे। सत्परिणाम की प्राप्ति के लिए सद्‌बुद्धि की आवश्यकता है।

शुद्ध बुद्धि और सत्परिणाम ये दो सत्कर्मों की कसौटियां हैं। दोनों कसौटियों में जो कर्म उतरते हैं वे सात्विक कर्म हैं। कोईसी भी उच्च क्रिया सतत करने के लिए समाज में उच्च बुद्धि की जरूरत है। क्यों कि बुद्धि कर्मों का असाधारण कारण है। भगवद्गीता में जो सात्विक कोटि कही गई है, उसका अंतिम हेतु शुद्ध आनन्द की प्राप्ति है। कर्ता के बुद्धि की उन्नति गीता के कथनानुसार हो जानेपर सात्विक सुखकी ' यत्तदग्रे विषमिव ' की सी दुर्दशा न रहेगी। प्रारंभ से लेकर अंततक वह सुख मीठा ही बना रहेगा।

आत्मतृप्त पुरुष को भगवान् लोकसंग्रह के लिए कर्म करने के लिए आदेश देते हैं। लोक संग्रह अर्थात् समाज की उन्नति। समाज की उन्नति से समाज को शांति और सुख मिलता है। यदि वस्तुतः प्रपंच में समाज को शांति व सुख नहीं मिल सकता तो फिर गीता लोकसंग्रहार्थ कर्म करने का उपदेश क्यों कर रही है? लोकों को स्वर्ग अथवा मोक्ष मिले, इतनाही यदि योग का उद्देश है तो लोकों के प्रत्यक्ष जीवन का क्या लाभ है? अतीन्द्रिय और जिसे बुद्धि से ग्रहण नहीं किया जा सकता ऐसे मरणोत्तर जीवन के लिए गीता व भारतीय अन्य शास्त्र खटपट करते हैं ऐसा यदि मान लिया जावे तो फिर प्रत्यक्ष दीखनेवाले जीवन के लिए भगवद्गीता का क्या संदेश है यह सुलझाना कठिन हो जाएगा। परलोक की विवेचना में पडकर ऐहिक जीवन को भुल देना यदि सनातन धर्म का अर्थ है तो भारतीय संस्कृति और समाज इनकी क्या जरूरत है? वस्तुतः इहलोक और परलोक की संगति गीता को मान्य है। समाज का विनाश न हो इस वास्ते कर्मयोग का उपदेश किया गया है।

सुखमीमांसा सनातनधर्मशास्त्र का पाया है

भगवद्गीता के अनुसार ही सर्व सनातन धर्म-शास्त्र समाज के बाह्य और आध्यात्मिक उच्चतर सुख के लिए रचे गए हैं।

ततो धर्मसमायुक्तः स जीवः सुखमेधते ।
इहलोके परे चैव०। (अनु प. १११-२६)

' धर्मात्मा जीव को इस लोक और परलोक में सुख मिलता है। '

अधर्मप्रभवं चैव दुःखयोगं शरीरिणाम् ।
धमार्थप्रभवं चैव सुख संयोगमक्षयम् ॥
(मनु. ६-६४)

' जीवों को अधर्म से दुःख मिलता है और अक्षय सुख धर्म से मिलता है। '

सुखं वाञ्छन्ति सर्वे हि तच्च धर्मसमुद्भवम् ।
तस्माद्धर्मः सदा कार्यः सर्ववर्णैः प्रयत्नतः ॥
(दक्ष. ३)

' सबको सुख की इच्छा है ' सुख धर्म से होता है। अतः सब को धर्मावलम्बन करना चाहिए। '

यदि येनेष्टसिद्धिः स्यादनिष्टाननुबन्धनी ।
तस्य धर्मत्वमुच्यते (श्लो. वार्तिक १-१-२)
अनिष्टाननुबन्धयष्टि साधनत्वं धर्मत्वम् ।

' परिणाम में दुःखकारक न होनेवाले, दुःख से सुख अधिक उत्पन्न करनेवाले कर्मों का नाम धर्म है ' ऐसी व्याख्या मीमांसक नैयायिक और इतर धर्म निबन्धकार करते हैं।

फलतोऽपि च यत्कर्म नानर्थेनानुबध्यते ।
केवलप्रीतिहेतुत्वात्तद्धर्मत्वेन हीष्यते ॥
(श्लो० वा० १-१-२)

' जिस कर्म से कभी भी अनर्थ उत्पन्न नहीं होता और शुद्ध सुख प्राप्त होता है वे कर्म धर्म हैं। '

य एव श्रेयस्करः स एव धर्म शब्देनोच्यते ॥
पू. मी. भा. १-१-१।

सुख और दुःख नाश यह ये सब धर्मों का हेतु है। इह लोक में अर्थात् इस जगत में धर्माचरण से सुख मिलता है ऐसा शांति और अनुशासन पर्व में भीष्म ने बारबार कहा है। अव्यवस्थित समाज से तथा निरंकुश राज्य कारोबार से व्यक्ति को धर्माचरण द्वारा दुःख मिलने का संभव होनेसे शास्त्रकार यह कहकर कि पारलौकिक सुख प्राप्त होगा, आपत्काल में भी धर्माचरण की ओर प्रवृत्त करते हैं।

आम्रे फलार्थे निर्मिते छायागन्धावनूत्पद्येते ।
एवं धर्मं चर्यमाणमर्थकामावनूत्पद्येते ॥
(आप. ध. सू.)

' आम्र वृक्ष लगाने से जिसप्रकार छाया और सुगंध स्वाभाविक प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार धर्माचरण द्वारा अर्थ व काम की प्राप्ति होती है।' समाज की अपूर्णावस्था में धर्माचरण से सदा ही व्यक्तिको सुख मिलेगा ऐसा नहीं। धर्माचरण का संबन्ध केवल वैयक्तिक सुख से नहीं है। कुटुंब, जाति, समाज और प्राणिमात्र की शांति और सुख से धर्म का संबन्ध है। पर धर्माचरण से व्यक्ति के अर्थ और काम सिद्ध होते हैं ऐसा शास्त्रकारों का स्पष्ट कथन है।

धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते ।

' धर्म से अर्थ प्राप्ति और कामना पूर्ति होती है, फिर तुम धर्माचरण क्यों नहीं करते ? ' इसप्रकार के प्रश्न का व्यासने बडी गंभीरता से विचार किया है। वैयक्तिक स्वार्थ अर्थ काम के लिए होते हैं। समाज की पूर्ण स्थिति में व्यक्ति के स्वार्थ और झगडा मिट जाता है। परार्थ ही व्यक्तिका स्वार्थ बन जाता है।

सनातन धर्मशास्त्र केवल परलोकदत्तदृष्टि हुए हुए धर्मानुशासन नहीं करते। समाज के ऐहिक कल्याण में ही व्यक्ति का परमार्थ सिद्ध हो ऐसा भारतीय धर्मशास्त्रों का हेतु है। राजसंस्था जब न्याययुक्त होती है तब समाज में सुख रहता है, लोकों की उन्नति होती है, समाज में कृतयुग का प्रारंभ हो जाता है। समाज स्वर्ग बन जाता है ऐसा महाभारत में भीष्मने और मनुस्मृति में मनुने कहा है। प्रपंच दुःखमय है ऐसा यदि धर्म शास्त्रकारोंका सिद्धान्त है तो राजधर्मों का अनुशासन किस लिए किया है। स्त्री, पुत्र, ये यदि दुःखद होते तो गृह-

स्थाश्रम का विधान धर्मशास्त्रों में न किया जाता। अध्ययन व प्रजा निर्माण विना किए संन्यासाश्रम जो स्वीकारता है उसका अधःपात होता है ऐसा मनुस्मृति में कहा हुआ है ।

अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा प्रजाम् ।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन्व्रजत्यधः ॥
(मनु. ६-३७)

गृहस्थाश्रम कर के थके हुए मनुष्य को संन्यास लेना चाहिए ऐसा मनु का आदेश है। प्रपंच यदि असार हो तो फिर संतति की क्या जरूरत है ? संतुष्ट पतिव्रता स्त्री, आज्ञाकारक पुत्र और न्यायोपार्जित वित्त से गृहस्थाश्रममें आनन्द व कल्याण की वृद्धि होती है ऐसा धर्मशास्त्रका अभिप्राय है। नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनुष्यज्ञातिशास्त्र, सुप्रजननशास्त्र इत्यादियोंका विचार करके चातुर्वर्ण्यव्यवस्था धर्मशास्त्रकारोंने समाज के योगक्षेम को उत्तमतया चलानेके लिए की है। व्यक्तिधर्म, कुटुम्बधर्म, आश्रमधर्म, वर्णधर्म, राजधर्म, साधारणधर्म, मोक्षधर्म, औपासनधर्म, ये सब केवल परलोकके लिए हैं ऐसा एकांगी व दुराग्रही मनुष्यके सिवाय दूसरा कोई भी मानने को तैयार न होगा। प्रपंच के विषयमें ऐकान्तिक दुःखवाद धर्मशास्त्रकारोंको मान्य नहीं है। क्यों कि अधर्म से ही दुःख उत्पन्न होना है ऐसा धर्मशास्त्रकारों का निश्चय है। धर्मकी स्थापनासे ऐश्वर्य और सुख समाजको मिलते हैं ऐसा विश्वास शास्त्रकारोंके हृदयमें बसा हुआ है। जगत् दुःखपूर्ण है ऐसा मान लेनेसे भारतीय धर्मशास्त्रोंकी संगति लगानी दुष्कर हो जाएगी।

सुखवाद सर्व प्रवृत्तियोंका आधार है।

' यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति नासुखं लब्ध्वा करोति सुखमेव लब्ध्वा करोति सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यम् ।' (छां. उ. ७) सुखके लिए मनुष्य प्रवृत्त होता है। सुख न मिलने वा दुःख होनेसे ठहर जाता है, अतएव सुखका ही विचार मुख्यतया करना चाहिए। मनुष्य की सब प्रवृत्तियां सुखप्राप्ति और दुःखनिवारणार्थ होती हैं। जिस कर्म से मनुष्यको दुःख ही अधिक अनुभव होगा, उस कर्म की ओर कोई भी सामान्य मनुष्य प्रवृत्त न होगा। जो लोक आदतन वा इंद्रिय परवश हुए हुए दुःखद विषयकी ओर प्रवृत्त होते हैं उनका या उनके कुटुम्बका अथवा उनकी जाति का उससे नाश होना संभव है। मद्यपान, व्यभिचार इत्यादि दुराचरणों के दुष्परिणामों को जानते हुए, किंबहुना अनुभव करते हुए भी स्वैराचरणी लोग उपरोक्त दुराचरण करने में प्रवृत्त होते हैं। परन्तु उस प्रवृत्ति की जडमें सुखलेशही होता है! जिस व्यक्तिकी भविष्य कालीन अपनी आयुमें चिर सुख वा शांतिलाभकी ओर नजर होगी वह दुराचरण की ओर कभीभी दृष्टिपात नहीं करेगा। जिसका अपनी संतति,जाति अथवा समाजकी ओर लक्ष्य होगा, उस व्यक्ति की संतति, जाति वा समाज निसर्ग में अधिक समयके लिए अपने आपको स्थिर कर सकेगी। संयमी व्यक्तिकी आयु, जाति व समाज आनन्दी तथा विजयी होते हैं। बहुत सी उत्तम कृतियां मनुष्य के हाथसे स्वाभाविक जब होने लगती हैं तो उनका परिणाम सुखद होता है अतः उसे ' सत् ' विशेषण प्राप्त होता है।

व्यक्ति वा समाज के ऐहिक सुख से जिस धर्मशास्त्रका बिलकुल सम्बध न होगा वह धर्मशास्त्र शीघ्रही नष्ट हो जाएगा। समाजमेंसे दुःख कम करके सुख व शान्तिका धीरे धीरे बढाना,जगत से झगडा मिटाना,व्यक्ति वा समाजको अधिक जीवनक्षम,संरक्षणक्षम और पराक्रमी करना व्यक्तिकी,जातिकी व समाजकी सद्गुणोंद्वारा योग्य प्रमाणमें वृद्धि करना ऐसा जिस धर्मशास्त्रका हेतु होगा वह जगत् के व्यवहारों में टिक सकेगा। जिन कर्मों की ऐहिक दृष्टि से कुछ भी सार्थकता नहीं है उन कर्मों का विधायक शास्त्र डूब जाएगा। सनातन धर्मशास्त्र व्यक्ति के अथवा समाज के आधिभौतिक व आध्यात्मिक सुख व शांति के लिए निर्माण हुए हुए हैं। सनातनधर्मशास्त्र समाज के उत्कर्ष के शास्त्र हैं। उनमें कुछ विचार तात्कालिक परिस्थितिके प्रभावसे उत्पन्न हुए हुए हैं और दूसरी परिस्थिति में वे व्यर्थ भी हों तथापि उन धर्मशास्त्रों में कुछ मुख्य सिद्धान्त भारतीय समाज को उत्कर्षप्रदान करनेवाले हैं ही।

सनातन धर्मशास्त्रका उदय वैदिक वाङ्मयसे हुआ। इसकी उन्नति वैदिक आर्योंने की। वैदिक आर्य आनन्दवादी थे। इस धर्मशास्त्र की जडमें ऐकान्तिक दुःखवाद न था, पर धैर्य, उत्साहयुक्त आनन्द था। इन धर्मशास्त्रोंको दुःखवादी व दैववादी लोकोंने मलिन किया। केवल परलोकवादी लोकोंने इन धर्मशास्त्रोंकी कार्यक्षमता नष्ट कर दी। भारतीय धर्मशास्त्र जीवितोंके शास्त्र हैं, यह बात भूल जानेसे अच्छी व बुरी बातोंकी मिलावट उनमें होगई। सनातन धर्मशास्त्र भारतीयोंके यह प्रपंचके सच्छास्त्र हैं। आधिभौतिक व आध्यात्मिक सुखवाद उनका आधार है।

॥ समाप्त ॥

परिशिष्ट।

दुःखमीमांसा व आनन्द मीमांसा की तुलना।

प्रपंच दुःखवाद।

१ अहिंसा ब्रह्मचर्यादिरूप नीतिकी एकांगी स्थापना।

२ समाज में प्रमुख जनोंकी समाज विषय उदासीनता व अर्थविषयक तिरस्कार। अतः सामान्य जनता की प्रपंचमें अनास्था।

३ अधिकार अनधिकार का ख्याल न रखते हुए परा विद्याका प्रसार व उससे अपरा विद्या या भौतिक शास्त्रोंका, औद्योगिक और ललित कलाओंका अपकर्ष। काल्पनिक शब्द जंजालकी वृद्धि।

४ सहिष्णु, अज्ञ, प्रतिकारशून्य, अनुकंपनीय व निष्प्रभ प्रजा उत्पन्न होती है।

५- संन्यासवाद की प्रधानता होती है।

६- मिथ्याचारी तरुण संन्यासियोंकी वृद्धि।

७- मठसंस्थापक कर्मयोगी।

सात्त्विक सुखवाद।

१- प्रपंचपोषक व समाजधारक पूर्ण नीतिकी स्थापना।

२- समाज की आर्थिक व नैतिक धारणा। तज्जन्य सामान्य जनता की प्रापंचिक सुव्यवस्था व चकचकाहट।

३- अधिकारसंपन्न पुरुषोंके हाथमें परा विद्या रहती है।

४- धैर्यशील, जयिष्णु, उदार, उदात्तभावना संपन्न और प्राज्ञ सुप्रजा बढती है।

५- कर्मयोगको विशिष्टता मिलती है।

६- अपवादभूत अधिकारयुक्त तरुण संन्यासी व मनुस्मृत्यनुरूप वृद्ध संन्यासी।

७- कुटुंब, जाति, समाज, राज्य व मठ, इनकी अच्छी प्रकार स्थापना करनेवाले कर्मयोगी।

हिंदूसमाज समर्थ कैसा बनेगा ?

प्रकरण ८। मनोबल विचार।

(लेखक—श्री० पं. महादेवशास्त्री दिवेकर; अनुवादक- पं. भोला नाथराव)

हिंदू जनता को हरएक स्थान में भूत प्रेत ही दिखलाई देते हैं। हिंदूसमाज, भूत प्रेत, डाकिनी इत्यादि से इतना भयभीत है कि इनकी आपत्ति के कारण उसे किसी कार्य के संपादन करने में धैर्य ही नहीं होता। घरमें यदि कहीं अंधेरा हुआ तो वह स्थान छोटे बालकों को झपेटता है। कभी कभी वट-वृक्ष पर रहनेवाला भूत भी आकर इन लोगोंके मस्तकपर सवार होता है। हरएक गांवमें एक न एक भूत तो अवश्य ही होता है जो दुर्बल हिंदू समाजको सदैव डराया करता है। यह भय यहाँ तक बढ गया है कि सीले हुए घरकी किसी कोठरीमें चलने या सोनेके कारण यदि किसी छोटे बच्चेको जुखामका प्रकोप होता है तो उसे भी व्यर्थ कार्यकारण संबंध जोडकर भूतों ही का धावा समझा जाता है और उसे दूर करने के लिये भूत उतारने की राख लगाई जाती है। साधारण खांसी आने पर भी भूत का उतारा किया जाता है। मनुष्य व पशुके बीमार होने पर किंवा कुछ साधारण शारीरिक दुःख होने पर भी भूत ही पर लक्ष जाता है। शोक है! कि वे लोग यह नहीं समझते कि किसी भी रोगका कारण नैसर्गिक अथवा आरोग्य नियमका भंग ही है। हिंदू समाज पर इस विचार सरणीका इतना बुरा प्रभाव पडा है कि यदि किसी स्थानपर चार पांच मनुष्यों ने भूत का रहना सिद्ध कर दिया तो किसी भी हिंदू स्त्री या पुरुषको वहाँ जानेका साहस नहीं होता। बहुतसे ऐसे उदाहरण सुननेमें आते हैं कि इन्हीं भूतप्रेतोंके भयसे किसी ने घर छोड दिया, किसी ने स्त्री त्याग दी और किसी किसी ने तो अपने बाल-बच्चोंको भी छोड दिया है। भूत प्रेतसे त्रस्त हिंदू समाजको मुसलमान, क्रिश्चियन और अंग्रेज लोगों से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। परंतु हिंदूसमाज व्यक्तियों की अच्छी बातोंका अनुकरण नहीं करता चाहे बुरी बातोंका भले ही अनुकरण करते। हिंदुओंके सामने तो सदैव अदृश्य भूत ही नाचा करते हैं।

हम प्रारंभमें ही बतला देना चाहते हैं कि विष्णुशास्त्री चिपळुणकर के 'लोकभ्रम' नामक निबंधानुसार हमारा मत नहीं है। उन्होंने अपने लेख में भूत प्रेत का बिलकुल ही अभाव माना है। संसार में पिशाच योनि अवश्य है पर मनुष्यों को सताना ही उनका ध्येय नहीं है। निसर्ग नियमानुसार भूत प्रेत व्यर्थ ही सांसारिक जनोंको कष्ट नहीं देते। मनुष्यों की अपेक्षा भूतों की संख्या बहुत ही कम है और फिर उन्हें तेंतीस कोटि देवताओं का भय हैं, वे स्वतंत्र नहीं हैं।

पिछले दस वर्षों से भूत प्रेत की संख्या कुछ कम हो रही है। औदुंबर, नृसिंहवाडी, विराडसिद्ध इत्यादि भूतप्रसिद्ध स्थानों में भी इनका अस्तित्व बहुत कुछ घट गया है। पिछले दस वर्षों में भूतों की कल्पना की कमी देखकर हमें यह कहना पडता है कि भूतों का अस्तित्व मनुष्यों के अज्ञान पर ही अवलम्बित होता है। "समय के अनुसार भूतप्रेतों का विचार कम हो रहा है" इसका क्या तात्पर्य है? इससे यही प्रतीत होता है कि कुछ समय पूर्व की भूतों की अज्ञान कल्पना आधुनिक समय में ज्ञानरूप में बदल रही है। सारांश यह है कि अज्ञान में जिसका उदय हुआ उसी का ज्ञान में लय हो गया। बाल्यावस्था में हम लोग बोरघाट रिव्हर्सिंग के संबंध में सुना करते थे कि वह रेल को आगे बढने ही नहीं देता। नरियल फोडकर नमस्कार करने पर भी वह रेल को सामने नहीं जाने देता; परन्तु घूमकर जाने की आज्ञा देता है। इस बात में कितना

तथ्यांश है इसके बतलाने की आवश्यकता नहीं, परंतु भूत प्रेतसंबंधी सैकडों इसी प्रकार की बातें प्रतिदिवस सुनने में आती हैं। यह कहने में अत्युक्ति न होगी कि जब से भारत में रेलों का प्रचार हुआ तब से बहुत से भूत प्रेत भाग गये। और जो कुछ बाकी बचे हैं वे मोटरों के नीचे पडकर मर रहे हैं। जिन मनुष्यों को मृत्यु समय किसी वस्तु की उत्कट वासना होती है उन्हीं को प्रेतयोनि प्राप्त होती है। जब तक वासनाबीज होता है तब तक पुनर्जन्म होता है। बिना वासना के क्षय हुए मोक्ष प्राप्ति नहीं होती। इस शास्त्र के अनुसार यह कहना कितना अनुचित होगा कि सब जीव भूतयोनि में ही जाते हैं? भूतयोनि छोडकर जो दूसरी योनियें हैं उनमें जाने के लिये भी हरएक मनुष्य के संग कुछ न कुछ पापपुण्य अवश्य ही होता है! इसके अनुसार प्रेतयोनि का प्रमाण अल्पस्वरूप में होना चाहिये। इन लोगों में जीवित मनुष्यों को पीडा देने की शक्ति कहां। ये लोग तो अपना कर्म भोगते भोगते भूतयोनि में स्वयं ही शक्तिहीन हो जाते हैं। यदा कदाचित इनमें पीडा देने की शक्ति मानी भी जाय तो यह लोग विना कुछ पूर्व संबंध हुए सर्व साधारण को पीडा नहीं देते। यदि यह लोग सर्व साधारण को त्रस्त करने लगें तो ईश्वर के अस्तित्व से क्या लाभ? जब तक ईश्वर और इतर तेंतीस कोटि देवताओं का न्हास नहीं होता तब तक भूतों का इतना प्रभुत्व कभी भी नहीं हो सकता। संभव है, लाखों में से किसी एक को प्रेत बाधा का क्वचित भास होता हो परन्तु अन्य जो पीडाएं होती हैं उनको भी व्यर्थ ही कार्यकारण संबंध जोडकर प्रेतबाधा के ही अन्तर्गत रखा जाता है।

किसी किसी गांव के निवासी लोग तो अनेक प्रकार से भूत प्रेत की साक्षी दिया करते हैं और उसी गांव के हनुमान, खंडोबा, गणपति इत्यादि देवस्थानों को भूल जाते हैं। आश्चर्य की बात है कि देवताओं की संख्या भूतों की अपेक्षा विशेष होते हुए भी, भूत लोग स्वइच्छानुसार कैसे कार्य कर सकते हैं और देवगण उन्हें ऐसा कब करने देंगे? भूतों का विकास क्या दुर्बलों को कष्ट पहुंचाने के लिये ही हुआ है? ठीक है सबल जातियों पर तो इनका कुछ बल नहीं चलता, दुर्बलों को ही सताने में यह शक्तिशाली होते हैं। डायर ओडायर ऐसे मनुष्योंपर इनका कुछ भी प्रभाव नहीं होता। औरंगजेब ऐसे हिंदुद्वेषी राजाओं को यह भूलकर भी नहीं चपेटता। हिंदुस्तान के भूत तो केवल घर के वृद्ध लोगोंको ही अपना बल दिखाते हैं। हिंदुसमाज को ऐसे लबार भूतों को अपने पास से अलग कर देना चाहिये। अन्य समाजों में भी भूतप्रेतों की कल्पना है परंतु उन समाजों पर इसका कुछ भी बल नहीं चलता। क्या Holy Ghost होने के ही कारण बाइबिल का भूत निरुपद्रवी है? मुसलमानों में भी भूतों की कल्पना है परन्तु उन लोगों ने अपने भूतों को कुत्ते की भांति अन्य समाजों को कष्ट देने के लिये छोड रखा है। मुसलमानों का सब कुछ परकीय समाज पर ही चलता है। उनके भूत हिंदुओं को कष्ट देनेवाले हैं इसी कारण मुसलमानों ने उन भूतों को अपना रखा है। अन्य जातियों की भांति हिन्दू जाति को भी त्रासदायक भूतों की कल्पना को नष्ट कर देना चाहिये। यदि हिंदू समाज के पास कुछ ऐसे दृश्य व अदृश्य भूत हों जो अन्य समाजों पर समयानुसार छोडे जा सकते हों तो उनका अवश्य संग्रह करना चाहिये। ऐसे ही भूतसे संबंध करने पर तुलसीदास को रामचन्द्र के दर्शन हुए। हिंदू समाज के शत्रुओं को संहार करने वाले भूतोंको तो अवश्य ही जीवित रखना चाहिये परन्तु अन्य भूतों को अवश्य ही नष्ट कर देना चाहिये।

ईश्वर को स्मरण कर जो अपना कार्य प्रारम्भ करता है उसे प्रेतबाधा कभी नहीं होती। धर्मप्रमाण निर्धारित तत्वों के अनुसार चलने से प्रेतों का प्रभाव नहीं पडता। जो मनुष्य कर्तव्य का विचार करके अखिल मानव समूह के भलाई के लिये कार्य करता है उसे भूत कभी नहीं पकडते। परन्तु जहाँ तक उनसे हो सकता है सहायता ही करते हैं। हिंदुस्तान में मृत भूतों की अपेक्षा जीवित भूतही बहुत हैं जो कि हिन्दू समाज को नष्ट भ्रष्ट करने में लगे हुए हैं। ऐसी अवस्था में अन्य मृत भूतों का

आवश्यकता नहीं। सारांश यह है कि कर्तव्यबाधक कल्पनाओं को छोडकर उद्योग ही में लगना चाहिये।

हमने पिछले ६ प्रकरणों में मनोबल का विचार किया। हिंदूसमाज में जब मानसिक बल उत्पन्न होगा तभी शरीरबल बढेगा और तभी समाज उत्साहपूर्वक अग्रसर होगा। हिंदू समाज को समाजबल, समष्टिधर्म तथा उसका उपयोग किस प्रकार करना चाहिये, इसका विवेचन ग्रंथ के उत्तरार्ध में किया गया है।

हिंदूसमाज समर्थ कैसे होगा ?

उत्तरार्ध.

प्रकरण नवाँ — समाजबलविचार

समष्टि धर्म।

हिंदूसमाज समर्थ कैसे होगा ? इसी प्रश्न का विचार करते हुए हमनें यह ग्रंथ प्रारम्भ किया था। पहले प्रकरणमें विचारों की भूमिका दी गई तदनंतर दूसरे प्रकरण में शरीरबल बढाने का उपाय बतलाया गया। तीसरे प्रकरण से मनोबल पर कुछ विचार किया गया। ' जिज्ञासानाशक वेदान्त ' इस प्रकरण से ' अवास्तव व अशास्त्रीय भूत प्रेत ' प्रकरण पर्यंत प्रमुख प्रमुख ५,६ प्रकार के विचार आठवें प्रकरण तक लिखे गये। हिंदूसमाज में मनोदौर्बल्य किन किन कारणों से आया और उनको दूर करके उसकी मानसिक उन्नति किस प्रकार हो सकती है, इसका निरूपण करके पूर्वार्ध की समाप्ति की गई।

हिंदूसमाज को सामर्थ्यवान बनाने केलिये जिस प्रकार शरीरबल व मनोबलकी आवश्यकता है उसी प्रकार उसे उन्नति के शिखर पर पहुंचाने के लिये समाजबल की भी महान आवश्यकता है। समाजबल उत्पन्न करने के लिये पहिले समाज के मानसिक उन्नति की आवश्यकता होती है। मानसिक प्रबलता होनेपर समष्टि का प्रतिपालन आप ही आप होने लगता है। पुस्तक के उत्तरार्ध में समाजबल बढाने के लिये विशेष कर समष्टि धर्म का ही निरूपण करना है। इस प्रकरण में समष्टि धर्म के प्रमुख प्रमुख तत्वों का निरूपण किया जायगा। समष्टि धर्म को समझने के लिये हमने पूर्वार्ध ही में हिंदुओं के मानसिक दुर्बलताओं को हटाने की तैयारी कर ली है ऐसा समझकर हम अपने प्रस्तुत विषय की ओर चलते हैं।

हिंदू समाज के भावी राष्ट्रीय जीवन को समष्टि धर्म की महान आवश्यकता है। हिंदू समाज जितना व्यष्टि धर्म में उत्साह दिखलाता है उतना समष्टि धर्म में नहीं दिखलाता। व्यक्ति की उन्नति मोक्ष, सुख, नीतिमत्ता इत्यादि व्यवहारों में हिंदूसमाज इतर समाजों की अपेक्षा एक डिगरी बढा हुआ ही होगा। अब हिंदू समाज के व्यष्टि धर्म का श्रेष्ठत्व समष्टिधर्म में परिवर्तित होना चाहिये। इतर समाजों में जो ऐकता व सहयोग और सामुदायिक आस्था दृष्टिगोचर होती है उसका कारण उनके समष्टि धर्म की विशिष्टता ही है। उत्साह, उद्योग, आस्था व Decipline से जो समाज पूर्ण होता है वह समाज अवश्य ही वर्धिष्णु व जयिष्णु होता है और यह गुण यदि समाजमें न हुए तो वह शनैः शनैः सहिष्णु बनकर मृत्युपंथ में जा पडता है।

हिंदू समाज में समष्टि धर्म घातक वर्णसंस्था का अस्तित्व जिस समय था उस समय था। परन्तु आधुनिक समय में वर्णसंस्था बिलकुल ही नहीं है। उनमें बहुत अन्तर हो गया है इस कारण हिंदूसमाज जातिद्वारा ही पहचाना जा सकता है। भिन्न भिन्न जाति के जो लोग हिन्दूसमाज में सम्मिलित हैं उनको यह बतला कर कि हम सब लोग हिंदू हैं, समाज हमारा है, हिन्दुस्तान देश हमारा है, समष्टि धर्म की शिक्षा देनी चाहिये। अर्थात् समाज में यह बात भली भांति विदित हो जानी चाहिये कि व्यक्ति और समष्टि धर्म में एक दूसरे से महान अन्तर है। प्रत्येक हिंदूको ' समुदाय ' इस दृष्टिसे यह समझना जरूरी है कि अमुक समाज के प्रतिपालक, उसके अमुक श्रेष्ठतत्व, उसकी विशिष्ट संस्कृति, धर्म, राजकारण, उद्योग, व्यवहार इत्यादि क्षेत्रों में हमें अमुक पद्धति से ही चलना है।

समाज में सामुदायिक बल बढाने के लिये कुछ नियमों का पालन करना पडता है। हिंदूसमाज में शिथिलता आ जाने के कारण उसमें कोई भी ऐसे नियम नहीं बचे हैं जिसे समाजबल की वृद्धि हो। समाजबलवृद्धि के लिये समाज को श्रद्धेय दो चार ध्येय होना ही चाहिये और समाज का द्वेष्य भी एक होना चाहिये। जिस समाज में द्वेष्य ध्येय होता है उसमें प्रतिकार शक्ति, सावधानता, और दूरदर्शिता इन गुणों की वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त जिस समाज का श्रद्धेय ध्येय होता है उसमें प्रेम, ऐक्य तथा सहकार्य इन गुणों की वृद्धि होती है। हिंदू समाज अत्यंत उदार है ऐसा तत्वज्ञान प्रचलित होने के कारण उसे श्रद्धेय व द्वेष्य कुछ भी नहीं है किंवा उसके लिये सर्व द्वेष्य और सर्व श्रद्धेय है ऐसी स्थिति हो गई है। जब समाज समर्थ होता है, जयिष्णु होता है तब यदि उसमें श्रद्धेय या द्वेष्य कुछ भी न हो तो भी वह किंचित कालपर्यंत चल सकता है;परंतु दुर्बल समाज भी यदि आडम्बरपूर्ण विश्वबंधुत्व, तत्वज्ञान व औदार्य की शेखी मारने लगा तो उसे नष्ट भ्रष्ट होने के सिवाय और कोई गति नहीं है। हिंदूसमाज झूंठी उदारता व अक्षम्य औदासीन्यताके कारण ही नाश हो रहा है। उसे मृत्युमुख से बचाने के लिये उत्कट समाज धर्म का प्रचार करना बहुत जरूरी है तथा समाज बंधुत्व से उसे जीवित रखने की शिक्षा देना भी महान आवश्यक है।

हिंदू समाज का घटक जाति रूपसे है। जाति संस्था का मुख्य व्यवहार रोटी व बेटी से ही होता है। यद्यपि मानव समुदाय में रोटी बेटी के व्यवहार के कारण कुछ गुण हैं परंतु उन में भी नवीन शिक्षण के प्रभाव के कारण अत्यंत शिथिलता आगई है। व्यक्तिस्वतंत्रता का विचार इतना बढ गया है कि वह कुटुंब, जाति व समाज व्यवहारमें भी बाधक हो रहा है। प्रत्येक व्यक्ति के अलग अलग संन्यस्त, स्वतंत्र किंवा व्यक्तिगत बन जाने के कारण समाजबल उत्पन्न होनेका अवसर ही नहीं मिलता। समाजबलवर्धक समष्टि धर्म के कुछ तत्वों का विवेचन हम यहाँ करते हैं परन्तु उतना ही पर्याप्त है, यह हम नहीं कह सकते। इस छोटी सी पुस्तक में इतने गहन विषय का पूर्ण रूपसे विवेचन होना कठिन है; परंतु हमारे विचारों का उपयोग यदि केवल मार्गदर्शक का भी हुआ तो भी विशेष कार्य सफल होगा। वैयक्तिक और सामुदायिक धर्म के मर्म को समझने की जब आवश्यकता होती है तभी मनुष्य में पात्रता का संचार होता है। जब पात्रता की वृद्धि होने लगती है तभी समष्टि धर्म में अंतर्धान होने की इच्छा होती है और व्यष्टि धर्म का आग्रह स्वयं ही कम हो जाता है। कोई भी वस्तु जब तराजू के पल्ले के सदृश बराबर होती है तभी वह स्थिर रहती है यदि उसमें किसी पलडे में किंचित मात्र भी कमी हुई कि पलडा एक ओर को झुक जाता है। व्यष्टि धर्म के पलडे में कमी करके और समष्टि धर्मका तरण भली भांति खींचा जायगा तभी हिंदू समाज के बल की वृद्धि होगी।

"समष्टि धर्म का पहला तत्व यह है कि, " गीता ग्रंथ ही समस्त हिंदूतत्वज्ञान का मुख्य ग्रंथ है "। इस ग्रंथ पर प्रत्येक हिंदूमात्रका अधिकार है। गीता, कथित कर्मयोग अर्थात् ' राजर्षिकी परंपरा " के सिद्धांत को ही सर्व हिंदूमात्र को बतलाना चाहिये। समाज में प्रत्येक अवसर विशेष पर हिंदुओं को गीता का ही पुरस्कार व प्रचार करना चाहिये। कारण कि प्रत्येक हिंदू को यह जान लेना अत्यावश्यक है कि हिंदूसमाज का कल्याण गीता ग्रंथ में कहे हुए तत्वज्ञान द्वारा ही होगा और यदि हींदुओं के मन में इस प्रकार की भावना न हो तो इस शिक्षा का प्रचार करना चाहिये। यद्यपि हिंदूसमाज में शैव, वैष्णव, गाणपत्य, शाक्त, द्वैती, अद्वैती, विशिष्टाद्वैती, वारकरी, धारकरी, समर्थसंप्रदायी, नाथसंप्रदायी, दत्तसंप्रदायी इत्यादि विविध सांप्रदायिक लोग हैं तो भी इन लोगों को चाहिये कि अपने देवता, ग्रंथ व संप्रदाय को अपने कार्यानुसार अपने घर ही में रक्खें। समाज में अपने वैयक्तिक आग्रह को प्रकट करने से दूसरे लोग भी अपने अपने अलग अलग धर्म का आग्रह दिखलाने लगते हैं और ऐसी अवस्था में विग्रह होने की संभावना रहती है। अपने अपने घर में प्रत्येक मनुष्य देव, धर्म

पंथ इत्यादि बातों में स्वतंत्र है परंतु घर के बाहर समाजोपयोगी धर्म का ही विस्तार होना चाहिये। सामाजिक हित के लिये प्रत्येक व्यक्ति को निज इच्छा तथा निज इष्टित को क्षणभर एक ओर रखकर समाज की कल्याणपोषक बातों को ही आत्मसात करना चाहिये। महाभारत, रामायण, भागवत, उपनिषद्, ज्ञानेश्वरी, दासबोध, गाथा, गुरुचरित्र, शिवलीलामृत इत्यादि ग्रंथ बहुजनसमुदाय को अच्छे प्रतीत होंगे और हैं भी। इन ग्रंथों का हम अनादर करते हैं यह बात नहीं। यद्यपि इन सब ग्रंथों में बहुमूल्य तत्वसंपत्ति व सिद्धांतसंपत्ति है तो भी समाजदृष्टिसे " गीता गीता " ऐसी घोषणा ही प्रत्येक हिंदू के मुख से होनी चाहिये। गीता धर्म और गीता शास्त्रका अभिमान होना अत्यावश्यक है। प्रतिदिवस गीता का एक आधा श्लोक पढना, उस पर विचार करना, नित्य स्नानोत्तर गीता पाठ करना प्रत्येक हिंदू का धर्म है। इसकी उत्पत्ति साक्षात ईश्वरके मुखसे प्रश्नोत्तर रूपमें है। स्पृश्य, अस्पृश्य, ब्राह्मण, अब्राह्मण, स्त्री, पुरुष, बाल, वृद्ध इन सब लोगों को गीता पढने का अधिकार है। हिंदूओंमें ऐसी अभिनिविष्ट बुद्धिका आना बहुत आवश्यक है कि गीता कथित भक्ति, तत्वज्ञान व कर्मयोग अति उत्कृष्ट है, इस कारण संसार को उसकी शिक्षा देनेका हिंदुओंको जन्मसिद्ध अधिकार है। किसी बिरले ग्रंथको ही इतनी पूज्यता, आग्रहता व अभिनिविष्टता दी जाती है। प्रत्येक ग्रंथका इतना आदर होना असंभव है और न इष्ट है, न आवश्यकता है। सारांश यह है कि समष्टि धर्म का पहिला तत्व यही है कि गीता ही एक ऐसी पुस्तक है जो कि सर्व तत्वज्ञानों की अनोखी पुस्तक है और प्रत्येक हिंदू को उसका प्रचार करना अपना मुख्य धर्म समझना चाहिये। बाइबिलके अनुसार गीता की पुस्तकें भी विनामूल्य ही वितरण करनी चाहिये। घर घरमें गीताका प्रचार होना चाहिये और अत्यंत गिरे हुए किंवा छोटीसे छोटी जातिको-नहीं-अर्भकों को- छोटे बच्चोंको भी, गीता यह हमारा ग्रंथ है, मैं हिंदू हूँ, गीता हमारी संपत्ति है, निधान है ऐसा विचार करना चाहिये। गीता ही सर्व हिंदुओंके तत्वज्ञान का ग्रंथ है इसका क्या प्रमाण है, इसका विवेचन हमारी एक स्वतंत्र पुस्तक (हिंदूसमाजके पुनर्घटन की चतुःसूत्री) में किया गया है; इस कारण इस बात पर हम यहाँ विचार नहीं करते हैं।

समष्टि धर्म का दूसरा तत्व यह है कि सर्व हिंदूओंको उपनयन, विवाह और अंत्येष्टि यह तीन संस्कार हिंदुत्वदर्शक समझना चाहिये कारण कि हिंदुत्व, यह संस्कारांकित है। हिंदुओंके यह सर्व संस्कार वेदमंत्रों द्वारा होने चाहिये व संस्कार जिनके हों उन्हीं को करना चाहिये। विशेष क्या Helper कहकर तज्ञसे मदत लेना चाहिये। किसी को मध्यस्थ बनाने की आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक हिंदूका हिंदुत्वनिदर्शक संस्कार वेदमंत्रों ही द्वारा होना अत्यावश्यक है। इन संस्कारों को करने की सामाजिक स्वतंत्रता प्रत्येक हिंदूको है। वेद पढनेका अधिकार सबको है। वेदके अत्युत्कृष्ट वाङ्मय होने के कारण उस जागतिक संपत्ति पर सर्व साधारण का समान अधिकार है। परन्तु हिंदुओंके बाप दादोंने पूर्व काल में वेदोपासना की है इस कारण उन्हें तो वेदमंत्रयुक्त संस्कार करने की पात्रता सहज ही प्राप्त होती है। इसी कारण हमारा कहना है कि सर्व हिंदूवर्गको उदार और पवित्र भावना द्वारा संस्कार के समय वेद मंत्रोंका उपयोग करना ही चाहिये। अब हमें इस बात पर विशेष कुछ नहीं कहना है कि वेद मंत्रों का उपयोग करने का किसको अधिकार है और किसको नहीं। इसी अधिकार और अनधिकार के बातों से ही संस्कारमें शिथिलता आगई है। Baptism, सुन्नत विधि अर्थात् किसी विशेष विधि से यदि मनुष्य क्रिश्चियन और मुसलमान बन जाता है तो क्या अन्य जातिका मनुष्य हमारे वेदविहित संस्कारोंसे हिंदू नहीं बन सकता ? हिंदूधर्ममें जन्म लेनेसे मनुष्य आजन्म हिंदू ही रहता है। कुछ भी हो, वह कुछ भी करे, वह कभी भी अहिंदु नहीं होता; मोक्षपर्यंत तक वह हिंदू ही रहता है इसमें कोई भी संशय नहीं। तथापि हिंदुत्व दृढी करणार्थ समष्टि धर्म के अनुसार उपर कहे हुए संस्कारों को कार्य में अवश्य

लाना चाहिये । संस्कार, यह एक विधि है, एक प्रायश्चित्त है। मनः समाधानार्थ और धर्म का विशिष्ट चिन्ह होनेके कारण उसकी महान आवश्यकता है। प्रत्येक धर्म व समाज को थोडे बहुत आचार की आवश्यकता होती ही है। प्रत्येक समाज अन्य समाज के सन्मुख अपना भिन्नत्व व व्यावृत्ति किसी विशेष चिन्ह द्वारा हो दिखलाता है। हिंदुत्व निदर्शक कुछ चिन्हें संस्कार रूपसे ही हिंदुओं के मन में भरनी चाहिये। आधुनिक समय में भी किन्हीं किन्हीं जातियों के संस्कारमें धर्म की अपेक्षा लौकिक व्यवहार का भाग ही विशेष रहता है यास्तव शास्त्राशुद्ध संस्कार होना चाहिये, उस प्रसंग का गंभीर्य समझकर होना चाहिये। संस्कारों में धर्मभावना है, पवित्रताका चिन्ह है इस कारण उनकी रक्षा करना बहुत जरूरी है। संस्कार, यह एक नाटक सदृश है ऐसी कल्पना करना महान अनिष्टकारक है। प्रत्येक हिंदू को आस्तिकवादी होना चाहिये, ईश्वरपर उसका दृढ विश्वास होना चाहिये, उस विश्वास का द्योतक कहकर उनको समष्टि धर्म के प्रत्येक आचारको अत्यंत श्रद्धासे पालन करना चाहिये व अपने पास पडोसियोंसे भी पालन करवाना चाहिये। विद्या प्रारंभ करने से प्रथम बालक व बालिकाओंका उपनयन उर्फ विद्यारंभ संस्कार पवित्र भावनासे करके विद्यारंभ करानी चाहिये और उस समम विद्यार्थी धर्मका उपदेश देना चाहिये। विवाहविधि यह इहलोककी पवित्रतम विधि है इस कारण विवाहसे प्रथम उसका महत्व तथा उस विधिके वेद मंत्रों का अर्थ वर-वधूको भली भांति समज लेना चाहिये। मृतात्माका अभिष्ट चिंतन सद्गति लाभ और पुनः हिंदूसमाजमें ही जन्म हो इस लिये अंत्येष्टि संस्कार भी अवश्य ही होना चाहिये। यह सर्व संस्कार का इतिहास हम सार्थ क्रमसे प्रसिद्ध करने ही वाले हैं तथापि उपनयन संस्कार यह हमारी पुस्तक "हिंदू-समाज के पुनर्घटन की चतुःसूत्री" में भली भांति बतलाया गया है।

समष्टि धर्म के अनुसार हिंदुसमाजान्तर्गत सर्व जातियें हिंदू समाज के धारण पोषण की दृष्टि से एकही प्रकार की योग्यता रखती है। (जिस प्रकार जन्म ही से कोई व्यक्ति उच्च व नीच नहीं होता उसी प्रकार वह स्पृश्य और अस्पृश्य भी नहीं होता। यह समष्टि धर्म का तीसरा तत्व है।) जन्म से प्रत्येक मनुष्य एक ही समान है। प्रत्येक जाति भी एक ही सदृश है। हरएक मनुष्य का मूल्य उसकी विद्या, शील, कर्तृत्व और संपत्ति पर ही निर्धारित रहता है। यही गुण हैं जो मनुष्य को श्रेष्ठ बनाते हैं व इनके अभाव से वह अश्रेष्ठ बन जाता है। हिंदूसमाज में अनेक जातियें हैं। उनमें शैक्षणिक, सांस्कृतिक, व आचार विषयक बहुतसे भेद हैं परंतु अनेक कारणों से वे अब शनैः शनैः घट रहे हैं। हम सब लोग हिंदू है, हिंदू की प्रजा हैं, यही ज्ञान समष्टि धर्म की दृष्टि से समाज को मिलना चाहिये। जन्म ही से उच्च नीच पन की जो कल्पना हिंदू समाज में भरी हुई है उसे एकबार ही हटा देना अत्यंत कठिन है; तथापि प्रत्येक व्यक्ति अपने घर में स्वतः को जितना उच्च समझता हो समझता रहे; परंतु उसे अपने उन विचारों को घर के बाहर समाज में प्रकट करने का अधिकार नहीं। हिंदू शब्द के अंतर्गत सर्व जातियों को-नहीं- प्रत्येक मनुष्य को- अपने पूर्वजों के तप, विद्या, उद्योग, शोध, पराक्रम, कर्तृत्व, व्यापार, सेवा इत्यादि गुणों का स्मरण करके उनके अनुसार चलने का अधिकार है। उन प्रयत्नों को पूर्व स्मरण की स्फूर्ति मिलना ही चाहिये और इसी कारण घरके प्रत्येक मनुष्य को स्वजाति, वर्ण व कुल का स्मरण रखना ही चाहिये। परंतु वह स्वतः की उन्नति का साधन ही मान कर, घरके बाहर वह विचार समाजोन्नति को बाधक है इससे उसका प्रचार समाज में नहीं करना चाहिये।

(क्रमशः)

विजयकी प्राप्ति ।

[३]

(ऋषिः– बृहद्दिवोऽथर्वा । देवता–अग्निः । विश्वे देवाः)

ममा॑ग्ने॒ वर्चो॑ विह॒वेष्व॑स्तु व॒यं त्वेन्धा॑नास्त॒न्वं॑ पुषेम ।
मह्यं॑ नमन्तां प्र॒दिश॒श्चत॑स्र॒स्त्वयाध्य॑क्षेण॒ पृत॑ना जयेम ॥ १ ॥
अग्ने॑ म॒न्युं प्र॑तिनु॒दन् परे॑षां॒ त्वं नो॑ गो॒पाः परि॑ पाहि वि॒श्वतः॑ ।
अपा॑ञ्चो यन्तु नि॒वता॑ दुर॒स्यवो॒ मैषां॑ चि॒त्तं प्र॒बुधां॒ वि नेशत् ॥ २ ॥

अर्थ—हे अग्ने ! (विहवेषु मम वर्चः अस्तु) सब युद्धोंमें मेरा तेज प्रकाशित होवे । (वयं त्वा इन्धानाः तन्वं पुषेम) हम तुझे प्रदीप्त करते हुए अपने शरीरको पुष्ट बनावें । (चतस्रः प्रदिशः मह्यं नमन्तां) चारों दिशाएं मेरे सन्मुख नमें । (त्वया अध्यक्षेण पृतनाः जयेम) तुझ अध्यक्षके साथ रहकर संग्रामोंमें विजय प्राप्त करें ॥ १ ॥

हे अग्ने ! (परेषां मन्युं प्रतिनुदन्) शत्रुओंके क्रोधको दूर करता हुआ (त्वं गोपाः सन्) तू रक्षक होकर (नः विश्वतः परिपाहि) हमारा सब ओरसे पालन कर । (दुरस्यवः पराञ्चः निवताः यन्तु) दुःखदायी दूर हटाने योग्य नीच लोग दूर चलें । (एषां प्रबुधां चित्तं अमा विनेशत्) ये दुष्ट प्रबुद्ध हुए तो भी उनका चित्त साथ साथ ही नष्ट हो जावे ॥ २ ॥

भावार्थ—हे ईश्वर ! सब प्रकारकी स्पर्धाओंमें मेरा तेज प्रकाशित होवे । तुझे अपने अंदर प्रकाशित करके हम अपने शरीरको पुष्ट और बलवान करेंगे। मेरे सन्मुख सब दिशा उपदिशाओंमें रहनेवाले लोग नम्र हों । तेरी अध्यक्षतामें हम सब प्रकारकी स्पर्धाओंमें विजयी होंगे ॥ १ ॥

हे देव ! शत्रुओंका क्रोध दूर करके तू हमारी सब प्रकारसे रक्षा कर । दुःख देनेवाले नीच लोग हमसे दूर हो जांय । यदि वे शत्रु बुद्धिमान हों तो उनकी दुष्ट बुद्धी भी साथ साथ ही नष्ट हो जावे ॥ २ ॥

मम॑ दे॒वा वि॑ह॒वे स॑न्तु॒ सर्व॒ इन्द्र॑वन्तो म॒रुतो॒ विष्णु॑र॒ग्निः ।
मम॒न्तरि॑क्षमु॒रुलो॑कमस्तु॒ मह्यं॒ वातः॑ पवतां॒ कामा॑या॒स्मै ॥ ३ ॥
मह्यं॑ यजन्तां॒ मम॒ यानी॒ष्टाकू॑तिः स॒त्या मन॑सो मे अस्तु ।
एनो॒ मा नि गां॑ कत॒मच्च॒नाहं विश्वे॑ दे॒वा अ॒भि र॑क्षन्तु मे॒ह ॥ ४ ॥
मयि॑ दे॒वा द्रवि॑ण॒मा य॑जन्तां॒ मय्या॒शीर॑स्तु॒ मयि॑ दे॒वहू॑तिः ।
दै॒वा होता॑रः सनिषन्न ए॒तदरि॑ष्टाः स्याम त॒न्वा॑ सु॒वीराः॑ ॥ ५ ॥

अर्थ-(सर्वे देवाः इन्द्रवन्तः मरुतः विष्णुः अग्निः) सब देव अर्थात् इन्द्रके साथ मरुत् विष्णु और अग्नि (विहवे मम सन्तु) युद्धमें मेरे पक्षमें हों। (मम अन्तरिक्षं ऊरुलोकं अस्तु) मेरा अन्तरिक्ष विशेष स्थानवाला होवे। (वातः मह्यं अस्मै कामाय प्रवतां) वायु मेरे लिये इस कार्यके लिये वहता रहे ॥ ३ ॥

(मम यानि इष्टा मह्यं यजन्तां) मेरे जो अभीष्ट हैं वे मुझे प्राप्त हों। (मे मनसः आकूतिः सत्या अस्तु) मेरे मनका सङ्कल्प सत्य होवे। (अहं कतमच्चन एनः मा नि गां) मैं किसीभी प्रकारके पापको न करूं। (विश्वे देवाः इह मा अभिरक्षन्तु) सब देव यहां मेरी रक्षा करें ॥ ४ ॥

(देवाः मयि द्रविणं आयजन्तां) देव मेरे लिये धन देवें। (मयि आशीः, मयि देवहूतिः अस्तु) मुझ में आशीर्वाद और मुझमें देवताओंको पुकारनेकी शक्ति रहे। (दैवा होतारः नः एतत् सनिषन्) दिव्य होतागण हमें यह देवें। हम (तन्वा अरिष्टाः सुवीराः स्याम) अपने शरीरसे नीरोग और उत्तम वीर बनें ॥ ५ ॥

भावार्थ-सब देवोंकी सहायता हमें स्पर्धाके समय प्राप्त हो। इन्द्र, विष्णु, अग्नि, मरुत तथा अन्यान्य देव हमें सहायक हों। मेरा अन्तःकरण बहुत विशाल हो, तथा वायु आदि देव हमारी आवश्यकताके अनुकूल चलें॥३॥ मेरी सब कामनाएं पूर्णतया सिद्ध हों। मेरे मनके सङ्कल्प सत्य हों। मेरेसे कोई पापकर्म न हो। और मेरी रक्षा सब देव करें ॥ ४ ॥ सब देव मुझे धन्य बनावें, उनका आशीर्वाद मेरे ऊपर हो, देवोंकी उपासना करनेकी निष्ठा मेरे मनमें स्थिर हो। यह निष्ठा देवोंकी कृपासे हमें प्राप्त हो। हम अपने शरीरोंसे नीरोग और स्वस्थ होते हुए उत्तम वीर बनें ॥ ५ ॥

दैवीः षडुर्वीरुरु नः कृणोत विश्वे देवास इह मादयध्वम् ।
मा नो विददभिभा मो अशस्तिर्मा नो विदद् वृजिना द्वेष्या या ॥ ६ ॥
तिस्रो देवीर्महि नः शर्म यच्छत प्रजायै नस्तन्वे ३ यच्च पुष्टम् ।
मा हास्महि प्रजया मा तनूभिर्मा रधाम द्विषते सोम राजन् ॥ ७ ॥
उरुव्यचा नो महिषः शर्म यच्छत्वस्मिन् हवे पुरुहूतः पुरुक्षु ।
स नः प्रजायै हर्यश्व मृडेन्द्र मा नो रीरिषो मा परा दाः ॥ ८ ॥

अर्थ- (दैवीः षट् ऊर्वीः) ये दिव्य छः बडी दिशाओं! (नः उरु कृणोत) हमारे लिये विशाल स्थान करो। हे (विश्वे देवासः) सब देवो! (इह मादयध्वं) यहां हमें आनंदित करो। (अभिभाः नः मा विदत्) निस्तेजता हमें न प्राप्त हो। (अशस्तिः मा उ) अकीर्ति न आवे, (या द्वेष्या वृजिना नः मा विदत्) जो द्वेष करने योग्य पाप हैं वे हमारे पास न आजावें ॥ ६ ॥

हे (तिस्रः देवीः) तीन देवियो! (नः महि शर्म यच्छत) हमें बडा सुख प्रदान करो। (यत् च पुष्टं नः तन्वे प्रजायै) जो कुछ पोषक पदार्थ हैं वे हमारे शरीरके लिये और प्रजा के लिये दो। (प्रजया मा हास्महि) हम संततिसे हीन न हों और (मा तनूभिः) शरीरभी कृश न हो। हे (राजन् सोम) राजा सोम! (द्विषते मा रधाम) शत्रुके कारण हम पीडित न हों ॥ ७ ॥

(ऊरुव्यचाः पुरुहूतः महिषः अस्मिन् हवे नः पुरुक्षु शर्म यच्छतु) विशाल शक्तिवाला प्रशंसित देव इस यज्ञमें हमें बहुत अन्नयुक्त सुख देवे। हे (हर्यश्व इन्द्र) रसहरणशील किरणवाले देव! हे प्रभो! (नः प्रजायै मृड) हमारी प्रजाके लिये सुख दो। (नः मा रीरिषः) हमारा नाश न कर। (मा परादाः) हमें मत त्याग ॥ ८ ॥

भावार्थ-दिव्य दिशायें हमारे लिये विस्तृत स्थान देवें। सब देव हमें आनन्दित करें। निस्तेजता, अकीर्ति तथा घृणित पातक हमसे दूर हों ॥६॥ तीन देवियां हमें बडा सुख देवें। हमारा शरीर और हमारी प्रजा पुष्टिको प्राप्त हो। हमारी प्रजा और शरीर नष्ट न हों और शत्रुतासे हम पीडित न हों ॥७॥ विशाल शक्तिवाला ईश्वर हमें उत्तम सुख देवे। हमारी प्रजा सुखी हो, कभी हमारा नाश न हो और हम कभी विभक्त न हों ॥ ८ ॥

*

धाता विधाता भुवनस्य यस्पतिर्देवः सविताभिमातिषाहः ।
आदित्या रुद्रा अश्विनोभा देवाः पान्तु यजमानं निर्ऋथात् ॥ ९ ॥
ये नः सपत्ना अप ते भवन्त्विन्द्राग्निभ्यामव बाधामह एनान् ।
आदित्या रुद्रा उपरिस्पृशो न उग्रं चेत्तारमधिराजमक्रत ॥ १० ॥
अर्वाञ्चमिन्द्रममुतो हवामहे यो गोजिद् धनजिदश्वजिद् यः ।
इमं नो यज्ञं विहवे शृणोत्वस्माकमभूर्हर्यश्व मेदी ॥ ११ ॥

अर्थ-(धाता विधाता) धारक और निर्माण करनेवाला, (यः भुवनस्य पतिः अभिमातिषाहः सविता देवः) जो भुवन का पालक सञ्चालक घमंडी शत्रुको जीतनेवाला देव है, (आदित्याः रुद्राः) आदित्य और रुद्र, तथा (उभा अश्विना) दोनों अश्विनीकुमार ये सब देव (निर्ऋथात् यजमानं पान्तु) विनाशसे यजमानको बचावें ॥ ९ ॥

(ये नः सपत्नाः ते अप भवन्तु) जो हमारे वैरी हैं वे दूर हो जावें, (इन्द्राग्निभ्यां एनान् अव बाधामहे) इन्द्र और अग्निकी सहायतासे इनको हम प्रतिबन्ध करते हैं। (आदित्याः रुद्राः उपरिस्पृशः) आदित्य, रुद्र, और ऊपरके स्थानको स्पर्श करनेवाले सब देव (नः उग्रं चेत्तारं अधिराजं अक्रत) हमारे लिये उग्र चेतना देनेवाले मुख्य अधिराजको बनाते हैं ॥ १० ॥

(यः गोजित्, धनजित् यः अश्वजित्) जो गौ, धन और घोडोंको जीतनेवाला है उस (अर्वाञ्चं इन्द्रं अमुतः हवामहे) हमारे पासवाले इन्द्रकी वहांसे स्तुति करते हैं। (नः विहवे इमं यज्ञं शृणोतु) विशेष स्पर्धा में किये हमारे इस यज्ञको सुनें। हे (हर्यश्व) रसहरणशील किरणवाले देव! (अस्माकं मेदी अभूः) तू हमारा स्नेही हो ॥ ११ ॥

भावार्थ-ईश्वर तथा सविता आदि सब अन्य देव हमें पापसे बचावें ॥९॥

जो हमारे वैरी हैं वे हमसे दूर हों, इसलिये शत्रुओंको हम रोकते हैं। तथा आदित्य आदि सब देव हमारे लिये उत्तम तेजस्वी और बुद्धिमान ऐसा राजा दें ॥ ११ ॥

जो गौ, घोडे, आदि विविध धनोंको देनेवाला है, उस प्रभु की हम अपने अन्तःकरणसे स्तुति करते हैं। हे प्रभो! यह हमारी प्रार्थना सुनकर हरएक स्पर्धामें हमारी सहायता कर और हमारा स्नेही बन ॥ ११ ॥

अपने विजय की प्रार्थना ।

इस सूक्तमें अपने विजयके लिये ईश्वरकी शक्ति प्राप्त करनेकी इच्छा प्रकट की है। मनुष्य प्रायः हरएक समय किसी न किसी स्पर्धामें लगा रहता है। यह जीवन ही एक प्रकारकी स्पर्धा है। इस स्पर्धामें विजय प्राप्त करनेकी इच्छा हरएक मनुष्यमें रहती है, परंतु उस विजय को प्राप्त करनेके लिये किस प्रकार मनमें विचार धारण करने चाहिये, बुद्धिमें कौनसे संकल्प स्थिर करने चाहिये, और शरीरसे कौनसे कर्म करने चाहिये, इसका विचार मनुष्य नहीं करता। मन बुद्धि चित्त आदि अन्तःशक्तियोंके तथा शरीरादि बाह्य शक्तियोंके उत्तम सहकार्य और उत्तम प्रभावसे ही मनुष्यका विजय हो सकता है। इससे स्पष्ट होता है विजय प्राप्त होना अथवा न होना अपनी शक्तिपर ही निर्भर है। बुद्धि, मन और चित्तमें जो विचार जाग्रत होंगे, उनका ही परिणाम जय अथवा पराजय होता है। अर्थात् मनमें विजयी विचार रहें तो विजय और हीन विचार रहें तो पराजय होगा। इसका संबंध ऐसा है कि, मनके शुभाशुभ विचारोंके अनुसार शरीरसे शुभाशुभ कार्य होते हैं और उनका अन्तिम परिणाम परमेश्वरीय नियमानुसार विजय अथवा पराजयमें होता है। इसलिये विजयी विचार मनमें सदा धारण करने चाहियें, जिससे विजय प्राप्तिकी संभावना हो। इस सूक्तमें विजयी विचार दिये हैं, जिनको मनमें धारण करनेसे मनुष्यका निःसन्देह विजय होगा, ये विचार अब देखिये–

विजयी विचार ।

विजयी विचार मनमें धारण करने चाहिये, हीन और क्षुद्र विचार कदापि मनमें आने नहीं देने चाहिये। इस सूक्तमें प्रारम्भसे अन्ततक विजयी विचार कहे हैं। इस लिये इस सूक्तके मननसे पाठकोंके मनमें विजयी विचार स्थिर रह सकते हैं, और उनका विजय निःसन्देह हो सकता है। ये विजयी विचार अब देखिये—

१ विहवेषु मम वर्चः अस्तु। (मं० १)
२ पृतनाः जयेम। (मं० १)

"युद्धोंमें मेरा तेज प्रकाशित होवे। और हम युद्धोंमें शत्रुवोंकी सेनाओंको पराजित करेंगे।" यह मनका निश्चय रहना चाहिये। मनमें ऐसे विचार रखने चाहिये कि मैं शत्रुका पराभव अवश्य ही करूंगा। और विजय संपादन करूंगा।

३ एनान् अव बाधामहे । (मं० १)

"इन शत्रुओंको हम पूर्ण प्रतिबंध करेंगे ।" अर्थात् किसीभी मार्गसे शत्रु आने लगे तो उनको हम रोक देंगे । और आगे बढने नहीं देंगे । इस मंत्रभागसे अपनी युद्ध-विषयक तैयारी कैसी रहनी चाहिये, इस विषयकी सूचना मिल सकती है । हरएक मार्गसे आनेवाले शत्रुओंको रोक रखनेके लिये अपनी विशेष ही तैयारी चाहिये । मनुष्यको अपने शत्रुओंको इस प्रकार रोक रखनेके लिये जितनी तैयारी रखनी चाहिये उतनी तैयारी हरएक मनुष्य रखे और शत्रुसे अपना बचाव करे । जिसकी इतनी तैयारी रहेगी वही युद्धोंमें विजय प्राप्त कर सकेगा । इस विजयके विषयमें व्यक्तिके लिये क्या और राष्ट्रके लिये क्या दोनोंके कार्यक्षेत्रोंके छोटे और बडे होते हुए भी, शत्रुको रोक रखनेकी तैयारी विशेषही रीतिसे करना आवश्यक है । इस प्रकार की पूर्व तैयारीसे विजय प्राप्त होनेपर ही वह कह सकता है कि—

४ चतस्रः प्रदिशः मह्यं नमन्ताम् । (मं० १)

"चारों दिशाओंमें रहनेवाले लोग मेरे सामने नम्र होकर रहें" अर्थात् हमारे ऊपर हमला करनेकी शक्ति और इच्छा उनमें अवशिष्ट न रहे । इस प्रकार—

५ मम अन्तरिक्षं उरुलोकं अस्तु । (मं० ३)

"मेरा अन्तरिक्ष विस्तृत स्थानवाला होवे ।" हरएक मनुष्य के लिये अपना अपना अन्तरिक्ष छोटा या बडा उसकी कर्तृत्व शक्तिके अनुसार रहता है । जो प्रबल पुरुषार्थी होते हैं उनके लिये संपूर्ण जगत्के समान विशाल अंतरिक्ष होता है और आलसी तथा आत्मघातकी लोगोंके लिये बहुत ही छोटा अन्तरिक्ष होता है । अपने अधिकारके अन्दर कितना अन्तरिक्ष आगया है और अपना शासन कितने अन्तरिक्षपर है, इसको देखकर मनुष्य अपनी योग्यताका निश्चय कर सकता है । मानो, यह एक अपनी परीक्षाकी उत्तम कसौटी ही है । पाठक इन पांचों वाक्यों की परस्पर संगति देखेंगे, तो उनको विजय प्राप्त करनेके विषयमें बहुत बोध प्राप्त हो सकता है । इस विजयके लिये अपने शत्रुको दूर करनेकी अत्यंत आवश्यकता है, इस विषयके लिये निम्नलिखित आदेश देखिये—

शत्रुको दूर करना ।

शत्रुको दूर करना, उसकी छायामें स्वयं न जाना, शत्रुको दबा कर रखना और उसको उठने न देना, यह करना विजयके लिये मनुष्यको अत्यंत आवश्यक है, इस विषयमें ये मंत्रभाग देखिये—

६ सपत्ना अप भवन्तु । (मं० १०)

७ दुरस्यवः निवताः अपाञ्चः यन्तु । (मं २)

" वैरी दूर हों, तथा दुष्ट लोग नीच गतिसे नीचेकी ओर चले जावें । " अर्थात् वे अपना सिर उपर न करें । तथा और देखिये—

८ अभिभाः अशस्तिः द्वेष्या वृजिना मा नो विदन् । (मं० ३)

" निस्तेजता, अकीर्ति और द्वेष करने योग्य कुटिलता हमारे पास न आवे " अर्थात् ये आन्तरिक शत्रु दूर रहें । इनमेंसे कोई भी शत्रु अपना सिर ऊपर न कर सकें । इन मंत्रभागोंमें व्यक्तिके अन्तर्गत और बाह्य, तथा समाजके अन्तर्गत और बाह्यके सब शत्रु दूर करनेकी सूचना मिलती है । सच्चा विजय प्राप्त करनेवाले मनुष्यको उचित है कि वह इन सब शत्रुओंको अपने प्रयत्नसे दूर करे और अपने अभ्युदयका मार्ग खुला करे ।

कामनाकी तृप्ति ।

अपना विजय करना और शत्रुको दूर करना यह सब अपनी कामनाकी तृप्तिके लिये ही है । मनुष्यके अन्तःकरणमें कुछ विशेष कामना होती है, उसकी पूर्णता हुई तो उसको अपने जीवनकी सार्थकता होगई ऐसा प्रतीत होता है; अन्यथा वह अपने जीवनको निरर्थक समझता है । इस विषयमें मनुष्यकी इच्छाएं किस प्रकार होती हैं यह देखिये—

९ मह्यं अस्मै कामाय वातः पवताम् । (मं० ३)

१० यानि मम इष्टानि मह्यं यजन्ताम् । (मं० ४)

११ मे मनसः आकूतिः सत्या अस्तु । (मं० ४)

१२ देवा मयि द्रविणं, आशीः, देवहूतिः च आ यजन्ताम् ।(मं.५)

१३ तिस्रो देवीः नः महि शर्म यच्छत । (मं० ७)

१४ नः प्रजायै मृड । (मं० ८)

" मेरी इस कामनाके अनुकूल वायु अथवा प्राण चले । जो मेरे इष्ट मनोरथ हैं, वे परिपूर्ण हों । मेरे मनके सब संकल्प सत्य हों । सब देव मुझे धन, आशीर्वाद, और देवभक्ति दें । तीन देवियां अर्थात् मातृभूमि, मातृभाषा और मातृसभ्यता मुझे बडा सुख देवें । ईश्वर हमारी सब प्रजाको सुखी करे । " इस प्रकारकी कामनाएं प्रायः हर एक मनुष्यके अंदर न्यूनाधिक प्रमाणसे रहती हैं । मनुष्यका सुख और दुःख इन कामना

ओंकी न्यूनाधिक पूर्तिपर अवलंबित है। इसलिये मनुष्यको उचित है कि वह अपनी कामनाएं शुभ ही होने दें, और उनमें कोई अशुभ वासना न रहे, ऐसी मनकी उच्च अवस्था बना दें। उन्नतिके लिये इसकी बडी भारी आवश्यकता है। इस प्रकार भावनाकी शुद्धताके लिये ईश उपासना करना आवश्यक है, इस हेतुसे कहा है--

ईश्वर उपासना।

१५ इन्द्रं हवामहे। (मं० ११)

"प्रभुकी प्रार्थना और उपासना हम करते हैं।" ईश्वर सब श्रेष्ठ गुणोंसे मण्डित है, इसलिये उसके गुणोंका मनन करनेसे मनुष्यके मनकी भावना शुद्ध होती है, कामना निर्दोष होती है और संकल्प शुद्ध होते हैं। यही बात निम्नलिखित मंत्रभागोंमें कही है--

निष्पाप बनना।

१६ अहं कतमच्चन एनः मा नि गाम्। (मं ४)

"मैं किसी प्रकारका छोटा या बडा पाप न करूंगा अथवा पापके पास भी नहीं जाऊंगा।" मंत्रमें कहा है कि "पापकेपास नहीं जाऊंगा" यह बडा भारी उच्च निश्चय है। जो मनुष्य ऐसा निश्चय करेगा वही उन्नतिके पथपर चल सकता है। पाप स्वयं करना और बात है और पापके पास जाना भिन्न बात है। पातक स्वयं करनेकी अपेक्षा पापके पास जाना सहज है। मनुष्य प्रथम पापकर्म का वर्णन सुनता है, पश्चात् दूसरेका किया पापकर्म देखता है, तदनंतर स्वयं प्रवृत्त होता है। यह पापकी परंपरा है, अतः मंत्रमें उपदेश दिया है कि पापकर्मकी ओरही मनुष्य न जावे। पाठक इस अमूल्य उपदेशका महत्त्व जानें और तदनुसार अपना आचरण सुधारकर उन्नतिके मार्गका आक्रमण करें। इस प्रकार निष्पाप होकर ईश्वरकी प्रार्थना करे कि--

ईश प्रार्थना।

१७ इमं यज्ञं निहवे शृणोतु। (मं० ११)

"इस उपासना रूप स्तुति प्रार्थनामय यज्ञको ईश्वर सुने।" अर्थात् जो प्रार्थना मैं कर रहा हूं उसको परमेश्वर सुनें। यहां पाठक स्मरण रखें कि परमेश्वर उसकी ही प्रार्थना सुनता है जो पूर्वोक्त प्रकार निष्पाप होकर शुद्धाचारी रहते हुए उन्नतिके मार्ग से जाना चाहते हैं। इस प्रकारके मनुष्यको देवताओंकी सहायता अवश्य मिलती है, इन्हींका अधिकार है कि वे देवताओंकी सहायता चाहें,इस समय इन उपासकोंका विश्वास कैसा होता है यह बात निम्नलिखित मंत्रभागोंमें देखिये। हरएक मनुष्य यद्यपि यश-

का भागी बननेके लिये देवताओंकी सहायता चाहता और प्रार्थना करता है, तथापि पूर्वोक्त प्रकार शुद्ध और पवित्र बने हुए मनुष्यको ही वह सहायता मिलती है ।

देवोंकी सहायता ।

प्रायः मनुष्य सङ्कट समयमें देवताओंकी सहायता चाहता ही है । यदि पूर्वोक्त प्रकार आत्मशुद्धी करके देवताओंकी सहायता मनुष्य चाहेगा, तो निःसन्देह उसको वह सहायता मिल सकती है । इस विषयमें इस सूक्तके कथन देखने योग्य हैं–

१८ विहवे सर्वे देवा मम सन्तु । (मं० ३)
१९ इह विश्वेदेवाः मा अभिरक्षन्तु । (मं० ४)
२० विश्वेदेवासः इह मादयध्वम् । (मं० ६)
२१ धाता विधाता भुवनस्य यस्पतिः अन्ये च देवाः
　　निर्ऋथात् पान्तु । (मं० ७)
२२ अस्मिन् हवे पुरुहूतः महिषः पुरुक्षु शर्म यच्छतु । (मं० ८)
२३ अस्माकं मेदी अभूः । (मं० ११)
२४ देवीः षट् उर्वीः नः उरु कृणोत । (मं० ६)
२५ परेषां मन्युं प्रतिनुदन् नः विश्वतः परिपाहि । (मं० २)

" युद्धके प्रसंगमें सब देव मेरे हों । संपूर्ण देव मेरी रक्षा करें । सब देव यहां मेरा आनन्द बढावें । धाता विधाता भुवनपति और अन्य देव दुःखसे हमारी रक्षा करें । इस यज्ञके समय बहुत प्रशंसित समर्थ प्रभु बहुत भोगयुक्त सुख हमें देवें । प्रभु हमारा सहायक हो । दिव्य छः दिशाएं हमारे लिये बडा विस्तृत कार्यक्षेत्र बनावें । शत्रुओंको क्रोध दूर करके हमारी सब प्रकारसे रक्षा करें । "

शत्रुवोंको दूर करनेके विषयमें येही इच्छायें मनुष्यके मनमें सदा रहती हैं । विजय प्राप्त करनेवाले मनुष्यकोभी अपने मनमें येही इच्छाएं धारण करना चाहिये । पूर्वोक्त वाक्यों मेंसे अन्तिम वाक्यमें " शत्रुओंका क्रोध दूर करनेकी प्रार्थना " है । यह प्रार्थना विशेष महत्त्वकी है । " शत्रुका क्रोध दूर करके उनकी शुद्धता कर " यह आशय इस प्रार्थना में है । शत्रुका नाश करनेकी अपेक्षा यदि शत्रुके क्रोधादि दुष्टभाव दूर होकर वह भला आदमी हुआ तो अच्छाही है । इस दृष्टिसे यह उपदेश मनन करने योग्य है । वैदिक धर्मियोंको उचित है कि वे प्रथम शत्रुके दोष दूर करके उसको शुद्ध करनेका यत्न करें, यह न हुआ तो उसको दूर करें अथवा नाश करें । यह नीतिका उत्तम नियम इस वेदमंत्र द्वारा बताया है ।

राजप्रबंध।

अपने राजप्रबन्धकी उत्तमतासे विजय हो सकता है और राज्यशासनकी अव्यवस्थासे हानि होती है, इसलिये अपने शासक राजाके गुणधर्म कैसे होने चाहियें इस विषयमें दशम मन्त्रका एक वाक्य मननपूर्वक देखने योग्य है–

२६ देवाः चेत्तारं उग्रं अधिराजं अक्रत। (मं० १०)

"सब देव चेतना देनेवाले शूर वीर राजाको हमारे लिये बनावें" अर्थात् हमारा राजा ऐसा हो, कि वह प्रजामें चेतना और नवजीवन सञ्चारित करे और स्वयं शूर वीर प्रतापी और तेजस्वी हो। राष्ट्रमें तेजस्विताका स्फुरण उत्पन्न करनेवाला राजा हो, प्रजाका तेज कम करनेवाला राजा कदापि राज्यगद्दीपर न आवे, यह उपदेश इस स्थानपर मिलता है। विजय प्राप्त करनेके मार्गका आक्रमण करनेवालोंको इस उपदेशका महत्त्व सहजहीसे ध्यानमें आ सकता है।

शारीरिक बल।

विजय प्राप्तिके लिये शारीरिक बल बढाना और मानसिक तथा बौद्धिक शक्तिका विकास करना अत्यन्त आवश्यक है। इस विषयमें निम्नलिखित मन्त्रभाग देखिये—

२७ तन्वं पुषेम। (मं० १)
२८ तन्वा अरिष्टाः सुवीराः स्याम। (मं० ५)
२९ नः तन्वे प्रजायै पुष्टम्। (मं० ७)
३० तनूभिः प्रजया मा हासिषम्। (मं० ७)
३१ नः मा रीरिषः। (मं० ८)

"अपने शरीरका बल बढायेंगे और उनको पुष्ट करेंगे। शरीरसे दुर्बल न होते हुए हम उत्तम वीर बनेंगे। हमारे शरीर और सन्तान पुष्ट हों। हमारे शरीर और सन्तान हीन और दीन न हों। हम दुर्बल न हों।" इस प्रकार शारीरिक बल और पुष्टि बढानेकी सूचना देनेवाले मन्त्रभाग इस सूक्तमें इतने हैं। पाठक इन सब मन्त्रभागोंका क्रमपूर्वक मनन करेंगे, तो उनके ध्यानमें यह आ सकता है कि इस सूक्तमें विजय प्राप्तिके साधन किस प्रकार कहे हैं। व्यक्ति समाज और राष्ट्रके विजयके साधनका इस सूक्तमें किया हुआ उपदेश यदि पाठक मनमें धारण करेंगे और इन उपदेशोंके अनुकूल आचरण करेंगे तो विजयका मार्ग उनके लिये खुला और भयरहित हो जायगा।

कुष्ठ औषधि।

[४]

(ऋषिः- भृग्वङ्गिराः । देवता-कुष्ठः)

यो गिरिष्वजायथा वीरुधां बलवत्तमः ।
कुष्ठेहि तक्मनाशन तक्मानं नाशयन्नितः ॥ १ ॥
सुपर्णसुवने गिरौ जातं हिमवतस्परि ।
धनैरभि श्रुत्वा यन्ति विदुर्हि तक्मनाशनम् ॥ २ ॥
अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि ।
तत्रामृतस्य चक्षणं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (तक्मनाशन कुष्ठ) रोगनाशक कुष्ठ नामक औषधि! (यः गिरिषु अजायथाः) जो तू पर्वतोंमें उत्पन्न होता है और जो (वीरुधां बलवत्तमः) सब औषधियोंमें अत्यंत बल देनेवाला है,वह तू (तक्मानं नाशयन् इतः आ इहि) रोगोंका नाश करता हुआ वहांसे यहां आ ॥ १ ॥

(सुपर्ण-सुवने गिरौ हिमवतः परि जातं) गरुड जहां होते हैं ऐसे हिमालयके शिखरपर जो होता है उसका वर्णन (श्रुत्वा धनैः अभियन्ति) सुनकर धनोंके साथ लोग वहां जाते हैं और (तक्म-नाशनं विदुः हि) रोगनाशक औषधिको प्राप्त करते हैं ॥ २ ॥

(इतः तृतीयस्यां दिवि देवसदनः अश्वत्थः) यहांसे तीसरे द्युलोकमें देवोंके बैठने योग्य अश्वत्थ है। (तत्र अमृतस्य चक्षणं कुष्ठं देवाः अवन्वत)वहां अमृतका दर्शन होनेके समान कुष्ठ औषधिको देव प्राप्त करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ— कुष्ठ औषधि पर्वतोंपर उगती है। बलवर्धक औषधियोंमें सबसे अधिक बलवर्धक है। इससे क्षयादि रोग दूर होते हैं ॥ १ ॥

हिमालयकी ऊंची ऊंची चोटियोंपर यह औषधि उगती है, वहां मिलती है यह जानकर बडा धन खर्च करके लोग वहां जाते हैं और रोगनाशक इस औषधिको प्राप्त करते हैं ॥ २ ॥

यहांसे तीसरे उच्च द्युलोकमें जहां देवताएं बैठती हैं वहां अमृतके समान कुष्ठ औषधिको देव प्राप्त करते हैं ॥ ३ ॥

हिरण्ययी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि ।
तत्रामृतस्य पुष्पं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ ४ ॥
हिरण्ययाः पन्थान आसन्नरित्राणि हिरण्यया ।
नावो हिरण्ययीरासन् याभिः कुष्ठं निरावहन् ॥ ५ ॥
इमं मे कुष्ठ पूरुषं तमा वह तं निष्कुरु । तमु मे अगदं कृधि ॥ ६ ॥
देवेभ्यो अधि जातोऽसि सोमस्यासि सखा हितः ।
स प्राणाय व्यानाय चक्षुषे मे अस्मै मृड ॥ ७ ॥

अर्थ— (हिरण्ययी हिरण्यबन्धना नौ दिवि अचरत) सोनेकी बनी और सुवर्णके बन्धनोंसे बन्धी नौका द्युलोकमें चलती है । (तत्र अमृतस्य पुष्पं कुष्ठं देवाः अवन्वत) वहां अमृतके पुष्पके समान कुष्ठ देव प्राप्त करते हैं ॥ ४ ॥

(हिरण्ययाः पन्थान आसन) सोनेके मार्ग थे और (अरित्राणि हिरण्यया) बल्लियां भी सोनेकी थीं तथा (नावः हिरण्ययीः आसन) नौकायेंभी सोनेकी थी (याभिः कुष्ठं निरावहन्) जिनसे कुष्ठको लाया था ॥ ५ ॥

हे कुष्ठ नामक औषधि! (मे इमं पुरुषं आवह) मेरे इस पुरुषको उठा, (तं निष्कुरु) उसको निःशेष रीतिसे चंगा कर और (मे तं उ अगदं कृधि) मेरे उस पुरुषको नीरोग कर ॥ ६ ॥

(देवेभ्यः अधिजातः असि) देवोंसे तू उत्पन्न हुआ है और (सोमस्य सखा हितः) सोम औषधिका तू मित्र और हितकारी है। इसलिये (सः प्राणाय व्यानाय चक्षुषे मे अस्मै मृड) वह तू प्राण, व्यान और चक्षुआदिके लिये इस मेरे पुरुषको सुख दे ॥ ७ ॥

भावार्थ— सुवर्णकेसमान तेजस्वी आकाशनौका जहां चलती है वहां अमृतका ही पुष्परूप यह कुष्ठ देवोंने प्राप्त किया है ॥ ४ ॥

उस आकाश नौकाके मार्गभी सुवर्णके थे और बल्लियांभी सोनेकी थी जिनसे कुष्ठ औषधी यहां लाई गई ॥ ५ ॥

यह कुष्ठ औषधी मनुष्यको रोगमुक्त करती है ॥ ६ ॥

देवोंसे उत्पन्न और सोमकेसमान हितकारी यह कुष्ठ औषधि प्राण, व्यान, चक्षुआदिके लिये सुखकारी है ॥ ७ ॥

उदङ् जातो हिमवतः स प्राच्यां नीयसे जनम् ।
तत्र कुष्ठस्य नामान्युत्तमानि वि भेजिरे ॥ ८ ॥

उत्तमो नाम कुष्ठास्युत्तमो नाम ते पिता ।
यक्ष्मं च सर्वं नाशय तक्मानं चारसं कृधि ॥ ९ ॥

शीर्षामयमुपहत्यामक्ष्योस्तन्वो३ रपः ।
कुष्ठस्तत् सर्वं निष्करद् दैवं समह वृष्ण्यम् ॥ १० ॥

अर्थ- (सः हिमवतः जातः) वह तू हिमालयसे उत्पन्न होकर (जनं प्राच्यां उदङ् नीयसे) मनुष्यको प्रगतिकी उच्च दिशामें ले जाता है। (तत्र कुष्ठस्य उत्तमानि नामानि) वहां कुष्ठ औषधिके उत्तम नाम (विभेजिरे) अलग अलग विभक्त हुए हैं ॥ ८ ॥

हे कुष्ठ ! (उत्तमः नाम असि) तेरा नाम उत्तम है (ते पिता उत्तमो नाम) तेरा उत्पादक अथवा रक्षकभी उत्तम है। (सर्वं यक्ष्मं नाशय) सब क्षयरोग दूर कर (च तक्मानं अरसं कृधि) और ज्वरको निःसत्त्व कर ॥ ९ ॥

(शीर्षामयं) शिरके रोग, (अक्ष्योः उपहत्यां) आंखोंकी कमजोरी, और (तन्वः रपः) शरीरके दोष (तत सर्वं) इन सबको (दैवं वृष्णयं सं अह) दिव्य बल बढाकर (कुष्ठः निष्करत्) कुष्ठ औषधी दूर करती है ॥ १० ॥

भावार्थ— हिमालयसे उत्पन्न होकर मनुष्योंकी उन्नति करती है, इस लिये इसके यश बहुत गाये जाते हैं ॥ ८ ॥

कुष्ठ स्वयं उत्तम है, जो उसको अपनेपास रखता है, वह भी उत्तम है। इससे क्षयादि सब रोग दूर होते हैं ॥ ९ ॥

इससे सिरके रोग, आंखोंके व्याधि, तथा शरीरके दोष दूर होते हैं। इस कुष्ठसे शरीरका बल बढता है और दोष दूर होकर आरोग्य प्राप्त होता है ॥ १० ॥

कुष्ठ औषधि।

कुष्ठ औषधिका वर्णन इस सूक्तमें है। इस औषधिसे सिरके रोग, नेत्रके रोग, शरीरके अन्यत्र होनेवाले रोग, ज्वर तथा क्षय और कुष्ठरोगभी इस औषधिसे दूर होते हैं। इसलिये सोमके समान ही इस औषधिका महत्त्व है। इस औषधिका सेवन बहुत प्रकारसे होता है। रस आदि पेटमें लिये जाते हैं और घृतादि बनाकर शरीरपर लेप दिये जाते हैं। इस औषधिके गुणधर्म वैद्यकग्रन्थमें देखने योग्य हैं। वैद्यक ग्रन्थोंमें आये हुए इसके नाम विचार करने योग्य हैं—

१ नीरुजं=नीरोगता उत्पन्न करनेवाली औषधि।
२ पारिभद्रकं=सब प्रकारसे कल्याण करनेवाला।
३ रामं=आनंद देनेवाला।
४ पावनं=शुद्धि करनेवाला।

कुष्ठ औषधिके ये नाम वैद्यशास्त्रमें प्रसिद्ध हैं। इन नामोंसे इस औषधिसे होनेवाले लाभ ज्ञात हो सकते हैं। अब इसके गुण देखिये—

कुष्ठमुष्णं कटु स्वादु शुक्रलं तिक्तकं लघु।
हन्ति वातास्रवीसर्पकासकुष्ठमरुत्कफान्॥ भा० प्र० पू० १
विषकण्डूखर्जूदद्रुहृत् कान्तिकरं च॥ रा० नि० व० १०

“ यह कुष्ट औषधि उष्ण कटु स्वादु है, शुक्र उत्पन्न करती है, तिक्त और लघु है। वात, रक्त, वीसर्प, खांसी, कुष्ठ और कफ इन रोगोंको दूर करती है। इसी प्रकार विष, खुजली, दाद आदि रोगोंको दूर करती है और कान्तिको बढाती है।”

वैद्यक ग्रंथोंमें लिखे हुए ये वर्णन बिलकुल स्पष्ट हैं और पाठक इन गुणोंकी तुलना वेदके मंत्रोंके साथ करेंगे तो उनको वेद मंत्रोंका अर्थ अधिक स्पष्ट हो जायगा।

इस औषधिका हिंदी नाम “कुठ” है। यह अतिप्रसिद्ध औषधि है। इसका उपयोग अन्दर पीने और बाहरसे लेपन करनेमें होता है। इसका शीतोष्ण कषाय पीनेसे अन्तः शुद्धि होती है और इसके तैल, घृत आदिका लेप करनेसे कुष्ठ आदि दुःसाध्य रोग भी दूर होते हैं। वैद्योंको इस औषधिके प्रयोग करनेकी रीतिका अधिक विचार करना चाहिये।

लाक्षा ।

[५]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- लाक्षा)

रात्री माता नभः पितार्यमा ते पितामहः ।
सिलाची नाम वा असि सा देवानामसि स्वसा ॥ १ ॥
यस्त्वा पिबति जीवति त्रायसे पुरुषं त्वम् ।
भर्त्री हि शश्वतामसि जनानां च न्यञ्चनी ॥ २ ॥
वृक्षंवृक्षमा रोहसि वृषण्यन्तीव कन्यला ।
जयन्ती प्रत्यातिष्ठन्ती स्परणी नाम वा असि ॥ ३ ॥

अर्थ— (ते माता रात्री, पिता नभः, पितामहः अर्यमा) तेरी माता रात्री, पिता आकाश और पितामह अर्यमा है । (नाम सिलाची वै असि) तेरा नाम सिलाची है । (सा देवानां स्वसा असि) वह तू देवोंकी बहिन है ॥ १ ॥

(यः त्वा पिबति, जीवति) जो तेरा पान करता है वह जीता है (त्वं पुरुषं त्रायसे) तू मनुष्यकी रक्षा करती है । (शश्वतां जनानां हि भर्त्री न्यञ्चनी च असि) सब जनोंका भरण पोषण करनेवाली और आरोग्य देनेवाली तू है ॥ २ ॥

(वृषण्यन्ती कन्यला इव) पुरुषको चाहनेवाली कन्याके समान (वृक्षं वृक्षं आरोहसि) प्रत्येक वृक्षपर चढती है । तू (जयन्ती प्रत्यातिष्ठन्ती) विजय करनेवाली और प्रतिष्ठित होनेवाली है । (स्परणी नाम वै असि) तेरा नाम स्परणी भी है ॥ ३ ॥

भावार्थ-सिलाची वनस्पतिकी माता रात्री, पिता आकाश और पितामह सूर्य है । यह इंद्रियोंकी बहिन के समान सुखदायक है ॥ १ ॥

जो इस औषधिके रसका पान करता है वह जीवित रहता है । इस औषधिसे सब मनुष्योंकी रक्षा पुष्टि और नीरोगिता होती है ॥ २ ॥

बहुत वृक्षोंपर यह होती है, इससे रोगोंपर विजय प्राप्त किया जाता है और आयुष्य स्थिर होता है, इसलिये इसको स्परणी भी कहते हैं ॥ ३ ॥

यद् दण्डेन यदिष्वा यद् वारुर्हरसा कृतम् ।
तस्य त्वमसि निष्कृतिः सेमं निष्कृधि पूरुषम् ॥ ४ ॥

भद्रात् प्लक्षान्निस्तिष्ठस्यश्वत्थात् खदिराद्धवात् ।
भद्रान्न्यग्रोधात् पर्णात् सा न एह्यरुन्धति ॥ ५ ॥

हिरण्यवर्णे सुभगे सूर्यवर्णे वपुष्टमे ।
रुतं गच्छासि निष्कृते निष्कृतिर्नाम वा असि ॥ ६ ॥

अर्थ— (यत् दण्डेन, य इष्वा) जो दण्डेसे और जो बाणसे, (यत् वा हरसा अरुः कृतं) अथवा जो रगडसे घाव होगया है, (तस्य निष्कृतिः त्वं असि) उससे बचाव करनेवाली तू है, (सा इमं पुरुषं निष्कृधि) वह तू इस पुरुषको चंगा कर ॥ ४ ॥

(भद्रात् प्लक्षात् अश्वत्थात् खदिरात् धवात्) भद्र, पाकर, पीपल, खैर, धव, (भद्रात् न्यग्रोधात् पर्णात्) बड, पलाश इन वृक्षोंसे (निः तिष्ठासि) निकलती है। हे (अरु-धति) घावोंको भरनेवाली वनस्पति! (सा नः एहि) वह तू हमारे पास आ ॥ ५ ॥

हे (हिरण्यवर्णे सुभगे) सुवर्णके समान रंगवाली भाग्यशालिनी! (सूर्यवर्णे वपुष्टमे) सूर्यके समान वर्णवाली और शरीरके लिये हितकारी हे (निष्कृते) रोग दूर करनेवाली! तेरा (नाम निष्कृतिः वै असि) नाम निष्कृति है अतः तू (रुतं गच्छासि) व्रण या रोग के पास पहुंचती है ॥ ६ ॥

भावार्थ—दण्डा, बाण अथवा किसीकी रगड लगनेसे जो व्रण होता है वह व्रण इस औषधिसे अच्छा होजाता है ॥ ४ ॥

पीपल, खैर, पलाश आदि अनेक वृक्षोंसे इसकी उत्पत्ति होती है, यह घावको भरनेवाली है ॥ ५ ॥

यह पीले रंगवाली तेजस्वी और शरीरके लिये हितकरी है। यह रोग दूर करती है इसलिये इसका निष्कृति नाम हुआ है ॥ ६ ॥

हिरण्यवर्णे सुभगे शुष्मे लोमशवक्षणे। अपामसि स्वसा लाक्षे वातो हात्मा बभूव ते॥७॥
सिलाची नाम कानीनोऽजबभ्रु पिता तव। अश्वो यमस्य यः श्यावस्तस्य हास्नास्युक्षिता ॥ ८
अश्वस्यास्नः सम्पतिता सा वृक्षाँ अभि सिष्यदे। सरा पतत्रिणी भूत्वा सा न एह्यरुन्धति ॥९॥
इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अर्थ- हे (हिरण्यवर्णे सुभगे) सुवर्णके रंगवाली भाग्यशालिनी! हे (शुष्मे लोमश-वक्षणे) बलशालिनी और बालोंवाली! हे (लाक्षे) लाक्षा नामक औषध ! (त्वं अपां स्वसा असि) तू जलोंकी बहिन है। (ते आत्मा वातः ह बभूव) तेरा आत्मा वायु ही हुआ है ॥ ७ ॥

(सिलाची नाम कानीनः) सिलाची नामक औषधि कन्याके समान है। (तव पिता अजबभ्रु) तेरा पालक अजबभ्रु अर्थात् बकरियोंको पुष्ट करनेवाला वृक्ष है। (यमस्य यः श्यावः अश्वः) यमका जो गतिशील अश्व है (तस्य ह अस्ना उक्षिता असि) उसके मुखसे तूं सींची गई है ॥८॥

(अश्वस्य अस्नः सम्पतिता) घोडेके मुखसे संमिलित हुई (सा वृक्षान् अभिसिष्यदे) वह वृक्षोंको सींचती है। हे (अरु-धति) घावको भरने-वाली! (पतत्रिणी सरा भूत्वा) चूनेवाली और प्रवाहित होनेवाली होकर (सा नः एहि) वह तू हमारे पास आ ॥ ९ ॥

भावार्थ-यह सुवर्णके रंगवाली,बलवाली और अंदरसे तन्तु निकालने-वाली है। इसका नाम लाक्षा औषधि है। यह रसवाली है, परंतु वातस्वभाववाली है ॥ ७ ॥

इसका नाम सिलाची तथा कानीना भी है। जिन वृक्षोंके पत्ते बकरियां खाती हैं, उनपर यह मिलती है। सूर्यके गतिशील किरणोंके द्वारा यह बनती है ॥ ८ ॥

सूर्य किरणसे तप्त होकर वृक्षोंसे बाहर आती है। यह वृक्षसे चूती है और बाहर आती है। यह व्रणोंको ठीक करनेवाली है ॥ ९ ॥

लाक्षा ।

लाक्षा का वर्णन वैद्यक ग्रंथोंमें बहुत आता है। इसको भाषामें लाही कहते हैं। लाख भी इसीका नाम है। इसके संस्कृत नाम बहुत हैं, परंतु उनमेंसे निम्नलिखित नाम इस सूक्तके साथ विचार करने योग्य हैं—

१ जन्तुका, जतु, जतुका - कृमियोंसे बननेवाली।

२ क्रिमिजा, कीटजा - " "

३ क्रिमिहा - क्रिमियोंका नाश करनेवाली।

४ रक्षा, राक्षा, लाक्षा - रक्षा करनेवाली।

५ रङ्ग माता - रङ्ग जिससे बनता है।

६ क्षतघ्ना, क्षतघ्नी - व्रणका नाश करनेवाली।

७ खदरिका - खैरके वृक्षसे उत्पन्न होनेवाली।

८ पलाशी - पलाश " "

९ द्रुमव्याधिः, द्रुमामयः - यह वृक्षका रोग है।

१० दीप्तिः - यह तेजःस्वरूप है।

११ द्रवरसा - द्रव रसरूप है।

ये इस लाक्षाके नाम इस सूक्तमें कहा आशयही बता रहे हैं। देखिये —

यह लाक्षा खैर और पलाश तथा अन्यान्य वृक्षोंसे प्राप्त होती है यह बात इस सूक्तके पञ्चम मंत्रमें कही है। जिसके सूचक नाम वैद्यक ग्रंथोंमें " खदरिका और पलाशी " ये हैं। इसका नाम वैद्यक ग्रंथोंमें " दीप्ति " कहा है, इस गुणका वर्णन षष्ठ और सप्तम मंत्रमें " हिरण्यवर्णा " आदि शब्दोंसे हुआ है। " द्रव रसा " इसका नाम वैद्यक ग्रंथमें है। यही भाव नवम मंत्रके " सरा " पदसे जाना जाता है। सरा और रसा ये शब्द अक्षरके उलट पुलट होनेसे भी बनते हैं।

लाक्षाका नाम " क्षत-घ्नी " है। इसका अर्थ व्रणको ठीक करनेवाली है। यही बात इस सूक्तके चतुर्थ मंत्रमें कही है। " दण्डेसे बाणसे अथवा रगडसे होनेवाला व्रण लाक्षाके प्रयोगसे दूर होता है " इस प्रकार मंत्रमें कहे हुए गुण और इन शब्दोंमें कहे हुए गुण परस्पर मिलते जुलते हैं। अब इस लाक्षाके गुण देखिये —

तिक्ता कषाया श्लेष्मपित्तघ्नी विषघ्नी रक्तघ्नी विषमज्वरघ्नी च। रा०नि०व०६

" लाक्षा तिक्त और कषाय है। तथा कफ, पित, विष, रक्तदोष और विषमज्वर को दूर करनेवाली है। " इसके ये गुण हैं, इसीलिये यह मनुष्यकी रक्षा करती है ऐसा इस सूक्तमें बार बार कहा है।

इस सूक्तमें लाक्षा औषधिके माता, पिता, पितामह बहिन, कन्या आदि संबंधियोंका वर्णन मं० १, ७, ८ में आगया है। इस वर्णनके आशयकी अधिक खोज करनी चाहिये। वैद्योंको उचित है कि, वे इसका अधिक विचार करें और इस खोजकी पूर्णता करें।

प्रथम मंत्रमें सिलाची लाक्षा का वर्णन करते हुए "देवानां स्वसा" ऐसा उसका वर्णन किया है ! यह लाक्षा देवोंकी बहिन है,अर्थात् इंद्रियोंकी सहायक है । "देव" शब्द यहां इंद्रियवाचक है, आगे जाकर हरएक अंग और अवयवके व्रणको दूर करनेवाली यह लाक्षा है, ऐसा कहा है, इसलिये यह इंद्रियोंकी सहायक है यह बात सिद्ध होती है।

द्वितीय मंत्रमें इसका पान करनेवाला दीर्घजीवी होता है, ऐसा कहा है। यह लाक्षा रस करके किस प्रकार पीयी जाती है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। इसका सेवन पेटमें करनेसे यह मनुष्यकी रक्षा करती है । रक्षा करनेके कारण ही इसको 'रक्षा, राक्षा अथवा लाक्षा' कहते हैं। यह व्रणको ठीक करती है, सडने नहीं देती और मनुष्योंका भरण पोषण करती हुई मनुष्यको आरोग्यसंपन्न करती है । द्वितीय मंत्रका यह कथन पूर्वोक्त वैद्यक ग्रंथोक्त गुणोंके साथ भी मिलता है।

तृतीय मंत्रमें कहा है कि यह बहुत वृक्षोंपर होती है, यह रोगोंपर विजय करती है, रोगोंका सामना करती है । इस कारण बहुत लोग इसको चाहते हैं। सब लोग इसकी स्पृहा करनेके कारण इसका नामही 'स्परणी' हुआ है।

चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि विविध प्रकारसे उत्पन्न हुए व्रण आदिको यह लाक्षा दूर करती है । रोगोंकी निष्कृति करनेके कारण इसका नाम "निष्कृति" हुआ है।

पंचम मंत्रमें कहा है कि पिलखन, पीपल, खैर, बबूल, पलाश आदि वृक्षोंपर यह होती है, और यह 'अरुं-धती' है अर्थात् व्रणोंको चंगा करनेवाली है। इसके प्रयोगसे नाना प्रकारके घाव भर जाते हैं।

षष्ठ और सप्तम मंत्रके पूर्वार्धमें इसके तेजस्वी होनेका वर्णन है । सूर्यके समान, तप्त सुवर्णके सदृश अथवा सूर्यके रंगके समान तेज इसमें है । यह 'वपुष्टमा' अर्थात् शरीरके लिये हित करनेवाली है । शरीरको पुष्ट और तेजस्वी करनेवाली है । "रुत" अर्थात् व्रण आदिको दूर करती है और सब दोषोंको हटा देती है। रोगों और व्रणादिकोंका निराकरण करनेके कारण इसको "निष्कृति" नाम प्राप्त हुआ है। यह बात प्रकृतिवाली है, मानो इसका आत्माही वात है।

अष्टम मंत्रमें 'अजबभ्रु' यह लाक्षा का पिता है, ऐसा कहा है। अज नाम बकरीका है, बकरियोंका जो पोषण करते हैं, उन वृक्षोंका यह नाम है। जिन वृक्षोंके पत्ते बकरियां खाती हैं उन पीपल, बेरी आदि वृक्षोंका यह नाम है। इनपर लाख उत्पन्न होती है।

इस प्रकार इस सूक्तमें लाक्षाका वर्णन किया है। वैद्य इसके उपयोगका अधिक विचार करें और जनताके लाभके लिये उसका प्रकाश करें।

※

ब्रह्मविद्या।

[६]

(ऋषिः-अथर्वा। देवता-सोमारुद्रौ)

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद् वि सीमतः सुरुचो वेन आवः।
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च वि वः॥ १॥
अनाप्ता ये वः प्रथमा यानि कर्माणि चक्रिरे।
वीरान् नो अत्र मा दभन् तद् वः एतत् पुरो दधे ॥ २॥

अर्थ— (पुरस्तात् प्रथमं) पूर्वकालसेभी प्रथम (जज्ञानं ब्रह्म) प्रकट हुए ब्रह्मको (सुरुचः सीमतः) उत्तम प्रकाशित मर्यादाओंसे (वेनः वि आवः) ज्ञानीने देखा है। (सः) वही ज्ञानी (अस्य बुध्न्याः वि-स्थाः) इसके आकाश संचारी विशेष रीतिसे स्थित और (उप-माः) उपमा देने योग्य सूर्यादिकोंको देखकर (सतः च असतः योनिं) सत और असत के उत्पत्ति स्थानकोभी (वि वः) विशद करता है॥ १॥

(ये प्रथमाः अनाप्ताः) जो पहिले श्रेष्ठ ज्ञानी पुरुष थे उन्होंने (वः यानि कर्माणि चक्रिरे) तुम्हारे लिये जो कर्म किये, वे (नः वीरान् अत्र मा दभन्) हमारे वीरोंको यहां कष्ट न दें। (तत् एतत् वः पुरः दधे) वह यह सब तुम्हारे सन्मुख धर देता हूं॥ २॥

भावार्थ- सबसे प्रथम प्रकट हुए ब्रह्मको उसके प्रकाशकी मर्यादाओंके द्वारा ज्ञानी जानता है और वही ज्ञानी उपमा देने योग्य आकाशसंचारी सूर्यादि ग्रहों और नक्षत्रोंको देख कर सत् और असत् के मूल उत्पत्ति स्थानके विषयमें सत्य उपदेश करता है॥ १॥

पहिले ज्ञानी पुरुषोंने जो जो प्रशस्त कर्म किये थे, उनका स्मरण करके वैसे कर्म तुम करो, और बालबचों और वीरोंको बचाओ, यही तुम्हारे लिये कहना है॥ २॥

सहस्रधार एव ते समस्वरन् दिवो नाके मधुजिह्वा असश्चतः ।
तस्य स्पशो न नि मिषन्ति भूर्णयः पदेपदे पाशिनः सन्ति सेतवे ॥ ३ ॥
पर्यू षु प्र धन्वा वाजसातये परि वृत्राणि सक्षणिः ।
द्विषस्तदध्यर्णवेनेयसे सनिस्रसो नामासि त्रयोदशो मास इन्द्रस्य गृहः ॥४॥

अर्थ— (दिवः सहस्रधारे नाके एव) द्युलोकके सहस्रों धाराओंसे युक्त सुखपूर्ण स्थानमें ही (ते असश्चतः मधुजिह्वाः समस्वरन्) वे निश्चल शांत स्वभाववाले और मधुरभाषणी लोग सब मिलकर एक स्वरसे कहते हैं, कि (तस्य भूर्णयः स्पशः न निमिषन्ति) उसके पकडनेवाले पाश लिये दूत कभी आंख नही बंद करते हैं। (सेतवे पदे पदे पाशिनः सन्ति) बांधनेके लिये पद पद पर पाश लिये खडे हैं ॥ ३ ॥

(वाजसातये वृत्राणि सक्षणिः) अन्नदानके लिये प्रतिबंध करनेवाले शत्रुवोंको दूर करनेवाला बन कर (उपरि सु प्र धन्व) उनको सब ओरसे भगा दे। क्यों कि (तत् द्विषः अर्णवेन अधि ईयसे) तू शत्रुओंपर समुद्रकी ओरसे भी चढाई करते हो। इस कारण आपका (सनि-स्रसः नाम असि) सनिस्रस अर्थात् चढाई करनेमें कुशल इस अर्थका नाम है। (त्रयोदशः मास इन्द्रस्य गृहः) तेरहवां महिना इन्द्रका घर है ॥ ४ ॥

भावार्थ–प्रकाशपूर्ण स्वर्ग धाममें रहनेवाले शांत और मधुर स्वभाववाले ज्ञानी लोग एक स्वरसे कहते हैं कि उस प्रभुके दूत कभी आंख बंद नहीं करते; अपने आंख सदा खुले रखकर हाथमें पाश लिये हुए पापियोंको बांधनेके लिये पद पद पर तत्पर रहते हैं ॥ ३ ॥

जो लोग अन्नदान आदि परोपकारके कार्योंमें विघ्न उत्पन्न करते हैं, उनको दूर करो। जिस प्रकार शत्रुपर भूमिसे चढाई की जाती है, उस प्रकार समुद्रकी ओरसे शत्रुपर चढाई करनेमें भी तू कुशल बन। तेरहवां महिना भी अन्य मासोंके समान इन्द्रका घर है ॥ ४ ॥

न्वे ३ तेनारात्सीरसौ स्वाहा ।
तिग्मायुधौ तिग्महेती सुशेवौ सोमारुद्राविह सु मृडतं नः ॥ ५ ॥
अवैतेनारात्सीरसौ स्वाहा ।
तिग्मायुधौ तिग्महेती सुशेवौ सोमारुद्राविह सु मृडतं नः ॥ ६ ॥
अपैतेनारात्सीरसौ स्वाहा ।
तिग्मायुधौ तिग्महेती सुशेवौ सोमारुद्राविह सु मृडतं नः ॥ ७ ॥
मुमुक्तमस्मान्दुरितादवद्याज्जुषेथां यज्ञममृतमस्मासु धत्तम् ॥ ८ ॥

अर्थ-(नु एतेन असौ अरात्सीः) निश्चयसे इस प्रकार उस तूने सिद्धि प्राप्त की है । (स्वा-हाः) आत्मसर्वस्वका समर्पण ही सिद्धिका मार्ग है। (तिग्मायुधौ तिग्महेती) तीक्ष्ण हथियारवाले और तीक्ष्ण अस्त्रवाले (सु-सेवौ सोमारुद्रौ) उत्तम सेवा करने योग्य सोम और रुद्र(इह नः मृडतं) यहां हमें सुखी करें ॥ ५ ॥

(एतेन असौ अव अरात्सीः) इसी रीतिसे यह तू सिद्धि प्राप्त करता है, (स्वाहा) त्याग ही सिद्धिका मूल है । (तिग्मायुधौ०) उत्तम शस्त्रास्त्र वाले वीर यहां सबको सुखी करें ॥ ६ ॥

(एतेन असौ अप अरात्सीः) इसी रीतिसे यह तू सिद्धि प्राप्त करता है । (स्वाहा) त्यागही सिद्धिका मूल है। (तिग्मा०) उत्तम शस्त्रास्त्रधारी वीर यहां सबको सुखी करें ॥ ७ ॥

(अस्मान् अवद्यात् दुरितात् मुमुक्तं) हम सबको निंदनीय पापसे छुडावो (यज्ञं जुषेथां) यज्ञका सेवन करो और (अस्मासु अमृतं धत्तं) हममें अमृत धारण करो ॥ ८ ॥

भावार्थ-इस मार्गसे हरएकको सिद्धि मिल सकती है। परोपकारके लिये आत्मसर्वस्वका समर्पण करनाही सिद्धिका मूल है । उत्तम शस्त्रास्त्रधारी सेवा करने योग्य वीर उक्त प्रकार यहां सबको सुखी करें ॥ ५ ॥ इसी रीतिसे हरएक मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर सकता है। त्यागभावही सिद्धिका मूल है। सब वीर इसी मार्गसे सबको सुखी करें॥६॥ इसी प्रकार सिद्धि मिलती है। त्यागभाव ही सिद्धि का मूल है। सब वीर इसी मार्गसे सबको सुखी करें ॥७॥ पापसे दूर रहो। प्रशस्त सत्कर्म करो और अमरत्व प्राप्त करो ॥ ८ ॥

चक्षुषो हेते मनसो हेते ब्रह्मणो हेते तपसश्च हेते ।
मेन्या मेनिरस्यमेनयस्ते सन्तु ये३स्माँ अभ्यघायन्ति ॥ ९ ॥
यो३स्मांश्चक्षुषा मनसा चित्त्याकूत्या च यो अघायुरभिदासात् ।
त्वं तानग्ने मेन्यामेनीन् कृणु स्वाहा ॥ १० ॥
इन्द्रस्य गृहो॑सि ।
तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्र विशामि सर्वगुः सर्वपूरुषः सर्वात्मा सर्वतनूः
सह यन्मेस्ति तेन ॥ ११ ॥

अर्थ- हे (चक्षुषः हेते) आंखके आयुध ! (मनसः हेते) हे मनके शस्त्र ! (ब्रह्मणः हेते) हे ज्ञानके आयुध! और (तपसः च हेते) तपके आयुध! तू (मेन्याः मेनिः असि) शस्त्रका शस्त्र है । (ये अस्मान् अभ्यघायन्ति) जो हमें सताते हैं (ते अमेनयः सन्तु) वे शस्त्ररहितसे बनें ॥ ९ ॥

(यः यः अघायुः अस्मान्) जो कोई पापाचरण करनेवाला हमें (चक्षुषा मनसा चित्या) आंख, मन, चित्त, (च आकूत्या अभिदासात्) और संकल्पसे दास बनानेका यत्न करे, हे अग्ने ! (त्वं तान मेन्या अमेनीन कृणु) तू उनको शस्त्रसे शस्त्रहीन कर । (स्वा—हा) आत्मसर्वस्वका समर्पण ही मुक्तिका हेतु है ॥ १० ॥

(इन्द्रस्य गृहः असि) तू इन्द्रका घर है । मैं (सर्व-गुः) सर्व प्रकारकी गतिसे युक्त, (सर्व-पुरुषः) सब पुरुषार्थशक्तिसे युक्त, (सर्व—आत्मा) सर्व आत्मबलसे युक्त, (सर्व-तनूः) सब शारीरिकशक्तियोंसे युक्त (यत मे अस्ति तेन सह) जो कुछ मेरा है, उसके साथ (तं त्वा प्रपद्ये) उस तुझको प्राप्त करता हूं, और (तं त्वा प्रविशामि) उस तुझमें प्रविष्ट होता हूं ॥ ११ ॥

भावार्थ-आंख, मन, ज्ञान और तप ये बडे शस्त्रास्त्र हैं, ये शस्त्रोंकेभी शस्त्र हैं। इनसे उन दुष्टोंको शस्त्रहीन कर, कि जो अपने बलसे दूसरोंको सताते हैं ॥ ९ ॥

जो कोई पापी आनतायी चक्षु, मन, चित्त अथवा संकल्प से दूसरोंको दास बनानेका यत्न करेगा, उसको तू उक्त शस्त्रोंसे शस्त्रहीन कर। इस मार्गमें आत्मसर्वस्वका समर्पण ही बंधमुक्त होनेका उपाय है ॥ १० ॥

इन्द्रस्य शर्मासि ।
तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्रविशामि सर्वगुः सर्वपूरुषः सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मेस्ति तेन ॥ १२ ॥

इन्द्रस्य वर्मासि ।
तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्रविशामि सर्वगुः सर्वपूरुषः सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मेस्ति तेन ॥ १३ ॥

इन्द्रस्य वरूथमसि ।
तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्रविशामि सर्वगुःसर्वपूरुषः सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मेस्ति तेन ॥ १४ ॥

अर्थ-(इन्द्रस्य शर्म असि) इन्द्रका तू आश्रयस्थान है। मैं (सर्व-गुः०) सब गति, पुरुषार्थशक्ति, आत्मिकबल और शारीरिकशक्तिसे युक्त होकर तथा जो भी कुछ मेरे पास है उसके साथ तुझे प्राप्त होता हूं, और तुझमें आश्रय लेता हूं ॥ १२ ॥

(इन्द्रस्य वर्म असि) इन्द्रका कवच तू है। मैं सब गति, पौरुषशक्ति, आत्मिक और शारीरिक बलसे युक्त होकर तथा जो कुछ मेरे पास है उसको लेकर तुझे प्राप्त होता हूं और तेरे आश्रयसे रहता हूं ॥ १३ ॥

(इन्द्रस्य वरूथं असि) इन्द्रकी ढाल तू है। मैं सब गति, पौरुषशक्ति, तथा आत्मिक और शारीरिक बलके साथ तथा जो कुच्छ मेरा है, उस सबके साथ तुझे प्राप्त होता हूं और तेरे आश्रयसे रहता हूं ॥ १४ ॥

भावार्थ- सब गति, सब पुरुषार्थशक्ति, सब आत्मिकबल और संपूर्ण शारीरिकबलोंके साथ तथा और भी जो कुच्छ मेरा कहने योग्य है उसको साथ लेकर, प्रभुके शरणमें जाता हूं, उसके घरमें प्रविष्ट होता हूं और वहां ही रहता हूं ॥ वही हम सबका सच्चा घर और सबके लिये सुरक्षित स्थान है ॥ ११—१४ ॥

ब्रह्मप्राप्तिका मार्ग ।

इस सूक्तका पहिला मंत्र (कां० ४ । १ । १) चतुर्थ काण्डके प्रथम सूक्तका पहिला मंत्र है, तथा इस सूक्तका द्वितीय मंत्र चतुर्थ (कां० ४ । ७ । ७) काण्डमें सप्तम मंत्रका सप्तम मंत्र है । इन मंत्रोंके अर्थ, भावार्थ और स्पष्टीकरण पाठक वहां देखें ।

यद्यपि द्वितीय मंत्र कां० ४ । ७ । ७ में है, तथापि यह मंत्र वहां विष दूर करनेके औषधि प्रकरणमें है । इसलिये प्रकरणानुसार वहां औषधि प्रकरणका सामान्य अर्थ बता रहा है । परन्तु यहां ब्रह्मविद्या और आत्मोन्नतिका प्रकरण है, इस प्रकरणमें इसका अर्थ इसी प्रकरणके अनुकूल होगा और ऐसा करनेके लिये शब्दोंके वेही अर्थ लेकर अर्थ देखा जायगा । क्यों कि यह सामान्य अर्थवाला मंत्र है और ऐसे मंत्र भिन्न भिन्न प्रकरणोंमें भी आकर वहांके योग्य अर्थ बता सकते हैं । जैसा किसीने अपने अनुयायियोंसे कहा कि "तुम तैयार हो जाओ" तो यह सामान्य निर्देश होनेसे हरएक शाखाके कार्यकर्ता अपने अपने कर्तव्यकर्ममें तैयार होनेका आशय ले सकते हैं, और इस आदेशानुसार ब्राह्मण अपने ज्ञानकर्ममें, क्षत्रिय अपने युद्धकर्ममें, वैश्य अपने व्यापारव्यवहारके कार्यमें तथा शूद्र अपनी कारीगरीके कार्यमें अपनी सिद्धता कर सकता है । एक ही सामान्य आज्ञा भिन्न भिन्न श्रोताओंमें भिन्न भिन्न कार्यके लिये प्रेरणा कर सकती है । इसी प्रकार इस मंत्रकी सामान्य आज्ञा पूर्वोक्त स्थान (कां० ४ । ७ । ७) पर औषधिप्रयोगके कर्मकी प्रेरणा देती है और यहां उपासनायोगकी प्रेरणा देती है । पाठक इसका विचार करके इस सामान्य मंत्रका महत्त्व जान सकते हैं ।

प्रथम मंत्रका विस्तृत स्पष्टीकरण चतुर्थ काण्डके सू० १ मं० १ की व्याख्यामें पाठक देख सकते हैं । इस प्रथम मंत्रका यह आशय है—"ब्रह्म सबसे पहिले प्रकट हुआ है, उसके प्रकाशकी जहां मर्यादा होती है, वहां देखकर ज्ञानी इस ब्रह्मको जानता है । यही ज्ञानी सूर्यादि तेजस्वी पदार्थोंका अद्भुत तेज देखकर और उनको उपमा देने योग्य अनुभव करके, इस दृश्यके अनुसंधानसे मूल उत्पत्तिस्थानके विषयमें निश्चित ज्ञान प्राप्त करके उसका उपदेश कर सकता है । (मं० १)"

जिस प्रकार सूर्यका तेज किसी पदार्थपर गिरनेसे, अर्थात् उस तेजकी मर्यादा होनेसे, दिखाई देता है, मर्यादा न हुई तो सूर्यका तेज नहीं दिखाई देता; इसी प्रकार परमात्माके परम तेजका अनुभव भी सूर्यादि विविध केन्द्रोंमें उसकी मर्यादा होनेसे ही होता है

अर्थात् यदि जगत् न बने तो परमात्माके अद्भुत सामर्थ्यका अनुभव कैसे हो सकता है। परमात्मा परम तेजस्वी है, सबसे पूर्वकालसे प्रकाशित हो रहा है, यह सब सत्य है तथापि सूर्यचन्द्रादि केन्द्रोंमें जब उसके तेजकी अन्तिम सीमा बनती है, तब ही उसके सामर्थ्यका पता लग सकता है। जिस प्रकार घरके कमरेमें चमकनेवाले दीपका प्रकाश कमरेकी दिवारोंपर गिरनेसे नजर आता है। यदि दिवारोंकी रुकावट न होगी, तो नजर नहीं आवेगा। इसी प्रकार इस विश्वके कमरेमें परमात्माका दीप चमक रहा है, अग्नि आदि देवतारूपी दिवारोंपर उसके किरण पडकर जो मर्यादा उत्पन्न होती है, उस मर्यादासे उसकी शक्तिका ज्ञान होता है। ब्रह्मप्राप्तिके मार्गकी यह एक सीढी है।

जगत्में परमात्माकी शक्तिका कार्य देख कर सदसत्के मूल आदि कारणको जानना चाहिये। ज्ञानी, कवि, सन्त ही इस प्रकार परमात्माका ज्ञान प्राप्त करते हैं और उसके संबंधका सत्य उपदेश कर सकते हैं।

यह प्रथम मंत्रका आशय है। इसके पश्चात् द्वितीय मंत्रमें कहा है कि—"पूर्व कालके ज्ञानी भद्रपुरुषोंने जिस प्रकार प्रशस्ततम कर्म किये थे, उसी प्रकार तू भी प्रशस्ततम कर्म कर, अपने बालबच्चों और वीरोंको बचाओ और उनकी उन्नति करो, यही तुम्हें कहना है। (मं० २)" तुम्हारे सन्मुख वही आदर्श रहे, जो कि प्राचीनकालके श्रेष्ठ पुरुषोंने अपने सामने रखा था। इसी प्रकार प्राचीन कालके श्रेष्ठ पुरुषोंके जीवन चरित्र भी तू अपने सन्मुख रख और उनके समान बननेका यत्न कर। उन्होंने परमार्थसाधन करते हुए भी संसारयात्रा किस प्रकार चलाई, परमात्माकी भक्ति करते हुए ही अपने बालबच्चोंकी उन्नति किस प्रकार की, अपने संतानोंको विनाशसे कैसा बचाया, इत्यादि बातोंको उनके चरित्रोंमें देख कर उन बातोंको अपनी जीवनीमें ढाल दो और उनके समान आचरण करके अपनी आत्मिक उन्नतिका साधन कर। यह उपदेश इस द्वितीय मंत्रद्वारा मिलता है। यह सामान्य व्यवहारका मंत्र वैद्यक प्रकरणमें वैद्यका व्यवहार उत्तम करनेकी प्रेरणा दे रहा है और यहां आत्मोन्नतिके प्रकरणमें संसारके साथ परमार्थका साधन करनेकी प्रेरणा दे रहा है। पाठक इन सामान्य मंत्रोंका महत्त्व यहां देखें और वेदकी इस शैलीका अनुभव करें।

इन दो मंत्रोंका इस प्रकार आशय देखनेके पश्चात् अब तृतीय मंत्रका मनन करते हैं।

स्वर्गके महन्तोंकी घोषणा।

जिनको स्वर्गसुखका अनुभव प्राप्त हुआ है, वे महन्त जनताको जो कल्याणका उपदेश करते हैं, वह उपदेश इस तृतीय मंत्रमें कहा है—

ते असश्चतः मधुजिह्वाः सहस्रधारे दिवो नाके समस्वरन् ॥ (मं० ३)

" वे स्थितप्रज्ञ, मधुरभाषण करनेवाले, सहस्र धाराओंसे जहां अमृत प्राप्त होता है उस द्युलोकके स्थानका अनुभव लेनेवाले सन्त महन्त एक स्वरसे यह उपदेश देते हैं।" अर्थात् वे लोग जनताकी भलाईके लिये एक स्वरसे निम्नलिखित उपदेश करते हैं।

तस्य भूर्णयः स्पशः न निमिषन्ति।
सेतवे पदे पदे पाशिनः सन्ति ॥ (मं० ३)

" उस परमात्माके दुष्टोंको पाशोंसे बांधनेवाले दूत आंख कभी मूंझते नहीं, अर्थात् लोगोंके पुण्यपापोंको अपने खुले आंखोंसे सदा देखते रहते हैं। पापियोंको पाशोंसे बांधनेके लिये अपने पाश लेकर सब जगत्में हरएक स्थानमें सदा तैयार रहते हैं।" अर्थात् इनकी दृष्टिसे कोई पापी कभी बच नहीं सकता, हरएक पापीको उसके पापके अनुसार दण्ड देनेके लिये ये दूत सदा तैयार रहते हैं और अवश्य ही उस पापीको बांध देते हैं। अतः कोई पापी यह न समझे कि मैं पाप करके परमात्माके दण्डसे बच जाऊं। पद पद पर उसके दूत आंख खोलकर खडे हैं, वे तत्काल पापीको पकडते हैं। यहां तक इन दूतोंका प्रबंध पूर्ण है कि, पकडा गया हुआ पापी कभी कभी अपने आपको स्वतंत्र भी समझता है, परन्तु वह उस समय पूर्णरीतिसे बंधा हुआ होता है। परमात्माका इतना अद्भुत प्रबंध है, इस लिये सब मनुष्योंको उचित है कि वे उचित धर्मानुकूल व्यवहार दक्षताके साथ करनेका यत्न करें। पापसे बचें और इस प्रकारके सावधान आचरणसे परमात्माके इन गुप्तचरोंसे बच जांय। इसका बिलकुल संभव नहीं है कि कोई छिपकर पाप करे और वह छिपनेसे बच जाय। इस कारण विशेष सावधानताकी आवश्यकता है। यदि मनुष्य पुण्यमार्ग परसे जानेवाला होगा तो उसकी उत्तम रक्षा येही ईश्वरके दूत उतनी ही सावधानीसे करते हैं, इसलिये पुण्यात्माको किसीसे डर नहीं होता।

जो पाठक इस मंत्रका उत्तम विचार करेंगे उनका आचरण अवश्य ही सुधर जायगा, इसमें कोई संदेह नहीं है। यदि आत्मिकशक्तिका विकास करनेकी इच्छा पाठकोंमें होगी, तो उनके लिये परिशुद्ध आचरणकी अत्यंत आवश्यकता है, यह उपदेश इस मंत्र द्वारा उत्तम रीतिसे मिलता है।

शत्रुको भगाना।

चतुर्थ मंत्रमें शत्रुका लक्षण कहकर ऐसे शत्रुको दूर करनेका उपदेश किया है। 'वृत्र' शब्द यहां शत्रु वाचक है, जो घेरता है, चारों ओरसे प्रतिबंध उत्पन्न करता

है, विशेषतः (वाज-सातये) अन्नदान आदि परोपकारके कृत्योंमें जो रुकावटें खडी करता है, वह शत्रु है। पाठक विचार करेंगे तो उनकी रुकावट करनेवाले उनके शत्रु कौन हैं इसका उनको पता लग जायगा। धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, वैयक्तिक अथवा सांघिक रुकावटें उत्पन्न करनेवाले अनेक शत्रु विद्यमान हैं। इनको दूर करके अपना उन्नतिका मार्ग खुला करना आवश्यक है। ऐसे शत्रुओंको (परि सु प्र धन्व) सब ओरसे उत्तम प्रकार विशेषरीतिसे भगा दो। अपनेपास ठहरने न दो। शत्रुपर चढाई भूमिकी ओरसे तथा समुद्रकी ओरसे भी होती है। तथा ऊपरसे भी हो सकती है। कोई अन्यरीतियां भी होती होंगी। यहां तात्पर्य रीतियोंके कहनेसे नहीं है। जो भी रीति हो उसका अवलंबन करके शत्रुको दूर भगाया जावे, और अपना उन्नतिका मार्ग प्रतिबंधरहित बनाया जावे। प्रतिबंधरहित होना ही मुक्ति है। उसका मार्ग इस मंत्रने बताया है। यह तो आध्यात्मिक मुक्तिके लिये और सामाजिक तथा राष्ट्रीय मुक्तिके लिये भी अत्यंत उपयोगी है।

सिद्धिका मार्ग।

शत्रुओंका प्रतिबंध दूर करने, अपना मार्ग प्रतिबंध रहित करने और स्वतंत्रता प्राप्त करनेका उपदेश इन चार मंत्रोंमें पूर्वोक्त प्रकार किया है। अब विचार यह है कि इसकी सिद्धि किस प्रकार हो सकती है। इस शंकाके उत्तरमें कहा है—

एतेन नु अरात्सीः। (मं० ५)
एतेन अव अरात्सीः। (मं० ६)
एतेन अप अरात्सीः। (मं० ७)

" इसी मार्गसे तू सिद्धिको प्राप्त करेगा " अर्थात् पूर्वोक्त चार मंत्रोंमें जो धर्ममार्ग कहा है उसका आचरण करनेसे ही मनुष्यको सिद्धि मिल सकती है। चार मंत्रोंमें जो धर्म कहा है उसका संक्षिप्त स्वरूप यह है- (१) परमेश्वरकी भक्ति करना, (२) श्रेष्ठोंका आदर्श अपने सन्मुख रखना, (३) पापका भय धारण करना, (४) और प्रतिबंधक विघ्न अथवा शत्रु दूर करना। " ये उन्नतिके चार सूत्र हैं। इनका आचरण करनेसे मनुष्यकी उन्नति हो सकती है। इस उन्नतिमें एक बातकी आवश्यकता है और वह है " स्वाहा " करना। स्वाहा करनेका अर्थ अब देखिये—

स्वा-हा करो।

इस सूक्तमें मं० ५ से ७ तकके तीन मंत्रोंमें तथा दसवें मंत्रमें मिलकर चार वार ' स्वाहा ' शब्द आगया है। इसलिये इस सूक्तमें अनेक वार और बार बार स्वाहा

आनेसे इसका महत्त्व इस सूक्तोक्त सिद्धीमें अधिक है। इस लिये 'स्वाहा' शब्दका अर्थ देखना चाहिये।

(स्व) अपने सर्वस्वको (हा) त्याग देनेका नाम स्वाहा है। अपने अधिकारमें जो तन, मन, धन आदि है उसका सब जनताकी भलाईके लिये समर्पण करनेका नाम स्वाहा करना है। अपनी शक्ति केवल अपने भोग बढानेमें ही खर्च न करते हुए संपूर्ण जनताकी भलाई करनेके प्रशस्ततम कार्य करनेमें उसका व्यय करना स्वाहा शब्दसे बताया जाता है। इसलिये यज्ञके हवनमें स्वाहा शब्दका उच्चार होता है। इसका अर्थ यह है कि यज्ञमें दी हुई आहुति दूसरोंकी उन्नतिके लिये दी है, उससे मैं अपने भोग बढाना नहीं चाहता। यही यज्ञकी शिक्षा है। द्रव्ययज्ञ, विद्यायज्ञ, ज्ञानयज्ञ आदि अनंत यज्ञ हैं, इनका अर्थ ही यह है कि द्रव्य ज्ञान आदिका परोपकारार्थ समर्पण करना और उनको केवल अपने भोग बढानेके लिये न लगाना। परोपकारके लिये आत्मसर्वस्वका समर्पण करनेका नाम स्वाहाकार है। यह स्वाहाकार करनेसे ही इस सूक्तमें कही परम उच्चसिद्धि प्राप्त हो सकती है। यह स्वाहाकार जितना होगा उतनी सिद्धि होगी। सिद्धिके लिये इस स्वाहाकारकी अत्यन्त आवश्यकता है। मं० ५ – ७ तकके तीन मंत्रोंमें तीन वार लगातार कहनेसे इस आत्मसमर्पणका अत्यंत महत्त्व सिद्ध होता है। पाठक भी यहां देख सकते हैं कि जगत्में भी स्वार्थत्याग करनेवालेकी ही विशेष प्रतिष्ठा होती है, वैसी स्वार्थी मनुष्यकी नहीं होती। अर्थात् स्वार्थत्याग जैसा जगत्के व्यवहारमें प्रतिष्ठा प्राप्त करनेके लिये आवश्यक है, उसी प्रकार परमार्थसाधनके लिये भी आवश्यक है।

सोम और रुद्र।

जगत्में शांति करनेवाली और उग्रता बढानेवाली दो शक्तियां हैं, इनके 'सोम–रुद्र, अग्नि-सोम, इन्द्र-सोम' ये नाम वेदमें आ गये हैं। सोमशक्ति जगतमें शान्ति करनेवाली है और रुद्रशक्ति उग्रता बढानेवाली है। प्रत्येक स्थानमें ये दोनों शक्तियां कार्य करती हैं, कहीं कदाचित एक न्यून होती है और दूसरी प्रबल होती है। जो प्रबल होती है उसका प्रभाव होता है, अर्थात् यदि किसीमें सोमशक्तिका प्रभाव अधिक हुआ तो वह पुरुष, शान्त, गम्भीर, विवेकी विचारी होगा, तथा किसीमें रुद्रशक्तिकी प्रधानता हुई तो वह पुरुष शूर वीर, युद्धप्रिय, क्रूर अथवा कठोर होगा। इस प्रकार मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्ति देखनेसे पता लग जाता है कि इसमें कौनसी शक्ति विशेष प्रबल है और कौनसी न्यून है।

जिस प्रकार व्यक्तिमें सोम अथवा रुद्र शक्तिकी न्यूनाधिकता होती है, उसी प्रकार

समाजमें अथवा जातीमें सोम या रुद्रशक्तिकी न्यूनाधिकता होती है। इसी कारण ब्राह्मण और क्षत्रिय ये वर्ण क्रमशः शांतस्वभाव तथा उग्रस्वभाव हुए हैं। ब्राह्मणकी शान्ति और क्षत्रियकी उग्रता उस कारणही सुप्रसिद्ध है। अतः सोमारुद्रौ इस देवता वाचक शब्दसे आदर्श ब्राह्मण क्षत्रियोंका बोध होता है।

मं० ५—७ तकके तीनों मंत्रोंमें सोमारुद्रौ देवता है। 'ये दोनों देवता हमें सुखी करें' ऐसी प्रार्थना इन तीनों मंत्रोंमें है। व्यक्तिके अंदर जो शान्ति और उग्रता होती है वह उसके हितके लिये सहायक होवे, अर्थात् मनुष्यकी शान्ति उसको शिथिल बनानेवाली न हो और मनुष्यकी उग्रता उसको हिंसक न बनावे, यह आशय यहां लेना उचित है। समाजमें भी शान्तिप्रिय ब्राह्मण और युद्धप्रिय क्षत्रिय परस्पर सहायकारी होकर परस्परकी उन्नति करते हुए राष्ट्रका उद्धार करनेवाले हों। इस प्रकार मनुष्यकी उन्नति होती रहे और सबका सुख बढता रहे और कोई हीन और दीन न बने। पूर्वोक्त कही रीतिके अनुसार मनुष्य त्यागभावसे स्वार्थत्याग और आत्मसमर्पण करता हुआ और शान्ति तथा उग्रतासे योग्य सहायता लेता हुआ सिद्धिको प्राप्त करे। यह आशय इन तीन मंत्रोंका है। पाठक इन मंत्रोंका विचार करेंगे तो उनके ध्यानमें यह बात आ सकती है कि किस प्रकार स्वार्थत्याग और आत्मसमर्पणपूर्वक आत्मोन्नतिके मार्गका अवलंबन करके मनुष्य उन्नतिको प्राप्त हो सकता है। इन तीनों मंत्रोंका आशय ही भिन्न शब्दोंसे अष्टम मंत्रमें कहा है। इस अष्टम मंत्रके तीन भाग हैं—

तीन उपदेश।

१ अवद्यात दुरितात् अस्मान् मुमुक्तम्। (मं० ८)
२ यज्ञं जुषेथाम्। (मं० ८)
३ अस्मासु अमृतं धत्तम्। (मं० ८)

" (१) निंद्य पापाचरणसे हमें मुक्त कर, (२) यज्ञका सेवन कर, (३) हममें अमृतको धारण कर।" ये तीन उपदेश अष्टम मंत्रमें हैं। पापाचरणसे दूर रहना, आत्मसमर्पणरूप यज्ञ करना और अन्तमें अमृतको प्राप्त करना, ये तीन उपदेश हैं, जो पूर्वके मंत्रोंका सार है। इस समय तक जो उपदेश इस सूक्तमें कहे हैं उनका सार इन तीन मंत्रभागोंमें आगया है। "पापसे बचना, सत्कर्म करना, और मृत्युको दूर करके अमृतको प्राप्त करना" सब धर्मके नियम इन तीन मंत्रभागोंमें संमिलित हुए हैं। अमृत प्राप्त करना यह मनुष्योंका साध्य है, उसका साधन यज्ञ अर्थात् सत्कर्म करना है और पापाचरण न करना यह निषिद्ध कर्मका निषेध है। इस प्रकार यह त्रिवृत यज्ञ

किंवा त्रिकर्म करना है। यदि और कुछ सिद्ध न हुआ तो ये तीन उपदेश मनुष्यके मनमें स्थिर रहे तो उसका बेडा पार हो सकता है। कितने व्यापक महत्त्वके उपदेश कितने थोडे शब्दोंमें वेदने यहां दिये हैं; इसका विचार पाठक करेंगे; तो उनको इन उपदेशोंका महत्त्व समझ सकता है।

शस्त्रोंके शस्त्र।

शत्रुको दूर करनेका उपदेश इससे पूर्व कईवार किया है। उसका पालन करनेके लिये शत्रुके शस्त्रास्त्रोंकी अपेक्षा अपने शस्त्रास्त्र बढानेकी आवश्यकता होती है। हमारे शस्त्रास्त्र देखकर शत्रुभी अपने शस्त्रास्त्र बढाता है। इस प्रकार दोनों ओरके शस्त्रास्त्र बढ़ने लगे, तो वे इतने बढ जाते हैं कि उसकी कोई परिमिति नहीं रहती। इसके पश्चात् जो अत्यधिक शस्त्रास्त्रोंसे सज्जित राष्ट्र होता है, उसका नियमन किस रीतिसे किया जाय; यह प्रश्न विचारी मनुष्योंके सन्मुख उपस्थित होता है, इस प्रश्नका उत्तर नवम मंत्रने दिया है—

चक्षुषः मनसः ब्रह्मणः तपसः हेतिः मेन्याः मेनिः॥ मं० (९)

"आंख, मन, ज्ञान और तपके जो शस्त्र हैं, वे शस्त्रोंके भी शस्त्र हैं।" अर्थात् शस्त्रोंसे कई गुणा अधिक शक्ति इन में है। इन में जो आत्मिकबल होता है वह शस्त्रास्त्रोंके बलसे कई गुणा अधिक समर्थ होता है। इसलिये शस्त्रास्त्रोंके पाशवीबलका प्रतीकार नेत्र-मन-ज्ञान-तपरूपी आत्मिक बलवाले आध्यात्मिक शक्तियोंसे किया जा सकता है। केवल दृष्टिक्षेपसे, केवल मनकी इच्छासे, केवल ज्ञानके योगसे अथवा तपके प्रभावसे पाशवी शस्त्रोंका प्रतीकार किया जा सकता है। लोहेके शस्त्रास्त्र क्षत्रियके हैं और ये आत्मिक बल ब्राह्मणके होते हैं। विश्वामित्र के पाशवी शस्त्र तपस्वी वसिष्ठकी इच्छाशक्तिके सामने व्यर्थ सिद्ध हुए, यह इतिहासिक कथा यहां देखने योग्य है।

पाशवी बलका आत्मिक बलसे प्रतिकार।

पाशवी बल जिसके पास बढता है, वह अपने सुखको बढानेके लिये दूसरोंपर अत्याचार करता है, इस कारण वह (अघ+आयुः) जिसकी आयु पापमय हो चुकी है, ऐसा पापी बनता है। जिस प्रकार एक पापी व्यक्ति दूसरोंपर अत्याचार करती है उसी प्रकार पाशवी शस्त्रास्त्रोंसे युक्त एक पापी राष्ट्रभी दूसरोंपर भी अत्याचार करता है, इस लिये उसकोभी "अघ—आयु" अर्थात् पापी जीवनवाला राष्ट्र कहते हैं, उसका वर्णन यह है—

ये अस्मान् अभ्यघायन्ति । (मं० ९)

यो अघायुः अस्मान् अभिदासात । (मं १०)

" जो हमें सब ओरसे पापाचरणसे कष्ट देते हैं। जो पापी हमें दास करना चाहता हैं अथवा हमारा सर्वस्व नाश करना चाहता है।" इन मंत्र भागोंमें पाशवी अत्याचार का स्वरूप बताया है, (१) एक तो यह है कि दूसरेका घातपात पापपुण्यका विचार न करते हुए करना, (२) और दूसरा यह है दूसरोंका सर्वस्व नाश करना। यह पाशवी अत्याचारका स्वरूप है। जगत्के अन्दरकी सब गुलामी और लोगोंके सब दुःख इसीके कारण हैं। पाठक जगत् के इतिहासमें देखेंगे, तो उनको मालूम होगा कि 'एक बलवाला दूसरे निर्बलको अपने पेटकी पूर्तिके लिये खा रहा है।"यही पाशवी अत्याचार है। इस बलवानके शस्त्रोंको निर्बल करनेका उपाय केवल आत्मिक बल ही हैं—

चक्षुषा मनसा चित्त्या आकूत्या मेन्या तान् अमेनीन् कृणु। (मं० १०)

ब्रह्मणः तपसः च मेन्या ते अमेनयः सन्तु। (मं० ९)

" आंख, मन, चित्त और संकल्परूपी शस्त्रसे उन अत्याचारी शत्रुवोंको शस्त्र रहित कर। ज्ञान और तपके शस्त्रसे उनको शस्त्रहीन कर।" अर्थात् पाशवी शस्त्रोंका सामना इन आत्मिक बलसे कर। अपने आंख, मन, चित्त, संकल्प, ज्ञान और तप ये हि आत्माके शस्त्र हैं। इनको तेजस्वी बना और इनसे तू लोहेके शस्त्रोंका प्रतिकार कर। तुम्हारे अंदर ये आत्मिकबल जितने प्रमाणसे बढेंगे, उतनेहि प्रमाणसे शत्रुके पाशवी बल सत्त्वहीन हो जांयगे। पाशवी शक्तिवालोंका सामना करनेका यही सनातन मार्ग है। इसी मार्गके आचरणसे वसिष्ठने विश्वामित्रका और प्रल्हादने हिरण्यकशिपुका सामना किया था। इस आत्मिकबलके मार्गसे अन्तमें निःसंदेह विजय होगा। सबसे अधिक प्रभावशाली यह आत्मिकबल है। जो पाशवी बलवाले होते हैं वे अपने लोहशस्त्रोंकी घमंडसे अपना आत्मिकबल बढानेका यत्न नहीं करते किंवा वे अत्याचार प्रवृत्तिके कारण अपना आत्मिकबल बढा नहीं सकते। इसलिये अनत्याचारी शान्तिपूर्ण अहिंसामय आत्मिक बलके मार्गपरसे जानेवाले लोग जितना अपना मार्ग आक्रमण करेंगे; उतना उनका विजय ही होता रहता है, क्यों कि उनके शत्रु इस मार्गमें आते नहीं, और यदि इस आत्मिकबलके मार्गपर वे आगये, तो भी उसमें इनही आत्मिक उन्नतिवालोंकीही जीत होगी। इसका कारण यह है कि यदि इस मार्गपर चलनेके लिये वे शत्रु अहिंसामय अनत्याचारी बने, तो दुःख का मूलही नष्ट होगया और फिर झगडेका कारणही नहीं रहा। जैसा वासिष्ठका आत्मिक बल देखकर विश्वामित्रने

अत्याचारी क्षात्रबलका त्याग करके शांतिमय अनत्याचारी ब्राह्मबलका स्वीकार किया। तत्पश्चात् दोनोंमें झगडा होनेका कुछ भी कारण न रहा। इस प्रकार आत्मिकबलवालोंकी सदा जीत ही होती रहती है।

इस आत्मिकबलद्वारा पाशवी अत्याचारोंको रोकनेके मार्गमें "स्वा-हा" अर्थात् आत्मसर्वस्वका समर्पण करनेकी अत्यंत आवश्यकता होती है, इसीलिये दशम मंत्रमें पुनः 'स्वाहा' शब्दद्वारा आत्मत्यागका उपदेश दिया है। पाठक यहां स्मरण रखें, कि अत्यंत स्वार्थत्यागके विना यह आत्मशुद्धि और आत्मबलके मार्गपरसे चलना असंभव है। इस आत्मसर्वस्वके समर्पणका स्वरूप देखिये—

आत्मसमर्पण

"अपना कहने योग्य जो भी कुछ हो उसका सत्कार्यमें समर्पण करना आत्मसमर्पण कहलाता है।" इसका वर्णन इस प्रकार है—

> यत् मे अस्ति तेन सह, सर्वतनूः, सर्वगुः, सर्वात्मा, सर्वपूरुषः
> त्वा प्रपद्ये, त्वा प्रविशामि ॥ ११-१४ ॥

"जो कुछ मेरा है उसको लेकर तथा सब शरीर, सब इंद्रिय, सब आत्मशक्तियां, सब पुरुषार्थशक्तियां लेकर तुझे प्राप्त होता हूं और तुझमें प्रविष्ट होता हूं।"

इस मंत्रमें स्वार्थसमर्पणकी परम सीमा वर्णन की है। जो कुछ मेरा इस जगत्में है उसको भी परमार्थकी सिद्धता करनेके लिये समर्पण करता हूं और उसके साथ मेरा शरीर, मेरे इंद्रिय, मेरी मन आदि शक्तियां, और सब पुरुषार्थकी शक्तियां भी उसी परम कार्यके लिये समर्पित करता हूं। अर्थात् जो कुछ मेरा कहने योग्य है, वह सब ध्येयकी सिद्धीके लिये समर्पित करता हूं। यह 'स्वाहा' शब्दका स्पष्ट अर्थ इन मंत्रों द्वारा बताया गया है। इन मंत्रोंको देखनेसे आत्मसमर्पणका अर्थ कितना व्यापक है, इस बातका पता लग सकता है। इस प्रकारका आत्मसमर्पण जो कर सकते हैं वेही त्यागी अन्तमें बंधमुक्त होकर अमृत प्राप्त कर सकते हैं, जिनको किसी भी प्रकारकी पाशवी शक्तिसे बांधा नहीं जा सकता।

इस रीतिसे इस सूक्तमें आत्मोन्नतिके मार्गका उपदेश दिया है, इस मार्गसे आत्मशुद्धि होकर वैयक्तिक, सामाजिक, राजकीय और पारमार्थिक उन्नतिका साधन मनुष्य कर सकता है। यह सूक्त कई दृष्टियोंसे मनन करने योग्य है। जो पाठक इस दर्शायी रीतिसे इस सूक्तका अधिक मनन करेंगे, वे अपने उद्धारका उत्तम बोध प्राप्त कर सकते हैं।

ऐश्वर्यमयी विपत्ती।

[७]

(ऋषिः- अथर्वा। देवता-बहुदैवत्यम्।)

आ नो भर मा परि ष्ठा अराते मा नो रक्षीर्दक्षिणां नीयमानाम्।
नमो वीत्सार्या असमृद्धये नमो अस्त्वरातये ॥ १ ॥

यमराते पुरोधत्से पुरुषं परिरापिणम्।
नमस्ते तस्मै कृण्मो मा वनिं व्यथयीर्मम ॥ २ ॥

अर्थ- हे (अराते) अदानी ! (नः आभर) हमें धन भर दे, हमसे (मा परि स्थाः) मत अलग हो, (नः नीयमानां दक्षिणां मा रक्षीः) हमारी लाई गई दक्षिणाको मत अपने पास रख। ऐसी (वीत्सार्यै असमृद्धये नमः) ईर्ष्या युक्त असमृद्धिके लिये नमस्कार है और (अरातये नमः अस्तु) अदानके लिये दूरसे नमस्कार है ॥ १ ॥

हे (अराते) अदानी ! (यं परिरापिणं पुरुषं पुरोधत्से) जिस बडबडनेवाले पुरुषको तू आगे धरती है (ते तस्मै नमः कृण्मः) तेरे उस पुरुषको हम नमस्कार करते हैं। परंतु (मम वनिं मा व्यथयीः) मेरे मनकी इच्छा को तू पीड़ा न दे ॥ २ ॥

भावार्थ— दान न देनेका गुण संपत्तिको संग्रहित करता है, इसलिये यह गुण कुछ मर्यादा तक अलग न हो। परंतु देने योग्य दक्षिणाका दान कम न हो। इस मर्यादा तक की कंजूसी और असमृद्धिका हम आदर करते हैं ॥ १ ॥

जिस पुरुषपर उक्त प्रकारकी अदानशीलताका प्रभाव हुआ है उसको भी हम नमस्कार करते हैं, तथापि मेरी मनकी इच्छाको उससे व्यथा न पंहूंचे ॥ २ ॥

प्र णो वनिर्देवकृता दिवा नक्तं च कल्पताम् ।
अरातिमनुप्रेमो वयं नमो अस्त्वरातये ॥ ३ ॥
सरस्वतीमनुमतिं भगं यन्तो हवामहे ।
वाचं जुष्टां मधुमतीमवादिषं देवानां देवहूतिषु ॥ ४ ॥
यं याचाम्यहं वाचा सरस्वत्या मनोयुजा ।
श्रद्धा तमद्य विन्दतु दत्ता सोमेन बभ्रुणा ॥ ५ ॥
मा वनिं मा वाचं नो वीर्त्सीरुभाविन्द्राग्नी आ भरतां नो वसूनि ।
सर्वे नो अद्य दित्सन्तोऽरातिं प्रति हर्यत ॥ ६ ॥

अर्थ-(नः देवकृता वनिः) हमारी देवोंद्वारा निर्मित इच्छा(दिवा नक्तं च कल्पतां) दिन और रात समर्थ होवे। (वयं अरातिं अनुप्रेमः) हम अदानशीलताको प्राप्त हों (अरातये नमः अस्तु) अदानशक्तिको नमस्कार होवे ॥ ३ ॥ (यन्तः सरस्वतीं अनुमतीं भगं हवामहे) हलचल करनेवाले हम विद्या, सुमति और ऐश्वर्यको पास बुलाते हैं । (देवहूतिषु देवानां जुष्टां वाचं अवादिषं) देवोंके आह्वानके प्रसंगमें देवोंके लिये प्रिय वाणी ही मैं बोलता हूं॥ ४॥ (यं अहं मनोयुजा सरस्वत्या वाचा याचामि) जिससे मैं उत्तम मनसे युक्त ज्ञानमय वाणीको मांगता हूं (तं अद्य बभ्रुणा सोमेन दत्ता) उसको आज भरणकर्ता सोमने दी हुई (श्रद्धा विन्दतु) श्रद्धा प्राप्त होवे ॥ ५ ॥ (नः वनिं मा) हमारी भक्तिको न कम कर और (वाचं मा वि ईर्त्सीः) वाणीको भी न रोक। (उभौ इन्द्राग्नी नः वसूनि आ भरतां) दोनों इन्द्र और अग्नि हमें धन प्राप्त करावें। (नः दित्सन्तः सर्वे) हमें दान करनेवाले सब तुम (अरातिं प्रतिहर्यत) अदानशीलताको विरोधके साथ प्राप्त हो ॥ ६ ॥

भावार्थ-देवों द्वारा प्रेरित हमारी सदिच्छा दिन और रात बढती रहे। हम उक्त प्रकारकी अदानशीलताको प्राप्त हों ॥३॥ हम हलचल करनेवाले लोग विद्या, सुमति और ऐश्वर्यकी इच्छा करते हैं। हम सदा प्रियवाणी ही बोलें ॥ ४ ॥ मैं उत्तम सुसंस्कृत मन और ज्ञानमयी वाणीको चाहता हूं। उत्तम श्रद्धा भी हम सबको प्राप्त हो ॥ ५ ॥ हमारी सदिच्छा कम न हो और वाणी न रुके। देव हमें धन देवें। दान देनेवाले सब दानी उक्त प्रकारकी अदानशीलताको दूरसे नमस्कार करें ॥ ६ ॥

*

परोपेह्यसमृद्धे वि ते हेतिं नयामसि ।
वेद त्वाहं निमीवन्तीं नितुदन्तीमराते ॥ ७ ॥
उत नग्ना बोभुवती स्वप्नया संचसे जनम् ।
अराते चित्तं वीर्त्सन्त्याकूतिं पुरुषस्य च ॥ ८ ॥
या महती महोन्माना विश्वा आशा व्यानशे ।
तस्यै हिरण्यकेश्यै निर्ऋत्या अकरं नमः ॥ ९ ॥
हिरण्यवर्णा सुभगा हिरण्यकशिपुर्मही ।
तस्यै हिरण्यद्रापयेऽरात्या अकरं नमः ॥ १० ॥

अर्थ– हे (असमृद्धे) असमृद्धि ! (परः अप इहि) परे चली जा (ते हेतिं विनयामसि) तेरे शस्त्रको हम अलग करते हैं । हे (अराते) अदानशीलते ! (अहं त्वा निमीवन्तीं नितुदन्तीं वेद) मैं तुझको निर्बल करनेवाली और अंदरसे चुभनेवाली जानता हूं ॥ ७ ॥

हे (अराते) अदानशीलते ! (उत नग्ना बोभुवती) और नंगी होकर (जनं स्वप्नया सचसे) मनुष्यको आलस्यसे युक्त करती है । इस प्रकार (पुरुषस्य चित्तं आकूतिं च वि ईर्त्सन्ती) मनुष्यके चित्त और संकल्पको मलीन करती है ॥ ८ ॥

(या महती महोन्माना) जो बडी और विशाल होनेके कारण (विश्वा आशा व्यानशे) सब दिशाओंमें फैली है । (तस्यै हिरण्यकेश्यै निर्ऋत्यै) उस सुवर्णके समान बालवाली विपत्तिको (नमः अकरं) नमस्कार करते हैं ॥ ९ ॥

(हिरण्यवर्णा सुभगा) सुवर्णके समान वर्णवाली, ऐश्वर्यवाली (मही हिरण्यकशिपुः) बडी सुवर्ण वस्त्रवाली है (तस्यै हिरण्यद्रापये अरात्यै) उस सुवर्णके वस्त्रोंसे आच्छादित अदानशीलताके लिये (नमः अकरं) नमस्कार करता हूं ॥ १० ॥

भावार्थ– असमृद्धि दूर चली जावे। तेरे आघातको हम हटाते हैं। मैं जानता हूं कि असमृद्धिसे निर्बलता होती है और अंदरसे ही कष्ट होते हैं ॥७॥

कंजूसी मनुष्यको नंगा बनाती और आलसी बनाती है । और मनुष्यके चित्त और संकल्पको मलीन करती है ॥ ८ ॥

यह बडी विशाल है और सर्वत्र फैली है। उस सुवर्णके समान रंगवाली विपत्तिके लिये दूरसेही नमस्कार है ॥ ९ ॥

सुवर्णके समान सुंदर, ऐश्वर्यवाली, सुवर्णके आभूषणवाली इस अदान-शीलताको हम दूरसे नमन करते हैं ॥ १० ॥

विपत्तिपूर्ण सम्पत्ति ।

आपत्तिपूर्ण विपत्ति और संपत्तिमय विपत्ति, ऐसी दो प्रकारकी विपत्तियां हैं। इन-मेंसे वस्तुतः दोनों निंदनीय ही हैं; परंतु पहिलीका सर्वथैव निषेध और दूसरीका कुछ नियमोंसे निषेध वेदमें किया है। आपत्तिपूर्ण विपत्ति वह है कि जो परिपूर्ण नि-र्धनताके साथ अनंत आपत्तियां लगीं रहती हैं। यह अवस्था तो पुरुषार्थके साथ दूर करनी चाहिये। परंतु दूसरी जो संपत्तिमय विपत्ति है, जिसको भाषामें "कंजूसी" कहते हैं; इस अवस्थामें मनुष्यके पास संपत्ति तो विपुल रहती है, परंतु दान न करनेके कारण घरमें विपुल धन होते हुए भी इसकी स्थिति कंगाल जैसी होती है। यह भी अवस्था दूरसे ही नमस्कार करने योग्य है। और इसीका वर्णन इस सूक्तमें किया है।

पाठक ऐसे मनुष्यकी कल्पना अपने मनमें करें कि जो बडा धनी है, परंतु अत्यंत कंजूस है, अत्यंत आवश्यक धर्मकृत्यके लिये भी दान नहीं देता है। ऐसा मनुष्य संपत्ति मय विपत्तिसे घेरा हुआ होता है, इसका वर्णन इस सूक्तके नवम और दशम मंत्रमें किया है। जो पाठक इन दोनों मंत्रोंका आशय ठीक प्रकार समझेंगे, उनको इस सूक्त-का तात्पर्य समझनेमें कोई कठिनता न होगी।

नवम मंत्रमें (हिरण्यकेशी निर्ऋती) सोनेके बालोंवाली विपत्तिका वर्णन है। जहां बालबालमें सुवर्ण भरा है, ऐसी यह धनमय निर्धनता है। इसीको धन पास होते हुए निर्धन कहा जाता है। इसीका और वर्णन दशम मंत्रमें देखिये—

हिरण्यवर्णा, सुभगा, हिरण्यकशिपुः मही,
हिरण्यद्रापी, अरातिः। (मं० १०)

" सोनेके वर्णसे युक्त, उत्तम भाग्यवती, सोनेके शरीरसे युक्त, बडी और सोनेके कपडे ओढी अदानशीलता यह है।" जिस धनीके पास सोना चांदी विपुल है, अन्यान्य ऐश्वर्य जितना चाहिये उससे भी अधिक है, हरएक स्थानपर सोनेके ढेर लगे हुए हैं, घरमें कपडे वर्तन और अन्यान्य साधन भी सुवर्णके ही बने हैं, ऐसे महाधनी पुरुष के अंदर जो दान न देनेका भाव रहता है उसका नाम " धनयुक्त निर्धनता " है। निर्धन मनुष्य दान न देवे तो वह उसका न देना समर्थनीय है, क्यों कि उसके पास

देनेके लिये कुछ भी नहीं है, परंतु जो मनुष्य संपत्तिमें लदा हुआ होनेपर भी सत्कर्मके लिये उचित दान नहीं देता, उसको तो दूरसे ही (नमः अकरं। मं० १०) नमस्कार करना चाहिये। उसके पास भी जाना योग्य नहीं है। इस प्रकारकी धनमयी विपत्ति बहुत स्थानोंमें दिखाई देती है, इसी विषयमें नवम मंत्रमें कहा है—

या महती महोन्माना विश्वा आशा व्यानशे। (मं० ९)

"यह संपत्तिमयी विपत्ती बडी विशाल है और सब दिशाओंमें व्यापी है" अर्थात् कोई दिशा इससे खाली नहीं है। हरएक दिशामें इस संपत्तिमयी विपत्तिमें डूबे हुए लोग होते ही हैं। कोई गांव इससे खाली नहीं है। अपनी शक्तिसे अत्यधिक दान देनेवाले अथवा जनताकी भलाईके लिये आत्मसर्वस्वका पूर्णतया समर्पण करनेवाले उदारधी दानी महात्मा थोडे ही होते हैं। परंतु बहुत अल्पदान करनेवाले अथवा बिलकुल दान न देनेवाले लोग ही बहुत होते हैं। इसीलिये नवम मंत्रमें कहा है कि "यह दानहीना बडी विशाल और सर्वत्र उपस्थित है। " कोई नगर इससे खाली नहीं है। प्रशस्त कर्म करनेके लिये धनकी याचना करनेवाले धर्मसेवक किसी भी नगरमें जावें, वहां इस प्रकारके धनवान होते हुए भी निर्धनके समान व्यवहार करनेवाले लोग ही उनको चारों ओर दिखाई देंगे। इस कंजूसीसे क्या होता है देखिये—

कंजूसीसे गिरावट।

नग्ना बोभुवती स्वप्नया जनं सचते ॥
अरातिः पुरुषस्य चित्तं आकूतिं च वीर्त्सयन्ती ॥ (मं०८)

"यह कंजूसी स्वयं नंगी रहनेके समान लोगोंकोभी नंगा बना देती है। और उनको आलसी भी बना देती है। यह कंजूसी मनुष्यके चित्त और संकल्पको मलिन कर देती है।" उदारचित्त दानी पुरुष जैसा सदा प्रसन्नचित्त रहता है, और उसको जैसे चारों ओर मित्र मिलते हैं, उस प्रकार अदानी कंजूस का नहीं है, वह सदा आलसी होता है और उसका चित्त और संकल्प मलीन होता है। उसमें कभी प्रसन्नता नहीं होती। यह कितनी हानि है, इसका विचार पाठक करें और इस कंजूसीसे बचनेका प्रयत्न करें। क्यों कि यह मनुष्यको मनुष्यत्वसेभी गिरा देती है। इसीलिये सप्तम मंत्रमें कहा है—

असमृद्धे! परः अपेहि। ते हेतिं विनयामसि।
अराते! अहं त्वा निमीवन्तीं नितुदन्तीं वेद। (मं० ७)

" हे असमृद्धि! दूर हट जा। तेरे शस्त्र हम दूर हटा देते हैं। मैं खूब जानता हूं कि

तू लोगोंको निर्बल बनानेवाली और अन्दरसे दुःख देनेवाली है ! " वस्तुतः यह दानहीनता ऐसी कष्ट देनेवाली है इसलिये इसको हटा देना चाहिये। किसी को भी इसके आधीन नहीं होना चाहिये । क्यों कि यह निर्बलता बढानेवाली और आंतरिक कष्ट देनेवाली है । इसीसे मनुष्य गिर जाता है । इसलिये कहा है कि--

अरातिं प्रतिहर्यत । (मं० ६)

" कंजूसीका विरोध करो " । विरोध करके अपने अंदर कंजूसी न रहे ऐसी व्यवस्था करो । और अपने अंदर—

अद्य सर्वे दित्सन्तः । (मं० ६)

" आज सब ही दान देनेमें उत्सुक होवें " कोई कंजूस अपने अंदर न रहे। समाज ऐसे उदारचित्त दानी महाशयोंसे युक्त होवे और कभी कंजूसोंसे युक्त न होवे ।

हार्दिक इच्छा

हमारी हार्दिक इच्छा क्या होनी चाहिये, इस विषयमें विचार करनेके समय निम्नलिखित मंत्रभाग हमारे सन्मुख आ जाता है ।

१ यन्तः सरस्वतीं अनुमतीं भगं हवामहे । (मं० ४)

२ जुष्टां मधुमतीं वाचं अवादिषम् । (मं० ५)

३ सरस्वत्या मनोयुजा वाचा यं याचामि
तं अद्य श्रद्धा विन्दतु । (मं० ५)

" (१) हम प्रगतिका प्रयत्न करनेवाले लोग विद्या, सुमति और ऐश्वर्यको चाहते हैं । (२) हम सेवन करने योग्य मीठी बात ही बोलते हैं । (३) विद्या और सुविचार से युक्त सुसंस्कृत वाणीसे जिसके पास हम मांगते हैं, उसमें देनेकी श्रद्धा होवे " वास्तवमें हम चाहते हैं कि हम सबको विद्या, सुबुद्धि और संपत्ति प्राप्त हो । हम इसी लिये मधुर वाणीसे बोलते हैं । हम श्रेष्ठ सत्कर्म करना चाहते हैं, इन कर्मोंके लिये जिसके पास धनादिकी याचना करेंगे, उसमें देनेकी बुद्धि बसे । इस प्रकारके दानसे जनताकी भलाईके प्रशस्ततम कर्म किये जाते हैं, जिससे सबका उद्धार होगा और सबका यश बढेगा । तथा–

१ नः देवकृता वनिः दिवा नक्तं वर्धताम् । (मं० ३)

२ नः वनिं वाचं मा वीर्त्सीः । (मं० ६)

" देवों द्वारा बनायी हमारी यह श्रद्धामयी बुद्धि दिनरात बढे और (२) इस श्रद्धाभक्तियुक्त वाणीमें घटाव न होवे । " अर्थात् दानबुद्धि, परोपकारका भाव और आत्मसर्वस्व समर्पणकी श्रद्धा हममें स्थिर रहे और बढे । इस धर्मबुद्धिसे परस्परकी सहायता करते हुए हम उन्नतिको प्राप्त हों ।

यहां तक इस सूक्तके आठ मंत्रोंका विचार हुआ । इससे पाठकों को पता लग सकता है, कि इस सूक्तका मुख्य उपदेश क्या है । अदानशीलता अथवा कंजूसीका स्तोत्र करनेका विचार इसमें नहीं है; प्रत्युत मनुष्योंको हानिकारक कंजूसीसे निकाल कर उच्चता स्थापन करनेवाले श्रद्धापूर्ण दानशूरताकी ओर ले जाना इस सूक्तको अभीष्ट है ।

प्रथम मंत्रमें भी अदानशीलताको दूरसे नमन किया है । जो कंजूसी (दक्षिणां मा रक्षीः) दान देनेमें क्षति उत्पन्न नहीं करती, अर्थात् दान देनेके लिये निकाला हुआ धन भी फिर अपनी संदूकमें बंद नहीं करती, अर्थात् अपनी योग्यताके योग्य दान देती है वह बुरी नहीं है, उस संग्रहवृत्तिसे (आ भर) अपने पास धन भर दे और खजाना जिस प्रमाणसे भरेगा उस प्रमाणसे दान भी होगा । परंतु जो (अराति) कंजूसी असमृद्धि कंगालताका प्रदर्शन करती है और (वीर्त्सा) मलीनता युक्त व्यवहार कराती है, वह हानिकारक है । यह प्रथम मन्त्रका भाव मननीय है । इसका भाव यह है कि योग्यप्रमाणसे संग्रह किया जाय और उचित दानभी दिया जाय । जो कंजूसी कङ्गालके समान दिखती है वह हानिकारक है । धन पास होते हुए भी कंगालके समान व्यवहार करनेकी बुद्धि होनी बहुत हानिकारक है । मनुष्यमें चाहे बहुत औदार्य न हो, परन्तु धन होते हुए भी कंगाल जैसी वृत्ति तो रहनी नहीं चाहिये ।

इस प्रकार इस सूक्तका आशय है । यद्यपि इस सूक्तमें अदानशीलताको नमन किया है, तथापि वह उस वृत्तिको दूर करनेके लिये ही है । इस दृष्टिसे विचार करनेसे इस सूक्तमें बडा गंभीर आशय है यह बात पाठकोंके मनमें आ जायगी । यह सूक्त बडा कठिन है, सहज समझमें आने योग्य सुगम नहीं है । तथापि जो पाठक इस स्पष्टीकरणें दर्शायी रीतिसे इसका मनन करेंगे, वे इस सूक्तका आशय जान सकते हैं ।

मुद्रक — श्री० दा० सातवलेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा)

R. NO. B. 1463

ओ३म्

वैदिक धर्म।

वैदिक तत्व ज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

वर्ष १०

अंक ९

क्रमांक

११७

भाद्रपद

संवत् १९८६

सितंबर

सन १९२९

वार्षिक मूल्य— म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) विदेशके लिये ५)

विषयसूची।

वर्ष १०

अंक ९

क्रमांक ११७

भाद्रपद संवत् १९८६

सितंबर सन १९२९

वैदिक धर्म.

वैदिक तत्त्वज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।

संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।

स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

आत्मसमर्पणसे स्वर्गप्राप्ति !

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥

ऋ० १।१६४।५०; १०।९०।१६

" (देवाः यज्ञेन यज्ञं अयजन्त) ज्ञानी अपने आत्माके समर्पण से पूजनीय यज्ञपुरुष परमात्मा का यजन करते हैं, (तानि प्रथमानि धर्माणि आसन्) वे पहिले धर्म थे। इस धर्मानुष्ठानसे (ते ह महिमानः नाकं सचन्त) वे निश्चयपूर्वक महत्व को प्राप्त करते हुए स्वर्गको पहुंचते हैं। (यत्र पूर्वे साध्याः देवाः सन्ति) जहां पूर्वके साधनसंपन्न ज्ञानी रहते आये हैं। "

दूसरोंका भला करनेके कार्योंमें आत्मसमर्पण करने द्वारा पूर्ण ज्ञानी लोग परमेश्वरका पूजन करते आये हैं। आत्मसर्वस्व का उक्त कार्यों में समर्पण करना हा परम पूर्ण और श्रेष्ठ यज्ञ है। जो ज्ञानी इस महायज्ञका अनुष्ठान करते हैं वे महात्मा बन कर आनंदपूर्ण स्वर्ग धाममें अखंड आनंदका अनुभव लेते हैं। और वहां जाते हैं कि जहां सत्कर्म करनेवाले सत्पुरुष पहिलेसे जाते और वहां रहकर प्रकाशते हैं।

—:०:—

स्मृति-दहन ।

यदि स्मृति नष्ट हो जाय तो!

आजकल स्मृति-दहन की हलचल बहुत जोरों हो रही है। हमारा सनातन वैदिक मानव-धर्म श्रुति और स्मृति के बल पर ही अपना अस्तित्व धारण किए है। इस अवस्थामें यदि स्मृतिदहन की हलचल बढे और यदि स्मृति सचमुच नष्ट हो जावे, तो अपने धर्म की नींव पर ही घाव लगेगा। इस लिए धर्म के विषय में शांत चित्तसे विचार करने- वालों को इस स्मृति-दहन की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए।

छत्रपति श्री शिवाजी महाराज के काल तक इस आर्यभूमि के सब जातियों के कई वीर पुरुषोंने अपने धर्म के लिए प्राण तक त्याग दिए हैं और अपना यश निष्कलंक बनाए रखा तथा अपने सत्व की रक्षा की है। परंतु आज उसी देश में ऐसे कई पुरुष निर्माण हुए हैं जो स्वार्थ के लिए धर्म-त्याग करने के लिए तैयार हो गए हैं। इसीका उत्तम उदा- हरण स्मृति-दहन की हलचल है।

इन अविचारी लोगों ने इसका विचार तक न किया है कि स्मृति-दहन के बाद मनुष्य मनुष्यरूप में रह सकता है या नहीं। भविष्य में उन्नति होने के लिए पिछले अच्छे या बुरे अनुभवों की स्मृति अति आवश्यक है। सब मनुष्यों की स्मृति यदि पूर्णतया नष्ट हो जाय, तो इस दो पांववाले जीव को कोई भी मनुष्य न कहेगा। प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि वह इस बात का विचार करे। मनुष्यों की गणना महान् व्यक्तियों में उसी मात्रा में हो सकती है जिस मात्रामें उसकी स्मृति तीव्र होती है, जिस मात्रामें उसे भूत काल की बातों का स्मरण रहता है और उसी स्मृति के बलपर जिसे मालूम होता है कि भविष्यमें क्या करना चाहिए। परंतु उसे यदि भूतकाल की स्मृति ही न हो तो उसकी योग्यता पत्थर से कदापि अधिक न होगी। भूलनेवाला मनुष्य इस संसार में बेफाम समझा जाता है। उसका कारण यही है।

यही अवस्था राष्ट्र की और साथ ही साथ जाति की भी है। वही राष्ट्र या जाति अपना योग्य मार्ग निश्चित कर सकती है जिसे अपने राष्ट्र या जाति के पूर्व काल के अयोग्य और योग्य व्यवहारों की अच्छी स्मृति हो। हमने यदि यही मान लिया कि भूतकाल के सब व्यवहार और कानून आदि सब अयोग्य थे, तोभी हमे उनकी स्मृति नष्ट करने की आवश्यकता नहीं। क्यों कि याद रहना चाहिए कि आगे कभी उसी प्रकार के कानून शुरू न हों इसलिए स्मृति का सर्वनाश होने देना अच्छा नहीं। परन्तु यदि भूतकाल की प्रथाओं में और कानूनों में कोई अच्छी बात हो, तब तो स्मृति का महत्व और भी बढ जावेगा। सारांश, भूतकाल की बातें कितनी भी अच्छी और बुरी क्यों न हों उनसे हमें बहुत लाभ है। इसलिए हमारा कर्तव्य यही है कि उनकी रक्षा करें। हमारे धर्म में जो आचार विचारों का भाग है वह हमारे प्राचीन महान् पुरुषों का बनाया हुआ है। वह भी इस प्रकार बनते हुए चला आया है कि उसमें पुरानी और नई अच्छी अच्छी बातों का मेल है। यही मेल अब तक होते चला आया है। आजकल के दूरदर्शी विद्वानों का काम यही है कि उस प्रथा को उसी प्रकार आगे चलावें तथा उसमें योग्य और अच्छे फरक भी करते जावें। परन्तु इस बात का विस्मरण न हो कि सुधार करने के

लिएभी तो भूत-काल की स्मृति आवश्यक है ।

मनुस्मृति का दहन ।

कुछ मास पूर्व प्रथम मद्रास प्रांत के अब्राह्मणोंने " मनुस्मृति दहन" सार्वजनिक रीतिसे किया और उसीका अनुकरण वम्बई के अब्राह्मणों ने भी किया तत्पश्चात् अन्यत्रभी हुआ। इन लोगों ने इस कार्य को करके कौनसा लाभ उठाया सो जानना तो बहुत ही कठिन बात है। क्यों कि आजकल हमारे व्यवहार मनुस्मृति के नियमों के अनुसार बिलकुल नहीं चलते। यह तो सभी लोग जानते हैं कि कलियुग में पराशर स्मृति चालू है। (कलौ पाराशरः स्मृतः) इसलिए जो कानून की पुस्तक आजकल चालू नहीं है उसके जलाने से अब्राह्मणों को क्या लाभ हुआ होगा? हम तो इस बात को नहीं जान सकते। यदि चालू स्मृति को जला देते तो कह भी सकते थे कि उन्हे वर्तमान स्मृति से असंतोष है; परन्तु पुराने स्मृतिकारोंने, यह जानकर कि मनुस्मृति कलियुग के लिए योग्य नहीं है, पाराशर स्मृति निर्माण की और यह भी बतला दिया कि कलियुग में मनुस्मृति चालू नहीं है। ऐसी पुरानी स्मृति को जलाने से न मालूम उन्होंने क्या लाभ उठाया?

सन्मान्य स्मृतिकार मनु ।

स्मृतिकारों में अग्रस्थान मनुजी को मिला है। क्यों कि उन्होंने पहले पहल स्मृति बनाई। इसी लिए सब कानून-पण्डित मनु का सन्मान करते हैं। (The first law giver) ' पहला कानून बनानेवाला ' यह बहुमान की उपाधि संसार के महान् कानून पण्डितों ने भगवान् मनु को ही दी है। यदि कुछ दिवाभीत मनुस्मृति की थोडीसी प्रतियां जलाकर अपना अक्षम्य अज्ञान प्रगट करें, तब यह कदापि संभव नहीं कि मनुजी को मिला हुआ उक्त आदर इस कृति से सहस्रांश में भी घट जाय। मनुजी सर्व प्रथम कानून बनानेवाले थे। उनके कानूनी सिद्धान्त, जो उन्होंने इतने प्राचीन काल में निश्चित किये थे, अभी तक कोई भी बदल न सका। समस्त संसार के कानून पण्डित उन्हे जो इतना मान देते हैं उसका यही कारण है। इनके समान कानून बनानेवाला अब्राह्मण भी यदि संसार में पहला मान पा लेवे, तो इस बात का अभिमान अब्राह्मणोंको तो होना ही चाहिए, पर ब्राह्मणोंको भी होना चाहिए। ब्राह्मण तो अभीतक यह अभिमान रखते ही हैं; परन्तु दुःख यही है कि अब्राह्मण लोग बिना किसी कारण के अपनीही जाति के आदरणीय आदि स्मृतिकार से द्वेष करने लगे हैं। क्यों कि वे समझते हैं कि यह स्मृति ब्राह्मणों की ही लिखी हुई है। इसी कारण यह द्वेष जारी हुआ है। यदि उन्हे मालूम हो जावे कि स्मृति के बनाने का कुच्छ श्रेय क्षत्रियों को भी है,तो वे इस प्रकार आत्मघातक आंदोलन कदापि न करेंगे।

स्मृति के लेखक और चालक ।

पहले समझ लेना चाहिए कि स्मृति के लेखक और उसके प्रवर्तक भिन्न भिन्न व्यक्तियां होती हैं। इसे समझने के लिए ' हिन्दू कानून ' (Hindoo-law) का उदाहरण लीजिए। जब अंग्रेजी पहले पहल शुरू हुई तब पहला ' हिन्दू कानून ' कुछ यूरोपीयनों ने लिखा और बाद में वर्तमान ' हिन्दू कानून' श्रीयुत माननीय मंडलीक महोदयने लिखा। पहले लेखक यूरोपीयन थे और दूसरे ब्राह्मण। तब भी यह राजाको ही प्रचलित करनी पडी तभी तो उसे कानून का स्वरूप प्राप्त हुआ। इसलिए यद्यपि " हिन्दू कानून" पहले कुछ यूरोपीयनोंने और पश्चात् ब्राह्मणों ने लिखा तब भी वह तो वर्तमान अंग्रेज सरकारद्वारा प्रवर्तित किया गया है। उसका यश वा अपयश राजा को ही है। लेखक का उससे कोई संबंध नहीं क्यों कि लेखक कानून बनानेवाला नहीं होता वह सिर्फ परिस्थिति का उल्लेख भर कर देता है। अर्थात् वर्तमान रीति नियमोंका संग्रह करता है।

मनुस्मृति भृगु ऋषि ने लिखी थी और मनुजीने उसे प्रचलित किया था। भृगु ऋषि ब्राह्मण थे और मनुजी क्षत्रिय थे। इन दोनों का भाग मनुस्मृति में उसी प्रमाण में है जैसे वर्तमान " हिन्दू कानून " में श्री. मंडलिक और सरकार का है। हमारी मनुस्मृति

में यद्यपि वर्तमान कानून (Law) के सिवा और भी कुछ बातें हैं, तब भी मनुस्मृति को एक समय कानून का ही स्वरूप था। यदि देख लिया जाय कि कानून किस प्रकार बनाए जाते हैं, तो अपन सहज ही में समझ सकते हैं कि स्मृति बनाने में किसका कितना गुण है और किसका कितना दोष।

स्मृति, धर्मशास्त्र अथवा कानून ये तीनों शब्द एक दृष्टि से समान अर्थ के हैं। आजकल सदाचार और कानून विलग हो गए हैं। इससे कानून (Law) शब्द का अर्थ आजकल भिन्न माना जाता है। पर यदि उसमें धार्मिक सदाचार के नियम शामिल कर लिए जांय तो ऊपर लिखे तीनों शब्द एक ही अर्थ के हो जावेंगे। संस्कृत साहित्य में भी धर्मशास्त्र अथवा स्मृति उसी कानून को कहा है " जो सदाचार के धार्मिक नियमोंसहित है " अतः जब हम मालूम कर लेंगे कि कानून किस प्रकार बनाए जाते हैं और वे प्रचार में कैसे आते हैं, तो हमे ज्ञात होगा कि मनुस्मृति किस प्रकार प्रचार में आई होगी। हमे यह भी विदित होगा कि उसके दोषों के उत्तरदायी कौन हैं और गुणों के लिए प्रशंसापात्र कौन हैं। इसीसे अब देखेंगे कि स्मृतियां (कानून) कैसे बनती हैं—

स्मृतियां कैसे बनती हैं?

जिन्होंने मनुस्मृति जलाई, उन अ-ब्राह्मणों की समझ यही है कि मनु आदि स्मृतियां ब्राह्मणों ने मनचाही बना लीं और वे अब्राह्मणों पर जबरदस्ती से लाद दीं। परन्तु यह सर्वथा उनकी भूल है। स्मृतियां न तो ब्राह्मणों ने बनाई ही हैं और न दूसरों पर जबरन् लादी ही हैं। स्मृतियां जैसे आज बनती हैं वैसी ही वे प्राचीन काल में बनती थीं। सब देशों में स्मृतियां एक ही रीति से बनती हैं।

विशेषतः भारतवर्ष में तो किसी भी प्राचीन समयमें स्मृतियां एक समाज द्वारा दूसरे समाजपर नहीं लादी गई।

माननीय मंडलिक महोदय ने ' हिन्दू लॉ ' तैयार किया वह कुछ उन्होंनें नए सिलसिलेसे तैयार नहीं किया। हिन्दुओं का जो नियमसंग्रह था उसी का पद्धति के अनुसार संग्रह उन्होने किया। इस दृष्टि से माननीय मंडलिक वर्तमान समय के स्मृति-लेखक ही हैं। हिन्दुओं की रीतिरस्मों की जो ' स्मृति ' श्री. मंडलिक के समय तक चली आई थी, चाहे वह ग्रंथों में संग्रहित की हुई हो या वृद्धों के स्मरण में संग्रहित की गई हो, उन्ही स्मृतियों का संग्रह मंडलिकजीने किया। यही काम स्मृतिकार भी करते हैं। यहां पर वाचक गण स्मरण रखें कि स्मृति शब्द का अर्थ " लेखक के समय तक के व्यवहारों की स्मृति " है। वर्तमान कानून में धार्मिक सदाचार भी यदि शामिल रह सकते, तो मंडलिक-जी के ' हिन्दू लॉ ' में भी हिन्दुओं को कब उठना चाहिए, कब पूजा करनी चाहिए आदि नियम भी लिखे जाते। पर समय बदल गया है, इससे धार्मिक सदाचार के नियम उसमें शामिल नहीं किए गए। बस, स्मृति और वर्तमान कानून में यही अंतर है।

श्रुति और स्मृति।

" श्रुति के नियम कभी भी नहीं बदलते, पर स्मृतियां भर समय के अनुसार बदलती हैं "। यह हमारे श्रौतस्मार्त सनातन धर्म का सिद्धांत है। जैन, बौद्ध, यहूदी, ईसाई, मुसलमानी आदि किसी भी धर्म में धर्म का श्रौत स्मार्त ऐसा भेद नहीं किया गया। जैसे ईसाई समझते हैं कि ईसामसीह का उपदेश ही अंतिम संदेश है, वैसे ही मुसलमान भी समझते हैं कि हजरत महम्मद पैगंबर का कुरान में लिखा हुआ संदेश ही अंतिम संदेश है।

इसमें बदल न होगा, परंतु हमारे सनातन धर्म का ऐसा हठ न कभी था और न अब है। हिन्दूधर्म का स्पष्ट मत है कि जितने श्रुति के आचार हैं वे कभी भी न बदलनेवाले हैं परन्तु स्मृतियों के आचार काल के अनुसार बदलने वाले हैं। इसीसे काल कितना भी अनुकूल या प्रतिकूल क्यों न हो और भौतिक शास्त्र में कितनी भी क्रांति क्यों न हो, तब भी ' स्मृति कालानुसार है ' यह हमारा सिद्धान्त होने के कारण हमारा स्मार्तधर्म कालानुसार

बदलता रहेगा और तब भी श्रौत धर्म के सनातन एकत्व के कारण सब की धार्मिक एकता कायम रहती है। यह प्रगति की नीति, उपरोक्त नियम के कारण, जैसे हिन्दूधर्म में रह सकी है, वैसे वह संसार के अन्य किसी धर्म में नहीं है। इसी से अन्य धर्मों में क्रांति (Revolution) करके सुधार करने पडते हैं; पर हमारे धर्म में उत्क्रांति (Evolution) होत होते पहले की सनातन व्यवस्था में आवश्यक सुधार होते जाते हैं। इस प्रकार बिलकुल प्राचीन पर अच्छी अच्छी बातें कायम रखकर हम लोग आवश्यक नवीन बातों को हजम कर लेते हैं। ऋषियोंने श्रौत और स्मार्त धर्म के सनातन एवं कालानुसारी नियमों को स्पष्ट कर अपूर्व धर्मसंगठन का तत्त्व प्रतिपादित किया है! इसके लिए उन ऋषियों के बडापन की जितनी भी बडाई करेंगे कम ही होगी।

हम लोग खुली आंखों देख रहे हैं कि भौतिक शास्त्र के बढते हुए ज्ञान से ईसाई तथा मुसलमानों की कैसी फजिहत हो रही है, उससे यूरोप से ईसाई धर्म का कैसे उच्चाटन हुआ है और स्वयं कमाल पाशाने इस्लामी धर्म को किस प्रकार उडा दिया है। हम लोगों को यह अडचन कदापि न मालूम होगी यदि हम अपने धर्म उपरोक्त तत्त्व को भली भांति समझ लें। अनेक प्रकार की अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति प्राप्त होने पर भी हमारे प्राचीन पूर्वजों को उक्त कारण से, कभी भी अडचन न मालूम हुई। इसका कारण यही है कि स्मृतियां कालानुसार बदलती हैं और सब लोगों के व्यवहार स्मृतियोंके अनुसार चलते हैं।

इसी नियम के अनुसार आरंभ में मनुस्मृति चलती थी। अनंतर मध्यकाल में अन्य स्मृतियां जारी थीं और अब कलियुग में पराशर स्मृति जारी है। अब मनुस्मृति की सत्ता शब्दशः कडी बिलकुल नहीं है। यदि कोई सिद्ध कर देवे कि वे स्मृतियां, जो अब जारी हैं — चाहे वह पराशर स्मृति हो या अन्य कोई भी स्मृति हो — वर्तमान समय के लिए अव्यवहार्य हैं, तो धार्मिक सभाएं करके आवश्यक बदल किया जा सकता है। जिस अपने धर्म में इतनी संग्राहक शक्ति है, उस धर्मके स्मृति ग्रंथ जला देने का कारण ही क्या? और उन्हे जलाने से लाभ ही क्या हो सकता है? हमारी सूचना है कि वे लोग इसका विचार करें।

स्मृति कालानुसार बदलती है।

अब देखना चाहिए कि स्मृतियां कालानुसार बदलती हैं याने क्या? यह जानने के लिए देवल स्मृति का निरीक्षण किया जाय। जब तक अन्य धर्मों से संबंध नहीं आया था, तब तक शुद्धि का विचार पूर्व स्मृतियों में आने का कारण ही न था। परंतु जब परधर्मियों से संबंध आया, और ओछे दिल के लोग परधर्म में फुसलाकर लिए जाने लगे, तब भ्रष्टों की शुद्धि की आवश्यकता हुई। देवल स्मृति की रचना की गई और उसे स्मृतियोंमें स्थान मिला तथा पतितोद्धार की प्रथा रूढ बन गई।

वर्तमान कानून में समय समय पर नवीन धाराएं जोडी जा रही हैं और विद्यमान धाराओंमें भी नवीन बातें जोडी जा रही हैं! इसी प्रकार स्मृति ग्रंथों में भी कालमान के अनुसार नवीन श्लोक जोडे गए और नवीन विभाग भी जोडे गए। किस समय कौनसी बात जोडी गई और वह क्यों जोडी गई यह तो आज भी नहीं बतलाया जा सकता। परन्तु ऐसा करना ही हो तो स्मृतिग्रंथों का उस दृष्टि से अध्ययन करना आवश्यक है। इससे पाठक समझ सकते हैं कि जैसे पीनल कोड में समय समय पर जो धाराएं जोडी जाती हैं उन्हे कोई दोष नहीं देता; परन्तु स्मृतियों में जो कालानुसार फरक हुआ है उसे 'प्रक्षिप्त' (Interpolation) कहकर आधुनिक विद्वान दोष देते हैं। इसका स्पष्ट कारण यही है कि वे स्मृति क्या है सो समझे नहीं होते। जिस समय राष्ट्र जीवित रहता है, उस समय उस राष्ट्रके कानूनों में फेरबदल होते ही रहते हैं। राष्ट्रमें स्थित जीवितता जब नष्ट हो जाती है, तब स्मृतिमें बदल होना असंभव हो जाता है। इससे विदित होगा कि स्मृतिग्रंथों में पीछेसे कुछ मिलाया जाना उन ग्रंथों का दोष नहीं है, वह तो कानून की पुस्तक में नवीन धाराएं जोडने के समान

समाज की सजीवता का लक्षण है।

वर्तमान रीति-रस्मों को दाखिल करना ।

अब तक स्मृतिग्रंथों की न्यूनाधिकताकी वस्तुस्थिति का विचार हुआ । अब यह देखना है कि प्रथम स्मृति कैसे बनी । स्मृति को ' स्मृति ' नाम देने कारण स्थूलरूप से पहले ही दिखलाया गया। आचार, रीति-रिवाज, कुलाचार, धार्मिक तथा दैशिक आचार विचारों की चालू पद्धति इन बातों कि स्मृति जनता को सदैव रहती है। बहुतेरे लोगों ने वृद्ध स्त्री पुरुषों को कहते सुना होगा कि " हमारे कुल में ऐसी रीति है " अथवा " ऐसी नहीं है " । पूर्वकालीन आद्य स्मृति ही चालू स्मृतियों का निर्देश है। जब तक परस्पर विभक्त कुटुंब थे और जब तक ग्राम संगठन या राष्ट्र संगठन न हुआ था, तब तक वैयक्तिक स्मृति से ही लोगों का कार्य चलता था। पर जब अनेक कुटुंब इकट्ठे रहने लगे और प्रत्येक की व्यक्तिगत स्मृतियां भिन्न भिन्न होने के कारण उन विभिन्न कुटुम्बों में कलह होने लगे तब लोगों को मालूम होने लगा कि राष्ट्र में सब की सर्वमान्य एकही स्मृति होनी चाहिए अथवा "सबकी स्मृतियां इकत्रित की हुई होनी चाहिए"। यह बात सर्व प्रथम मनुजीके ध्यानमें आई और उन्होंने अपने राज्यके विद्वान लोगोंकी सहायतासे उस समयके भिन्न भिन्न मानवसंघोंमें प्रचलित रीतिरिवाजों का संग्रह कराया और उसीमें वे नियम भी जोड दिए जो राज्ययंत्रके जारी रखनेके लिए आवश्यक थे। यही मनुस्मृति है। यही उस समय का मनुजीके राज्य का कानून था। इसके श्लोकोंके आधार पर उस समय के मुकदमों के फैसले हुआ करते थे। उस समय के वकील और प्राड् विवादक इन्ही श्लोकों के शब्दोंकी नुक्ताचीनी--जैसे आजकलके वकील पीनल कोडकी धाराओं की नुक्ताचीनी किया करते हैं--करते थे।

तीन मनु सबको पूजनीय हो गए हैं: बृहन्मनु, वृद्धमनु और मनु। सबमें प्रथम मनुका नाम बृहन्मनु था, मध्यकालीन मनुका वृद्धमनु और तीसरे मनुका मनु था। ये तीन नाम तीन कालोंके द्योतक हैं। अनेक विभिन्न मानव जातियोंकी रीति-रस्मों का संग्रह जिस मनुने किया वह सर्व प्रथम ग्रंथ करीब एक लाख श्लोकोंका था। इससे उसे बृहन्मनु कहते हैं। इसके २४ भाग थे; यह संग्रह बहुत भारी था। व्यवहार की दृष्टिसे उसमें संक्षेप एवं सुविधा न होनेसे वह ग्रंथ बहुत ही बडा हो गया था। प्रारंभ में ऐसा होना अपरिहार्य भी था। आगे चलकर जब इसका सार (digest) निकालनेकी आवश्यकता मालूम हुई, तब मनु की राजगद्दिपर जो राजा विद्यमान था उसने यह काम नारदमुनिकी अध्यक्षता में करा लिया। प्रथम संग्रह भृगु ऋषीने अन्य अनेक विद्वानोंकी सहायतासे प्रथम मनुके समय किया। वह केवल संग्रहही था। इससे उसे सार रूपसे सिलसिलेसे बारा हजार श्लोकोंमें नारद मुनिने तैयार किया और उसे मध्यकालके मनुने प्रचलित किया। अनंतर उसकाभी सार आगेके मनुने चार हजार श्लोकोंमें उस समयके विद्वानोंसे तैयार कराया। उसमें करीब आधे ही श्लोक आजकल उपलब्ध हैं। मनुस्मृतिका इतिहास संक्षेपमें इस प्रकार है।

भृगुऋषिकी अध्यक्षतामें तैयार हुआ एक लाख श्लोकोंका मनुस्मृतिका प्रथम बृहत्संस्करण अब अस्तित्वमें नहीं है। नारद मुनिकी अध्यक्षतामें तैयार हुआ दूसरा बारा हजार श्लोकोंका साररूप संस्करणभी अस्तित्वमें नहीं है। अज्ञात नामधेय विद्वानोंका किया हुआ तीसरा चार हजार श्लोकों का लघु संस्करण भी अब अस्तित्वमें नहीं है। सब का सारभूत मानवधर्मसूत्र नामका जो छोटासा ग्रंथ तैयार हुआ था सो भी अब उसके असली रूपमें विद्यमान नहीं है। जो कुछ उपलब्ध है सो तीसरे संस्करणके करीब आधे श्लोक। इसी ग्रंथ पर अब्राह्मणोंकी कुदृष्टि है! सो न जाने क्यों है ! अब देखिए इस उपलब्ध मनुस्मृतिके बारेमें यूरोपीयन विद्वान क्या कहते हैं—

यूरोपीयनों का मत ।

Manu- Sanhita, the well- known law-book, the code of Manu... it bears the marks of being the production of more than one

mind ...this is a collection or digest of current laws and creeds rather than a planned systematic code the rules and precepts it contains had probably existed as traditions long before.

[Hindu classical Dictionary by Prof Dowson, P. 201.]

" मनुसंहिता नामक प्रसिद्ध कानून की पुस्तक मनूका कानून है। ...... इसमें स्पष्ट चिन्ह हैं कि यह पुस्तक एकसे अधिक बुद्धियों द्वारा बनाई गई है। ...... यह पुस्तक ऐसी नहीं है कि किसी एकने विचार करके व्यवस्थित रचना कर बनाया हो परन्तु वह उस समयके प्रचलित नियम, आचार और व्यवहारों का निरा संग्रह है या ऐसे संग्रहका सार है। ...... जो नियम और आचार या विधि इसमें दीए गए हैं, वे केवल इसी समय के नहीं हैं वे बहुधा बहुत पूर्व परंपरासे चले आये होने चाहिए। "

हिंदू क्लासिकल डिक्शनरी-प्रो.

डॉ॰ सन। पृ. २०१

जो बात मनुस्मृति पढकर यूरोपीयनोंके भी ध्यानमें आगई, वह बात मनुस्मृतिमें बिलकुल स्पष्ट होते हुए भी आजकलके अब्राह्मणोंके ध्यानमें न आवे यह कैसा आश्चर्य है। यह तो सत्य है कि मनुस्मृति बिलकुल आद्यस्मृति है। परंतु वह किसी भी एक ब्राह्मणद्वारा अब्राह्मणोंपर ज्यादती करनेके लिए कदापि नहीं की गई। वह केवल उन रीतिरस्मों का तथा विधियों का संग्रह है जो उस समय तक परंपरासे चली आई थीं। ये रीतिरस्म उस समय मानव राज्यमें इकत्रित हुए भिन्न भिन्न मानववंशोंमें भिन्न भिन्न प्रकारसे प्रचलित थीं। इससे उनका संग्रहही इसमें किया हुआ है। इसी कारणसे वह संग्रह मनु महाराजकी उस समयकी लोक सभाने मान्य किया और मनु राजाने प्रचलित किया।

लोकसभाकी मान्यता।

वाचकोंको स्मरण रहे कि कोई कैसी भी स्मृति क्यों न लिख दे परंतु जब तक लोगोंके पंच-लोकसभा-उसे स्वीकृत न कर लेते और उसे राजा की मंजूरी नहीं मिलती तब तक वह ग्रंथ स्मृतिके नाते प्रचारमें आना संभव नहीं होता है। जिस प्रकार अब बडी धारासभामें कानून पास हुए विना तथा राजा की मंजूरीके विना वह कानून नहीं बनता, ठीक यही हाल मनुके समय भी था यह बात मनुस्मृतिसे ही सिद्ध होती है। अतएव किसी ब्राह्मणने कुछ श्लोक बनालिए और उनमें दूसरों पर अत्याचार करनेके लिए मनचाहा लिख लिया और उसे स्मृति कहा तथा उससे एक जातिने दूसरी पर अत्याचार किया आदि जो बातें आजकल बोलते हैं और लिखते हैं, उसमेंसे एकभी विधान स्मृतिके प्रमाणसे तथा वस्तुस्थितिके विचारसे वे सिद्ध न कर सकेंगे। क्यों की सब स्मृतिग्रंथ बिलकुल भिन्न वस्तुस्थिति दिखलाते हैं। इतना होते हुए न पढते और न विचार करते हुए ये लोग जातिद्वेष बढाकर राष्ट्र की प्रगतिमें फजूल विघ्न कर रहे हैं।

मर्यादा याने क्या ?

स्मृति नियमोंको 'मर्यादा' कहते हैं। यह मर्यादा शब्द बहुत महत्व का है। (मर्यैः) सब मनुष्यों द्वारा जो (आ-दा)स्वीकार किया जाता है (मर्यैः आदीयते) उसका नाम मर्यादा Self-determination है। इसी का नाम स्मृति है। कोई भी विधिपरंपरा जो लोगों को बिलकुल मंजूर नहीं होती वह कभी भी प्रचार में नहीं आ सकती। अब भी राजसत्ता के पास प्रजापर अत्याचार करने के साधन अपरिमित बढ गए हैं, तब भी राजा को प्रजामें कोई भी नवीन रिवाज चालू करना असंभव है। तब प्राचीन कालमें जब कि राजसत्ता वर्तमान समय के अनुसार प्रखरतर शस्त्रास्त्रों से सुरक्षित की हुई न थी और जिस समय राजाका अस्तित्व केवल प्रजा की इच्छा पर अवलंबित था और राम जैसे सच्छील-युवराज को भी राजगद्दी देने की इजाजत लोकसभा के पास मांगनी पडती थी ऐसे राज्यसत्ता प्रखरतर होने के पूर्व के समय कोई स्वार्थी विद्वान कुछ तो भी लिख लेगा और वह माननेको सब लोगों को विवश करेगा यह कहना केवल वस्तुस्थिति का अज्ञान दिखलाना है !!

उस समय आज जैसी बडे विस्तार के प्रचण्ड साम्राज्य न रहते थे। बडे से बडा साम्राज्य अब के एक छोटे से प्रांत के बराबर भी नहीं होता था। इससे यदि कोई राजा अत्याचार के कानून बनाने लगे, या वे नियम जो लोगों को मंजूर नहीं हैं, लोगों पर लादने लगा तो प्रथम लोग उससे कहते थे, यदि वह न मान जाता तो उसे राजगद्दीसे अलग कर देते थे, यदि यह संभव नहीं होता तो अपना माल असबाब उठाकर पास लोकछंदानुवर्ती राजा के राज्य में आकर रहते थे। यह तीसरी बात राजाको बडी भारी दहशत दिलाने को काफी हुआ करती थी। इससे राजा लोग नम्र हो जाते थे और यदि वे ऐसे नम्र न होते तो यह हाल हो जाता था कि राजा है पर प्रजा नहीं है। इस विषय के अनेक उदाहरण महाभारत में दिखलाए जा सकते हैं। अतएव राजा हो या उस समय का विद्वान ब्राह्मण हो लोग आकर्षित हों इस गरज से लोगों पर अत्याचार या जबरदस्ती करना असंभव था। साम्राज्य के बढाने के लिए राजा लोग जिस जिस प्रकार का अत्याचार करते थे उसका वर्णन करनेकी जरूरत यहां नहीं है। वैसा अत्याचार करते हुए भी आज की अनियंत्रित राजशाही या नौकरशाही जितना कष्ट देती है उतना कष्ट उस समय के लोगों पर राजा या मंत्रीके कारण होना असंभव था। यही बात यहां दिखलानी थी।

तब जो नियम स्मृति में लिखे गए हैं वे नियम किसी भी जातिके विद्वान के लिखे हों वे उस समय के पहले हीसे चले आये थे और वे उस समय के लोगों को मंजूर थे, यह बात किसी को भी न भूलनी चाहिए। अब देखना यह है कि अछूतों के संबंध में ऐसे अत्याचारी कानून स्मृति में क्यों आये? अब उस समय की परिस्थिति का कुछ विवरण करना है।

गांव और महारवाडा

यह बात अच्छी तरह समझने के लिए वर्तमान परिस्थिति भी देखना चाहिए। आजकल कई शहरों के पास छावनी नामक भाग बसे रहते हैं। जैसे लाहौर शहर और लाहौर छावनी, इंदोर शहर और इंदोर छावनी आदि। शहर हिन्दी निवासियों के हैं और वे अंग्रेजों के आनेके पहलेसे बसे हुए हैं। छावनियां भर अंग्रेजों की बसाई हुई हैं। शहर पहले का और छावनी बादकी। ऐसी बात होते हुए भी छावनी की सडकें चौडी, बंगले हवादार, रहन सहन साफ-सुथरी और खुली है। इसके विरुद्ध शहर में अस्वच्छता, सकरी गलियां, एकसे एक लगे हुए मकान हैं। इससे शहर अस्वच्छताका नमूना और छावनी स्वच्छता का नमूना, आजकल, बन गए हैं। कोई शहर और कोई छावनी इस दृष्टि से देखने योग्य है तब दोनों का अंतर तुर्त ही और स्पष्ट दिखाई देगा। छावनी की परिधि भी शहर से बडी होती है इससे उसे बढने के लिय काफी गुंजाइश रहती है। अच्छे बडे व्यापारी प्रायः छावनी में ही अपनी दूकानें लगाते हैं। यही नहीं, शहरके लोग और व्यापारी भी छावनी में रहना पसंद करते हैं। ये सब हाल यदि अच्छी तरह देखा जाय तो पाठक गणों को स्पष्ट होगा कि आजकल की छावनी ही सच्चा ' गांव ' हो गया है और मूल के गांव 'महार बाडा' अर्थात् अस्वच्छ मोहोल्ला बन गया है। यह वस्तुस्थिति यदि अच्छी तरह समझमें आगई तो विदित होगा कि ' महार बाडे ' की उत्पत्ति कैसे हुई और इससे स्मृति के नियमों का भी स्पष्टीकरण हो जावेगा।

छावनी को बसानेके समय अंग्रेजों का उद्देश यह न था कि असली गांव का महारवाडा बन जाय। परंतु छावनी को बसानेवाले अंग्रेज नगर-रचना का शास्त्र अधिक अच्छी तरह जानते थे, इससे उनके द्वारा बसाया गया गांव अधिक अच्छी तरह बसा और पुराना गांव आपही आप ' महार बाडा ' बन गया। इसी तरह आजकल का महारबाडा वास्तव में यहां के ' आदि हिंदुओं ' का था, आगे चलकर जब नवीन सभ्यता से संपन्न आर्य लोग विजयी होकर यहां आए तब उन्होंने अपने गांव मूल-निवासियों के गांवों के पास ही बसाए। ये नवीन गांव बसानेवाले आर्य मूल निवासियोंसे कितने ही अधिक ज्ञानी थे। इससे पहले के गांवों

से नए गांव अधिक अच्छे बने और अधिक उन्नति कर गए। आज कल लोग यही समझते हैं कि गांवों के पास धेडवाडा बसा परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि धेडबाडे के पास विजयी आर्योंने अपना नया गांव बसाया। आज के शहरों के पास की छावनियों से वाचक इसका साम्य देख लें। छावनी में कायम हो कर रहने के लिए सहसा इजाजत नहीं मिलती। इजाजत इसी शर्त पर मिलती है कि जिस समय सरकार चाहेगी जमीन ले लेगी। प्रायः इसीके समान नियम स्मृति में दिखाई देते हैं जिसमें धेडबाडे के लोगों को गांवमें कायम होकर बसने के लिए मनाई होती है। आजकल छावनी के नियम दुसरे प्रकार से कडे हैं। परन्तु उनकी आदत पड जाने से उनके संबंध में लोगों को कुछ भी मालूम नहीं होता। परन्तु अंग्रेज यदि यहां सदा के लिए बस जाते, तब तो निश्चय जानिए कि उन्होंने आफ्रिका जैसे नियम यहां भी बनाए होते। क्यों कि आफ्रिका में ये नियम बन रहे हैं और हम उन्हे खुद ही देख रहे हैं। आफ्रिका में जो नियम हैं वे इस प्रकार हैं:-

१ अंग्रेजों के मोहोल्लों में रहने की मनाई है।
२ अंग्रेजों के रास्तों परसे, वाहनों में से, रेल गाडियों में से जाने की मनाई।
३ अंग्रेजों की होटलों में जाने की मनाई।
इत्यादि, इत्यादि।

आफ्रिका के अंग्रेज और हिन्दुस्थान के अंग्रेज एक ही हैं। तब दोनों देशों में एक ही से नियम बने होते। अंग्रेज लोग आफ्रिका में उपनिवेश बनाकर रहने लगे हैं और भारतवर्षमें उपनिवेश बनाकर रहने नहीं लगे। इससे जिन्होंने आफ्रिकामें ऐसे नियम किए जो स्मृतियों के अंत्यजों के संबंध के नियमों से कहीं अधिक कडे हैं, उन्होंने यहां ऐसे नियम नहीं किए। यदि आगे चलकर किसी समय वे यहां सदा के लिए रहने लगें, तो स्पष्ट ही है कि यहां भी वैसे ही कडे नियम होंगे।

अंग्रेज ईसाई हैं। तिसपर भी काले इसाइयों को किसी भी प्रकार की रियायत नहीं है। इससे स्पष्ट है कि जित लोगों का भाग्य जेता के धर्म का स्वीकार करने पर भी नहीं बदलता। इसी प्रकार अंत्यजोंने यद्यपि जेता आर्यों के धर्म का स्वीकार कर लिया तब भी उनकी परिस्थिति में कोई अंतर न हुआ। धर्मप्रचार करना ब्राह्मणों का काम रहा है और जित जातियों को दबाना क्षत्रियों का स्वाभाविक एवं उनकी दृष्टिसे आवश्यक कर्तव्य है।

इस प्रकार गांव कैसे बसे, महारवाडे कैसे बसे, आर्य और अंत्यजों के परस्पर व्यवहार के नियम कैसे बने आदि बातों का स्पष्टीकरण है। वर्तमान परिस्थिति का यदि आप इस दृष्टिसे अवलोकन करें तो आप सहज ही में समझ सकते हैं कि स्मृति के कडे नियम कैसे और क्यों बने और वे व्यवहार में क्यों आए। अंत्यजों के संबंध के स्मृति के नियम समझने के लिए आफ्रिका की वर्तमान परिस्थिति देखना बहुत उपयोगी होगा।

आजकल शिक्षा का प्रचार अधिक है इससे आफ्रिकाके नियमों के संबंध में हल्ला मच रहा है। परंतु सरकार का बल अधिक है इससे वे कडे नियम भी प्रचार में आ रहे हैं। पचास वर्ष पूर्व जो स्वतंत्रता और सुख हिन्दुस्थानी लोग पाते थे उसके शतांश में भी अब नहीं मिलता। यही दशा सौ, दो सौ वर्ष तक यदि बनी रही तो इन नियमों की भी आदत हो जावेगी और इन नियमों के बारे में भी लोगों को कुछ विशेष न मालूम होगा।

आज हम देखते हैं कि कुछ हिन्दू साहब की दावत के निमंत्रण में बडप्पन समझते हैं। कुछ लोग तो ऐसे हैं जो हृदय से यही समझते हैं कि "हिन्दुस्थानी लोग परतंत्र हुए और यहां यूरोपीयनों का राज्य हुआ यह हिन्दुस्थानी राष्ट्र का बडा सौभाग्य है" !! यह बात यहां कहने का कारण यह है कि ठीक इसी प्रकार के लोग पहले भी थे। प्राचीन काल में जब विजयी आर्य यहां आए, तब जित लोगों में से कुछ परतंत्र लोग आर्यों के पीछे पडकर तथा यह कहकर कि आर्यों का राज्य यहां हुआ सो बहुत ही अच्छा हुआ स्वजातियों को पराधीन दशा में रखने ही में भूषण मानते थे। आजकल काले साहब भी जैसे अपने को हिन्दुस्थानियोंसे श्रेष्ठ मानते हैं, वैसा ही वह हाल था। ऐसी दशा में

अंत्यजोंने उक्त नियमों को मंजूरी दी हो तो आश्चर्य की बात नहीं। आज कल आफ्रिका में एक एक नियमका हिन्दुस्थानी लोग स्वीकार कर ही रहे हैं। यही बात पहले भी हुई थी।

आर्यों की सभ्यता में और मूल निवासियोंकी सभ्यता में इतना अंतर था कि यदि मूल निवासी सोचते कि आर्य लोग यदि अपना जूठा अन्न भी दे दें तो उनकी बडी मिहरबानी ही होगी, तो यह उनका सोचना भी स्वाभाविक ही होता। इस संबंध में आर्यों की भूतान के 'भूत' लोगों से जो संधि हुई वह देखने योग्य है।

"हरिद्वार के पास कनखल नगर है। वहां दक्ष नामका राजा राज्य करता था। दक्ष के यज्ञ में देव और आर्य आते थे, बराबरीके नाते से वे वहां का कार्य करते थे और यज्ञ में इन दो जातियों की कई बार जेवनार भी होती थीं। भूत जाति के लोगों को कोई भोजन के लिए बुलाता न था। इससे भूत जाति के लोगोंने एक बार उनके यज्ञ पर अचानक हम्ला किया। देव और आर्य जाति के सभी वीर असावधान थे, अतः भूत जाति के सामने उनकी कुछ न चली। देव, ऋत्विक और आर्य वीर सबको अच्छी मार पडी। किसी का सिर फूटा, किसीके दांत टूटे, किसीके पैर कट गए, इस प्रकार हाल हुआ। इस प्रकार यज्ञ का विध्वंस करने पर भूत जातिके वीरों ने यज्ञकुंड में मलमूत्र विसर्जन किया और यज्ञ पात्रों को नष्ट किया। इतना सब हो चुकने पर आर्य और भूत जातियों में जो संधि हुई वह देखने योग्य है। इस संधि में एक शर्त यह थी की यज्ञ का उच्छिष्ट अन्न भूत वीरों को मिले।"

यह कथा भागवत के (४; अ. ६, ७) में है। भूत वीरों ने यज्ञकुंडमें मलमूत्र विसर्जन किया इसीसे स्पष्ट होता है कि वे भिन्न संस्कृति के थे। एक ही धर्म के लोग यज्ञकुंड में इस प्रकार कभी भी भ्रष्टाकार न करते और उच्छिष्ट अन्न से उनका संतोष भी कभी नहीं हो सकता। संधि यह हुई देव, पितर, आर्य जब अन्नभाग सेवन कर चुकेंगे तब शेष अन्न भूत लोगों को बांटा जावे। इससे स्पष्ट है कि भूत लोगों को आद्य पूजा का मान प्राप्त करनेकी इच्छा ही न थी और अवशिष्ट अन्न मिलना ही उन लोगों के लिए पर्याप्त था।

इन भूत लोगों से बहुत नीची अंत्यजों की सभ्यता थी। उन्हे यदि आर्यों का उच्छिष्ट अन्न मिलता तो वे अनुग्रह ही समझते। इससे विदित होगा कि जिस समय राष्ट्र का एकीकरण हुआ, उस समय परिस्थिति के अनुसार अधिक से अधिक जो वे चाहते थे सो मिला। उसके बाद उनके हकों की वृद्धि का प्रश्न ही उपस्थित न हुआ। वे गांवमें जिस स्थिति में रहे उसी स्थिति में आजतक हैं।

यह सब इतिहास जैसा हुआ वैसा ही यदि अकलुषित दृष्टि से देखा जाय, तो विदित होगा कि स्मृतियोंने वे बातें लिखीं जो जारी थी, इनसे अधिक कडे और जबरदस्ती के कानून न बने, स्मृति बनने के पहले से जो बातें जारी थीं वे ही कायम रखी गईं और अंत्यज आदि लोगों को उस समय हक्क के नाते जो कुछ चाहिए था वही उन्हे दिया गया। इतना ही नहीं प्रत्येक गांव में पहले के वतनदार के नाते अच्छी जमीन का वतनी हक्क भी उन्हे सदा के लिए दिया गया। इससे उस समय उन्हे जो कुछ आवश्यक था वह सब मिला था।

यदि वे उस समय प्राप्त स्थितिमें प्राप्त हुए हकों से संतुष्ट न होते, तो वे एक आर्य राजा का राज्य छोडकर जहां चाहते वहीं निकल जाते। आज के समान एकही अखंड, प्रचंड साम्राज्य उस समय न था। इसी भरतखंड में सौ, डेड सौ साम्राज्य थे और दूसरे सैकडों छोटे आश्रित राज्य थे। उस समय के सब राजा भी एक मत से न चलते थे। अर्थात् असंतुष्ट वर्ग एक अत्याचारी राज्य से निकलकर दूसरे अच्छे राजाके पास चला जाता था। अब के विस्तृत अखंड साम्राज्य के कारण जैसे वह चारों ओर से बंद हैं वैसा बंद वह पहले कभी भी न था। इस दृष्टिसे जब हम देखते हैं तब कहना ही पडता है कि उस समय अंत्यजों की जो कुछ आकांक्षाएं थीं वे सब पूर्ण रीतिसे अंत्यजों को मिल चुकी थीं। इसीसे तो वे गांवोंमें स्थिर होकर रहे थे।

अस्पृश्यता (अछूत)

अस्पृश्यता वास्तव में अव्यवहार्यता से आरंभ हुई। अनंतर उसका रूपांतर कैसे हुआ सो देखिए। आजकल अंग्रेज लोग हिन्दुओं के घरमें पाहुने बनकर रहने को तैयार नहीं रहते। शहर और छावनी में क्रमशः हजारों हिन्दुस्थानी और अंग्रेज रहते हैं, पर वे एक दूसरे के घर कभी भी नहीं जाते। दोनों के व्यवहार परस्पर असहकारसे किन्तु प्रतिबंध के बिना चलते हैं। इससे अंग्रेज यदि हिन्दुस्थानियों को अस्वच्छ समझते होंगे और हिन्दुस्थानी लोग अंग्रेजों को अपवित्र भी समझते होंगे, तब भी किसी के भी दैनिक व्यवहार में दूसरे किसी भी प्रकार से रुकावट नहीं होती। पर यदि बस्ती का प्रमाण व्यस्त होने लगे, अंग्रेजों की बस्ती यदि बढने लगे और हिन्दुस्थानियों की बस्ती कम होने लगे, तो फिर हजारों वर्षों के बाद, आज जो अव्यवहार्यता का परस्पर व्यवहार है वह परस्पर तीव्रता से अखरेगा। उसी प्रकार सुधरे हुए विजयी आर्य और असभ्य, असंस्कृत मूल निवासी इन दोनों का सर्व प्रथम अव्यवहार्यता का संबंध था। वह उस समय किसी को न अखरनेवाला था। परन्तु कालान्तर से वही संबंध आज की अस्पृश्यता में परिणत हुआ और आज की उग्रता उसमें आगई! इसीसे यदि कोई कहे कि यह अस्पृश्यता इसी रूप में किसी ने बनाई और दूसरों पर लाद दी, तो वह सर्वथा असत्य है। प्रथम जो व्यवहार किसी कोभी जरा भी दुःखदायी न था, वही होते होते इस दशा को पहुंच गया। यदि लोग इस बात को समझ लेंगे, तो उन्हे आद्य स्मृति का दहन करने की आवश्यकता कदापि न होगी। और वे अच्छी तरह समझ जावेंगे कि उस समय की वास्तविक दशा क्या थी।

यदि जानना है कि अस्पृश्यता का पाप कहांसे आया और कैसे आया,तो वर्तमान समय की वस्तुस्थितिका बारीकी से अवलोकन करना चाहिए और पहले की स्मृतियों के नियमों का वर्तमान दशासे मिलान करके देखना चाहिए; तब सच्चा हाल दिखाई देगा। परन्तु यह बात विकृत दृष्टि को न दिखेगी। इसीसे हमारी आग्रहपूर्वक बिनती है कि लोग विकारी दृष्टि को दूर कर वस्तुस्थिति के निरीक्षण से स्मृति के नियमों का अवलोकन करें।

वर्तमान समय में अच्छूतों पर ज्यादती हुई है और वह जल्द ही दूर करना चाहिए। इस संबंध में दो मत हो नहीं सकते। कट्टर पुराने लोग ही इस दिशा में कदम बढा रहे हैं। ऐसी दशा में पुरानी कबरें उखाड कर उन में के नष्टप्राय प्रेतों को दुबारा जलाने की आवश्यकता नहीं दिखाई देती। वे स्मृतियां गई, वे लेखक गए और वह परिस्थिति भी नष्ट हो चुकी है।

अब तो बिलकुल ही भिन्न परिस्थिति है। अतः पुराने गुणों के लिए या दोषों के लिए एक दूसरे के सिर तोडना किसी को भी योग्य नहीं है।

सुधार का मार्ग।

अंत्यजों की जो हालत अब है उसके सुधारने का सच्चा मार्ग "बहिष्कार, सत्याग्रह अथवा आपस का कलह नहीं है"। अंत्यजोंको मंदिरों में प्रवेश करने मिलना चाहिए, पानी के स्थान से पानी भरने मिलना चाहिए और मनुष्यता के सब हक उन्हे मिलने ही चाहिए इसमें विरोध नहीं है। परन्तु वे अधिकार आपस में असहयोग करने से और द्वेष बढाने से कदापि प्राप्त नहीं हो सकते। जिन उपायों से आपस में सहयोग बढेगा और एक दूसरे के प्रति आदर बढेगा ऐसे ही उपायों से काम लेना चाहिए। तभी परस्पर सहानुभूति बढेगी और इष्ट कार्य त्वरित होगा। बहिष्कार और सत्याग्रह के उपायों से आपसी फूट भर बढेगी और राष्ट्रकार्य को विलंब होगा।

इसके सिवा साक्षरता का प्रसार, औद्योगिक प्रगति से आर्थिक दशा सुधारने के उपायों का अवलंबन आदि मुख्य बातों की ओर भी अछूतोद्धारक लोगों को विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है इन में से एक भी बात न कर पिछडे हुओं का पक्ष लेकर हलचल करनेवाले अछूतों की शक्ति ऐसे निरुपयोगी कार्यों में खर्च कर रहे हैं कि जिससे अछूतों की दशामें तो रत्तीमात्र का अंतर न होवे और

आपस के झगडे भर बढ जावें तथा राष्ट्रीय सुधार का समय बढताही जावे!! इसीसे सर्व प्रथम आवश्यकता इस बात की है कि अछूतों की रहन सहन सुधरे और उनकी आर्थिक उन्नति हो । मृतमांसाशन, उच्छिष्ट - अन्न - भक्षण आदि अनाचार के दोष उनमें से निकाल देने चाहिए । और सबसे पहले अछूतों को आपस की अस्पृश्यता दूर करनी चाहिए ।

महात्मा बुकर टी. वाशिंगटन ।

अमेरिका के नीग्रो लोगों के सुधार के लिए सन्मान्य बुकर टी. वाशिंगटन महोदयने जो आंदोलन किया और जो आज भी जारी है उसका अध्ययन ये लोग करें । उस आत्मसुधार के मार्ग से ही अछूतोद्धार का आंदोलन चलाना चाहिए । आत्मसुधार के बिना बाह्य हक मिलना संभव नहीं और यदि मिले भी तो उनका कुछ उपयोग नहीं । इससे स्मृति दहन आदि जो अप्रयोजक बातें जारी की जा रहीं हैं, उनसे दवेहुओंको तनिक भी लाभ नहीं है । इतना ही नहीं इससे उनकी भारी हानि होगी ।

आत्मघात का नमूना ।

इसके लिए एक उदाहरण देखने योग्य है। पिछडे हुए लोगों की एक इच्छा यह है कि " जब तक हमे समानता के हक नहीं मिलते तब तक हिन्दुस्थान को स्वराज्य न मिले और तब तक हमारी मातृभूमि बिलकुल परतंत्र रहे।" अब्राह्मणों का भी यही मत है !! अपने ही अपने पैर किस प्रकार काट लेते हैं इसका यह ज्वलंत उदाहरण है । लिख पढ कर आगे बढे हुए एक करोड लोग हैं । अन्य बत्तीस करोड पीछे पडे हुए हैं । अतः यदि आज स्वराज्य मिलगया तो इन आगे बढे हुओं को अधिक लाभ शायद हो जाय, इसीसे सब पिछडे हुए लोग जब तक आगे न बढ जांय, तबतक हिन्दुस्थानको स्वराज न मिले । अर्थात् एक करोड लोग आगे बढे हुए हैं सो देखा नहीं जाता, इसीसे अन्य बत्तीस करोड लोग खुशीसे अनंत कालतक, स्वयं निर्णयसे, स्वतः की इच्छासे दास्य और गुलामी का स्वीकार करने को आनंदसे तैयार हैं !!! यही वे लोग बोलते और लिखते हैं !! इतनी शिक्षा प्राप्त करनेपर भी यदि आजके शिक्षित समाजमें ऐसे आत्मघातक विचारके लोग रह सकते हैं तो क्या आश्चर्य है कि अस्पृश्यता का स्वतः स्वीकार करनेवाले अथवा यह मानने वाले कि मूल-हिंदुस्थान निवासियोंको पराधीन करनेवाले विजयी आर्य ही सदाके अधिकारी हों, अंत्यजोंके प्राचीन पूर्वज थे । उस जमानेमें यदि महार और मांगोंने इसी प्रकार की आत्मघातक हलचल की भी होगी तो क्या आश्चर्य ? क्यों महार मांग जैसे अछूतोंमें भी पिछडे हुए और उन्नति करनेवाले ऐसे दो भेद प्राचीन कालसे चले आये हैं । इन अछूतों में से जो पिछडे हुए थे, उन्होंने आगे बढे हुओं के पैर इसी प्रकार अवश्य ही पीछे खींचे होंगे !!

वाचक देख लें की वर्तमान समयके अब्राह्मणोंके विचार किस प्रकार पराधीनता को कायम रखनेवाले हैं । तब स्पष्ट दिखाई देगा कि इनके प्राचीन पूर्वजोंने स्वयं निर्णयसे भी इसी प्रकार पराधीनता स्वीकृत की होगी ।

स्वाध्याय मंडल के ग्रंथों के प्राप्तिस्थान ।

स्वाध्याय मंडलके सब पुस्तक अब बंबई, देहली, लाहौर, अलाहाबाद, काशी, और कलकत्ता नगरोंके सब भाषा - पुस्तक - विक्रेताओं के पास मिल सकते हैं। इस लिये इन नगरोंके लोग अपने नगरोंके पुस्तक विक्रेताओं से स्वाध्याय मंडलके पुस्तक ले सकते हैं । वी. पी. से मंगवाने की अपेक्षा वहांसे लेनेमें उनका अधिक लाभ होगा ।

मंत्री— स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

यम और पितर ।

[ले० श्री० पं० मंगलदेव (तडित्कान्त) जी वेदालंकार(गु. कु. काङ्गडी) स्वाध्याय मंडल, औंध]

वर्तमान समयमें यम और पितर यह एक बडा भारी विवादास्पद विषय है और इसीलिए बडे महत्वका होता हुआ विशेष विचारणीय है। वेद ही के हमारे पास अन्तिम साधन होनेसे तथा उसीकी प्रामाणिकतामें सबको विश्वास होनेसे इस संबन्धमें वेदके क्या विचार हैं यह जानना नितान्त जरूरी है। हमें पुनर्जन्ममें पूर्ण विश्वास है पर हम यह निश्चित रूपसे कदापि नहीं कह सकते कि मरनेके बाद जीव पहिले कहां जाता है और कब फिर जन्म लेता है। वर्तमान समयके पौराणिक लोक जो यम व पितर संबन्धी कल्पना मानते हैं व तदनुसार आचरण करते हैं उसका मूल क्या है? क्या पुराणोंकी ही यह कपोलकल्पना है वा वेदोंमें भी इसका कुछ मूल पाया जाता है? मरनेके बाद जीव कहां जाता है, किस रूपमें रहता है, कबतक विना पुनर्जन्म लिए रहता है,मरनेके बाद मृतककी जीवात्माका उसके सांसारिक संबन्धियोंसे कोई संबन्ध रहता है वा नहीं,यदि रहता है तो किस रूपमें, उस मृतके लिए जीवितोंको कुछ करना चाहिए वा नहीं,यदि करना चाहिए तो किस रूपमें,यम क्या है, कहां रहता है,मृत पितरोंसे उसका क्या संबन्ध है, यम के दूत क्या हैं, यम कहांका राजा है इत्यादि इत्यादि अनेक महत्वके प्रश्न हमारे सामने उपस्थित हो सकते हैं। क्यों कि मरनेके बादका वृत्तान्त जानना मनुष्यकी शक्तिसे बाहिर है और वेदके सिवाय और कोई उपाय हमारे पास नहीं है अतः हम इन उपरोक्त महत्वपूर्ण प्रश्नोंके संबन्धमें वैदिक विचार जाननेकी कोशिश करेंगे। जो सज्जन इस लेखमालाके विचारोंसे अर्थात् दिएगए मंत्रार्थ व उनसे निकाले गए परिणामोंसे असहमत हों, वे यदि अन्य अर्थव अन्य परिमाण सयुक्तियुक्त व सप्रमाण दर्शाने का कष्ट करेंगे तो मैं उन्हें सहर्ष स्वीकार करता हुआ उनका विशेष आभार मानूंगा। पत्र व्यवहार द्वारा जो सज्जन उत्तर प्रत्युत्तर चाहेंगे उन्हें भी सहर्ष दिया जाएगा। इसके सिवाय यदि कोई सज्जन किसी अखबारमें कुछ लिखें तो वह अखबार ' स्वाध्याय मण्डल औंध ' के पतेसे मेरे पास भेज दें ताकि मैं उसपर विचार कर सकूं। इस लेखमाला के प्रारंभ करनेसे पूर्व इतना और सूचित कर देना आवश्यक समझता हूं कि, हमने उपरोक्त विषयके संबन्धमें पूर्ण खोज करनेके लिए चारों वेदोंके वे सब मंत्र संग्रहित किए हैं, जिनमें कि सातों विभक्तियोंमें से पितृशब्दका कोईभी रूप आता है या जिन मंत्रोंके देवता पितर हैं। इन सब मंत्रोंको विचारार्थ यथा समय यथा स्थान पाठकोंके सामने रखा जाएगा। एकभी मंत्र छोडा नहीं जाएगा। उन सब मंत्रोंको दृष्टिमें रखते हुए जो परिणाम निकलेगा वह दर्शाया जाएगा। इन लेखोंमें संक्षेपसे विवेचन होगा। इतनी प्राथमिक आवश्यक विवेचना करनेके बाद अंतमें यह आशा करता हुआ कि जो सज्जन इस विषयमें खोज करनेके इच्छुक होंगे उन्हें संभव है इससे कुछ सहायता मिले, प्रकृत विषयका प्रारंभ करता हूं।

सबसे पहिले हमारे सामने यह सवाल उपस्थित हो सकता है कि ये पितर कौन हैं जिनके कि लोक पर यहांपर हमने विचार करना है। यूं तो जिन यम और पितर पर विवाद है वे तो प्रसिद्ध ही हैं तथापि हम यह चाहते हैं कि पितरों पर सबसे पहिले प्रकाश न डालते हुए अंतमें जबकि पितर संबन्धी वैदिक विचार पूर्णतया हमारे सामने उपस्थित हो जाएं और उसपर जो कुछ वक्तव्य हो वह प्रकाशित कर दिया जाए तब उसके बाद उन वैदिक

विचारोंसेही परिणाम निकाला जाए, और यही हमें युक्तियुक्त व न्यायपूर्ण प्रतीत होता है। इस प्रकार का परिणाम पर्याप्त शुद्ध होगा। अतः इस प्रश्नको हम यहीं पर आगेके लिए छोडते हैं।

पितृलोक।

इस लेखमें हम पितृलोक पर विचार करेंगे। जिन जिन वेदमंत्रों में पितृलोक के संबन्ध में निर्देश या वर्णन होगा उन सब मंत्रों का उल्लेख किया जायगा, जिससे कि पितृलोक संबन्धी कोई भी वैदिक विचार छूटने न पावे। निम्न मंत्रमें सिर्फ पितृलोकका निर्देश मिलता है-

शुभन्तां लोकाः पितृषदनाः।
पितृषदने त्वा लोक आ सादयामि ॥
अथर्व. १८।४।६७ ॥

अर्थ— (पितृषदनाः लोकाः शुभन्ताम्) जिनमें पितर बैठते हैं ऐसे लोक (शुभन्तां) शोभायमान हों। (त्वा)तुझे(पितृषदने लोके) जिसमें पितर बैठते हैं उस लोकमें (आसादयामि) बिठलाता हूं।

इस मंत्र से पता चलता है कि कोई ऐसे लोक हैं जिनमें कि पितर बैठते हैं तथा उनमें एक नवीन व्यक्तिको भी किसी अवस्थाविशेषमें बिठलाया जाता है।

एतदारोह वय उन्मृजानः स्वा इह बृहदुदीदयन्ते। अभिप्रेहि मध्यतो मापहास्थाः पितॄणां लोकं प्रथमो यो अत्र ॥ अथर्व. १८।३।७३ ॥

अर्थ- (उन्मृजानः) अपने का शुद्ध करता हुआ (एतद् वयः आरोह) इस अंतरिक्षमें चढ। (इह) यहां (स्वाः) तेरे बन्धुबांधव (बृहत् उदीदयन्ते) बहुत प्रकाशमान हो रहे हैं- अर्थात् वे बहुत उन्नत हुए हुए हैं, उनकी तू चिन्ता मत कर। (मध्यतः अभिप्रेहि)उन बन्धु बांधवों के मध्यसे जा। (पितॄणां लोकं) पितरोंके लोकका (मा अपहास्थाः) त्याग मत कर अर्थात् तेरेसे पितृलोक छूटने न पावे। (यः) जोकि पितृलोक (अत्र) यहां (प्रथमः) मुख्य प्रसिद्ध है।

इस प्रकार हमने देखा कि पितृलोक का निर्देश हमें वेदमें मिलता है। अबहमें देखना है कि वे पितृलोक कौनसे हैं।

१ पितृलोक- 'पृथिवी'।

स्वधा पितृभ्यः पृथिविषद्भ्यः ॥
अथर्व० १८।४।७८ ॥

अर्थ- (पृथिवीषद्भ्यः) पृथिवीपर बैठनेवाले (पितृभ्यः) पितरोंके लिए (स्वधा) स्वधा हो।

पृथिवीस्थ पितरों के लिए स्वधा का वर्णन यहांपर है। पूर्वोक्त बहुतसे पितृलोकोंमेंसे एक पृथिवी लोक है जहां कि पितर बैठते हैं ऐसा इस मन्त्र से प्रतीत होता है।

२ पितृ लोक-'अंतरिक्ष'।

स्वधा पितृभ्यो अन्तरिक्षसद्भ्यः ॥
अथर्व १८।४।७९॥

अर्थ - (अन्तरिक्षसद्भ्यः पितृभ्यः) अन्तरिक्ष में बैठनेवाले पितरों के लिए (स्वधा) स्वधा हो।

इस मंत्र में अंतरिक्ष में बैठनेवाले पितरोंका वर्णन है।

ये नः पितुः पितरो ये पितामहाः य आविविशुरुर्वन्तरिक्षम्। तेभ्यः स्वराडसुनीतिर्नो अद्य यथावशं तन्वः कल्पयाति ॥ अथर्व. १८।३।५९ ॥

अर्थ- (ये) जो (नः) हमारे (पितुः पितरः) पिताके पितर और (ये) जो (पितामहाः) पितामह (दादा) (ये) जो कि (उरु अंतरिक्षं) विस्तृत अंतरिक्षमें (आविविशुः) प्रविष्ट हुए हुए हैं (तेभ्यः)उनके लिए (स्वराट्) स्वयं प्रकाशमान (असुनीतिः) प्राणदाता परमात्मा (नः) हमारे (तन्वः) शरीरोंको (यथावशं) कामना के अनुकूल(कल्पयाति)समर्थ करता है।

इस मंत्र में पिता, पितामह तथा प्रपितामहोंका अन्तरिक्षमें प्रवेश स्पष्टरूपसे दर्शाया गया है। यद्यपि इस मंत्र के उत्तरार्धमें भी एक विशेष महत्वपूर्ण बात कही गई है पर उसका यहांपर विशेष मतलब नहीं है। उसपर अन्यत्र विचार करेंगे।

उत्तिष्ठ प्रेहि प्र द्रवौकः कृणुष्व सलिले सधस्थे। तत्र त्वं पितृभिः संविदानः सं सोमेन मदस्व सं स्वधाभिः ॥ अथर्व. १८।३।८॥

अर्थ- (उत् तिष्ठ) उठ, (प्रेहि) जा, (प्रद्रव) दौड । (सधस्थे) जहां सब इकठ्ठे रहते हैं देसे (सलिले) अंतरिक्षमें (ओकः) घर (कृणुष्व) बना । (तत्र) वहां अंतरिक्षमें (त्वं) तू (पितृभिः संविदानः) अन्य पितरों के साथ मिला हुआ ऐकमत्य को प्राप्त हुआ हुआ (सोमेन) सोमसे (संमदस्व) अच्छीतरह आनन्दित हो और (स्वधाभिः) स्वधाओंसे (सं) अच्छीप्रकार तृप्त हुआ हुआ आनन्दित हो ।

इस मंत्र में स्पष्ट रूपसे अंतरिक्ष लोक में किसी को भेजा जाने का और वहां स्थित पितरों के साथ स्वधा आदिसे आनन्दित होने का निर्देश है। अतः यह मंत्र भी पितरोंका स्थान अंतरिक्ष बता रहा है।

उपरोक्त सब मंत्रों में हम यह स्पष्टरूपसे पाते हैं कि पितरअन्तरिक्ष में भी रहते हैं अर्थात् अन्तरिक्ष भी पितरों के लोकों में से एक लोक है जहां पितर निवास करते हैं ।

३ पितृलोक - 'द्यु' ।

स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्यः ॥ अथर्व० १८।४।८०

अर्थ— (दिविषद्भ्यः पितृभ्यः) द्युलोक में बैठनेवाले पितरों के लिए (स्वधा) स्वधा हो ।

इस मंत्र में ऐसे पितरोंका वर्णन है जो कि द्युलोक में बैठते हैं, और वहां बैठकर स्वधा लेते हैं ।

> आ नः पवस्व वसुमद्धिरण्यवदश्वावद्गोमद्
> यवमत् सुवीर्यम् । यूयं हि सोम पितरो
> मम स्थन दिवो मूर्धानः प्रस्थिता वयस्कृतः
> ऋ० ९ । ६९ । ८ ॥

अर्थ— हे सोम ! तू (वः) हमें (वसुमत्) वसु युक्त (हिरण्यवत्) सोनाचांदीवाले (अश्वावत्) घोडोंवाले (गोमत्) गौओंवाले, (यवमत्) यवादिधान्यवाले (सुवीर्यम्) उत्तम पराक्रम को (आपवस्व) प्राप्त करा । अर्थात् हम में ऐसा सामर्थ्य हो कि हम ये सब उपरोक्त वस्तुओं को अपने पराक्रम से प्राप्त करें । हम को ऐसा पराक्रम दो। हे सोम (यूयं वयस्कृतः मम पितरः) तुम जीवन देनेवाले मेरे पितर (दिवः मूर्धानः प्रस्थिताः) द्युलोक के समान ऊंचे उठे हुए (स्थान) हैं ॥

इस प्रकार उपरोक्त मंत्रों ने हमें दर्शाया कि द्युलोक में भी पितर रहते हैं । द्युलोक में पितर कहां रहते हैं यह निम्न मंत्र दर्शा रहा है-

> उदन्वती द्यौरवमा पीलुमतीति मध्यमा ।
> तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते ॥
> अथर्व० १८ । २ । ४८॥

अर्थ- (अवमा द्यौः उदन्वती) सबसे नीचे की द्यौ ' द्युलोक ' वह है जिसमें कि जल रहता है। जिस द्युलोक में बादल रहते हैं वह सब से नीचेका द्युलोक है । (पीलुमती इति मध्यमा) और जिसमें ग्रह नक्षत्रादि स्थित हैं वह बीच का द्युलोक है । (ह) निश्चय से (तृतीया) तीसरा (प्रद्यौः इति) प्रद्यु नामका द्युलोक है (यस्यां) जिसमें कि (पितरः आसते) पितर स्थित होते हैं ।

इस मंत्र में यह बतलाया गया है कि द्युलोक तीन प्रकारका है । एक तो वह जो कि तीनों प्रकार के द्युलोको में से सबसे नीचा है और उसमें मेघमण्डल स्थित है । दूसरा इस से उपर है और उस में पीलु अर्थात् ग्रह नक्षत्रादि स्थित हैं। यह बीचका द्युलोक है । तीसरा इस से ऊपर है जो कि प्रद्यौ के नामसे प्रख्यात है और यही द्युलोक है जिसमें कि पितर निवास करते हैं ।

अबतक के सब मंत्रों के देखने से ऐसा पता चलता है कि पितर पृथिवी लोक से चलकर अंतरिक्ष लोक में आते हैं और वहां से चलकर सब से अंतमें इस द्युलोक में निवास करते हैं । यह द्युलोक ग्रह नक्षत्रादि के निवासक द्युसे भी परे है ऐसा इस मंत्र से पता चलता है; अतः इस के आधारपर यह अनुमान निकाला जा सकता है कि यह पितरों का निवासक द्युलोक सूर्यलोक से परे है ।

इसी मंत्र के भाव को निम्न ऋग्वेदकी ऋचा पुष्ट करती है ।-

> तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थां एका यमस्य भुवने विराषाट् । आणिं न रथ्यममृताधि तस्थुरिह ब्रवीतु य उ तच्चिकेतत् ॥
> ऋ० १ । ३५ । ६ ॥

अर्थ —(तिस्रो द्यावः) तीन द्युलोक हैं। (द्वौ) उनमें से दो (सवितुः) सूर्य के (उपस्थां) समीप

विचारोंसेही परिणाम निकाला जाए, और यही हमें युक्तियुक्त व न्यायपूर्ण प्रतीत होता है। इस प्रकार का परिणाम पर्याप्त शुद्ध होगा। अतः इस प्रश्नको हम यहीं पर आगेके लिए छोडते हैं।

पितृलोक।

इस लेखमें हम पितृलोक पर विचार करेंगे। जिन जिन वेदमंत्रों में पितृलोक के संबन्ध में निर्देश या वर्णन होगा उन सब मंत्रों का उल्लेख किया जायगा, जिससे कि पितृलोक संबन्धी कोई भी वैदिक विचार छूटने न पावे। निम्न मंत्रमें सिर्फ पितृलोकका निर्देश मिलता है-

शुभन्तां लोकाः पितृषदनाः।
पितृषदने त्वा लोक आ सादयामि ॥
अथर्व. १८।४।६७ ॥

अर्थ— (पितृषदनाः लोकाः शुभन्ताम्) जिनमें पितर बैठते हैं ऐसे लोक (शुभन्तां) शोभायमान हों। (त्वा)तुझे(पितृषदने लोके) जिसमें पितर बैठते हैं उस लोकमें (आसादयामि) बिठलाता हूं।

इस मंत्र से पता चलता है कि कोई ऐसे लोक हैं जिनमें कि पितर बैठते हैं तथा उनमें एक नवीन व्यक्तिको भी किसी अवस्थाविशेषमें बिठलाया जाता है।

एतदारोह वय उन्मृजानः स्वा इह बृहदुदीदयन्ते। अभिप्रेहि मध्यतो मापहास्थाः पितृणां लोकं प्रथमो यो अत्र ॥ अथर्व. १८।३।७३ ॥

अर्थ- (उन्मृजानः) अपने का शुद्ध करता हुआ (एतद् वयः आरोह) इस अंतरिक्षमें चढ। (इह) यहां (स्वाः) तेरे बन्धुबांधव (बृहत् उदीदयन्ते) बहुत प्रकाशमान हो रहे हैं- अर्थात् वे बहुत उन्नत हुए हुए हैं, उनकी तू चिन्ता मत कर। (मध्यतः अभिप्रेहि)उन बन्धु बांधवों के मध्यसे जा। (पितृणां लोकं) पितरोंके लोकका (मा अपहास्थाः) त्याग मत कर अर्थात् तेरेसे पितृलोक छूटने न पावे। (यः) जोकि पितृलोक (अत्र) यहां (प्रथमः) मुख्य प्रसिद्ध है।

इस प्रकार हमने देखा कि पितृलोक का निर्देश हमें वेदमें मिलता है। अबहमें देखना है कि वे पितृलोक कौनसे हैं।

१ पितृलोक- 'पृथिवी'।

स्वधा पितृभ्यः पृथिविषद्भ्यः ॥
अथर्व० १८।४।७८ ॥

अर्थ- (पृथिवीषद्भ्यः) पृथिवीपर बैठनेवाले (पितृभ्यः) पितरोंके लिए (स्वधा) स्वधा हो।

पृथिवीस्थ पितरों के लिए स्वधा का वर्णन यहांपर है। पूर्वोक्त बहुतसे पितृलोकोंमेंसे एक पृथिवी लोक है जहां कि पितर बैठते हैं ऐसा इस मत्र से प्रतीत होता है।

२ पितृ लोक-'अंतरिक्ष'।

स्वधा पितृभ्यो अन्तरिक्षसद्भ्यः ॥
अथर्व १८।४।७९॥

अर्थ - (अन्तरिक्षसद्भ्यः पितृभ्यः) अन्तरिक्ष में बैठनेवाले पितरों के लिए (स्वधा) स्वधा हो।

इस मंत्र में अंतरिक्ष में बैठनेवाले पितरोंका वर्णन है।

ये नः पितुः पितरो ये पितामहाः य आविविशुरुर्वन्तरिक्षम्। तेभ्यः स्वराडसुनीतिर्नो अद्य यथावशं तन्वः कल्पयाति ॥ अथर्व. १८।३।५९ ॥

अर्थ- (ये) जो (नः) हमारे (पितुः पितरः) पिताके पितर और (ये) जो (पितामहाः) पितामह (दादा) (ये) जो कि (उरु अंतरिक्षं) विस्तृत अंतरिक्षमें (आविविशुः) प्रविष्ट हुए हुए हैं (तेभ्यः)उनके लिए (स्वराट्) स्वयं प्रकाशमान (असुनीतिः) प्राणदाता परमात्मा (नः) हमारे (तन्वः) शरीरोंको (यथावशं) कामना के अनुकूल(कल्पयाति)समर्थ करता है।

इस मंत्र में पिता, पितामह तथा प्रपितामहोंका अन्तरिक्षमें प्रवेश स्पष्टरूपसे दर्शाया गया है। यद्यपि इस मंत्र के उत्तरार्धमें भी एक विशेष महत्वपूर्ण बात कही गई है पर उसका यहांपर विशेष मतलब नहीं है। उसपर अन्यत्र विचार करेंगे।

उत्तिष्ठ प्रेहि प्र द्रवौकः कृणुष्व सलिले सधस्थे। तत्र त्वं पितृभिः संविदानः सं सोमेन मदस्व सं स्वधाभिः ॥ अथर्व. १८।३।८॥

अर्थ- (उत् तिष्ठ) उठ, (प्रेहि) जा, (प्रद्रव) दौड । (सधस्थे) जहां सब इकट्ठे रहते हैं ऐसे (सलिले) अंतरिक्षमें (ओकः) घर (कृणुष्व) बना । (तत्र) वहां अंतरिक्षमें (त्वं) तू (पितृभिः संविदानः) अन्य पितरों के साथ मिला हुआ ऐकमत्य को प्राप्त हुआ हुआ (सोमेन) सोमसे (संमदस्व) अच्छीतरह आनन्दित हो और (स्वधाभिः) स्वधाओंसे (सं) अच्छीप्रकार तृप्त हुआ हुआ आनन्दित हो ।

इस मंत्र में स्पष्ट रूपसे अंतरिक्ष लोक में किसी को भेजा जाने का और वहां स्थित पितरों के साथ स्वधा आदिसे आनन्दित होने का निर्देश है। अतः यह मंत्र भी पितरोंका स्थान अंतरिक्ष बता रहा है।

उपरोक्त सब मंत्रों में हम यह स्पष्टरूपसे पाते हैं कि पितरअन्तरिक्ष में भी रहते हैं अर्थात् अन्तरिक्ष भी पितरों के लोकों में से एक लोक है जहां पितर निवास करते हैं ।

३ पितृलोक - 'द्यु' ।

स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्यः ॥ अथर्व० १८।४।८०

अर्थ- (दिविषद्भ्यः पितृभ्यः) द्युलोक में बैठनेवाले पितरों के लिए (स्वधा) स्वधा हो ।

इस मंत्रमें ऐसे पितरोंका वर्णन है जो कि द्युलोक में बैठते हैं, और वहां बैठकर स्वधा लेते हैं ।

> आ नः पवस्व वसुमद्धिरण्यवदश्वावद्गोमद्
> यवमत् सुवीर्यम् । यूयं हि सोम पितरो
> मम स्थन दिवो मूर्धानः प्रस्थिता वयस्कृतः
> ऋ० ९ । ६९ । ८ ॥

अर्थ- हे सोम ! तू (वः) हमें (वसुमत्) वसुयुक्त (हिरण्यवत्) सोनाचांदीवाले (अश्वावत्) घोडोंवाले (गोमत्) गौओंवाले, (यवमत्) यवादिधान्यवाले (सुवीर्यम्) उत्तम पराक्रम को (आपवस्व) प्राप्त करा । अर्थात् हम में ऐसा सामर्थ्य हो कि हम ये सब उपरोक्त वस्तुओं को अपने पराक्रम से प्राप्त करें । हम को ऐसा पराक्रम दो। हे सोम ! (यूयं वयस्कृतः मम पितरः) तुम जीवन देनेवाले मेरे पितर (दिवः मूर्धानः प्रस्थिताः) द्युलोक के समान ऊंचे उठे हुए (स्थान) हैं ॥

इस प्रकार उपरोक्त मंत्रों ने हमें दर्शाया कि द्युलोक में भी पितर रहते हैं । द्युलोक में पितर कहां रहते हैं यह निम्न मंत्र दर्शा रहा है-

> उदन्वती द्यौरवमा पीलुमतीति मध्यमा ।
> तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते ॥
> अथर्व० १८ । २ । ४८॥

अर्थ- (अवमा द्यौः उदन्वती) सबसे नीचे की द्यौ ' द्युलोक ' वह है जिसमें कि जल रहता है। जिस द्युलोक में बादल रहते हैं वह सब से नीचेका द्युलोक है । (पीलुमती इति मध्यमा) और जिसमें ग्रह नक्षत्रादि स्थित हैं वह बीच का द्युलोक है । (ह) निश्चय से (तृतीया) तीसरा (प्रद्यौः इति) प्रद्यु नामका द्युलोक है (यस्यां) जिसमें कि (पितरः आसते) पितर स्थित होते हैं ।

इस मंत्र में यह बतलाया गया है कि द्युलोक तीन प्रकारका है । एक तो वह जो कि तीनों प्रकार के द्युलोकों में से सबसे नीचा है और उसमें मेघमण्डल स्थित है । दूसरा इस से उपर है और उस में पीलु अर्थात् ग्रह नक्षत्रादि स्थित हैं। यह बीचका द्युलोक है । तीसरा इस से ऊपर है जो कि प्रद्यौ के नामसे प्रख्यात है और यही द्युलोक है जिसमें कि पितर निवास करते हैं।

अबतक के सब मंत्रों के देखने से ऐसा पता चलता है कि पितर पृथिवी लोक से चलकर अंतरिक्ष लोक में आते हैं और वहां से चलकर सब से अंतमें इस द्युलोक में निवास करते हैं । यह द्युलोक ग्रह नक्षत्रादि के निवासक द्युसे भी परे है ऐसा इस मंत्र से पता चलता है; अतः इस के आधारपर यह अनुमान निकाला जा सकता है कि यह पितरों का निवासक द्युलोक सूर्यलोक से परे है ।

इसी मंत्र के भाव को निम्न ऋग्वेदकी ऋचा पुष्ट करती है ।-

> तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थां एका यमस्य भुवने विराषाट् । आणिं न रथ्यममृताधि तस्थुरिह ब्रवीतु य उ तच्चिकेतत् ॥
> ऋ० १ । ३५ । ६ ॥

अर्थ -- (तिस्रो द्यावः) तीन द्युलोक हैं। (द्वौ) उनमें से दो (सवितुः) सूर्य के (उपस्थां) समीप

हैं। (एका) और एक (यमस्य भुवने) यमके लोक में स्थित है जो कि (विराषाट्) विराषाट् अर्थात् जिसमें वीर लोक आकार स्थित होते हैं। (रथ्यं आणि न) जैसे रथ आणि पर आश्रित हो-कर स्थित होता है उसी प्रकार (अमृता=अमृता-नि) ये सब अमृत ग्रह नक्षत्रादि (अधितस्थुः) जिसके आश्रयमें स्थित हुए हुए हैं। (यः) जो कोई (तत्) इन उपरोक्त तत्त्वोंको (चिकेतत्) भली प्रकार जानता है, वह (इह) यहांपर हमें (ब्रवीतु) उन तत्वोंका विवेचन करे। 'आणि' नाम उस कीलका है,जोकि अक्षके किनारे-पर छेद करके पहिए को बाहिर निकल जानेसे रोकनेके लिए लगाई जाती है।

इस मंत्र से हमें इतना और पता चलता है कि पूर्व मंत्रमें निर्दिष्ट तीसरा द्युलोक कि जिसमें पितरों की स्थिति है वह सूर्य लोकसे परे होता हुआ यम लोकमें स्थित है अर्थात् यम का राज्य उस द्युलो-कमें है। पितर यमकी प्रजा हैं तथा यम उनका राजा है यह बात आगे चलकर हमें पता चलेगी। यहांपर उस बातका निर्देश मात्र है।

इस मंत्रमें यम लोकमें स्थित द्युका विशेषण 'विरा-षाट्' दिया है। अर्थात् उस द्युमें वीरगण आकर निवास करते हैं। इसी बातको निम्न लिखित अथर्व वेदका मंत्र पुष्ट करता हुआ साथमें पितरोंका द्युलोकमें जाना दर्शा रहा है।

इत एत उदारुहन् दिवस्पृष्ठान्यारुहन्।
प्र भूर्जयो यथा पथा द्यामंगिरसो ययुः ॥
अथर्व० १८।१।६१ ॥

इस मंत्र का देवता 'पितरः' है। उन्हीं का इसमें वर्णन है। अर्थ इस प्रकार है।-

(एते) ये पितर (इतः) यहांसे (उत् आ अरुहन्) ऊपर को चढते हैं। (दिवः पृष्ठानि आरुहन्) और द्युके पृष्ठोंपर - प्रष्टव्य स्थानोंपर - चढते हैं। (यथा पथा) जिस प्रकारके मार्गसे कि (भूर्जयः) भूमि जीतनेवाले (अंगिरसः) अंगिरस पितर (द्यां) द्युलोक को (प्रययुः) गए हुए हैं।

अबतक के विवेचनसे हमें इतना पता चला है कि पितर पृथिवी, अंतरिक्ष तथा द्यु, इन तीनों लोकों में निवास करते हैं। इसी परिणाम को निम्न मंत्र प्रमाणित कर रहा है। इस मंत्रमें तीनों लोकों का वर्णन है। मंत्र इस प्रकार है।-

ये नः पितुः पितरो ये पितामहाः य आविविशु-रुर्वन्तरिक्षम्। य आक्षियन्ति पृथिवीमुत द्यां तेभ्यः पितृभ्यो नमसा विधेम ॥
अथर्व० १८।२।४९

(ये) जो (नः पितुः पितरः) हमारे पिताके पितर हैं, (ये) और जो (पितामहाः) उनके भी पितामह हैं, (ये) जो कि (उरु अंतरिक्षं आवि-विशुः) विशाल अंतरिक्ष में प्रविष्ट हुए हैं, और (ये) जो (पृथिवीं उत द्यां) पृथिवी तथा द्युलोक में (आक्षियन्ति) निवास करते हैं (तेभ्यः पितृभ्यः) उन पितरों के लिए हम (नमसा विधेम) नमस्कार पूर्वक पूजा करते हैं।

यह मंत्र स्वयमेव अधिक स्पष्ट है। यह पितरों का तीनों लोकों में निवास होना स्पष्टतया प्रतिपादन कर रहा है।

४ पितृलोक - 'पिताका कुल वा घर'

इन उपरोक्त पितृलोकों के सिवाय हमें वेद में एक ऐसा भी मंत्र मिलता है कि जिस में पितृलोक का अर्थ पिताका घर वा पिताका कुल प्रतीत होता है। मंत्र इस प्रकार है-

उशतीः कन्यला इमाः पितृलोकात् पतिं यतीः अवदीक्षामसृक्षत स्वाहा ॥
अथर्व० १४।२।५२

अर्थ- (इमाः) ये (उशतीः कन्यलाः) पति लोक की कामना करती हुई शोभायमान कन्याएं (पितृलोकात्) पितृकुल से (पतिं यतीः) पति के पास जाती हुई (स्वाहा) उत्तम वाणी द्वारा (दीक्षां) दीक्षाको (अवसृक्षत) दें।

नियम व्रत आदि की शिक्षा का नाम दीक्षा है। यहांपर पितृकुल को पितृलोक के नाम से कहा गया है।

५ पितृलोक--पितरों का देश

(FATHER-LAND)

निम्न मंत्रमें पितृलोकका अर्थ पैत्रिक भूमि (Father-land) है । जिस भूमिमें वंशपरंपरासे रहते चले आए हैं उस भूमिका नाम पितृलोकसे यहां कहा गया है ।

पंचापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम्।
प्र दातोप जीवति पितृणां लोकेऽक्षितम् ॥
अथर्व० ३।२९।४ ॥

अर्थ- (पंच-अ-पूपं) पांचों जनोंको (ब्राह्मणादि चार वर्ण तथा पांचवां निषाद) न सडानेवाले अतएव(लोकेन संमितं) जनता द्वारा संमत (शितिपादं अविं)हिंसकोंको दबानेवाले संरक्षक कर भागका (प्रदाता)देनेवाला (पितृणां लोके अक्षितं उपजीवति) पितरोंके देशमें अक्षय होकर जीता है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस मंत्रमें पितृलोक का अभिप्राय पितरोंका देश(Father-land) है ।

पितृलोक के संबन्धमें यहां पर इतना ही विवेचन पर्याप्त है । विशेष खोज करनेवालों के लिए संक्षेपमें हमने सामग्री उपस्थित कर दी है । इसपर हमें जो विशेष वक्तव्य होगा वह फिर कभी हम पाठकों के सामने रखेंगे । अब हम 'पितृयाण' पर इसी प्रकार संक्षेपसे प्रकाश डालनेका प्रयत्न करेंगे ।

पितृयाण ।

पितृलोक की स्थापना के अनन्तर हमारे सामने यह सवाल उपस्थित होता है कि इन लोकोंमें कब और कैसे, अर्थात् किस मार्ग द्वारा पितर जाते हैं । इस पृथिवी लोकसे अन्य लोकोंमें जानेके दो मार्ग हैं। जिस मार्गसे पितर जाते हैं वह पितृयाण मार्ग कहलाता है। तथा जिससे देवलोक जाते हैं वह देवयान कहलाता है । इसी भावको निम्न मंत्र दर्शा रहा है। मंत्र इस प्रकार है।-

द्वे सृती अश्रृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम् ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥ ऋ.१०।८८ १५॥
यजुः अ० १९।४७॥

अर्थ- (मर्त्यानां पितृणां उत देवानां) मनुष्यों, पितरों व देवोंके (द्वे सृती) दो मार्ग (देवयान और पितृयाणनामक) (अश्रृणवं) मैने सुने हैं , (ताभ्यां)उन दोनों मार्गों द्वारा (इदं एजत् विश्वं) यह गतिमान् विश्व (यत्) जो कि (पितरं मातरं च अन्तरा) इस द्यु पिता और पृथिवी माता के बीचमें स्थित है, (सं एति) अच्छी प्रकार गति करता रहता है। अर्थात् इन मार्गोंसे आवागमन होता रहता है ।

एवं इस मंत्र से इतना पता चलता है कि देवयान और पितृयाण नामक दो मार्ग हैं जिनसे आवागमन होता है । इसके अतिरिक्त हमें कुछ मंत्र ऐसे मिलते हैं जिनमें कि पितृयाण मार्ग से जानेका निर्देश पाया जाता है। वे सब मंत्र नीचे दिए जाते हैं ।

आ रोहत जनित्रीं जातवेदसः पितृयाणैः सं व आ रोहयामि । अव्याड् ढव्येषितो हव्यवाह ईजानं युक्ताःसुकृतां धत्तलोके॥ अथर्व० १८।४।१॥

अर्थ - (जातवेदसः) हे अग्नियो ! तुम (जनित्रीं आरोहत) अपनी उत्पन्न करनेवाली के पास पहुंचो । मैं (वः) तुम्हें (पितृयाणैः) पितृयाण-मार्गों से (सं आरोहयामि) अच्छी प्रकार पहुंचाता हूं । (इषितः हव्यवाहः) प्रिय हव्यों का वाहक अग्नि (हव्या = हव्यानि) हव्योंको (अव्याट्) वहन करता है । हे अग्नियो ! (युक्ताः) तुम मिलकर (ईजानं) यज्ञ करनेवाले को (सुकृतां लोके) श्रेष्ठ कर्म करनेवालों के लोकमें (धत्त) धारण करो अर्थात् वहां उसे ले जाओ ।

अग्नि और पितरोंका एक विशेष संबन्ध प्रतीत होता है । यह संबन्ध कैसा व क्या है इस पर विस्तार से विचार आगे ' अग्नि व पितर ' इस शीर्षक के नीचे करेंगे । यहां पर तो सिर्फ पितृयाण मार्ग से ही मतलब है । इसी शीर्षक में आगे हम दिखाएंगे कि अग्नि पितृयाण मार्ग को भी जानता है ।

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिः यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः । उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम् ॥ ऋ. १०।१४।७॥

यही मंत्र थोडसे पाठभेद से अथर्व वेद में निम्न प्रकारस आया है-

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्याणैः येना ते पूर्वे पितरः परेताः। उभा राजाना स्वधया मदन्तौ यमं पश्यासि वरुणं च देवम् ॥ अथर्व० १८।१।५४ ॥

अर्थ- (यत्र) जहां (नः पूर्वे पितरः) हमारे पूर्व पितर (परेयुः) गए हुए हैं, वहां (पूर्व्येभिः पथिभिः) पहिलेके मार्गों द्वारा (प्रेहि प्रेहि) तू जा। वहां (स्वधया) स्वधासे (मदन्तौ) तृप्त होते हुए (उभौ राजानौ) दोनों राजा (यम वरुणं देवं च) यम और वरुण देव को (पश्यासि) देख।

इन उपरोक्त मंत्रोंसे पता चलता है कि पितरोंके जाने के मार्ग पितृयाण के नाम से प्रख्यात हैं। इस के सिवाय एक मंत्र ऐसा भी है जिसमें कि पितृयाण मार्ग से आनेका भी उल्लेख पाया जाता है।

आ यात पितरः सोम्यासो गंभीरैः पथिभिः पितृयाणैः। आयुरस्मभ्यं दधतः प्रजां च रायश्च पोषैरभि नः सचध्वम् ॥

अथर्व० १८। ४।६२॥

अर्थ- (सोम्यासः पितरः) हे सोमपान करनेवाले पितरो ! (गंभीरैः) गंभीर (पितृयाणैः पथिभिः) पितृयाण मार्गों से (आ यात) आओ। (अस्मभ्यं आयुः, प्रजां च रायः च दधतः) हमारे लिए आयुष्य, प्रजा तथा धनसंपत्ति दो। (पोषैः) अन्य पुष्टियों से (नः) हमें (अभिसचध्वं) चारों ओर से युक्त करो।

इस मंत्र में पितरों के पितृयाण से आकर आयु प्रजा आदि देनेका उल्लेख है। इसके अतिरिक्त निम्न मंत्र में भी पितृयाण का उल्लेख मिलता है।

अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम। ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियेम।

अथर्व० ६।११७।३॥

अर्थ- (अस्मिन्) इस लोक में हम (अनृणाः) ऋण रहित होवें। (परस्मिन्) पर लोक में (अनृणाः) हम अनृण होवें। तथा (तृतीये लोके) तीसरे लोकमें (अनृणाः) ऋणरहित (स्याम) होवें। (ये देवयानाः पितृयाणाः च लोकाः) जो देवयान व पितृयाण मार्ग हैं उन (सर्वान् पथः) सब मार्गों में (अनृणाः) ऋणरहित हुए हुए (आ क्षियेम) विचरण करें।

इस लोकमें दो प्रकारका ऋण है। (१)भौतिक-धन, सोना आदि आदि उधार लेना। (२)वैदिक-"जायमानो ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते। ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः इति" तै. सं. ६।३। १० । ५ ॥ अर्थात् तीन प्रकारका वैदिक ऋण पैदा होते ही मनुष्य पर चढता है। वह तीन प्रकार का ऋण ऋषिऋण, देवऋण तथा पितृऋण है। ब्रह्मचर्यके पालन से ऋषिऋण उतरता है, यज्ञ करनेसे देव ऋण उतरता है तथा संतानोत्पत्ति से पितृऋण से मनुष्य मुक्त होता है।

निम्न मंत्र पितृयाण मार्गका उल्लेख करते हुए यह भी दर्शाते हैं कि कौन पितृयाण मार्गको जानता है। और कौन नहीं।

यं त्वा द्यावा पृथिवी यं त्वापस्त्वष्टा यं त्वा सुजनिमा जजान। पन्थामनु प्र विद्वान् पितृयाणं द्युमदग्ने समिधानो विभाहि ॥ ऋ० १०।२।७ ॥

इस मंत्रका देवता अग्नि है। अग्निको संबोधन करके कहा जा रहा है-

अर्थ-हे अग्ने!(यं त्वा)जिस तुझको(द्यावा पृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक क्रमशः अग्नि और आदित्य रूपसे पैदा करते हैं और (यं त्वा) जिस तुझको (आपः) जल विद्युत् रूपसे पैदा करते हैं, और (यं त्वा) जिस तुझको (सुजनिमा) उत्तम उत्पादक (त्वष्टा) प्रजापति (जजान) उत्पन्न करता है, वह तू (पितृयाणं पंथां) पितृयाण मार्गको (अनु प्र विद्वान्) अच्छी प्रकारसे जानता हुआ (समिधानः) सुप्रज्वलित किया हुआ (द्युमत्) दीप्तिवाला होता हुआ (विभाहि) प्रकाशमान हो।

इस मंत्रमें अग्निको पितृयाण मार्गका जाननेवाला बताया गया है। हम पूर्वही निर्देश कर आए हैं कि अग्नि व पितरोंका विशेष संबन्ध है। उस संबंध पर विशेष विचार आगे किया जाएगा। अग्निको छोड़कर और कौन पितृयाण मार्ग जानता है यह निम्न मंत्र दिखाता है।

स य एवं विदुषा व्रात्येनातिसृष्टो जुहोति । अथर्व० १५।१२।४ ॥ प्र पितृयाणं पन्थां जानाति प्र देवयानम् ॥ अथर्व० १५।१२।५ ॥

अर्थ- (सः यः) वह जो (एवं) उपरोक्त प्रकारसे (विदुषा व्रात्येन) विद्वान् सत्यव्रती अतिथिसे (अतिसृष्टः) आज्ञा दिया हुआ (जुहोति) होम करता है। वह (पितृयाणं पन्थां) पितृयाण मार्ग को (प्रजानाति) अच्छी प्रकार जानता है और वह (देवयानं) देवयान मार्ग को भी अच्छी प्रकार जानता है।

इसके प्रतिकूल -

अथ य एवं विदुषा व्रात्येनानतिसृष्टो जुहोति॥ अथर्व० १५।१२।८ ॥ न पितृयाणं पन्थां जानाति न देवयानं ॥ अथर्व० १५।१२।९ ॥

जो उपरोक्त प्रकारसे (विदुषा व्रात्येन) विद्वान् व्रात्यसे (अनतिसृष्टः) न आज्ञा दिया हुआ (जुहोति) होम करता है। वह (न पितृयाणं पन्थां प्रजानाति) न तो पितृयाण मार्ग कोही भली भांति जानता है और नहीं (देवयानं) देवयान मार्गको जानता है।

अब पितृयाण मार्ग किसे प्राप्त नहीं होता यह नीचे दिया हुआ मंत्र बताता है। मंत्र इस प्रकार है-

देवपीयुश्चरति मर्त्येषु गरगीर्णो भवत्यस्थिभूयान् । यो ब्राह्मणं देवबन्धुं हिनस्ति न स पितृयाणमप्येति लोकम् ॥ अथर्व० ५।१८।१३ ॥

अर्थ-(देवपीयुः गरगीर्णः मर्त्येषु चरति) देवोंकी हिंसा करनेवाला जहर खाया हुआसा मनुष्योंमें विचरण करता है। वह (अस्थिभूयान् भवति) हड्डियोंकी बहुतायतवाला होता है, अर्थात् शरीरमें मांसादि न रहनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि मानो इसके शरीरमें हड्डियां ही हड्डियां हैं और अतएव देखनेमें सिवाय हड्डियोंके और कुछ नहीं दीखता। (यः)जो (देवबन्धुं ब्राह्मणं हिनस्ति) देवोंके बन्धु ब्राह्मणकी हिंसा करता है (सः)वह (पितृयाणं लोकं पितृयाण मार्गको (अपि) भी (न एति) नहीं प्राप्त होता।

इस प्रकार हमें इतने मंत्रोंसे पता चलता है कि पितृय एक खास मार्ग है जिससेकि पितृगण एक लोकसे दूसरे लोकमें आते जाते हैं। अब वह मार्ग कौनसा है यह प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होता है। इस प्रश्नपर थोडासा प्रकाश निम्न मंत्र डाल रहा है। इस पर थोडासा प्रकाश अग्नि व पितरके प्रकरणमें भी डालेंगे। मंत्र इस प्रकार है -

आ भरतं शिक्षतं वज्रबाहू अस्माँ इन्द्राग्नी अवतं शचीभिः। इमे नु ते रश्मयः सूर्यस्य येभिः सपित्वं पितरो न आसन् ॥

ऋ० १।१०९।७ ॥

अर्थ- (वज्रबाहू इन्द्राग्नी) बलवान भुजाओं वाले इन्द्र और अग्नि (अस्मान् आभरतं) हमारा अच्छी प्रकार भरण करें, (शिक्षतं) शिक्षा दें, और (शचीभिः अवतं) अपनी शक्तियोंसे हमारी रक्षा करें। (नु) निश्चयसे (सूर्यस्य इमे ते रश्मयः) सूर्यकी ये वे किरणें हैं (येभिः) जिनसे कि(नः) हमारे (पितरः) पितर (सपित्वं आसन्) सपित्व हैं।

यहांपर आया हुआ सपित्व शब्द बडे महत्व का है। इसीपर थोडासा विशेष विचार करेंगे क्यों कि जो कुछ परिणाम निकाला जासकता है वह इसी पर आश्रित है। सपित्वं- 'पि=गतौ' धातुसे औणादिक त्वन् प्रत्यय करनेसे पित्व बनता है। 'समानं च तत् पित्वं च इति सपित्वं' अथवा 'सह पित्वं सपित्वं।' गतिके तीन अर्थ हो सकते हैं ज्ञान,गमन और प्राप्ति। इस प्रकार इस शब्दके तीन अर्थ हो सकते हैं। (१) सहगमन, (२) सहप्राप्ति (३) सहज्ञान। सहगमन और सह प्राप्ति में विशेष भेद नहीं है क्योंकि सह गमन से सह प्राप्ति होती है। अब हमारे सामने दो पक्ष शेष रहते हैं (१) सहगमन वा सह प्राप्ति और (२) सहज्ञान। इन दो पक्षोंमें से कौनसा अर्थ लेना चाहिए यह विचारना है।

निरुक्तकार यास्काचार्य ने निरुक्त अ० ३, पाद ३, खण्ड १४ में 'कुहस्विद्दोषा कुहवस्तो रश्विना' इत्यादि ऋ. १०। ३४। २॥ की व्याख्या करते हुए 'कुहाभि पित्वं करतः' इस पद समुदाय में आए हुए अभि पूर्वक पित्व शब्द का अर्थ 'प्राप्ति' ऐसा किया है। वे 'कुहाभिपित्वं करतः' का अर्थ करते हैं 'क्वाभि प्राप्तिं कुरुथः'।

सायणाचार्य ने सपित्वं का अर्थ 'सह प्राप्तव्यं स्थानं' ऐसा किया है। सह शब्द उपपद रखके 'आप्लृव्याप्तौ' धातुसे 'कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः' इस सूत्रसे 'त्वन्' प्रत्यय करके 'पृषोदरादीनि यथो. पदिष्टं' से पिभाव करके सपित्व शब्द व्याकरणानुसार सिद्ध किया है। सायणाचार्य सपित्व की सिद्धि अन्य रीतिसेभी करते हैं। 'षप समवाये' इस धातुसे 'इन् सर्वधातुभ्यः' से इन् करने से सपि शब्द बना। सपेर्भावः सपित्वं। अर्थ वही उपरोक्त।

इन दो उपरोक्त आचार्यों के मतानुसार सपित्व का अर्थ सह गमन वा सह प्राप्ति है। हम ऊपर पितृलोक के मंत्रों में देख आए हैं कि पितर द्युलोकमें पितृयाण मार्ग से जाते हैं। और यहां इस मंत्र में हम पाते हैं कि पितर सूर्य किरणों के साथ जाते हैं और उनके साथ वहां पहुंचते हैं। अतः इस से हम इस परिणाम पर पहुंच सकते हैं कि पितर पितृयाण द्वारा पितृलोक में जाते हैं और वह पितृयाण मार्ग संभव है 'सूर्य किरणें' हों। इस पितृयाण मार्ग पर विशेष प्रकाश 'अग्नि व पितर' इस प्रकरण में डाल सकेंगे ऐसी हमें आशा है। यहां पर यह संकेत रूपमें लिखा है। पितृयाण मार्ग विशेष विचारणीय है अतः इसके विषय में एकदम निश्चय पूर्वक कहना कठिन है। पाठक गण इसपर विचारकर कुछ सहायता करेंगे तो अच्छा होगा।

हिंदू समाज समर्थ कैसा बनेगा ?

(ले० - श्री. पं. महादेव शास्त्री दिवेकर। अनुवादक — पं. भोलानाथ राव)

हिंदूसमाज में जातिमत्सर, वर्णमत्सर, अस्पृश्यता इत्यादि दुर्गुण भरे हुए हैं इन्हीं कारणों से हिंदुओं के समाजबल की वृद्धि नहीं होती उसी प्रकार से कुछ बुराइयें और भी हैं जो कि मनोदौर्बल्य उत्पन्न करते हैं। इन सब बातों को दूर करके हिंदू समाज के लिये स्वर्गस्थिति प्राप्त करा देना ही प्रत्येक हिंदु का मुख्य कर्तव्य है। अब हिंदू समाज को विशेषतया सामाजिक स्वर्ग की ओर ही लक्ष रखना चाहिये। दिन प्रतिदिन अब समाज की ऐसी हीन अवस्था होती जा रही है कि स्वर्ग की वैयक्तिक कल्पना को तिरस्कार करके सामाजिक बल बढाने ही में स्वर्ग समझना चाहिये। धृत्युत्साहसमन्वित होकर निरभिमान वृत्तिसे अखंड कार्यतत्परता ही वैयक्तिक स्वर्ग है। सामाजिक स्वर्ग के लिये वैयक्तिक स्वर्ग को भी उसी कार्यरूपमें परिणित करने का सहर्ष प्रयत्न करना चाहिये।

समष्टि धर्म का सातवाँ तत्व हिंदूसमाज में समाजबंधुत्व के भाव को प्रचार करना है। हिंदुओं को भली भांति यह देख लेना चाहिये कि हमारे भाई बंधु कौन हैं ? हमारे संस्कृती [illegible] कौन है ? हमारे देव धर्मों पर प्राण निछावर करने के लिये कौन तयार हैं ? यह सब विचार कर सर्व व्यवहार हिंदूभाईयों से ही करना चाहिए। प्रत्येक हिंदु को हिंदुओंका ही वातावरण होना चाहिये। और ईश्वर से यही प्रार्थना करना चाहिये कि संसार में हिंदू धर्म की ही वृद्धि हो।

हिंदूसमाज में समाजबंधुत्व की अपेक्षा विश्वबंधुत्व का ही विशेष प्रचार है। विश्वबंधुत्व समाज की समर्थावस्थामें उपकारक होता है पतु दुर्बल को विश्वबंधुत्व के तत्व को अंगीकार करना महान घातक है। समाज की उन्नति समाजबंधुत्व से ही होती है। हिंदुसमाज में कुटुंबबंधुत्व और जातिबंधुत्व तो है परंतु समाजबंधुत्व किंचित्मात्र भी नहीं। हिंदू समाज की ऐसी आदत पड गई है कि जब तक स्वार्थ होता है तब तक उसकी ओर लक्ष रहता और जहाँ वह छूटा कि परमार्थ कविचार

आ झपटता है इसी प्रकार जब तक शरीरपर प्रेम रहता है तब तक रहता है, उससे यदि मन त्रस्त हुआ कि वृत्ति एकदम देवता की ओर उलट पडती है। देह और देव की बीच में देशका स्थान है। कुटुंब बंधुत्व और विश्वबंधुत्व के बीच में समाज बंधुत्व है यह हिंदू समाज को ज्ञान नहीं है। विश्व-बंधुत्व की कल्पना को दूर करके समाज बंधुत्व के सद्यः फलदायी तत्वज्ञानको ग्रहण करना चाहिये। हिंदू नाम मात्र परही उसकी मदत करना, हिंदू स्त्री पर यदि किसीने भी हाथ उठाया, मूर्तीका अपमान किया, समाज का अपमान किया कि उसकी रक्षाके लिये प्राण दे देना भी उत्तम है ऐसे भाव हिंदूसमाजमें प्रकट होने चाहिये। जो हिंदू समाज को दुःख देते हैं, उसके संग जबरदस्ती करते हैं उनको भली भांती मुंह तोड उत्तर देना चाहिये तथा उनसे व्यवहार बंद कर देना चाहिये। श्रीमंत सेठ साहुकारों को भी अपने घरके किसी व्यवहारमें भी परधर्मियों का संबंध वर्जित करना चाहिये। मोटर ड्राइवर, क्लीनर, तगादेवाले, चपरासी, पट्टेवाला, कुली, नाई, धोबी, बागवान, राज, बढई, ग्वाला, दुकानदार, टांगेवाला, कुली, कलईवाला, चूडीवाला, फेरीवाला, सुनार, लोहार विशेष क्या जो जो अनेक व्यवहार व्यवहारमें वर्तने पडते हैं वे सब समाजबंधुत्वकी दृष्टिसे हिंदुओंसे ही बर्तने चाहिये साहूकारों के दुकानोंमें व घरमें अच्छेसे अच्छे व्यवहार अहिंदु लोग ही करते हैं। घर का औरतोंतक इनकी पहुंच होती है। यह इतनी बुरी प्रथा हैकि उसका वर्णन न करना ही अच्छा है। दिल्लीमें १-१२-२६ के दिन तबलीक परिषद जमी हुई थी। उसके अध्यक्षने मुसलमानों को समाज-बंधुत्वका दिग्दर्शन करा कर हिंदुओंका बहिष्कार करनेके लिये इन शब्दोंमें प्रतिपादन किया--

"hat Muslims should take a vow to by all the requirements from the Musms alone."

उक्त कथित शब्दोंसे साधारणसे साधारण मनुष्यभी यह भली भांति समझ सकता है कि मुसलमान जाति समाज बंधुत्वमें कितनी दक्ष है। हिंदुओंको भी इसका प्रत्युत्तर कार्यरूपमें देना चाहिये। "To buy all the requirements from the Hindus alone" ऐसा कहकर मोहर्रमके त्यौहार का बहिष्कार करना चाहिये। मुसलमान टांगेवाला, जुलाहा, कुली, राज, ग्वाला, धोबी, कलईवाला इन सबका बहिष्कार करके इनके स्थानपर हिंदुओं का वर्ग निर्माण करना चाहिये। वास्तविक धंदों को करनेवाले हिंदुओं में भिन्न भिन्न वर्णव्यवस्था होने से मुसलमानों की बिलकुल भी आवश्यकता नहीं है; फिर विनाकारण परधर्मीयों का संग कैसा? हिंदुओं को सर्व व्यवहार हिंदुओं से करने में द्वेष, तिरस्कार किंवा हिंसा की कोई बात नहीं है। इसमें समाजबंधुत्व व एकता ही से तात्पर्य है। हिंदूसमाजमें समाजबंधुत्व पैदा करने का सबसे बडा उपाय अहिंदुओं से व्यवहार संबंध जोडना ही है। नागपूर ऐसे शहर में भी कलईवाले, फेरीवाले, लोहर इत्यादि बेचने वाले, छतरी ताली बेचनेवाले तथा आतशबाजी बेचनेवाले सब मुसलमान ही हैं। पहले अकोला में सर्व टांगेवाले मुसलमान ही थे, अब कुछ टांगे हिंदुओं के भी हो गए हैं। सहारा जिले में कराहाड व मध्यप्रांत जिलेके बुन्हानपुर में शायद ही कोई हिंदू टांगा वाला मिले। बऱ्हाणपूर, मालेगांव इत्यादि स्थानों में हिंदु जुलाहे शायद ही कहीं हो पर मुसलमान प्रत्येक स्थानपर दिखते हैं। वैसे ही बहुतसे गांवों मे राज भी मुसलमान ही हैं। बैंड बजाने का कारोबार भी मुसलमानोंने अपने हाथ में ही कर रखा है। शराब व गोले बारुद की दुकान करनेवाले लोग शायद ही कहीं हिंदू हों। बहुत से जगहों में तो पटवे, तंबोली, बागवान जुलाहे, मोटरवाले भी मुसलमान ही हैं। इन कार्यों को करनेवाले मुसलमानों को छोडकर हिंदु दिखलाई ही नहीं देते। कितने ही स्थानों पर नाई, धोबी बढई सोनार बसफोड इत्यादि हरप्रकारके धंदे करनेवाले मुसलमान लोग हिंदू रोजगारियों पर अपनी प्रभुता बढाकर हिंदू समाज पर चढाई कर रहे हैं। यः कश्चित चुडिहारोंका धंदा तो ५० फीसदी मुसलमानों के हाथ ही में है। कितने ही गांवों में मुसलमानों ने

ऐसा प्रयत्न कर रखा है कि मुसलमान समाज का पैसा हिंदु धंदेवाली स्त्रियों * को मिले ही नहीं। छोटे से छोटा कार्य, मध्यम कार्य तथा उच्च कार्य सबमें अपना हाथ बढाने के कारण मुसलमान लोग शनैः शनैः हिंदुओंपर अपना प्रभुत्व स्थापित कर रहे हैं। महाराष्ट्र केन्द्र पूना ऐसे शहर में लग्न कार्य (विवाह) में मंडप बनाने का कार्य भी मुसलमान ही करता है। कितने ही तालुकों में तो मुसलमान के सिवाय दूसरा ग्वाला मिलता ही नहीं। ब्राह्मणेतर समाज पर मुसलमान पठान की साहुकारी इतनी उत्कृष्टता से चलती है कि उतनी किसी की भी नहीं चलती होगी। हिंदुओंके बहुतसे उद्योग धंदे तो पहले अंगरेजों ने ही आत्मसात कर लिये और जो कुछ बाकी बचे हैं उनका अपहरण मुसलमानों द्वारा हो रहा है। ऐसे समय में हिंदुओं को सब रोजगार अपने ही हाथ में ले लेना चाहिये। विशेषकर सुशिक्षित हिंदुओं को किसी भी रोजगार से नहीं हटना चाहिये। चाहे जो रोजगार हो उसे करने के लिये जब हिंदूलोग अग्रसर होंगे तभी हिंदूसमाज का आर्थिक न्हास कम होगा। बेकार सुशिक्षित हिंदू तरुण समाज यदि किंचित मात्र भी व्यापार का निरीक्षण करे तो उन्हें २५) से लेकर २००) मासिक तक की प्राप्ति के सैकडों रोजगार मिल सकते हैं। जब मुसलमान लोग हिंदुओं के रोजगार के नष्ट करने के लिये बद्धपरिकर हुए हैं तो क्या हिंदुओं को भी उन्हें (जैसे को तैसा) का व्यवहार कर के नहीं दिखलाना चाहिये ? ध्वनि से प्रतध्वनि, सेर को सवासेर, आघात करनेवाले को प्रत्याघात ऐसा सृष्टि का धर्म है। इस धर्म का अनुसरण करके हिन्दूसमाज के जीवन के मार्ग को सुव्यवस्थित बनाना चाहिये। प्रत्येक हिंदू को समाजबंधुत्व की दृष्टि से ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि सर्व उद्योग, धंदे, रोजगार, कलाकौशल हिंदुओं के ही हाथ में आ जांय। मंगलकार्य में मुसलमानों से बैंड बजवाना क्या अधर्म नहीं है। धर्मकार्य व मंगलकार्य में म्लेंच्छों से सम्बन्ध रखने की कोई आवश्यकता नहीं। यदि बैंड बजवाना ही हो तो हिंदू बैंडवाला होना अत्यावश्यक है। मंगल कार्य के मंडप हिंदू लोग ही तय्यार करें, अहिंदुओं का वहाँ दर्शन भी नहीं होना चाहिये। मुसलमान दूधवाले के दूध में न मालूम क्या मिला हो, दूध निकालने के बर्तनों में उसने न मालूम कौन कौन सा घृणित पदार्थ बनाया होगा यह कहा नहीं जा सकता; इसलिये हिंदुओं को मुसलमानों के संग खाद्यविषयों का सम्बन्ध तो बिलकुल नहीं करना चाहिये। हिंदू स्त्रियों के हाथ में गोभक्षक मुसलमान लोग चूडी पहनाते हैं इससे और लज्जास्पद स्थिति क्या हो सकती है ? गोमांसभक्षक मुसलमानों के हाथ से चूडियें कभी भी न पहिनना चाहिये परंतु वह हिंदु चूडी पहनानेवाली के यहाँ ही पहिनना चाहिये। किंवा स्वतः ही पहन लेना सब से उत्तम है। दीपावली के उत्सव में पटाके फुलजरी इत्यादि बारुद के खेलों को भी हिंदुओं के ही यहाँ से खरीदना चाहिये। प्रत्येक हिंदू बालकों को भी प्रतिज्ञा करनी चाहिये कि बारुद का सामान हिंदू दूकान पर नहीं मिलता है तो हमें उसकी आवश्यकता नहीं। जिन बर्तनों में हम खाते हैं उनमें कौन कलई करता है। जिन बैठकों मे हम बैठते हैं उनका निर्माणकर्ता कौन है, जिस दूध का हम उपयोग करते हैं वह कहाँ से आता है, जिस भाजी फलफूल, पान का हम उपयोग करते हैं वह हिंदू के यहाँ की हैं या नहीं इसकी खोज समय समय पर अवश्य ही करनी उचित है। देवताओं पर फूल चढाना आवश्यक अवश्य है पर यदि वे गोभक्षक के हाथों से स्पर्शित हैं तो वे देवताओं पर कैसे चढ सकते हैं। इन सब बातोंपर जब हिंदू समाज का विचार होगा तभी समाज बंधुत्व का तत्व हिंदूलोग समझेंगे और तभी समाजबल की वृद्धि होगी।

देशकाल परिस्थिति के अनुसार किसी भी अर्थोत्पादक धंदा करनेमें किसी प्रकार का शस्त्रीय

---

* सूचना-मुसलमान लोग हिंदु स्त्रियों का हाथ पकडकर चूडी भरते हैं यह दृश्य कितना शोकजनक है

रोक टोक नहीं है, कहीं स्फूर्ति का अभाव तो कहीं धर्मशास्त्र की अडचन व कहीं मन की अस्थिरता इन्हीं कारणों से हिन्दूसमाज का गला दवाया जाता है। मुसलमानों का मुंह इतना बडा है कि उसमें कुछ भी समा सकता है और हिंदुओंका इतना संकुचित कि उसमें कुछ भी नहीं आता ! सारांश यह है कि हिंदूसमाज इन्हीं कारणों से ही पिछडा हुआ है परन्तु मुसलमानों को किसी प्रकार की रोक टोक नहीं है इसी से वे लोग सब कामों में अग्रसर दिखाई पडते हैं।

हिंदू समाज की अशिक्षित मंडली एकदम से नए नए धंदों और रोजगारों में आगे नहीं बढ सकती। ऐसे समय में सुशिक्षित हिंदू तरुणों को ही अग्रसर हो कर आधुनिक स्थिति में नवीन धंदों का प्रचार करना चाहिये। यदि हमें सर्व व्यवहार हिंदुओं के बीच ही में करना है तो जिस प्रकार हमें अहिंदुओं का संबंध त्याग करना आवश्यक है उसी प्रकार हिंदुओं में अनेक प्रकार के धंदे करनेके लिये (जो की अवतक मुसलमान लोग करते थे) उत्साह बढाना चाहिये। प्रत्येक धंदों में हिंदू ही हिंदू दिखलाई दें। हिंदुसमाज के साथ रहकर उन्हीं के पैसे पर वृद्धि करके और उन्हीं पर चढाई करनेवाले मुसलमान समाज को नीचा दिखलाने और समाज में उद्योग धंदों की वृद्धि करनेका एक मार्ग समाजबंधुत्व ही है। गांवका यदि एक आध बैल मस्त हुआ कि लोग उसको चारापानी देना बंद कर देते हैं तभी वह शीघ्रही रस्ते पर आ जाता है। हिंदुओं ने समाज बल बढाकर उद्योग धंदों का प्रचार कर के सर्व व्यवहार हिंदुओं के बीच ही में हो ऐसा यदि निश्चय कर लिया तो मुसलमान समाज बात की बातमें अपने हाथ में आजायगा। समिष्ट धर्म के समाजबंधुत्व का तत्व हिंदूसमाज के नस नस में जितनीही शीघ्र मिलेगा उतनी ही शीघ्र यह कार्य सफल होगा।

समष्टि धर्म का आठवें तत्वानुसार भविष्यमें हिंदुसमाजका तत्वज्ञान चढाई और आक्रमशील ही होना चाहिये। कोई भी समाज चढाई के तत्वज्ञान ही से जयिष्णु होता है। समाजवृद्धि सहनशीलता द्वारा कभी भी संभव नहीं है। सहिष्णुता व बचाव मुमूर्षु समाज में ही विशेषकर पाई जाती हैं परंतु जीवित समाजका तत्वज्ञान उससे बिलकुल भिन्न होता है। हिंदूधर्म सहिष्णु है, सहिष्णुत्व हिंदू समाज का प्रधान स्वभाव है ऐसा जो कहा जाता है सो वर्तमान परिस्थिति को देखते हुए ठीक ही है। परंतु हिंदुसमाज जिन भिन्न भिन्न वंशोंसे बना है उनमें से आर्यवंश तो जयिष्णु स्वभाव का है। हिंदुस्थान में तथा अन्य स्थानों में स्थान स्थान पर आर्यों की संस्कृति का अवशेष मिलता है उनसे यही सिद्ध होता है कि आर्यजाति आक्रमशील थी। क्यों कि यदि वे लोग ऐसे न होते तो उनकी संस्कृति का अवशेष मिलना कठीन था। सारांश यह है कि हिंदुओं को आर्यों के चढाई के तत्वज्ञान की अवश्यकता है।

वर्तमान स्थिति में हिंदुओं के सन्मुख दो सिद्धान्त है। पहिला 'शठं प्रति शाठ्यं और दूसरा 'शठ प्रति सत्यं'। इन्हीं दो सिद्धांतों द्वारा संसार में व्यवहार का प्रतिपादन होता है। इन दोनों सिद्धांतों का उपयोग सब जगह एक ही प्रकार से हो ऐसा नहीं हो सकता। कारण कि कोई शठ मनुष्य सत्य से वश में होता है तो दूसरा विना शाठ्यता का व्यवहार किये ठीक ही नहीं होता। अर्थात् कहने का तात्पर्य यह है कि मनोवृत्ती द्वारा शाठ्य किंवा सत्य यह दोनें उपयोगों का समयानुसार कार्य में लाना पडता है। सब धान बारा पसेरी वाला सिद्धान्त नहीं चल सकता परंतु चढाई की निपुणता की दृष्टिसे यह दोनों तत्व कुछ काम के हैं। 'शठं प्रति शाठ्यं' और 'शठं प्रति सत्यम्' यह दोनें सिद्धान्त शठकी शठता को दूर ही करने के लिये हैं, अर्थात दुष्ट लोगों के उपद्रव करने पर या तो उनके प्रति शाठ्यता का व्यवहार करके उन को हटाया जाय अथवा सत्यता का व्यवहार करके। दोनों सिद्धांन्तों का मुख्य उद्देश्य अपने को बचाना ही है। उपर कहे हुए सिद्धांन्तों के विषयमें हमे यही विचार करना है कि यदि कोई मनुष्य हमें मूंहपर दो तमाचे लगाकर जाता है तो उसे सहन करके उसका बचाव करना चाहिये अथवा उसके उत्तर में उसको भी दो तमाचे जमाकर। इन दोनों तत्वों

में पहले हम मारें या तुम मारो ऐसी बात नहीं है।

हिंदू समाज में पहले अग्रसर अरोपी होने तथा प्रतिवादी होनेका तत्वज्ञान आना चाहिये। हिंदू-समाज के पास संसार को बतलाने लायक बातें बहुत हैं इस कारण उसे अभिनिवेशसे वैसा तत्व ज्ञान निर्माण करना चाहिये। दूसरोंके प्रथम अग्रसर करनेपर उनसे कैसा व्यवहार करना चाहिये इस बात पर विचार करनेवाला समाज संसार में बहुत दिवस तक जीवित नहीं रह सकता।

अब हम समष्टि धर्मकी चार पांच और मुख्य मुख्य बातें बतलाकर हम इस प्रकरणको समाप्त करते हैं।

१ समष्टि धर्म की आज्ञानुसार प्रत्येक हिन्दू स्त्री पुरुष को प्रतिदिवस स्नान, सायं प्रातः सूर्योपासना व गीताके श्लोकों को अवश्य ही पढना चाहिये। प्रत्येक मनुष्य को अपनी इच्छानुसार व्यष्टिधर्म की पूर्ण स्वतंत्रता है। धर्म,जाति,पंथ व आचार इत्यादि व्यष्टि धर्म में किसी को किसी प्रकार की रोकटोक नहीं है केवल इतना ही देखना चाहिये कि प्रत्येक हिंदू समष्टि धर्म का पालन करता है या नहीं। इस देश के जल वायु को देखते हुए प्रत्येक हिंदू मात्र को प्रति दिवस अवश्य ही स्नान करना अपना मुख्य धर्म समझना चाहिये। केवल बीमार लोग इस नियमसे पृथक हो सकते हैं परंतु दूसरे लोगों के लिये इससे भागने का कोई मार्ग नहीं हैं स्नानोत्तर प्रातःकाल व सायंकाल गायत्री मंत्र का प्रवर जप करके गीता पाठ भी करना चाहिये।

२ हिंदूसमाज में बहुत से त्योहार पडते हैं पर सामुदायिक दृष्टि से किसी भी त्योहार का पालन नहीं होता। वर्षप्रतिपदा, विजयादशमी और मकर संक्रान्त यह तीन त्योहार सर्व हिंदू स्त्री पुरुषों को सामुदायिक स्वरूप से मनाना चाहिये। संक्रांत के तिलगुड का समारंभ तो बहुत सी जगह होने लगा है उसी प्रकार वर्षप्रतिपदा को पंचांगश्रवण और लिंब भक्षण होना चाहिये तथा स्त्रियों को आपस में हळदकुंकू करना चाहिये। सामाजिक व राष्ट्रीय दृष्टिसे विजयादशमी भी बडा महत्वपूर्ण त्योहार है। सर्व हिंदुओं को सामुदायिक पद्धति से इस सन को मनाना चाहिये। प्रेम, ऐक्य, सहकार्य इन गुणों के उत्पन्न करने के लिये यह त्योहार बडा उपयोगी है। समष्टि धर्म में दृढता पैदा करने के लिये उपर कहे हुए त्योहारों की महान आवश्यकता है।

३ समष्टि धर्म के अनुसार प्रत्येक हिन्दूको गौ व तुलसी अत्यंत पूज्यनीय हैं। गौकी उपयुक्तता हिंदू समाज में कितनी है यह यहाँ बतलाने की आवश्यकता नहीं है। इस विषय पर अनेक गोभक्तों ने बहुत कुछ कहा है। तुलसी यह वनस्पति भी सर्व दृष्टिसे अत्यंत उपयुक्त है इस कारण परंपरानुसार उसे भी पूज्य समझना चाहिये।

४ सर्व हिंदू स्त्री पुरुषों को महीने में कम से कम दोबार अर्थात अमावस्या व पूर्णिमा को एकत्र होकर सामुदायिक वैदिक प्रार्थना करनी चाहिये। इस प्रार्थना में प्रत्येक हिंदू स्त्री पुरुष को भाग लेना चाहिये। प्रार्थना का अर्थ भाषा में बतलाना चाहिये। इसके अनन्तर प्रतिदिवस के लिये भी खेल, भजन, श्रवण प्रार्थना इत्यादि कुछ न कुछ व्यवस्था करनी चाहिये जिससे सब लोग एक स्थान पर एकत्रित हों। शहरों की अपेक्षा यह कार्य गावों में शीघ्र ही साध्य होगा। वहाँ की परिस्थिती के अनुसार गांवके लोगों को दूसरा उपक्रम करना चाहिये।

५ सर्व हिंदुओं को समष्टि धर्मानुसार आपस में एक दूसरे से मिलने पर नमस्कार तथा राम राम काही प्रयोग करना चाहिये न कि सलाम का।

६ सर्व हिंदु स्त्री पुरुषों को बोलाचाल की भाषा में भी शिष्ट शब्दों का ही प्रयोग करना चाहिये।

७ सर्व हिंदुओं को मृत माँ बाप का श्राद्ध करना चाहिये।

हिंदुसमाज के सामाजिक बलवृद्धि के लिये विवेचित किये हुए समष्टि धर्म की कितनी आवश्यकता है यह बतलाने की जरूरत नहीं है। इस कथित समष्टि धर्म को समाज में प्ररूढ करने के लिये तथा समाजबल वृद्धिके लिये हिंदुसमाज को क्या करना उचित है इसका विवेचन हम अगले प्रकरणों में करेंगे।

बृहस्पति और तारा।

आकाशमें बृहस्पति नामका एक सितारा है, जिसको 'गुरु' भी कहते हैं। यह प्रसिद्ध सितारा है, जो रात्रीके समय पाठक देख सकते हैं। आकाशस्थ अन्य नक्षत्रोंमें "तारा अथवा तारका" नामका एक नक्षत्र है, रूपकसे समझा जाता है कि यह 'गुरु' की 'धर्मपत्नी' है, अर्थात् बृहस्पति की यह भार्या है। यहाँ धर्मपत्नी कहनेका तात्पर्य इतना ही है कि यह बृहस्पति इस नक्षत्रमें बहुत देरतक और इसके बहुत समीप रहता है। इसलिये इनकी आपसमें पतिपत्नीकी कल्पना की है। बृहस्पति का 'ब्रह्मणस्पति' भी दूसरा नाम वेदमें है। इसका अर्थ 'ज्ञानी गुरु' होनेसे इसका वर्ण ब्राह्मण माना गया, अर्थात् इसकी धर्मपत्नी होनेसे तारा भी "ब्राह्मणी, गुरुपत्नी अथवा ब्रह्मजाया," कहलाती है। इस प्रकार यहां एक ब्राह्मण परिवार की कल्पना हुई। यह बृहस्पति देवोंका गुरु है और जब आकाशमें देवोंकी सभा रात्रीके समय लगती है, उस समय यह [illegible] गुरू उसमें विराजते हैं और मानो, देवोंको सुयोग्य सलाह देते हैं।

इसी प्रकार राजा सोम भी देवसभामें उपस्थित होते हैं। इस समय ये एक क्षत्रिय राजा माने गये हैं। ये क्षत्रिय राजा अपनी राज्याधिकारकी धुंदमें अनेक तारागणोंसे संबंधित होते हैं अर्थात् अनेक स्त्रियोंसे संबंध करते हैं। इस अत्याचारके कारण उनको क्षयरोग होता है। इस अनाचारके कारण बिचारे राजासाहेब क्षीण होते जाते हैं, अमावास्याकी रात्रीमें तो इनकी हालत बहुत खराब होती है। उस समय कुछ उपचार के करनेपर शुक्लपक्षमें कुछ पुष्ट होने लगते हैं। ऐसी अवस्थामें गुरुपत्नी तारा का दर्शन होता है और उसका दर्शन होते ही क्षयी राजाका मन चञ्चल हो जाता है। राजा अपने शासनाधिकारके कारण उन्मत्त होनेके कारण गुरुपत्नीका गौरव और आदर न करता हुआ, उसका धर्षण करता है। इस प्रकार स्त्रीके पातिव्रत्यका नाश करनेके कारण जो पाप होता है, उस पापके कारण राष्ट्रमें बडा क्षोभ होता है। और सब प्रजा त्रस्त होजाती है। जहां गुरुपत्नीका इस प्रकार अपमान होता है, वहां अन्य स्त्रियोंके पातिव्रत्यका क्या होता होगा, ऐसा विचार करके अत्याचारी राजाका निषेध उपस्थित ऋषि और सदस्य देव करने लगते हैं। राजा अपने घमंडमें आकर विरोधक ऋषियों और देवोंको दबानेका यत्न करता है, इससे प्रजामें अधिक क्षोभ होता है। तत्पश्चात् राजा सोम देखता है कि अपनी प्रजा प्रतिकूल होगई है और अपनेको राज्यसे पदच्युत करनेका विचार करती है, इसपर प्रजाको अधिक दबानेके लिये असुर सेनाकी सहायता

लेता है। और विदेशी असुर सेनासे अपनी प्रजाको दबानेकी चेष्टा करता है। इससे प्रजा अधिक क्षुब्ध होती है और बडी लडाई छिडती है। दोनों ओरका बहुत संहार होनेपर दोनों पक्षोंकी आपसमें कुछ सलाह होती है। इस संधिके अनुसार राजा सोम गुरुपत्नीको वापस करता है। उस समय वरुण और मित्र साथ रहते हैं और अग्नि मार्गदर्शक होता है। इस प्रकार चन्द्रमाको कलंक लग कर इस बुरे कर्मका फल उसको मिलता है।

इस समय सोम और तारा के संगमसे बुधकी उत्पत्ति होती है। तारा अग्नितापसे शुद्ध होकर फिर अपने घर पहुंचती है। इस प्रकारकी कथा बहुत पुराणोंमें है। इस विस्तृत कथाका कुछ मूल इस सूक्तमें दिखाई देता है। जिस प्रकार वृत्रकी कथा मेघ और सूर्य इस पर रूपकालंकार मानकर रची है, उसी प्रकार चंद्रमा, तारका, गुरु आदिके ऊपर यह बोधप्रद अलंकार रचा है। वेदमें इस प्रकारके अनेक अलंकार हैं। और उनसे अनेक प्रकारका बोध प्राप्त होता है।

यहां भी यह बोध मिलता है कि कोई राजा अपने अधिकारके मदसे उन्मत्त होकर स्त्रियोंपर अत्याचार न करे, यदि करेगा, तो उसको परमेश्वरके राज्यमें उसी प्रकार दण्ड मिलेगा जैसा कि सोम राजाको जन्मभर कलंकित होना पडा था। उसका अपमान हुआ, कलंकित होना पडा, रोगी होना पडा, राजविद्रोह हुआ, राष्ट्रमें बलवा होगया, और न जाने क्या क्या आपत्तियां आपडी होंगी। यदि इतने समर्थ सोम राजाकी यह अवस्था हुई, तो उसके बहुत छोटे पार्थिव राजाकी क्या अवस्था होगी। और यदि राजाकी ऐसी दुर्दशा होगई तो कोई प्रजाजन यदि ऐसा कुकर्म करे तो उसकी कितनी दुर्दशा होगी, ऐसा विचार मनमें लाकर हरएक पुरुषको स्त्रीके पातिव्रत्य की रक्षा करना उचित है। केवल गुरुपत्निके ही पातिव्रत्यकी रक्षा यहां अभीष्ट नहीं है, प्रत्युत संपूर्ण स्त्रीजातिके पातिव्रत्यकी रक्षाका यहां उपदेश है। गुरुपत्नी यहां केवल उपलक्षण मात्र है।

जिस राष्ट्रमें स्त्रियोंकी पातिव्रत्यरक्षा अच्छी प्रकार होती है और स्त्रीके इधर उधर सुखपूर्वक भ्रमण करनेमें स्त्रीको किसी प्रकार भी अपमानकी संभावना नहीं होती, वह राष्ट्र अत्यंत सुरक्षित होता है—

न दूताय प्रह्येया तस्थ एषा
राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य ॥ (मं० ३)

" यह स्त्री दूतको ले जाने योग्य नहीं होती, अर्थात् किसीका दूत इस प्रकार

भयानक कुकर्म करनेको जिस राष्ट्रमें साहस नहीं कर सकता, वह क्षत्रियका राष्ट्र सुरक्षित रहता है। " अर्थात् जिस राष्ट्रमें स्त्रीके ऊपर अत्याचार होते हैं वह राष्ट्र किसी सज्जनके रहनेके लिये योग्य नहीं होता है।

" जिस राष्ट्रमें स्त्रियोंपर अत्याचार होते हैं उस राष्ट्रमें गर्भपात भी होते हैं, प्राणी अकालमें मरते हैं, वीर लोग आपसमें लडते भिडते हैं " (मं० ७) इस लिये स्त्रियोंकी सुरक्षितता अवश्य होनी चाहिये।

क्षत्रिय वैश्योंमें नियोगके कारण और शूद्रोंमें पुनर्विवाहके कारण एकके पश्चात् दूसरा इस प्रकार दस तक पतियोंकी संख्या हो सकती है। परंतु ब्राह्मणोंके लिये तो न नियोगकी प्रथा और ना ही पुनर्विवाह की प्रथा उचित समझी जाती है, इसलिये [illegible]णीका ब्राह्मणके साथ एकवार विवाह हुआ तो उसका किसी भी कारण दूसरा पति न[illegible] हो सकता। क्यों कि ब्राह्मणोंको भोगमें फंसना नहीं चाहिये। इत्यादि विषय आठवें मंत्र[illegible] देखने योग्य है। शेष मंत्रोंमें स्त्री पर अत्याचार करनेवाले राष्ट्रकी जो दुर्दशा होती [illegible] उसका वर्णन है। इस लिये उनके अधिक विचरणकी आवश्यकता नहीं है।

इस [illegible]सूक्तमें कई प्रकारके बोध प्राप्त होते हैं। सबसे प्रथम लेनेयोग्य बोध यह है कि राजाव[illegible] अपना आचरण बहुत ही निर्दोष रखना चाहिये। बहुत स्त्रियां करना और दूसरों[illegible] स्त्रियोंके साथ कुकर्म करना बहुत ही बुरा है। बहुपत्नी व्यवहार करनेसे सबसे पहिल[illegible] जो कष्ट होता है वह ब्रह्मचर्य नाश और वीर्यनाशके कारण क्षयरोग होनेकी संभा[illegible]ा है। शरीरमें जबतक भरपूर वीर्य रहता है तब तक क्षयरोग होही नहीं सकता। वीर्य[illegible]ोष उत्पन्न होनेसे क्षयरोग होता है और अन्तमें उससे मृत्यु निश्चित है। राजाका आ[illegible]र व्यवहार देखकर अन्य लोग उसी प्रकार आचार करते हैं, राजाओंके ऊपर यह बड[illegible] भारी जिम्मेवारी है। राजा बिगड जानेसे राष्ट्रके लोग बिगड जाते हैं और इस प्रक[illegible] राष्ट्रका नाश होता है। अतः बडे लोगोंको अपने आचार व्यवहार धर्मानुकूल ही [illegible]रने चाहिये। राजाके पास जो अधिकार होता है उसकी घमंड करके अपने अधि-का[illegible]का दुरुपयोग करना राजाको योग्य नहीं है। प्रजाके कल्याण का उद्योग करनेके लि[illegible] राजाके पास अधिकार दिया होता है। इस अधिकार का उपयोग अपने स्वार्थ भे[illegible]ग भोगनेके लिये करनेसे ही राजा दोषी होता है। इसलिये राजाको उचित है कि [illegible] सदा समझे कि मेरा निरीक्षण करनेवाला परमेश्वर है, इसलिये मुझे कोई अकार्य [illegible]रना योग्य नहीं है। इस प्रकार विचार करके राजा अपना आचार व्यवहार सुधारे और [illegible]पने योग्य प्रबंधसे संपूर्ण राष्ट्रका उद्धार करे।

❀

ब्राह्मणकी गौ।

[१८]

(ऋषिः — मयोभूः । देवता—ब्रह्मगवी)

नैतां ते देवा अददुस्तुभ्यं नृपते अत्तवे ।
मा ब्राह्मणस्य राजन्य गां जिघत्सो अनाद्याम् ॥ १ ॥

अक्षद्रुग्धो राजन्यः पाप आत्मपराजितः ।
स ब्राह्मणस्य गामद्याद्द्य जीवानि मा श्वः ॥ २ ॥

अर्थ— हे नृपते ! (ते देवाः एतां तुभ्यं अत्तवे न ददुः) उन देवोंने इस गौको तुम्हारे लिये खानेके अर्थ नहीं दिया है। हे (राजन्य) क्षत्रिय! (ब्राह्मणस्य अनाद्यां गां मा जिघत्सः) ब्राह्मणकी न खाने योग्य गौको मत खा ॥ १ ॥

(अक्ष-द्रुग्धः पापः) जुआडी, पापी (आत्म-पराजितः राजन्यः) अपने कारण पराजित हुआ हुआ क्षत्रिय, (सः ब्राह्मणस्य गां अद्यात्) वह यदि ब्राह्मणकी गौको खावे, तो (अद्य जीवानि, मा श्वः) वह आज जीवे, कल नहीं ॥ २ ॥

भावार्थ—हे क्षत्रिय ! हे राजा ! यह सब तेरे ही उपभोगके लिये तुम्हारे पास देवोंने नहीं दिया है। ब्राह्मणकी भूमि, गाय आदि जो भी कुछ धन होगा वह बलसे हरण करना तुम्हें योग्य नहीं है ॥ १ ॥

जो जूएमें हरा हुआ, पापी, दुराचारी और आत्मघातकी क्षत्रिय होगा वही ब्राह्मण की भूमि और गौ आदिका बलसे हरण करके भोग करेगा। इससे वह आज जीवित रहा होगा, तो कल भी जीवित रहेगा, इस विषयमें निश्चय नहीं है ॥ २ ॥

आविष्टिताघविषा पृदाकूरिव चर्मणा ।
सा ब्राह्मणस्य राजन्य तृष्टैषा गौरनाद्या ॥ ३ ॥
निर्वै क्षत्रं नयति हन्ति वर्चोऽग्निरिवारब्धो वि दुनोति सर्वम् ।
यो ब्राह्मणं मन्यते अन्नमेव स विषस्य पिबति तैमातस्य ॥ ४ ॥
य एनं हन्ति मृदुं मन्यमानो देवपीयुर्धनकामो न चित्तात् ।
सं तस्येन्द्रो हृदयेऽग्निमिन्ध उभे एनं द्विष्टो नभसी चरन्तम् ॥ ५ ॥

अर्थ-हे (राजन्य) क्षत्रिय! (एषा ब्राह्मणस्य गौः अनाद्या) यह ब्राह्मणकी गौ खाने योग्य नहीं है। क्योंकि (सा चर्मणा आविष्टिता) वह चर्मसे ढंकी (तृष्टा पृदाकूः इव अघविषा) प्यासी सांपिनके समान भयंकर विषसे भरी होती है ॥ ३ ॥

(यः ब्राह्मणं अन्नं एव मन्यते) जो क्षत्रिय ब्राह्मणको अपना अन्नही मानता है, (स तैमातस्य विषस्य पिबति) वह सांपका विषही पीता है। वह अपमानित ब्राह्मण (क्षत्रं वै निः नयति) क्षत्रियको निःशेष करता है, (वर्चः हन्ति) तेज नाश करता है, (आरब्धः अग्निः इव) आरंभ हुए प्रदीप्त अग्निके समान (सर्वं विदुनोति) सब नष्ट करता है ॥ ४ ॥

(यः देवपीयुः धनकामः) जो देवशत्रु धनलोभी (एनं मृदुं मन्यमानः न चित्तात् हन्ति) इस ब्राह्मणको कोमल मानता हुआ विना विचारे मारता है। (इन्द्रः तस्य हृदये अग्निं सं इन्धे) इन्द्र उसके हृदयमें अग्नि जला देता है (उभे नभसी चरन्तं एनं द्विष्टः) दोनों भूलोक और द्युलोक विचरते हुए इसका द्वेष करते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ— हे क्षत्रिय! ब्राह्मणकी भूमि अथवा गौ तुम्हारे उपभोगके लिये नहीं है। मानो, चर्मसे ढंकी हुई, विषभरी, क्रोधी सांपिनके समान वह तुम्हारे लिये नाशक सिद्ध होगी ॥ ३ ॥ जो क्षत्रिय विद्वान ब्राह्मणको अपने भोगका विषय मानता है, वह मानो सांपका विषही पीता है। उस प्रकार अपमानित हुआ ब्राह्मण क्षत्रियका नाश करता है, उसका तेज नष्ट करता है, और जलती आगके समान सब राष्ट्रको हिला देता है ॥ ४ ॥ जो क्षत्रिय धनलोभसे देवोंका अन्नभाग स्वयं खाता है, और ब्राह्मणको निर्बल मानकर उसको कष्ट देता है, उसके हृदयमें अग्नि जलाकर इन्द्र उसका नाश करता है और सब द्यावापृथिवीके निवासी उसकी निन्दा करते हैं ॥ ५ ॥

न ब्राह्मणो हिंसितव्यो३ऽग्निः प्रियतनोरिव ।
सोमो ह्यस्य दायाद इन्द्रो अस्याभिशस्तिपाः ॥ ६ ॥
शतापाष्ठां नि गिरति तां न शक्नोति निःखिदन् ।
अन्नं यो ब्रह्मणां मल्वः स्वाद्व१द्मीति मन्यते ॥ ७ ॥
जिह्वा ज्या भवति कुल्मलं वाङ्नाडीका दन्तास्तपसाभिदिग्धाः ।
तेभिर्ब्रह्मा विध्यति देवपीयून् हृद्बलैर्धनुर्भिर्देवजूतैः ॥ ८ ॥

अर्थ- (प्रियतनोः अग्निः इव) प्रियतनुरूप अग्निके समान (ब्राह्मणः न हिंसितव्यः) ब्राह्मणकी हिंसा नहीं करना चाहिये। (सोमः हि अस्य दायादः) सोम इसका संबंधी है और (इन्द्रः अस्य अभिशस्ति-पाः) इन्द्र इसकी शापसे बचानेवाला है ॥ ६ ॥

(यः मल्वः ब्रह्मणां अन्नं) जो मलीन पुरुष ब्राह्मणोंका अन्न (स्वादु अद्मि इति मन्यते) स्वादसे खाता हूं ऐसा समझता है वह (शत-अपाष्ठां निगिरति) सैकडों प्रकारकी दुर्गतिको प्राप्त होता है और (निःखिदन् तां न शक्नोति) उसको प्राप्त करके सहन नहीं कर सकता है ॥ ७ ॥

ब्राह्मणकी (जिह्वा ज्या भवति) जीभ धनुषकी डोरी होती है। (वाक् कुल्मलं) वाणी धनुष्यका दण्डा होती है (तपसा अभिदिग्धाः दन्ताः नाडीकाः) तपसे तीक्ष्ण बने हुए दान्त बाणरूप होते हैं। (ब्रह्मा) ब्राह्मण (तेभिः देवजूतैः हृद्बलैः धनुर्भिः) उन देवसेवित आत्मबलके धनुष्योंसे (देव-पीयून् विध्यति) देव शत्रुओंपर आघात करता है ॥ ८ ॥

भावार्थ- अग्निके समान ही ब्राह्मण है, जिसको छेडना उचित नहीं है। क्यों कि सोम उसका संबंधी और इन्द्र उसका रक्षक है ॥ ६ ॥

जो पापी क्षत्रिय ब्राह्मणका धन अपने भोगके लिये है ऐसा मानता है और उसका मैं उत्तम भोग करता हूं ऐसा समझता है, उसपर सैंकडों आपत्तियां आती हैं और उसका सामर्थ्य ही नष्ट हो जाता है ॥ ७ ॥

उस समय ब्राह्मणकी जिह्वा दोरी, वाणी धनुष्य, और उसके तपसे युक्त दन्त बाण होते हैं। इन धनुष्योंसे वह ब्राह्मण देवतोंका अन्न खाने वालेका नाश करता है ॥ ८ ॥

तीक्ष्णेषवो ब्राह्मणा हेतिमन्तो यामस्यन्ति शरव्यां३ न सा मृषा ।
अनुहाय तपसा मन्युना चोत दूरादव भिन्दन्त्येनम् ॥ ९ ॥
ये सहस्रमराजन्नासन् दशशता उत ।
ते ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा वैतहव्याः पराभवन् ॥ १० ॥
गौरेव तान् हन्यमाना वैतहव्याँ अवातिरत् ।
ये केसरप्राबन्धायाश्चरमाजामपेचिरन् ॥ ११ ॥

अर्थ-(तीक्ष्ण-इषवः हेतिमन्तः ब्राह्मणाः) तीक्ष्ण बाणोंसे युक्त, अस्त्रोंसे युक्त ब्राह्मण (यां शरव्यां अस्यन्ति) जिस बाणप्रवाहको फेंकते हैं (न सा मृषा) वह मिथ्या नहीं होती है। (तपसा च उत मन्युना अनुहाय) तप के और क्रोधके साथ पीछा करके (एनं दूरात् अवभिन्दन्ति) इसको दूरसे ही भेद डालते हैं ॥ ९ ॥

(ये वैत-हव्याः सहस्रं अराजन्) जो देवोंका हव्य खानेवाले सहस्रों राजे होगये थे, (ये उत दशशताः आसन) और जो दस सौ थे, (ते ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा) वे ब्राह्मणकी गौ खाकर (पराभवन्) पराभवको प्राप्त हुए ॥ १० ॥

(हन्यमाना गौ एव) कष्ट दी हुई गौने ही (तान् वैतहव्यान् अवातिरत्) उन देवतोंका अन्न खानेवालोंका विनाश किया है। (ये केसरप्रबन्धायाः चरम-अजां अपेचिरन्) जो केशोंकी रस्सीसे बांधी हुई अन्तिम अजाको भी पचाते हैं, हडप करते हैं ॥ ११ ॥

भावार्थ— ये ब्राह्मण बडे तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रोंवाले होते हैं, इसलिये उक्त अस्त्र ये जिसपर फेंकते हैं वे व्यर्थ नहीं होते। अपने तप और क्रोधसे पीछा करके दूरसेही ये उसका नाश करते हैं ॥ ९ ॥

देवतोंके उद्देश्यसे अलग रखा हुआ अन्न स्वयं भोग करनेवाले सहस्रों राजा लोग ब्राह्मणकी भूमि अथवा गौ हरण करके, उसका अपने लिये भोग करनेसे पराभूत होगये ॥ १० ॥

वह कष्टको प्राप्त हुई ब्राह्मणकी गायही उन देवतान्नभोजी क्षत्रियोंका नाश करनेके लिये कारण होती है ॥ ११ ॥

एकंशतं ता जनता या भूमिर्व्यधूनुत ।
प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभव्यं पराभवम् ॥ १२ ॥
देवपीयुश्चरति मर्त्येषु गरगीर्णो भवत्यस्थिभूयान् ।
यो ब्राह्मणं देवबन्धुं हिनस्ति न स पितृयाणमप्येति लोकम् ॥१३॥
अग्निर्वै नः पदवायः सोमो दायाद उच्यते ।
हन्ताभिशस्तेन्द्रस्तथा तद् वेधसो विदुः ॥ १४ ॥

अर्थ-(ताः जनताः एक-शतं) वे जनताके लोग एकसौ एक थे (याः भूमिः व्यधूनुत) जिन्होंने भूमिको हिला दिया है। (ब्राह्मणीं प्रजां हिंसित्वा) ब्राह्मण प्रजाको कष्ट देकर (असंभव्यं पराभवन्) विना संभावनाके ही वे पराभव को प्राप्त हुए ॥ १२ ॥

(देव-पीयुः गर-गीर्णः मर्त्येषु चरति) देवशत्रु जहर पीये मनुष्यके समान मनुष्योंके बीचमें घूमता है। और (अस्थि-भूयान् भवति) वह केवल हड्डी ही हड्डीवाला होता है। (यः देव-बन्धुं ब्राह्मणं हिनस्ति) जो देवोंके बन्धुरूप ब्राह्मणको कष्ट देता है (सः पितृयाणं अपि लोकं न एति) वह पितृयाण लोकको भी नहीं प्राप्त होता ॥ १३ ॥

(अग्निः वै नः पदयावः) अग्नि ही हमारा मार्ग दर्शक है। (सोमः दायादः उच्यते) सोम संबंधी है, ऐसा कहा जाता है। (इन्द्रः अभिशस्ता हन्ता) इन्द्र यह शापदेनेवालेका नाशकर्ता है (तथा वेधसः तत् विदुः) उस प्रकार ज्ञानी वह बात जानते हैं ॥ १४ ॥

भावार्थ- सेकडों क्षत्रिय भूमिपर बडा पराक्रम करनेवाले हों हैं, परन्तु यदि उन्होंने ब्राह्मणोंको कष्ट देना शुरू किया तो वे सहजहीमें पराभूत होते हैं ॥ १२ ॥

देवोंका शत्रुरूप बनकर पृथ्वीपर संचार करनेवाला दुष्ट मनुष्य विष पीये अतिकृश मनुष्यके समान निर्बल होता है और जो देवोंके बन्धु ब्राह्मणकी हिंसा करता है उसको पितृलोक भी नहीं प्राप्त होता ॥ १३ ॥

सब ज्ञानी जानते हैं कि अग्नि हमारा मार्गदर्शक, सोम हमारा संबंधी और इन्द्र हमारा रक्षक है ॥ १४ ॥

इषुरिव दिग्धा नृपते पृदाकूरिव गोपते ।
सा ब्राह्मणस्येषुर्घोरा तया विध्यति पीयतः ॥ १५ ॥

अर्थ- हे नृपते ! हे गोपते ! (दिग्धा इषुः इव) विषभरे बाणके समान, (पृदाकुः इव) सांपके समान, (सा ब्राह्मणस्य घोरा इषुः) वह ब्राह्मणका भयंकर बाण (तया पीयतः विध्यति) उससे हिंसकका वेध करता है॥ १५ ॥

भावार्थ— हे राजन् ! तू स्मरणमें धर कि विषयुक्त बाणके समान और सांपके समान ब्राह्मणका भयंकर बाण हिंसकका अवश्य नाश करता है॥१५॥

ब्राह्मणकी गौ।

"गौ" शब्दका अर्थ "वाणी, भूमि, गाय, इन्द्रिय, प्रकाश" आदि है। अर्थात् "ब्र[illegible]गवी" का अर्थ "ब्राह्मणकी वाणी, भूमि, गाय" आदि होता है। यही ब्राह्मणकी संप[illegible] होती है। ब्राह्मण शम, दम, तप युक्त कर्म करता है, इसलिये शान्तवृत्तिवाला होता है, अतः उग्रवृत्तिवाले क्षत्रिय अशक्त ब्राह्मणको लूटमार कर उसकी संपत्ति हराकर उस धनसे अपना भोग बढा सकते हैं। परंतु ब्राह्मण तपस्वी और अध्यापन करने[illegible]ला होनेके कारण यदि वह इस प्रकार दुःखी हुआ तो राष्ट्रमें अध्ययन अध्यापन [illegible] होजाता है और उस कारण अन्तमें सब राष्ट्रका ही नाश होता है। इस प्रकार ब्राह्मणके कष्ट राजाका नाश करनेके लिये कारण होते हैं।

"ब्राह्मणस्य गौ अनाद्या" (ब्राह्मणकी गौ खाने योग्य नहीं) ऐसा इस सूक्तमें वारंवार कहा है। कई लोग इस वाक्यसे "क्षत्रिय वैश्य और शूद्रकी गौ खाने योग्य है ऐसा अर्थ करते हैं और ब्राह्मण की गौ कोई नहीं खाता था, परंतु अन्य वर्णोंकी गौ लो[illegible] खाते थे," ऐसा अनर्थकारक अनुमान निकालते हैं। इसलिये इस विषयमें अवश्य वि[illegible]ार करना चाहिये। क्यों कि "गौ अघ्न्या" है ऐसा वेदमें सर्वत्र कहा है, उसके विरुद्ध इस सूक्तमें गौ खानेका उल्लेख कैसा आगया है। इसलिये यह बात अवश्य विचार करने योग्य है। इस सूक्तका आशय देखनेके लिये निम्नलिखित वचन सबसे प्रथम देखिये—

यो ब्राह्मणं अन्नं एव मन्यते, स विषस्य पिबति। (मं० ४)

"जो ब्राह्मणको अपना अन्न मानता है वह मानो, विषही पीता है।" इस मंत्रमें [illegible]ग्र क्षत्रिय नरम स्वभाववाले ब्राह्मणको अपना अन्न मानता है ऐसा कहा है। इससे [illegible]ह्मणके टुकडे करके क्षत्रिय खाते थे यह भाव लेना उचित नहीं है, क्षत्रिय नरमांस

भोजी कदापि नहीं थे। फिर जो क्षत्रिय कदापि नरमांस नहीं खाते वे ब्राह्मणको ही अपना अन्न कैसा मान सकते हैं, इस शंकाको दूर करनेके लिये निम्नलिखित मंत्रका भाग देखिये।—

यो मल्वः ब्रह्मणां अन्नं स्वादु अद्मि इति मन्यते।
स शतापाष्ठां गिरति। (मं० ७)

" जो मलीन क्षत्रिय ब्राह्मणोंका अन्न सुखसे मैं भोगता हूं, ऐसा मानता है वह सेंकडों विपत्तियोंमें गिरता है। " यहां ब्राह्मणका अन्न लूट मारकर क्षत्रिय खावे, तो उसकी बडी दुर्गति होती है ऐसा कहा है। "ब्राह्मणको अन्न माननेका अर्थ" यह है कि ब्राह्मणके पासके सब उपभोगके पदार्थ लूटकर अथवा जबरदस्तीसे छीन कर, उनका उपभोग करना। हैहयवंशी क्षत्रियोंने ऐसा ही किया था। वे क्षत्रिय ब्राह्मणोंके आश्रम लूटते थे और अपने भोग बढाते थे, इस कारण परशुरामने उनका नाश करके पुनः धर्मका नियम शुरू किया। इस सूक्तमें भी वीतहव्य नामक राजाओंका पराभव ब्राह्मणोंको पीडा देनेसे हुआ ऐसा कहा है। वसिष्ठ ऋषिको इसी प्रकार विश्वामित्रने कष्ट दिये थे। इस सबका तात्पर्य ब्राह्मणका मांस खानेसे नहीं है, अपितु ब्राह्मणकी संपत्ति, गौवें, भूमि, तथा अन्य समृद्धि लूटना और उसका उपभोग स्वयं करना यही है।

ब्राह्मणके पासका धन यज्ञयाग और विद्यावृद्धिके लिये होता है, यदि वह धन लूटा जावे, तो यज्ञ नहीं होंगे और विद्याका नाश होगा। इससे अन्तमें सब जनताका नाश होगा। ब्राह्मणोंकी वाणीको प्रतिबंध करना, उनकी संपत्ति लूटना, गौ चुराना अथवा बलसे हरण करना, और अन्यान्य प्रकार ब्राह्मणोंके आश्रमोंको कष्ट देना अन्तमें राज्यका नाश होनेके लिये कारण होता है; ब्राह्मणको अन्न माननेका यह अर्थ है। इसी प्रकार ब्राह्मणकी गाय हरण करना और उसका दूध आदि स्वयं पीना, उसकी भूमि हरण करके उस भूमिका धान्य स्वयं खाना, इत्यादि प्रकार हानिकारक हैं यह भाव यहां है। ब्राह्मण जनताको विद्या देते हैं, जनताके रोगोंकी चिकित्सा करते हैं, धर्मोंका अनुष्ठान करते हैं, इसलिये जनताका प्रेम ब्राह्मणोंपर होता है, और जो क्षत्रिय ब्राह्मणोंको कष्ट देता है उसको जनता राज्य भ्रष्ट कर देती है। वेदमें 'गौ' शब्द "गायका दूध, दही, मक्खन, घी, छाछ, गौके दूधसे और घीसे बनी सब प्रकारकी मिठाई, गोचर्म, गायके सींग, और गौ" इतने पदार्थोंका वाचक है। इससे पाठक जान सकते हैं कि यह "क्षत्रियके द्वारा ब्राह्मण की गौका खाना" ब्राह्मणकी गौ आदि सब संपत्ति हडप करना ही है। सब सूक्तका आशय ध्यानमें लानेसे यही आशय स्पष्ट प्रतीत होता है।

ब्राह्मणीं प्रजां हिंसित्वा असंभव्यं पराभवन् । (मं० १२)
ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा वैतहव्याः पराभवन् । (मं० १०)
यो देवबन्धुं ब्राह्मणं हिनास्ति स पितृयानं लोकं न एति। (मं० १३)

" ब्राह्मण प्रजाको कष्ट देनेसे सहज पराभव होता है । ब्राह्मणकी गौ हडप करनेसे वीतहव्य क्षत्रिय पराभूत हुए । जो क्षत्रिय ब्राह्मणको कष्ट देता है वह पितृलोकको भी प्राप्त नहीं होता है । " इन मंत्र भागोंसे स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मणोंको कष्ट देना, उनको लूटना, उनके धर्म, कर्म चलानेमें रुकावटें उत्पन्न करना, राजाके लिये अनिष्ट है, यह बात यहां कही है । यहां ब्राह्मणको खाने अथवा उसकी गौको खानेका आशय बिलकुल नहीं है ।

इसके अतिरिक्त " खानेका " अर्थ कई प्रकारसे होता है । 'वह ओहदेदार पैसा खाता है,' इस वाक्यका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वह अन्न न खाते हुए रुपये आने और पाई खाकर हजम करता है । परंतु इसका अर्थ इतनाही है कि अयोग्य रीतिसे वह धन कमाता है । यही अर्थ संस्कृतमें भी है । ब्राह्मणको खानेका अर्थ ब्राह्मणकी धन दौलत लूटना और उसका स्वयं उपभोग करना । आजकल कहते हैं अनियंत्रित राजा प्रजाको खाता है, इसका यह अर्थ नहीं है कि राजा मनुष्योंका मांस खाता है, अपितु राजा प्रजाको सताता है यह इसका अर्थ है । शतपथमें—

तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः । श० प० ब्रा० १३।२।९।७

" अनियंत्रित राजा प्रजाके लिये घातक है । " यहां जो प्रजाका घात वर्णन किया है वह केवल प्रजाका काटना नहीं; अपितु प्रजाकी उन्नतिमें बाधा डालना है । इस सब वर्णनसे इस सूक्तका आशय ध्यानमें आसकता है ।

राजाका कर्तव्य ।

राजाका कर्तव्य है कि वह ज्ञानियोंको विद्यादान करनेमें, वैश्योंको व्यापार करनेमें, शूद्रोंको अपना कारीगरीके व्यवहार करनेमें उत्तेजना दें । अपने पास शक्ति है इस लिये निर्बलोंपर अत्याचार स्वयं न करें और ऐसा राज्यशासन करे कि जिससे सबकी उन्नति यथायोग्य रीतिसे होसके । जिस राज्यमें शमदम और तप करनेवाले ब्राह्मणोंपर अत्याचार होते हैं वहां अन्योंकी सुरक्षितता कहां रहेगी ?

पाठक पूर्व सूक्तके साथही इस सूक्तको पढें और उचित बोध प्राप्त करें । आगामी सूक्त भी इसी आशयका है ।

*

ब्राह्मणको कष्ट।

[१९]

(ऋषिः— मयोभूः। देवता–ब्रह्मगवी.)

अतिमात्रमवर्धन्त नोदिव दिवमस्पृशन्।
भृगुं हिंसित्वा सृञ्जया वैतहव्याः पराभवन् ॥ १ ॥
ये बृहत्सामानमाङ्गिरसमार्पयन् ब्राह्मणं जनाः।
पेत्वस्तेषामुभयादमविस्तोकान्यावयत् ॥ २ ॥
ये ब्राह्मणं प्रत्यष्ठीवन् ये वास्मिञ्छुल्कमीषिरे।
अस्नस्ते मध्ये कुल्यायाः केशान् खादन्त आसते ॥ ३ ॥

अर्थ- (सृञ्जयाः) हमला करके जय प्राप्त करनेवाले वीर (अतिमात्रं अवर्धन्त) अत्यन्त बढे, (न दिवं इव उत्स्पृशन्) इतने की द्युलोकको जैसा उन्होंने स्पर्श किया। परंतु वे (वैत—हव्याः) देवोंका अन्न स्वयं भोगने लगे तब (भृगुं हिंसित्वा) भृगुऋषिकी हिंसा करके (पराभवन्) पराभूत होगये ॥ १ ॥ (ये जनाः बृहत्सामानं) जो लोग बडे साम गायक (आंगिरसं ब्राह्मणं आर्पयन्) आंगिरस ब्राह्मणको सताते रहे, (तेषां तोकानि) उनके संतानोंको (पेत्वः अविः) हिंसक (उभयादं आवयत्) दोनों दांतोंके बीचमें रगडता रहा ॥ २ ॥ (ये ब्राह्मणं प्रत्यष्ठीवन्) जो ब्राह्मणका अपमान करते हैं, (ये वा अस्मिन् शुल्कं ईषिरे) अथवा जो इससे धन छीनना चाहते हैं, (ते अस्नः कुल्यायाः मध्ये) वे रुधिरकी नदीके बीचमें (केशान् खादन्त आसते) केशोंको खाते हुए बैठते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—विजयी सृंजय क्षत्रिय बहुत बढ गये थे, परंतु जब वे ब्राह्मणोंको सताने लगे और देवोंके लिये दिया हव्य स्वयं भोगने लगे, तब राज्यभ्रष्ट होगये ॥ १ ॥

जिन्होंने सामगायक आंगिरस ब्राह्मणको सताया था, उनके बालबच्चोंको हिंसक पशुओंने दांतोंसे पीसा था ॥ २ ॥

जो ब्राह्मणका अपमान करते हैं, और उससे धन छीनते हैं, वे रुधिरकी नदीमें बालोंको खाते रहते हैं ॥ ३ ॥

ब्रह्मगवी पच्यमाना यावत् साभि विजङ्गहे ।
तेजो राष्ट्रस्य निर्हन्ति न वीरो जायते वृषा ॥ ४ ॥
क्रूरमस्या आशसनं तृष्टं पिशितमस्यते ।
क्षीरं यदस्याः पीयते तद् वै पितृषु किल्बिषम् ॥ ५ ॥
उग्रो राजा मन्यमानो ब्राह्मणं यो जिघत्सति ।
परा तत् सिच्यते राष्ट्रं ब्राह्मणो यत्र जीयते ॥ ६ ॥
अष्टापदी चतुरक्षी चतुःश्रोत्रा चतुर्हनुः ।
द्व्यास्या द्विजिह्वा भूत्वा सा राष्ट्रमव धूनुते ब्रह्मज्यस्य ॥ ७ ॥

अर्थ— (सा पच्यमाना ब्रह्मगवी) वह हडप की गई ब्राह्मणकी गौ (यावत् अभि विजङ्गहे) जिस कारण तडफती रहती है, उस कारण उस (राष्ट्रस्य तेजः निर्हन्ति) राष्ट्रका तेज मारा जाता है और वहां (वृषा वीरः न जायते) बलवान वीर भी उत्पन्न नहीं होता है ॥ ४ ॥ (अस्याः आशसनं क्रूरं) इसको कष्ट देना बडा क्रूरताका कार्य है, (पिशितं तृष्टं अस्यते) मांस जो तृषा बढानेवाला होनेके कारण फेंकने योग्य है। (यत् अस्याः क्षीरं पीयते) जो इस ब्राह्मणकी गौका दूध पीया जाता है (तत् वै पितृषु किल्बिषं) वह निःसंदेह पितरोंमें पाप कहा जाता है ॥५ ॥ (यः राजा उग्रः मन्यमानः) जो राजा अपने आपको उग्र मानता हुआ (ब्राह्मणं जिघत्सति) ब्राह्मणको सताता है, (तत् राष्ट्रं परासिच्यते) वह राष्ट्र बहुत गिर जाता है (यत्र ब्राह्मणः जीयते) जहां ब्राह्मणको कष्ट पंहुचता है ॥ ६ ॥

(अष्टापदी चतुरक्षी) आठ पांववाली, चार आंखोंवाली, (चतुः श्रोत्रा चतुर्हनुः) चार कानोंवाली और चार हनुवाली (द्व्यास्या द्विजिह्वा भूत्वा) दो मुखवाली और दो जिह्वावाली होकर (ब्रह्मज्यस्य राष्ट्रं सा अवधूनुते) ब्राह्मणको सतानेवाले राजाके राष्ट्रको वह हिला देती है ॥ ७ ॥

भावार्थ-जो ब्राह्मणकी गाय हडप करता है उस क्षत्रियके राष्ट्रका तेज नष्ट होता है और उसमें बलवान वीर नहीं उत्पन्न होते ॥४॥ गायको कष्ट देना बडी क्रूरताका कार्य है। दूसरेकी गायका दूध पीना भी विषके समान ही है ॥ ५ ॥ अपने आपको बलवान मानता हुआ जो राजा ब्राह्मणको सताता है, उसका राष्ट्र गिर जाता है ॥ ६ ॥ ब्राह्मणकी गाय दुखी होनेपर

तद् वै राष्ट्रमा स्रवति नावं भिन्नामिवोदकम् ।
ब्रह्माणं यत्र हिंसन्ति तद् राष्ट्रं हन्ति दुच्छुना ॥ ८ ॥
तं वृक्षा अप सेधन्ति छायां नो मोपगा इति ।
यो ब्राह्मणस्य सद्धनमभि नारद मन्यते ॥ ९ ॥
विषमेतद् देवकृतं राजा वरुणोऽब्रवीत् ।
न ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा राष्ट्रे जागार कश्चन ॥ १० ॥
नवैव ता नवतयो या भूमिर्व्यधूनुत ।
प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभव्यं पराभवन् ॥ ११ ॥

अर्थ- (यत्र ब्राह्मणं हिंसन्ति) जहां ब्राह्मणको कष्ट पहुंचाते हैं (तत् राष्ट्रं दुच्छुना हन्ति) वह राष्ट्र विपत्तिसे मरता है। और (तत् वै राष्ट्र) वह राष्ट्रको (आ स्रवति) गिरा देता है (उदकं भिन्नां नावं इव) जैसा जल टूटी हुई नौकाको बहा देती है ॥ ८ ॥ (नः छायां मा उपगाः इति) हमारी छायामें यह न आवे, इस इच्छासे (तं वृक्षाः अपसेधन्ति) उसको वृक्ष दूर हटा देते हैं। हे नारद ! (यः ब्राह्मणस्य धनं सत् अभिमन्यते) जो ब्राह्मणका धन बलसे अपना मानता है ॥ ९ ॥ (राजा वरुणः अब्रवीत्) वरुण राजाने कहा है कि (एतत् देवकृतं विषं) यह देवोंका बनाया विष है (ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा) ब्राह्मणकी गायको हडप कर (कश्चन राष्ट्रे न जागार) कोई भी राष्ट्रमें नहीं जागता है ॥ १० ॥ (याः नव नवतयः) जो निन्नानवे प्रकारकी प्रजाएं हैं (ताः भूमिः एव वि अधूनुत) उनको भूमिने ही हटा दिया है। वे (कल्याणीं ब्राह्मणीं प्रजां हिंसित्वा) कल्याण करनेवाली ब्राह्मण प्रजाको कष्ट देकर (असंभव्यं पराभवन्) असंभवनीय रीतिसे परास्त हुए ॥ ११ ॥

द्विगुणित मारक सींग आदिसे युक्त होकर उसके राष्ट्रका नाश करती है ॥७॥ जहां ब्राह्मण सताया जाता है वह राष्ट्र विपत्तीमें गिरता है। टूटी नौका के समान वह बीचमें ही डूब जाता है ॥ ८ ॥ जो ब्राह्मणका धन छीनता है उसको वृक्षभी अपनी छायामें आने नहीं देते ॥९॥ राजा वरुण ने कहा है कि ब्राह्मणकी गौको हडप करना विष पीनेकेसमान हानि कारक है, उसको स्वीकार करने से कोईभी जीवित नहीं रह सकता ॥१०॥

यां मृतायांनुबन्धन्ति कूद्यं पदयोपनीम् ।
तद् वै ब्रह्मज्य ते देवा उपस्तरणमब्रुवन् ॥ १२ ॥
अश्रूणि कृपमाणस्य यानि जीतस्य वावृतुः ।
तं वै ब्रह्मज्य ते देवा अपां भागमधारयन् ॥ १३ ॥
येन मृतं स्नपयन्ति श्मश्रूणि येनोन्दते ।
तं वै ब्रह्मज्य ते देवा अपां भागमधारयन् ॥ १४ ॥
न वर्षं मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यमभि वर्षति ।
नास्मै समितिः कल्पते न मित्रं नयते वशम् ॥ १५ ॥

अर्थ-(यां पदयोपनीं कूद्यं) जिस पादचिन्ह हटानेवाली कांटोंवाली झाडू को (मृताय अनुबध्नन्ति) मृतके साथ बांधते हैं, हे (ब्रह्म-ज्य) ब्राह्मणको सतानेवाले ! (देवाः तत् ते उपस्तरणं अब्रुवन्) देवोंने कहा है कि वह तेरा बिस्तर है ॥ १२ ॥ हे (ब्रह्म-ज्य) ब्राह्मणको सतानेवाले ! (यानि अश्रूणि) जो आंसू (कृपमाणस्य जीतस्य वावृतुः) निर्बल और जीते गये मनुष्य के बहते हैं। (देवाः तं वै ते अपां भागं अधारयन्) देवोंने उसको ही तेरा जलका भाग निश्चय किया है ॥ १३ ॥ हे (ब्रह्मज्य) ब्राह्मणको सतानेवाले ! (येन मृतं स्नपयन्ति) जिससे प्रेतको स्नान कराते हैं, (येन श्मश्रूणि च उन्दते) जिससे मोंछ दाढीके बाल गीले करते हैं (तं वै देवाः ते अपां भागं अधारयन) उसको ही देवोंने तेरा जलभाग निश्चय किया है ॥ १४ ॥ (मैत्रावरुणं वर्षं) मित्रावरुणसे प्राप्त होनेवाली वृष्टि (ब्रह्मज्यं न अभिवर्षति) ब्राह्मणको कष्ट देनेवालेके ऊपर नहीं गिरती। और (अस्मै समितिः न कल्पते) इसको सभा सहमति नहीं देती (न मित्रं वशं नयते) और न मित्र वशमें रहते हैं ॥ १५ ॥

भावार्थ- निन्यानवे वीर जिन्होंने सब भूमिपर विजय प्राप्त किया था, वे जब ब्राह्मणोंको सताने लगे तब वे परास्त होगये ॥११ ॥ कांटेकी झाडू जो मशान झाडनेके लिये काम आती है, उसपर वह मनुष्य सोता है कि जो ब्राह्मणको सताता है ॥ १२ ॥ निर्बल होनेके कारण पराजित हुए मनुष्यके आंखमें जो आंसू आते हैं, उस आसुओंका जल उसको पीनेके लिये दिया जाता है, जो ब्राह्मणको सताता है ॥ १३ ॥

भावार्थ— जिस जलसे मुर्देको स्नान कराते हैं और जो जल हजामत करनेके समय दाढी मोंछ भिगोनेके काम आता है, वह जल उसको मिलता है, कि जो ब्राह्मणको कष्ट देता है ॥ १४ ॥

ब्राह्मणको कष्ट देनेवालेके राष्ट्रपर अच्छी वृष्टि नहीं होती, राष्ट्रसभा वैसे राजाके लिये अनुकूल नहीं होती, और वैसे क्षत्रियको कोई मित्र नहीं रहता ॥ १५ ॥

ज्ञानीका कष्ट ।

ज्ञानी मनुष्यको दिया हुआ कष्ट राज्यका नाश करता है। जिस राज्य शासनमें ज्ञानी सज्जनोंको कष्ट भोगने पडते हैं वह राज्यशासन नष्ट हो जाता है। जिस राज्य शासनमें ज्ञानी लोगोंकी वाणीपर प्रतिबंध डाला जाता है, उनको उत्तम उपदेश देनेसे रोका जाता है, जहां सुविज्ञ ज्ञानी पुरुषोंकी धनसंपत्ति सुरक्षित नहीं होती, जहां अन्य प्रकारसे ज्ञानी सज्जनोंको क्लेश पहुंचते हैं, वह राष्ट्र अधोगतिको प्राप्त होता है।

यह आशय इस सूक्तका है। राष्ट्रमें ज्ञानकी और ज्ञानी की पूजा होती रहे। क्यों कि ज्ञानोपदेशसे ही राष्ट्रका सचा कल्याण हो सकता है। इसलिये हरएक राष्ट्रके लोग ज्ञानीका सत्कार करें और अपनी उन्नतिके भागी बनें।

अन्त्येष्टीकी कुछ बातें ।

इस सूक्तका विचार करनेसे कुछ बातोंका पता लगता है, देखिये—

(१) मृतं स्नपयन्ति— मृत मनुष्यके शवको स्नान डालते हैं।

(२) मृताय पड्योपनीं कूद्यं अनुबध्नन्ति— मृतके लिये पांवका चिन्ह मिटानेवाली झाडूसे अथवा किसी अन्य चीजसे बांधते हैं। (इसमें 'कूद्य' का अर्थ ठीक प्रकार समझमें नहीं आता है। यह खोजका विषय है)

हजामत ।

(३) श्मश्रुणि उन्दते—हजामत बनवानेके समय बाल भिगोये जाते हैं।

इस सूक्तके कुछ कथनोंका ठीक ठीक भाव समझमें नहीं आता है, इस कारण यह सूक्त क्लिष्टसा प्रतीत होता है। उन मंत्रोंका अधिक विचार पाठक करें।

दुन्दुभीका घोष।

[२०]

(ऋषिः— ब्रह्मा। देवता=वानस्पत्यो दुंदुभिः)

उ॒च्चैर्घो॑षो दुन्दु॒भिः स॑त्वना॒यन् वा॑नस्प॒त्यः संभृ॑त उ॒स्रिया॑भिः।
वाचं॑ क्षुणु॒वा॒नो द॒मय॑न्त्स॒पत्ना॑न्त्सि॒ह इ॑व जे॒ष्यन्न॒भि तं॑स्तनीहि ॥ १ ॥

सि॒ह इ॑वास्तानीद् द्रु॒वयो॒ विब॑द्धोऽभि॒क्रन्द॑न्नृष॒भो वा॑सि॒ताम्मि॑व।
वृषा॒ त्वं॑ वध्र॑यस्ते स॒पत्ना॑ ऐ॒न्द्रस्ते॒ शुष्मो॑ अभिमाति॒षाहः॑ ॥ २ ॥

वृषे॑व यू॒थे सह॑सा विदा॒नो ग॒व्यन्न॒भि रु॑व सन्धनाजित्।
शु॒चा वि॑ध्य॒ हृद॑यं॒ परे॑षां हि॒त्वा ग्रामा॒न् प्रच्यु॑ता यन्तु॒ शत्र॑वः ॥ ३ ॥

अर्थ—(उच्चैर्घोषः सत्त्व-नायन्) जिसका ऊंचा शब्द है और जो बल बढाता है, उस प्रकारका (वानस्पत्यः दुन्दुभिः) वनस्पतिसे बना हुआ दुन्दुभी (उस्रियाभिः संभृतः) गोचर्मोंसे वेष्टित (वाचं क्षुणुवानः) शब्द करता हुआ, (सपत्नान् दमयन्) शत्रुओंको दबाता हुआ और (सिंह इव जेष्यन्) सिंहके समान विजय चाहता हुआ यह ढोल (अभिसंस्तनीहि) गर्जना रहे ॥ १ ॥

तू (द्रुवयः विबद्धः) वृक्षसे निर्माण हुआ और विशेष प्रकार बांधा हुआ (सिंह इव अस्तानीत्) सिंहके समान गर्जता है। (वासितां वृषभः अभिक्रन्दन् इव) गौके लिये जैसा बैल गर्जता है। (त्वं वृषा) तू बलवान् है (ते सपत्नाः वध्रयः)तेरे शत्रु निर्बल हुए हैं और (ते ऐन्द्रः शुष्मः अभिमातिषाहः) तेरा प्रभावयुक्त बल शत्रुनाशक है ॥ २ ॥

(यूथे गव्यन् वृषा इव) गौवोंके समूहमें गौकी कामना करनेवाले सांडके समान तू (सहसा संधनाजित्) बलसे विजय प्राप्त करनेवाला, और (विदानः) जाना हुआ (अभिरुव) गर्जना कर। (परेषां हृदयं शुचा विध्य) शत्रुओंका हृदय शोकसे युक्त कर। (शत्रवः ग्रामान् हित्वा प्रच्युताः यन्तु) शत्रु गांवोंको छोडकर गिरते हुए भाग जावें ॥ ३ ॥

संजयन् पृतना ऊर्ध्वमायुर्गृह्या गृह्णानो बहुधा वि चक्ष्व ।
दैवीं वाचं दुन्दुभ आ गुरस्व वेधाः शत्रूणामुप भरस्व वेदः ॥ ४ ॥
दुन्दुभेर्वाचं प्रयतां वदन्तीमाशृण्वती नाथिता घोषबुद्धा ।
नारी पुत्रं धावतु हस्तगृह्यामित्री भीता समरे वधानाम् ॥ ५ ॥
पूर्वो दुन्दुभे प्र वदासि वाचं भूम्याः पृष्ठे वद रोचमानः ।
अमित्रसेनामभिजञ्जभानो द्युमद् वद दुन्दुभे सूनृतावत् ॥ ६ ॥
अन्तरेमे नभसी घोषो अस्तु पृथक् ते ध्वनयो यन्तु शीभम् ।
अभि क्रन्द स्तनयोत्पिपानः श्लोककृन्मित्रतूर्याय स्वर्धी ॥ ७ ॥
धीभिः कृतः प्र वदाति वाचमुद्धर्षय सत्वनामायुधानि ।

अर्थ-हे दुन्दुभे !(ऊर्ध्व-मायुः पृतनाः संजनयन्)ऊंचा शब्द करनेवाला, शत्रुसेनाओंको पराजित करता हुआ (गृह्याः गृणानः बहुधा विचक्ष्व) ग्रहण करने योग्योंको लेनेवाला तू बहुत प्रकार देख। (दैवीं वाचं आ-गुरस्व) दिव्य शब्द उच्चारण कर। (वेधाः शत्रूणां वेदः आभरस्व) विधाता होकर शत्रुओंके धन लाकर भर दे ॥ ४ ॥

(दुन्दुभेः प्रयतां वदन्तीं) दुन्दुभीका स्पष्ट बोला हुआ (वाचं आ-शृण्वती घोषबुद्धा) शब्द सुननेवाली और गर्जनासे जागी हुई (भीता नाथिता आमित्री नारी) डरी हुई दुखी शत्रुकी स्त्री (समरे वधानां पुत्रं) युद्धमें मरे वीरोंके पुत्रको (हस्तगृह्य धावतु) हाथ पकडकर भाग जावे ॥ ५ ॥

हे दुन्दुभे ! (पूर्वः वाचं प्रवदासि) सबसे पहिले तू शब्द करता है। (भूम्याः पृष्ठे रोचमानः वद) भूमिके पृष्ठपर प्रकाशता हुआ तू शब्द कर। हे ढोल! (अमित्रसेनां अभिजञ्जभानः) शत्रुसेनाका नाश करता हुआ तू (द्युमत् सूनृतावत् वद) प्रकाशरीतिसे सत्य बोल ॥ ६ ॥

(इमे नभसी अन्तरा घोषः अस्तु) इन द्युलोक और पृथ्वीके मध्यमें तेरा घोष होवे। (ते ध्वनयः शीभं पृथक् यन्तु) तेरे ध्वनि शीघ्र चारों दिशाओंमें फैलें। (उत्पिपानः श्लोककृत) बढनेवाला और यश करनेवाला (मित्रतूर्याय स्वर्धी) मित्रहितके लिये संपन्न होता हुआ (अभिक्रन्द, स्तनय) शब्दकर और गर्जना कर ॥ ७ ॥

(धीभिः कृतः वाचं प्रवदाति) बुद्धिके द्वारा बनाया हुआ ढोल शब्द

इन्द्रमेदी सत्वनो नि ह्वयस्व मित्रैरमित्राँ अव जङ्घनीहि ॥ ८ ॥
संक्रन्दनः प्रवदो धृष्णुषेणः प्रवेदकृद् बहुधा ग्रामघोषी ।
श्रेयो वन्वानो वयुनानि विद्वान् कीर्तिं बहुभ्यो वि हर द्विराजे ॥ ९ ॥
श्रेयःकेतो वसुजित् सहीयान्त्संग्रामजित् संशितो ब्रह्मणासि ।
अंशूनिव ग्रावाधिषवणे अद्रिर्गव्यन् दुन्दुभेधि नृत्य वेदः ॥ १० ॥
शत्रूषाण्नीषाडभिमातिषाहो गवेषणः सहमान उद्भित् ।
वाग्वीव मन्त्रं प्र भरस्व वाचं सांग्रामजित्यायेषमुद् वदेह ॥ ११ ॥

करता है। (सत्वनां आयुधानि उद्धर्षय) वीरोंके आयुधोंको ऊंचा उठा। (इन्द्रमेदी सत्वनः निह्वयस्व) शूरको आनन्द देनेवाला तू वीरोंको बुला (मित्रैः अमित्रान् अव जङ्घनीहि) मित्रोंके द्वारा शत्रुओंको मार डाल ॥८॥

(संक्रन्दनः प्र-वदः) शब्द करनेवाला और घोषणा करनेवाला, (धृष्णु-सेनः प्रवेदकृत्) विजयी सेनासे युक्त, चेतना देनेवाला, (बहुधा ग्राम-घोषी) अनेक प्रकारसे ग्राममें घोषणा करनेवाला, (श्रेयः वन्वानः) कल्याण प्राप्त करानेवाला, (वयुनानि विद्वान्) सब घोषणाके कार्य जाननेवाला तू दुंदुभी (द्वि-राजे) दो राजाओंमें होनेवाले युद्धमें (बहुभ्यः कीर्तिं विहर) बहुत मनुष्योंके लिये कीर्ति प्राप्त कर ॥ ९ ॥

हे (दुन्दुभे) ढोल ! तू (श्रेयःकेतः वसुजित) श्रेय करनेवाला, धन जीतनेवाला, (सहीयान् संग्रामजित्) बलवान्, युद्धोंको जीतनेवाला, (ब्रह्मणा संशितः असि) ज्ञानके द्वारा तयार किया हुआ है।(अधिषवणे अद्रिः ग्रावा अंशून् इव) सोमरस निकालनेके समय जिस प्रकार पत्थर सोमपर नाचते हैं, उस प्रकार तू (गव्यन् वेदः अधिनृत्य) भूमी जीतने की इच्छा करनेवाला तू शत्रुके धनपर नाच ॥ १० ॥

(शत्रूषाड् नीषाड्) शत्रुको जीतनेवाला, नित्यविजयी, (अभिमातिषाहः गवेषणः) वैरियोंको वशमें करनेवाला,खोज करनेवाला, (सहमानः उद्भित्) बलवान् और उखेडनेवाला, तू ढोल (वाचं प्रभरस्व) शब्दको सर्वत्र भर दे ।(वाग्वी मंत्रं इव) जैसा वक्ता उपदेशको श्रोताओंमें भर देता है। (संग्राम—जित्याय इह इषं उत् वद) संग्रामको जीतनेके लिये यहां अन्न के विषयमें बडी घोषणा कर ॥ ११ ॥

अच्युतच्युत् समदो गमिष्ठो मृधो जेता पुरएतायोध्यः ।
इन्द्रेण गुप्तो विदथा निचिक्यद्धृद्द्योतनो द्विषतां याहि शीभम् ॥ १२ ॥

[२१]

विहृदयं वैमनस्यं वदामित्रेषु दुन्दुभे ।
विद्वेषं कश्मशं भयममित्रेषु नि दध्मस्यवैनान् दुन्दुभे जहि ॥ १ ॥
उद्वेपमाना मनसा चक्षुषा हृदयेन च ।
धावन्तु बिभ्यतोमित्राः प्रत्रासेनाज्ये हुते ॥ २ ॥
वानस्पत्यः संभृत उस्रियाभिर्विश्वगोत्र्यः ।
प्रत्रासममित्रेभ्यो वदाज्येनाभिघारितः ॥ ३ ॥

अर्थ-(अच्युत-च्युत्) न गिरे हुए शत्रुओंको गिरानेवाला (स-मदः गमिष्ठः) आनंदयुक्त, यात्रा करनेवाला, (मृधः-जेता) युद्धोंको जीतनेवाला, (पुर-एता अयोध्यः) आगे बढनेवाला और युद्ध करनेके लिये कठिन, (इन्द्रेण गुप्तः) इन्द्रद्वारा रक्षित, (विदथा निचक्यत्) युद्धकर्मोंको जाननेवाला, (द्विषतां हृद्-द्योतनः) शत्रुओंके हृदयोंको घबरानेवाला, तू ढोल (शीभं याहि) शीघ्र शत्रुपर गमन कर ॥ १२ ॥

[२१]

हे (दुन्दुभे) ढोल! तू (अमित्रेषु विहृदयं वैमनस्यं वद) शत्रुओंमें हृदयकी व्याकुलता और मनकी उदासीनता कह दे। (विद्वेषं कश्मशं भयं अमित्रेषु निदध्मसि) द्वेष, कश्मकश, झगडा, भय शत्रुओंमें रख दे। हे दुंदुभे! (एनान् अव जहि) इनको निकाल दे ॥ १ ॥

(आज्ये हुते) घृतकी आहुती देने इतने थोडे समयमें (अमित्राः प्रत्रासेन) शत्रु घबडाहटसे (मनसा चक्षुषा हृदयेन च बिभ्यतः) मन, आंख और हृदयसे डरते हुए (धावन्तु) भाग जावें ॥ २ ॥

(वानस्पत्यः उस्रियाभिः संभृतः) वनस्पतिसे अर्थात लकडीसे उत्पन्न ढोल जिसपर चमडेकी रस्सियां बांधी हैं, (विश्व-गो-त्र्यः) सब प्रकार भूमीका रक्षक और (आज्येन अभिघारितः) घृतसे सींचा हुआ तू (अमित्रेभ्यः प्रत्रासं वद) शत्रुओंके लिये कष्टोंकी घोषणा कर ॥ ३ ॥

यथा मृगाः संविजन्त आरण्याः पुरुषादधि ।
एवा त्वं दुन्दुभेमित्रानभि क्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय ॥ ४ ॥
यथा वृकादजावयो धावन्ति बहु बिभ्यतीः ।
एवा त्वं दुन्दुभेमित्रानभि क्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय ॥५॥
यथा श्येनात् पतत्रिणः संविजन्ते अहर्दिवि सिंहस्य स्तनथोर्यथा ।
एवा त्वं दुन्दुभेमित्रानभि क्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय ॥ ६ ॥
परामित्रान् दुन्दुभिना हरिणस्याजिनेन च ।
सर्वे देवा अतित्रसन् ये संग्रामस्येशते ॥ ७ ॥
यैरिन्द्रः प्रक्रीडते पद्घोषैश्छायया सह ।
तैरमित्रास्त्रसन्तु नोऽमी ये यन्त्यनीकशः ॥ ८ ॥

अर्थ-(यथा आरण्याः मृगाः पुरुषात् अधि संविजन्ते)जिस प्रकार वनके मृग मनुष्यसे डरकर भागते हैं, (एवा त्वं अमित्रान् अभिक्रन्द) इस प्रकार तू शत्रुओंपर गर्जना कर, (प्रत्रासय) उनको डरा दे और (अथो चित्तानि मोहय) उनके चित्तोंको मोहित कर ॥ ४ ॥

(यथा अजावयः वृकात् बहु बिभ्यतीः धावन्ति)जिस प्रकार भेड बकरियां भेडियेसे बहुत डरती हुई भाग जाती हैं,उस प्रकार हे दुंदुभी! तू शत्रुओं-पर गर्जना कर, उनको डरा दे, और उनके चित्तोंको मोहित कर ॥ ५ ॥

(यथा पतत्रिणः श्येनात् संविजन्ते) जिस प्रकार पक्षी श्येनसे डरकर भागते हैं, और (यथा स्तनयोः सिंहस्य अहः-दिवि) जिस प्रकार गर्जने वाले सिंहसे प्रतिदिन डरते हैं, उस प्रकार हे दुन्दुभि! तू शत्रुओंपर गर्जना कर, उनको डरा दे, और उनके चित्तोंको मोहित कर ॥ ६ ॥

(ये संग्रामस्य ईशते) जो युद्धके स्वामी होते हैं वे (सर्वे देवाः) सब देव (हरिणस्य अजिनेन दुन्दुभिना च) हरिणके चर्मसे बने हुए नगाडेसेही (अमित्रान् परा अतित्रसन्) शत्रुओंको बहुत डरा देते हैं ॥ ७ ॥

(इन्द्रः यैः पद्-घोषैः) इन्द्र जिन पादघोषोंसे और (छायया सह) छायारूप सेनाके साथ (प्रक्रीडते) युद्धकी क्रीडा करता है,(तैः नः अमीः अमित्राः त्रसन्तु) उनसे हमारे इन शत्रुओंको त्रास होवे कि (ये अनीकशः यन्ति) जो सेनाकी पंक्तियोंके साथ हमला करते हैं ॥ ८ ॥

ज्याघोषा दुन्दुभयोऽभि क्रोशन्तु या दिशः ।
सेनाः पराजिता यतीरमित्राणामनीकशः ॥ ९ ॥
आदित्य चक्षुरा दत्स्व मरीचयोऽनु धावत ।
पत्सङ्गिनीरा सजन्तु विगते बाहुवीर्ये ॥ १० ॥
यूयमुग्रा मरुतः पृश्निमातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीत शत्रून् ।
सोमो राजा वरुणो राजा महादेव उत मृत्युरिन्द्रः ॥ ११ ॥
एता देवसेनाः सूर्यकेतवः सचेतसः ।
अमित्रान् नो जयन्तु स्वाहा ॥ १२ ॥
॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अर्थ— (ज्या-घोषाः दुन्दुभयः) धनुष्यकी डोरीके शब्द के साथ ढोल (याः दिशः अभिक्रोशन्तु) जो दिशाएं हैं उनमें शब्द करें। जिससे (अमित्राणां अनीकशः पराजिताः यतीः) शत्रुओंकी संघशः पराजित हुई सेना भाग जावे ॥ ९ ॥ हे (आदित्य) सूर्य! (चक्षुः आदत्स्व) शत्रुकी दृष्टि हर ले। (मरीचयः अनुधावत) प्रकाश किरण हमारें अनुकूल दौडें। (बाहुवीर्ये विगते) बाहु वीर्य कम होनेपर (पत्-संगिनीः आ सजन्तु) पांवोंको बांधनेकी रस्सियां शत्रुओंके पांवमें बांधी जावें ॥ १० ॥ (पृश्नि-मातरः उग्राः मरुतः) हे भूमिको माता माननेवाले,शूर,मरनेके लिये सिद्ध हुए वीरो! (इन्द्रेण युजा शत्रून् प्रमृणीत) इन्द्र अर्थात् शूर सेनापतिके साथ रहकर शत्रुओंको मार डालो। सोम, वरुण, महादेव, मृत्यु और इन्द्र ये सब शूरोंको सहायता करनेवाले देव हैं ॥ ११ ॥ (एताः देवसेनाः सूर्य-केतवः) ये दिव्य सेनाएं सूर्यका ध्वज लेकर चलनेवाली (सचेतसः) उत्तम चित्तसे युक्त होकर (नः अमित्रान् जयन्तु) हमारे शत्रुओंका पराभव करें। विजयके लिये हमारा (स्व-आ-हा) आत्मसमर्पण हो ॥ १२ ॥

नगारा।

ये दोनों सूक्त नगारेका वर्णन कर रहे हैं। यह वर्णन स्पष्ट और सहज समझने योग्य होनेसे इसका भावार्थ देने और विवरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

आर्योंका ध्वज। बारहवे मंत्रमें सूर्य चिन्हयुक्तकेतुका वर्णन है। यह वर्णन देखनेसे आर्योंका ध्वज सूर्य चिन्हयुक्त था यह बात स्पष्ट होजाती है।

ज्वर निवारण।

[२२]

(ऋषिः— भृग्वङ्गिराः । देवता-तक्मनाशनः)

अग्निस्तक्मानमप बाधतामितः सोमो ग्रावा वरुणः पूतदक्षाः ।
वेदिर्बर्हिः समिधः शोशुचाना अप द्वेषांस्यमुया भवन्तु ॥ १ ॥
अयं यो विश्वान् हरितान् कृणोष्युच्छोचयन्नग्निरिवाभिदुन्वन् ।
अधा हि तक्मन्नरसो हि भूया अधा न्यङ्ङधराङ् वा परेहि ॥ २ ॥
यः परुषः पारुषेयोऽवध्वंस इवारुणः ।
तक्मानं विश्वधावीर्याधराञ्चं परा सुवा ॥ ३ ॥

अर्थ— अग्नि, सोम, ग्रावा, वरुण, पूतदक्षाः वेदि, ये पवित्र बलवाले देव और वेदी (बर्हिः शोशुचानाः समिधः) कुशा, प्रदीप्त समिधाएं, (इतः तक्मानं अप बाधतां) यहांसे ज्वरादि रोगको दूर करें। (अमुया द्वेषांसि अप भवन्तु) इससे सब द्वेष दूर हों ॥ १ ॥

(अयं यः विश्वान् हरितान् कृणोषि) यह जो तू ज्वररोग सबको निस्तेज करता है। (अग्निः इव उच्छोचयन् अभि दुन्वन्) अग्निके समान तपाता और कष्ट देता है। हे (तक्मन्) ज्वर! (अध हि अरसः भूयाः) और तू नीरस हो जा। (अधा न्यङ् अधराङ् वा परा इहि) और नीचेके स्थानसे दूर होजा ॥ २ ॥

(यः पुरुषः पारुषेयः) जो पर्वपर्वमें होता है और जो पर्वदोषके कारण उत्पन्न होता है और जो (अरुणः अवध्वंसः इव) रक्तवर्ण अग्निके समान विनाशक है। हे (विश्वधा-वीर्य) सब प्रकारके सामर्थ्यवाले! (तक्मानं अधराञ्चं परासुव) ज्वरको नीचेकी गतिसे दूर कर ॥ ३ ॥

भावार्थ- यज्ञसे ज्वर दूर होता है, अग्नि, सोम, समिधा और हवनसामग्री ज्वरको दूर करती है ॥ १ ॥

ज्वर मनुष्यको निस्तेज बनाता है, उसको अग्नि तपाकर निर्वीर्य बनाता है, इस कारण यज्ञसे ज्वर हटता है ॥ २ ॥

ज्वरसे पर्व पर्वमें दर्द होती है, इस लिये ऐसे ज्वरको दूर हटाना चाहिये ॥ ३ ॥

अधराञ्चं प्र हिंणोमि नर्मः कृत्वा तक्मनें ।
शकम्भरस्यं मुष्टिहा पुनरेतु महावृषान् ॥ ४ ॥
ओकों अस्य मूजवन्त ओकों अस्य महावृषाः ।
यावंज्जातस्तंक्मंस्तावांनसि बल्हिकेषु न्योचरः ॥ ५ ॥
तक्मन् व्यालि वि गंद व्यङ्ग भूरिं यावय ।
दासीं निष्टक्करीमिच्छ तां वज्रेण समर्पय ॥ ६ ॥
तक्मन् मूजवतो गच्छ बल्हिकान् वा परस्तराम् ।
शूद्रामिंच्छ प्रफर्व्यं१तां तक्मन् वीव धूनुहि ॥ ७ ॥

अर्थ- (तक्मने नमः कृत्वा) ज्वरको नमन करके (अधराञ्चं प्रहिणोमि) नीचे उतार देता हूँ। (शकंभरस्य मुष्टिहा) शाक भक्षककी मुष्टिसे अर्थात् बलसे मरनेवाला यह रोग (महावृषान् पुनः एतु) महावृष्टिवाले देशोंमें पुनः पुनः आजाता है ॥ ४ ॥ (अस्य ओकः मूजवतः) इसका घर मूञ्जा घासवाला स्थान है तथा (अस्य ओकः महावृषाः) इसका घर बडी वृष्टिवाला स्थान है। हे (तक्मन) ज्वर ! (यावत् जातः) जबसे तू उत्पन्न हुआ है। (तावान् बाल्हिकेषु गोचरः असि) तबसे बाल्हिकोंमें दीखता है ॥ ५ ॥ हे (व्याल व्यङ्ग तक्मन्)सर्पके समान विषवाले और विरूप अंग कराने वाले ज्वर! हे (वि गद) विशेष रोग ! तू (भूरि यावय) बहुत दूर चला जा। तू (निष्टकरीं दासीं इच्छ) निकृष्टता में रहनेके कारण क्षयको प्राप्त होनेवाली की इच्छा कर और (तां वज्रेण समर्पय) उसपर अपना वज्र चला ॥ ६ ॥

(तक्मन्! मूजवतः गच्छ) हे ज्वर ! मूंजवाले स्थानकी इच्छा कर, (बाल्हीकान् वा परस्तराम्) दूरके बाल्हीक देशोंकी इच्छा कर। वैसे देशोंमें (प्रफर्व्यं शूद्रां इच्छ) भ्रमण करनेवाली शोकमय स्त्री की इच्छा कर। हे (तक्मन्) ज्वर ! (तां वि इव धूनुहि) उसको कंपा दे ॥ ७ ॥

भावार्थ- बहुत वृष्टि जहां होती है, उन देशोंमें यह ज्वर होता है ! शाकभोजी लोगोंमें एक विशेष बल होता है इस कारण उनसे यह ज्वर दूर भागता है ॥ ४ ॥ बहुवृष्टिवाले और मूंजा घास वाले देशोंमें यह ज्वर बहुत होता है ॥ ५ ॥ इस ज्वर का विष सर्पके समान होता है जिस से शरीर तेढा मेढा होता है। मलीन जीवन वाले लोगोंमें यह होता है॥६॥ घासवाले स्थानोंमें यह ज्वर होता है और यह ज्वर आनेपर शरीर कांपता है ॥७॥

म॒हावृ॑षान् मूज॑वतो॒ बन्ध्व॑द्धि प॒रेत्य॑ ।
प्रैता॑नि॑ त॒क्मने॑ ब्रूमो अ॒न्यक्षे॒त्राणि॒ वा इ॒मा ॥ ८ ॥
अ॒न्यक्षे॒त्रे न र॑मसे व॒शी सन् मृ॑डयासि नः ।
अभू॑दु॒ प्रार्थ॑स्त॒क्मा स ग॑मिष्यति॒ बल्हि॑कान् ॥ ९ ॥
यत् त्वं शी॒तोऽथो॑ रू॒रः स॒ह का॒सावे॑पयः ।
भी॒मास्ते॑ तक्मन् हे॒तय॒स्ताभिः॑ स्म॒ परि॑ वृङ्ग्धि नः ॥ १० ॥
मा स्मै॒तान्त्सखी॑न् कुरुथा ब॒लासं॑ का॒समु॑द्यु॒गम् ।
मा स्मातो॒र्वाङैः॑ पुन॒स्तत् त्वा॑ तक्म॒न्नुप॑ ब्रुवे ॥ ११ ॥

अर्थ— (महावृषान् मूजवतः बन्धु अद्धि) बडी वृष्टिवाले और मूंजा घास जहां होता है, उन बंधन करनेवाले स्थानोंको तू खा। (परेत्य) दूर जाकर (एतानि इमा अन्यक्षेत्राणि) इन सब अन्य क्षेत्रोंको (तक्मने वै प्रब्रूमः) हम ज्वरके लिये बतलाते हैं ॥ ८ ॥ (अन्यक्षेत्रे न रमसे) दूसरे क्षेत्रमें तू रमता नहीं, (वशी सन् नः मृडयासि) वशमें रहकर हमें सुखी करता है। (तक्मा प्रार्थः अभूत् उ) ज्वर प्रबल होगया है। (स बल्हीकान् गमिष्यति) वह बाल्हीकोंके प्रति जावेगा ॥ ९ ॥

(यत् त्वं शीतः) जो तू सर्दी लगकर आनेवाला है, (अथो रूरः) अथवा अधिक पीडा देनेवाला रूक्ष है, (कासा सह अवेपयः) खांसीके साथ कंपा देता है। हे (तक्मन्) ज्वर! (ते हेतयः भीमाः) तेरे शस्त्र भयंकर हैं। (ताभिः नः परिवृङ्ग्धि स्म) उनसे हम सबको बचाये रख ॥ १० ॥

हे (तक्मन्) ज्वर ! (बलासं कासं उद्युगं) कफ, खांसी, और क्षय (एतान् सखीन् मा स्म कुरुथाः) इनको अपने मित्र मत बना। (अतः अर्वाङ् मा स्म ऐः) इससे समीप न आ। हे (तक्मन्) ज्वर ! (तत् त्वा पुनः उपब्रुवे) यह तुझे मैं पुनः कहता हूं ॥ ११ ॥

भावार्थ- बडी वृष्टिवाले और घासवाले प्रदेशोंसे अन्य उत्तम क्षेत्रोंमें यह ज्वर नहीं होता है ॥८॥ अन्य स्थानोंमें नहीं होता है। वहां नियमपूर्वक रहनेवाले लोगोंको यह नहीं होता। उनसे दूर भागता है ॥ ९ ॥ यह ज्वर शीत, रूक्ष, और कफयुक्त होता है। इसका परिणाम भयंकर होता है, इसलिये इससे बचना चाहिये ॥ १० ॥ इस ज्वरके कफ, खांसी और क्षय ये तीन मित्र हैं। यह ज्वर हमारे पास कभी न आवे ॥ ११ ॥

तक्मन् भ्रात्रा बलासेन स्वस्रा कासिकया सह ।
पाप्मा भ्रातृव्येण सह गच्छामुमरणं जनम् ॥ १२ ॥
तृतीयकं वितृतीयं सदन्दिमुत शारदम् ।
तक्मानं शीतं रूरं ग्रैष्मं नाशय वार्षिकम् ॥ १३ ॥
गन्धारिभ्यो मूजवद्भ्योऽङ्गेभ्यो मगधेभ्यः ।
प्रैष्यन् जनमिव शेवधिं तक्मानं परि दद्मसि ॥ १४ ॥

अर्थ- हे (तक्मन्) ज्वर! तू (भ्रात्रा बलासेन) अपने भाई कफके साथ, (स्वस्रा कासिकया सह) बहिन खांसीके साथ, (पाप्मा भ्रातृव्येन सह) पापी भतीजे क्षयके साथ (अमुं अरणं जनं गच्छ) उस मलीन मनुष्यके पास जा ॥ १२ ॥

(तृतीयकं) तीसरे दिन आनेवाले, (वितृतीयकं) तीन दिन छोडकर आनेवाले, (सदन्दिं) सदा रहनेवाले, (उत शारदं) और शरदृतुमें होने वाले, (शीतं, रूरं) शीत अथवा पीडा करनेवाले, (ग्रैष्मं, वार्षिकं) ग्रीष्म और वर्षा ऋतुके संबंधसे आनेवाले ज्वरको (नाशय) हटा दे ॥ १३ ॥

(गन्धारिभ्यः मूजवद्भ्यः) गांधार, मूजवान् (अङ्गेभ्यः मगधेभ्यः) अंग और मगधोंको (प्रेष्यन् शेवधिं जनं इव) भेजे जानेवाले खजानेके रक्षक मनुष्यके समान (तक्मानं परि दध्मसि) ज्वरको हम भेज देते हैं ॥ १४ ॥

भावार्थ-इस ज्वरका भाई कफ; बहिन खांसी और भतीजा क्षय है । मलिन लोगों को यह होता है ॥ १२ ॥

तीसरे दिन आनेवाला, चौथे दिन या तीन दिन छोडकर आनेवाला, सदा अर्थात् प्रतिदिन आनेवाला, शरद्, ग्रीष्म और वर्षा ऋतुके कारण होनेवाला, शीत और रूक्ष,ये सब ज्वर हटाने चाहिये ॥ १३ ॥

जिस प्रकार रक्षक मनुष्य दूसरे देशको भेजे जाते हैं, उस प्रकार सब ज्वर दूर भेजे जांय, अर्थात् ये मनुष्योंको कष्ट न दें ॥ १४ ॥

ज्वर रोग ।

ज्वर रोगके विषयमें बहुतसी बडी विचारणीय बातें इस सूक्तमें कहीं हैं--

ज्वरके भेद।

१ सदन्दिः- सदा, प्रतिदिन आनेवाला ज्वर।

२ तृतीयकः- तीसरे दिन आनेवाला ज्वर।

३ वि-तृतीयकः- तीन दिन छोडकर चौथे दिन आनेवाला चातुर्थिक आदि ज्वर। (मं० १३)

ये तीन भेद दिनोंके अन्तरके कारण होते हैं। ऋतुके कारण आनेवाले ज्वरके नाम ये हैं।—

१ ग्रैष्मः- ग्रीष्म ऋतुमें होनेवाला ज्वर।

२ वार्षिकः- वर्षा ऋतुके कारण आनेवाला ज्वर।

३ शारदः- शरदृतुके कारण आनेवाला ज्वर (मं० १३)

ये तीन भेद ऋतुके कारण आनेवाले ज्वरके हैं। अब इस ज्वरके स्वरूप भेद देखिये।

१ शीतः- शीत ज्वर, जिसमें प्रथम शीत लगकर पश्चात् ज्वर आता है।

२ रूरः= रूक्ष, पित्त ज्वर, अथवा पीडा देनेवाला ज्वर। (मं० १३)

ये भेद इसका स्वरूप बता रहे हैं। ज्वरके साथ होनेवाले रोग ये हैं।

१ बलासः= कफ, बलगम, यह ज्वरमें होता है।

२ कासः= खांसी भी ज्वरमें होती है। (मं० ११, १२)

ये दोनों लक्षण बहुत खराब हैं, इसका परिणाम—

३ उत्-युगं=ये दोनों अर्थात् कफ और खांसी इकठ्ठी आती है, इसका नाम क्षय है। यह तो इसका भयङ्कर परिणाम होता है। (मं० ११)

देश विशेषके कारण होनेवाले ज्वरोंका परिगणन निम्न प्रकार इस सूक्तमें किया है।

१ महावृषः= बडी वृष्टिवाले प्रदेशमें होनेवाला ज्वर।

' अस्य ओकः महावृषः '=इसका घर बडी वृष्टिवाला प्रदेश है। (मं०५)

२ मूजवान् - घास जहां होता है ऐसे कीचडके स्थानमें यह ज्वर होता है।

' अस्य ओकः मूजवतः '- इसका घर मूजावाला स्थान है। (मं० ५)

इस प्रकारके प्रदेश इस ज्वरके लिये बढानेवाले होते हैं, अन्य क्षेत्रोंमें यह नहीं बढता है, अर्थात् हुआ भी तो शीघ्र हट जाता है। इस ज्वरमें बहुत विष होता है, जो शरीरमें जाता है और वहां पीडा करता है—

*

१ व्यालः— सर्पके समान यह ज्वरका विष है।

२ व्यंगः- अंगों और इंद्रियोंमें विरूपता करनेवाला यह ज्वर है। (मं० ३)

मलीन स्त्रीपुरुषोंको यह विशेषकर होता है, अर्थात् अन्तर्बाह्य पवित्र रहनेवालोंको नहीं होता, इस विषयमें मंत्रका प्रमाण देखिये—

१ अरणं जनं- नीच जीवन व्यतीत करनेवालेको होता है। (मं० १२)

२ निष्टकरीं— क्षीण और मलीनको होता है। (मं० ६)

३ प्रफर्व्यं— फूला मनुष्य, जिसमें सचा बल नहीं होता उसको होता है। (मं० ७)

यम, नियम पालन करनेवाला संयमी पुरुष सुखसे रहता है। इस विषयमें निम्न लिखित मंत्र मननपूर्वक देखिये—

नः वशी मृडयासि। (मं० ९)

" हममें जो वशी अर्थात् संयमी पुरुष होता है, उसको सुख देता है, " अर्थात् यह ज्वर उसको कष्ट नहीं देता है। इस प्रकार यह संयम ज्वरादिसे और क्षयादिसे बचनेका एकमात्र उपाय है। पाठक इसका विचार करके ब्रह्मचर्यादि सुनियमोंके पालनद्वारा अपना स्वास्थ्य बढावें और रोगोंसे दूर रहें।

ज्वर निवृत्तिका उपाय।

संयम, ब्रह्मचर्य आदि उपाय ज्वरप्रतिबंधक है, परंतु ज्वर आनेपर उसको हटानेके उपाय निम्न लिखित हैं—

१ यज्ञः- अग्निमें सोमादि औषधियोंका हवन करनेसे ज्वर हटता है। (मं० १)

२ अधराङ् परेहि- नीचेके मार्गसे ज्वर दूर होता है, अर्थात् शौच शुद्धिसे, पेट साफ रहनेसे ज्वर दूर होता है। (मं० २)

३ शाकं-भरस्य मुष्टि-हा= शाकभोजीकी मुष्टिसे मरनेवाला ज्वर होता है। मांसभोजी मनुष्यकी अपेक्षा शाकभोजी मनुष्यमें ज्वरप्रतिबंधकशक्ति अधिक होती है, इसलिये मानो शाकभोजी मनुष्य इस ज्वरको मुक्केसे मार देता है। (मं० ४)

इस प्रकार इस ज्वरके संबंधका विवरण इस सूक्तमें है। वैद्य इस सूक्तका अधिक विचार करें। इस सूक्तमें कहे लक्षणोंसे प्रतीत होता है कि यह तक्मा आजकलका शीतज्वर अथवा ' मलेरिया ' है।

रोगजन्तुओंका नाश।

[२३]

(ऋषिः— कण्वः । देवता—इन्द्रः, क्रिमिजम्भनाय देवप्रार्थना)

ओते मे द्यावापृथिवी ओता देवी सरस्वती ।
ओतौ म इन्द्रश्चाग्निश्च क्रिमिं जम्भयतामिति ॥ १ ॥
अस्येन्द्र कुमारस्य क्रिमीन् धनपते जहि ।
हता विश्वा अरातय उग्रेण वचसा मम ॥ २ ॥
यो अक्ष्यौ परिसर्पति यो नासे परिसर्पति ।
दतां यो मध्यं गच्छति तं क्रिमिं जम्भयामसि ॥ ३ ॥
सरूपौ द्वौ विरूपौ द्वौ कृष्णौ द्वौ रोहितौ द्वौ ।
बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्च गृध्रः कोकश्च ते हताः ॥ ४ ॥
ये क्रिमयः शितिकक्षा ये कृष्णाः शितिबाहवः ।
ये के च विश्वरूपास्तान् क्रिमीन् जम्भयामसि ॥ ५ ॥

अर्थ–द्यावापृथिवी, देवी सरस्वती, इन्द्र, अग्नि ये सब देव (ओते, ओता, ओतौ) परस्पर मिले जुले (मे मे क्रिमिं जम्भयतां) मेरे लिये क्रिमियोंका नाश करें ॥१॥ हे धनपते इन्द्र! (अस्य कुमारस्य क्रिमीन् जहि) इस कुमारके क्रिमियोंको हटा दे। (मम उग्रेण वचसा विश्वाः अरातयः हताः) मेरे पासकी उग्र वचासे सब दुखदायी क्रिमी मारे गये हैं ॥ २ ॥ (यः अक्ष्यौ परिसर्पति) जो आंखोंमें भ्रमण करता है, (यः नासे परिसर्पति) जो नाकमें घुसा होता है, (दतां यो मध्यं गच्छति) दांतोंके बीचमें जो जाता है, (तं क्रिमिं जम्भयामसि) उस क्रिमिको हम विनाश करें ॥ ३ ॥ (सरूपौ द्वौ, विरूपौ द्वौ) दो समान रूपवाले और दो विरुद्ध रूपवाले, (द्वौ कृष्णौ, द्वौ रोहितौ) दो काले और दो लाल, (बभ्रुः च बभ्रुकर्णः च) भूरा और भूरे कानवाला, (गृध्रः कोकः च) गिद्ध और भेडिया (ते हताः) वे सब मरगये ॥ ४ ॥ (ये क्रिमयः शितिकक्षाः) जो क्रिमि श्वेत कोखवाले, (ये कृष्णाः शितिबाहवः) जो काले और काली भुजावाले और (ये के च विश्वरूपाः) और जो बहुत रूपवाले हैं (तान् क्रिमीन् जम्भयामसि) उन क्रिमियोंका नाश करते हैं ॥ ५ ॥

उत् पुरस्तात् सूर्य एति विश्वदृष्टो अदृष्टहा ।
दृष्टांश्च घ्नन्नदृष्टांश्च सर्वांश्च प्रमृणन् क्रिमीन् ॥ ६ ॥
येवाषासः कष्कषास एजत्काः शिपवित्नुकाः ।
दृष्टश्च हन्यतां क्रिमिरुतादृष्टश्च हन्यताम् ॥ ७ ॥
हतो येवाषः क्रिमीणां हतो नदनिमोत ।
सर्वान् नि मष्मषाकरं दृषदा खल्वाँ इव ॥ ८ ॥
त्रिशीर्षाणं त्रिककुदं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम् ।
शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः ॥ ९ ॥
अत्रिवद् वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत् ।
अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं क्रिमीन् ॥ १० ॥

अर्थ-(सूर्यः उत पुरस्तात् एति) सूर्य आगेसे चलता है वह (विश्वदृष्टः अदृष्ट-हा) सबको जो प्रत्यक्ष है और जो न दीखनेवाले कृमियोंका भी नाश करनेवाला है, वह (दृष्टान च अदृष्टान् च सर्वान् क्रिमीन्) दीखने वाले और न दीखनेवाले सब क्रिमियोंको (घ्नन् प्रमृणन्) नाश करता है और कुचल डालता है ॥६॥ (येवाषासः कष्कषासः) येवाष, कष्कष, (एजत्काः शिपवित्नुकाः) एजत्क और शिपवित्नुक ये क्रिमी हैं । (दृष्टः क्रिमिः हन्यतां) दीखनेवाले क्रिमीको मारा जाय और (उत अदृष्टः च हन्यतां) और न दीखनेवाला भी मारा जाय ॥ ७ ॥ (क्रिमीणां येवाषः हतः) क्रिमियोंमेंसे येवाष नामक क्रिमी मारा गया (उत नदनिमा हतः) और नाद करनेवालाभी मरगया, । (सर्वान् मष्मषा नि अकरं) सबको मसल मसलकर नष्ट किया (दृषदा खल्वां इव) जिस प्रकार पत्थरसे चनोंको पीसते हैं ॥ ८ ॥ (त्रिशीर्षाणं त्रिककुदं) तीन शिरोंवाले, तीन कुदानवाले, (सारङ्गं अर्जुनं क्रिमिं) चित्रविचित्र रंगवाले और श्वेत रंगवाले क्रिमीको (श्रृणामि) मैं मारता हूं । (अस्य पृष्ठीः अपि) इस की पसुलियों को भी तोडता हूं और (यत् शिरः वृश्चामि) जो सिर है उसको कुचलता हूं ॥ ९॥ हे (क्रिमयः) जंतुओं ! (अत्रिवत्, कण्ववत्, जमदग्निवत्) अत्रि, कण्व और जमदग्निके समान (वः हन्मि) तुमको मारता हूं। (अहं अगस्त्यस्य ब्रह्मणा) मैं अगस्तिके ज्ञानसे (क्रिमीन् संपिनष्मि) रोगके क्रिमियोंको

हतो राजा क्रिमीणामुतैषां स्थपतिर्हतः।
हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा ॥ ११ ॥
हतासो अस्य वेशसो हतासः परिवेशसः।
अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हताः ॥ १२ ॥
सर्वेषां च क्रिमीणां सर्वासां च क्रिमीणाम्।
भिनद्म्यश्मना शिरो दहाम्यग्निना मुखम् ॥ १३ ॥

पीसता हूं ॥ १० ॥

(क्रिमीणां राजा हतः) रोगक्रिमियोंका राजा मारा गया, (उत एषां स्थपतिः हतः) और इनका स्थानपति मारा गया। और (हत-माता हत-भ्राता) जिसके माता और भाई मारे गये हैं तथा (हत-स्वसा क्रिमिः हतः) जिसकी बहिन मारी गई है ऐसा क्रिमी भी मारा गया ॥ ११ ॥

(अस्य वेशसः हतासः) इसके घरवाले मारे गये, (परिवेशसः हतासः इसके परिवारवाले मारे गये। (अथो ये क्षुल्लकाः इव) और जो क्षुल्लक क्रिमी थे (ते सर्वे क्रिमयः हताः) वे सब क्रिमी मारे गये हैं ॥ १ ॥

(सर्वेषां च क्रिमीणां) सब पुरुष क्रिमियोंका और (सर्वासां च क्रिमीणां) सब स्त्री क्रिमियोंका (अश्मना शिरः भिनद्मि) पत्थरसे सिर तोडता हूं और (अग्निना मुखं दहामि) अग्निसे मुख जलाता हूं ॥ १३ ॥

रोगक्रिमियोंका नाश।

रोगके क्रिमि शरीरमें घुसते हैं और वहां विविध रोग उत्पन्न करते हैं, यह बात वेदके कई सूक्तोंमें कही है। अग्नि, वायु, जल आदि द्वारा इन क्रिमियोंका नाश होता है, यह प्रथम मंत्रका कथन है। छोटे बालकोंके शरीरमें भी क्रिमि होते हैं उनको दूर करनेके लिये वचा औषधिका उपयोग करना चाहिये यह द्वितीय मंत्रका उपदेश मननीय है।

आंख, नाक और दांतोंमें क्रिमि जाते हैं और वहां विविध रोग उत्पन्न करते हैं, यह तृतीय मंत्रका कथन प्रत्यक्ष देखने योग्य है। चतुर्थ और पञ्चम मंत्रमें क्रिमियोंके रंगोंका वर्णन है। सूर्यकिरणसे सब रोगक्रिमियोंका नाश होता है, यह अत्यंत महत्त्व पूर्ण बात षष्ठ मंत्रमें कही है। विपुल सूर्यकिरणोंके साथ अपना संबंध करके पाठक रोगक्रिमियोंसे अपना बचाव कर सकते हैं। अन्य मंत्रोंका कथन स्पष्ट है, इसलिये उस विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

सुरक्षितताकी प्रार्थना।

[२४]

(ऋषिः— अथर्वा। देवता-ब्रह्मकर्मात्मा, नाना देवताः)

सविता प्रसवानामधिपतिः स मावतु।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १ ॥
अग्निर्वनस्पतीनामधिपतिः स मावतु।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ २ ॥
द्यावापृथिवी दातृणामधिपत्नी ते मावताम्।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ ३ ॥
वरुणोऽपामधिपतिः स मावतु।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ ४ ॥
मित्रावरुणौ वृष्ट्याधिपती तौ मावताम्।

अर्थ—(अस्मिन् ब्रह्मणि) इस ब्रह्मयज्ञमें, (अस्मिन् कर्मणि) इस कर्ममें, (अस्यां पुरोधायां) इस पुरोहितके अनुष्ठानमें, (अस्यां प्रतिष्ठायां) इस प्रतिष्ठामें, (अस्यां चित्यां) इस चिन्तनमें, (अस्यां आकूत्यां) इस संकल्पमें, (अस्यां आशिषि) इस आशीर्वादमें, (अस्यां देवहूत्यां) इस देवोंकी प्रार्थनामें, (स्व-आ-हा) आत्मसर्वस्वका समर्पण करता हूं,इस समय (सः प्रसवानां अधिपतिः सविता मा अवतु) वह सब चेतनाओंका अधिपति प्रेरक परमेश्वर मेरी रक्षा करे ॥ १ ॥ (सः वनस्पतीनां अधिपतिः अग्निः मा अवतु) वह वनस्पतियोंका अधिपति अग्नि मेरी रक्षा करे ॥ २ ॥ (ते दातृणां अधिपत्नी द्यावापृथिवी मा अवतां) वे दाताओंके अधिपती द्यावापृथिवी मेरी रक्षा करें ॥ ३ ॥ (सः अपां अधिपतिः वरुणः मा अवतु) वह जलोंका अधिपति वरुण मेरी रक्षा करे ॥ ४ ॥ (तौ वृष्ट्या अधिपती

अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ ५ ॥
मरुतः पर्वतानामधिपतयस्ते मावन्तु ।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ ६ ॥
सोमो वीरुधामधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ ७ ॥
वायुरन्तरिक्षस्याधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ ८ ॥
सूर्यश्चक्षुषामधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ ९ ॥
चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १० ॥
इन्द्रो दिवोऽधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ ११ ॥

मित्रावरुणौ मा अवतां) वे दोनों वृष्टिके अधिपती मित्र और वरुण मेरी रक्षा करें ॥ ५ ॥ (ते पर्वतानां अधिपतयः मरुतः मा अवन्तु) वे पर्वतोंके अधिपती मरुत् मेरी रक्षा करें ॥ ६ ॥ (सः वीरुधां अधिपतिः सोमः मा अवतु) वह औषधियोंका अधिपति सोम मेरी रक्षा करे ॥ ७ ॥ (सः अन्तरिक्षस्य अधिपतिः वायुः मा अवतु) वह अन्तरिक्षका अधिपति वायु मेरी रक्षा करे ॥ ८ ॥ (सः चक्षुषां अधिपतिः सूर्यः मा अवतु) वह नेत्रोंका अधिपति सूर्य मेरी रक्षा करे ॥ ९ ॥ (सः नक्षत्राणां अधिपतिः चन्द्रमाः मा अवतु) वह नक्षत्रोंका अधिपति चन्द्र मेरी रक्षा करे ॥ १० ॥ (सः

मुरुतां पिता पशूनामधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १२ ॥
मृत्युः प्रजानामधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १३ ॥
यमः पितृणामधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १४ ॥
पितरः परे ते मावन्तु ।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १५ ॥
तता अवरे ते मावन्तु ।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १६ ॥
ततस्ततामहास्ते मावन्तु ।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १७ ॥

दिवः अधिपतिः इन्द्रः मा अवतु) वह द्युलोकका अधिपति इन्द्र मेरी रक्षा करे ॥ ११ ॥ (सः पशूनां अधिपतिः मरुतां पिता मा अवतु) वह पशुओंका अधिपति मरुत्पिता मेरी रक्षा करे ॥ १२ ॥ (सः प्रजानां अधिपतिः मृत्युः मा अवतु) वह प्रजाओंका अधिपति मृत्यु मेरी रक्षा करे॥१३॥ (सः पितृणां अधिपतिः यमः मा अवतु) वह पितरोंका अधिपति यम मेरी रक्षा करे ॥ १४ ॥ (ते परे पितरः मा अवन्तु) वे पूर्व पितर मेरी रक्षा करें ॥ १५ ॥ (ते अवरे तताः मा अवन्तु) वे पिछले पितामह मेरी रक्षा करें ॥ १६ ॥ (ते ततः ततामहाः मा अवन्तु) वे बडे प्रपितामह मेरी रक्षा करें ॥ १७ ॥

अपनी सुरक्षितता ।

ज्ञानोपदेशका कर्म, अन्यान्य पुरुषार्थ, यजन याजन, सबकी स्थिरता और सुदृढता बढानेवाले कर्म, चित्तसे चिंतन मनन आदि कर्म, संकल्प, आशीर्वाद देना और लेना, ईश्वरकी स्तुति प्रार्थना आदि कर्म तथा जो जो अन्यान्य कर्तव्य कर्म मनुष्य करता है, उसमें संपूर्ण देवताएं और उन देवताओंका प्रेरक परमात्मा मेरी रक्षा करे । यह प्रार्थना इस सूक्तमें है । यह स्पष्ट आशय है इस लिये अधिक स्पष्टीकरणकी आवश्यकता नहीं है ।

गर्भधारणा ।

[२५]

(ऋषिः— ब्रह्मा । देवता-योनिगर्भः)

पर्वताद् दिवो योनेरङ्गादङ्गात् समाभृतम् ।
शेपो गर्भस्य रेतोधाः सरौ पर्णमिवा दधत् ॥ १ ॥

यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे ।
एवा दधामि ते गर्भं तस्मै त्वामवसे हुवे ॥ २ ॥

अर्थ।— (पर्वतात् दिवः) पर्वतसे लेकर द्युलोकपर्यंत स्थित पदार्थों के (अंगात् अंगात् सं आभृतं) अंग प्रत्यंगसे इकट्ठा किया हुआ (योनेः) योनिके स्थानमें (रेतोधाः शेपः) वीर्य की स्थापना करनेवाला पुरुषेन्द्रिय (सरौ पर्णं इव) जलप्रवाहमें पत्ता रखनेके समान (गर्भस्य आदधत्) गर्भका बीज आधान करता है ॥ १ ॥

(यथा इयं मही पृथिवी) जिस प्रकार यह बडी पृथिवी (भूतानां गर्भं आदधे) समस्त भूतोंके गर्भ को धारण करती है, (एवा ते गर्भं दधामि) इस प्रकार तेरा गर्भ धारण करती हूँ (तस्मै अवसे त्वां हुवे) उस रक्षा के लिये तुझे बुलाती हूं ॥ २ ॥

गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति ।
गर्भं ते अश्विनोभा धत्तां पुष्करस्रजा ॥ ३ ॥
गर्भं ते मित्रावरुणौ गर्भं देवो बृहस्पतिः ।
गर्भं त इन्द्रश्चाग्निश्च गर्भं धाता दधातु ते ॥ ४ ॥
विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु ।
आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते ॥ ५ ॥
यद् वेद राजा वरुणो यद् वा देवी सरस्वती ।
यदिन्द्रो वृत्रहा वेद तद् गर्भकरणं पिब ॥ ६ ॥
गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम् ।
गर्भो विश्वस्य भूतस्य सो अग्ने गर्भमेह धाः ॥ ७ ॥

अर्थ— हे (सिनीवालि) अल्प चन्द्रवाली रात्री देवी ! (गर्भं धेहि) गर्भका धारण कर। हे (सरस्वति) ज्ञानदेवी ! (गर्भं धेहि) गर्भका धारण कर। (उभौ पुष्करस्रजौ अश्विनौ) दोनों कमलमाला धारण करनेवाले अश्विदेवो (ते गर्भं आधत्तां) तेरे गर्भका धारण करें ॥ ३ ॥

(मित्रावरुणौ ते गर्भं) मित्र और वरुण तेरे गर्भको पुष्ट करें (देवः बृहस्पतिः गर्भं) देव बृहस्पति गर्भको धारण करे। (इन्द्रः च अग्निः च ते गर्भं) इन्द्र और अग्नि तेरे गर्भका धारण करे। (धाता ते गर्भं दधातु) धाता तेरे गर्भका धारण करे ॥ ४ ॥

(विष्णुः योनिं कल्पयतु) विष्णु योनिको समर्थ बनावे। (त्वष्टा रूपाणि पिंशतु) त्वष्टा रूपोंको अवयवोंवाला बनावे। (प्रजापतिः आसिंचतु) प्रजापति गर्भको सींचे और (धाता ते गर्भं दधातु) धाता तेरे गर्भका धारण करे ॥ ५ ॥

(यत् राजा वरुणः वेद) जो वरुण राजा जानता है, (वा यत् देवी सरस्वती) अथवा जो देवी सरस्वती जानती है। (यत् वृत्रहा इन्द्रः वेद) जो वृत्रका नाश करनेवाला इन्द्र जानता है (तत् गर्भ-करणं पिब) वह गर्भको स्थिर करनेवाला यह रस पान कर ॥ ६ ॥

(ओषधीनां गर्भः असि) तू औषधियोंका गर्भ है, और (वनस्पतीनां गर्भः असि) तू वनस्पतियोंका गर्भ है, तू (विश्वस्य भूतस्य गर्भः) सब

अधि स्कन्द वीरयस्व गर्भमा धेहि योन्याम् ।
वृषासि वृष्ण्यावन् प्रजायै त्वा नयामसि ॥ ८ ॥
वि जिहीष्व बार्हत्सामे गर्भस्ते योनिमा शयाम् ।
अदुष्टे देवाः पुत्रं सोमपा उभयाविनम् ॥ ९ ॥
धातः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः ।
पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे ॥ १० ॥
त्वष्टः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः ।
पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे ॥ ११ ॥
सवितः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः ।
पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे ॥ १२ ॥
प्रजापते श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः ।
पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे ॥ १३ ॥

भूतमात्रका गर्भ है, हे अग्ने ! (सः इह गर्भं आधाः) वह तू यहां गर्भका धारण कर ॥ ७ ॥

(अधिस्कंध) उठकर खडा हो, (वीरयस्व) वीरता कर, (योन्यां गर्भं आधेहि) योनिमें गर्भकी स्थापना कर। हे (वृष्ण्यावन् ! वृषा असि) वीर्यवान् ! तू बलवान है। (त्वा प्रजायै नयामसि) तुझे केवल सन्तानके लिये ही ले जाते हैं ॥ ८ ॥

हे (बार्हत्सामे) बृहत्साम गानेवाली स्त्री ! तू (विजिहीष्व) विशेष प्रकार तैयार रह। (ते योनिं गर्भः आशयां) तेरी योनिमें गर्भ स्थिर होवे। (सोमपाः देवाः उभयाविनं पुत्रं ते अदुः) सोमपान करनेवाले देवोंने तुम दोनोंकी रक्षा करनेवाले पुत्रको तुझे दिया है ॥ ९॥

हे (धातः) धाता ! और हे (त्वष्टः) रूप बनानेवाले देव ! हे (सवितः) उत्पादक देव ! हे (प्रजापते) प्रजापालक देव ! (अस्याः नार्याः गवीन्योः) इस स्त्रीके दोनों गर्भधारक नाडियोंके बीचमें (श्रेष्ठेन रूपेण पुमांसं पुत्रं आधेहि) उत्तम सुंदर रूपके साथ पुरुष संतान स्थापन कर और (दशमे मासि सूतवे) दसवें मासमें उत्पत्ति होनेके लिये उसे योग्य कर ॥ १०-१३ ॥

गर्भकी सुरक्षितता।

गर्भकी सुरक्षितताके लिये परमेश्वरकी तथा अन्यान्य देवताओंकी प्रार्थना इस सूक्त में की गई है। इस प्रकार की प्रार्थना करनेसे मानस शक्तिकी जाग्रति द्वारा बहुत लाभ होता है। इसके अतिरिक्त इस सूक्तमें गर्भविषयक अन्यान्य बहुतसी उपयुक्त बातें कहीं हैं, उसका थोडासा विचार यहां करना आवश्यक है।

पृथ्वीके ऊपरके पर्वत से लेकर द्युलोक पर्यंत अर्थात् इस द्यावा पृथिवीके अन्दर जितने पदार्थ हैं, उन सबके अंग प्रत्यंगोंके अंश लेलेकर और उन सब अंशोंको विशेष योजनासे इकठा करके यह गर्भ बनाया गया है। यह प्रथम मंत्रका कथन है। अर्थात् इस गर्भमें जिस प्रकार सूर्य और चंद्रके अंश हैं, उसी प्रकार वायु और जलके अंशभी हैं और उसी रीतिसे ओषधिवनस्पतियोंके भी अंश हैं। जो ब्रह्माण्डमें है वही पिण्डमें है। ब्रह्माण्डका एक अंश ही पिंड है। इसी प्रकार पिताके अंग प्रत्यंगोंका सत्त्व वीर्य बिन्दुमें आता है और उसी वीर्य बिन्दुसे गर्भ होता है, इस लिये गर्भमें पिताके अंग प्रत्यंगोंका सत्त्व आया हुआ होता है। इस प्रकार एक दृष्टीसे यह गर्भ सब ब्रह्माण्डका सत्त्वांश है और दूसरी दृष्टिसे यह गर्भ पिताका सत्वांश है। गर्भमें, मानो, इतनी प्रचण्ड शक्तियां हैं, इस लिये गर्भकी जितनी सुरक्षा हो उतनी करनी चाहिये और उसकी जितनी उन्नति हो सके उतना यत्न करना चाहिये।

मंत्र २ से ९ तक देवताओंकी प्रार्थना है कि सब देव इस गर्भकी रक्षा के लिये सहायता देवें। और जो देवताओंके अंश यहां रहे हैं उनको अपनी शक्तिसे सुरक्षित रखें और बढावें। पाठक यहां स्मरण रखें कि रक्षा तो देवोंद्वारा ही होनी है, मनुष्यका कार्य इतना ही है कि वह उसमें रुकावट न करे। जिस प्रकार बंद कमरेमें सदा रहनेसे सूर्यकी रक्षासे मनुष्य दूर रहते हैं, उसी प्रकार अन्यान्य देवोंकी रक्षासे मनुष्य अपनी अज्ञानताके कारण दूर रहता है। इस लिये मनुष्यको उचित है कि वह अपने आपको इन देवताओंके स्वाधीन करे। ऐसा करनेसे इसकी उत्तम रक्षा हो सकती है। गर्भकी भी सुरक्षितताके लिये गर्भिणी स्त्री शुद्ध वायुमें तथा धूप आदिमें अपने आपको रखेगी और सूर्यादि देवोंसे जो रक्षा प्राप्त होती है उससे लाभ उठावेगी तो अधिक लाभ हो सकता है।

गर्भ उत्तम रीतिसे बढकर दसवें मासमें माताके उदरसे बाहर आना चाहिये। यह समय उसकी पूर्ण वृद्धिका है। यह बात दशम मंत्रमें कही है।

अन्य मंत्र गर्भाधान विषयक हैं वे सुविज्ञ पाठक सहजहीमें समझ सकते हैं।

[२६]

(ऋषिः— ब्रह्मा । देवता-वास्तोष्पतिः । मन्त्रोक्ताः)

यजूंषि यज्ञे समिधः स्वाहाग्निः प्रविद्वानिह वो युनक्तु ॥ १ ॥
युनक्तु देवः सविता प्रजानन्नस्मिन् यज्ञे महिषः स्वाहा ॥ २ ॥
इन्द्र उक्थामदान् यस्मिन् यज्ञे प्रविद्वान् युनक्तु सुयुजः स्वाहा ॥ ३ ॥
प्रैषा यज्ञे निविदः स्वाहा शिष्टाः पत्नीभिर्वहतेह युक्ताः ॥ ४ ॥
छन्दांसि यज्ञे मरुतः स्वाहा मातेव पुत्रं पिपृतेह युक्ताः ॥ ५ ॥

अर्थ— (प्र विद्वान् अग्निः इह यज्ञे) विशेष ज्ञानी अग्नि इस यज्ञमें (वः यजूंषि समिधः) आपके लिये यजुर्वेद मंत्र और समिधाएं (युनक्तु, स्वाहा) उपयोगमें लावे, मैं अपनी आहुतियां समर्पित करता हूं ॥ १ ॥

(महिषः प्रजानन् सविता देवः) महान् ज्ञानी सर्व प्रेरक सविता देव (अस्मिन् यज्ञे युनक्तु, स्वाहा) इस यज्ञमें हवन सामग्रीका उपयोग करे, मैं अपनी आहुतियां समर्पित करता हूं ॥ २ ॥

(प्रविद्वान् सुयुजः इन्द्रः) ज्ञानी सुयोग्य इन्द्र, (अस्मिन् यज्ञे उक्थमदानि युनक्तु, स्वाहा) इस यज्ञमें आनन्दकारक स्तुतिस्तोत्रोंको प्रयुक्त करे, इसमें मेरा समर्पण हो ॥ ३ ॥

(प्रैषाः निविदः इह यज्ञे युक्ताः शिष्टाः) आज्ञाएं और आत्मनिवेदन करनेकी रीतियां जाननेवाले इस यज्ञमें नियुक्त हुए शिष्ट लोग (पत्नीभिः वहत, स्वाहा) अपनी धर्मपत्नियोंके साथ यज्ञका भार उठावें, यज्ञमें मेरा समर्पण हो ॥ ४ ॥

(माता इव पुत्रं) माता जैसी पुत्रको पूर्ण करती है, उस प्रकार (इह यज्ञे युक्ताः मरुतः) इस यज्ञमें लगे हुए मरुत देव (छंदांसि पितृत, स्वाहा) छंदोंको पूर्ण करें, मेरा समर्पण यज्ञके लिये होवे ॥ ५ ॥

एयमगन् बर्हिषा प्रोक्षणीभिर्यज्ञं तन्वानादितिः स्वाहा ॥ ६ ॥
विष्णुर्युनक्तु बहुधा तपांस्यस्मिन् यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ ७ ॥
त्वष्टा युनक्तु बहुधा नु रूपा अस्मिन् यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ ८ ॥
भगो युनक्त्वाशिषोन्व१स्मा अस्मिन् यज्ञे प्रविद्वान् युनक्तु सुयुजः स्वाहा ॥९॥
सोमो युनक्तु बहुधा पयांस्यस्मिन् यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ १० ॥
इन्द्रो युनक्तु बहुधा वीर्याण्यस्मिन् यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ ११ ॥
अश्विना ब्रह्मणा यातमर्वाञ्चौ वषट्कारेण यज्ञं वर्धयन्तौ ।
बृहस्पते ब्रह्मणा याह्यर्वाङ् यज्ञो अयं स्वरिदं यजमानाय स्वाहा ॥ १२ ॥

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अर्थ-(इयं अदितिः बर्हिषा प्रोक्षणीभिः) यह अदिती देवी हवन सामग्री और शोधक साधनोंके साथ (यज्ञं तन्वाना आ अगन् स्वाहा) यज्ञका विस्तार करती हुई आई है। इस यज्ञमें मेरा समर्पण होवे ॥ ६ ॥

(सुयुजः विष्णुः अस्मिन् यज्ञे) सुयोग्य विष्णु देव इस यज्ञमें (तपांसि बहुधा युनक्तु, स्वाहा) अपनी तपन शक्तियोंका बहुत प्रकार उपयोग करे। इस यज्ञमें मेरा समर्पण होवे ॥ ७ ॥

(सुयुजः त्वष्टा अस्मिन् यज्ञे) सुयोग्य त्वष्टा देव इस यज्ञमें (रूपाः नु बहुधा युनक्तु, स्वाहा) विविध रूपोंको बहुत प्रकार प्रयुक्त करे। इस यज्ञमें मेरा समर्पण हो ॥ ८ ॥

(सुयुजः प्रविद्वान् भगः अस्मिन् यज्ञे) सुयोग्य ज्ञानी भग देव इस यज्ञमें (अस्मै नु आशिषः युनक्तु, स्वाहा) इस के लिये आशीर्वाद देवे। इस यज्ञमें मेरा आत्मसमर्पण होवे ॥ ९ ॥

(सुयुजः सोमः अस्मिन् यज्ञे) सुयोग्य सोम देव इस यज्ञमें (पयांसि बहुधा युनक्तु, स्वाहा) जलोंको बहुत प्रकार प्रयुक्त करे, मेरा समर्पण इस यज्ञमें होवे ॥ १० ॥

(सुयुजः इन्द्रः अस्मिन् यज्ञे) सुयोग्य इन्द्र देव इस यज्ञमें (वीर्याणि बहुधा युनक्तु, स्वाहा) अपने सामर्थ्योंका बहुत प्रकार उपयोग करे। इस यज्ञमें मेरा समर्पण हो ॥ ११ ॥

हे (अश्विनौ) अश्विदेवो ! (ब्रह्मणा वषट् कारेण यज्ञं वर्धयन्तौ) ज्ञान

और दान द्वारा यज्ञको बढाते हुए (अर्वाञ्चौ आयातं) हमारे पास आवो। हे बृहस्पते! (ब्रह्मणा अर्वाङ् आयाहि) ज्ञानके साथ पास आ। (अयं यज्ञः यजमानाय स्वः) यह यज्ञ यजमान के लिये तेज बढानेवाला होवे। (स्वाहा) यज्ञमें आत्मसमर्पण होवे ॥ १२ ॥

यज्ञमें आत्मसमर्पण।

" स्वाहा " शब्दका अर्थ (स्व+आ+हा) ' अपना करके कहने योग्य जो जो पदार्थ हैं उन सबका जगत्की भलाईके लिये समर्पण करना ' है। वास्तविक रीतिसे यज्ञमें यह आत्मशक्तिका समर्पण अत्यंत मुख्य भाग है। मानो, इसके विना कोई यज्ञ हो नहीं सकता। यज्ञमें आहुति देते समय " स्वाहा, न मम " (यह पदार्थ मैंने यज्ञमें दिया है, अब यह मेरा नहीं है) यह मंत्र जो पढा जाता है उसका तात्पर्य आत्मसमर्पणका पाठ देना ही है। इस सूक्तके प्रत्येक मंत्रमें ' स्वाहा ' शब्दका पाठ इसी लिये किया है।

अग्नि, सविता, इन्द्र, मरुत्, अदिति, विष्णु, त्वष्टा, भग, सोम, अश्विनौ, बृहस्पति आदि सब देवताएं जगत्के यज्ञमें अपना अपना कार्य कर रहीं हैं, अर्थात् अपनी अपनी शक्तियोंका समर्पण कर रही हैं, यह देवताओंका आत्मसमर्पण देखकर हरएक मनुष्यको उचित है कि, वह भी अपनी संपूर्ण शक्ति यज्ञमें समर्पित करे और अपने जीवनकी सार्थकता यज्ञद्वारा करे। अग्नि उष्णता देता है, सविता प्रकाश देता है, इन्द्र चमकता है, मरुत् जीवन देते हैं, अदिति आधार देती है, विष्णु सर्वत्र व्यापकर सबकी रक्षा करता है, त्वष्टा सब पदार्थोंके रूप बनाता है, भग सबको भाग्यवान बनाता है, सोम सबको शांति देता है, अश्विनी देव सबके दोष दूर करते हैं, बृहस्पति सबको ज्ञान देता है किंवा एक ही परमात्मदेव इतनी शक्तियों द्वारा जगत्का यज्ञ सांग संपूर्ण करता है। ये सब देव ये कार्य अपने सुखके लिये नहीं करते, परंतु सब जगत्की भलाईके लिये आत्मशक्तिका समर्पण करते हैं। इसी प्रकार मनुष्य भी अपनी तन मन धनादि सब शक्तियोंका यज्ञ जनताकी भलाईके लिये करें और इस आत्मसर्वस्व समर्पणके यज्ञद्वारा अपने जीवनकी सफलता करें। इस प्रकार यज्ञमय जीवन व्यतीत करनेका उपदेश इस सूक्तने दिया है।

अग्निकी ऊर्ध्वगति ।

[२७]

(ऋषिः- ब्रह्मा । देवता- अग्निः)

ऊर्ध्वा अस्य समिधो भवन्त्यूर्ध्वा शुक्रा शोचींष्यग्नेः ।
द्युमत्तमा सुप्रतीकः ससूनुस्तनूनपादसुरो भूरिपाणिः ॥१॥
देवो देवेषु देवः पथो अनक्ति मध्वा घृतेन ॥ २ ॥
मध्वा यज्ञं नक्षति प्रैणानो नराशंसो अग्निः सुकृद् देवः सविता विश्ववारः ॥३॥
अच्छायमेति शवसा घृता चिदीडानो वह्निर्नमसा ॥ ४ ॥
अग्निः स्रुचो अध्वरेषु प्रयक्षु स यक्षदस्य महिमानमग्नेः ॥ ५ ॥

अर्थ-(अस्य अग्नेः समिधः ऊर्ध्वाः भवन्ति) इस अग्निकी समिधाएं ऊंची होती हैं, तथा इस अग्निकी (शुक्रा शोचींषि ऊर्ध्वा भवन्ति) शुद्ध ज्वालाएं ऊंची होती हैं। यह अग्नि (द्युमत्तमा) अति प्रकाशवाला, (सु-प्रतीकः, ससूनुः) सुंदररूपवाला, पुत्रोंसहित रहनेवाला, (तनू-न-पात्, असु-रः) शरीरको न गिरानेवाला, जीवन देनेवाला, (भूरि-पाणिः) अनेक हाथोंसे अर्थात् ज्वलाओंसे युक्त है ॥ १ ॥

(देवेषु देवः देवः) सब देवोंमें मुख्य देव (मध्वा घृतेन पथः अनक्ति) मधुर घृतसे मार्गको प्रकट करता है ॥ २ ॥

(नराशंसः सुकृत् सविता विश्ववारः देवः अग्निः) मनुष्यों द्वारा प्रशंसित होने योग्य, उत्तम कर्म करनेवाला, प्रेरक, सबको स्वीकार करने योग्य दिव्य अग्नि (मध्वा यज्ञं प्रैणानः नक्षति) मधुरतासे यज्ञको प्रेरित करता हुआ चलता है ॥ ३ ॥

(अयं ईडानः वह्निः शवसा घृता नमसा चित्) यह स्तुति किया गया अग्नि बल, घृत और नमनादिके साथ (अच्छ एति) भली प्रकार चलता है ॥ ४ ॥

(अध्वरेषु स्रुचः प्रयक्षु अग्निः) यज्ञोंमें स्रुचाओं [चमसों] की इच्छा करनेवाला अग्नि होता है। (सः अस्य अग्नेः महिमानं यक्षत्) वह यजमान इस अग्निकी महिमाकी उपासना करे ॥ ५ ॥

तरी मन्द्रासु प्रयक्षु वसवश्चातिष्ठन् वसुधातरश्च ॥ ६ ॥
द्वारो देवीरन्वस्य विश्वे व्रतं रक्षन्ति विश्वहा ॥ ७ ॥
उरुव्यचसाऽग्नेर्धाम्ना पत्यमाने ।
आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्तेमं यज्ञमवतामध्वरं नः ॥८॥
दैव्या होतार ऊर्ध्वमध्वरं नोऽग्नेर्जिह्वयाभि गृणत गृणता नः स्विष्टये ।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं सदन्तामिडा सरस्वती मही भारती गृणाना ॥ ९ ॥
तन्नस्तुरीपमद्भुतं पुरुक्षु ।
देव त्वष्टा रायस्पोषं वि ष्य नाभिमस्य ॥ १० ॥

अर्थ-(तरी मन्द्रासु प्रयक्षु) तारण करनेवाला अग्नि हर्षके समयमें यजन करनेवाला होता है । (वसु-धा-तरः वसवः च अतिष्ठन्) धनोंका अधिक धारण करनेवाला अग्नि और वसु सबका अतिक्रमण करके स्थित हैं ॥ ६ ॥

(अस्य व्रतं देवीः द्वारः) इस के व्रतकी दिव्य द्वार और (विश्वे) सब अन्य देव (विश्व-हा अनु रक्षन्ति) सर्वदा अनुकूलतासे रक्षा करते हैं ॥ ७ ॥

(अग्नेः उरु-व्यचसा धाम्ना) अग्निके अतिविस्तृत धाम से (पत्यमाने सु-सु-अयन्ती उपाके यजते) पतिरूप बनने वाली, उत्तम रीतिसे चलने-वाली, समीपस्थित, परस्पर संगत, (उषासानक्ता नः इमं अध्वरं यज्ञं आ अवतां) प्रातःकाल और सायंकाल हमारे इस हिंसारहित यज्ञकी उत्तम रक्षा करें ॥ ८ ॥

हे (दैवा होतारः) दिव्य होता गणो (नः ऊर्ध्वं अध्वरं अग्नेः जिह्वया अभिगृणत) हमारे ऊंचे यज्ञकी अग्निकी जिह्वा के द्वारा प्रशंसा करो और (नः स्विष्टये गृणत) हमारी उत्तम इष्टीके लिये प्रशंसा करो। (इडा सरस्वती भारती मही) मातृभाषा, मातृसभ्यता, और पोषण करनेवाली मातृभूमि ये (तिस्रः देवीः) तीन देवताएं (इदं बर्हिः सदन्तां) इस यज्ञमें विराजें ॥९ ॥

(देव त्वष्टः) हे त्वष्टा देव ! (नः तत् तुरी-पं अद्भुतं) हमारे लिये वह त्वरासे रक्षा करनेवाला अद्भुत (पुरुक्षु रायः पोषं) निवास के लिये हित-कारी धन और पुष्टि दे और (अस्य नाभिं विष्य) इसकी मध्य ग्रंथी को खोल दे ॥ १० ॥

*

वनस्पतेऽव सृजा रराणः ।
त्मना देवेभ्यो अग्निर्हव्यं शमिता स्वदयतु ॥ ११ ॥

अग्ने स्वाहा कृणुहि जातवेदः ।
इन्द्राय यज्ञं विश्वे देवा हविरिदं जुषन्ताम् ॥ १२ ॥

अर्थ-- हे वनस्पते ! (रराणः अवसृज) दान करता हुआ तू हमें दानकर। (शमिता अग्निः त्मना देवेभ्यः हव्यं स्वदयतु) शान्ति स्थापन करनेवाला अग्निदेव आत्मशक्तिसे देवोंके लिये हवनीय पदार्थोंका स्वाद देवे ॥ ११ ॥

हे (जातवेदः अग्ने) ज्ञानी प्रकाशस्वरूप देव! (स्वाहा कृणुहि) तू स्वाहा रूप यज्ञ कर। तथा (इन्द्राय यज्ञं) इन्द्रदेव के लिये यज्ञ कर। (विश्वे देवाः इदं हविः जुषन्तां) सब देव यह हवि सेवन करें ॥ १२ ॥

यज्ञका महत्त्व ।

यह सूक्त यज्ञकी प्रशंसापर है। यज्ञयाग करनेसे दिव्य लोकमें जानेका मार्ग खुला होता है यह बात द्वितीय मंत्रमें कही है। जिस प्रकार (अग्नेः ऊर्ध्वाः शोचींषि) अग्निकी ज्वाला ऊपर जाती है और कभी नीचेकी दिशामें नहीं जाती, ठीक इस प्रकार अग्निकी उपासना करनेवाला याजक सीधा उच्च मार्गसे उच्च गति प्राप्त करता है। यज्ञयागका यह महान फल है।

यज्ञके द्वारा मातृभाषा, मातृसभ्यता और मातृभूमिका आदर बढता है, क्यों कि यज्ञके द्वारा इनकी ही सेवा की जाती है। यज्ञमें इनके लिये अग्रस्थान मिलता है। यह बात नवम मंत्रमें कही है।

इस सूक्तमें कहे अग्निके विशेषण विचार करने योग्य हैं। उन गुणोंका मनन करके उनसे बोधित होनेवाले गुण उपासकको अपने अन्दर बढाना चाहिये। उन्नतिका यह सीधा मार्ग है।

दीर्घायु और तेजस्विता।

[२८]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता-त्रिवृत्)

नव॑ प्राणान्नवभि॑ः सं मि॑मीते दीर्घायु॒त्वाय॑ श॒तशा॑रदाय ।
हरि॑ते॒ त्रीणि॑ रज॒ते त्रीण्यय॑सि॒ त्रीणि॒ तप॒साविष्ठि॑तानि ॥ १ ॥
अ॒ग्निः सूर्य॑श्च॒न्द्रमा॒ भूमि॒रापो॒ द्यौर॒न्तरि॑क्षं प्र॒दिशो॒ दिश॑श्च ।
आर्त॒वा ऋ॒तुभि॑ः संवि॒दाना अ॒नेन॑ मा त्रि॒वृता॒ पारयन्तु ॥ २ ॥

अर्थ- (शतशारदाय दीर्घायुत्वाय) सौ वर्षवाले दीर्घ जीवन के लिये (नव प्राणान् नवभिः सं मिमीते) नव प्राणोंको नव इंद्रियोंके साथ समानतासे मिलाता है । (हरिते त्रीणि, रजते त्रीणि, अयसि त्रीणि) सुवर्ण में तीन, चांदीमें तीन और लोहेमें तीन (तपसा आविष्ठितानि) उष्णतासे विशेष प्रकार स्थित हैं ॥ १ ॥

अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, भूमि, जल, द्यौ, अन्तरिक्ष, (प्रदिशः दिशः) उपदिशाएं और दिशाएं, (ऋतुभिः संविदानाः आर्तवः) ऋतुओंके साथ मिले हुए ऋतुविभाग (अनेन त्रिवृता मा पारयन्तु) इस तीनों के योग से मुझे पार ले जावें ॥ २ ॥

भावार्थ- दीर्घ आयुकी प्राप्तिके लिये नव प्राणोंको नव इंद्रियोंमें सम प्रमाणमें स्थिर करते हैं । सुवर्णके तीन, चांदीके तीन और लोहेके तीन मिलकर नौ धागे उष्णतासे इकट्ठे जोड देते हैं । यह सुवर्णका यज्ञोपवीत होता है ॥ १ ॥

जिसके तीनों धागोंमें क्रमशः भूमि, जल,अग्नि, चन्द्र, अन्तरिक्ष, सूर्य, द्युलोक, दिशा उपदिशाएं, और ऋतु आदि कालविभाग ये नव दिव्य तत्त्व रहते हैं, वह तीन धागोंवाला यज्ञोपवीत मुझे दुःखोंसे पार करके दीर्घ जीवन देवे ॥ २ ॥

त्रयः पोषास्त्रिवृति श्रयन्तामनक्तु पूषा पयसा घृतेन ।
अन्नस्य भूमा पुरुषस्य भूमा भूमा पशूनां त इह श्रयन्ताम् ॥ ३ ॥
इममादित्या वसुना समुक्षतेममग्ने वर्धय वावृधानः ।
इममिन्द्र सं सृज वीर्येणास्मिन् त्रिवृच्छ्रयतां पोषयिष्णुः ॥ ४ ॥
भूमिष्ट्वा पातु हरितेन विश्वभृदग्निः पिपर्त्वयसा सजोषाः ।
वीरुद्भिष्टे अर्जुनं संविदानं दक्षं दधातु सुमनस्यमानम् ॥ ५ ॥

अर्थ-(त्रिवृति त्रयः पोषाः श्रयन्तां) इस तिहरे उपवीतमें तीन पुष्टियां बनी रहें। (पूषा पयसा घृतेन अनक्तु) पूषा दूध और घीसे हमें भरपूर करे। (अन्नस्य भूमा) अन्नकी विपुलता, (पुरुषस्य भूमा) पुरुषों की अधिकता, तथा (पशूनां भूमा) पशुओंकी समृद्धि (ते इह श्रयन्तां) तेरे यहां ये सब स्थिर रहें ॥ ३ ॥

हे (आदित्याः) आदित्यो! (इमं वसुना सं उक्षत) इसको तुम वसुओं से सींचो। हे अग्ने! (वावृधानः इमं वर्धय) तू स्वयं बढता हुआ इसको बढा। हे इन्द्र ! (इमं वीर्येण सं सृज) इस को वीर्यसे युक्त कर। (अस्मिन् पोषयिष्णु त्रिवृत् श्रयतां) इसमें पोषण करनेवाला तिहरा उपवीत स्थिर रहे ॥ ४ ॥

(भूमिः हरितेन त्वा पातु) भूमि सुवर्णके द्वारा तेरी रक्षा करे। (विश्व-भृत् सजोषाः अग्निः अयसा पिपर्तु) सबका पोषण करनेवाला प्रेममय अग्नि लोहके द्वारा तुझे पूर्ण करे। (वीरुद्भिः संविदानं अर्जुनं सुमनस्य-मानं दक्षं) औषधियों द्वारा प्राप्त होनेवाला कलंकरहित शुभसंकल्पमय बल (ते दधातु) तेरे लिये धारण करे ॥ ५ ॥

भावार्थ— इस तिहरे उपवीतसे तीन पुष्टियाँ मिलती हैं। पोषण कर्ता परमेश्वर हमें दूध और घी भरपूर देवे। अन्नकी पुष्टि, मनुष्योंकी सहायता, पशुओंकी विपुलता ये तीन पुष्टियां हमें यहां मिलें ॥ ३ ॥ आदित्य हमें सब वसुओंकी शक्ति प्रदान करे। अग्नि हमारी वृद्धि करे। इन्द्र वीर्य बढावे। इस प्रकार यह तिहरा यज्ञोपवीत सब दुःखोंसे पार करनेवाला हमारे ऊपर स्थिर रहे ॥ ४ ॥ सुवर्णके धागेसे भूमि रक्षा करे। लोहेके धागेसे सबका पोषक अग्नि हमारी पूर्णता करे। तथा चांदीके धागेसे औषधियोंकी शक्तियोंके साथ हमें उत्तम मनयुक्त बल प्राप्त होवे ॥ ५ ॥

त्रेधा जातं जन्मनेदं हिरण्यमग्नेरेकं प्रियतमं बभूव सोमस्यैकं हिंसितस्य परापतत्।
अपामेकं वेधसां रेत आहुस्तत् ते हिरण्यं त्रिवृदस्त्वायुषे ॥ ६ ॥
त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।
त्रेधामृतस्य चक्षणं त्रीण्यायूंषि तेऽकरम् ॥ ७ ॥
त्रयः सुपर्णास्त्रिवृता यदायन्नेकाक्षरमभिसंभूय शक्राः।
प्रत्यौहन्मृत्युममृतेन साकमन्तर्दधाना दुरितानि विश्वा ॥ ८ ॥

अर्थ-(इदं हिरण्यं जन्मना त्रेधा जातं) यह सुवर्ण जन्मसेही तीन प्रकारसे उत्पन्न हुआ। उनमें से (एकं अग्नेः प्रियतमं बभूव) एक अग्निको अतिप्रिय हुआ है। (एकं हिंसितस्य सोमस्य परापतत) दूसरा निचोडे सोमसे बाहर निकलता है। (एकं वेधसां अपां रेतः आहुः) तीसरा सारभूत जलका वीर्य है ऐसा कहते हैं। (तत त्रिवृत् हिरण्यं) वह तिहरा सुवर्ण (ते आयुषे अस्तु) तेरी आयुके लिये होवे ॥ ६ ॥

(जमदग्नेः त्र्यायुषं) जमदग्निकी तिहरी आयु, (कश्यपस्य त्र्यायुषं) कश्यप की तिहरी आयु, यह (अमृतस्य त्रेधा चक्षणं) अमृतका तीन प्रकारका दर्शन है। इससे (ते त्रीणि आयूंषि अकरं) तेरे लिये तीन आयुष्यों को करता हूं ॥ ७ ॥

(यत् शक्राः त्रयः सुपर्णाः) जब समर्थ तीन सुपर्ण (त्रिवृता एकाक्षरं अभि संभूय आयन्) तिहरे होकर एक अक्षरमें सब प्रकार मिलकर रहे हैं। वे (अमृतेन साकं विश्वा दुरितानि अन्तर्दधानाः) अमृतके साथ सब अनिष्टोंको मिटाकर (मृत्युं प्रति औहन्) मौत को दूर करते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ-स्वभावतः सुवर्ण तीन प्रकारका है। एक अग्निके लिये प्रिय है, दूसरा सोमके रसके रूपसे प्राप्त होता है, और तीसरा सारभूत जल जो वीर्य रूपसे शरीरमें रहता है। यह तिहरा सुवर्ण है, यह मेरी आयु बढानेवाला होवे ॥ ६ ॥ जमदग्नि और कश्यपकी बाल तरुण और वृद्ध अवस्थामें व्यापनेवाली तिहरी आयु, मानो, अमृतका साक्षात्कार करनेवाली है। यह तीन प्रकार की आयु हमें प्राप्त होवे ॥ ७ ॥ तीन बडी शक्तियां हैं जो एक ही अक्षरमें रहती हैं। उस अमृतसे सब अनिष्ट दूर होते हैं और उससे मृत्युको दूर किया जाता है ॥ ८ ॥

दिवस्त्वा पातु हरितं मध्यात् त्वा पात्वर्जुनम् ।
भूम्या अयस्मयं पातु प्रागाद् देवपुरा अयम् ॥ ९ ॥
इमास्तिस्रो देवपुरास्तास्त्वा रक्षन्तु सर्वतः ।
तास्त्वं बिभ्रद् वर्चस्व्युत्तरो द्विषतां भव ॥ १० ॥
पुरं देवानाममृतं हिरण्यं य आवेधे प्रथमो देवो अग्रे ।
तस्मै नमो दश प्राचीः कृणोम्यनु मन्यतां त्रिवृदावधे मे ॥ ११ ॥

अर्थ-(हरितं त्वा दिवः पातु) सुवर्ण तेरी द्युलोकसे रक्षा करे, (अर्जुनं त्वा मध्यात् पातु) श्वेत तेरी अन्तरिक्षसे रक्षा करे, (अयस्मयं भूम्याः पातु) लोहमय भूमिके स्थानसे तेरी रक्षा करे । (अयं देव-पुराः प्रागात्) यह देवोंकी पुरियोंमें प्राप्त हुआ है ॥ ९ ॥

(इमाः तिस्रः देव-पुराः) ये तीन देव नगरियां हैं, (ताः सर्वतः त्वा रक्षन्तु) वे सब प्रकारसे तेरी रक्षा करें । (त्वं ताः बिभ्रत् वर्चस्वी) तू उनको धारण करके तेजस्वी हो कर (द्विषतां उत्तरः भव) वैरियों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ हो ॥ १० ॥

(देवानां हिरण्ययं पुरं अमृतं) देवों की सुवर्णमय नगरी अमृत रूप है । (यः प्रथमः देवः अग्ने आवेधे) जिस पहिले देवने सबसे पूर्व इनको बांधा था । (तस्मै दश प्राचीः नमः कृणोमि) उसको मेरी दस अंगुलियां जोडकर नमस्कार करता हूं । (त्रिवृत् मे आवधे, अनुमन्यतां) यह तिहरा उपवीत मेरे शरीरपर बांधता हूं, इसके लिये अनुमति दें ॥ ११ ॥

भावार्थ- सुवर्ण द्युलोकसे, चांदी अन्तरिक्षसे, और लोहा भूमीसे तेरी रक्षा करें । ये देवोंकी नगरियां ही प्राप्त हुई हैं ॥ ९ ॥

ये तीन देवनगरियां हैं । ये तीनों सबकी रक्षा करें । इनका धारण करनेवाला तेजस्वी होकर शत्रुओंको नीचे कर देता है ॥ १० ॥

देवोंकी सुवर्णमय नगरी अमृतसे परिपूर्ण है । जो पहिला देव इसको सबसे पहिले स्थिर करता है, उसको हाथ जोडकर नमस्कार करते हैं । यह तिहरा उपवीत मैं अपने शरीरपर बांधता हूं, मुझे अनुमति दीजिये ॥ ११ ॥

महाभारत।

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास।

इस समय तक छपकर तैयार पर्व।

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्यय
१ आदिपर्व	[१ से ११]	११	११२५	६) छः	रु १)
२ सभापर्व	[१२ " १५]	४	३५६	२) दो	,, ।-)
३ वनपर्व	[१६ " ३०]	१५	१५३८	८) आठ	,, १।)
४ विराटपर्व	[३१ " ३३]	३	३०६	१॥) डेढ	,, ।-)
५ उद्योगपर्व	[३४ " ४२]	९	९५३	५) पांच	,, १)
६ भीष्मपर्व	[४३ " ५०]	८	८००	४) चार	,, ।॥)
७ द्रोणपर्व	[५१ " ६४]	१४	१३६४	७॥) साडेसात	१।=)
८ कर्णपर्व	[६५ " ७०]	६	६३७	३॥) साढेतीन)	,, ॥·)
९ शल्यपर्व	[७१ " ७४]	४	४३५	२॥) अढाई)	" ।=)

कुल मूल्य ४०) कुलडा.व्य. ७=)

सूचना— ये पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज देंगे तो आधा डाकव्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु० के मूल्यके ग्रंथका तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देने होंगे।

मंत्री— स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

मुद्रक — श्री० दा० सातवलेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा)

वर्ष १०

अंक ९

क्रमांक

वैदिक धर्म.

आश्विन

संवत् १९८६

अक्तूबर

सन १९२९

संपादक

वर्ष १०

अंक १०

क्रमांक

११८

आश्विन

संवत् १९८६

अक्तूबर

सन १९२९

वार्षिक मूल्य— म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) विदेशाके लिये

वर्ष १०

अंक ९

क्रमांक ११८

आश्विन

संवत् १९८६

अक्तूबर

सन १९२९

वैदिक धर्म.

वैदिक तत्त्वज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।

संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।

स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

" निष्कलंक वीर ! "

परा शुभ्रा अयासो यव्या साधारण्येव मरुतो मिमिक्षुः ।
न रोदसी अपनुदन्त घोरा जुषन्त वृधं सख्याय देवाः ॥

ऋ. १।१६७।४

" (अयासः शुभ्राः) गतिशील और कलंकरहित, (यव्याः घोराः) मिलजुलकर रहनेवाले और शूरवीर, (मरुतः देवाः) मरनेके लिये तैयार देववीर जिस प्रकार (रोदसी न अपनुदन्त) अपने मातापितारूप द्यावा पृथिवी का कदापि तिरस्कार नहीं करते, प्रत्युत उनको (साधारण्या इव मिमिक्षुः) साधारण स्त्री के समान जलसिंचन द्वारा शान्त करते हैं और (सख्याय वृधं जुषन्त) उनके साथ मित्रता करनेके लिये ही धनादि ऐश्वर्य का स्वयं सेवन करते हैं, उस प्रकार अन्य मनुष्य व्यवहार करें।

मनुष्य प्रगतिशील, निष्कलंक, मिलजुलकर रहनेवाले, उग्रवीर और मरनेतक उत्साह से कार्य करनेवाले होकर, ऐसा आचरण करें कि जिससे मातापिताका नाम और यश बढे और मातृभूमिका गौरव होवे। अपनी योग्यता कितनी भी बढ गयी तो भी हम साधारण मनुष्य हैं, ऐसा मान कर,अपना जीवन मातृभूमिके हितके लिये समर्पित करना, सब जानों में मित्रता बढाना और जिससे सब जनताका हित हो, ऐसे शुभकर्म में अपने तनमन धन का उपयोग करना सबको योग्य है।

यम और पितर ।

' यम और पितर ' यह विषय बडा मनोरंजक है। हरद्वार कांगडी गुरुकुल के सन्मान्य स्नातक पं० मंगलदेव (तडित्कांत) जी वेदालंकार यहां आकर उक्त विषयकी खोज गत वर्ष से कर रहे हैं। चारों वेदों में इस विषय के साथ संबंध रखनेवाले जितने मंत्र और सूक्त हैं उतने सब मंत्रों और सूक्तोंका संग्रह करके उनको योग्य प्रकरणों में विभक्त करके, अपनी ओर से अधिक टिप्पणी न देते हुए जो बात मंत्र स्वयं बोलते हैं, उतना ही भाव बताकर लेख लिखनेका कार्य कर रहे हैं। इस कारण पं० तडित्कांतजीका यह लेख खोज करनेवालों के लिये निःसन्देह अपूर्व सहायक सिद्ध होगा। खोज करने के लिये जितना निष्पक्षपाती मन बनाना चाहिये, उतना बनाने का यत्न वे कर रहे हैं।

हमारा धर्म वही है, जो कि वेदके मंत्रों में कहा हुआ है। इस लिये सभी धार्मिक बातों के विषय में वेद मंत्र क्या उपदेश देते हैं, यह निष्पक्षपात की दृष्टिसे देखना चाहिये। परंतु कई लोग कुछ मानी हुई बातों को मन में धर कर उन कल्पित बातों की मर्यादा में वेद मंत्रोंका अर्थ करनेका यत्न करते हैं, और वेद मंत्रों के अर्थ को उतना खींचते हैं कि जितना उनकी मनःप्रवृत्ति चाहती है। इस प्रकार के प्रयत्न सर्वथा और सर्वदा त्याज्य हैं।

हमें निश्चय है इस लेख में वैसा दोष नहीं हो रहा है और विशुद्ध दृष्टिसे ही मंत्रोंका सरल अर्थ करनेका यत्न करने के कारण यह लेख जनता के आदर के लिये पात्र होगा।

इस लेख की भूमिका गतांकमें दी है, उसके आगे का विषय इस अंक में विस्तृत रूपसे इस लिये दिया है कि इस विषयका विचार करनेवाले पाठक इस लेख को एक ही स्थानपर पढें। पहिले यह लेख वैदिक धर्म में थोडा थोडा देने का विचार था, परंतु वैसा करने से पाठकों को विषयका अनुसन्धान नहीं रहेगा, ऐसा विचार करके लेख का पहिला भाग इसी एक अंक में विस्तारपूर्वक दिया है। आगे इस विषय के कई भाग हो रहे हैं वे भी तैयार होते ही " वैदिक धर्म " में इसी प्रकार दिये जायेंगे।

इस विषय के ऊपर विचार करनेवाले पाठक पढते ही एकदम अनुकूल अथवा प्रतिकूल लिखने के लिये कलम न उठावें। इसके संपूर्ण भाग विचारपूर्वक पढकर पश्चात् जो भी लिखना हो, लिखें। यह प्रकाशन अन्तिम सिद्धान्त बतानेके लिये नहीं हो रहा है। ये लेख इकट्ठे करके देश के विद्वानों के पास भेजे जायंगे और उनकी अनुकूल प्रतिकूल संमति जान कर, तत्पश्चात् पुनः विचार करके इस विषय पर अन्तिम लेख पुस्तक रूपसे प्रकाशित किया जायगा। इस समय करीब एक वर्ष की खोज के लेख सार रूपसे विचारार्थ पाठकों के सन्मुख रखे जाते हैं। इस विषय के सब मंत्रोंका समन्वय इस समय तक किसीने नहीं किया है। यदि किसी को इस लेखमालासे कुछ लाभ न भी हुआ, तो भी इस विषय के मंत्रोंका संग्रह अर्थ सहित एकत्रित करनेका श्रेय तो सबसे पहिले इन को मिलेगा ही, इस में कोई संदेह नहीं है। जो लोग वेदसमन्वय का महत्त्व समझते हैं और वैदिक विषयोंकी खोज करने के लिये टकरें मारते हैं, उन के लिये इस प्रकार के एक एक विषय के मंत्रसंग्रह भी बहुत लाभकारी हैं।

आशा है कि पाठक इस लेख मालासे लाभ उठावेंगे। " संपादक "

—o—

बौद्धोंकी एकतामें पंथभेदकी उत्पत्ति ।

भगवान् शाक्यमुनि गौतम बुद्धजीने अपने धर्मकी स्थापना ईसा के पूर्व की पांचवीं शताब्दिमें की। इसके पहले की दो शताब्दियों में ऱ्हास होनेवाले वैदिक धर्म में अव्यवस्था हो चली थी और भिन्न भिन्न वैदिक वा वेदबाह्य ऐसे द्विविध धर्ममतों का प्रचार हो रहा था। उपनिषद की ब्रह्मविद्या की प्राप्तिके लिए साधन चतुष्टय की आवश्यकता है। यह साधन चतुष्टय इस प्रकार है। नित्यानित्यवस्तु विवेक, इहामुत्र-फलभोग विराग, शमादि संपत्ति और मुमुक्षुत्व। इन्हींके आधार पर संन्यास मार्ग उत्पन्न हुआ। ब्रह्ममीमांसा के लिए विवाद बढ गए, आचार और भेष के संबंधमें इन मुमुक्षुओं में एकता न थी। इसीसे 'नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्' की स्थिति उत्पन्न हुई। सभीका ध्येय एकहीः ब्रह्मप्राप्ति मोक्ष वा निर्वाण। परन्तु इस ध्येय को प्राप्त करने के मार्ग प्रत्येक के मत के अनुसार भिन्न भिन्न थे। द्विविधता में भी कुछ बातें ऐसी थीं जिन्हे सब लोग मानते थे। किसी गुरु के पास ब्रह्मचर्य से निवास करना और उसके उपदेशों के अनुसार बर्ताव करना आवश्यक था। इससे परिव्राजक (मस्करिन्) तापस, जटिल और मुंडी इन चतुर्विध भेष के आचार्य दिखाई देने लगे।

परिव्राजक पंथ के लोग हाथ में बांसका लठ्ठ ले गांव गांव में घूमते और वहां के विद्वानोंसे वाद-विवाद करते। यदि विजयी हो जाते तो वे विद्वान इनके शिष्य बन जाते और यदि ये खुद ही हार जाते तो येही उनके शिष्य बन जाते। तापस पंथवाले देहदंडनरूप तपस्यापर अधिक जोर देते थे। जटिल पंथ के लोग जटा धारण करते और मुंडी लोग शिरोमुंडन करते थे। श्रमण और ब्राह्मण इस प्रकार इन आचार्यों का द्विविध वर्गीकरण कई जगह किया गया है। वह अवैदिक और वैदिक से साधारणतः समानार्थक है। यह साधारणतः इस लिए कहा गया है कि परिव्राजकादि पंथोंमें भी कुछ लोग वैदिक मार्गानुयायी रहते थे। यह बात सुत्तनिपात के सुंदरिक भारद्वाजसुत्त के "मुण्डापि हि इधेकच्चे ब्राह्मणा भवन्ति" इस उल्लेख से दिखाई देता है। अवैदिक धर्मपंथों में कई प्रकार थे। जैनों के ही धर्मग्रंथों में इस प्रकार के पंथों की संख्या ६६३ दी गई है। बौद्ध ग्रंथों में वह ६३ ही दी गई है। बौद्ध ग्रंथोंमें इसके सिवा छः बुद्धपूर्व प्रमुख आचार्यों का उल्लेख है। तिस पर भी वैदिक धर्मानुयायी लोगों के सिवा बौद्ध धर्मके विरोधक पंथ दोही थे। वे थे आजीविक और निर्ग्रंथ अर्थात् जैन।

इनमें से आजीविक पंथ का बुद्धपूर्व या बुद्ध समकालीन आचार्य मस्करि गोशाल (पाली-मक्खलि गोसाल। प्राकृत-गोसाल मंखलि पुत्त) था। इस पंथ के लोग उसे तीसरा तीर्थंकर कहते थे। वे मानते थे कि गोशाल के पूर्व नंदवच्छ और किस संकिच्च नामक दो तीर्थंकर हो गए हैं। इस पंथ का कोई भी धर्म ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं है तब भी उसका भारी महत्व था। ईसाके पूर्व छटीं शताब्दि से ईसवी सन की तेरहवीं शताब्दि तक यह पंथ मौजूद था, इस बात का ऐतिहासिक सबूत है। गोशाल के मतों के संबंध में जो कुछ हाल मिलता है वह बौद्ध और जैन धर्मग्रंथों सेही मिलता है। इससे वह हाल पूर्वग्रहदूषित होनेका संभव अधिक है। उसका मत था कि संसार के चक्कर को पार किये बिना शुद्धि नहीं होती। शीतोदकसेवन, बीजभक्षण और स्त्रीसेवन ये जैनधर्म की निषिद्ध बातें आजीविक पंथ के लोग मान्य समझते थे। पात्र न लेना चाहिए, हाथमें लेकर ही अन्न खाना चाहिए, नग्न रहना चाहिए, स्त्री के संबंध में निर्बंध न होना चाहिए आदि विचार अन्य धर्म संस्थापक पसंद नहीं कर सकते थे। गोशाल कहते कि कोई

भी बात करने के लिए प्रयत्नकी (वीर्यकी) आवश्यकता नहीं, तो जैनों के तीर्थंकर महावीर कहते कि सजीव प्राणियों की तो बात ही दूर है निर्जीव मटका भी मानवी प्रयत्न के बिना हो नहीं सकता।

जैनों के २४ वें तीर्थंकर महाविरजी गौतम बुद्धके कुछ पहले हुए और तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वजी उनसे भी पहले हुए। इन दोनों तीर्थंकरों का अस्तित्व अब ऐतिहासिक सबूतों से सिद्ध हो चुका है। इन दोनों के मतों में आरंभ में कुछ अंतर था। परन्तु पार्श्वजीका शिष्य केशिकुमार और महावीरजी का शिष्य गौतम ये दोनों जब श्रावस्ति नगर में मिले तब दोनों संप्रदाय एक हुए। इस बात का उल्लेख जैनों के उत्तराध्ययनसूत्र में आया है। जैन धर्म आजभी विद्यमान है अतएव उसके तत्त्वज्ञान के संबंध में यहां चर्चा करने की आवश्यकता नहीं है। यहां केवल इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि जिस समय बौद्ध धर्म उत्पन्न हुआ उस समय जैन धर्म के अनुयायियों की संख्या बहुत बडी थी।

उस समय के धर्ममतों का अवलोकन करने से विदित होता है कि कुछ पंथों में यह कल्पना दृढमूल थी कि चार्वाक-पंथ के समान ऐहिक विषयों के उपभोग से आत्यंतिक सुख होता है। इसे गौतम बुद्ध ने कामसुखल्लिकानुयोग नाम दिया है। दूसरे पंथों में देह-दंडनपर अधिक जोर होने से उसे अत्तकिलमथानुयोग नाम दिया है। गौतम बुद्ध का मत था कि इन दोनों छोरों के बीच का मार्ग ही सच्चा निर्वाणप्राप्ति का मार्ग है। इसी से उन्होंने अपने मार्ग को मध्यमा प्रतिपत् (पाली-मज्झिमा पटिपदा) अर्थात् बीच का मार्ग नाम दिया है। बौद्धधर्म की चतुःसूत्री क्या है आर्य सत्य हैं। और ये आर्य सत्य चार कल्पनाएं हैं:-

" संसार में दुःख है, उस दुःख को कारण हैं, उन कारणों को दूर करना शक्य है, और उनको दूर करने के मार्ग हैं। " इन सादी और साधारण जनों की समझ में सहज ही में आनेवाली बातों पर बौद्धधर्म की रचना है। धर्म में प्रवेश करनेकी इच्छा करनेवालों को विशेष कष्ट न उठाते हुए भी प्रवेश (उपसंपदा) मिलने का सुभीता है।

" बुद्धं सरणं गच्छामि, धम्मं सरणं गच्छामि, संघं सरणं गच्छामि "

इस त्रिपदा चतुर्विंशत्यक्षरा सावित्रीमंत्रका केवल उच्चार करने ही से काम होता है। इस नवीन धर्म का सादपन देखकर, वैदिक धर्म का चातुर्वर्ण्य, यज्ञयागादि के लिए होनेवाली तकलीफ और उस में होने वाला प्राणिवध शब्दप्रामाण्य की नींव पर स्थित गूढ तत्त्वज्ञान आदि बातोंसे उकताकर कई लोगोंने विशेषतः वैश्य, शूद्र तथा कुछ क्षत्रियों ने बौद्ध धर्म का स्वीकार कर लिया। आगे चलकर धीरे धीरे अन्य पंथीय आचार्योंके, आजीविक, निर्ग्रंथ आदि पंथों के अनुयायी भी बौद्ध हो गए। धीरे धीरे वैदिकधर्मानुयायी, वेदविद्यापारंगत ब्राह्मणों ने भी इस नवीन धर्म का स्वीकार कर लिया। इस प्रकार बौद्ध धर्म के अनुयायियों की संख्या तो बढती गई, पर आकस्मिक और जल्द वृद्धि में ही बौध्द धर्म की फूट का और आगे चल कर होनेवाली उसकी अवनति की जड है। नये आनेवाले लोगों के पूर्वधर्म के संस्कार नष्ट न हुए थे, बौद्धधर्म में भी आरंभ में काफी सुसूत्रिपन न था; व्यक्तिस्वतंत्रता की बहुत गुंजाइश थी इससे बौद्ध धर्म का मूल स्वरूप धीरे धीरे विकृत होने लगा।

अचारके कारण मतभेद।

बौध्दों के धर्मग्रंथ को त्रिपिटक कहते हैं। इस त्रिपिटक का द्विविध वर्गीकरण है यथा धम्म और विनय। उनमें से सुत्तपिटक और अभिधम्मपिटक में मुख्यतः तत्त्वज्ञान का उहापोह है। यह उहापोह गौतम बुद्ध के उपदेशों द्वारा किया गया है। विनयपिटक में भिक्षुके आचार आदि के नियम हैं तथा यह भी बतलाया गया है कि वे किस अवसर में और किस कारण से बनाना आवश्यक हुआ। इन धर्म ग्रंथों के दो पक्षों के अनुसार तद्धर्मियों के मतभेद के भी दो प्रकार हैं। अर्थात् कुछ मतभेद तो आचार के नियमों के कारण हुए हैं और कुछ तत्वज्ञान के संबंध के विवादों के कारण हुए।

नियमोंके कारण भेद।

कालानुक्रम से देखा जाय तो मालूम होता है कि विनयनिमित्तक मतभेद प्रथम उत्पन्न हुआ, और वह भी गौतमबुद्ध के समय में ही। बौद्ध भिक्षुओं के आचारों के संबंध में जो नियम प्रातिमोक्ष (पाली पातिमोक्ख) नामक ग्रंथ में दिये हैं। वे एक ही समय बनाए हुए नहीं हैं। किन्तु जैसा मौका आया वैसे बनाए हुए हैं। बौद्धधर्मीय मानते हैं कि ये सब नियम गौतमबुद्धने स्वतः बनाए थे। परन्तु ये नियम सब स्थानों के भिक्षुओं को मालूम होने में देरी लगती थी और इस संधिकाल में नियमों के अज्ञान से क्वचित् किसी भिक्षु से प्रायश्चित्तार्ह अपराध हो जाता था। इस प्रकार का एक क्षुल्लक अपराध गौतम बुद्ध के जीतेजी कौशांबी नगर के एक भिक्षुसे हो जाने का उल्लेख महावग्ग और मज्झिमनिकाय ग्रंथोंमें आया है। इस अपराध के लिए वहां के भिक्षुओंने उसे बहिष्कृत (पालीः- उक्खेपण) किया भिक्षू का कहना था कि अज्ञान से यह अपराध हुआ अतः उत्क्षेपण की सजा अपराध के हिसाब से बहुत कडी है। दूसरे लोगोंने यह माना अतः वहां के भिक्षुओं में दो पक्ष हो गए। परन्तु गौतम बुद्ध उस समय जीवित थे अतः झगडा न बढा और जल्द ही शांत हो गया।

संबंधीयोंसे मतभेद।

दूसरे मतभेद का अवसर गौतम बुद्ध के जीवित रहते ही हुआ था। इसका वर्णन चुल्लवग्ग ग्रन्थ में आया है। गौतमबुद्ध के चचेरे भाई देवदत्त का मत था कि भिक्षुओं का आचार जैसा है उससे भी कडा होना चाहिए, और उसके लिए प्रत्यक्ष भिक्षुको (१) जन्मभर जंगल में ही रहना चाहिए, नगर में न रहना चाहिए; (२) भीखपर ही निर्वाह करना चाहिए, अन्य रीति से मिले हुए अन्नपर उपजीविका न करनी चाहिए; (३) घूरे पर टंगे हुए चिथडों का ही चीवर धारण करना चाहिए; (४) सदैव वृक्ष के नीचे ही रहना चाहिए, कभी भी किसी भी प्रकार के मकान में न रहना चाहिए; और (५) मत्स्य और मांस का सेवन कभी भी न करना चाहिए। देवदत्तने बिनती की थी कि गौतम बुद्धजी इस प्रकार के नियम भिक्षुओं के लिए निश्चित कर दें। परन्तु बुद्धजी ने उसे न माना क्यों कि बुद्धजी समझते थे कि इन नियमों का पालन करना प्रत्येक भिक्षु की इच्छा पर छोड देनेसे उसकी धार्मिक उन्नति होगी। देवदत्त को यह पसंद न आया अतः वह पांच सौ अनुयायियों के साथ गयाशीर्ष में चला गया।

शिष्योंमें मतभेद।

तीसरा प्रसंग बुद्ध निर्वाण के बाद करीब सौ वर्ष के पश्चात् हुआ। इस समय के मतभेद के कारण स्थविरवादी और महासंघिक नाम के दो पंथ हुए। वैशाली के वज्जि भिक्षुओं के मतानुसार आगे लिखीं दस बातें (पाली—दस वत्थूनि) करने को कोई रुकावट न होनी चाहिए, परन्तु दूसरों को यह बात पसंद नहीं थी। वे दस बातें इस प्रकार हैंः—

(१) सिंगलोण- अडचण के समय काम आने के लिए पोले किए हुए सींग में भरकर नमक ले जाने को इजाजत होनी चाहिए। इस प्रकार का वर्ताव प्रातिमोक्ष के पाचित्तिय प्रकरण के ३८ वें नियम के विरुद्ध होता है इससे वह स्थविरवादी लोगों को पसंद न था।

(२) द्वंगुलं-माध्यान्ह के बाद दो अंगुल छाया होने तक भिक्षु को भोजन लेने की इजाजत होवे। परन्तु स्थविरवादियों का मत था कि पाचित्तिय ३७ वें नियम के अनुसार माध्यान्ह के बाद भिक्षु भोजन नहीं कर सकता।

(३) गामान्तर- एक गांव में भीख मांग कर भोजन करने के पश्चात् पुनः पास के दूसरे गांव में जाकर भीख मांग कर भोजन करना। यह मत पाचित्तिय ३५ वें नियम के विरुध्द है।

(४) आवास- एक ही सीमा में दो स्थानमें उपोसथ के दिन प्रातिमोक्ष का पारायण करना। यह मत महावग्ग २. ८. ३. नियम के विरुध्द है।

(५) अनुमति- प्रथम कोई बात करके पश्चात संघ से उसके लिए अनुमति प्राप्त करना। यह महा-

वग्ग ९. ३. ५ के विरुद्ध है ;

(६) आचिण्ण- पहले हुई बात को प्रमाण मानना, Precedents as authoriy.

(७) अमथित- भोजन के बाद मही पीना। यह भी पाचित्तिय ३५ के विरुध्द है।

(८) जलोगी- ताडी बनने के पहले ताड के झाड का रस पीना। यह बात पाचित्तिय ५१ वे नियम के विरुध्द है।

(९) अदसकं नीसीदनं- उस आसन का उपयोग करना जिसमें धागे निकले न हों। यह बात पचित्तिय ८१ वें नियम के विरुध्द है।

(१०) जातरूपरजत- सोना और चांदी का स्वीकार। यह बात निस्सग्गिय १८ वें नियम के विरुध्द है।

इन दस बातों का निर्णय करने के लिए वैशाली में मुख्य मुख्य बौध्द भिक्षुओं की एक सभा (संगीति) हुई। इस सभा में निश्चय हुआ कि उक्त दसों बातें शास्त्र निषिध्द हैं। इससे वैशाली के भिक्षू क्रोधित हुए और वे विभक्त हो गए। इन्ही को महा संघिक कहते हैं।

तत्त्वज्ञान के भेद।

बौध्दों के तत्त्वज्ञान विषयक मतभेद के कारण प्रस्थान भेद हुआ। बुध्द के जीवन कालमें एक ही धर्म नायक सबका शासक था। पर निर्वाण के बाद ऐसा शासक कोई न रहा। भगवान् बुध्द स्वयं कहते हैं कि " मेरे निर्वाण के बाद धर्म ही तुह्मारा शासक है।"

यो वो आनन्द मया धम्मो च विनयो च देसितो
पञ्चतो सो वो ममच्चयेन सत्था॥

(दीघनिकाय, १६ - ६ - १)

बुद्धजी ने सुना था कि महावीरजी के निर्वाण के अनंतर जैन धर्मियों में मतभेद हुआ था। यह बात मज्झिमनिकाय के सामगामसुत्तसे मालूम होती है। तब भी बुद्धजी का अपने धर्मपर तथा अपने अनुयायियों पर इतना दृढ विश्वास था कि वे समझते थे कि बिना शासक के भी सब काम ठीक ठीक चलेगा। परन्तु बुद्धजी का यह विश्वास अयोग्य था यह बात बुद्ध निर्वाण के पश्चात् की बातों ने सिद्ध की है।

अनुयायियोंमें भेद।

बौद्ध धर्म में ऐसे भी उदाहरण हैं जिनमें किसी भिक्षू के पास शिष्य वर्ग इकत्रित हो जाने से प्रस्थान हुए। बुद्धजीने भिन्न भिन्न अवसर पर प्रसिद्ध किया था कुछ प्रधान शिष्य अमुक अमुक विषय के लिए प्रसिद्ध हैं। संयुक्त निकाय में बुद्धवचन है कि सारिपुत्त, महामोग्गलान, महाकस्सप, कच्चायन, राहुल, आनन्द और उपालि आदि शिष्य विशिष्ट विषयों में पारंगत हैं और उनके शिष्यसमुदायों में भी गुरू की विशिष्टता कायम है। इस शिष्यवर्ग में एक प्रकार का एकांगीपन था अतः वे अपने गुरु को छोड दूसरों के मत मानते न थे। और कालान्तर में उस उस गुरु के नामसे एक एक नया पंथ उत्पन्न हुआ। बुद्ध निर्वाण के करीब एक हजार वर्ष बाद जब चीनी यात्री हुएनत्संग हिन्दुस्थान में आया, उस समय उसने देखा कि अभिधर्म पिटक का अध्ययन करनेवाले भिक्षु खास खास दिन सारिपुत्त की पूजा करते थे, भिक्षुणियां आनन्द की पूजा करती थीं, और महायन पंथी लोग मंजुश्री और अन्य बोधिसत्व की पूजा करते थे।

ग्रंथ विभागके अध्ययनसे भेद।

बौद्धों का त्रिपीटक विस्तृत है। अतः उसे मुखोद्गत करना सब के लिए असंभव था। धीरे धीरे भिक्षुवर्ग में सुत्तन्तिक अर्थात् सुत्तपिटक का अध्ययन करनेवाले विनयधर अर्थात् विनय पिटक का अध्ययन करनेवाले, मतिकाधर अर्थात् अभिधम्मपिटक का अध्ययन करनेवाले, दीघभाणक, माज्झिम भाणक, आदि विशिष्ट भाग का ही अध्ययन करनेवाले भिक्षु नजर आने लगे। यद्यपि बहुश्रुत एवं संपूर्ण त्रिपिटक का अध्ययन करनेवाले भिक्षुओं की महत्ता को सब लोग मानते थे तब भी भिक्षुओं में ऐसी प्रवृत्ति देखाई देने लगी कि हम जिस भाग का अध्ययन करते हैं वही भाग मुख्य तथा अधिक महत्व का है। धम्मकथिक और विनयधर का झगडा तो स्वयं बुद्धजीनें मिटाया था। एक वर्ग दूसरे वर्गसे ईर्ष्या करता था। चुल्लवग्ग में कहा है कि सभा

आदि स्थानों में प्रयत्न इस बात का किया जाता था कि अपने ही पंथ को अग्रस्थान मिले।

भाषाके कारण भेद।

वेदों की भाषा संस्कृत थी। इससे साधारण जनता इसे समझती न थी। बुद्धजीने कहा है कि अपने धर्मग्रंथ देशवासियों की भाषा में ही लिखे जावें जिससे अपना धर्म सब लोगों की समझ में अच्छी प्रकार से आ जावे तथा भिक्षु भी धर्मोपदेश लोक भाषा में करें। इससे त्रिपीटक भिन्न भिन्न भाषाओं में लिखा गया। अब तक पाली भाषा को छोड अन्य किसी भाषा में लिखा हुआ संपूर्ण त्रिपीटक नहीं मिला, तब भी जो भाग अब तक मिले हैं उनकी तुलना से विदित होता है पंथ भेद होने का एक कारण भाषा भेद भी रहा होगा। भिक्षु तारानाथ ने तिब्बति भाषा में जो बौद्ध धर्म का इतिहास लिखा है उससे मालूम होता है कि स्थविर वादियों का त्रिपिटक पाली भाषा में, महासंघकों का पैशाची भाषा में, सर्वास्तिवादियों का संस्कृत भाषा में और सांमितियों का अपभ्रंश भाषा में लिखा गया था। इस प्रकार की भिन्न भिन्न भाषा ओं में लिखी हुई संहिताओं से यद्यपि आरंभ में धर्म प्रसार का कार्य सुलभ हुआ तथापि इस भाषाभेद के कारण ही, मालूम होता है प्रत्येक पंथ को यही लगता होगा कि हमारी संहिता ही सत्य है और अन्य संहिताओं का प्रामाण्य कम दर्जे का है।

जैसा कि इस लेख के आरंभ में कहा गया है भिन्न भिन्न वैदिक विधि और देह-दण्डन आदि तपस्या के प्रकार कम करने के उद्देश्य सेही गौतम बुद्ध ने अपने धर्म की स्थापना की और उसमें जितना बन सका सादापन लाने की चेष्टा की गई। स्वयं बुद्धजीका विश्वास था कि तपस्या से देहदण्डन से निर्वाण प्राप्ति असंभव है। तब भी जैसे जैसे बुद्ध का अनुयायी वर्ग बढने लगा वैसे ही वैसे उनके पूर्व संस्कारों ने बल पकडा और उन्हे तपस्या विधि आदि के बिना बेचैनी सी मालूम होने लगी। तपस्या के कुछ प्रकारों को धुतङ्ग कहते हैं। बुद्धजीने भी इन धुतङ्गों की प्रशंसा की है। यद्यपि इस कारण से पंथ भेद होने के उदाहरण कम हैं, तब भी बौद्ध धर्म का स्वरूप धीरे धीरे बदलने में यह एक महत्व का कारण निःसंशय हुआ। महायान और हीनयान नाम के दो पंथ मुख्यतः इसी मतभेद के कारण हुए कि तपस्या का अंतिम साध्य बुद्धत्व है या बोधिसत्त्वत्व है। इन दो पंथों में भी आगे चलकर अन्य मतभेद उत्पन्न हुए।

बौद्ध धर्म का प्रसार जैसे जैसे देशभरमें होने लगा वैसे ही वैसे भिन्न भिन्न स्थानों में विहार बनने लगे और वहां के किसी प्रसिद्ध भिक्षुके पास शिष्य समुदाय इकट्ठा होने लगा। इन विहारों का और भिक्षुओं का अन्य देश के भिक्षुओं से विशेष संबंध न रहा। इससे पूर्वशैलीय, अपर शैलीय, राजगिरीय, हैमवत आदि पंथ उत्पन्न हुए। ताम्रशाटीय नामक पंथ तो केवल भिक्षुओं की शाटी के रंगके कारण ही उत्पन्न हुआ।

इन बाह्य कारणोंके सिवा तत्त्वज्ञान संबंधी महत्व की बातों पर मतभेद होने से कई पंथ निर्माण हुए थे, परन्तु उन सब का उल्लेख इस स्थान पर करने की आवश्यकता नहीं। हीनयान और महायान नामके बौद्धोंके दो पंथ आज भी विद्यमान हैं उनके उपपंथों का उल्लेख तथा सौत्रांतिक, वैभाषिक, माध्यमिक और योगाचार इन चार पंथों का खंडन शांकरभाष्य में भी आया है। हिन्दुस्थान के बाहर इस धर्म का प्रचार हो जाने पर खासकर चीन और जापान में यह धर्म पहुंचनेपर वहां भी भिन्न भिन्न पंथ उत्पन्न हुए। परन्तु विस्तार के भय से उनका हाल यहां नहीं दिया जा सकता। इस प्रकार बौद्धों के प्रस्थानभेदों की कारणमीमांसा आज यहीं समाप्त की जाती है।

जो लोग मानते हैं कि बौद्ध धर्म ने ब्राह्मण धर्म के वर्णभेद तोडदिए और सबको समता की सतह पर स्थित किया वे इस लेख का मनन करें जिससे उन्हे विदित होगा कि समता के लिए अवतीर्ण हुए बौद्ध धर्म में ही विषमता किस प्रकार हुई।

———o———

स्वागतम् !

१ आविष्कारविज्ञान

(ले० श्री. उदयभानुशर्माजी । प्रकाशक श्री मध्य भारत हिंदी साहित्य समिति, इन्दौर, मूल्य ॥=)

श्री. उदयभानुजी हिंदी के प्रसिद्ध लेखक हैं। "संकल्प शक्ति" के ऊपर आपकी एक उत्तम पुस्तक प्रकाशित हुई है। उसी प्रकार यह पुस्तक भी बडी लाभकारी सिद्ध होगी। इस पुस्तक में अन्तर्जगत्, इन्द्रियां, ध्यान, मेधाविभाग, बोध,इत्यादि विषयोंपर अतिसुबोध और बोधप्रद लेख आगये हैं। इस विज्ञान का अभ्यास करनेवालों को यह पुस्तक बडी उपयोगी है।

२ तपेदिककी यज्ञद्वारा चिकित्सा

(ले० डा० फुन्दनलाल. मूड. बरैली। प्रकाशक श्री. बाबू राजकुमार सक्सेना, स्टेशनमास्तर, लखनऊ सिटी.)

यह अत्यन्त उपयुक्त पुस्तक डाक्टरसाहेब द्वारा लिखी गई है। भाषाके सुप्रसिद्ध पत्रों में इस विषय के इनके लेख प्रसिद्ध हो चुके हैं। डाक्टरसाहेब के इस प्रयत्नके लिये हम उनका धन्यवाद करते हैं। क्यों कि यह विषय अत्यंत महत्त्वका है और यज्ञसे रोगनिवारण के विषयमें यदि कुछ निश्चित विज्ञान प्राप्त हुआ तो जनता के ऊपर महा उपकार हो सकता है।

३ वैदिक विवाह पद्धति।

(ले०श्री. पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय तथा पं. सत्यव्रत उपाध्याय। प्र० ट्रैक्ट विभाग, चौक, प्रयाग। मूल्य. ।-)

वैदिक विवाहविधी नामक इस पुस्तकमें विवाह संस्कार के प्रयोग प्रकरणशः लिखे हैं। कोई मनुष्य इस पुस्तक को पढ कर विवाहसंस्कार उत्तम प्रकार कर सकता है। इस पुस्तकको देखकर हम लेखकों से सानुरोध प्रार्थना करते हैं, कि वे सोलह संस्कारोंके ऊपर इसी प्रकारके पुस्तक लिखें। हमें आशा है कि ऐसे पुस्तकों से संस्कार करना सुगम हो जायगा।

४ कर्ण वेधमहिमा

(ले० श्री आत्मारामजी अमृतसरी,कन्यागुरुकुल इटोला बडोदा। प्र. जयदेव ब्रदर्स बडोदा। मूल्य=)

कर्ण वेध संस्कार से जो लाभ हो सकते हैं उनका संग्रह इस पुस्तक में है। पाठक इस ज्ञान के लिये इस पुस्तक को अवश्य पढें।

५ योग जीवन

(ले० श्री स्वा. अभयानन्दजी सरस्वती। योग मंडल, काशी। मू. ।) योगसुलभमालाका यह पहिला पुष्प है। इसकी भाषा अति सुबोध होनेसे इसके पाठसे लोग बहुत लाभ उठा सकेंगे।

यम और पितर।

[ले०-श्री. पं. मंगलदेव (तडित्कान्त) जी वेदालंकार (गु. कु. काङ्गडी) स्वाध्याय मंडल, औंध]

(गताङ्कसे आगे)

२ पितरोंके कार्य।

इस लेखमें पितरों के जो कार्य दर्शाए जायंगे उससे यह परिणाम कदापि नहीं निकालना चाहिए कि पितरोंके कार्य प्रदर्शक मंत्र इतने ही हैं और येही पितरोंके कार्य हैं। पितरोंके अन्य विशेष कार्य दर्शानेवाले और भी बहुतसे मंत्र हैं परन्तु वे अन्य प्रकरणों के लिए अधिक उपयुक्त होनेसे उनको वहीं दिया जायगा।

१ रक्षा करना

उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः। असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥ ऋ. १०।१५।१ ॥
यजुः अ० १९।४९ ॥
अथर्व० १८।१।४४ ॥

अर्थ- (सोम्यासः) सोम संपादन करनेवाले (अवरे उत् मध्यमाः उत् परासः पितरः) कनिष्ठ, मध्यम तथा उत्कृष्ट पितर (उत् ईरताम्) उन्नति करें। (ये अवृकाः ऋतज्ञाः) जिन हिंसारहित सत्य वा यज्ञ के जाननेवाले पितरोंने (असुं ईयुः) प्राण, बल वा जीवनको प्राप्त कर लिया है (ते पितरः) वे पितर (हवेषु) संग्रामोंमें-युद्धोंमें वा बुलाए जानेपर (नः अवन्तु) हमारी रक्षा करें।

गन्धर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितॄन्। दृष्टानदृष्टानिष्णामि यथा सेनाममूं हनन् ॥
अथर्व० ८।८।१५ ॥

अर्थ- (गंधर्वाप्सरसः) गन्धर्व तथा अप्सराओंको, (सर्पान्) सर्पोंको, (देवान्) देवोंको (पुण्य जनान्) पुण्यजनोंको, (पितॄन्) पितरों को (दृष्टान् अदृष्टान्) चाहे ये देखे हुए हों या न हों इन सब को (इष्णामि) प्राप्त करता हूं। (यथा) जिससे कि ये सब (अमूं सेनां) उस शत्रु सेनाको (हनन्) मार डालें-नष्ट कर दें।

वनस्पतीन् वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः। गन्धर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितॄन्। सर्वांस्तां अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्रदर्शय ॥ अथर्व० ११।९।२४

अर्थ- (वनस्पतीन्) वनस्पतियोंको, (वानस्पत्यान्) वनस्पतियोंसे उत्पन्न पदार्थोंको (ओषधीः) औषधियोंको (उत) और (वीरुधः) लताओंको (गंधर्वाप्सरसः) गंधर्व तथा अप्सराओंको (सर्पान्) सर्पोंको (देवान्)देवोंको(पुण्यजनान्) पुण्यजनोंको (पितॄन्) पितरोंको (तान् सर्वान्) इन सबको तथा (उदारान्) उदारोंको (अर्बुदे) हे अर्बुदि! (त्वं) तू (अमित्रेभ्यः दृशे कुरु) शत्रुओंके देखने लिए कर। अर्थात् इन्हें शत्रुओंको दिखा, ता कि ये शत्रुओं का विनाश करें। इनकी घातक शक्तिका उपयोग शत्रुओंके लिए हो।

अर्बुदिका अर्थ ऐतरेय ब्राह्मणने इस प्रकार किया है- ' अर्बुदः काद्रवेयः सर्पऋषिः मंत्रकृत् ' (ऐ. ब्रा. ६।१) अर्बुदनामका कोई सर्पऋषि था उसका पुत्र अर्बुदि। ' अतइञ् ' इस सूत्रसे इञ्। 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' इस नियमानुसार आदि वृद्धि न होकर अर्बुदि बनता है। क्षेमकरणदासजीने इसका अर्थ सेनापति किया है। ' अर्व गतौ हिंसायां' इस धातुसे उदिच् प्रत्यय करनेसे अर्बुदि बनता है।

उदारका अर्थ क्षेमकरण दासजीने गंभीर उपाय-

वाले ऐसा अर्थ किया है पर सायणाचार्यने इसका अर्थ ' अंतरिक्षचर राक्षस व पिशाच अथवा सूर्य. रश्मिसे होनेवाले उल्कादि पात यानि आंतरिक्ष उत्पात ' ऐसा किया है। इस अर्थ की पुष्टि में उन्होंने तै० ब्रा० का प्रमाण दिया है कि ' तस्मात् ते पानाद् उदारा अजायन्त ' तै० ब्रा० २।२।९।२॥ 'उत् आरयन्ति आर्तं उद्गारयन्ति इति उदाराः।'

अस्तु, उदार शब्द का कुछ भी अर्थ माना जाए, तो भी हमारे उद्देश में उससे किसी भी प्रकार की क्षति नहीं पहुंचती। उदार शब्द का विचार करने के लिए पाठकों के सामने उपरोक्त दोनों मत रखे हैं।

इन उपरोक्त मंत्रों से स्पष्ट पता चलता है कि पितर युद्ध में हमारी रक्षा करते हैं। हमारे शत्रुओं से लडकर उनका विनाश कर हमें बचाते हैं। इन उपरोक्त मंत्रों में पितरों की युद्ध विषयक रक्षा का विधान है। अब हम ऐसे मंत्र पेश करते हैं कि जिनमें सामान्य रक्षा का विधान है।

> अवन्तु नः पितरः सु प्रवाचनाः उत देवी देवपुत्रे ऋतावृधा। रथं न दुर्गाद्वसवः सुदानवो विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपर्तन॥
>
> ऋ. १।१०६।३॥

अर्थ- (सुप्रवाचनाः पितरः नः अवन्तु)उत्तम प्रवचन करनेवाले पितर हमारी रक्षा करें। (उत) और (देवपुत्रे ऋतावृधा देवी) देव अर्थात् सूर्य व चन्द्रमा जिनके पुत्र - रक्षक - हैं तथा जो सत्य से बढने वाली हैं ऐसी द्यावा पृथिवी भी हमारी रक्षा करें। हे (सुदानवः) उत्तम दानवाले (वसवः) वसुओ! (दुर्गात् रथं न) दुर्गमनीय स्थान से रथ की तरह तुम (विश्वस्मात् अंहसः) सब पापों से (नः निष्पिपर्तन) हमें निकालकर पालो।

> अवन्तु मामुषसो जायमाना अवन्तु मा सिन्धवः पिन्वमानाः। अवन्तु मा पर्वतासो ध्रुवासो ऽवन्तु मा पितरो देवहूतौ॥
>
> ऋ० ६।५२।४॥

अर्थ- (जायमानाः उषसः मां अवन्तु) उत्पन्न होती हुई उषायें मेरी रक्षा करें। (पिन्वमानाः सिन्धवः मा अवन्तु) जलका सिंचन करती हुई नदियां मेरी रक्षा करें। (ध्रुवासः पर्वतासः मा अवन्तु) निश्चल पर्वत मेरी रक्षा करें, और (देव हूतौ) देवों के अह्वान करने में (पितरः) पितृगण (मा अवन्तु) मेरी रक्षा करें।

इस प्रकार इस मंत्र में पितरों को देवों के आह्वान के कार्य में रक्षा करने के लिए कहा गया है।

> इन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्तात्पातु प्रचेतास्त्वा रुद्रैः पश्चात्पातु मनोजवास्त्वा पितृभिर्दक्षिणतः पातु विश्वकर्मा त्वादित्यैरुत्तरतः पात्विदमहन्तप्तं वा र्बहिर्द्धा यज्ञान्निःसृजामि॥
>
> यजुः अ० ५।११॥

अर्थ- (इन्द्रघोषः त्वा वसुभिः पुरस्तात् पातु) इन्द्र की वाणी तेरी आगेसे वसुओं द्वारा रक्षा करे। (प्रचेताः रुद्रैः त्वा पश्चात् पातु) प्रचेता रुद्रोंद्वारा तेरी पीछेसे रक्षा करे। (मनोजवाः पितृभिः त्वा दक्षिणतः पातु) मनोजव पितरों द्वारा तेरी दक्षिण से रक्षा करे। (विश्वकर्मा आदित्यैः त्वा उत्तरतः पातु) विश्वकर्मा आदित्यों द्वारा तेरी उत्तर से रक्षा करे। (अहं) मैं (इदं तप्तं वाः) यह गरम जल (यज्ञात्) यज्ञसे (बहिर्द्धा) बाहिरकी ओर (निःसृजामि) फैंकता हूं।

पितर हमारी दक्षिण दिशासे रक्षा करते हैं, अर्थात् दक्षिण दिशासे आनेवाले विघ्नों को पितर दूर करते हैं ऐसा इस मंत्र से सूचित होता है।

निम्न मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि पितर किन किन कार्योंमें हमारी रक्षा करते हैं। मंत्र इस प्रकार है।-

> पितरः परे ते मावन्तु। अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ अथर्व० ५।२४।१५॥

अर्थ- (ते) वे (परे पितरः मा अवन्तु) पूर्वकालीन वा उत्कृष्ट पितर मेरी निम्न कर्मोंमें रक्षा करें। (अस्मिन् ब्रह्मणि) इस ब्रह्मयज्ञमें। (अस्मिन्

कर्मणि) इस कर्मयज्ञमें। (अस्यां पुरोधायां) इस पुरोहितके (Leading) कार्य में। (अस्यां प्रतिष्ठायाम्) इस प्रतिष्ठामें। (अस्यां चित्याम्) इस चेतनायुक्त कार्योंमें। (अस्यां आकूत्याम्) इस संकल्प में। (अस्यां आशिषि) इस आशीर्वाद कार्यमें (अस्यां देवहूत्यां) इस देवोंके आह्वानमें। (स्वाहा)।

इस प्रकार हमने इन मंत्रोंसे देखा कि कहां कैसे पितर हमारी रक्षा का कार्य करते हैं। अब हम पितरों के अन्य कार्योंपर दृष्टि डालते हैं।

२ सूर्य प्रकाश देना

अस्माकमत्र पितरो मनुष्या अभिप्रसेदु ऋर्तं माशुषाणाः। अश्मव्रजाः सुदुघा वव्रे अन्तरुदुस्रा आजन्नुषसो हुवानाः।

ऋ० ४।१।१३ ॥

अर्थ- (अत्र) यहां (ऋतं आशुषाणाः) यज्ञ वा सत्यको प्राप्त करते हुए(मनुष्याः पितरः) मननशील पितर (अभिप्रसेदुः) प्रसन्न होते हैं, और (अश्मव्रजाः सुदुघाः) मेघों में गमन करनेवालीं, सुखसे कामनाओं को पूर्ण करनेवालीं (उषसः) उषाओं को (हुवानाः) बुलाते हुए (वव्रे अन्तः) अन्धकार में (उस्राः) सूर्य किरणोंको (उत् आजन्) प्राप्त करते हैं। अथवा अंधकारमें सूर्य की किरणें फेंकतें हैं यानि सूर्य किरणों द्वारा सर्वत्र प्रकाश करते हैं।

एवं इस मंत्रमें पितरोंका सूर्य प्रकाश देना बताया गया है।

अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमाशुषाणाः। शुचीदयन् दीधिति-मुक्थशासः क्षामाभिन्दन्तो अरुणीरपव्रन् ॥

ऋ० ४।२।१६ ॥ तथा यजुः अ० १९।६९॥

यह मंत्र अथर्व में थोडेसे पाठभेदके साथ निम्न प्रकारसे आया है।

अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमाशशानाः। शुचीदयन् दीध्यत उक्थशासः क्षामा भिन्दन्तो अरुणीरपव्रन्॥

अथर्व० १८।३।२१ ॥

अर्थ इस प्रकार है- (यथा नः परासः प्रत्नासः पितरः) जैसे हमारे श्रेष्ठ पुराने पितरोंने (ऋतमाशुषाणाः) सत्य वा यज्ञ को प्राप्त करते हुए (शुचि-दीधिति) शुद्ध सूर्य किरणको (इत्) ही (अयन्) प्राप्त किया था और (उक्थशासः) उक्थों से प्रशंसा-स्तुति करते हुए (क्षामा=क्षाम) क्षयकारी अंधकारको (भिन्दन्तः) नष्ट करते हुए (अरुणीः) उषाओं की किरणोंको (अपव्रन्) प्रकाशित किया था, उसी प्रकार हे अग्ने! तूभी कर।

उक्थ वेदों के खास सूक्तों का नाम है। ब्राह्मणों व उपनिषदोंमें उक्थ शब्द प्राणके लिए भी आता है। कहीं कहीं अन्न प्रजा आदिके लिए भी प्रयुक्त हुआ हुआ है।

क्षामा=क्षाम। 'संहितायां' से दीर्घ हुआ हुआ है। यद्यपि क्षाम शब्दका पाठ निघण्टु में पृथिवी वाचक नामोंमें किया हुआ है तथापि यहां क्षाम शब्दका अर्थ प्रसंगसे 'अंधकार' ही करना उचित है और यही ठीक जंचता है। इसके अतिरिक्त इस विभागमें दिए गए सब मंत्रभी इसी अर्थको पुष्टकर रहे हैं। पृथिवी को भेदन करने का यहां कोई संबन्ध प्रतीत नहीं होता।

अरुणीका अर्थ उषःकालकी किरणें ऐसा है। 'अरुण्यः गावः उषसाम्' अर्थात् उषाओं की किरणोंका नाम अरुणी है। निघण्टुः १।१५ ॥

इसी प्रकार निम्न मंत्रभी उपरोक्त मंत्र के कथन को ही पुष्ट कर रहा है।-

त इद्देवानां सधमाद आसन्नृतावानः कवयः पूर्व्यासः। गूळ्हं ज्योतिः पितरो अन्वविन्द न्सत्यमंत्रा अजनयन्नुषासम् ॥

ऋ. ७।७६।४ ॥

अर्थ— (ते इत् ऋतावानः, कवयः, पूर्व्यासः, सत्यमंत्राः, पितरः) वे ही सत्ययुक्त, क्रान्तदर्शी,पूर्व कालीन, सत्य मंत्रणावाले पितर (देवानां सधमादः आसन्) देवोंके साथ मिलकर आनन्दित होने वाले थे कि जिन पितरोंने (गूळ्हं ज्योतिः) छिपे हुए प्रकाश को (अनु अविन्दन्) प्राप्त किया और (उषासं) उषाको (अजनयन्) उत्पन्न किया।

इस प्रकार इस मंत्रमें भी पितरों के उषा पैदा करके सूर्य प्रकाश देनेकी बात को कहा गया है।

वीळु चिद्दृळ्हा पितरो न उक्थैरद्रिं रुजन्नङ्गिरसो रवेण । चक्रुर्दिवो बृहतो गातुमस्मे अहः स्वः विविदुः केतुमुस्राः ॥
ऋ. १।७१।२ ॥

अर्थ-- (नः अङ्गिरसः पितरः) हमारे अङ्गिरस पितरोंने (उक्थैः) शस्त्रोंसे, (रवेण) और उक्थ अर्थात् वेदके स्तोत्रोंसे उत्पन्न घोषसे (वीळु चित्) बलवान् तथा (दृळ्हा) दृढ (अद्रिं) मेघको (रुजन्) तोड गिराया । अर्थात् वेद मंत्रोंके पाठसे इतना बडा शब्द हुआ कि उससे बादल टूट कर नीचे आगिरे । और तब (बृहतः दिवः गातुं चक्रुः) बडे भारी द्युलोकमें से मार्ग बनाया । और इस प्रकार (अस्मे) हमारे लिए (स्वः अहः केतुं) सुख से प्रापणीय सूर्यको तथा (उस्राः) सूर्य किरणों को (विविदुः) प्राप्त किया ।

इस मंत्रमें उक्थों की महिमा का वर्णन किया गया है और साथही में उन उक्थों की सहायतासे पितरोंने हमारे लिए दिन व सूर्य को प्राप्त किया जिससे कि हमें प्रकाश प्राप्त हो सके, यह दर्शाया गया है । पितर बादलों को हटाकर उन्हें छिन्न भिन्न कर हमारे लिए सूर्य प्रकाश पहुंचाते हैं यह इससे स्पष्ट होता है । उपरोक्त मंत्रके इसी भावको निम्न मंत्रभी प्रकट कर रहा है ।-

स वर्धिता वर्धनः पूयमानः सोमो मीढ्वाँ अभि नो ज्योतिषावीत् । येना नः पूर्वे पितरः पदज्ञाः स्वर्विदो अभि गा अद्रिमुष्णन् ॥
ऋ. ९।९७।३९ ॥

अर्थ— (सः) वह (वर्धनः) बढता हुआ (वर्धिता) बढानेवाला (पूयमानः) पवित्र करता हुआ (मीढ्वान्) सुख वा कामनाओंका वर्षक (सोमः) सोम (नः ज्योतिषा अभि आवीत्) हमारी प्रकाशसे चारों ओर से रक्षा करे । (येन) जिस सोमसे कि (नः पदज्ञाः, स्वर्विदः,पूर्वे पितरः) हमारे परम पदको जाननेवाले, व सूर्यको जाननेवाले पूर्व पितरोंने (गाः) किरणोंको (अभि=अभिलक्ष्य) उद्देश्य करके अर्थात् किरणों की प्राप्तिका उद्देश्य करके (अद्रिं उष्णन्) मेघका अपहरण किया अर्थात् उसे दूर हटाया जिससे कि सूर्य किरणों के आनेमें रुकावट न हो ।

पूर्व मंत्रोक्त भावको इस मंत्र में भिन्न रूपसे दर्शाया गया है । उसी बातकी यह मंत्र पुष्टि करता है। 'स्वर्विदः' का अर्थ है सूर्य को जाननेवाले । द्युलोक कोभी स्वः कहते हैं अतः द्युलोक को जाननेवाले भी अर्थ है । यास्काचार्य भी यही अर्थ स्वीकार करते हैं । उन्होंने स्वः शब्दका निर्वचन निरु० अ० २। पा० ४। खण्ड १४ में निम्न प्रकारसे किया है-

"स्वः आदित्यो भवति। सु अरणः, सु ईरणः,स्वृतो रसान्, स्वृतो भासं ज्योतिषां, स्वृतो भासेति वा। एतेन द्यौर्व्याख्याता ।" अर्थात् स्व आदित्यका नाम है क्योंकि यह सूर्य (सु- अरणः सु ईरणः) पूर्णतया अंधकार को दूर भगानेवाला है।

सु अर् = स्वः । अथवा 'स्वृतो रसान्' यह रसों के प्रति ग्रहण के लिए जाता है । सूर्यका रस लेना प्रसिद्ध ही है । सूर्य के रस लेने की बात को कालिदास ने रघुवंश में इस प्रकार कहा है—

' सहस्रगुणमुत्स्रष्टुं आदत्ते हि रसं रविः '

अर्थात् सूर्य हजार गुणा वापिस करने के लिए रसों को पृथिवी परसे लेता है । सु पूर्वक ऋगतौ। सु+अर् = स्वः । अथवा ' स्वृतो भासं ज्योतिषां ' अर्थात् चन्द्रादि प्रकाशमानों को प्रकाशित करने वाला । अथवा ' स्वृतो भासा ' दीप्ती से युक्त होने से सूर्य का नाम स्वः है । इसीसे द्युलोक की भी व्याख्या हो गई ऐसा समझना चाहिए ।

इस मंत्र में पितरों को सूर्य का जाननेवाला कहा गया है अतः इससे यह अनुमान निकाला जा सकता है कि संभव है पितर सूर्यलोक में भी विचरण करते हों । पितरों की सूर्य से घनिष्ठता प्रतीत होती है । इसके अतिरिक्त हमें पितृयाण के प्रकरण में एक ऐसा मंत्र भी मिला है जिस में कि पितरों की सूर्य किरणों के साथ सहप्राप्ति व सहगमन बताया गया है यहांपर पितरों को सूर्य को जाननेवाले बतलाया गया है । अतः इन दोनों बातों को लक्ष्य में रखकर विचारने से ऐसा प्रतीत होता है कि पितर पृथिवी लोक से सूर्य किरणों के साथ

सूर्य लोकमें जाते हैं और वहां से फिर द्युलोक में स्थित पितर लोक में जाते हैं। अतः संभव है यही पितृयाण मार्ग हो। अस्तु, तथापि इस विषय में निश्चित कहना तबतक कठिन है जबतक कि और कोई अधिक स्पष्ट प्रमाण न मिले। अभीतक यह बात पर्याप्त खोज के लिए अवकाश रखती है। उपरोक्त दोनों मंत्रों के भाव को निम्न मंत्र और भी स्पष्ट रूपमें पुष्ट कर रहा है-

अभिश्यावं न कृशनेभिरश्वं नक्षत्रेभिः पितरो द्यामपिंशन्। राज्यां तमो अदधुर्ज्योतिरहन् बृहस्पतिर्भिनदद्रिं विदद्गाः॥ ऋ० १० ।६८।११॥
तथा अथर्व० २० । १६ । ११

अर्थ- (बृहस्पतिः अद्रिं भिनत्) जब बृहस्पतिने मेघको तोड गिराया और (गाः विदत्) सूर्य किरणों को प्राप्त किया तब (कृशनेभिः श्यावं अश्वं न) जैसे सुवर्ण के अलंकारों से काले घोडे को शोभायमान किया जाता है वैसे (पितरः) पितरोंने (नक्षत्रेभिः द्यां अपिंशन्) पितरोंने नक्षत्रों द्वारा द्युलोकको दीप्त किया व शोभायमान किया। और फिर (राज्यां तमः अदधुः) रात्रिमें अंधकारको रखा तथा (अहन् ज्योतिः अदधुः) दिनमें प्रकाश को स्थापित किया। अतएव दिनमें प्रकाश होता है और रातमें अंधेरा। इस प्रकार इस मंत्रमें 'प्रकाश व अंधेरा पितर करते हैं' यह दर्शाया गया है।

आविरभून्महि माघोनमेषां विश्वं जीवं तमसो निरमोचि। महि ज्योतिः पितृभिर्दत्तमागादुरुः पन्था दक्षिणाया अदर्शि॥
ऋ० १०।१०७।१॥

अर्थ- (एषां माघोनं महि आविरभूत्) इन पितरोंका मघवा संबन्धी महान् प्रकाश प्रकट हुआ, और प्रकट होकर उसने (विश्वं जीवं) सारे संसारको (तमसः निरमोचि) अंधकारसे छुडाया। (पितृभिः दत्तं महि ज्योतिः आगात्) वह पितरों से दिया हुआ प्रकाश आया और आकर उसने (दक्षिणायाः उरुः पन्थाः अदर्शि) दक्षिणा का विस्तृत मार्ग दर्शाया।

'माघोनं' का अर्थ है मघवा अर्थात् इन्द्र संबन्धी प्रकाश। सूर्य की चैत्र मासमें इन्द्र संज्ञा होती है अर्थात् सूर्य चैत्रमास में इन्द्र कहलाता है। अतएव माघोनं का यहां अर्थ सूर्य का प्रकाश ऐसा किया है। इसके अतिरिक्त प्रकृत प्रकरण भी इसी अर्थ की पुष्टि करता है।

इस मंत्रमें पितरों के प्रकाश देनेके महत्व को दर्शाया गया है। इन उपरोक्त मंत्रोंके देखनेसे हमें स्पष्ट पता चलता है कि पितरोंका काम उषाओंका उत्पन्न करना, अन्धकारको दूर करके सूर्यप्रकाश प्राप्त करना, तथा बादलोंको तोड फोडकर उनसे छिपे हुए प्रकाश को प्राप्त करना है। द्युलोक को नक्षत्रोंसे सुशोभित करके दिनरात बनानाभी पितरों का कार्य है। इस प्रकार पितर सूर्य प्रकाश प्रदाता हैं यह हमने देखा।

३ पापसे छुडाना

अरायान् ब्रूमो रक्षांसि सर्पान् पुण्यजनान् पितॄन्।
मृत्यूनेकशतं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥
अथर्व ११।६।१६

अर्थ- (अरायान्) न दान देनेवालोंको, (रक्षांसि) राक्षसोंको, (सर्पान्) सर्पोंको, (पुण्यजनान्) पुण्यजनोंको और (पितॄन्) पितरोंको (ब्रूमः) कहते हैं तथा (एकशतं मृत्यून्) एकसौ मृत्युओंको (ब्रूमः) कहते हैं कि (ते) वे सब (नः अंहसः) हमें पापसे (मुञ्चन्तु) छुडावें।

यहांपर अन्यों के साथ पितर भी पापसे छुडाते हैं यह दर्शाया गया है।

४ सुख व कल्याण करना

विश्वामित्र जमदग्ने वसिष्ठ भरद्वाज गोतम वामदेव। शर्दिर्नो अत्रिरग्रभीन्नमोभिः सुसंशासः पितरो मृडता नः॥ अथर्व. १८।३।१६॥

अर्थ- हे (विश्वामित्र) सबके मित्र, (जमदग्ने) हे अग्निके प्रकाशक, (वशिष्ठ) हे अतिशय श्रेष्ठ, (भरद्वाज) हे अन्नबल धारक, (गोतम) हे उत्तम स्तोता, (वामदेव) हे प्रशंसनीय व्यवहारवाले, (सुसंशासः) उत्तम तथा स्तुति करने योग्य (पितरः) पितरो! तुम (नः मृडत) हमें सुखी करो क्योंकि (शर्दिः अत्रिः) बलविशिष्ट अत्रिने (नमोभिः)

अन्नोंसे हमें (अग्रभीत्) ग्रहण किया है अर्थात् वह हमें अन्न देता है।

अथवा शर्दिः=छर्दिः=घर। शर्दिका अर्थ घरकरने पर छर्दिका विभक्ति व्यत्यय करना पडेगा। शर्दिः= शर्दिम्। इस अवस्था में तृतीय पादका अर्थ होगा कि क्यों कि अत्रिने हमारे घरोंको अन्नोंसे भर दिया है अतः हे उपरोक्त विशेषण विशिष्ट पितरो हमें सुखी करो। अत्रिका अर्थ है जिसके तीनों ताप नहीं रहे। (निरु० ३। १७।)

इस मंत्रमें विश्वामित्र, जमदग्नि आदि शब्द पितरों की विशेषता दर्शाते हैं।

शं नः सत्यस्य पतयो भवन्तु शं नो अर्वन्तः शमु सन्तु गावः। शं नः ऋभवः सुकृतः सुहस्ताः शं नो अवन्तु पितरो हवेषु ॥ ऋ० ७।३५।१२
तथा अथर्व० १९।११।११

अर्थ—(सत्यस्य पतयः) सत्य की रक्षा करनेवाले (नः शं भवन्तु) हमारा कल्याण करें। और (अर्वन्तः नः शं) घोडे हमारे लिए कल्याणकारी हों। (उ) और (गावः शं सन्तु) गौएं हमारे लिए कल्याणकारी हों। (सुकृतः सुहस्ताः ऋभवः नः शं) श्रेष्ठकर्मवाले कार्यकुशल कारीगर लोक हमारे लिए कल्याणकारी हों। (हवेषु) बुलाए जानेपर (पितरः नः शं भवन्तु) पितर हमारा कल्याण करें।

ऋभु का अर्थ निघण्टुमें मेधावी जन व कारीगर ऐसा है। (निघण्टु ३। १५ ॥)

५ गर्भधारण करना

अरुरुचदुषसः पृश्निरग्रिय उक्षा बिभर्ति भुवनानि वाजयुः। मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमादधुः ॥ ऋ० ९।८३।३॥

अर्थ— (अग्रियः) अग्रणी-मुख्य-प्रसिद्ध (उषसः पृश्निः) उषासे संबन्ध रखनेवाला सूर्य (अरुरुचत्) सबको प्रकाशित करता है। (वाजयुः) भूतजातके लिए अन्नकी कामना करता हुआ अतएव (उक्षा) जलोंका सिंचन करनेवाला सूर्य (भुवनानि बिभर्ति) भुवनों का धारण पोषण करता है। (अस्य मायया) इसकी मायासे (मायाविनः) मायावीगण (ममिरे) पदार्थों का निर्माण करते हैं और (नृचक्षसः पितरः गर्भं आदधुः) मनुष्यों के देखनेवाले पितर गर्भ को धारण करते हैं।

सम्पूर्ण मंत्रके भावको लक्ष्यमें रखते हुए विचार करने से यहां सूर्य किरणों को पितर कहा गया है ऐसा प्रतित होता है। सूर्य किरण जलको अपने गर्भ में धारण करती हैं। सूर्य का किरणोंद्वारा जल ऊपर लेजाकर पुनः वृष्टिके समय बरसाना प्रसिद्ध ही है।

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्।
यथेह पुरुषोऽसत् ॥ यजुः अ० २।३३॥

अर्थ— (पितरः) हे पितरो! (पुष्करस्रजं कुमारं गर्भं आधत्त) पुष्करस्रक् कुमारको गर्भमें धारण करो। (यथा) जिससे कि (इह पुरुषः असत्) यहां यह पुरुष बन जावे।

इस मंत्रपर भाष्य करते हुए उवटाचार्य तथा महीधराचार्यने पुष्करस्रक् कुमार का अर्थ अश्विनी कुमार जो कि देवोंके वैद्य हैं उनकासा सुन्दर कुमार,ऐसा किया है। पितरों से प्रार्थना की गई है कि देवोंके वैद्यकासा सुन्दर पुत्र उत्पन्न करो। महर्षि स्वामी दयानंदजी ने इस मंत्रपर भाष्य करते हुए पुष्करस्रक् कुमार का अर्थ 'विद्याग्रहणार्थ फूलकी माला धारण किया हुआ कुमार' ऐसा किया है। इस अर्थानुसार यह मंत्र विद्याभ्यासके प्रारंभके समय का वर्णन करता है ऐसा प्रतीत होता है, तथा इससे निम्न परिणाम निकाले जा सकते हैं—

(१) यहां आचार्यों के लिए पितृ शब्द का प्रयोग किया गया है।

(२) विद्याभ्यासके प्रारंभ करनेके लिए गुरुके पास जाते हुए विद्यार्थी को फूलोंकी माला अपने गलेमें डालकर जाना चाहिए।

(३) बहुवचनान्त पितृशब्द एकही समयमें एक शिष्य के अनेक आचार्यों का होना दर्शाता है।

पाठकों के सामने हमने दोनों भाष्यों का दिग्दर्शन करा दिया है। इस पर विशेष विचार पाठक स्वयं करें।

पितरों का संतति बढाना आदि।

द्विधासूनवोऽसुरं स्वर्विदमास्थापयन्त तृतीयेन कर्मणा। स्वां प्रजां पितरः पित्र्यं सह आवरेष्वदधुस्तन्तुं आततम् ॥ ऋ० १०। ५६। ६ ॥

अर्थ- (सूनवः) आदित्यके पुत्र देवोंने (असुरं स्वर्विदं) बलवान् द्यु लोक को जानने वाले आदित्य को (तृतीयेन कर्मणा) प्रजोत्पत्ति नामक तीसरे कर्म से (द्विधा) दो प्रकारका अस्त व उदय वाला (अस्थापयन्त) स्थापित किया। (पितरः) पितरोंने (स्वां प्रजां) अपनी प्रजा को उत्पन्न करके (अवरेषु पित्र्यं सहः आदधुः) आनेवाली संतति में पैत्रिक तेज-बल स्थापित किया और इस प्रकार (तन्तुं आततं) संतति को विस्तृत बनाया।

पितर संतति बढाकर उसमें पैत्रिक तेज स्थापन करते हैं ऐसा इस मंत्रमें बतलाया गया है।

६ मनके प्रत्यावर्तन अर्थात् पुनर्जन्म में पितरों की सहायता

पुन र्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः।
जीवं व्रातं सचेमहि ॥ ऋ० १० । ५७ । ५ ॥
तथा यजुः अ० ३ । ५५ ॥

अर्थ - (नः पितरः) हमारे पितर तथा (दैव्यः जनः) देवोंका संघ (पुनः नः मनः ददातु) फिरसे हमें मनको देवे। हम (जीवं व्रातं सचेमहि) प्राणादि इन्द्रिय समूह को प्राप्त करें।

जन शब्द यहां संघ के लिए प्रयुक्त हुआ हुआ है। यह मंत्र पुनर्जन्मपर प्रकाश डालता हुआ पितरोंका मनादि इन्द्रियों के देनेमें सहायक होना दर्शा रहा है।

मनो न्वा हुवामहे नाराशंसेन सोमेन।
पितॄणां च मन्मभिः ॥ ऋ० १० । ५७ । ३ ॥

यह मंत्र थोडेसे पाठभेदसे यजुर्वेद में निम्नप्रकार से आया हुआ है—

मनोन्वा ह्वामहे नाराशंसेन स्तोमेन। पितॄणां च मन्मभिः ॥ यजुः अ. ३ । ५३ ॥

अर्थ -हम (नाराशंसेन सोमेन) नर जिसकी प्रशंसा करते हैं ऐसे सोम (चंद्रमा) से (च) और (पितॄणां मन्मभिः) पितरों के मनन करने योग्य स्तोत्रोंसे (नु) निश्चयसे (मनः) मनको (आ हुवामहे) बुलाते हैं।

यजुर्वेद में 'सोमेन' के स्थान में 'स्तोमेन' ऐसा पाठ है। वहां पर 'स्तुतियोंसे' ऐसा अर्थ होगा। मनकी उत्पत्ति सोम अर्थात् चन्द्रमासे है यह हमें पुरुषसूक्त (यजुः अ० ३१) से पता चलता है। यहां पर मनके प्रत्यावर्तनमें सोम व पितरों की स्तुतियोंको साधन बताया गया है। उपरोक्त दोनों मंत्रोंमें मन की पुनः प्राप्ति पितरों द्वारा होती है यह स्पष्टतया दिखाया गया है।

७ पितरोंके स्तोत्र

तमूषु समना गिरा पितॄणां च मन्मभिः।
नाभाकस्य प्रशस्तिभि र्यः सिन्धूनामुपोदये
सप्तस्वसा मध्यमो नभन्तामन्यके समे ॥
ऋ० ८ । ४१ । २ ॥

अर्थ-- (तं उ समानया गिरा) उस वरुणकी समान स्तुति से (च) और (पितॄणां मन्मभिः) पितरोंके मननीय स्तोम अर्थात् स्तुतियों से तथा(नाभाकस्य प्रशस्तिभिः) नाभाक के प्रशंसापरक स्तोत्रोंसे (सु अभिष्टौमि) अच्छी प्रकार स्तुति करता हूं। (यः) जो (मध्यमः) मध्यम वरुण (सिन्धूनां उप उदये सप्त स्वसा) नदियोंके उद्गम स्थान में सात बहिनोंवाला है। (समे) सब (अन्यके) जो हमसे द्वेष करते हैं ऐसे दुष्ट बुद्धिवाले-पापबुद्धिवाले-पापसंकल्प (नभन्तां) न रहें।

इस मंत्रसे हमें पता चलता है कि पितरों के कोई खास स्तोत्र हैं। वे स्तोत्र अपना विशेष परिणाम रखते हैं ऐसा नीचे दिए जाने वाले मंत्रसे प्रतीत होता है।

यह मंत्र विशेष विचारणीय है। उपरोक्त मंत्रकी व्याख्या निरुक्तकार यास्काचार्यने अपने निरुक्त में इस प्रकार की है-

' तं स्वभिष्टौमि समानया गिरा गीत्या स्तुत्या पितॄणांच मननीयैः स्तोमैः, नाभाकस्य प्रशस्तिभिः।

* ऋषिर्नाभाको बभूव । यः स्यन्दमानानामुपोदये सप्त स्वसारमेनमाहवाग्भिः । स मध्यमः इति निरुच्यते । अथैष एव भवति । नभन्तामन्यके समे, मा भूवन्नन्यके सर्वे, ये नो द्विषन्ति दुर्धियः पापधियः पापसंकल्पाः ॥

निरुक्त १० । ५ ॥

हमने जो ऊपर अर्थ किया है वह निरुक्तानुसार ही किया है।

नाभाक ऋषि के प्रशंसापरक स्तोत्रोंसे तथा पितरों के मननीय स्तोत्रों से वरुण की स्तुति करने से पाप संकल्प नष्ट होते हैं अर्थात् पितरों के स्तोत्र पाप संकल्पों को दूर करने में सहायक हैं यह इस मंत्र के कथन का अभिप्राय प्रतीत होता है। इसके सिवाय पितरों की स्तुतियों से और क्या विशेष लाभ हैं यह निम्न मंत्र दर्शाता है -

त्वेह यत् पितरश्चिन्न इन्द्र विश्वा वामा जरितारो असन्वन् । त्वे गावः सुदुघास्त्वे ह्यश्वास्त्वं व सुदेवयते वनिष्ठः ॥ ऋ० ७ । १८ । १॥

* हमें निरुक्त के अध्ययन से पता चलता है कि शब्दोंका निर्वचन करते हुए जो जो अर्थ यास्काचार्य को संभव प्रतीत हुए अथवा उनके समयतक जो अर्थ प्रचलित थे, उन हीं अर्थोंके अनुसार उन्होंने शब्दों के निर्वचन किए हैं। अतएव मंत्रोंकी व्याख्या करते हुए उन्होंने प्रत्येक शब्द पर विशेष विचार न करते हुए मुख्य मुख्य शब्दोंका निर्वचन किया है। निरुक्त निघण्टुकी टीका होता हुआ खास खास मंत्रों की एक अपने विशेष ढंगकी टीका है ऐसा कहें तो कुछ अनुचित न होगा। उपरोक्त मंत्र की व्याख्या करते हुए यास्काचार्य ' नाभाकस्य प्रशस्तिभिः ' में आए हुए नाभाक के लिए लिखते हैं कि 'ऋषिर्वै नाभाको बभूव।' अर्थात् नाभाक नामक ऋषि हुआ था। यदि उस समय तक के भाष्यकारों की, वेदार्थज्ञों की अथवा उनकी सम्मति नाभाक शब्दके अर्थमें विवादास्पद होती अर्थात् कोई पक्षान्तर होता तो अवश्यमेव यास्काचार्य नाभाक शब्द पर विशेष प्रकाश डालते। तत् संबन्धी पक्षान्तरोंकी सम्मतियां प्रकट करते। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उनके समयतक तथा वे स्वयं 'नाभाक नामक कोई ऋषि हुआ है' ऐसाही एकमतसे मानते थे।

' यः सिन्धूनामुपोदये सप्तस्वसा ' इस के भावको स्पष्टतया जानने के लिए ऋ. ८ । ६९ । १२ ॥ को अवश्य देखना चाहिए। उस मंत्रका भाव इस मंत्रसे पर्याप्त मिलता है। दोनों मंत्रोंका देवता वरुण है और उसीका वर्णन है। मंत्र इस प्रकार है।-

सु देवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः। अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव ॥

ऋ० ८ । ६९ । १२ ॥

यास्काचार्यने इसका अर्थ निरुक्तमें इस प्रकार किया है-

सुदेवस्त्वं कल्याणदेवः कमनीय देवो वा भवसि वरुण! यस्य ते सप्तसिन्धवः। सिन्धु स्रवणात् । यस्य ते सप्त स्रोतांसि, तानि काकुदं अनुक्षरन्ति, सूर्मि कल्याणोर्मि स्रोतः सुषिरमनु यथा ॥ निरुक्त अ० ५ । पा० ४ । खण्ड २७ ॥

भावार्थ- हे वरुण ! तू सुदेव अर्थात् कल्याणकारी देव अथवा कामना करने योग्य देव है। तेरे सात छन्दरूपी स्रोत (झरनें) काकुद अर्थात् तालुमें इस प्रकार बहते हैं, जिसप्रकार कि कल्याणकारी तरंगोंवाला स्रोत सुछिद्रनाली में बहता है।

पतंजलि मुनिने इसी मंत्रको महाभाष्य में उद्धृत करते हुए सप्त सिन्धु का अर्थ सात विभक्तियां किया है। महाभाष्य में इस मंत्रका अर्थ निम्न प्रकार है-

हे वरुण ! तू सत्य देव है। तेरे तालुमें सात विभक्तियां उस प्रकार प्रकाशित हो रही हैं जिसप्रकार कि सुछिद्र लोह प्रतिमामें जलती हुई अग्नि प्रकाशमान होती है।

मंत्रार्थ को स्पष्ट करने के लिए इतना वक्तव्य पर्याप्त है; परन्तु ऊपर जो कुछ हम इस मंत्र पर वक्तव्य प्रकट कर आए हैं वह विचारणीय है। वैदिक शोध के लिए यह मंत्र पर्याप्त सहायक है।

अर्थ- हे इन्द्र ! (त्वे) तेरेमें (जरितारः नः पितरः विश्वा= विश्वानि वामा= वामानि) स्तुति करते हुए हमारे पितरों ने सारे प्रशंसनीय पदार्थों वा धनों को(असन्वत्) प्राप्त किया। (यत्) क्योंकि (त्वे सुदुघाः गावः) तेरे पास सुखसे दोही जाने वाली गौएं हैं। (त्वे अश्वाः) तेरे पास घोडे हैं। और साथ ही तू (हि) निश्चयसे (देवयते वसु वनिष्ठः) कामना करने वाले के लिए या स्तुति करने वाले के लिए धनका संभाजक अर्थात् विभाग करके देनेवाला है।

इस मंत्रमें यह बताया गया है कि पितरों ने स्तुति करके सब कुछ प्राप्त किया और जो कोई अन्य चाहे तो वह भी स्तुति कर के प्राप्त कर सकता है। पितरोंकी स्तुति का फल यहांपरदिखाया गया है।

अब कुछ ऐसे मंत्र नीचे दिए जाते हैं जिनमेंसे कि प्रत्येक में पितरों के भिन्न भिन्न कार्योंका उल्लेख है।

पितरोंसे दीर्घायु।

वर्चसा मां पितरः सोम्यासो अञ्जन्तु देवा मधुना घृतेन। चक्षुषे मा प्रतरं तारयन्तो जरसे मा जरदष्टिं वर्धन्तु ॥ अथर्व० १८।३।१०

अर्थ- (सोम्यासः पितरः मां वर्चसा अञ्जन्तु) सोम संपादन करनेवाले पितर मुझे तेजसे व्यक्त करें। (देवाः मधुना घृतेन) देव मुझे माधुर्योपेत घृत से व्यक्त करें। (चक्षुषे मां प्रतरं तारयन्तः) देखने के लिए मुझे अच्छी तरह तराते हुए अर्थात् समर्थ बनाते हुए, (जरदष्टिं मां) जिसका खान पान शिथिल हो गया है ऐसे मुझको (जरसे) वृद्धावस्था तक (वर्धन्तु) बढावें अर्थात् जिस बुढापेमें खाने पीने की शक्ति जीर्ण हो जाती है उस बुढापेतक मुझे पहुंचाएं। यथा संभव दीर्घायुवाला मुझे बनाएं, उससे पूर्व में क्षीण न होऊं।

इस मंत्रमें पितरों से दीर्घायुष्यके लिए कहा गया है। दीर्घायु देना व प्रत्येक को उसकी पूर्णावस्था तक पहुंचाना पितरों का कार्य है ऐसा इस मंत्र से पता चलता है।

पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः। पुनन्तु प्रपितामहाः। पवित्रेण शतायुषा। पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः। पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै ॥ यजुः अ० १९। ३७॥

अर्थ- (सोम्यासः पितरः मा पुनन्तु) सोम संपदान करनेवाले पितर मुझे पवित्र करें। (पितामहाः मा पुनन्तु) पितामह मुझे पवित्र करें। (प्रपितामहाः) प्रपितामह मुझे पवित्र करें।(पवित्रेण शतायुषा) पवित्र सौ वर्ष की आयुसे। अर्थात् ये उपरोक्त पितृगण मुझे पवित्र सौ वर्ष की आयु दें। मेरा सौ वर्ष का जीवन पवित्रता पूर्वक व्यतीत हो, और इस प्रकार पवित्रतासे आयु व्यतीत करता हुआ (विश्वं आयुः व्यश्नवै) सम्पूर्ण आयु को जितनी कि मनुष्य की हो सकती है, प्राप्त करूं। पवित्रता पूर्वक जीवन व्यतीत करनेसे ही पूर्णायुष्य भोगी जा सकती है अन्यथा नहीं।

निम्न मंत्रसे ऐसा प्रतीत होता है कि पितर मृतको पुनरुज्जीवित करते हैं। मंत्र इस प्रकार है।

यत्ते अङ्गं प्रतिहितं पराचैरपानः प्राणो य उ वा ते परेतः। तत्ते संगत्य पितरः सनीडा घासाद् घासं पुनरावेशयन्तु ॥ अथर्व० १८। २। २६

अर्थ- (ते यत् अङ्गं पराचैः अतिहितम्) तेरा जो अंग उलटा होकर हट गया है, और (यः ते प्राणः, अपानः परेतः) जो तेरा प्राण वा अपान दूर चला गया है- शरीर से निकल गया है, (तत् ते) उस उपरोक्त तेरे अङ्ग वा प्राण या अपान को (सनीडाः पितरः) साथ रहनेवाले पितर (संगत्य) मिलकर (घासाद् घासं इव) (यहां लुप्तोपमा प्रतीत होती है) जैसे घास से घास बांधी जाती है उसी प्रकार (पुनः आवेशयन्तु)फिर प्रविष्ट करावें अर्थात् फिरसे प्राण अपान आदि तुझे दें यानि पुनरुज्जीवित करें।

प्राणों के निकल जानेपर शरीर चेष्टारहित हो जाता है। वह उस हालतमें शव वा मृत देह कहलाता है। इस मंत्रमें निकले हुए प्राणों का पुनः समावेश करनेका वर्णन है। इससे मृत को पुनरुज्जीवित करनेका निर्देश इस मंत्रमें मिलता है। इस के सिवाय कोई शरीर का अवयव उलटा हो गया

हो वा टूट गया हो तो उसे भी पितर ठीक ठीक यथा स्थान बैठाते हैं ऐसा ज्ञात होता है ।

सायणाचार्यने ' घासाद् घासं ' का अर्थ इस प्रकार किया है- 'अद्यते भुज्यते अस्मिन्निति घासः । भोगायतनं शरीरम् । घासात् भोजनाधिकरणशरीरात् घासं अन्यत् शरीरं पुनः आवेशयन्तु ।' अर्थात् जिसमें खाया जावे उसका नाम है घास । भोगायतन शरीर का नाम घास है क्यों कि इसमें भोग भोगे जाते हैं । अतः घासात् अर्थात् भोजनाधिकरण शरीरसे घासं यानि दूसरे शरीर को फिर देते हैं । मरने के बाद एक शरीर छुडाकर दूसरा शरीर देते हैं यह अभिप्राय है ।

इस प्रकरण में संक्षेपसे इतना ही पितरों के कार्यों के विषयमें लिखना पर्याप्त है । इसके अतिरिक्त अन्य पितरों के कार्य दर्शानेवाले मंत्र अन्य प्रकरणों में यथास्थान दिए जाएंगे । उन की वहां उपयुक्तता अधिक होनेसे यहां पर वे नहीं दिए हैं ।

पितरोंके प्रति हमारे कर्तव्य ।

इस प्रकरण के हम दो विभाग करेंगे । प्रथम विभागमें उन मंत्रों का उल्लेख होगा जिनमें कि पितरों के लिए दान, नमस्कार, स्वधा आदि देनेका वर्णन है । द्वितीय विभाग में पितरों के लिए यज्ञ अथवा पितरों से यज्ञ का सबन्ध दर्शानेवाले मंत्रों का उल्लेख करेंगे । इस दूसरे विभाग का शीर्षक 'पितर और यज्ञ' होगा। प्रथम विभागमें छोटे छोटे कई शीर्षक होंगे । इस विभाग का सामूहिकरूप से शीर्षक देना कठिन है ।

१– पितरोंके लिए नमस्कार

' नमः ' का अर्थ अन्नभी होता है परन्तु पितरोंके लिए आए हुए'नमः'का अर्थ नमस्कार ही है,क्योंकि पितरोंके अन्नका खास नाम ' स्वधा ' है और अतएव जहां पितरोंके लिए अन्न अभिप्रेत होता है वहां स्वधा का प्रयोग होता है ।

> इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य अपरास ईयुः । ये प्रार्थिवे रजस्यानिषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षु ॥ ऋ. १० । १५ ।२॥
> तथा यजुः अ० १९ । ६८॥

यही मंत्र अथर्व में थोडे से पाठभेदसे निम्न प्रकारसे है—

> इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य अपरास ईयुः । ये पार्थिवे रजस्यानिषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु दिक्षु ॥ अथर्व० १८ । १ । ४६ ।

अर्थ — (ये) जोकि (पूर्वासः) पूर्व कालीन पितर (ईयुः) स्वर्गको गए हुए हैं और (ये) जोकि (अपरासः) अर्वाचीन कालके पितर (ईयुः) स्वर्ग को गए हैं, (पितृभ्यः अद्य इदं नमः अस्तु) उन पितरोंके लिए आज यह नमस्कार हो । (ये पार्थिवे रजसि आनिषत्ताः) और जो कि पितर पृथिवी लोक पर स्थित हैं (वा) अथवा (ये) जो कि (नूनं) निश्चयसे (सुवृजनासु विक्षु) उत्तम बल वा धन युक्त प्रजाओं में स्थित हैं,उन पितरों के लिए भी नमस्कार हो । अथर्व वेदमें विक्षु के स्थान पर दिक्षु पाठभेद है । वहांपर ' ये वा नूनं सुवृजनासु दिक्षु ' का अर्थ इस प्रकार होगा- ' अथवा जो कि पितर निश्चय से उत्तम बलवाली दिशाओं में स्थित हैं ' ।

> नमो यमाय नमो अस्तु मृत्यवे नमः पितृभ्यः उत ये नयन्ति । उत्पारणस्य यो वेद तमग्निं पुरो दधे स्मा अरिष्टतातये॥ अथर्व० ५ ।३०।१२

अर्थ— (यमाय नमः अस्तु) यमके लिए नमस्कार हो । (मृत्यवे नमः) मृत्यु के लिए नमस्कार हो। (पितृभ्यः नमः) पितरों के लिए नमस्कार हो। (उत ये नयन्ति) और जो कि ले चलते हैं अर्थात् जो नायक (Leaders) हैं उनके लिए भी नमस्कार हो । (यः उत्पारणस्य वेद) जो उत्पारण अर्थात् पार लगानेके उपाय वा मार्ग को जानता है (तं अग्निं) उस अग्नि को (अस्मै अरिष्टतातये) इस जीवके कल्याणके विस्तारके लिए (पुरो दधे) आगे रखता हूं अर्थात् उस ऐसी अग्निको सदा मैं अपने सामने धारण करता हूं ।

> यदा गार्हपत्यमसपर्यैत् पूर्वमग्निं वधूरियम् । अधा सरस्वत्यै नारि पितृभ्यश्च नमस्कुरु ॥
> अथर्व० १४।२।२०॥

अर्थ- (यदा पूर्वं इयं वधूः गार्हपत्यं अग्निं असपर्यैत्)जब पहिले यह वधू गार्हपत्य अग्नि की पूजा

करे (अथ) तब उसके बाद (नारि) हे नारी! तू (सरस्वत्यै पितृभ्यः च) सरस्वती व पितरों के लिए (नमः कुरु) नमस्कार कर।

इस प्रकार हमने देखा कि इन उपरोक्त मंत्रोंमें पितरों के लिए नमस्कार का विधान है।

२ पितरोंके लिए स्वधा।

अग्ने वाजजित् वाजन्त्वा सरिष्यन्तं वाजजितं सम्मार्ज्मि। नमो देवेभ्यः स्वधा पितृभ्यः सुयमे मे भूयास्तम्॥ यजुः अ० २।७॥

अर्थ- (वाजजित् अग्ने) हे अन्न को जीतनेवाली अग्नि! (वाजं सरिष्यन्तं त्वा) अन्नके प्रति जाती हुई तुझको (सं मार्ज्मि) शुद्ध करता हूं। (देवेभ्यः नमः) देवों के लिए नमस्कार हो तथा (पितृभ्यः स्वधा) पितरों के लिए स्वधा हो। (मे) मेरे लिए (सुयमे भूयास्तम्) नमः और स्वधा बल व पराक्रम देनेवाले हों। अथवा नमःऔर स्वधा,मुझे नियम में रखनेवाले हों।

यहां पर देवोंके लिए नमः और पितरों के लिए स्वधा का निर्देश है। 'वाजं सरिष्यन्तं त्वा संमार्ज्मि' से पता चलता है कि अन्न पकानेके लिए शुद्ध अग्नि का ही प्रयोग करना चाहिए। अशुद्ध वह्नि अन्न पकाने के लिए अनुपयुक्त है।

पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः। पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः। प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः। अक्षन् पितरोऽमीमदन्त पितरोऽतीतृपन्त पितरः। पितरः शुन्धध्वम्॥ यजुः अ० १९।३६॥

अर्थ- (स्वधायिभ्यः पितृभ्यः) स्वधा प्राप्त करना जिनका शील (स्वभाव) है ऐसे पितरोंके लिए (स्वधा नमः) स्वधा और नमस्कार हो। (स्वधायिभ्यः पितामहेभ्यः स्वधा नमः) स्वधा लेनेवाले पितामहोंके लिए स्वधा और नमस्कार हो। (स्वधायिभ्यः प्रपितामहेभ्यः स्वधा नमः) स्वधा लेनेवाले प्रपितामहों के लिए स्वधा व नमस्कार हो। (पितरः) हे पितृगणो! (अक्षन्) उस स्वधा को खाओ। (पितरः) हे पितरो (अमीमदन्त) उस स्वधाको खाकर आनन्दित होओ। (पितरः) हे पितरो! उस स्वधा को खाकर (अतितृपन्त) अत्यन्त तृप्त होओ। (पितरः शुन्धध्वम्) हे पितरो शुद्ध होओ। इससे स्पष्ट है कि पितरोंका स्वभावही स्वधा खानेका है।

ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये।
तेषां लोकः स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पताम्॥
यजुः अ. १९।४५॥

अर्थ— (यमराज्ये) यम के राज्यमें (ये पितरः समानाः समनसः) जो पितर समान तथा समनस अर्थात् एक विचार वा संकल्पवाले हैं, (तेषां लोकः स्वधा नमः यज्ञः) उन पितरों का लोक, स्वधा, नमस्कार व यज्ञ (देवेषु कल्पतां) देवोंमें समर्थ होवे।

व्याकरोमि हविषाहमेतौ तौ ब्रह्मणा व्यहं कल्पयामि। स्वधां पितृभ्यो अजरां कृणोमि दीर्घेणायुषा समिमान्त्सृजामि॥ अथर्व. १२।२।३२

अर्थ— मैं (एतौ) इन दोनों को (हविषा) हविद्वारा (व्याकरोमि) प्रसिद्ध करता हूं। (तौ अहं) उन दोनों को मैं (ब्रह्मणा विकल्पयामि) ब्रह्मद्वारा विशेष सामर्थ्यवान् बनाता हूं। (पितृभ्यः स्वधां अजरां कृणोमि) पितरों के लिए स्वधा को अक्षय करता हूं। (इमान् दीर्घेण आयुषा) इन्हें दीर्घायु द्वारा (संसृजामि) संयुक्त करता हूं अर्थात् इन्हें दीर्घायु देता हूं। इस मंत्रमें पितरों के लिए अक्षय्य स्वधा का वर्णन है।

स्वधाकारेण पितृभ्यो यज्ञेन देवताभ्यः।
दानेन राजन्यो वशाया मातुर्हेडं न गच्छति॥
अथर्व० १२।४।३२

अर्थ— (पितृभ्यः स्वधाकारेण) पितरों के लिए स्वधाकारसे अर्थात् स्वधा देने से और (देवताभ्यः यज्ञेन) देवताओं के लिए यज्ञ करने से तथा (दानेन) दान करने से (राजन्यः वशायाः मातुः हेडं न गच्छति) क्षत्रिय वशामाता के तिरस्कार को प्राप्त नहीं होता। यहां पर स्वधा का महत्व दर्शाया गया है। पितरों के लिए स्वधा न देनेसे वशामाता गुस्से होती है। स्वधा न देनेवाले का वह तिरस्कार करती है।

एतत् ते प्रततामह स्वधा ये च त्वामनु॥
अथर्व० १८।४।७५॥

अर्थ- हे (प्रततामह !) प्रपितामह ! (ते एतत्) तेरे लिए यह दिया हुआ पदार्थ (स्वधा) स्वधा होवे । (ये च त्वां अनु) और जो तेरे अनुगामी हैं उनके लिए भी यह स्वधा हो ।

तत शब्द पितृवाचक है। इसमें निम्न ऐतरेय आ. का प्रमाण है - ' एतां वाव प्रजापतिः प्रथमां वाचं व्याहरद् एकाक्षर द्व्यक्षरां ततेति ताततेति । तथैवैतत् ततवत्या वाचा प्रति पद्यते । ' इति ऐ० आ० १ । ३ । ३ ॥ आश्वालायनने भी 'अपने पितरों का नाम न जानता हुआ पुत्र तत शब्द का प्रयोग करे' इस आशयवाला सूत्र बनाया है- ' नामान्यविद्वाँस्तत पितामहप्रपितामहेति ' । आश्व० २ । ६ ॥ इस मंत्र में प्रपितामह के लिए स्वधा का विधान है ।

एतत् ते ततामह स्वधा ये च त्वामनु ॥
अथर्व १८ । ४ । ७६ ॥

अर्थ- (ततामह) हे पितामह! (ते एतत् स्वधा) तेरे लिए यह दिया हुआ पदार्थ (हवि) स्वधा होवे । (ये च त्वां अनु) और जो तेरे अनुगामी हैं उनके लिए भी यह स्वधा होवे ।

एतत् ते तत स्वधा ॥ अथर्व० १८ । ४ । ७७ ॥

अर्थ- हे (तत) पिता ! (ते एतत् स्वधा) तेरे लिए यह हवि स्वधा होवे ।

इन उपरोक्त अथर्व वेदके ३ मंत्रों से पता चलता है कि प्रपितामह, पितामह तथा पिता, इन तीनों में से प्रत्येक के नामपर अलग अलग स्वधा दी जाती है ।

नमो वः पितरः स्वधा वः पितरः ॥
अथर्व० १८ । ४ । ८५ ॥

अर्थ- हे (पितरः) पितरो (वः) तुम्हारे लिए (नमः) नमस्कार होवे । (पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारे लिए (स्वधा) स्वधा होवे ।

इस मंत्र में पितरों के लिए स्वधा व नमस्कार दोनों के देने का उल्लेख है ।

श्येनो नृचक्षा दिव्यः सुपर्णः सहस्रपाच्छतयोनि र्वयोधाः स नो नि यच्छाद् वसु यत् पराभृतमस्माकमस्तु पितृषु स्वधावत् ॥
अथर्व० ७ । ४१ । २ ॥

अर्थ- (नृचक्षाः) मनुष्यों को देखनेवाला, (दिव्यः) दिव्य अर्थात् देवगुणों से युक्त, (सुपर्णः) उत्तम गतिवाला (सहस्रपात्) हजारों पैरोंवाला अर्थात् शीघ्रगामी (शतयोनिः) सैंकडों का कारण यानि सैंकडों का उत्पन्न करनेवाला (वयोधाः) अन्न, बल, आयु को देनेवाला जो (श्येनः) श्येन है (सः) वह (नः) हमें (यत् पराभृतं वसु) जो शत्रुओं से हरण किया हुआ धन है उसे (नियच्छात्) वापस दे । और वह धन (अस्माकं पितृषु स्वधावत्) हमारे पितरों में स्वधा की तरह होवे अर्थात् पितरों में जो स्थान स्वधा को प्राप्त है वही स्थान उसे प्राप्त होवे या वह धन पितरों में स्वधावत् अर्थात् आत्मधारण शक्ति करानेवाला होवे । उस धन से पितर स्वावलंबी बनें- स्वाश्रयी होवें । यहांपर स्वधा का अर्थ आत्मधारण ऐसा प्रतीत होता है । स्वधा क्या चीज है यह एक विचारणीय विषय है तथापि आगे चलकर हम थोडासा स्वधापर प्रकाश डालने की कोशीश करेंगे ।

३ पितरों को स्वधा देनेसे लाभ

सोदक्रामत् सा पितॄनगच्छत् तां पितर उपाह्वयन्त स्वध एहीति ॥ अथर्व० ८ । १३ । ५॥
तां स्वधां पितर उपजीवन्ति उपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ अथर्व० ८ । १३ । ८

अर्थ- (सा) वह विराट् (उत् अक्रामत्)ऊपर को उछली । (सा) वह (पितॄन् अगच्छत्) पितरों के पास गई। (तां) उसे (पितरः उप आह्वयन्त) पितरों ने अपने पास बुलाया कि (स्वधे) हे स्वधा ! (एहि इति) तू हमारे पास आ॥ अथर्व० ८ । १३ । ५ ॥ (पितरः तां स्वधां उपजीवन्ति) पितर उस स्वधा का उपभोग करते हैं यानि उस स्वधा को खाकर जीते हैं । (यः एवं वेद)जो इस प्रकार जानता है कि पितर उस स्वधा को खाकर जीते हैं वह भी (उपजीवनीयः भवति) उस स्वधा का उपभोग करने योग्य बनता है अर्थात् उस स्वधा के आश्रय से जीता रहता है ।

इन मंत्रों से यह बात स्पष्ट है कि पितर स्वधा के आश्रय से जीते हैं अतः पितरों को स्वधा देनी

चाहिए और जो पुरुष इस रहस्यको जानता है उसे भी स्वधा मिलती रहेगी और इस प्रकार वह भी स्वधा खाकर सुखपूर्वक जीवन निर्वाह कर सकेगा।

इन मंत्रोंपर विशेष विचार अपेक्षित है। अभी तक ये मंत्र अस्पष्ट से हैं।

४ जलद्वारा पितृतर्पण।

हिंदू लोक मृत पितरों का जो जलद्वारा तर्पण करते हैं उसका आधार संभवतः निम्न तीन मंत्र हैं। इन मंत्रों में जलद्वारा पितृतर्पण का विधान पाया जाता है। मंत्र इस प्रकार हैं-

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्।
स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन् ॥

यजु० अ० २। मं. ३४॥

इस मंत्रका देवता 'आपः' अर्थात् जल है। मंत्रार्थ - (ऊर्जं) बल को, (अमृतं) अमृत को, (घृतं)घीको (पयः) दूध को(कीलालं)अन्न को तथा (परिस्रुतं) फूलों फलों से निकले हुए सार भाग को (वहन्ती) वहन करते हुए (आपः) हे जलो तुम (स्वधा स्थ) स्वधा होवो। अर्थात् पितरों का अन्न बनो और (मे पितॄन् तर्पयत) मेरे पितरों को अपने उपरोक्त रसभागों से तृप्त करो।

मंत्र स्पष्ट है इसपर विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है। स्पष्ट शब्दों में जलद्वारा पितृतर्पण का निर्देश है। दूसरा मंत्र इस प्रकार है-

ये ते पूर्वे परागता अपरे पितरश्च ये।
तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु शतधारा व्युन्दती ॥

अथर्व० १८। ३। ७२॥

अर्थ- (ते) वे (ये पूर्वे परागताः) जो पूर्व कालीन पितर परे चले गए हैं अर्थात् परलोकवासी हुए हैं और (ये अपरे पितरः) जो अर्वाचीन पितर परलोकवासी हुए हैं (तेभ्यः) उन प्राचीन व अर्वाचीन पितरों के लिए (शतधारा) व्युन्दती) सैंकडों धाराओं वाली उमडती हुई (घृतस्य कुल्या) जलकी कुल्या-क्षुद्र नदी(एतु)प्राप्त होवे। यह मंत्र भी उपरोक्त प्रथम मंत्रके भाव कोही पुष्ट कर रहा है। पहिले मंत्रकी तरह यह मंत्र भी स्पष्ट है। कुल्याका अर्थ निघण्टुमें 'कृत्रिमा सरित्' अर्थात् बनावटी नदी यानि नहर ऐसा दिया है। पितरोंको जलसे तर्पण करनेके लिए नहर बहानी चाहिए ऐसा भाव इस मंत्र का मालूम पडता है। उपरोक्त दोनों मंत्रों के भावको ही पुष्ट करता हुआ तीसरा मंत्र इस प्रकार है—

पुत्रं पौत्रमभि तर्पयन्तीरापो मधुमतीरिमाः।
स्वधां पितृभ्यः अमृतं दुहाना आपो देवीरुभयांस्तर्पयन्तु ॥ अथर्व० १८।४। ३९॥

अर्थ-(पुत्रं पौत्रं अभि तर्पयन्तीः) पुत्र पौत्रादियोंको पूर्णतया तृप्त करते हुए (इमाः मधुमतीः आपः) ये मधुर जल हैं। (पितृभ्यः स्वधां अमृतं दुहानाः) पितरोंके लिए स्वधा व अमृतका दोहन करते हुए (देवीः आपः) ये दिव्यजल (उभयान्) दोनों पुत्र पौत्रोंको (तर्पयन्तु) तृप्त करें।

उपरोक्त तीनों मंत्रोंमें जल द्वारा पितृतर्पणका उल्लेख है। हिंदुओं का जल द्वारा पितृतर्पण करना इन मंत्रोंके आधार पर होना चाहिए। पाठकों के सामने हमने इन मंत्रोंको उनके सरलार्थ सहित रख दिया है। वे इन पर विचार करें। हमारा कार्य तो सिर्फ वैदिक विचारोंको पाठकोंके सामने रखना है।

मंत्रार्थ से जो परिणाम निकल सकता है वह नीचे दे दिया जाता है। किन पितरोंका जलद्वारा तर्पण करना चाहिए यह अभीसे नहीं कहा जा सकता तथापि इतना जरूर पता चलता है कि जल द्वारा पितृतर्पण करना चाहिए।

यत् ते पितृभ्यो ददतो यज्ञे वा नाम जगृहुः।
संदेश्यात् सर्वस्मात् पापादिमा मुञ्चन्तु त्वौषधीः ॥ अथर्व० १०। १। ११॥

अर्थ- (यत् यज्ञे पितृभ्यः ददतः ते नाम जगृहुः) यदि यज्ञमें पितरोंके लिए दान करते हुए तेरा नाम उन्होंने लिया हो अर्थात् तेरे पर दोषारोपण किया हो तो(सर्वस्मात् संदेश्यात् पापात्) उस सर्व संदेश्य अर्थात् किसीके आदेशसे- कहनेसे किए गए पापसे (इमाः औषधीः त्वा मुञ्चन्तु) ये औषधियां तुझे छुडाएं।

इस मंत्रमें पितरोंके लिए यज्ञमें दान देनेका उल्लेख है।

४ पितरोंका भाग।

पितृणां भागस्थ। अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त। प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये॥ अथर्व० १०। ५। १३॥

अर्थ-इस मंत्रका 'आपः' देवता है। हे जलो! तुम (पितृणां भागः स्थ) पितरोंका भाग-अंश हो। (देवीः आपः) हे दिव्य जलो! (अपां शुक्रं वर्चः अस्मासु धत्त) जलोंका वीर्य व तेज हमारेमें धारण करो अर्थात् हमें दो। (अस्मै लोकाय) इस लोकके लिए, (प्रजापतेः धाम्ना वः सादये) प्रजापतिके तेजसे तुम्हें बिठलाता हूं-स्थित करताहूं।

इस मंत्रमें जलों को पितरोंका भाग-अंश बतलाया है।

त्रेधा भागो निहितो यः पुरा वो देवानां पितृणां मर्त्यानाम्। अंशान् जानीध्वं विभजामि तान् वो यो देवानां स इमां पारयाति॥

अथर्व० ११। १। ५॥

अर्थ- (वः देवानां पितृणां मर्त्यानां) तुम देवों, पितरों व मनुष्यों का (यः त्रेधा भागः) जो तीन प्रकार का भाग (पुरा निहितः) पहिलेसे रखा है उसमें से अपने अपने (अंशान्) अंशोंको-भागोंको (जानीध्वं) जानो अर्थात् मनुष्य, पितर व देवों का जो तीन प्रकारका भाग हमने कर रखा है उसमें से अपने अपने भागको जानते हुए लो। (तान् विभजामि) उन भागों को मैं बांटता हूं। (वः देवानां यः सः इमां) तुम देवों का जो अंश है वह इस ब्रह्मौदन पाचक पत्नी को (पारयाति) पार लगावे अर्थात् जिस कार्य का इसने प्रारंभ किया है उसमें यह पार हो जावे।

इस मंत्र में देव, मनुष्य व पितरों के लिए अलग अलग भाग देनेका उल्लेख है।

५ पितरों के शर्म (Father Land) का विस्तार करना।

यत्र शूरास स्तन्वो वितन्वते प्रिया शर्म पितृणाम्। अध स्मा यच्छ तन्वे तने च छर्दिरचित्तं यावय द्वेषः॥ ऋ० ६।४६।१२

अर्थ- (यत्र शूरासः तन्वः) जहां पर शूरवीर अर्थात् शूरवीर गण शरीर (पितृणां प्रिया शर्म वितन्वते) पितरोंके प्यारे घरों का विस्तार करते हैं वहांपर (तन्वे तने च) अपने शरीर के लिए व हमारी संतानके लिए (अचित्तं छर्दिः यच्छ स्म) शत्रुओंसे अज्ञात घरको दे जिससे कि शत्रु हमारा व हमारी संतानका विनाश न कर सकें। (द्वेषः) द्वेष करनेवालों को-वैरभाव रखनेवालों को (यावय) दूर कर। हम सब मित्रता पूर्वक शत्रु रहित हुए हुए रहें।

शर्मका अर्थ निघण्टुमें सुख व घर इन दोनों अर्थोंमें आया है। शर्म=गृह। निघण्टु ३। ४॥ शर्मः सुख। निघण्टु ३। ६॥

'पितृणां प्रिया शर्म' इस पद समुदाय का अभिप्राय पितरों के देशसे है अर्थात् जहां पर वंश परंपरा से पितृगण निवास करते चले आ रहे हैं। हम मातृभूमि के नाम से स्वदेश को पुकारते हैं पर अंग्रेजीमें Father land व mother land ये दोनों नाम स्वदेश के लिए प्रयुक्त होते हैं। यहां पर वेदमें भी स्वदेश को Falherland के नामसे कहा गया है। इस प्रकार इस मंत्रमें स्वदेश के विस्तार करने का निर्देश है। 'छर्दिः-गृह।' निघण्टु ३। ४॥ 'अचित्तं छर्दिः' से यह दर्शाया है कि गुप्त रूप से भी शत्रु हमारे घरमें न रहने चाहिए अन्यथा हमारा भेद उन्हें मिलता रहेगा।

पितर और यज्ञ।

इस विभाग में प्रायः वे मंत्र दिए जायंगे जिनमें कि पितरों के यज्ञ में आने जाने व हवि खाने आदि का वर्णन होगा। इस विभागसे हमें यह बात सुगमतया पता लग सकेगी कि पितरों के लिए यज्ञादि करने चाहिए उन्हें हवि देना चाहिए और इस प्रकार करनेसे पितर हमारी आयु संपत्ति आदि की वृद्धि करते हैं तथा अन्य कष्टों के दूर करनेमें सहायक होते हैं।

उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु। त आगमन्तु त इह श्रुवन्त्वधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥ ऋ. १०। १५। ५॥

तथा यजुः अ० १९। ५७॥

यह मंत्र अथर्व वेद में भी है। वहां प्रारंभमें थोडासा पाठभेद है। 'उपहूताः पितरः' के स्थान पर 'उपहूता नः पितरः' है। केवल 'नः' और अधिक है शेष समान है। देखो अथर्व० १८। ३। ४५॥

अर्थ- (प्रियेषु बर्हिष्येषु निधिषु) प्रीतिकारक यज्ञ संबन्धी निधियोंमें (सोम्यासः) सोम संपादन करनेवाले (पितरः) जो पितर (उपहूताः) बुलाए गए हैं (ते आगमन्तु) वे पितर आवें। (ते) वे पितर (इह) इस यज्ञमें (अधिश्रुवन्तु) हमारी प्रार्थनायें ध्यान पूर्वक सुनें और (अधि ब्रुवन्तु) हमें उपदेश करें तथा (ते अस्मान् अवन्तु) वे हमारी रक्षा करें।

'बर्हिष्य' – बर्हिष् नाम है यज्ञका; उसमें होनेवाला बर्हिष्य, अर्थात् यज्ञ संबन्धी। इसके अतिरिक्त 'सोम्यासः' पद भी इसी अर्थकी पुष्टि करता है। यास्काचार्यने निरुक्तमें सोम्यासः का अर्थ सोमका संपादन करनेवाले ऐसा किया है। और सोम यज्ञमें संपादन किया जाता है। प्रकरणसे भी यही अर्थ होता है क्योंकि इससे पूर्वके मंत्रोंमें यज्ञ प्रकरण का वर्णन है।

निधिका अर्थ निरुक्ताचार्य यास्क ने अपने निरुक्त की भूमिकामें निम्न प्रकार किया है—

निधिः शेवधिरिति । शेवधि का अर्थ है सुखका भण्डार। निरु० अ० २। पा० १। खं० ४॥

इस प्रकार इस मंत्रमें पितरोंके यज्ञमें आने, प्रार्थना सुनने, उपदेश करने व रक्षा करनेका उल्लेख हमें मिलता है।

आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभि
गृणीत विश्वे। मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो
यद्व आगः पुरुषता कराम ॥ ऋ. १०।१५।६ ॥
तथा यजुः अ० १९।६२ ॥

यह मंत्र अथर्व वेदमें थोडेसे पाठ भेदकेसाथ आया है—

आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येदं नो हविरभि
गृणन्तु विश्वे। मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो
यद्व आगः पुरुषता कराम ॥ अथर्व. १८।१।५२ ॥

अर्थ- (विश्वे) सब तुम पितरो! (जानु- आच्य) दायां घुटना टेककर (दक्षिणतः निषद्य) दाईं ओर बैठकर (इमं यज्ञं) इस यज्ञका (अभिगृणीत) स्वीकार करो। (पितरः) हे- पितरो! (यत् वः आगः पुरुषता कराम) जो तुम्हारा अपराध पुरुषत्व अर्थात् मनुष्यत्वके कारण हम करते हैं (केन चित्) ऐसे किसी भी अपराध के कारण (मा हिंसिष्ट) हमें मत मारो अर्थात् क्यों कि हम मनुष्य हैं और मनुष्य मात्र भूलका पात्र होता है अतः यदि अपराध होभी जाए तोभी क्षमा करो, हमारी हिंसा मत करो।

'जानु आच्य' का अर्थ हमने दायां घुटना टेकर ऐसा किया है जो कि शतपथ ब्राह्मण के निम्न वाक्य के आधारपर है। अथैनं पितरः। प्राचीनावीतिनः सव्यं जान्वाच्योपासीदंस्तानब्रवीत्' ...इत्यादि ॥ शतपथ. २। ४। २। २॥ शतपथके इस वाक्य से प्रतीत होता है कि दांया घुटना टेकर पितर यज्ञमें बैठते हैं।

निम्न मंत्र में पितरों के लिए मासिक यज्ञका विधान है।

परा यात पितरः सोम्यासो गंभीरैः पथिभिः
पूर्याणैः। अधा मासि पुनरायात नो गृहान्
हविरत्तुं सुप्रजसः सुवीराः॥ अथर्व० १८।४।६३

अर्थ- (सोम्यासः पितरः) -हे सोम संपादक पितरो! (गंभीरैः पूर्याणैः पथिभिः) गंभीर पूर्याण-मार्गोंद्वारा (परायात) वापस चले जाओ। जहां से आए थे वहां पर लौट जाओ। (अथ पुनः) और फिर (सुप्रजसः सुवीराः) हे उत्तम प्रजा वाले तथा सुवीर पितरो! (मासि) मासके अन्तमें यानि महीने महीने के बाद (नः गृहान्) हमारे घरोंमें (हविः अत्तुं) हवि के खाने के लिए (आयात) आओ।

'पूर्याण- पुरं यातीति पूर्याणः।' नगरको जानेवाले रस्ते का नाम पूर्याण है।

प्रत्येक मासमें पितृयज्ञ करना चाहिए तथा उसमें देश देशान्तर व ग्राम ग्रामान्तर में स्थित पितरों को आमन्त्रित करना चाहिए ऐसा इस मंत्र का भाव है।

अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदः सदः
सदत सुप्रणीतयः। अत्ता हवींषि प्रयतानि

बर्हिष्यधा रयिं सर्ववीरं दधातन ॥ ऋ० १०।१५।११

यह मंत्र यजुर्वेद व अथर्व वेदमें भी थोडेसे पाठ भेदसे आया है। देखो यजु. १९। ५९। तथा अथर्व १८। ३। ४४। अर्थ इस प्रकार है—

(अग्निष्वात्ताः सुप्रणीतयः पितरः) हे अग्निष्वात्त व उत्तम नेता पितरो! (इह) इस यज्ञमें (आगच्छत) आओ। (सदः सदः सदत) घर घर में स्थित होओ। (अथ) और (बर्हिषि प्रयतानि हवींषि अत्त) यज्ञमें दिए गए हवियोंको खाओ। और हमें (सर्ववीरं रयिं दधातन) सर्व प्रकारकी वीरतासे पूर्ण धन को दो।

अग्निष्वात्त शब्द विशेष विचारणीय है। इस पर हम आगे चलकर ' अग्नि व पितर ' इस प्रकरणमें विचार करेंगे।

इस मंत्रमें पितरों को यज्ञमें हवि खिलानेका व उनसे वीरता पूर्ण धन मांगनेका वर्णन है।

सहस्त्रधारं शतधारमुत्समक्षितं व्यच्यमानं सलिलस्य पृष्ठे। ऊर्जं दुहानमनपस्फुरन्त मुपासते पितरः स्वधाभिः ॥ अथर्व. १८।४।३६ ॥

अर्थ- (शतधारं सहस्रधारं उत्सं) सैंकडों व हजारों धाराओंवाले स्रोतकी तरह जो हजारों व सैंकडों धाराओंसे युक्त है ऐसे, और जो (सलिलस्य पृष्ठे व्यच्यमानं) अंतरिक्षके ऊपर व्याप्त है ऐसे, (ऊर्जं दुहानं) अन्न व बलको देनेवाले, (अनपस्फुरन्तं) कभी भी चलायमान न होनेवाले अर्थात् स्थिर हविको (पितरः) पितर (स्वधाभिः) स्वधाओंके साथ (उपासते) सेवन करते हैं।

यहां पर हवि शब्द का अध्याहार पूर्व मंत्रसे करना पडता है क्यों कि संपूर्ण मंत्रमें आए हुए विशेषणों का कोई भी विशेष्य नहीं है।

पितृगण स्वधा के साथ हवि खाते हैं इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि स्वधा कोई भिन्न वस्तु ही है। यहांपरभी पूर्व मंत्रकी तरह पितरों के हवि सेवन का उल्लेख है।

पितरों का यज्ञमें धन दान।

आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय। पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्र यच्छत त इहोर्जं दधात ॥ ऋ. १०। १५। ७॥ यजु. अ. १९। ६३॥ तथा अथर्व० १८। ३। ४३॥

अर्थ— (अरुणीनां उपस्थे) यज्ञमें प्रदीप्त की गई अग्निकी लाल लाल चमकती हुई ज्वालाओं के समीपमें (आसीनासः) बैठे हुए पितरो! (दाशुषे मर्त्याय) दानी मनुष्य के लिए (रयिं धत्त) धन को दो। (तस्य) और उस दानी मनुष्य के (पुत्रेभ्यः वस्वः प्रयच्छत) पुत्रोंके लिए भी धनको दो। (ते) उपरोक्तानुसार धन दान करनेवाले तुम (इह) इस यज्ञ में (ऊर्जं) अन्न को धारण करो।

अरुणी का अर्थ अग्नि ज्वाला किया है। इस मंत्र में पूर्वके मंत्रोंसे यज्ञ का प्रकरण चला आरहा है। उसी प्रकरण का अनुसरण करते हुए यही अर्थ उचित बैठता है।

परायात पितर आ च यातायं वो यज्ञो मधुना समक्तः। दत्तो अस्मभ्यं द्रविणेह भद्रं रयिं च नः सर्ववीरं दधात ॥ अथर्व० १८। ३। १४॥

अर्थ- (पितरः) हे पितरो! (परायात) यज्ञ समाप्ति पर वापस लौट जाओ। (च) और फिर (आयात) आओ क्यों कि (अयं यज्ञः वः मधुना समक्तः) यह यज्ञ तुम्हारे लिए (मधुना समक्तः) मधुर आज्यसे तैयार किया हुआ है। (इह) इस यज्ञमें (द्रविणा) धनों को (दत्तो) दो। (भद्रं सर्ववीरं रयिं च) और कल्याण कारी तथा सर्व वीरता से युक्त रयि अर्थात् सम्पति-समृद्धि से (नः)हमें (दधात) पुष्ट करो। मधु का अर्थ है मधुरसपूर्ण आज्य। देखो. ऐ. ब्रा. २। २। - ' एतद् वै मधु दैव्यं यद् आज्यम् '।

आपो अग्निं प्र हिणुत पितॄँरुपेमं यज्ञं पितरो मे जुषन्ताम्। आसीनामूर्जमुप ये सचन्ते ते नो रयिं सर्ववीरं नियच्छात्॥ अथर्व० १८।४।४०

अर्थ- (आपः) हे आप! तुम (अग्निं पितॄन् उप प्रहिणुत) अग्नि को पितरों के पास भेजो। (मे पितरः) मेरे पितृगण (इमं यज्ञं जुषन्ताम्) इस यज्ञका सेवन करें। (ये) जो पितर (आसीनां ऊर्जं उपसचन्ते) उपस्थित अर्थात् हमारे से दिए गए अन्नका

सेवन करते हैं (ते) वे पितर (नः) हमें (सर्ववीरं रयिं) सब प्रकारकी वीरतासे युक्त धन-संपत्ति को (नियच्छात्) निरन्तर देते रहें।

इस मंत्र में आप अर्थात् जलोंसे कहा गया है कि वे अग्नि को पितरों के पास ले जाएं जिससे कि अग्नि में होमा हुआ हवि पितरों को पहुंच सके। इस भावका दूसरा मंत्र अभीतक हमारी दृष्टिमें नहीं पडा है। जल यज्ञाग्निको पितरों के पास कैसे ले जाते हैं यह एक विचारणीय विषय है। इस मंत्रके विषयमें विशेष विचार अपेक्षित है।

इन उपरोक्त मंत्रोंके देखनेसे हम इस परिणाम पर पहुंच सकते हैं कि पितृगण यज्ञमें आकर हवि का ग्रहण करते हैं तथा प्रार्थीको धन देते हैं। इससे पितरोंका यज्ञसे संबन्ध प्रतीत होता है। पितरोंको यज्ञमें बुलाया जाता है वह वहांपर उन्हें हवि दी जाती है जो कि हवि वे अग्नि द्वारा स्वीकृत करते हैं। यह बात अथर्व० १८।४।४० से स्पष्ट होती है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस रूपमें हवि होमी जाती है उस रूपमें पितर नहीं लेते परन्तु अग्नि द्वारा सूक्ष्म अदृश्य रूपमें परिणत हुई हुई हवि लेते हैं अर्थात् यज्ञमें अग्निमें होमी हुई हवि पितरोंको पहोंचती है। इसलिए जिसको सर्व वीरोपेत धन सम्पत्ति चाहिए उसे यज्ञ करना चाहिए व पितरोंको हवि देनी चाहिए। इन उपरोक्त बातों का हम इन मंत्रोंसे सहज अनुमान कर सकते हैं।

सं विशन्त्विह पितरः स्वा नः स्योनं कृण्वन्तः
प्रतिरन्त आयुः। तेभ्यः शकेम हविषा नक्षमाणा ज्योग् जीवन्तः शरदः पुरूचीः॥
अथर्व. १८।२।२९।

अर्थ- (इह) इस यज्ञमें (नः) हमारे (स्वाः पितरः) ज्ञातिके पितृगण (स्योनं कृण्वन्तः) सुख उत्पन्न करते हुए (सं विशन्तु) प्रविष्ट होवें। और (आयुः प्रतिरन्त) आयुष्यकी वृद्धि करें। और उसके बदलमें (नक्षमाणाः) गतिशील अर्थात् सर्वदा कार्य तत्पर हम (ज्योक् पुरूचीः शरदः) निरन्तर बहुतसे वर्षोंतक (जीवन्तः) जीवन धारण करते हुए (तेभ्यः) उन दीर्घ आयु देनेवाले पितरोंकी (हविषा) हविद्वारा (शकेम) परिचर्या करने समर्थ बने रहें।

यह मंत्र भी उपरोक्त परिणाम को पुष्ट कर रहा है। निम्न मंत्र विशेष विचारणीय हैं क्योंकि इनमें पितरोंके लिए मांस व वपा के हवनका विधान मिलता है। संभव है ऐसे मंत्रों के देखनेसे ब्राह्मण कालमें यज्ञमें मांस आदि होमने की प्रथा प्रचलित हुई हो।

वह वपां जातवेदः पितृभ्यो यत्रैनान्वेत्थ निहितान् पराके। मेदसः कुल्या उपतान्त्स्रवन्तु सत्या एषामाशिषः सं नमन्तां स्वाहा॥
यजुः अ० ३५। २०॥

अर्थ- (जातवेदः) हे अग्नि! (पितृभ्यः वपां वह) पितरोंके लिए वपाका वहन कर, (यत्र) जहां (पराके) दूरपर (निहितान्) स्थित (एतान् वेत्थ) इन पितरोंको तू जानता है। (मेदसः कुल्याः तान् उपस्रवन्तु) चरबीकी छोटी छोटी नदियां उनको प्राप्त होवें और (एषां सत्याः आशिषः) उनके सत्य आशीर्वाद (सं नमन्ताम्) हमें प्राप्त होवें। (स्वाहा) उपरोक्त कथन सत्य है।

यहांपर अग्निको पितरोंके लिए चरबीकी नहरें पहुंचानेके लिए कहा गया है।

निम्न मंत्रमें पितरोंके लिए मांसवाले चरुके देने का विधान है-

अपूपवान् मांसवाँश्चरुरेह सीदतु। लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुत भागा इहस्थ॥ अथर्व, १८।४।२०॥

अर्थ-अपूपों व मांस वाला चरु यहां वेदी पर आवे। (लोककृतः पथिकृतः) स्थानोंके बनानेवाले व मार्गोंके बनाने वालोंको (यजामहे) हम पूजते ह। (ये) जोकि तुम (इह) यहां (देवानां हुतभागाः) देवोंमें दिए हुए भागको लेनेवाले हो।

वेदमें मांस शब्द मांस (Meat)के लिए आता है। यास्काचार्यने इसके जो निर्वचन किए हैं वे इसी बातको सिद्ध कर रहे हैं। साथ ही जो उन्होंने मंत्र पेश किया है उसमें भी स्पष्ट शब्दोंमें बकरीके मांस खानेका निषेध है। यास्काचार्यने मांसके निर्वचन मेंनिम्न किए हैं—देखो निरुक्त- ४। १। ३। ३।

(१) मांसं माननं- (मा+अननं) अर्थात् मांस भक्षणसे दीर्घायु प्राप्त नहीं होती।

(२) मानसं -- मांस खानेसे मानसिक पाप पैदा होते हैं।

(३) मनोऽस्मिन्सीदति-मांस खानेमें मन जाता है। मांस भक्षणको मन बहुत चाहता है।

इसके अतिरिक्त मनुने मनुस्मृतिमें मांसका जो निर्वचन किया है वह भी देखने लायक है। वह इस प्रकार है-

मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥५।५५॥

अर्थात् जिस प्राणीका मांस मैं इस जन्ममें खाता हूं, परजन्ममें वह मुझे खाएगा। यह मांसका मांसत्व है ऐसा विद्वान् लोकोंका कथन है।

इसी सूक्तके ४२ वें मंत्रमेंभी ऐसा ही वर्णन है। यह मंत्र इस प्रकार है-

यं ते मन्थं यमोदनं यन्मांसं निपृणामि ते।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः॥
अथर्व० १८।४।४२॥

अर्थ-(ते) तेरे लिए (यं मन्थं) जिस मंथ अर्थात् मथनेसे-विलोडनेसे प्राप्त पदार्थ मक्खन आदि को और (यं ओदनं) जिस भातको (यत् मांसं) जिस मांसको (ते) तेरे लिए (निपृणामि) देता-हूं। (ते) वे सब (स्वधावन्तः मधुमन्तः घृतश्चुतः) स्वधावाले, मधुरतासे युक्त तथा घीसे परिपूर्ण (ते सन्तु) तेरे लिए होवें।

इस मंत्र में मांसका विधान है। प्राचीन सूत्रकारों के सूत्रोंमें भी कई स्थानों पर मांस विधान पाया जाता है। अतः उन सब ग्रंथों के अवलोकन के साथ साथ इन मंत्रों पर विचार करने से कुछ प्रकाश पडने की संभावना है। ऐसे ऐसे आपत्ति जनक मंत्र व शब्दों के यौगिक अर्थ करके अर्थ बदलनेसे पूर्व प्रामाणिक खोज करनी एक निष्पक्षपाती शोधक के लिए परमावश्यक है। हम इन मंत्रों को अभी पाठकों पर विचारार्थ छोडते हैं। वे इन पर विशेष विचार करने का प्रयत्न करेंगे। हम आगे इसपर स्वतंत्र प्रकरणमें विचार करेंगे। यहां एक बात और भी कह देनी आवश्यक है और वह यह कि वेदोंमें अग्निका विशेषण 'क्रव्यात्' अर्थात् मांसभक्षक ऐसा आता है। इससे अग्निमें मांस जलानेका अनुमान हो सकता है; परन्तु जब तक पूर्ण शोध इस विषयमें न हो जाए तब तक किसी खास परिणाम पर पहुंचना अनुचित होगा।

अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वम्।
अमीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषत
यजुः अ० २।३१॥

अर्थ— (पितरः) हे पितरो! (अत्र) इस यज्ञमें (मादयध्वम्) प्रसन्न होओ और (यथाभागं) अपने अपने भागके अनुसार हवि लेते हुए (आवृषायध्वम्) वृष की तरह आचरण करो अर्थात् मस्त होकर खाओ। जिस प्रकार कि (अमी पितरः) वे पितर (यथाभागं) अपने अपने भाग के अनुसार हवि लेकर (मदन्त) प्रसन्न हुए और (आवृषायित) उन्होंने उसे खाया।

शतपथ ब्राह्मणमें 'यथाभागमावृषायध्वं' का अर्थ किया है 'यथाभागं अश्नीतेति' श० २।४।२।२०। पितरों के लिए यज्ञ में खास हवि का भाग करके रखा जाता है जिसे खा कर वे प्रसन्न होते हैं यह इससे सूचित होता है। अतः यज्ञमें पितरों के लिए भाग रखना चाहिए।

यद् वो मुद्रं पितरः सोम्यं च ते नो सचध्वं स्वयशसो हि भूत॥ ते अर्वाणः कवय आ शृणोत सुविदत्रा विदथे हूयमानाः॥
अथर्व० १८।३ ॥१९॥

अर्थ- (पितरः) हे पितरो! (वः यत् मुद्रं सोम्यं च) तुम्हारा जो हर्षप्रद व सौम्य कार्य है (ते नो) उस द्वारा (सचध्वं) हमें सेवित करो अर्थात् युक्त करो। (हि) निश्चयसे तुम (स्वयशसः) अपने यशसे ही यशस्वी (भूत) होते हो। (अर्वाणः) गतिवाले अर्थात् निरालसी, (कवयः) क्रान्तदर्शी तथा (सुविदत्राः) उत्तम धनवाले, (हूयमानाः) बुलाए गए (ते) वे तुम (विदथे) यज्ञमें हमारी उपरोक्त प्रार्थनायें (आशृणोत) आकर सुनो।

अबतकके मंत्रोंसे हमने देखा कि पितरोंको यज्ञमें बुलाया जाता है और वहां पर उन्हें हवि देकर प्रसन्न किया जाता है। प्रसन्न हुए हुए वे आयु, धनादि की इच्छा पूर्ति करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि पितरोंसे कामपूर्ति करानेके लिए यज्ञ

साधनभूत है।

पितरोंके लिए प्रत्येक मासमें दान।

सोदक्रामत् सा पितृनागच्छत् तां पितरो-
ऽघ्नत सा मासि समभवत् ॥ अथर्व० ८।१२।३॥
तस्मात् पितृभ्यो मास्युपमास्यं ददति प्र पितृ-
याणं पन्थां जानाति य एवं वेद॥ अथर्व० ८।१२।४

अर्थ- (सा) वह विराट् (उत् अक्रामत्) ऊपरको उछली और (सा) वह (पितृन् अगच्छत्) पितरोंके पास गई। (तां) उसको (पितरः अघ्नत) पितरोंने प्राप्त किया। फिर (सा) वह विराट् (मासि) मासमें (संभवत्) संयुक्त हुई ॥ अथर्व० ८।१२।३ ॥ (तस्मात्) इस लिए (पितृभ्यः मासि) पितरोंके लिए महीनेमें (ददति) देते हैं। (यः एवं वेद) जो इस प्रकार अर्थात् पितरोंको महीनेमें दिया जाता है ऐसा जानता है वह (पितृयाणं पन्थां) पितृयाण मार्गको (प्रजानाति) अच्छी प्रकार जानता है।

अथर्व वेदका यह सूक्त विशेष क्लिष्ट है। इसका रहस्य क्या है यह अभीतक स्पष्ट नहीं हुआ है। तथापि यहां पर जो कहा गया है उससे इतना परिणाम अवश्य निकलता है कि पितरोंके लिए प्रत्येक मासमें दान करना चाहिए उनके लिए कुछ देना चाहिए।

पितरोंका आसन।

येऽस्माकं पितरस्तेषां बर्हिरसि॥ अथर्व० १८।४।६८

अर्थ- (ये) जो (अस्माकं पितरः) हमारे पितर हैं (तेषां) उनका (बर्हिः) आसन (असि) है।

कुशाघासका नाम बर्हि है। बर्हिको संबोधन करके कहा गया है। यज्ञमें पितरोंके बैठनके लिए कुशाघास निर्मित आसन होना चाहिए, ऐसा इससे पता चलता है।

अग्नि और पितर।

(१)

इस प्रकरण में हम अग्नि व पितरोंका संबन्ध तथा पितरोंके प्रति अग्नि के कार्यों को दर्शायंगे। पाठक इस प्रकरणान्तर्गत मंत्रों को ध्यान पूर्वक पढें व उनसे निकलते हुए परिणामोंपर गौर करें।

यज्ञमें अग्निका पितरोंको लाना।

ये तातृषुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविदः स्तोमतष्टासो अर्कैः। आग्ने याहि सुविदत्रेभिः अर्वाङ् सत्यैः कव्यैः पितृभिः घर्मसद्भिः ॥ऋ. १० ।१५।९॥

अर्थ- (देवत्रा जेहमाना) देवों को प्राप्त होते हुए अर्थात् देव बनते हुए (होत्राविदः) यज्ञों के जाननेवाले (स्तोम तष्टासः) स्तोमों के बनानेवाले (ये) जो पितर (अर्कैः) पूजनीय स्तुतियोंसे (तातृषुः) अत्यन्त प्रसन्न होते हैं, ऐसे (सुविदत्रेभिः, सत्यैः, कव्यैः, घर्मसद्भिः पितृभिः,) उत्तम धनवाले अर्थात् समृद्ध सत्यवचनी, कवि अथवा कव्य नाम है पितरों के लिए दिए गए हव्य का। अतः कव्यों के लेनेवाले, यज्ञों में बैठनेवाले पितरों के साथ (अग्ने) हे अग्नि तू (आयाहि) आ।

ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः। आग्ने याहि सहस्रं देववन्दैः परैः पूर्वैः पितृभिर्घर्मसद्भिः ॥ ऋ. १० । १५। १० ॥

अर्थ- (ये) जो पितर (सत्यासः) सत्यवचनी (हविरदः) हविके खानेवाले (हविष्पाः) हविकी रक्षा करने वाले तथा (इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः सन्ति) इन्द्र व देवों के साथ एकही रथ पर चढते हैं ऐसे (सहस्रं देववन्दैः) हजारों बार देवों से स्तुति किए गए (पूर्वैः परैः) प्राचीन व अर्वाचीन (घर्मसद्भिः पितृभिः) यज्ञमें बैठनेवाले पितरों के साथ (आ याहि) आ। उपर निर्दिष्ट दोनों मंत्र एकही बात कह रहे हैं। इन दोनों में अग्निको, पितरों को अपने साथ लाने के लिए कहा गया है। पितरों को यज्ञादिमें साथ लाना अग्निका कार्य है यह इन मंत्रों से स्पष्ट होता है। यह अग्नि कौन है इसका निर्णय मंत्रोंसे स्वयं पाठक कर सकेंगे। इस अग्नि का यज्ञ व हवि से विशेष संबन्ध है यह आगे आनेवाले मंत्रोंसे स्वयं स्पष्ट हो जायगा। उन सब मंत्रों को लक्ष्य में रखते हुए ही अग्नि के विषयमें निर्णय करना चाहिए। यह अग्नि विषयक निर्णय पितरों पर पर्याप्त प्रकाश डाल सकेगा ऐसा हमारा मानना है।

अग्निका पितरोंको हवि खाने के लिए ले आना

उशन्तस्त्वा निधीमह्युशन्तः समिधीमहि।
उशन्नुशत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे॥
ऋ० १०।१६।२॥
तथा यजुः अ० १९।७०॥
तथा अथर्व० १८।१।५६॥

अर्थ- हे अग्ने! (उशन्तः) कामना करते हुए हम (त्वा निधीमहि) तेरी स्थापना करते हैं। और (उशन्तः समिधीमहि) कामना करते हम तुझे प्रदीप्त करते हैं। (उशन्) कामना करती हुई हे अग्नि तू (हविषे अत्तवे) हविके खाने के लिए (उशतः पितॄन्) कामना करते हुए पितरों को (आ वह) ले आ।

यहां पर अग्नि से हवि खाने के लिए पितरों के ले आनेके लिए कहा गया है।

द्युमन्तस्त्वेधीमहि द्युमन्तः समिधीमहि।
द्युमान् द्युमत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे॥
अथर्व० १८ ।१।५७॥

अर्थ- हे अग्नि! (द्युमन्तः) दीप्तिमान होते हुए हम (त्वा इधीमहि) तुझे प्रकाशित करें। (द्युमन्तः और दीप्तिमान हम (समिधीमहि)तुझे भली प्रकार प्रदीप्त करें। (द्युमान्) दीप्त हुआ हुआ तू (द्युमतः पितॄन्) प्रकाशमान् पितरों को (हविषे अत्तवे) हवि भक्षणार्थ (आवह) ले आ। उपरोक्त मंत्रके भाव का ही यह मंत्रभी समर्थन कर रहा है।

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः।
सर्वांस्तानग्ने आवह पितॄन् हविषे अत्तवे॥
अथर्व० १८।२।३४॥

अर्थ- (अग्ने !) हे अग्नि! (ये निखाताः) जो पितर जमीनमें गाडे गए हैं और (ये परोप्ताः) जो पितर दूर बहा दिए गए हैं तथा (ये दग्धाः) जो पितर अग्नि से जलाए गए हैं (ये च) और जो पितर (उद्धिताः) जमीनके ऊपर रखे गए हैं (तान् सर्वान्) उन सब पितरों को तू (हविषे अत्तवे) हविभक्षणार्थ (आवह) ले आ।

इस मंत्रमें यह बताया है कि चार प्रकारका अंत्येष्टि संस्कार होता है। (१)गाडना (२)बहाना(३)जलाना (४)हवामें खुला छोडना। यहां पर इन चारों संस्कारों से संस्कृत पितरों को हवि खाने के लिए अग्निको बुलालाने के लिए कहा गया है। इस मंत्रपर विशेष प्रकाश 'प्रेत व अंत्येष्टि नामक' शीर्षक के नीचे डालेंगे।

अग्निका पितरों को हवि पहुंचाना

ऊपर हमने देखा कि अग्नि पितरों को हवि खानेके लिए अपने साथ ले आती है। अब हम देखेंगे कि वह पितरों के पास हवि ले भी जाती है और वहां उन्हें देती है।

त्वमग्न ईळितो जातवेदोऽवाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी। प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि॥
ऋ० १०।१५।१२॥
तथा अथर्व० १८।३।४२॥

यह मंत्र यजुर्वेद में पाठभेद से निम्न प्रकार आया है—

त्वमग्न ईळितः कव्यवाहनावाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी। प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि॥
यजुः अ० १९।६६॥

अर्थ- (जातवेदः अग्ने!) हे जातवेदस् अग्नि! (ईळितः त्वं) स्तुति किया गया तू (हव्यानि) हव्यों को (सुरभीणि कृत्वी) सुगन्धित बनाकर (अवाट्) वहन कर। और फिर (पितृभ्यः प्रादाः) पितरों को दे। (ते) वे पितर (प्रयता हवींषि) दी गई हवियों को (स्वधया अक्षन्) स्वधाके साथ खावें। (देव) हे प्रकाशमान अग्नि! (त्वं) तू भी (अद्धि) उन हवियों को खा।

इस मंत्र में अग्नि से कहा गया है कि वह हवियों को ले जाकर पितरों को दे ताकि वे उन्हें खावें। यजुर्वेद में स्थित उपरोक्त मंत्र में अग्नि का विशेषण 'कव्य वाहन' आया हुआ है। पितरों के लिए दी गई हवि का नाम कव्य है। और क्यों कि अग्नि उस कव्य को पितरों को पहुंचाती है अतः उसे कव्यवाहन के नाम से पुकारा गया है। हम आगे

भी देखेंगे कि पितरों के प्रति हवि को ले जानेवाली अग्नि को कव्य वाहन के नाम से कहा गया है ।

अभूद् दूतः प्रहितो जातवेदाः सायं न्यह्न उपवन्द्यो नृभिः । प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि ॥
अथर्व० १८।४।६५॥

अर्थ- (सायं न्यह्ने) सायं काल और प्रातः काल (नृभिः उपवन्द्यः) नरों से वन्दना की जाती हुई (जातवेदाः) जातवेदस् अग्नि (प्रहितः दूतः अभूत्) भेजा हुआ दूत है । क्यों कि तू भेजा हुआ दूत है अतः हे (देव) प्रकाशमान अग्नि ! (प्रयता हवींषि) हमारे से दी गई हवियों को (पितृभ्यः प्रादाः) पितरों के लिए दे जिस से कि (ते) वे पितर जिन्होंने कि तुझे दूत बना कर भेजा है, (स्वधया अक्षन्) स्वधा के साथ हमारे द्वारा दी गई हवियों को खावें । (त्वं अद्धि) तू भी उन हवियों को खा । इस मंत्र से हमें पता चलता है कि जिस अग्नि की सायं व प्रातः वंदना की जाती है उस अग्नि को पितर अपना दूत बनाकर हमारे पास भेजते हैं और वह अग्नि हमारे पास से हवियों को ले जाकर पितरों को पहुंचाती है । हमारे से दी गई हवियों को पितरों तक पहुंचाने के लिए अग्नि माध्यम है यह यहां पर स्पष्ट होता है ।

उपरोक्त दोनों मंत्र इस बात को स्पष्ट कर रहे हैं कि अग्नि पितरों के पास हवि पहुंचाती है और पितर उसे अपना दूत बनाकर हवि लाने के लिए भेजते हैं ।

यो अग्निः कव्यवाहनः पितॄन् यक्षदृतावृधः ।
प्रेदु हव्यानि वोचति देवेभ्यश्च पितृभ्य आ ।
ऋ० १० । १६ । ११ ॥
तथा यजुः अ० १९ । ६५ ॥

अर्थ-(यः अग्निः) जो अग्नि (कव्यवाहनः) कव्य का अर्थात् पितरों की हवि का वहन करनेवाली है और जो (ऋतावृधः पितॄन् यक्षत्) यज्ञ वा सत्य से बढने वाले पितरों का यजन करती है वह अग्नि (देवेभ्यः पितृभ्यः च हव्यानि प्रवोचति) देवों और पितरों के लिए हव्यों को कहे अर्थात् देवों व पितरों से कहे कि मैं तुम्हारे लिए हव्य ले आई हूं ।

पूर्व मंत्र में हम अभी देख आए हैं कि अग्नि पितरों का दूत बनकर उनके लिए हवियों को ले आती है । हवि ले आनेपर पितरों को वह सूचीत करती है कि तुम्हारे लिए मैं हवि ले आई हूं इसी भावको इस मंत्र में कहा गया है । यहांपर अग्नि को कव्यवाहन कहा गया है । देवों व पितरों दोनों को ही अग्नि हवि पहुंचाती है यह भी इससे पता चलता है ।

निम्न मंत्र में भी अग्नि को कव्यवाहन के नाम से कहा गया है ।

अग्नये कव्यवाहनाय स्वधा नमः ॥
अथर्व० १८ । ४ । ७१॥

अर्थ--(कव्य वाहनाय अग्नये) कव्य का वहन करनेवाली अग्नि के लिए (स्वधा नमः) स्वधा और नमस्कार होवे ।

पितरों के लिए दी जाती हविका नाम कव्य है और देवों के लिए दी जाती हवि का नाम हव्य है ।

अग्निका दूरगत पितरोंको जानना ।

समिन्धते अमर्त्यं हव्यवाहं घृतप्रियम् ।
स वेद निहितान् निधीन् पितॄन् परावतो गतान् ॥ अथर्व० १८।४।४१ ॥

अर्थ- (अमर्त्यं) मरणधर्मसे रहित (घृतप्रियं) जिसको घी बहुत प्रिय है ऐसी (हव्यवाहं) हव्यों का वहन करनेवाली अग्निको पितृगण (समिन्धते) अच्छी प्रकार प्रदीप्त करते हैं । और (सः) वह अग्नि (निहितान् निधीन्) छिपेहुए खजानों की तरह [यहां लुप्तोपमा है] (परावतो गतान् पितॄन्) दूरगत पितरोंको (वेद) जानती है ।

यहांपर यह बताया गया है कि छिपे हुए खजानों की तरह जो पितर सर्वथा आंखोंसे ओझल हैं अर्थात् सर्वथा अदृश्य हैं (चाहे वे दूर देशमें जानेसे अदृश्य हों या परलोकवासी होनेसे अदृश्य हों) उन्हें अग्नि जानती है । इसी लिए अग्निसे कहा गया है कि वह पितरोंको हवि पहुंचाए और इसी लिए वही पहुंचा सकती है ।

ये चेह पितरो ये च नेह यांश्च विद्म यां उ च न प्र विद्म । त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभि-

यज्ञं सुकृतं जुषस्व ॥ ऋ. १०।१५।१३ ॥

अर्थ- (ये च इह पितरः) जो पितर यहां पर हैं, (ये च न इह) और जो यहांपर नहीं हैं, (यान् च विद्मः) तथा जिन पितरोंको हम जानते हैं,(यां च न प्र विद्म) तथा जिन पितरोंको हम नहीं जानते, इस प्रकारके (यति ते) जितने भी वे पितर हैं उन सबको (जातवेदः)हे जातवेदस् अग्नि (त्वं वेत्थ) तू जानती है । (स्वधाभिः) स्वधाओंके साथ (सुकृतं यज्ञं) उत्तम प्रकारसे किए हुए यज्ञको (जुषस्व) प्रीति पूर्वक ग्रहण कर ।

इस मंत्रमें स्पष्ट रूपसे अग्निको विद्यमान अविद्यमान, ज्ञात अज्ञात, आदि सब प्रकारके पितरोंको जाननेवाला बताया गया है ।

निम्नमंत्रमें अग्निका पितरोंको पितृलोकमें पहुंचानेका निर्देश है ।

यद् वो अग्निरजहादेकमङ्गं पितृलोकं गमयं जातवेदाः । तद् व एतत् पुनराप्याययामि साङ्गाः स्वर्गे पितरो मादयध्वम्।

अथर्व० १८ । ४ । ६४

अर्थ— हे पितरो ! (वः यत् एकं अङ्गं) तुम्हारे जिस एक अङ्गको (पितृलोकं गमयन् जातवेदाः अग्निः) पितृलोकमें ले जाती हुई जातवेदस् अग्निने (अजहात्) छोड दिया है (वः तत् एतत्)तुम्हारे उस इस अङ्ग को मैं (पुनः) फिर (आप्याययामि) पूर्ण करता हूं । (साङ्गाः पितरः)अपने सब अङ्गों से युक्त हुए हुए पितरो! (स्वर्गे मादयध्वम्) स्वर्ग में आनन्दित होओ ।

इस मंत्र से ऐसा पता चलता है कि अग्नि मरने के अनन्तर पितरों को पितृलोक में ले जाती हुई उनके शरीर के किसी अवयव को यहांपर छोड जाती है। परन्तु इस कथन का क्या अभिप्राय है यह कुछ समझमें नहीं आता। अंत्येष्टि संस्कार में शवका अग्नि से दाह करने पर प्रत्यक्ष रूपमें तो कोई भी अङ्ग अवशिष्ट नहीं रह जाता ! इस मंत्र का कोई अवश्य गूढार्थ होना चाहिए । और जबतक इस विषय में कुछ पता नहीं चलता तबतक यह एक समस्या के रूपमें हमारे सामने उपस्थित है। पाठक विचार कर इस समस्या को हल करनेका प्रयत्न करेंगे ऐसी आशा है ।

इसके सिवाय पितृयाण में हम निर्देश कर आए थे कि अग्नि पितृयाण मार्ग को जानती है। यहां हमें पता चलता है कि अग्नि पितरों को जानती है, पितृलोक को जानती है। इतना ही नहीं अपितु पितृलोकमें जाकर पितरों को हवि पहुंचाती है और वहांसे उन को हमारे यज्ञों में भी अपने साथ ले आती है । हमने पितृयाण में यह भी देखा कि पितर सूर्य किरणों के साथ जाते हैं । इन बातों से ऐसा पता चलता है कि पृथिवी लोक की हदतक पार्थिव अग्नि पितरों को ले जाती है तथा द्युलोक में वही अग्नि सूर्य रूप में परिणत होकर ले जाती है । इस प्रकार द्युलोक में जाने के पितृयाण मार्ग का कुछ पता किया जा सकता है । अबतक का विवेचन इतना हमें जरूर बतलाता है कि पितरों को अग्नि अपने साथ पितृलोकमें ले जाती है और वहांसे अपने साथ पुनः यज्ञादिमें हवि आदि खानेके लिए ले भी आती है ।

अग्निका मृत पुरुषको पितरोंके पास पहुंचाना !

पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः । स त्वैतेभ्यः परिददत् पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः॥ ऋ. १०। १७ । ३ ॥

तथा अथर्व-१८ । २ ।५४ ॥

अर्थ- (अनष्टपशुः भुवनस्य गोपाः पूषा) हे मृत मनुष्य ! निरन्तर प्रकाशमान प्राणिमात्रका रक्षक पूषा, (विद्वान् त्वा इतः प्रच्यावयतु) जानता हुआ अपनी रश्मियों द्वारा तेरी आत्माको इस पृथिवी लोकसे प्रकृष्ट मार्गकी ओर ले जावे । (सः अग्निः) वह अग्नि (त्वा) तुझे (एतेभ्यः पितृभ्यः) इन पितरोंके लिए या (सुविदत्रियेभ्यः देवेभ्यः) उत्तम धनवाले देवोंके लिए (परि ददत्) देवे ।

यह मंत्र भी उपरोक्त परिणाम को स्पष्ट रूपसे पुष्ट कर रहा है । यास्काचार्यने पूषाका अर्थ आदित्य किया है । (निरु० ७।३।९). तदनुसार सूर्य मृत पुरुषकी आत्माको अपनी रश्मियोंसे ले जाता है ऐसा प्रतीत होता है। पितृयाणमें जो मंत्र (ऋ· १।१०९।७) हमने

दिया है उसीकी यह मंत्र पुष्टि करता हुआ प्रतीत होता है।

मैनमग्ने विदहो माभि शोचो मास्यत्वचं चिक्षिपो मा शरीरम् । यदाशृतं कृणवो जातवेदोऽथेमेनं प्र हिणुतात् पितृभ्यः ॥
ऋ० १० । १६ । १॥

यह मंत्र अथर्व वेद में थोडेसे पाठभेदके साथ निम्न प्रकार आया है ।

मैन मग्ने विदहो माभि शूशुचो मास्यत्वचं चिक्षिपो मा शरीरम् । शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं प्र हिणुतात् पितृभ्यः ॥
अथर्व० १८ । २ । ४ ॥

अर्थ— (अग्ने) हे अग्नि ! (एनं मा विदहः) इस प्रेतको इस प्रकारसे मत जला कि जिससे इसे विशेष कष्ट हो । (मा अभि शोचः) इसे शोकाकुल मत कर । (अस्य त्वचं मा चिक्षिपः) इसकी चमडी को मत फैंक । (मा शरीरं) और इस प्रेतके शरीर कोभी मत फैंक अर्थात् इसकी त्वचा व शरीर पूर्णतया जला दे कोईभी भाग दहन क्रियासे अवशिष्ट न रहे। और (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि ! (यदा शृतं कृणवः) जब तू इस प्रेतको परिपक्व बनादे अर्थात् पूर्णतया जला दे (अथ) तब(एनं) इसको (पितृभ्यः प्रहिणुतात्) पितरोंके लिए भेज दे अर्थात् पितृलोकमें पितरोंके पास पहुंचा दे ।

यह मंत्र अद्यपि अंत्येष्टि संस्कार विषयक है तथापि अग्निका पितरोंके लिए प्रेत देनेका कार्य दर्शानेके लिए यहां दिया गया है ।

इस मंत्रके उत्तरार्धसे ऐसा पता चलता है कि जबतक देह संपूर्णतया जल नहीं जाती तबतक आत्मा देहके आसपास ही मंडलाती रहती है । इस परिणामानुसार तो आत्मा को शीघ्र मुक्त करनेके लिए व उसके लिए निर्धारित स्थान पर भेजनेके लिए शरीरका दहन करना अधिक उत्तम प्रतीत होता है।

शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं परिदत्तात् पितृभ्यः । यदागच्छात्यसुनीतिमेतामथा देवानां वशनीर्भवाति ॥ ऋ. १०।१६।२ ॥

अर्थ— (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि ! (यदा शृतं करसि) जब इस प्रेतको पूर्णतया पक्व अर्थात् दग्ध करदे, (अथ एनं पितृभ्यः परिदत्तात्) तब इसको पितरोंके लिए सौंपदे । (यदा) जब यह प्रेत (एतां असुनीतिं गच्छाति) इस प्राणोंके नयन को प्राप्त होता है अर्थात् जब इसके प्राण निकल जाते हैं (अथ) तब प्राणों के निकल जाने के बाद प्रेत(मृत शरीर)(देवानां वशनीः भवाति) देवों के वश हो जाता है ।

प्रेत देवोंके वश किस प्रकार होता है वह इसी मंत्र के बाद के मंत्र अर्थात् ऋ. १० ।१६॥३॥ में दर्शाया है।

सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा । अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः ऋ. १० । १६ । ३ ॥

अर्थ - हे प्रेत तेरी (चक्षुः सूर्यं गच्छतु) आंख सूर्य को जावे । (आत्मा वातं) तेरी आत्मा (प्राण) वायु को जावे । और हे प्रेत (धर्मणा) धर्मसे अर्थात् कर्म फल जन्य धर्म से अथवा पार्थिवादि तत्वों के धर्म से अर्थात् जो पार्थिव तत्व है वह पृथिवी मे जावे इत्यादि रीतिसे (द्यांच पृथिवीं च गच्छ) द्यु व पृथिवी को जा, अर्थात् जो द्युका अंश तेरे में है वह द्युमें जावे व पृथिवीका है वह पृथिवी में जावे । (वा) अथवा (अपो गच्छ) जलों में जलांश जावे (यदि तत्र ते हितं) यदि वहां का कोई अंश तेरेमें विद्यमान हो । और इसी प्रकार (ओषधीषु शरीरैः प्रतितिष्ठा) ओषधियों में शरीरांशोंसे स्थित हो अर्थात् ओषधि का अंश ओषधिमें चला जावे ।

यह ऋग्वेदके १०वें मण्डलका सम्पूर्ण १६वां सूक्त अंत्येष्टि संस्कार विषयक है अतः हम इस संपूर्ण सूक्त पर आगे चलकर स्वतंत्र विचार करेंगे । यहां पर हमें इतनाही देखना था कि अग्नि प्रेतको क्या करती है, और तदनुसार हमने देखा कि प्रेतको अग्नि पितृलोकमें पितरोंके पास पहुंचाती है ।

मरनेपर पितृलोकमें जाना ।

जीवानामायुः प्रतिरत्वमग्ने पितृणां लोकमपि गच्छन्तु ते मृताः । सु गार्हपत्यो वितपन्नरातिमुषामुषां श्रेयसीं धेह्यस्मै ॥ अथर्व० १२।२।४५ ॥

अर्थ- (अग्ने) हे अग्नि ! (त्वं जीवानां आयुः प्रतिर) तू जीवितोंकी आयु को बढा और जब (ते मृताः) वे मर जावें तब (पितॄणां लोकं अपि गच्छन्तु) पितृलोकमें जावें, अर्थात् जबतक वे जीवित हैं तबतक उनकी आयु वृद्धि करता रह और जब मरें तब पितृलोकमें पहुंचा दे(अरातिं वितपन्) न दान देने वालेको विशेष रूपसे तपाता हुआ (सुगार्हपत्यः) उत्तम गार्हपत्य तू (अस्मै) इस जीवके लिए (श्रेयसीं उषां उषां) कल्याण कारिणी प्रत्येक उषाको (धेहि) धारण कर, अर्थात् इसके लिए प्रत्येक उषा कल्याण करनेवाली हो।

इस मंत्रमें अग्निसे उषा देनेकी प्रार्थना की गई है, परन्तु उषा तो सूर्य देता है अतः यहां अग्नि सूर्यके लिए आया है ऐसा प्रतीत होता है। इसके सिवाय सूर्यसे भी दीर्घायु की प्रार्थना करने वाले मंत्र हैं तथा पहिले हम यह भी देख आए हैं कि सूर्य किरणोंसे पितर पितृलोक में जाते हैं, अतः अग्निसे यहां सूर्यका ग्रहण है और सूर्यसे कहा गया है कि वह मृत को पितृलोक में ले जावे।

पितृलोककी अवधि पूर्ण होने पर अग्नि फिर वापिस मर्त्यलोकमें जीवात्माको लौटा लाती है यह निम्न मंत्र हमें दर्शा रहा है -

अवसृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्च
रति स्वधाभिः। आयुर्वसान उपवेतु शेषः
संगच्छतां तन्वा जातवेदः ॥ ऋ॰ ॥ १०। १६। ५॥

यही मंत्र अथर्व वेदमें थोडेसे पाठ भेदके साथ निम्न प्रकार आया है।-

अवसृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुत-
श्चरति स्वधावान् आयुर्वसान उपयातु शेषः
संगच्छतां तन्वा सुवर्चाः॥ अथर्व. १८। २। १०॥

अर्थ-(अग्ने) हे अग्नि ! (यः) जो (ते आहुतः) तेरेमें अंत्येष्टि के समय आहुत किया हुआ (स्वधाभिः चरति) स्वधाओं द्वारा अर्थात् स्वधाओंको खाता हुआ विचरण करता है उसको (पितृभ्यः) पितरोंसे (पुनः) फिर लाकर (अवसृज) यहां छोड, जिससे कि (शेषः) यह पुनर्जन्म लिया हुआ अपत्य (उपयातु) कुटुंबियों को प्राप्त करे तथा (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि (तन्वा संगच्छतां) यह शरीर से युक्त होवे।

शेष नाम संतान का है।

'शेष इत्यपत्यनाम शिष्यते इति '। निरु० ३। २॥

अथवा इस मंत्रका अर्थ निम्न प्रकारभी किया जा सकता है।

हे अग्ने ! जो पुरुष तेरेमें अंत्येष्टिके समय आहुत किया हुआ स्वधाओंसे विचरण कर रहा है उसे पितरों के लिए दे अर्थात् उसे पितृलोकमें पहुंचा। यहां शेष अर्थात् मृत पुरुष की संतान दीर्घजीवन धारण करती हुई अपने घर जाए। वह तेजयुक्त शरीर को प्राप्त होवे।

इस अर्थ के अनुसार इस मंत्र का भी विनियोग अंत्येष्टि संस्कार में किया जा सकता है। मंत्रके पूर्वार्ध से मृत पुरुष के लिए प्रार्थना की गई है तथा उत्तरार्ध से दाह संस्कार में आई हुई मृत पुरुष की संतान के लिए दीर्घायु की प्रार्थना है।

क्रव्यात् अग्नि।

जिस अग्नि का अंत्येष्टि संस्कार में विनियोग किया जाता है उस अग्नि का नाम क्रव्यात् अग्नि है ऐसा प्रतीत होता है। क्रव्यात् अग्नि का अर्थ है मांसाहारी अग्नि अर्थात् जिसमें मांस होमा जाता है वह अग्नि। अंत्येष्टि संस्कारमें मृत देह को होमा जाता है अतः इसका नाम क्रव्यात् अग्नि है। इसके सिवाय कइयोंका ऐसा भी मत है कि अन्यत्र पितृ यज्ञादिमेंभी मांस होमा जाता है और अतः उस अग्निका नाम क्रव्यात् अग्नि है। हम पीछे ' पितरोंके प्रति हमारे कर्तव्य ' इस शीर्षक के नीचे देख आए हैं कि दो एक मंत्र हमें ऐसे भी मिले हैं जिनमें कि पितरोंके लिए वपा मांस आदि देनेका निर्देश मिलता है। श्राद्ध करनेवाले लोक पितरोंके लिए मांसका विधान मानते हैं परंतु मांस देनेके समय उसके स्थान पर माश (उडद) देते हैं। परंतु हमें ऐसा प्रतित होता है कि मृत शरीर होमा जानेके कारण ही वपा और मांस के होमने की कल्पना वेदमें की गई है, क्यों कि मृत

शरीरमें वपा और मांस तथा मेद होते हैं ।

अस्तु, अब हम देखते हैं कि क्रव्यात् अग्नि के क्या कार्य हैं व पितरोंसे उस का क्या विशेष संबन्ध है ।

क्रव्यादमग्निं प्रहिणोमि दूरं यमराज्ञो गच्छतु रिप्रवाहः । इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन् ॥ ऋ. १०।१६।९ ॥
यजुः अ० ३५।१९ ॥ अथर्व० १२।२।८

अर्थ- (क्रव्यादं अग्निं दूरं प्रहिणोमि) मांस भक्षक अग्निको दूर भिजवाता हूं । (रिप्रवाहः) पापका वहन करनेवाली वह अग्नि (यमराज्ञः गच्छतु) जहांका यम राजा है उन प्रदेशोंको चली जावे । (इह) यहां पर (अयं इतरः जातवेदाः प्रजानन्)यह दूसरी क्रव्यात् अग्निसे भिन्न जातवेद- स् अग्नि जानती हुई (देवेभ्यः हव्यं वहतु) देवोंके लिए हव्यों का वहन करे अर्थात् उन्हें पहुंचावे ।

इस मंत्रमें क्रव्यात् अग्निको यमराजके देशमें भेजनेका निर्देश है और साथही क्रव्यात् अग्नि देवोंके हव्यके वहन करनेके लिए अनुपयुक्त है यहभी बताया गया है । इसका अभिप्राय यह है कि क्रव्यात् अग्निका संबन्ध यम लोकसे है जहां कि पितर रहते हैं ।

यो अग्निः क्रव्यात् प्रविवेश वो गृहमिमं पश्य- न्नितरं जातवेदसम् । तं हरामि पितृयज्ञाय देवं स घर्ममिन्वात् परमे सधस्थे ॥
ऋ० १० । १६ । १० ॥

यह मंत्र थोडेसे पाठान्तरसे अथर्ववेदमें निम्न प्रकार आया है ।

यो अग्निः क्रव्यात् प्रविवेश गृहमिमं पश्य- न्नितरं जातवेदसम् । तं हरामि पितृयज्ञाय दूरं स घर्ममिन्धां परमे सधस्थे ॥
अथर्व. १२ । २ । ७ ॥

अर्थ - (यः क्रव्यात् अग्निः) जो मांसाहारी अग्नि (इमं इतरं जातवेदसं पश्यन्) इस दूसरी जातवेदस नामक अग्निको देख कर (वः गृहं प्रविवेश) तुम्हारे घर में घुस गई है (तं देवं) उस दीप्यमान क्रव्यात् अग्निको(पितृयज्ञाय हरामि) पितृयज्ञके लिए हरता हूं । (सः) वह (परमे सधस्थे) परम सधस्थमें (घर्मं) यज्ञको (इन्वात्) प्राप्त होवे । यहांपर इस बातको स्पष्ट किया गया है कि क्रव्यात् अग्नि पितृयज्ञके लिए काम आती है । इसका यह मतलब प्रतीत होता है कि पितृ- यज्ञमें मांसकी आहुतियां हैं जिसके लिए दूसरी अग्नि अनुपयुक्त है । इसी अग्निमें पितरोंके लिए मांस व वपाका होम (जैसा कि पूर्व देख आए हैं) होता होगा । इसके साथ साथ हम यह भी देखते हैं कि क्रव्यात् अग्निसे भिन्न दूसरीको जात- वेदस् के नामसे कहा गया है । क्रव्यात् अग्निको जातवेदस् से नहीं कहा गया । इसका मतलब यह है कि पितृयज्ञको छोडकर अन्यत्र सर्वत्र जात- वेदस् अग्निका विनियोगही होता है। खास पितृयज्ञ वा पितरोंके अन्य कार्योंके लिए जैसे शवदहनादिके लिए क्रव्यात् अग्निका प्रयोग होता है ।

क्रव्यादमग्निमिषितो हरामि जनान् दृहन्तं वज्रेण मृत्युम् । नि तं शास्मि गार्हपत्येन विद्वान् पितॄणां लोकेऽपि भागो अस्तु ॥
अथर्व० १२ । २ । ९ ॥

अर्थ- (इषितः) प्रेरणा किया गया मैं (जनान् मृत्युं दृहन्तं) मनुष्यों को मृत्युसे दृढ करती हुई अ- र्थात् मनुष्यों में मृत्यु संख्या को बढाती हुई (क्र- व्यादं अग्निं) क्रव्यात् अग्निको (वज्रेण) वज्रद्वारा (हरामि) दूर भगाता हूं । (विद्वान्) ज्ञानी मैं (तं गार्हपत्येन निशास्मि) उस क्रव्यात् अग्नि को गार्हपत्य द्वारा पूर्णतया शासित करता हूं ताकि मृत्यु मनुष्यों में दृढ न होने पावे । इस प्रकार क्रव्या- त् अग्नि पर शासन करने के कारण (पितॄणां लोके ऽपि) पितरों के लोक में भी (भागः अस्तु) मेरा भाग हो ।

क्रव्यात् अग्नि पर शासन करने से अर्थात् उसे वश में करनेसे पितृलोक में भाग मिलता है ऐसा इस मंत्रसे प्रतीत होता है अर्थात् पितृ लोकमें यदि भाग चाहिए तो क्रव्यात् अग्नि को वशमें करना चाहिए ।

क्रव्यात् अग्नि के रहने का स्थान मुख्यतया पितृलोक ही है ऐसा इस नीचे के मंत्रसे ज्ञात होता है ।

क्रव्यादमग्निं शशमानमुक्थ्यं प्रहिणोमि पथिभिः पितृयाणैः। मा देवयानैः पुनरागा अत्रैवैधि पितृषु जागृहि त्वम् ॥ अथर्व० १२ । २। १०

अर्थ- (शशमानं उक्थ्यं क्रव्यादं अग्निं) शशमान, प्रशंसा के योग्य, मांस भक्षक अग्नि को (पितृयाणैः पथिभिः) पितृयाणमार्गों द्वारा (प्रहिणोमि) पितृलोकमें भेजता हूं। (देवयानैः पुनः मा अत्र आगाः) देवयान मार्गों द्वारा फिर यहां वापिस लौट कर मत आ। (एधि) वहीं पर वृद्धि को प्राप्त हो। (पितृषु एव त्वं जागृहि) पितरों में ही तू जागती रह, अर्थात् उन्ही में तू सावधानता पूर्वक रह।

क्रव्यात् अग्निका पितरों से कोई विशेष संबन्ध है अतएव उसे पितरों में ही रहने के लिए तथा वापिस न आने के लिए आदेश इस मंत्र में दिया गया है।

शशमान-शशप्लुतगतौ से यह शब्द बना है। प्लुत गति का अर्थ उछल उछलकर जाना है। यहां पर क्रव्यात् अग्नि का शशमान विशेषण दिया है। इसका मतलब यह प्रतीत होता है कि क्रव्यात् अग्नि मांस को चटक चटक कर जलाती है। उस चटकने को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि मानो उछल उछल कर जल रही है इसी कारण संभव है इसे शशमान से पुकारा गया है।

अपावृत्य गार्हपत्यात् क्रव्यादा प्रेत दक्षिणा।
प्रियं पितृभ्यः आत्मने ब्रह्मभ्यः कृणुता प्रियम्॥
अथर्व० १२ । २। ३४॥

अर्थ- (गार्हपत्यात्) गार्हपत्य अग्निसे (अपावृत्य) हटकर अर्थात् गार्हपत्य अग्निको छोडकर (क्रव्यादा) क्रव्यात् अग्नि के साथ (दक्षिणा प्रेत) दक्षिण दिशा को जा ओ। (आत्मने पितृभ्यः प्रियं कृणुत) अपने लिए तथा पितरों के लिए प्रिय करो। (ब्रह्मभ्यः प्रियं) ब्रह्म ज्ञानियोंके लिए प्रिय करो।

हमें वेद मंत्रों के देखने से पता चलता है कि पितरों की दक्षिण दिशा है। और उपरोक्त मंत्रों से यह भी भली प्रकार ज्ञात हो चुका है कि क्रव्यात् अग्नि पितरोंमें रहती है। इन दो बातों को लक्ष्यमें रखते हुए इस मंत्र को देखने से इस का भाव समझमें आ सकता है। यहांपर क्रव्यात् अग्नि के साथ दक्षिण दिशामें जानेका आदेश है। इसके सिवाय यह भी हमें पता चलता है कि क्यों कि पितरों की दक्षिण दिशा है अतः पितृलोक दक्षिण में है।

क्रव्यात् अग्नि के इतने विवेचन से क्रव्यात् अग्नि के कार्य क्या हैं व उसका पितरों से क्या संबन्ध है इत्यादि बातें पाठकों के ध्यान में आगई होंगी।

अब अग्नि के अन्य कार्यों को दर्शाने वाले मंत्रों को दिया जाता है।

निम्न मंत्र में अग्नि का पितरोंमें प्रविष्ट हुए हुए दस्युओं का यज्ञ से हटाना बतलाया गया है। मंत्र इस प्रकार है।

ये दस्यवः पितृषु प्रविष्टा ज्ञातिमुखा अहुतादश्चरन्ति। परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टानस्मात् प्र धमाति यज्ञात् ॥ अथर्व० १८।२।२८॥

अर्थ- (ज्ञातिमुखाः) ज्ञातियों के सदृश मुखवाले अर्थात् जो सजातीय हैं और जो कि (अहुतादः) अहुत अर्थात् न दिए हुए को खानेवाले हैं यानि जबरदस्ती जो छीनकर खा जानेवाले हैं ऐसे (ये दस्यवः) जो उपक्षय करनेवाले (पितृषु प्रविष्टाः) पितरों में प्रविष्ट हुए हुए (चरन्ति) विचरण करते हैं, और (ये) जो (परापुरः) पुत्रों को तथा (निपुरः) पौत्रों को (भरन्ति) हरण करते हैं (तान्) उन दस्युओं को (अग्निः) अग्नि (अस्मात् यज्ञात्) इस यज्ञसे (प्र धमाति) दूर भगा देता है, यज्ञमें आने नहीं देता।

भरन्ति = हरन्ति। ' हृग्रहोर्भश्छन्दसि ' से ह को भ हो गया है।

इस मंत्र से यह प्रतीत होता है कि अन्य ज्ञाति गण जिनकी कि पितरों में गिनती नहीं है और जो हमारा व हमारी संतति का चुपके चुपके नाश करते रहते हैं, और जो हमारे न जानते हुए हवियों को जो कि पितरों के उद्देश से दी गई हैं खाते रहते हैं। पर जब यज्ञमें वे आकर ऐसा करते हैं तो अग्नि उन्हें यज्ञसे दूर भगा देती है, उन्हें पितरों में बैठकर

हवि खाने नहीं देती। इससे यह भी परिणाम निकाला जा सकता है कि पितरों के लिए जो भी कुछ देना हो वह अग्नि द्वारा अर्थात् यज्ञ करके ही देना चाहिए ताकि वह पितरों को ही मिले। अग्नि ज्ञाति मुख लोकों को न लेने देगी।

अग्निके शरीरका पितरोंमें प्रवेश।

यस्ते देवेषु महिमा स्वर्गो या ते तनूः पितृष्वाविवेश। पुष्टिर्या ते मनुष्येषु प्रपथेऽग्ने तया रयिमस्मासु धेहि ॥ अथर्व० १९। ३। ३॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्नि ! (यः ते महिमा) जो तेरी महिमा (देवेषु स्वर्गः) देवों में सुख पहुंचाने वाली है और (या ते तनूः) जो तेरा शरीर (पितृषु आविवेश) पितरों में प्रविष्ट हुआ हुआ है तथा (या ते पुष्टिः) जो तेरी पोषकता (मनुष्येषु पप्रथे) मनुष्यों में फैली हुई है (तया) उस से (अस्मासु रयिं धेहि) हमारे अन्दर रयि को धनसम्पत्ति को स्थापित कर अर्थात् हमें धनसम्पत्ति दे।

यहां पर अग्नि अपने शरीर से पितरों में प्रविष्ट हुई हुई है यह बात दिखाई गई है। अग्नि सदा पितरों में विद्यमान रहती है ऐसा इसका अभिप्राय मालूम पडता है।

निम्न मंत्र में पितरों से यह प्रार्थना की गई है कि न तो अग्नि हमसे द्वेष करे और नहीं हम अग्नि से द्वेष करें। मंत्र निम्न है —

यो नो अग्निः पितरो हृत्स्वन्तरा विवेशामृतो मर्त्येषु। मय्यहं तं परि गृह्णामि देवं मा सो अस्मान् द्विक्षत मा वयं तम् ॥
अथर्व० १२। २। ३३॥

अर्थ- (पितरः) हे पितरो ! (यः अमृतः अग्निः) जो अमरणशील अग्नि (वः मर्त्येषु हृत्सु) हम मरणशीलों के हृदयों में (आविवेश) प्रविष्ट हुई हुई है (तं देवं) उस प्रकाशमान अग्नि को (अहं मयि परि गृह्णामि) मैं अपने अन्दर सब ओरसे ग्रहण करता हूं-- स्थापित करता हूं। (सः) वह अग्नि (अस्मान् मा द्विक्षत) हम मर्त्यों से द्वेष मत करे और (वयं मा तं) हम उससे द्वेष मत करें। दोनों परस्पर द्वेष न करते हुए मिलकर रहें।

उपरोक्त मंत्र में पितरों से प्रार्थना की गई है कि अग्नि हमसे द्वेष न करे व हम अग्निसे द्वेष न करें। नीचे लिखे मंत्र में अग्नि से प्रार्थना की गई है कि देव तथा पितर हमारे साथ जबरदस्ती न करें। मंत्र इस प्रकार है--

मो षू णो अत्र जुहुरन्त देवा मा पूर्वे अग्ने पितरः पदज्ञाः। पुराण्योः सद्मनोः केतुरन्तर्महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥ ऋ० ३। ५५। २॥

अर्थ -- (अग्ने) हे अग्नि ! (अत्र) यहांपर (देवाः मो नः सुजुहुरन्त) देवगण हमारे साथ जबरदस्ती मत करें। और (पूर्वे पदज्ञाः पितरः मा) पुरातन अर्थात् पूर्वकालीन पदज्ञ पितृगण जबरदस्ती मत करें। क्योंकि हे अग्नि ! (केतुः) प्रकाशक तू (पुराण्योः सद्मनोः) पुरातन द्यावापृथिवीके (अन्तः) अन्दर सूर्य रूपसे प्रकाशित होती है (अध्याहार)। और क्योंकि तू (देवानां एकं महत् असुरत्वं) देवोंका एक महान् प्राणदाता है।

यहांपर अग्निसे कहा गया है कि देव तथा पितर हमारे साथ जबर्दस्तीका व्यवहार न करें। हमारी इच्छाके विरुद्ध हठ करके वे हमें किसीभी कार्यमें प्रवृत्त न करें। सूर्यके लिए यहां पर अग्नि शब्दको प्रयुक्त किया गया है ऐसा ज्ञात होता है क्यों कि द्यु तथा पृथिवी दोनोंपर सूर्य प्रकाशित होता है अग्नि नहीं। इसके अतिरिक्त 'महद्देवानां असुरत्वमेकं' सेभी यही पता चलता है। सूर्यमें सब देवोंको प्राणशक्ति देनेका सामर्थ्य है,जैसा कि असुरत्व बता रहा है।

असुरत्व- असु नाम है प्राणका। 'प्राणो वा असुः' श० ६।६।२।६ ॥ असुं प्राणं राति ददातीति असुरः प्राणदाता आत्मा। असुरस्य भावः असुरत्वम्- आत्माकी प्राण देनेकी शक्ति। सूर्यको देवोंकी आत्मा कहा गया है। 'सूर्यो वै सर्वेषां देवानामात्मा' ॥ श० १४।३।२।९ ॥

जुहुरन्त — हृ प्रसह्यकरणे धातु के लङ् लकार का रूप है। 'प्रसह्यकरणे' का अर्थ होता है हठ पूर्वक जबरदस्ती कोई काम करना।

पितरोंकी रक्षार्थ अग्निकी उत्पत्ति ।

होता जनिष्ट चेतनः पिता पितृभ्य ऊतये ।
प्रयक्षञ्जेन्यं वसु शकेम वाजिनो यमम्॥ ऋ० २।५।१

अर्थ- (चेतनः) चेतनावाला व चेतना देनेवाला (पिता)पालक व रक्षक(होता)लेने व देनेवाला (अग्निः)अग्नि (पितृभ्यः ऊतये) पितरों की रक्षाके लिए(अजनिष्ट) उत्पन्न हुआ है। उस अग्निकी सहायतासे (वाजिनः) बलवान वा अन्नसे युक्त हुए हुए हम (प्रयक्षं) अत्यन्त पूजनीय (जेन्यं) जयशील-जीतने लायक (वसु) धनका (यमं शकेम) नियमन करनेमें समर्थ हों॥ अर्थात् इस प्रकारके धन को हम अपने पास स्थिर रखने में समर्थ हो सकें ।

इस मंत्रमें अग्निकी उत्पत्तिका प्रयोजन पितरोंकी रक्षा बताया गया है । हम ऊपर देख आए हैं कि अग्नि पितरोंकी पर्याप्त सहायक है । उसके विना पितरोंकी रक्षा संभव नहीं । इसीको यह मंत्र प्रतिपादित कर रहा है ।

वैश्वानर अग्निका पितरोंको धारण करना ॥

वैश्वानरे हविरिदं जुहोमि साहस्रं शतधारमुत्सम्। स बिभर्ति पितरं पितामहान् प्रपितामहान् बिभर्ति पिन्वमानः ॥ अथर्व० १८ । ४ । ३५ ॥

अर्थ— (वैश्वानरे इदं हविः जुहोमि) वैश्वानर अग्निमें यह हवि डालता हूं जो कि हवि (शतधारं साहस्रं उत्सं इव) सैंकडों व हजारों धाराओंवाले स्रोतके समान सैंकडों व हजारों धाराओंवाली है । (सः) वह वैश्वानर अग्नि (पिन्वमानः) उस हविसे तृप्त हुई हुई (पितरं पितामहान् प्रपितामहान् बिभर्ति) पिताका, दादाओंका तथा परदादाओं का धारण पोषण करती है।

यहां पर अग्निको वैश्वानरके नामसे कहा गया है । वैश्वानरका अर्थ है सब नरोंको लेजाने वाला । अग्नि सब मनुष्योंको ले जाती है । अंत्येष्टिमें सब मनुष्योंको अग्निमें जलाया जाता है और फिर अग्नि सबको पितृलोकमें ले जाती है जैसा कि हम ऊपर देख आए हैं । इस प्रकार अग्नि वैश्वानर है । इस मंत्रमेंभी उपरोक्त कथनोंकी ही पुनरावृत्ति की गई है । पितरोंके लिए जो कुछ देना हो वह अग्निको देना चाहिए वह उन्हें पहुंचाती है और इस प्रकार उनका धारण पोषण करती है ।

(२)
अग्निष्वात्त पितर ।

अग्निष्वात्त का क्या अर्थ है यह एक विचारणीय विषय है । क्योंकि भिन्न भिन्न भाष्यकर्ताओंने इसका भिन्न भिन्न अर्थ किया है। वेद मंत्रोंसे इसका क्या अर्थ निकलता है यह हमने देखना है । अग्निष्वात्तका शब्दार्थ इस प्रकार है- ' अग्निना स्वात्ताः स्वादिता ते अग्निष्वात्ताः ' अर्थात् जिनका अग्निने स्वाद लिया है यानि जो अग्निमें जलाए गए हैं । इसी विग्रहकी तथा इस अर्थ की पुष्टि शतपथ ब्राह्मण कर रहा है- ' यानग्निरेव दहन्त्स्वदयति ते पितरो अग्निष्वात्ताः ' । श० २।६।१।७ ॥ अर्थात् जिनको अग्नि ही जलाती हुई स्वाद लेती है वे पितर अग्निष्वात्त कहलाते हैं । इस विवेचन से अग्निष्वात्त पितरोंके विषयमें हमारे सामने यह परिणाम निकला कि जिनका अंत्येष्टि संस्कार अग्निद्वारा होता है उन पितरोंका नाम अग्निष्वात्त पितर है । अब हम वेद मंत्रोंपर दृष्टि डालेंगे और देखेंगे कि उनसे क्या पता चलता है ।

ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते । तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयाति ॥ यजुः १९।६० ॥

अर्थ- (ये) जो (अग्निष्वात्ताः) अग्निष्वात्त पितर और (ये) जो (अनग्निष्वात्ताः) अनग्निष्वात्त पितर (दिवः मध्ये स्वधया मादयन्ते) द्युलोक के बीचमें स्वधासे आनन्दित हो रहे हैं, (तेभ्यः) उन पितरों के लिए(स्वराट्) स्वयं प्रकाशमान अग्नि वा यम (यथावशं) कामनाके अनुसार अर्थात् कर्मानुसार (एतां असुनीतिं तन्वं कल्पयाति) इस प्राणों द्वारा ले जाए जाने वाले शरीर को बनाता है।

असुनीतिका अर्थ है जो प्राणों द्वारा ले जाया जावे यानि जिसका प्राणों द्वारा संचालन होवे । यह शरीर असुनीति है क्योंकि प्राण निकल जाने पर इसका

संचालन बन्द हो जाता है। इस मंत्र से यह वात स्पष्ट है कि पितृलोकस्थ पितरों का पुनर्जन्म होता है।

उपरोक्त मंत्र ठीक ऐसा का ऐसा ही ऋग्वेदमें मिलता है। वहांपर जो थोडासा परिवर्तन है वही अग्निष्वात्त के अर्थका स्वयं निर्णय कर रहा है।

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते। तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयाति ॥ ऋ. १०। १५। १४॥

अर्थ उपरोक्त मंत्रानुसार ही है इन दोनों मंत्रों की तुलना करके देखनेसे पाठकों को स्वयमेव अग्निष्वात्त का अर्थ ज्ञात हो जाएगा। यजुर्वेदस्थ इस मंत्र में जहां 'अग्निष्वात्ताः' और 'अनग्निष्वात्ताः' पद हैं वहां पर ऋग्वेदमें 'अग्निदग्धाः' व 'अनग्निदग्धाः' पद हैं। शेष मंत्र सर्वथा समान है। इसका अभिप्राय यह है कि जो अर्थ अग्निष्वात्त का है वही अर्थ अग्निदग्ध का है। अग्निदग्धका अर्थ सुस्पष्ट है कि जो अग्नि द्वारा जलाया गया हो। अतः अग्निष्वात्त का भी अर्थ हुआ कि जो अग्नि द्वारा जलाया गया हो। हम प्रारंभ में देख आए हैं कि शतपथ ब्राह्मणने भी वही अर्थ किया है जो कि वेदमंत्रों से पता चल रहा है। इस प्रकार वेद व ब्राह्मण अग्निष्वात्त के इसी अर्थ पर सहमत हैं कि 'जो अग्नि द्वारा जलाया गया हो।' पाठक इसपर विचार करें क्यों कि इससे पितरों पर विशेष प्रकाश पडता है। अग्निष्वात्त का उपरोक्त अर्थ होनेपर निश्चय से अग्निष्वात्त पितर मृत पितर ही हैं यह साबित होता है और उनसे जैसा कि आगे देखेंगे यज्ञमें बुलाकर रक्षा करने धनादि देने वह हवि खिलाने का उल्लेख है। इस का अभिप्राय स्पष्ट रूपसे यह है कि मृत पितरों के लिए कुछ न कुछ अवश्य करना चाहिए।

इतना अग्निष्वात्त शब्दपर प्रकाश डालनेके बाद अब हम अग्निष्वात्त पितरों के यज्ञादि में आने, हमारी रक्षा करने आदि दर्शानेवाले मंत्रों को उद्धृत करते हैं।

अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदः सदः सदत सुप्रणीतयः। अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिं सर्ववीरं दधातन ॥ ऋ. १०। १५। ११॥

यह मंत्र थोडेसे पाठ भेदके साथ यजुर्वेद तथा अथर्ववेदमें भी आया है। देखो- यजुः १९।५९॥ तथा अथर्व० १८।३।४४॥ अर्थ इस प्रकार है—

हे उत्तम नेता अग्निष्वात्त पितरो! इस यज्ञमें आओ। घर घरमें स्थित होओ, और यज्ञमें दिए गए हवियोंको खाओ। हमें सब प्रकारकी वीरतासे पूर्ण धनको दो।

इस मंत्रमें अग्निष्वात्त पितरोंको यज्ञमें बुलाने, हवि खिलाने तथा धन मांगनेका स्पष्ट रूपसे उल्लेख है।

आयान्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभि र्देवयानैः। अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥ यजु. अ० १९।५८॥

अर्थ- (सोम्यासः) सोम संपादन करनेवाले (नः अग्निष्वात्ताः पितरः) हमारे अग्निष्वात्त पितर (देवयानैः पथिभिः) देवयान मार्गों द्वारा (अस्मिन् यज्ञे आयान्तु) इस यज्ञ में आवें। (स्वधया मदन्तः) स्वधासे तृप्त होकर आनन्दित होते हुए (अधिब्रुवन्तु) हमें उपदेश करें और (ते अस्मान् अवन्तु) वे हमारी रक्षा करें।

इस मंत्रमेंभी पूर्व मंत्रानुसार यज्ञमें पितरोंके आने, स्वधासे तृप्त होने, उपदेश करने व हमारी रक्षा करनेकी प्रार्थना है।

अग्निष्वात्तानृतुमतो हवामहे नाराशंसे सोमपीथं य आशुः। ते नो विप्रासः सुहवा भवन्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ यजुः अ० १९।६१॥

अर्थ-(ऋतुमतः) ऋतुओंवाले (अग्निष्वात्तान्) अग्निष्वात्त पितरोंको (हवामहे) हम बुलाते हैं, (ये) जोकि (नाराशंसे सोमपीथं आशुः) जिस में मनुष्य प्रशंसाको पाते हैं ऐसे यज्ञमें सोमपानको करते हैं, (ते विप्रासः) वे मेधावी पितर(नःसुहवाः भवन्तु) हमारे लिए सुखपूर्वक बुलाने लायक होवें अर्थात् हमें उन्हें बुलाने में कष्ट न हो, बुलाते ही वे हमारी प्रार्थनाको स्वीकार कर आ जावें। (वयं) हम (रयीणां पतयः स्याम) धनोंके स्वामी होवें।

'ऋतुमतः' का अभिप्राय कुछ स्पष्ट नहीं होता। आशुः 'अश-भोजने' से बना है।

इस मंत्रमें अग्निष्वात्त पितरोंको सोमपान करनेके लिए आमन्त्रित किया गया है। तथा प्रार्थना की गई है कि वे सुगमतासे हमारे आमंत्रण को स्वीकार करें।

निम्न मंत्र में भिन्न भिन्न प्रकारके पितरोंके लिए भिन्न भिन्न प्रकारके पशु वा पदार्थोंका उल्लेख है। मंत्रार्थ तथा भाव अभीतक सर्वथा अस्पष्ट है। पाठक गण इस पर विशेष विचार करके सहायता करनेका प्रयत्न करेंगे ऐसी आशा है। मंत्र इस प्रकार है —

धूम्रा बभ्रुनीकाशाः पितॄणां सोमवतां, बभ्रवो धूम्रनीकाशाः पितॄणां बर्हिषदां, कृष्णा बभ्रुनीकाशाः पितॄणामग्निष्वात्तानां कृष्णाः पृषन्तस्त्रैयम्बकाः ॥

यजुः २४।१८॥

अर्थ- (धूम्राः) धूएंके रंग जैसे तथा (बभ्रुनिकाशाः) भूरे रंग जैसे पशु वा पदार्थ (सोमवतां पितॄणां) सोम रसपान करने वाले पितरोंके हों। (बभ्रवः) भूरे तथा (धूम्रनीकाशाः) धूएं जैसे पशु वा पदार्थ (बर्हिषदां पितॄणां) कुशाघास पर बैठनेवाले पितरोंके हों। (कृष्णाः) काले तथा (बभ्रुनीकाशाः) भूरे रंग जैसे पशु वा पदार्थ (अग्निष्वात्तानां पितॄणां) अग्निष्वात्त पितरोंके हों। शेष ' कृष्णाः पृषन्तस्त्रैयम्बकाः ' इस मंत्र भागका कोई संबन्ध प्रतीत नहीं होता और नहीं अर्थ स्पष्ट होता है।

इस प्रकार अग्निष्वात्त पितरोंका प्रकरण यहां पर प्रायः समाप्त होता है। यह प्रकरण विशेष विचारणीय एवं महत्वपूर्ण है।

(३)

बर्हिषत् पितर।

आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः। बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः ॥

ऋ. १०।१५।३ ॥ यजुः १९।५६ ॥
अथर्व० १८।१।४५ ॥

अर्थ- (सुविदत्रान् पितॄन् अहं विष्णोः आ अवित्सि) उत्तम धनवाले पितरोंको मैंने व्यापक परमात्मा से प्राप्त किया है। (न पातं विक्रमणं च) और न गिरानेवाले अर्थात् अजेय विक्रम यानि पराक्रम को मैंने व्यापक परमात्मासे प्राप्त किया है। अतः (ये बर्हिषदः स्वधया सुतस्य पित्वः भजन्त) जो बर्हि अर्थात् कुशा (दर्भ) पर बैठने वाले पितर स्वधाके साथ निचोडकर उत्पादित सोम रूपी अन्न का सेवन करते हैं (ते) तुम पितरो ! (इह) इस यज्ञमें (आगमिष्ठाः) बार बार आओ।

यहां पर बर्हिषत् पितरों को यज्ञमें बुलाने का निर्देश है।

बर्हिषदः पितरः ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम्। त आ गता वसा शन्तमेनाथा नः शंयोररपो दधात ॥ ऋ० १०।१५।४॥

यजु. अ. १९।५५॥
अथर्व० १८।१।५१।

अर्थ- (बर्हिषदः पितरः) हे कुशासन पर बैठने वाले पितरो ! (ऊती) रक्षा द्वारा (अर्वाक्) हमारी ओर होओ अर्थात् हमारी रक्षा करो। (वः) तुम्हारे लिए (इमा हव्या चकृम) इन हव्यों को करते हैं, (जुषध्वम्) इनको सेवन करो। (ते) वे तुम (शंतमेन अवसा) कल्याणकारी रक्षण के साथ (आ गत) आ ओ। (अथ) और (नः) हमें (शं) रोगों का शमन तथा (योः) भयों का दूर भगाना और (अरपः) पाप रहित आचरण दो।

यहां पर बर्हिषद् पितरों से रक्षण, रोगों का शमन, भयों का दूरी करण आदि करने की प्रार्थना है।

इस प्रकार ये अग्नि व पितरों संबंधी विचार वेद में हमें मिलते हैं। इस प्रकरण में कई मननीय विचार हमें मिलते हैं जिनपर विशेष विचार करना नितान्त जरूरी है। जिन जिन मंत्रोंसे वे विचार मिलते हैं उन उन मंत्रोंको उनके मंत्रार्थ सहित हमने पाठकों के सामने रख दिया है। निष्पक्षपात भावसे पाठक जैसा उचित समझें विचार करें।

प्रेत व अंत्येष्टि।

इस प्रकरण में हम शरीर से प्राण निकलने के बादसे अर्थात् प्रेत बननेके प्रारंभ से उसके अंति-

म संस्कार दहन तक की सब क्रियाओं पर प्रकाश डालेंगे और अन्तमें उस प्रेत संबन्धी जो प्रार्थनायें हैं उन का उल्लेख करेंगे।

(१) प्राण निकलने के कुछ समय पूर्व।

मनुष्य देहसे प्राण के निकल जानेपर उसकी प्रेत संज्ञा होती है। जब प्राण निकल जानेको हों उस समय क्या करना चाहिए यह निम्न मंत्र दर्शा रहा है।

इदं हिरण्यं बिभृहि यत्ते पिताबिभः पुरा। स्वर्गं यतः पितुर्हस्तं निर्मृड्ढि दक्षिणम्॥
अथर्व० १८। ४।५६

अर्थ- हे मरणासन्न पुरुष! (इदं हिरण्यं बिभृहि) इस सोनेको धारण कर, (यत्) जिस सोनेको कि (पुरा) पहिले (ते पिता अबिभः) तेरे पिता ने धारण किया था। इस प्रकार हे मनुष्य! (स्वर्गं यतः पितुः दक्षिणं हस्तं निर्मृड्ढि) स्वर्ग को जाते हुए पिताके दांये हाथको सुशोभितकर।

निर्मृड्ढि- 'मृज् शौचालङ्कारयोः' से बना है। मृज् धातुका अर्थ शुद्ध करना व सुशोभित करना है।

इस मंत्रमें दर्शाई गई क्रिया हम अभीतक कई हिन्दु * जातियों में पाते हैं। मरनेसे पूर्व मरणासन्न के दांये हाथमें सोनेकी अंगूठी पहनाई जाती है। सायणाचार्यने 'हिरण्यं' का अर्थ सोनेकी अंगूठी किया है अतः संभव है उनके समय में यह रिवाज हिन्दुजाति में सर्व साधारण होगा।

इस मंत्र पर उनका भाष्य भी इसी बातका समर्थन कर रहा है।

(२) प्राण निकलनेपर प्रेतका जल स्नान।

प्राण निकल जानेपर मृत देहको जलसे स्नान कराया जाता है। इस बातका निर्देश निम्न मंत्रमें मिलता है।

येन मृतं स्नपयन्ति श्मश्रूणि येनोन्दते।
तं वै ब्रह्मज्य ते देवा अपां भागमधारयन्॥
अथर्व० ५। १९। १४॥

अर्थ- हे (ब्रह्मज्य) ब्राह्मण को सतानेवाले! (येन मृतं स्नपयन्ति) जिससे मृत पुरुषको स्नान कराते हैं, (येन श्मश्रूणि च उन्दते) जिससे दाढीमूंछके बाल गीले करते हैं, (तं वै अपां भागं देवाः ते अधारयन्) उस जलोंके भागको अर्थात् जलको देवोंने तेरे लिए निर्धारित किया है।

यहां पर जल द्वारा प्रेतको स्नान करानेका स्पष्ट रूपसे निर्देश हमें मिलता है।

(३) स्नानके बाद वस्त्र पहिनाना।

स्नान करानेके बाद नवीन स्मशानोचित वस्त्रके पहिनानेका निम्न मंत्रमें निर्देश है-

एतत् त्वा वासः प्रथमं न्वागन्नपैतदूह यदिहाबिभः पुरा। इष्टापूर्तमनु संक्राम विद्वान् यत्र ते दत्तं बहुधा विबन्धुषु॥ अथर्व० १८। २। ५७॥

अर्थ-हे मृत पुरुष! (एतत् प्रथमं वासः) यह स्मशानोचित मुख्य वस्त्र (त्वा नु आ अगन्) तुझे प्राप्त हुआ है। (यत् इह पुरा अबिभः) जिस वस्त्र को पहिले यहांपर तू पहिना करता था (तत्) उस वस्त्रको (अप ऊह) छोडदे। (यत्र) जहां (ते बहुधा विबन्धुषु दत्तं) तेरा प्रायः विबन्धुओंमें जो दान है उसको (विद्वान्) जानता हुआ (इष्टापूर्तं) इष्टापूर्तको अर्थात् तज्जन्य फलको (अनुसंक्राम) प्राप्त हो।

विबन्धु = जिसकी बन्धु नहीं रहा है अर्थात् अनाथ, गरीब आदि।

इस मंत्रमें मरनेपर पुराने वस्त्रोंको त्यागकर शव को नवीन स्मशानोचित वस्त्र पहिनानेका उल्लेख है।

---

* जैसा कि हमें ज्ञात हुआ है यह मृत को सुवर्णसे अलंकृत करने का रिवाज गुजरात प्रांत, युक्तप्रांत, व महाराष्ट्रमें कसी न किसी रूप में अभीतक विद्यमान है। संभव है संपूर्ण भारत में भी यह रिवाज प्रचलिच होगा। कच्छ प्रांतकी 'लुहाणा' जाति में कोई कोई प्रेत के शरीर पर एकाध सुवर्ण अलंकार रहने देते हैं और मरने के बाद भी गोबर से लीपी हुई जमीन पर प्रेत को सुलाकर तुलसी सुवर्णादि उसे देते हैं। युक्तप्रांत में भी प्रेत को सुवर्ण देनेका रिवाज है। कोई कोई तो प्रेत के दांतों में सोने की छोटी छोटी कीलें भी लगवाते हैं, ताकि प्राण जाते हुए मुख सुवर्ण हीन न रहे।

४— स्मशान भूमिकी तरफ प्रयाण।
स्मशान का ग्रामसे बाहिर होना।

अपेमं जीवा अरुधन् गृहेभ्यस्तं निर्वहत परि-ग्रामादितः। मृत्यु र्यमस्यासीद्दूतः प्रचेता असून् पितृभ्यो गमयां चकार ॥ अथर्व० १८।२।२७

अर्थ- (जीवाः) प्राणधारी लोकोंने (इमं) इस प्रेतको (गृहेभ्यः) घरोंसे (अप अरुधन्) बाहिर कर दिया है (तं) उसको तुम लोक (इतः ग्रामात्) इस ग्रामसे (परि निर्वहत) बाहिरकी ओर स्मशान भूमिमें ले जाओ। क्योंकि (यमस्य मृत्युः दूतः आसीत्)यमका जो मृत्यु दूत है उस (प्रचेताः) प्रकृष्ट ज्ञानी मृत्युने इसके (असून्) प्राणोंको (पितृभ्यः गमयां चकार) पितरोंके लिए अर्थात् पितरोंके पास पितृलोकमें (गमयां चकार) भेज दीए है। अतः क्योंकि यह विगतप्राण हो चुका है इस लिए इसके शवको ग्रामसे बाहिर दहनादि क्रियाके लिए ले जाओ।

इस मंत्रमें यह दर्शाया है कि शरीरसे प्राण छूटने पर उसे घरसे बाहर कर देना चाहिए व तदनन्तर ग्रामसे बाहिर लेजाना चाहिए। स्मशान भूमि ग्रामसे बाहिर होनी चाहिए ऐसा इसका अभिप्राय है।

अप पूर्वक रुध धातुका अर्थ बाहिर करना (to exclude) है। यहां पर मृत्यु को यमका दूत बताया गया है।

शरीरसे प्राणोंके छूट जानेपर स्नान आदि करा कर वस्त्र बदलकर उसे स्मशान भूमिमें लेजानी की बारी आती है। हिन्दुलोक शवको, बांसोकी शय्या बनाकर उस पर घास फूस डालकर उसे चार आदमी कंधे पर रखकर स्मशानमें ले जाते हैं। मुसल्मान लोक भी इसी प्रकारसे ले जाते हैं। ईसाई लोक गाडीमें शव डाल कर स्मशान भूमिमें ले जाते हैं। नीचे दिए गए तीन मंत्रोंके सायण भाष्यसे शव को बैलगाडीमें लेजाना चाहिए ऐसा पता चलता है। चाहे इन मंत्रोंके अर्थ बदल कर हम कोई और परिणाम निकालें तथापि इतना जरूर मानना पडेगा कि सायणाचार्यके समयमें शवको बैल गाडीमें ले जानेका रिवाज होगा या कमसे कम सायणाचार्य यही मानते हैं कि शवको बैलगाडीसे स्मशान भूमिमें लेजाना वेद सम्मत है। वे मंत्र सायण भाष्य सहित इस प्रकार हैं--

इमौ युनज्मि ते वह्नी असुनीताय वोढवे।
ताभ्यां यमस्य सादनं समितीश्चाव गच्छतात्॥
अथर्व० १८।२।५६॥

अर्थ= हे मृतपुरुष! (वह्नी) वहन करनेवाले इन दो बैलोंको (ते वोढवे) तेरे वहन करनेके लिए (युनज्मि) बैलगाडीमें जोडता हूं। किस लिए? (असुनीताय) जिसमेंसे प्राण निकाल लिए गए हैं उस असुनीत अर्थात् गत प्राण देहके वहन करनेके लिए। अथवा असुनीतका अर्थ है जो कि सुखपूर्वक न लेजाया जा सके। जिसके उठानेमें तकलीफ होती हो। (ताभ्यां) उन बैलोंसे (यमस्य सदनं इति) यह यमका घर है इस प्रकार (सं अवगच्छतात्) भली भांति जान।

इदं पूर्वमपरं नियानं येना ते पूर्वे पितरः परेताः। पुरो गवा ये अभिशाचो अस्य ते त्वा वहन्ति सुकृतामु लोकम् ॥ अथर्व० १८।४।४४॥

अर्थ- (इदं) यह सामने स्थित (पूर्वं) पुरातन तथा (अपरं) आज की (नियानं) बैलगाडी है। (येन) जिस पुरानी बैलगाडी से (ते पूर्वे पितरः परेताः) तेरे पुरातन पितर यहां से गए हैं। (अस्य) इस आज की बैलगाडी के (अभिशाचः) दोनों ओर जुतकर जाते हुए, (जैसा कि बैलगाडी में बैल दोनों और पार्श्वों में जुते हुए होते हैं) (पुरोगवाः) अगले भागमें अर्थात् धुरा में जुते हुए जो बैल हैं (ते) वे बैल (त्वा) तुझे (सुकृतां लोकं) सुकृतों के लोकमें (वहन्ति) प्राप्त करावें।

नियानं- नीचीनं पराङ्मुखं यान्ति अनेन प्रेता इति नियानं शकटम्। स्मशान में पहुंचनेपर बैलोंका गाडी से खोलना-

आ प्रच्यवेथामपतन्मृजेथां यद् वामभिभा अत्रोचुः। अस्मादेतमघ्न्यौ तद् वशीयो दातुः पितृष्विह भोजनौ मम ॥ अथर्व० १८।४।४९॥

अर्थ— हे प्रेतवाहक बैलो! (युवां) तुम दोनों (आ प्रच्यवेथाम्) बैलगाडी से वियुक्त होओ।

(तत्) उस वक्ष्यमाण (जो आगे कहा जायगा) निन्दारूप वाक्य से (अप मृजेथां) शुद्ध होओ। उस निन्दारूप वाक्य को जिससे कि ऊपर शुद्ध होने को कहा गया है, कहते हैं- (अभिभाः) दोष देनेवाले पुरुषों ने (वां) तुम दोनों को 'पुंगवौ किल अस्पृश्यं अनिरीक्ष्यं प्रेतं ऊढवन्तौ' इत्यादि निन्दारूप, (यत् ऊचुः) जो वाक्य कहा है उससे शुद्ध होओ। (अध्न्यौ) हे हिंसा करने के अयोग्य बैलो ! (अस्मात्) इस निन्दा की कारणभूत गाडी से (एतं) जो छूट आना है (तत्) वह (वशीयः) श्रेष्ठ होवे। और तब (इह) इस पितृमेध में (पितृषु दातुः मम) पितरोंका उद्देश्य करके अग्नि को देते हुए वा हविको देते हुए मेरे (भोजनौ) पालना करनेवाले होओ।

इन उपरोक्त तीनों मंत्रोंसे जैसा कि हम ऊपर दर्शा आए हैं सायणाचार्यने बैलगाडी द्वारा प्रेतके वहनको दर्शाया है। उसके अनुसार बैलगाडी द्वारा प्रेतका स्मशान में ले जाना वैदिक प्रथा प्रतीत होती है।

५-स्मशान भूमिसे विघ्नकारियोंका भगाना।

अब स्मशान में प्रेतके पहुंच जानेपर जिस स्थान पर प्रेतको जलाना वा गाडना है वहां से दुष्टोंके दूर करनेकी प्रार्थना का निम्न मंत्रोंमें उल्लेख है। तदनुसार प्रार्थना करके अगली विधि करनी चाहिए।

अपेतो यन्तु पणयोऽसुम्ना देवपीयवः अस्य लोकः सुतावतः। द्युभिरहोभिरक्तुभि र्व्यक्तं यमो ददात्ववसानमस्मै॥ यजुः अ० ३५।१॥

अर्थ- (देवपीयवः) देवोंकी हिंसा करने वाले (असुम्नाः) दुःख देनेवाले (पणयः) दुष्ट व्यवहार करनेवाले लोक (इतः) इस स्थानसे जहांकि प्रेत की अंत्येष्टि करनी है, (अपयन्तु) दूर हट जावें। क्योंकि (लोकः) यह स्थान (अस्य सुतावतः) इस सोमाभिषव करनेवाले याज्ञिक का है। (अस्मै) इसके लिए (यमः) यम (द्युभिः अहोभिः) प्रकाशमान दिनों व (अक्तुभिः) रात्रियोंसे (व्यक्तं अवसानं) स्पष्ट समाप्ति (ददातु) देता है। अर्थात् इस जीवनमें अब उसके लिए दिन व रात्रिकी समाप्ति हो चुकी है। भावार्थ यह है कि यमने उसका यह जीवन समाप्त कर दिया है, अब उसके लिए दिन व रात्रि नहीं होनी हैं।

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि हे दुष्टलोको ! इस स्थान से भाग जाओ जहां कि हमने इस प्रेतका अंत्येष्टि संस्कार करना है, जिससे कि संस्कारमें तुम विघ्न न डाल सको।

इसी प्रकार निम्न मंत्रमें भी ऐसी ही प्रार्थना है। मंत्र इसप्रकार है—

अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन्। अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्ववसानमस्मै॥ ऋ. १०।१४।९॥
अथर्व० १८।१।५५॥

अर्थ- हे दुष्टो ! (अपेत) यहांसे चले जाओ। (वीत) भाग जाओ। (विसर्पतातः) सर्वथा हट जाओ। क्योंकि (अस्मै) इस मृत पुरुषके लिए (पितरः एतं लोकं अक्रन्) पितरोंने यह स्थान (स्मशान भूमिका) किया है- चुना है- निर्धारित किया है। शेष उत्तरार्ध का अर्थ उपरोक्त मंत्रानुसार ही है। केवल 'अद्भिः' पद विशेष है, जिसका शब्दार्थ है जलोंसे। परन्तु यह पेय पदार्थोंके लिए यहां आया है। मरनेपर सांसारिक पेय पदार्थोंकी भी समाप्ति हो जाती है।

इस प्रकार यह मंत्र भी उपरोक्त प्रयोजन के लिए ही है।

अपेत वीत वि च सर्पतातो येऽत्र स्थ पुराणा ये च नूतनाः। अदाद् यमोऽवसानं पृथिव्या अक्रन्निमं पितरो लोकमस्मै॥ यजुः १२।४५॥

अर्थ- (ये) जो तुम (पुराणाः)पुरातन विघ्नकर्ता और (ये नूतनाः) जो तुम नवीन विघ्नकारी लोक (अत्र)यहां स्मशान भूमिमें (स्थ) हो वे तुम(अपेत) यहांसे चले जाओ। (वीत) भाग जाओ। (विसर्पतातः) सर्वथा हट जाओ। क्योंकि (यमः) यमने (अस्मै) इस मृत के लिए (पृथिव्याः अवसानं अदात्) पृथिवीकी समाप्ति दी है यानि इसका पृथिवी परका जीवन समाप्त कर दिया है इसलिए (पितरः) पितरोंने इसके लिए (इमं लोकं) यह स्मशान भूमिका स्थान (अक्रन्) किया

है यानि चुना है क्योंकि इसका यहां अंत्येष्टि संस्कार होना है।

इस प्रकार इन मंत्रोंमें स्मशानमें विघ्नकारीओं के भगाने का उल्लेख है तदनुसार उन्हें भगा कर अगली विधि करनी चाहिए ऐसा इन मंत्रों का आशय है।—

६- प्रेतको जलाना, गाडना आदि।

प्रेतके स्मशान भूमिपर पहुंच जानेके अनन्तर उसे गाडने, बहाने, जलाने वा हवा में खुला छोडने की क्रिया की जाती है। नीचे लिखे मंत्रमें इन चारों क्रियाओंका उल्लेख पाया जाता है।—

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः।
सर्वांस्तानग्ने आवह पितॄन् हविषे अत्तवे॥
अथर्व० १८।२।३४॥

अर्थ- (अग्ने) हे अग्नि! (ये निखाताः) जो पितर जमीन में गाडे गए हैं और (ये परोप्ताः) जो पितर दूर बहा दिए गए हैं तथा (ये दग्धाः) जो जला दिए गए हैं (च) और (ये उद्धिताः) जो पितर जमीन के ऊपर हवामें रखे गए हैं, (तान् सर्वान्) उन सब पितरों को तू (हविषे अत्तवे) हवि भक्षणार्थ (आ वह) ले आ।

यहांपर चार प्रकारके स्मशान कर्म दर्शाए गए हैं। (१) गाडना, (२) बहाना, (३) जलाना और (४) हवामें जमीनपर खुला छोडना।

(१) गाडना-कुछ प्रेत जमीन में गाडे जाते हैं जिनका कि अंत्येष्टि संस्कार अग्नि द्वारा नहीं किया जाता। ये कौन हैं इसपर हमने थोडासा विचार करना है। जो मनुष्य संन्यासी होकर अपना देह त्याग करते हैं उनके देहको न जलानेकेलिए स्मृतियों में कहा गया है, क्यों कि संन्यासाश्रम में प्रवेश करते हुए पुरुषको सर्वमेध याग करना पडता है। इस यागमें वह अग्नि संबन्धी सर्व कार्यों से मुक्त हो जाता है। अतएव उसे मरने पर अग्नि द्वारा नहीं जलाया जाता। संन्यासी के शरीर को जलाना चाहिए वा नहीं इस विषय में अभीतक हमें श्रुतिका निश्चय ज्ञात नहीं है, पर स्मृति इनकार करती है। अतः 'निखात' से संन्यासी का भी ग्रहण किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त वर्तमान समयमें खास करके मुसलमान व ईसाई लोक मुर्दोंको न जलाते हुए गाडते हैं। अतः उनके प्रेतों का भी निखात से ग्रहण किया जा सकता है। जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं। मुर्दे की चार अवस्थायें हो सकती हैं उनमें से एक निखात है।

(२) जलाना वा
(३) जलमें बहाना] ये दो अवस्थायें खास कर हिन्दुओंमें पाई जाती हैं।

(४) जमीनपर वायुमें रखना-यह चौथी अवस्था पारसीओंमें पाई जाती है।

इस प्रकार ये चारों अवस्थायें वर्तमान समयमें हमें मिलती हैं। वेदमें मृतों के दो विभाग मिलते हैं (१) अग्निदग्ध अर्थात् जो अग्नि में जलाए जाते हैं तथा (२) अनग्निदग्ध अर्थात् जो अग्निमें नहीं जलाए जाते। अनग्निदग्ध में जलाने की अवस्था को छोडकर शेष तीनों अवस्थायें अन्तर्हित हो सकती हैं।

यदि हम सूक्ष्म रीतिसे हिन्दुओं के अंत्येष्टि संस्कार का अवलोकन करें तो हम देखेंगे कि उपरोक्त चारों अवस्थायें चिन्ह रूपमें उनके अंत्येष्टि संस्कार में विद्यमान हैं। इससे यह अनुमान भी किया जा सकता है कि किसी न किसी समय ये चारों प्रथायें हिन्दुओंमें प्रचलित होंगी। यद्यपि इस समय वे संकेत रूपमें ही अवशिष्ट रह गई हैं। इस समयका हिन्दुओंका प्रेत संस्कार इन संकेतों सहित इस प्रकारसे होता है। इसे देखनेसे ऊपरका परिणाम स्पष्ट प्रतीत होगा।

(१) प्रायः आजकल हिन्दुलोक मुर्दा अग्नि में जलाते हैं और जलानेके बाद तीसरे दिन (२) एक अश्मा (पत्थर) लेकर उसको जमीनमें रख देते हैं। इसी प्रकार मृतकी हड्डियां चुनकर एक मिट्टीके बरतनमें रखते हैं अथवा वृक्षपर लटका देते हैं। अथवा (३) बहुतसे लोक समीपस्थ नदी या समुद्रमें बहा देते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ लोक सीधा मुर्देकोही नदीमें बहा देते हैं। यदि इतनाभी न हो सका तो चावलों वा आटेका पिण्ड बनाकर उसके ऊपर मृत पितरोंकी पूजाकर उस पिण्डको बहा देते हैं। (४) मरनेके बाद दसवे दिन

उपरोक्तानुसार पिण्ड बनाकर घरके बाहिर खुला रख देते हैं ताकि उसे कौवा स्पर्श करे। जबतक कौवा स्पर्श नहीं करता तबतक अंत्येष्टि क्रिया पूर्ण नहीं हुई ऐसा समझा जाता है। यह संकेत हवामें मुर्देको पारसियोंकी तरह खुला छोडने की क्रिया का है।

इस प्रकार ये चारों विधियां केवल हिन्दुओंमें भी किसी रूपमें पाई जाती हैं यह हम देख सकते हैं।

उपरोक्त मंत्रमें जो चार विधियां दर्शाई गई हैं वे ये ही हैं ऐसा हम कह सकते हैं। अतएव 'ये उद्धिताः' अर्थात् जो ऊपर रख दिए हैं यानि जो हवामें जमीनके ऊपर रख दिए हैं, यही प्रतीत होता है। इसी प्रकार 'ये परोप्ताः' का अभिप्राय जो जल-द्वारा दूर बहा दिए हैं यही प्रतीत होता है। अस्तु इसमें कही गई अवस्थाओंपर हमने यथाशक्ति प्रकाश डालनेकी कोशिश की है। पाठक इसपर विशेष विचारकर उचित निष्कर्ष निकालें।

नीचे लिखे तीन मंत्रोंमें प्रेतके जमीनमें गाडनेका उल्लेख है। मंत्र इस प्रकार हैं।

अभित्वोर्णोमि पृथिव्या मातु र्वस्त्रेण भद्रया।
जीवेषु भद्रं तन्मयि स्वधा पितृषु सा त्वयि॥
अथर्व० १८।२।५२॥

अर्थ- हे प्रेत! (त्वा) तुझे (मातुः पृथिव्याः) माता पृथिवीके (भद्रया वस्त्रेण) कल्याणकारी वस्त्रसे (अभि ऊर्णोमि) आच्छादित करता हूं अर्थात् जमीनमें तुझे गाडता हूं। (जीवेषु भद्रं तत् मयि) जीवितोंमें जो कल्याण है वह मेरेमें हो अर्थात् मुझे प्राप्त हो और (पितृषु स्वधा) जो पितरोंमें स्वधा है (सा त्वयि) वह तेरेमें हो अर्थात् तुझे प्राप्त हो। यहां पर स्पष्ट शब्दोंमें प्रेतके गाडनेका निर्देश है।

इदमिद् वा उ नापरं दिवि पश्यसि सूर्यम्।
माता पुत्रं यथा सिचाभ्येनं भूम ऊर्णुहि॥
अथर्व० १८।२।५०॥

अर्थ- हे मृत पुरुष (इदं इत् वा उ) यही है (न अपरं) दूसरा नहीं है। (दिवि सूर्यं पश्यसि) जो द्युलोकमें तू सूर्य देखता है। (यथा पुत्रं माता सिचा) जिसप्रकार पुत्र को माता अपने आंचलसे ढांपती है उस प्रकार हे (भूमे) पृथिवी तू (एनं) इस मृत पुरुषको (अभि ऊर्णुहि) चारों ओर से ढांप।

इस मंत्रके पूर्वार्धकी उत्तरार्धसे कैसे संगति है यह अभी तक कुछ स्पष्ट नहीं हुआ। उत्तरार्ध का भाव स्पष्ट है।

असौ हा इह ते मनः ककुत्सलमिव जामयः।
अभ्येनं भूम ऊर्णुहि॥ अथर्व० १८।४।६६॥

अर्थ- (असौ) हे फलाने नामवाले प्रेत! (इह ते मनः) यहां तेरा मन है। हे (भूमे) पृथिवी! (जामयः ककुत्सलं इव) जिस प्रकार स्त्रियां अपने बच्चेको वस्त्रसे ढांपती हैं या कुल स्त्रियां अपने सिरको ढांपती है उस प्रकार (एनं) इस प्रेतको (अभि ऊर्णुहि) भली प्रकार ढांप।

इन उपरोक्त मंत्रोंमें प्रेतके जमीन में गाढने का उल्लेख है। इससे गाढनेकी प्रथाभी वैदिक ही है यह पता चलता है। अब तक अंत्येष्टिके मंत्रोंको देखनेसे हम कह सकते हैं कि हिन्दु, मुसलमान, ईसाई, पारसी आदियोंमें जो मुर्देके जलाने गाडने आदिकी प्रथायें प्रचलित हैं वे सब वैदिक हैं। या यूं कह सकते हैं कि वे सब वेदोंसे उनके पास गई हुई हैं। उनका आदि स्रोत वेद ही है।

७ अंत्येष्टि संस्कार।

इसके अनन्तर काष्ठ संचय करके उस पर प्रेत रखकर अग्नि प्रज्वलित की जाती है। अग्नि के प्रज्वलित हो जानेपर निम्न मंत्रोंसे अग्नि से प्रार्थना की जाती है। आवश्यक दो एक मंत्र हम यहां देते हैं।

मैनमग्ने विदहो माभिशोचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्। यदा शृतं कृणवो जातवेदोऽथेमेनं प्रहिणुतात् पितृभ्यः॥ ऋ० १०। १६। १॥

अर्थ- (अग्ने) हे अग्नि! (एनं मा विदहः) इस प्रेतको इस प्रकार से मत जला कि जिससे इसे विशेष कष्ट हो। (मा अभिशोचः) इसे शोकाकुल मत कर। (अस्य त्वचं मा चिक्षिपः) इसकी त्वचा को मत बखेर। (मा शरीरं) इसके शरीर को भी मत बखेर। अर्थात् इसकी त्वचा व शरीर को पूर्णतया जला दे कोई भी भाग जलने से अवशिष्ट

न रह जावे । और (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि (यदाऽशृतं कृणवः) जब इसे पूर्णतया पक्व बना दे अर्थात् जलादे, (अथ) तब (एनं) इसको (पितृभ्यः प्रहिणुतात्) पितरों के लिए भेज दे यानि पितृलोकमें पितरों के पास पहुंचा दे ।

यह मंत्र अथर्व वेदमें (१८ । २ । ४) भी आया है । इस मंत्र को हम पहिले ' अग्नि व पितर ' में दे आए हैं । । वहांपर जो कुछ विशेष वक्तव्य इस मंत्रपर था वह दे आए हैं अतः यहां पुनः लिखना व्यर्थ है ।

शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं परिदत्तात् पितृभ्यः। यदा गच्छात्यसुनीतिमेता मथा देवानां वशनीर्भवाति ॥ ऋ० १० । १६ । २ ॥

अर्थ—हे जातवेदस् अग्नि ! जब इस प्रेत को पूर्णतया दग्ध कर दे तब इसे पितरों के लिए सौंप दे । जब इस प्रेत के प्राण निकल जाते हैं तब यह देवों के वशमें होता है ।

यह मंत्र भी पूर्ण व्याख्या सहित उपरोक्त मंत्रके साथ ' अग्नि व पितर' में दे आए हैं । वहांपर देखने से यह मंत्र स्पष्ट हो जायगा ।

अजो भागस्तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः ॥ यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभि र्वहैनं सुकृतामु लोकम्॥ऋ० १०।१६।४॥ अथर्व० १८ । २ । ८॥

अर्थ-(अजः भागः) हे अग्नि इस प्रेत का जो अज भाग (आत्मा) है (तं) उसे तू (तपसा तपस्व) अपने तपसे तपा । (तं) उस अज भाग को (ते शोचिः) तेरी दीप्यमान ज्वाला (तपतु) तपावे। (तं) उस अज भागको (ते अर्चिः) भासमान ज्वाला (तपतु)तपावे । और फिर (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि ! (याः ते शिवाः तन्वः) तेरे जो कल्याणकारी ज्वालारूपी तनू हैं (ताभिः) उन द्वारा इस अज भाग को (सुकृतां लोकं) सुकर्म करनेवालों के लोकमें (वह) प्राप्त करा ।

इस मंत्र से भी वही परिणाम निकलता है जैसा कि हम पहिले दर्शा आए हैं यानि शरीर के जल जाने तक आत्मा शरीर के पासही रहती है और शरीर दहन के अनन्तर अग्नि द्वारा अन्यत्र ले जाई जाती है ।

यह सम्पूर्ण सूक्त इसी भावके मंत्रोंवाला है जिस का कि अंत्येष्टि में विनियोग होता है । इस सम्पूर्ण सूक्त पर हम अन्यत्र स्वतंत्र प्रकरण में विचार करेंगे ।

इस प्रकार प्रेत दहन के समय अग्नि से प्रार्थना यें करनी चाहिए ऐसा इन मंत्रों का अभिप्राय है।

उपरोक्तानुसार अग्नि से प्रार्थनायें करके अंत्येष्टि परक मंत्रों से अग्निमें आहुतियां देनी चाहिए। यजुर्वेद का ३९ वां अध्याय अंत्येष्टि परक है । हम यहां वेही मंत्र देंगे जिनका कि हमारे प्रकरण से संबन्ध है अर्थात् जिन मंत्रों में यम वा पितर् विषयक किसी प्रकार का निर्देश है ।

यमाय स्वाहान्तकाय स्वाहा मृत्यवे स्वाहा । ब्रह्मणे स्वाहा ब्रह्महत्यायै स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा ॥ यजुः ३९ । १३ ॥

अर्थ- (यमाय स्वाहा) यम के लिए स्वाहा। (अन्तकाय स्वाहा) अन्तक के लिए स्वाहा । (मृत्यवे स्वाहा) मृत्युके लिए स्वाहा । (ब्रह्मणे स्वाहा) ब्रह्मके लिए स्वाहा । (ब्रह्महत्यायै स्वाहा) ब्रह्महत्या के लिए स्वाहा । (विश्वेभ्यः देवेभ्यः स्वाहा) सर्व देवों के लिए स्वाहा । (द्यावा पृथिवीभ्यां स्वाहा) द्यु तथा पृथिवी के लिए स्वाहा ।

इस मंत्रमें यम के लिए भी एक आहुति का निर्देश है ।

इसी प्रकार के अन्य मंत्रों से आहुतियां देकर प्रेत से कहा जाता है कि हे प्रेत-

सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा । अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः ॥

ऋ० १० । १६ । ३ ॥
अथर्व० १८ । २ । ७ ॥

अर्थ- तेरी आंख सूर्यको जावे । तेरे प्राण वायु को जावें । और हे प्रेत ! तू कर्मफलजन्य धर्म से वा पार्थिवादि तत्वोंके धर्म से (पृथिवीका अंश पृथिवीमें जावे इस प्रकारसे) द्यु व पृथिवी को जा,उन उन के अंश उनमें मिल जावें । इसी प्रकार जलों में

जलांश जावे यदि जलों का कोई अंश तेरे में स्थित हो। इसी प्रकार ओषधियों में शरीरांशों से स्थित हो।

इस मंत्रपर जो विशेष वक्तव्य था वह हम पहिले दे आए हैं।

इस प्रकार प्रेत का अग्नि संस्कार हो जानेपर उसकी आत्मा से कहा जाता है कि-

सहस्रणीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम्।
ऋषीन् तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात्॥
ऋ० १० । १५४ । ५ ॥
अथर्व० १८।२। १८ ॥

अर्थ- (सहस्रणीथाः कवयः) हजारों को ले जानेवाले अर्थात् हजारों के नायक, क्रान्तदर्शी, (ये) जो कि (सूर्य गोपायन्ति) सूर्य की रक्षा करते हैं, ऐसे (तपस्वतः) तपोयुक्त, (तपोजान्) तप से उत्पन्न (ऋषीन्) ऋषियों को (यम) हे नियमवान् तू (गच्छतात्) प्राप्त हो, अर्थात् इनमें जाकर तू जन्म ले।

८- प्रार्थनायें।

इस प्रकार प्रेत दहन की क्रिया समाप्त हो जाने-पर उसके लिए पीछेसे की जानेवाली प्रार्थनाओंका उल्लेख निम्न मंत्रों में है।

सप्त प्राणानष्टौ मन्यस्तांस्ते वृश्चामि ब्रह्मणा।
अया यमस्य सादनमग्निदूतो अरङ्कृतः॥
अथर्व० २ । १२ । ७ ॥

अर्थ- (ते) तेरे (तान् सप्त प्राणान्) सात प्राणों को, (अष्टौ मन्यः) आठों नाडियों को (ब्रह्मणा) ब्रह्म से (वृश्चामि) काटता हूं। तू (अग्निदूतः)अग्नि को दूत बनाकर (अरंकृतः) शीघ्रता करता हुआ (यमस्य) यमके (सादनं) घरको (अयाः) जा।

सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्। हित्वायवद्यं पुनरस्तमेहि संगच्छस्व तन्वा सुवर्चाः॥   ऋ० १० । १४ । ८ ॥
अथर्व० १८ । ३ । । ५८॥

अर्थ -(परमे व्योमन्) उत्कृष्ट व्योममें अर्थात् स्वर्ग में (पितृभिः) पितरों के साथ (संगच्छस्व) तू जा। (यमेन सं) और यमके साथ स्वर्ग में जा। (इष्टापूर्तेन) इष्टा पूर्त के साथ स्वर्ग में जा। (अवद्यं हित्वाय) निन्द्य कर्मों का त्याग करके (पुनः) फिर (अस्तं एहि) घरको आ अर्थात् पुनर्जन्म ले। और (सुवर्चाः) उत्तम तेजसे युक्त हुआ हुआ (तन्वा संगच्छस्व) शरीर धारण करके दुनियामें विचरण कर।

भिन्न भिन्न अर्थमें बहुवचनान्त पितृशब्दका प्रयोग।

पितृ शब्द वाले मंत्रोंको देखनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि बहुवचनमें प्रयुक्त पितृशब्द खास अभिप्राय से प्रयुक्त किया गया है। एकवचन व द्विवचनमें आया हुआ पितृ शब्द खास महत्वका नहीं है यह बात आगे दीये जानेवाले मंत्रोंके समन्वय से पाठक सुगमतासे जान सकेंगे। अबतक आए हुए मंत्रोंके देखनेसे पाठकोंके लक्ष्यमें यह बात अवश्यमेव आगई होगी कि उन मत्रोंमें सर्वत्र बहुवचनान्त पितृशब्द ही प्रयुक्त है। इस प्रकरणमें हम उन थोडेसे मंत्रों को देंगे कि जिनमें बहुवचनान्त पितृशब्दका प्रयोग उस अभिप्राय से नहीं किया गया जिस अभिप्रायसे कि अबतक के मंत्रोंमें किया गया है। पाठक वर्ग हमारे इस कथनका अनुभव स्वयमेव मंत्रोंके देखनेसे कर सकेंगे। यह प्रकरण, अबतक के मंत्रोंमें विद्यमान पितृशब्दके प्रयोगका अभिप्राय आगे आनेवाले मंत्रोंमें विद्यमान पितृशब्दके अभिप्रायसे भिन्न है। यह दर्शाता हुआ हमें पूर्वोक्त मंत्रोंमें विद्यमान पितृ शब्दके अभिप्राय निर्णयमें पूर्ण सहायक होगा ऐसी आशा है। इस प्रकार यह प्रकरण बहुवचनान्त पितृ शब्दके अभिप्राय निर्णयमें महत्वशाली होगा, यह पाठकोंको यहांपर ध्यानमें रखना चाहिए।

१ हिंसा अर्थमें।

प्र नु वोचा सुतेषु वां वीर्या यानि चक्रथुः।
हतासो वां पितरो देवशत्रवः इन्द्राग्नी जीवथो युवम्॥ ऋ० ६। ५। ९॥

अर्थ- हे इन्द्राग्नी ! (वां) तुम दोनों (सुतेषु यानि वीर्या चक्रथुः) उत्पन्न पदार्थोंमें जो पराक्रम करते हो, उनका (नु) निश्चयसे (प्रवोचा) मैं

प्रवचन करता हूं। अब प्रवचन का प्रकार बताते हैं- हे इन्द्राग्नी ! (वां) तुम्हारे (पितरः) हिंसा करने वाले (देवशत्रवः) देवोंसे शत्रुता करनेवाले (हतासः) नष्ट होगए हैं। (युवं) तुम दोनों (जीवथ) जीवित हो।

पितरः- पियति हिंसाकर्मा धातुसे पितर शब्द बनाया गया है क्यों कि देवशत्रुका यह विशेषण है। अतः यहां पितरका अर्थ हिंसाकरनेवाले ही है। मंत्र भी इस अर्थका पोषक है।

२ ज्ञानीलोक पितर।

कत्यग्नयः कति सूर्यासः कत्युषासः कत्यु स्विदापः। नोपस्पिजं वः पितरो वदामि पृच्छामि वः कवयो विद्मने कम्॥ऋ. १०।८८।१८

अर्थ- (अग्नयः कति) अग्नियां कितनी हैं ? (सूर्यासः कति) सूर्य कितने हैं? (उषासः कति) उषायें कितनी हैं ? (आपः कतिस्वत्) भला आप् कितने हैं ? (कवयः पितरः) हे क्रान्तदर्शी ज्ञानी पितरो ! (वः उपस्पिजं न वदामि) तुम्हारी स्पर्धा करता हुआ यानि परीक्षा लेनेके अभिप्रायसे उपरोक्त प्रश्न नहीं पूछता हूं अपितु मैं नहीं जानता अतः (विद्मने) जाननेके लिए (वः पृच्छामि) तुमसे पूछता हूं। मंत्र स्पष्ट है। ज्ञानी लोकोंको पितरसे संबोधन किया गया है।

३- राज सभाके सभासद-पितर।

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने। येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः संगतेषु॥ अथर्व० ७।१२।११

अर्थ-(संविदाने) परस्पर मेल रखनेवालीं एक मतको प्राप्त हुई हुई (प्रजापतेः) प्रजापति राजाकी (दुहितरौ) दो दुहितायें (सभा च समितिः च) सभा और समिति (मा) मेरी (अवतां) रक्षा करें। (येन संगच्छै) जिस जिस सभासदसे मैं संगत होऊं यानि उसकी संगति करूं (सः) वह वह सभासद (मा उपशिक्षात्) मुझे शिक्षा दे। (पितरः) हे सभासदो ! (संगतेषु) संमेलनोंमें मैं (चारु वदानि) प्रिय बोलूं।

इस मंत्रमें राजाकी राजसभासदोंके प्रति उक्ति है। उनको पितरके नामसे कहा गया है।

४- सैनिक पितर।

स्वादुषंसदः पितरो वयोधाः कृच्छ्रेश्रितः शक्तीवन्तो गभीराः। चित्रसेना इषुबला अमृध्राः सतोवीरा उरवो व्रातसाहाः॥

ऋ० ६।७५।९॥

यजुः २९।४६॥

इस मंत्रका देवता 'रथगोपाः' अर्थात् लडाईमें रथ रक्षक सैनिक हैं। अर्थ इस प्रकार है-

(स्वादुषंसदः) शत्रुओंके अन्न में बैठनेवाले वा शत्रुओंके अन्नका नाश करनेवाले, (वयोधाः) अन्न देनेवाले (कृच्छ्रे श्रितः) कठिनाईयोंमें भी स्थिर रहनेवाले (शक्तीवन्तः) शक्तिवाले या शक्ति नामक अस्त्रसे युक्त (गभीराः) गंभीर, (चित्रसेनाः) दर्शनीय सेनावाले, (इषुबलाः) बाण है बल जिनका अर्थात् बाणसे लडनेवाले (अमृध्राः) जिनकी शत्रुओंसे हिंसा नहीं हो सकती ऐसे, (सतोवीराः) वीर्यशाली, (उरवः) विशाल काय, (व्रातसाहाः) शत्रु समुदाय का पराजय करनेवाले (पितरः) रक्षा करनेवाले रथ रक्षक होते हैं।

ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः शिवे नो द्यावापृथिवी अनेहसा। पूषा नः पातु दुरितादृतावृधो रक्षा मा किर्नो अघशंस ईशत॥

ऋ० ६।७५।१०॥

यजुः २९।४७॥

यह मंत्र ऊपरोक्त मंत्रसे अगला मंत्र है। यह संपूर्ण सूक्त युद्ध विषयक है। इस मंत्रका अर्थ इस प्रकार है-

(ब्राह्मणासः) हे ब्रह्मज्ञानी, (सोम्यासः) सोम संपादन करनेवाले अर्थात् यज्ञादि कर्मोंके करने वाले (ऋतावृधः) सत्यसे बढनेवाले वा सत्यको बढानेवाले (पितरः) रक्षको ! (अनेहसा द्यावा पृथिवी) अहिंसक द्यु तथा पृथिवी (नः शिवे) हमारे लिए कल्याण के करने वाले हों। (पूषा) पोषक सेनापति (नः) हमारी (दुरितात्) पापसे (पातु) रक्षा करे और (मा किः अघशंसः नः ईशत) कोईभी पापी हमारे ऊपर शासन मत करे। (रक्षा) उससे पूषा हमारी रक्षा करे।

इन मंत्रोंमें सैनिकोंको पितर कहा गया है क्योंकि वे हमारी रक्षा करते हैं।

५-प्राण-पितर

यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत एक शतं देव-कर्मभिरायतः। इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्रवयाप वयेत्यासते तते ॥

ऋ० १० । १३० । १॥

अर्थ-(यः यज्ञः) जो यह जीवन रूपी यज्ञ (विश्वतः तन्तुभिः) चारोंओरसे क्षण, दिन, मास वा वर्षरूपी तन्तुओंसे (ततः) लम्बाईमें विस्तृत है और (एकशतं देवकर्मभिः) एक सौ देवकर्मोंसे अर्थात् सौ वर्षकी आयुसे (आयतः) चौडाईमें फैला हुआ है उस यज्ञको (इमे पितरः) ये जीवनाधार प्राण पितर (वयन्ति) बुनते हैं। (ये आययुः) जो कि प्राण इस यज्ञमें आए हुए हैं। वे (तते आसते) इस विस्तृत जीवन यज्ञमें बैठते हैं व कहते हैं कि (प्रवय अपवय) आगे बुनते जाओ और पीछेका ठीक करते जाओ।

इस मंत्रमें कपडे बुननेके अलङ्कारसे जीवन-रूपी वस्त्रका वर्णन है। प्राण इस जीवनके रक्षक होनेसे पितर हैं।

स्वाहा पूष्णे शरसे स्वाहा ग्रावभ्यः स्वाहा प्रतिरवेभ्यः । स्वाहा पितृभ्यः ऊर्ध्वबर्हिभ्यो घर्मपावभ्यः स्वाहा द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः ॥ यजुः अ० ३८। १५ ॥

इस संपूर्ण मंत्रका अर्थ हम यहां नहीं देंगे क्यों कि हमारा प्रयोजन सिर्फ 'स्वाहा पितृभ्यः उर्द्ध्व बर्हिभ्यः' इतनेसे ही है । अतः इतने ही मंत्र खण्डका अर्थ हम देंगे ।

(उर्द्ध्व बर्हिभ्यः पितृभ्यः स्वाहा)- शरीरमें जिनकी उत्कृष्ट स्थिति है ऐसे प्राणों के लिए स्वाहा। संपूर्ण मंत्रमें 'पूष्णे, शरसे' आदि प्राण के लिए हैं। अतः 'ऊर्द्ध्वबर्हि' विशेषण प्राणों का है। यह मंत्र शतपथ में इसी प्रकार व्याख्यात है। देखो श० १४। २। २। ३२ ॥

६ पालक-रक्षक आदि अर्थ में।

शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम् । पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः ॥ ऋ० १।८९।९॥ यजुः २५ । २२ ॥

अर्थ—(देवाः) हे देवो! (नु) निश्चयसे (शतं इत्) सौ ही (शरदः) वर्ष (अन्ति) मनुष्यके पास हैं। (यत्र) जिन सौ वर्षोंमें आप देवगण (नः तनूनां जरसं चक्रा) हमारे शरीरों में बुढापा लाते हो। (यत्र) और जिन सौ वर्षोंमें (पुत्रासः) पुत्र गण (पितरः) संतानोत्पत्ति के लायक होकर व अन्योंका पालन करने लायक होकर पितर बनते हैं। इस सौ वर्ष की (आयुः)आयुको (गन्तोः मध्ये) पूर्ण रूपसे प्राप्त करने से पहिले ही बीचमें (नः) हमें (मा रीरिषत) मत नष्ट करो।

त्राता नो बोधि ददृशानः आपिरभिख्याता मर्डिता सोम्यानाम् । सखा पिता पितृतमः पितृणां कर्तेमु लोकमुशते वयोधाः ॥

ऋ० ४ । १७ । १७ ॥

अर्थ—वह इन्द्र (नः) हमारा (त्राता) रक्षक, (ददृशानः) हमारा देखनेवाला, (अभिख्याता) उपदेश करनेवाला, (मर्डिता) सुख देनेवाला, (सखा) मित्र, (पिता) पालक, (सोम्यानां पितृणां पितृतमः) सोम्य पितरों में श्रेष्ठ पिता, (कर्ता) बनानेवाला, तथा (लोकं उशते) लोकों की कामना करनेवाले के लिए (वयोधाः) अन्न-बल-आयु का देनेवाला है, इस प्रकार हे उपासक (बोधि) तू जान।

ते हि द्यावा पृथिवी मातरा मही देवी देवाञ्जन्मना यज्ञिये इतः। उभे बिभृत उभयं भरीमभिः पुरु रेतांसि पितृभिश्च सिञ्चतः॥ ऋ० १०।६४।१४ ॥

अर्थ- (मातरा) सब जगत् की निर्माण करनेवालीं, (मही) बडी (देवी) दिव्य गुणोंवालीं (यज्ञिये) पूजनीय (ते द्यावा पृथिवी) वे द्यावा पृथिवी (देवान्) देवोंको (जन्मना इतः)जन्मसे प्राप्त करती हैं अर्थात् उनको उत्पन्न करती हैं। (उभे) दोनों द्यु और पृथिवी (भरीमभिः) भरण पोषणसे (उभयं बिभृतः) दोनों मनुष्य व देवोंका धारण पोषण करती हैं। और (पितृभिः) पालक इन्द्रादि

देवोंके साथ मिलकर (पुरु रेतांसि) बहुत जलोंसे (सिञ्चतः) सिंचन करती हैं अर्थात् प्रखर वृष्टि करती हैं।

७ - इषु -पितर

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ अथर्व० ३।२७।२ ॥

अर्थ— दक्षिण दिशाका इन्द्र अधिपति है। वह तिर्यक् गति वाले सर्पादिसे रक्षा करने वाला है। उसके बाण पितर हैं अर्थात् रक्षक हैं। इत्यादि।

इस मंत्रमें बाणोंको पितर कहा गया है क्योंकि वे हमारी रक्षा करते हैं।

जनक- पितर

वातासो न ये धुनयो जिगत्नवोऽग्नीनां न जिह्वा विरोकिणः। वर्मण्वन्तो न योधाः शिमीवन्तः पितॄणां न शंसाः सुरातयः॥ ऋ. १०।७८।३॥

अर्थ- (ये) जो मनुष्य (वातासः न) वायुओंकी तरह (धुनयः) शत्रुओंको कंपानेवाले हैं, तथा जो (जिगत्नवः) क्रियाशील (Active) (अग्नीनां जिह्वाः न) अग्नियों की ज्वालाओंकी तरह (विरोकिणः) दीप्यमान हैं; और जो (वर्मण्वन्तः योधाः न) कवचधारी योद्धाओंकी तरह (शिमीवन्तः) शूरता के कार्योंके करनेवाले हैं, व (पितॄणां शंसाः न) जनक पितरोंकी वाणियों की तरह (सुरातयः) उत्कृष्ट दान देनेवाले हैं, ऐसे मनुष्य हमारी सर्वदा रक्षा किया करें।

ध्रुवा एव वः पितरो युगे युगे क्षेमकामासः सदसो न युञ्जते। अजुर्यासो हरिषाचो हरिद्रव आ द्यां रवेण पृथिवीमशुश्रवुः॥

ऋ० १०। ९४। १२॥

अर्थ-(वः) तुम्हारे (पितरः) उत्पन्न करने वाले (ध्रुवा एव) निश्चयसे स्थिर हैं। तुम(युगे युगे) युग युगमें (क्षेमकामासः) कल्याण करनेकी इच्छावाले हो इत्यादि। इस संपूर्ण सूक्तमें 'यज्ञमें सोमलता से सोम निकालने के लिए लाए हुए पत्थरोंका वर्णन है ' ऐसा सायणाचार्यने माना है। और तदनुसार मंत्रार्थ किए हैं। साधारणतया मंत्रोंको देखनेसे ऐसाही वर्णन प्रतीत होता है तथापि संपूर्ण सूक्त विचारणीय है। इसपर हम फिर कभी प्रकाश डालनेका प्रयत्न करेंगे। और अतः यहांपर हमें जितना अभिष्ट अर्थ था उतनाही दिया है।

८-पूर्वज-पितर

चाक्लृप्रे तेन ऋषयो मनुष्या यज्ञे जाते पितरो नः पुराणे। पश्यन्मन्ये मनसा चक्षसा तान्य इमं यज्ञमयजन्त पूर्वे॥ ऋ० १०। १३०। ६॥

अर्थ- (पुराणे यज्ञे जाते) पुरातन यज्ञके हो जानेपर (तेन) उस यज्ञ द्वारा (ऋषयः) ऋषिगण, (मनुष्याः) अन्य मनुष्य समुदाय व (नः पितरः) हमारे पूर्वज (Fore-fathers)(चाक्लृप्रे) उत्पन्न हुए। (ये पूर्वे इमं यज्ञं अयजन्त) जिन पूर्वके देवोंने इस सृष्ट्युत्पत्तिरूपी यज्ञको किया था (तान्) उन देवोंको (मनसा चक्षसा) मनरूपी आंखसे अथवा (चक्षसा मनसा) सूक्ष्म पदार्थोंके देखनेके साधनभूत मनसे (पश्यन्) देखता हुआ मैं (मन्ये) उन देवोंका मनन करता हूं।

यह सूक्त सृष्ट्युत्पत्तिपर कुछ कुछ प्रकाश डालता हुआ प्रतीत होता है। इस मंत्रमें आए हुए ऋषि, पितर व मनुष्य संभवतः क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्यके द्योतक प्रतीत होते हैं जैसा कि पुरुष सूक्त में सृष्ट्युत्पत्तिमें ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यकी उत्पत्ति दर्शाई गई है। क्षत्रियोंके लिए पितरका प्रयोग वेदमें हुआ है जैसा कि अभी हम ऊपर दर्शा आए हैं।

ऋतु-पितर।

नमो वः पितरो रसाय नमो वः पितरः शोषाय नमो वः पितरो जीवाय, नमो वः पितरः स्वधायै, नमो वः पितरो घोराय, नमो वः पितरो मन्यवे,नमो वः पितरः पितरो नमो वः गृहान्नः पितरो दत्त सतो वः पितरो देष्मै तद्वः पितरो वासः॥

यजुः अ० २। ३२॥

इस मंत्र पर शतपथ ब्राह्मणने इतनीही टिप्पणी चढाई है कि ' इस मंत्रमें ६ वार नमस्कार है वह इस लिए है कि क्योंकि ६ ऋतुएं होती हैं। शतपथका वचन

इसप्रकार है –'षट्कृत्वो नमस्करोति षड्वा ऋतवः ऋतवः पितरः तस्मात् षट् कृत्वो नमस्करोति–।
श० २। ४। २। २४॥

इस प्रकार इस मंत्रमें ऋतुओंको पितर कहा गया है ऐसा प्रतीत होता है । ब्राह्मणोंमें स्थान स्थानपर ऋतुओंको पितर कहा गया है। उदाहरणार्थ- श० २।६।१। ४

कौ० ५ ७॥ गो उ० १। २४ ॥ तथा ६। १५॥

श० २ । ६।१। ३२ ॥ तै० १।३।१०।८॥ तथा १।३। १०। ५॥ इत्यादि । इस स्थापनानुसार मंत्रार्थ इस प्रकार है—

(पितरः) हे पितरो ! (वः रसाय) तुम्हारी रस भूत वसंतके लिए (नमः) नमस्कार है। वसन्तऋतु में मधु आदि रसका बाहुल्य होता है अतः रससे यहां वसन्त ऋतुका उपलक्षण है। (पितरः वः शोषाय नमः) हे पितरो तुम्हारी शोषक ग्रीष्मके लिए नमस्कार है । ग्रीष्ममें गरमी पडनेसे सब रस सूख जाते हैं अतः शोषकसे ग्रीष्मका यहां ग्रहण किया गया है। (पितरः वः जीवाय नमः) हे पितरो ! तुम्हारी जीवन दात्री वर्षाके लिए नमस्कार है। जीवन नाम जलका है क्योंकि वह जीवन देता है। वर्षाऋतु जीवन दात्री है । (पितरः वः स्वधायै नमः) हे पितरो ! तुम्हारी अन्न देनेवाली शरद्ऋतुके लिए नसमकार है। स्वधाना म अन्नका है ! और शरद्ऋतुमें अन्न बहुत होता है। स्वधा शरद्-ऋतुकी उपलक्षण है। (पितरः वः घोराय नमः) पितरो ! तुम्हारी शीतयुक्त हेमन्तके लिए नमस्कार है। हेमन्तमें बडा घोर शीत पडता है अतः घोरसे हेमन्तका ग्रहण है। (पितरः वः मन्यवे नमः) हे पितरो ! तुम्हारी मन्युभूत शिशिर के लिए नमस्कार है। शिशिरऋतुमें औषधियां जल जाती हैं अतः तत् सादृश्यसे मन्यु शिशिरका उपलक्षण है। (पितरः) हे पितरो ! (नः गृहान् दत्त)हमें घर दो अर्थात् हमारे घरोंको समृद्ध करो। (पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारे लिए (सतः देष्मै) जो कुछ हमारे घरमें है हम देंगे। हे पितरो (वः एतत् वासः) तुम्हारा यह वस्त्र है अर्थात् यह ओढने पहिरनेका साधन है उसे लो । यह मंत्र अभीतक विशेष विचारणीय है यद्यपि ब्राह्मणने इस मंत्र में आए हुए पितर को ऋतुवाची बताया है पर जिस प्रकरण में यह मंत्र है उसमें यह अर्थ संगत नहीं होता। अभीतक इस मंत्रका पूर्णतया स्पष्टी करण नहीं हुआ है। फिरभी पाठकोंके सामने विचारार्थ पेश कर दिया है। शतपत ब्राह्मणने इस मंत्रकी व्याख्यामें नमः का अर्थ यज्ञ किया है इसका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि इन प्रत्येक ऋतुमें यज्ञ करना चाहिए व उस उस ऋतुमें उत्पन्न पदार्थकी यज्ञमें हवि डालनी चाहिए।

गो-संयामक पितर।

न किरेषां निन्दिता मर्त्येषु येऽस्माकं पितरो गोषु योधाः। इन्द्र एषां दृंहिता माहिनावानुद्गोत्राणि ससृजे दंसनावान्॥ ऋ० ३।३९।४ ॥

अर्थ- (ये अस्माकं पितरः) ये जो हमारे पितर (गोषु योधाः) इन्द्रयोंसे लडने वाले हैं (एषां) इनका (मर्त्येषु) मनुष्योंमें (न किः निन्दिता) कोई भी निन्दक नहीं है । (माहिनावान्) अत्यन्त पूजनीय वा महिमावाला तथा (दंसनावान्) कर्मशील (इन्द्रः) आत्मा (एषां गोत्राणि) इनके इन्द्रिय समूहोंको (दृंहिता उत्ससृजे) दृढ बनाता है

इस मंत्रमें गोशब्द इन्द्रिय वाची है। इन्द्रियोंको वश करनेके लिए मनुष्यको उनके साथ युद्ध करना पडता है। जो योद्धा इन्द्रियोंपर विजय पालेता है अर्थात् उन्हें अपने काबुमें कर लेता है उसका फिर दुनियामें कोई भी निन्दक नहीं रहता क्योंकि इन्द्रियां ही निन्दाकी जड हैं। इन्द्रिय संयम करना वस्तुतः एक बडी भारी लडाई फतेह करना है। अतएव यहां इन्द्रिय संयम करने वाले पितरोंको योद्धाके नामसे पुकारा गया है । इन्द्रिय संयम होनेपर आत्मा उन्हें दृढ बनाती है । संयमित इन्द्रियों वाले पुरुष को सुख दुःख आदि द्वन्द्व कदापि सता नहीं सकते । उसका इन्द्रिय समूह इतना दृढ बन जाता है कि उसे सांसारिक कोईभी आपत्ति सता नहीं सकती । इस प्रकार इस मंत्रमें इन्द्रिय संयमका महत्त्व दर्शाया है।

सोम और पितर ।

त्वं सोम प्रचिकितो मनीषा त्वं रजिष्ठमनु नेषि पंथाम्। तव प्रणीती पितरो न इन्द्रो देवेषु रत्न मभजन्त धीराः ॥ ऋ० १।९१।१ ॥
यजुः १९।५२ ॥

अर्थ- हे सोम ! (त्वं मनीषा प्रचिकितः) तू अपने मनकी गतिसे यानि अपनी बुद्धिसे सब उचित अनुचितको जानता है, इसलिए (त्वं) तू (रजिष्ठं पन्थां अनुनेषि) सरल व सुगम मार्गपर अपने पीछे पीछे लेजाता है । (इन्दो) हे इन्दु ! (तव प्रणीती) तेरे नेतृत्व (Leading) से (नः धीराः पितरः) हमारे धीर पितर (देवेषु रत्नं अभजन्त) देवोंमें रत्नको प्राप्त करते हैं अर्थात् देवोंमें शिरोमणि बन जाते हैं या देवोंसे रत्न यानि संपत्ति प्राप्त करते हैं ।

इन्दु-उन्दी क्लेदनेसे इन्दु शब्द बनता है। क्लेदनका अर्थ है गीला होना । अमृतसे गीला करनेवाला यानि अमृत देनेवाला । सौम्य गुणोंसे युक्त ।

इस मंत्रमें सोमके नेतृत्व की महिमा दर्शाई है । पितर सोमके नेतृत्वसे देवोंमें उच्च पदको प्राप्त करते हैं ऐसा यहां से पता चलता है ।

यो न इन्दुः पितरो हृत्सु पीतोऽमर्त्यो मर्त्यां आविवेश । तस्मै सोमाय हविषा विधेम मृळीके अस्य सुमतौ स्याम् ॥ ऋ० ८।४८।१२ ॥

अर्थ- हे (पितरः) पितरो ! (यः हृत्सु पीतः) जो हृदयोंमें पिया गया (अमर्त्यः इन्दुः) मरण रहित इन्दु (नः मर्त्यान् ०) हम मरण धर्मा मनुष्योंमें (आविवेश) प्रविष्ट हुआ हुआ है, (तस्मै सोमाय) उस सोमके लिए (हविषा) हवि द्वारा (विधेम) हम पूजा करते हैं । (अस्य) इस सोमके (मृळीके) सुखमें और (सुमतौ) सुमतिमें (स्याम) हम रहें ।

इस मंत्रमें सोमको हवि देनेका व सुखेच्छु को सोमकी सलाहमें रहनेका निर्देश है । यह सोम हमारेमें प्रविष्ट हुआ हुआ है, यह बातभी यहांसे पता चल रही है ।

त्वं सोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी आ ततन्थ । तस्मै ते इन्दो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ऋ० ८।४८।१३ ॥
यजुः १९।५४ ॥

अर्थ- हे सोम ! (त्वं)तू (पितृभिः संविदानः) पितरोंके साथ मिला हुआ (द्यावा पृथिवी) द्युलोक व पृथिवी लोकका (अनुआ ततन्थ) अनुकूलतासे विस्तार करता है । (इन्दो) हे इन्दु ! (तस्मै ते) उस तेरे लिए हम (हविषा विधेम) हवियोंसे पूजा करते हैं, जिससे कि (वयं) हम (रयीणां पतयः स्याम) धनोंके स्वामी होवें । इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि सोम पितरोंके साथ मिलकर द्यु व पृथिवीका विस्तार करता है। उसको हवि देनेसे धन संपत्ति मिलती है ।

त्वया हि नः पितरः सोम पूर्वे कर्माणि चक्रुः पवमान धीराः । वन्वन्नवातः परिधीँ रपोर्णु वीरेभिरश्वैर्मघवा भवा नः ॥ ऋ० ९।९६।११ ॥
यजु० १९।५३॥

अर्थ- (पवमान सोम) हे पवित्र सोम ! (त्वया हि) तेरेसेही अर्थात् तेरी सहायता द्वाराही (नः पूर्वे धीराः पितरः) हमारे धीर पूर्वज पितरोंने (कर्माणि चक्रुः) श्रेष्ठ कर्मोंको किया ।

इस मंत्र में यह दर्शाया गया है कि सोम की सहायता द्वारा हमारे पूर्वज पितर श्रेष्ठ कर्म करने में समर्थ हुए । सोम राक्षसोंका विनाश करता है । वीर अश्वोंवाला होकर सोमको शासक बननेके लिए कहा गया है इससे ऐसा पता चलता है कि यहां सोमसे सेनापति वा राजाका ग्रहण है ।

पितृमान् सोम ।

अग्नये कव्य वाहनाय स्वाहा सोमाय पितृमते स्वाहा । अपहता असुरा रक्षांसि वेदिषदः ॥
॥ यजुः २ । २९॥

अर्थ- कव्यका वहन करनेवाली अग्निके लिए स्वाहा हो । उत्तम पितावाले सोमके लिए स्वाहा हो । (वेदिषदः असुराः रक्षांसि) पृथिवीपर स्थित असुर व राक्षस (अपहताः) नष्ट हो जावें । यहां सोमको उत्तम पितावाला कहागया हे । अग्नि व सोम पृथिवीस्थ असुर व राक्षस नष्ट करते हैं ऐसा मंत्र की संगति लगानेसे पता चलता हे ॥

सोमाय पितृमते स्वधानमः ॥
अथर्व० १८। ४। ७२ ॥

श्रेष्ठ पितावाले सोमके लिए स्वधा और नमस्कार हो। यहां सोमके लिए स्वधा व नमः देनेका उल्लेख है।

पितृभ्यः सोमवद्भ्यः स्वधा नमः॥ अथर्व० १८। ४। ७३ ॥

सोमवान् पितरोंके लिए स्वधा व नमस्कार हो। इन मंत्रोंके देखने से इतना स्पष्ट होता है कि सोम व पितरोंका परस्पर विशेष संबन्ध है। यह सोम कौन है यह कहना कठिन है जब तक कि संपूर्ण सोम विषयक मंत्रोंका समन्वय न किया जासके। हम फिर कभी हुआ तो समन्वय करके पाठकों के सामने रखनेका प्रयत्न करेंगे। पाठक स्वयं सोमपर विचार करेंगे तो उत्तम होगा।

अङ्गिरस् पितर।

प्र वो महे महि नमो भरध्वमाङ्गूष्यं शवसानाय साम। येना नः पूर्वे पितरः पदज्ञा अर्चन्तो अङ्गिरसो गा अविन्दन्॥ ऋ० १।६२।२ ॥
यजुः ३४।१७ ॥

अर्थ — हे मनुष्यो! (वः) तुम (महे शवसानाय) बडे भारी बलवान् इन्द्रके लिए (महि नमः) महान् नमस्कार तथा (आङ्गूष्यं साम) आङ्गूष्य नामक सामसे (प्रभरध्वं) गायन करके स्तुतिकरो (येन) जिस आङ्गूष्य सामद्वारा (अर्चन्तः) अर्चनाकरते हुए (नः) हमारे (पूर्वे पदज्ञाः अङ्गिरसः पितरः) पुरातन पदज्ञ अङ्गिरस् पितरोंने (गाः अविन्दन्) सूर्य किरणोंको प्राप्त कियाथा।

हम पहिलेभी देख आए हैं कि पितरोंके सूर्य किरणोंके प्राप्त करनेका उल्लेख हमें मिलता है। यहां पर पुनः अङ्गिरस् पितरों द्वारा सूर्यकिरण की उपलब्धिका जिक्र है। आङ्गूष्य साम की महिमा यहां व्यक्त होरही है। आङ्गिरस् पितर किन पितरोंका नाम है इसका विचार हम फिर करेंगे।

आङ्गूष्यं साम- आङ्गूष का अर्थ है स्तुति समूह अथवा आघोष। आघोषका अर्थ है जोर का शब्द आवाज॥ देखो-निरुक्त- आङ्गूषः स्तोमः आघोषः। नि० अ. १। पा० १। खं. १२। श. ४५। अतः आङ्गूष्यका अर्थ हुआ स्तुति समूहवाला या आघोषवाला यानि जो जोर जोरसे बोलागया है ऐसा। अतएव आङ्गूष्य सामका अर्थ हुआ कि जो सामस्तुति पूर्ण मंत्रोंसे युक्त है अथवा जो साम जोर जोर से गाया गया है। क्योंकि सामसे दुःख दूर होते हैं अतः इस कानाम साम है। स्यन्ति खण्डयन्ति दुःखानि येन तत् साम। पदज्ञ-परम पद (परमात्मा) को जाननेवाला। आत्मज्ञ। आत्मा वै पदं कौ०२।३६।

वः- प्रथमार्थमें द्वितीया का प्रयोग हुआ हुआ है। अथवा इसे षष्ठ्यन्त भी माना जा सकता है। गाः- सूर्य किरणें।

उपरोक्त मंत्रके भावका ही निम्न लिखित मंत्रभी समर्थन कर रहा है।

य उदाजन् पितरो गोमयं वस्वृतेनाभिन्दन् परिवत्सरे बलम्। दीर्घायुत्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ऋ० १०।६२।२

अर्थ — (ये पितरः) जिन अङ्गिरस् पितरोंने (परिवत्सरे) परिवत्सरमें (बलं) मेघको (ऋतेन) यज्ञ वा सत्य द्वारा (अभिन्दन्) विदारण किया और (गोमयं वसु) सूर्य किरण रूपी धनको (उत् आजन्) प्राप्त किया ऐसे हे (सुमेधसः) उत्तम मेधावाले (अङ्गिरसः) अङ्गिरस् पितरो! (वः) तुम्हारी (दीर्घायुत्वं अस्तु) दीर्घायु होवें। (मानवं प्रति गृभ्णीत) तुम मनुष्य जातिपर अनुग्रह करो।

इस मंत्रमें भी पूर्वोक्त मंत्रानुसार अङ्गिरस् पितरों द्वारा मेघ भेदन करके सूर्यकिरणोंकी प्राप्तिका उल्लेख है। साथही ऐसे पितरोंकी दीर्घायुकी प्रार्थना की गई है व उनसे मनुष्य जातिपर कृपा दृष्टि रखनेको कहा गया है।

द्यावा पृथिवी अनु मा दीधीथां विश्वे देवासो अनु मा रभध्वम्। अङ्गिरसः सोम्यासः पापमार्छत्वपकामस्य कर्ता ॥ अथर्व० २।१२।५ ॥

अर्थ- (द्यावा पृथिवी) द्यु और पृथिवी (मा अनु दीधीथां) मेरे अनुकूल प्रकाशित होवें। (विश्वे देवासः) हे सब देवो! (मा अनु रभध्वम्) मेरे अनुकूल कार्यका प्रारंभ करो। (अङ्गिरसः

सोम्यासः पितरः) हे अङ्गिरस् तथा सोम संपादन करनेवाले पितरो ! (अपकामस्य कर्ता) बुरी कामनाओंका करने वाला (पापं आ ऋच्छतु) पापको प्राप्त होवे ।

इस मंत्रमें अङ्गिरस् पितरों से प्रार्थना की गई है कि वे पाप कामनाओं के करनेवाले को पाप के कुण्ड में डालदें ता कि आगे से वह पाप कामनायें करना भूल जावे ।

अङिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः । तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ ऋ. १० । १४ । ६ ॥
अथर्व० १८ । १ ।५८ ॥
यजुः १९ । ५० ॥

अर्थ- (नः नवग्वाः अथर्वाणः भृगवः सोम्यासः अङ्गिरसः पितरः) हमारे नवग्व, अथर्वा,भृगु,सोम संपादन करने वाले अङ्गिरस् पितर हैं। (वयं) हम (तेषां) उन उपरोक्त विशेषण विशिष्ट पितरों की (सुमति) उत्तम सलाहमें और (भद्रे) कल्याणकारी (सौमनसे) उत्तम संकल्पमें (स्याम) स्थित होवें ।

इस मंत्रमें पितरों की शुभ सला हमें तथा शुभसंकल्प में रहने का निर्देश किया गया है ।

नवग्व शब्दपर थोडासा निर्देश हम कर आए हैं । इसपर विशेष विचार अपेक्षित है ।

अथर्वाणः— अथर्वाणोऽथनवन्तः, थर्वतिश्चरति कर्मा तत्प्रतिषेधः ॥ निरु० ११ । २ । १८ ॥

अर्थात् अथर्वन् अथर्वण वाले यानि स्थिर-निश्चल प्रकृति वाले होते हैं। चलनार्थक थर्व धातुसे थर्वन् शब्द बनता है । जो निश्चल हो वह अथर्व।

भृगवः-अर्चिषि भृगुः संबभूव । भृगुः भृज्यमानः, न देहे । निरु० ३ । ३॥

अर्थात् भृगु ऋषि ज्वालाओंमें पैदा हुआ था । भृगुका अर्थ है जो आगमें भुना हुआ हो । अतएव इसकी शरीरमें आस्था नहीं होती ।

यज्ञिय-यज्ञके योग्य पूजा, दान सत्कारादिके योग्य । अथवा यज्ञमें बैठाने लायक ।

परिशिष्ट ।

इस प्रकरण में उन मंत्रों का उल्लेख किया जायगा जो कि अबतक के विभागों में नहीं आ सके हैं। यद्यपि इन मंत्रोंमें पितृ शब्द बहुवचनान्त ही प्रयुक्त हुआ हुआ है तथा ये मंत्र पहिले दिए गए मंत्रों का सा ही महत्व भी रखते हैं परन्तु हमने जो मंत्रों के विभाग बनाए हैं उनमें से किसी में भी ये नहीं आ सके हैं और अत एव ऐसे बचे हुए मंत्रों को इकट्ठा कर उपरोक्त शीर्षक के नाम से यहां पर दिया गया है ।

पितरों की उत्पत्ति ।

निम्न लिखित मंत्रों में पितरों की उत्पत्ति संबन्धी निर्देश मिलता है ।

नवभिरस्तुवत पितरोऽसृज्यन्तादितिरधिपत्न्यासीत् ॥ यजुः १४ ।२९ ॥

अर्थ- (नवभिः अस्तुवत) नव प्राणोंसे प्रजापतिने स्तुति की जिससे (पितरः असृज्यन्त) पितर उत्पन्न हुए । (अदितिः अधिपत्नी आसीत्) प्रजापतिकी अखण्डशक्ति पालन करने वाली थी ।

इस मंत्रकी व्याख्या श० ८ । ४ । ३ । ७ । में है। शतपथ के अनुसार यह अध्याय सृष्टि उत्पत्तिपर प्रकाश डाल रहा है ऐसा ज्ञात होता है। इस अध्याय की व्याख्या प्रारंभ करते हुए शतपथ ब्राह्मण ने लिखा है कि ' अथ सृष्टीरुपदधाति। एतद्वै प्रजापतिः सर्वाणि भूतानि पाप्मनो मृत्यो मुक्त्वा कामयत प्रजाः सृजेय प्रजायेयेति ' " इत्यादि ।

' नवभिरस्तुवत ' की शतपथने निम्नलिखित व्याख्या की है- ' नवभि रस्तुवतेति । नव वै प्राणाः

सप्त शीर्षण्वाञ्चौ द्वौ तैरेव तदस्तुवत।'

यजुर्वेद पर शतपथ ब्राह्मणभाष्य होते हुए भी यजुर्वेदस्थ बहुत से मंत्रों का भाव स्पष्ट नहीं होता है। तथापि हमने प्रयत्न किया है। पाठक यजुर्वेदस्थ मंत्रोंपर स्वयं अधिक विचार कर उनको हल करने का प्रयत्न करेंगे तो उत्तम होगा।

इस मंत्र से ऐसा प्रतीत होता है कि ऋतु, सूर्य, चन्द्र आदि अन्यों की तरह पितरों की भी खास ढंग से उत्पत्ति होती होगी क्यों कि मनुष्य सामान्य की उत्पत्ति में पितरों की उत्पत्ति का समावेश हो सकता था फिर भी इस मंत्रमें विशिष्ट रूपसे पितरों की उत्पत्तिका उल्लेख किया गया है।

वशामेवामृतमाहु र्वशां मृत्युमुपासते।
वशेदं सर्वमभवद् देवा मनुष्या असुराः
पितर ऋषयः॥ अथर्व० १०।१०।२६॥

अर्थ- (वशां एव अमृतं आहुः) वशाको ही अमृत कहते हैं और (वशां मृत्युं उपासते) वशा को ही मृत्यु मानते हुए उसकी उपासना करते हैं। (देवाः मनुष्याः असुराः पितरः ऋषयः) देव,मनुष्य असुर, पितर तथा ऋषि गण (इदं सर्वं) यह सब (वशा अभवत्) वशा ही हुई हुई है।

वशा पर विचार करना प्रसंगान्तर हो जाएगा अतः उसपर हम यहां विचार नहीं करेंगे। इस मंत्र से हमारा इतना ही अभिप्राय है कि पितर भी वशा से उत्पन्न होते हैं।

देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिवि श्रितः॥
अथर्व० ११।७।२७॥

अर्थ- (देवाः पितरः मनुष्याः) देव, पितर, मनुष्य (ये च) और जो (गंधर्वाप्सरसः) गन्धर्व तथा अप्सरस् हैं वे तथा (दिविश्रितः) द्यु लोक के आश्रय में स्थित (देवाः) सूर्य चन्द्र आदि देव गण हैं (सर्वे) ये सब (उच्छिष्टात्) उच्छिष्ट से (जज्ञिरे) उत्पन्न हुए हैं।

उच्छिष्ट- यह परमात्मा का नाम है क्यों कि परमात्मा उत् अर्थात् सब को उत्क्रमण करके भी शिष्ट अर्थात् शेष बच रहा है।

यहांपर उच्छिष्टसे पितरों की उत्पत्ति दर्शाई गई है।

इस प्रकार इन मंत्रों में पितरों की उत्पत्ति विषयक वर्णन मिलता है।

दक्षिणा व पितर।

पयमगन् दक्षिणा भद्रतो नो अनेन दत्ता सुदुघा वयोधाः। यौवने जीवानुप पृञ्चती जरा पितृभ्यः उप संपराणयादिमान्॥
अथर्व० १८।४।५०॥

अर्थ- (सुदुघा) उत्तम तथा कामनाओं को पूर्ण करनेवाली (वयोधाः) अन्न को देनेवाली (अनेन दत्ता) इससे दी हुई (इयं दक्षिणा) यह दक्षिणा (भद्रतः नः आ आगन्) कल्याणकारी स्थान से अथवा कल्याणकारी स्वरूपसे हमें प्राप्त हुई है। इससे हमारा अकल्याण नहीं होगा। (यौवने जीवान् उपपृञ्चती जरा इव)जिस प्रकार युवावस्थाके चले जानेपर जीवों को वृद्धावस्था अवश्य आती है उस प्रकार यह दक्षिणा(इमान्)इन जीवों को(पितृभ्यः) पितरों के लिए भली प्रकार (उप संपराणयात्) प्राप्त करावे अर्थात् पितरों के पास उत्तम रीति से पहोंचावे।

इस मंत्र में स्पष्ट शब्दों में दक्षिणा का माहात्म्य दर्शाया गया है। दक्षिणा देनेसे पितरों की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार युवावस्थाके चले जानेपर वृद्धावस्था अवश्यं भाविनी है उसी प्रकार दक्षिणा देनेवाले को पितरों की प्राप्ति भी अवश्यं भाविनी है ऐसा इस मंत्र में उपमा द्वारा स्पष्ट सूचित किया गया है। पाठक दक्षिणा के इस महत्वपर अवश्यमेव विचार करें।

मरनेपर पितरों में गणना।

पृथिवीं त्वा पृथिव्या मावेशयामि देवो नो धाता प्रतिरात्यायुः। परा परैता वसुविद् वो अस्त्वधा मृताः पितृषु संभवन्तु॥
अथर्व० १८।४।४८॥

अर्थ- (पिथिवीं त्वां पृथिव्यां आवेशयामि) मिट्टी से बने हुए हे मृतपुरुष तुझको मिट्टी में मिला देता हूं अर्थात् तुझे पृथिवी में गाडता हूं। (धा-

ता देवः नः आयुः प्रतिराति) धारक देव हमारी आयु को बढावे । हे (परापरैताः) प्रकृष्ट तया हम से दूर चले गए पितरो ! (वः) तुम्हारे लिए धाता देव (वसुविद् अस्तु) वास करनेवाला हो-तुम्हारा आश्रय दाता हो । (अध) और (मृताः) मृत (पितृषु संभवन्तु) पितरों में अन्छीतर होवें अर्थात पितरों में जा मिलें ।

इस मंत्र के पूर्वार्ध में मृत देह के गाडने का निर्देश मिलता है । यह मानव देह पार्थिव तत्वों के आधिक्य से बना हुआ है अत एव यहांपर मृतदेह को पृथिवी (मिट्टी) के नाम से पुकारा गया है । इसी भावको निम्न लिखित दोहे में कहा गया है--

खाक का पुतला बना खाक की तसवीर है ।
खाक में मिल जायगा खाक दामन गीर है ॥

मंत्र के उतरार्ध में मृतों के पितरों में होनेका निर्देश है। इसका अभिप्राय यह है कि मरनेपर पितरों में मनुष्य जा मिलता है यानि मरने के बाद से उस की पितृसंज्ञा हो जाती है ।

आश्विनौ तथा पितर ।

युवं भुज्यं भुरमाणं विभि र्गतं स्वयुक्तिभि र्निवहन्ता पितृभ्यः आ । यासिष्टं वर्ति र्वृषणा विजेन्यन् दिवो दासाय महि चेति धामवः ॥
ऋ० १ । ११९ । ४ ॥

अर्थ-- (वृषणा) हे कामनाओं की वर्षा करने वाले अश्विनौ ! (युवं) तुम दोनों (भुरमाणं) पुष्टिकारक (भुज्यं) भोगलायक और जोकि (विभिः गतं) घोडों द्वारा लादकर लाया जाता है ऐसे पदार्थ को (स्वयुक्तिभिः) अपनी युक्तियों अर्थात् योजनाओं द्वारा (पितृभ्यः) पितरों के लिए (आ निः वहन्तौ) चारों ओर से लाकर पहुंचाते हो। इसलिए (विजेन्यं वर्तिः) दूरस्थ विद्यमान पदार्थों के लाने के लिए (यासिष्टं) जाओ । (दिवोदासाय) दिवो दासके लिए (वां अवः) तुम्हारा संरक्षण (महि) महान् है यह सब को (चेति) मालूम है ।

दिवो दास-- प्रकाशका देनेवाला, चाहे वह ज्ञान प्रकाश हो वा अन्य कोई हो ।

इस मंत्रमें पितरों के लिए भोग्य पदार्थ अश्विनौ पहुंचाते हैं ऐसा उल्लेख है ।

सरस्वती और पितर ।

सरस्वति या सरथं ययाथ स्वधाभि र्देवि पितृभि र्मदन्ती । आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयस्वानमीवा इष आधेह्यस्मे ॥ ऋ० १० । १७ । ८ ॥

यह मंत्र थोडेसे पाठ भेदके साथ अथर्व वेदमें इसप्रकार आया है-

सरस्वति या सरथं ययाथोक्थैः स्वधाभि र्देवि पितृभि र्मदन्ती । सहस्त्रार्घमिळो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानाय धेहि ॥ अथर्व० १८ । १ । ४३॥

अर्थ- (सरस्वति देवि) हे सरस्ती देवी (या) जो तू (पितृभिः स्वधाभिः मदन्ती) पतरोंके साथ मिलकर स्वधाओंसे आनन्दित होती हुई (सरथं) पितरोंके साथ समान रथ पर आरोहण करती हुई (ययाथ) आई है वह अस्मिन् बर्हिषि इस यज्ञमें (आसद्य) बैठकर प्रसन्न हो । (अस्मे) हमें (अनमीवः इषः) रोगरहित अन्नोंको अर्थात् जिनके खाने से किसी भी प्रकारका रोग न होवे ऐसे अन्नोंको (आ धेहि) दे ।

अथर्व वेद में जो पाठ भेद है वह विशेषकरके उत्तरार्धमें ही है। उस उत्तरार्धका अर्थ इस प्रकार है हे सरस्वती ! तू (अत्र) इस यज्ञमें(यजमानाय) यजमानके लिए(सहस्त्रार्घ इडः भागं) हजारोंसे पूजनीय अन्नके भागको और (रायस्पोषं) धनकी पुष्टिको (धेहि) दे।

इस मंत्रमें सरस्वतीका पितरोंके साथ समान रथपर चढना स्वधा खाना व यज्ञमें आना दर्शाया गया है ।

सरस्तीं यां पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः । सहस्त्रार्घमिळो अत्रभागं रायस्पोषं यजमानेषु धेहि ॥

ऋ० १०।१७। ९॥

अथर्ववेदमें यह मंत्र थोडसे पाठ भेदके साथ है—

सरस्वतीं पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः । आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वमनमीवा इष आधह्यस्मे ॥ अथर्व० १८ । १। ४२॥

अर्थ- (दक्षिणा) दक्षिण दिशासे आकर (यज्ञं अभिनक्षमाणाः पितरः) यज्ञको सब ओरसे प्राप्त करते हुए पितर (यां सरस्वतीं हवन्ते) जिस सरस्वतीको बुलाते हैं, ऐसी हे सरस्वती ! तू (अत्र) यहां इस यज्ञमें (यजमानेषु) यजमानोंमें (सहस्त्रार्घं इडः भागं) हजारोंसे पूजनीय अन्नके भागको तथा (रायस्पोषं) धनकी पुष्टिको (धेहि) दे।

पितरोंकी दक्षिण दिशा है यह हमें अन्य वेद मंत्र दर्शाते हैं अतः हमने ऊपर दक्षिणाके साथ(आगत्य) आकर इतना अध्याहार करके अर्थ किया है। इस मंत्रमें पितर सरस्वती को यज्ञमें बुलाते हैं यह दर्शाया गया है।

इदं ते हव्यं घृतवत्सरस्वतीदं पितृणां हविरास्यं यत्। इमानि त उदिता शंतमानि तेभिर्वयं मधुमन्तः स्याम ॥ अथर्व० ७।६८।२॥

अर्थ- (सरस्वति) हे सरस्वती ! (इदं ते घृतवत् हव्यं) यह तेरे लिए घृतवाला यानि घीसे मिश्रित हव्य है। (यत् इदं हविः पितृणां आस्यं) जो यह हवि पितरोंके लिए दिया जाने वाला है। (इमानि ते शंतमानि उदितानि) ये तेरे लिए कल्याण कारी वचन हैं । (तेभिः) इन से वयं हम (मधुमन्तः स्याम) मधुयुक्त बनें।

आस्य-अस् क्षेपणेसे बना है। शब्दार्थ फेंका जाने वाला है भावार्थ दिया जाने वाला ॥

इस मंत्रमें पितरों के लिए जो हव्य दिया जाता है वह सरस्वती को भी दिया जाता है यह दर्शाया गया है और साथ ही में सरस्वती को हव्यादि देने का लाभ दर्शाया है।

इस प्रकार इन उपरोक्त मंत्रों से सरस्वती व पितरों का संबन्ध विशेष है यह हमें यहां स्पष्ट पता चलता है।

गौ व पितर ।

देवाः पितरो मनुष्याः गन्धर्वाप्सरसश्च ये ।
ते त्वा सर्वे गोप्स्यन्ति सातिरात्रमतिद्रव ॥
अथर्व० १० । ९ । ९ ॥

अर्थ (देवाः पितरः मनुष्याः) देव, पितर, मनुष्य (ये च) और जो (गंधर्वाप्सरसः) गन्धर्व तथा अप्सरस् हैं, (ते सर्वे) वे सब (त्वा गोप्स्यन्ति) तुझ गौकी रक्षा करेंगे (सा) वह तू (अतिरात्रं) अतिरात्र नामक यज्ञ को (अतिद्रव) शीघ्रता से प्राप्त कर।

यहांपर अतिरात्र में आनेवाली गौ की पितर भी रक्षा करते हैं ऐसा दर्शाया है।

प्रजापतिर्मह्यमेता रराणो विश्वै र्देवैः पितृभिः संविदानः। शिवाः सतीरुप नो गोष्ठमाकस्तासां वयं प्रजया सं सदेम ॥ ऋ० १०।१६९.४॥

अर्थ- (प्रजापतिः) प्रजापति (विश्वैः देवैः पितृभिः संविदानः) सब देवों व पितरोंके साथ मिला हुआ एक मतसे (मह्यं) मेरेलिए (एताः) ये गायें (रराणः) देता है। वह प्रजापति (शिवाः सतीः) कल्याण कारिणी होती हुई उन गौओं को (नः) हमारे (उपगोष्ठं आ अकः) गोष्ठ के समीप करे अर्थात् हमारे गोष्ठमें वे गौयें स्थित होवें। और इस प्रकार उन गौओं के प्राप्त करनेपर (वयं) हम (तासां प्रजया सं सदेम) उन गौओं की संतान से संगत होवें अर्थात् उन गौओं की संतान हमें प्राप्त होती रहे ताकि ऐसी गौओं का वंशोच्छेद न हो जावे।

गोष्ठ- जहांपर गौवें बांधी जाती हैं उसस्थानको गोष्ठ कहा जाता है।

इस मंत्र में उत्तम गौयें पितरों की सहमति से हमें मिलती हैं यह दर्शाया गया है।

इन्द्र व पितर ।

स तु श्रुधीन्द्र नूतनस्य ब्रह्मण्यतो वीर कारुधायः। त्वं ह्यापिः प्रदिवि पितृणां शश्वद् बभूथ सुहव एष्टौ ॥ ऋ० ६।२१।८ ॥

अर्थ - हे वीर इन्द्र ! (सः) वह (कारुधायः) स्तोताओं शिल्पियों वा का धारक तू (नूतनस्य ब्रह्मण्यतः) नवीन धनको प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाले की अथवा नवीन स्तोत्रकरनेकी इच्छा वाले की (श्रुधि) प्रार्थनाको सुन। (हि)क्योंकि(आ इष्टौ) आयजन करने पर अथवा कामनाके होनेपर (सुहवः) सुखसे बुलाने योग्य तू (त्वं) तू (पितृणां प्रदिवि) पितरोंके प्रकृष्ट व्यवहारमें (शश्वत्)

सदा (आपिः) बन्धु प्राप्त रहनेवाला (बभूथ) होता है।

इस मंत्रमें इन्द्र को पितरों का बन्धु कहा गया है। क्यों कि वह पितरों को उनके कार्योंमें बन्धुवत् सहायता करता है।

जुष्टी नरो ब्रह्मणा वः पितृणामक्षमव्ययं न किलारिषाथ। यच्छक्वरीषु बृहता रवेणेन्द्रे शुष्ममदधाता वसिष्ठाः॥ ऋ० ८।३३।४॥

अर्थ- (वसिष्ठाः) हे उत्तम वास कराने वालो! (यत्) क्योंकि तुम (शक्वरीषु) ऋचाओं में अर्थात् ऋचाओं के गान में (बृहता रवेण) बडे भारी शब्द से यानि ऋचाओं के ऊंचे स्वरमें गाने से (इन्द्रे शुष्मं) इन्द्रमें बलको (अदधात) स्थापित करते हो अतः हे (नरः) नेतागणो! (जुष्टी) प्रसन्नता वा सेवासे और (ब्रह्मणा) ज्ञान से तुम (वः पितृणां) तुम्हारे पितरोंका (अव्ययं अक्षं) न नष्ट होनेवाले अक्षको (किल) निश्चय से (न रिषाथ) नष्ट होने नहीं देते। इस मंत्र में सैनिकों के लिए पितर आया है ऐसा प्रतीत होता है। यह मंत्र पूर्ण रूपसे स्पष्ट नहीं हुआ है। (अपूर्ण)

कल्याण का भगवद्गीताङ्क।

(संपादकीय समालोचना।)

गोरख पुरसे प्रकाशित होते हुए 'कल्याण' नामक मासिक पत्रका भगवद्गीताङ्क' नामक विशेषाङ्क हमारे सामने अभिप्रायार्थ मौजूद है। ५०० से भी अधिक पृष्ठों के इस विशाल अङ्क की छपाई व कागज बढिया हैं। इसमें रंगीन व सादे चित्र कुल मिलाकर १६५ के करीब हैं चित्र में प्रायः सभी चित्र उत्तम हैं। लेखों का संग्रह उत्तम रीति से किया गया है। प्रायः सभी अनुभवी विद्वानों के महत्वपूर्ण लेख उनके चित्रों सहित दिए गए हैं। ये लेख पठनीय एवं मननीय हैं। गीता विषयक सभी मतमतान्तरों के लेख व विचार भी इस में हमें देखने को मिलते हैं! कथन का अभिप्राय यह है कि गीता सम्बन्धी सर्वप्रकार की सामग्री इसमें मौजूद है। गीता विषयक इतनी सामग्री अन्यत्र एक स्थानपर मिलनी नितान्त दुष्कर है। इस अंक का प्रकाशन करके वस्ततः कल्याण के संचालकों ने गीता संबन्धी साहित्य की अमूल्य सेवा बजाई है। इस अंकपर कितना परिश्रम पडा होगा यह पाठक स्वयमेव अनुमान कर सकते हैं। इतना सब होते हुए भी इसकी किंमत सिर्फ २॥) है। इतनी किंमत में तो केवल गीताङ्क में विद्यमान चित्र भी नहीं मिल सकते! इस अंक के प्रकाशन के लिए इसके संचालकों को हम बधाई देते हैं। अंत में हम देश के शिक्षा विभागों के तथा जनता के पुस्तकालयों से साग्रह निवेदन करते हैं कि वे इस अंक की एक एक प्रति अवश्यमेव मंगाकर अपने पुस्तकालयको सुशोभित करें। ऐसा सुवर्णीय अवसर हाथ से गंवाना बुद्धिमानी न होगी।

इसके मिलने का पता निम्नलिखित है:-

प्रकाशक-घनश्यामदास
गीताप्रेस-गोरखपुर॥

आ त्वा॑ चृतत्वर्य॒मा पू॒षा बृह॒स्पतिः॑ ।
अह॑र्जातस्य॒ यन्नाम॒ तेन॒ त्वाति॑ चृतामसि ॥ १२ ॥

ऋ॒तुभि॑ष्ट्वार्त॒वैरायु॑षे॒ वर्च॑से त्वा ।
सं॒व॒त्स॒रस्य॒ तेज॑सा॒ तेन॒ संह॑नु कृण्मसि ॥ १३ ॥

घृ॒तादुल्लु॑प्तं॒ मधु॑ना॒ सम॑क्तं भूमिदृ॒हमच्यु॑तं पारयि॒ष्णु ।
भि॒न्दत् स॒पत्ना॒नध॑रांश्च कृ॒ण्वदा मा॑ रोह मह॒ते सौभ॑गाय ॥ १४ ॥

अर्थ- अर्यमा, पूषा, बृहस्पति (त्वा आ चृततु) तुझे बांधे। (अहः-जातस्य यत् नाम) प्रतिदिन उत्पन्न होनेवाले का जो नाम है (तेन त्वा अति चृतामसि) उससे तुझको अत्यन्त बांधते हैं॥ १२॥

(आयुषे वर्चसे) आयुष्य और तेजके लिये (ऋतुभिः आर्तवैः) ऋतुओं और ऋतुविभागोंसे और (संवत्सरस्य तेन तेजसा) संवत्सरके उस तेज-से (सं-हनु कृण्मसि) संयुक्त करता हूं॥ १३॥

(घृतात् उल्लुप्तं) घीसे भरा हुआ, (मधुना समक्तं) मधुसे सींचा हुआ (भूमिदृहं अच्युतं पारयिष्णु) भूमीके समान स्थिर और पार ले जाने वाला (सपत्नान् भिन्दत्) वैरियोंको छिन्न भिन्न करनेवाला और उनको (अधरान् कृण्वत् च) नीचे करनेवाला तू (महते सौभगाय मा आरोह) बडे सौभाग्यके लिये मेरे ऊपर आरोहण कर॥ १४॥

भावार्थ-अर्यमा, पूषा, बृहस्पति और दिनमें प्रकाशने वाला सूर्य ये सब देव यज्ञोपवीत धारण करनेके लिये तुझे अनुमति देवें ॥ १२ ॥

संवत्सर, ऋतु और अन्य कालविभागोंके तेजसे तुझे संयुक्त करके तुझे दीर्घ आयु और उत्तम तेज देते हैं ॥ १३ ॥

यह घृतादि पौष्टिक पदार्थोंसे युक्त, मधु आदि मधुर पदार्थोंसे परिपूर्ण, भूमिके समान सुदृढ, न गिरानेवाला और सब दुःखोंसे पार करनेवाला है। यह शत्रुओंको छिन्नभिन्न करता और उनको नीचे करता है। यह उपवीत बडा सौभाग्य मुझे देकर मेरे ऊपर रहे ॥ १४ ॥

यज्ञोपवीत का धारण।

इस सूक्तमें यज्ञोपवीत का महत्त्व वर्णन किया है। यज्ञोपवीतके वर्णनके विषयमें अत्यंत थोडेसे मंत्रभाग वेदमें हैं। परंतु यह संपूर्ण सूक्तका सूक्त दीर्घ आयु और तेजस्विताका उपदेश करते करते यज्ञोपवीतके महत्वका वर्णन कर रहा है इसलिये इस सूक्तका महत्त्व विशेष है। इस सूक्तका पठन करके पाठक यज्ञोपवीतका महत्त्व जानें और यज्ञोपवीत धारण करते समय मनमें समझें की मैं इतने महत्त्वका यह यज्ञसूत्र धारण कर रहा हूं।

तीन धागे।

सब जानते हैं कि यज्ञोपवीतमें तीन सूत्र होते हैं और प्रत्येक सूत्रमें फिर तीन तीन धागे होते हैं, अर्थात् सब मिलकर नव सूत्र होगये। ये तीन धागे इस प्रकार बनें—

हरिते त्रीणि, रजते त्रीणि, अयसि त्रीणि। (मं० १)

' सुवर्णके तीन, चांदीके तीन और लोहेके तीन ' अर्थात् प्रत्येक सूत्रके अंदर सोना, चांदी और लोहेकी तारें हों। इस प्रकार तीन धातुओंसे बना हुआ यह यज्ञोपवीत होना चाहिये। ' अयस् ' शब्दका प्रसिद्ध अर्थ ' लोहा ' है, परंतु इसका दूसरा अर्थ ' केवल धातुमात्र ' ऐसा भी है। अर्थात् तांबा भी इसका अर्थ हो सकता है।

सुवर्णका यज्ञोपवीत।

यह यज्ञोपवीत सोना, चांदी और तांबेका बने अथवा सोना, चांदी और लोहेका बने, इस विषयमें अधिक खोज करना चाहिये। ये तीनों धातु इस प्रकार शरीरपर धारण करनेसे शरीरमें कुछ मंदसा विद्युत्प्रवाह शुरू होता है, जिससे शरीरस्वास्थ, बल और दीर्घायु प्राप्त होना संभव है। ये तीनों धातुओंकी तारें(तपसा आविष्ठितानि) उष्णतासे परस्पर जोडी हुई हों अर्थात् एक दूसरेके साथ जुडी हुई अवस्थामें रहें,तभी ये तारें कार्य करती होंगी। जिस प्रकार—

इन्द्रिय और प्राण।

शतशारदाय दीर्घायुत्वाय नव प्राणान् नवभिः संमिमीते। (मं० १)

" सौ वर्षकी दीर्घायुके लिये जिस प्रकार नव प्राणोंको नव इंद्रियोंमें मिलाना चाहिये" अर्थात् दीर्घायु प्राप्त करना हो तो प्राणोंका शरीरसे, इंद्रियोंसे और अवयवोंसे वियोग शीघ्र न हो सके ऐसा प्रबंध करना चाहिये। अर्थात् प्राणको अपने शरीरके सब अवयवों में कार्य

करने योग्य बनाना चाहिये। यह बात प्राणायामसे उत्पन्न होनेवाली अग्निसे होती है। जो प्राणायामसे अपना बल नहीं बढाते उनकी किसी अवयवमें प्राण शक्ति नहीं कार्य करती। ऐसा होनेसे वह अवयव अपना कार्य करनेमें असमर्थ होता है। कई मनुष्योंके कई अवयव कमजोर होते हैं, इसका कारण यही है। यही कमजोरी आयुको क्षीण करती है।

इसी प्रकार तीन धातुओंके ये नव धागे उष्णतासे इकट्ठे हुए शरीरका आरोग्य, बल और दीर्घ आयु बढाते हुए शरीरमें उत्साह कायम रखते हैं। इस यज्ञोपवीतके नव धागोंमें निम्न लिखित नव देवतायें रहती हैं—

अग्निः सूर्यश्चन्द्रमा भूमिरापो द्यौरन्तरिक्षं प्रदिशो दिशश्च ॥
आर्तवा ऋतुभिः संविदाना अनेन मा त्रिवृता पारयन्तु ॥ (मं० २)

" भूमि-अग्नि-आपः, अन्तरिक्ष-चन्द्रमा-दिशा; और द्यौः-सूर्य-ऋतु ये नव देवताएं इस तिहरे यज्ञोपवीतमें रहकर मुझे दुःखोंसे पार करें। "

पृथ्वीस्थानीय तीन देव, अन्तरिक्ष स्थानीय तीन देव और द्युस्थानीय तीन देव, ये सब नव देव यज्ञोपवीतके नव धागोंमें रहकर मुझे दुःखोंसे पार करें। यह इच्छा इस मंत्रमें प्रकट हुई है। यज्ञोपवीत धारण करनेका आशय इतने देवताओंका तेज और वीर्य अपने अंदर धारण करना तथा इनके विषयमें अपने कर्तव्य करना है। यज्ञोपवीत केवल भूषणके लिये नहीं धारण किया जाता है; यह तो बडी भारी जिम्मेवारीका कार्य है। तीन लोकों और उनमें स्थित सब दैवी शक्तियोंके साथ अपना संबंध व्यक्त करनेके लिये यह त्रिवृत्त सूत्र धारण किया जाता है। इस संबंधसे अपना उनके विषयक कर्तव्य जानना और उनसे दिव्य तेज प्राप्त करना चाहिये। जो यह न करेगा, उसके लिये यज्ञोपवीत यज्ञोपवीत नहीं रहता। यज्ञोपवीत धारण करनेवालोंको इस मंत्रका उपदेश अपने मनमें अवश्य धारण करने योग्य है। इस यज्ञोपवीतमें तीन प्रकारकी पोषण शक्तियां हैं, इस विषयमें निम्न लिखित मंत्र देखिये—

त्रयः पोषाः त्रिवृति श्रयन्ताम्।
अन्नस्य भूमा। पुरुषस्य भूमा। पशूनां भूमा। (मं० ३)

" तीन पुष्टियां इस तिहरे यज्ञोपवीतके आश्रयसे रहें। अन्नकी विपुलता, अनुयायी मनुष्योंकी विपुलता, और पशुओंकी विपुलता, " ये तीनों विपुलतायें इस यज्ञोपवीतके आश्रयसे रहें।

यज्ञोपवीत धारण करनेवाले यज्ञ करते हैं, उस यज्ञमें बहुत मनुष्य संमिलित होते हैं

*

और संगठन होकर मनुष्योंकी संघ शक्ति बढती है, यज्ञके कारण पर्जन्यादि ठीक रीतिसे होते हैं इस कारण विपुल अन्न प्राप्त होता है, और यज्ञमें दूध और घीके हवनके लिये गौ आदि बहुत पशु लाये जाते हैं, पशुओंकी शक्तियां बढाईं जाती हैं, इस कारण पशुओंकी भी उन्नति होती है। ये तीनों लाभ यज्ञसे होते हैं और यज्ञका अधिकार इस यज्ञोपवीतसे प्राप्त होता है, इस लिये यज्ञोपवीतसे उक्त लाभ होते हैं ऐसा इस मंत्रमें कहा है।

चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि 'आदित्यसे शक्ति, अग्निसे वृद्धि और इन्द्रसे वीर्य प्राप्त हो' और इस त्रिवृत् सूत्रसे हमारा उत्तम प्रकार पोषण होवे। इस यज्ञोपवीतके एक एक धागेमें एक एक देवताकी शक्ति विद्यमान है, इस लिये जो मनुष्य इस भावनासे यज्ञोपवीतका धारण करता है उसको बहुत लाभ हो सकता है। इस विषयमें निम्न लिखित मंत्र देखिये—

भूमिः हरितेन पातु।
अग्निः अयसा पिपर्तु।
अर्जुनं वीरुद्भिः दक्षं दधातु॥ (मं० ५)

"भूमि सुवर्णके धागेसे रक्षा करे, लोहे या तांबेके धागेसे अग्नि पूर्णता करे, तथा चांदीके धागेसे औषधियोंकी सहायतासे बल धारण होवे।" इस प्रकार ये तीन देव यज्ञोपवीतके तीन धागोंमें रहकर मनुष्यकी उन्नति करते हैं। अर्थात् यज्ञोपवीत केवल सूत्रकाही बना नहीं है, प्रत्युत वह इन देवताओंकी शक्तियोंसे बना है, यह भाव यहां देखने योग्य है। जो यज्ञोपवीतको केवल धागाही समझते हैं वे उसके महत्त्वको नहीं जानते। जो सुवर्ण, चांदी और तांबेसे अथवा लोहेसे बने हुए आभूषण रूप यज्ञोपवीतको धारण करेंगे उनको तो निःसन्देह विद्युत्संचार शरीरमें होनेके कारण बडा लाभ होगा ही, परंतु जो सुवर्ण यज्ञोपवीत धारण करनेमें असमर्थ हों, वे सूत्रका यज्ञोपवीत भी धारण करें, परंतु वह धारण करनेके समय इस भावनासे धारण करें, जिससे इसके मनोबल द्वारा आकर्षित हुई उक्त देवताएं इसकी अवश्य सहायता करेंगी।

षष्ठ मंत्रमें सुवर्णके तीन भेद कहे हैं, एक सुवर्ण अर्थात् सोना, दूसरा सोमादि औषधी का रस और तीसरा वीर्य जो शरीरमें होता है। यज्ञोपवीत धारियोंको उचित है कि वे इन तीनों सुवर्णोंका उपार्जन करें। ब्रह्मचर्य पालन द्वारा वीर्य स्थिर करें, शरीरमें वीर्य बढावें और ऊर्ध्वरेता बनें। शरीरपोषण के लिये सोमादि औषधियोंका रस, कंदमूल फल का ही सेवन करें और उसके साथ दूध घृत आदि हविष्य पदार्थोंका ही सेवनकरें,

अर्थात् मद्यमांसादिका सेवन न करें । और तीसरा सोना अर्थात धन आदि प्राप्त करें। ये तीनों पदार्थ इस मंत्रमें उपलक्षण रूप हैं और इनसे 'वीर्य, अन्न और धन' का बोध मुख्यतया होता है । यज्ञोपवीत धारण करने वालोंको उचित है कि वे इन तीनोंका उचित प्रमाणसे उपार्जन करें । यज्ञोपवीत धारण करनेवालोंके ऊपर इतने कार्यका भार रखता है ।

मनुष्यमें बाल, तरुण और वृद्ध ये तीन अवस्थाएं हैं, यज्ञोपवीतके तीन धागोंसे इन तीन अवस्थाओंका बोध होता है । इन तीन अवस्थाओंमें ब्रह्मचर्य पालन पूर्वक धर्मानुष्ठान करनेसे यज्ञोपवीत धारण करनेका सार्थक होता है । यह बात सप्तम मंत्रके 'त्र्यायुषं,' 'त्रीणि आयूंषि ते अकरं ।' (मं० ७) इन शब्दोंसे व्यक्त होती है । बाल्य, तारुण्य और वार्धक्य ये तीन आयुकी अवस्थाएं तीन आयु नामसे इस मंत्रमें कही हैं । जिस प्रकार सारे यज्ञोपवीतमें एकही धागा तीनों सूत्रोंमें परिणत हुआ है, उसी प्रकार मनुष्यके धर्माचरण का एकही धागा पूर्वोक्त तीनों आयुओंमें आयुरूप हो जाना चाहिये ।

ओंकार की तीन शक्तियां ।

एकही 'ओं' रूपी अक्षरमें 'अ-उ-म्' ये तीन महाशक्तियां रहती हैं, 'त्रयः...एकाक्षरं...आयन्' (मं० ८) तीन शक्तियां एकही अक्षरमें बसतीं हैं । ये तीनों शक्तियां मृत्युको दूर करती हैं और अनिष्ठ दुःखादिकोंको हटातीं हैं । ओंकारनामक एकही अक्षरमें अकार-उकार-मकार नामक तीन शक्तियां हैं। ये तीन अक्षर यज्ञोपवीतके तीन सूत्र समझिये । जिस प्रकार इन तीनों अक्षरोंके एकरूप संयोगसे ओंकार रूप महानाद उत्पन्न होता है; उसी प्रकार तीनों सूत्रोंसे मिलकर एक यज्ञोपवीत होता है । इसलिये यह यज्ञोपवीत पूर्वोक्त तीनों महाशक्तियोंका बोध करता है । अ-उ-म इन तीन अक्षरोंसे क्रमशः 'जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति' ये तीनों अवस्थाएं बोधित होती हैं । मनुष्यका संपूर्ण जीवन इन तीन अवस्थाओंमें व्याप्त है, मानो मनुष्यका जीवन रूपी जो एक महायज्ञोपवीत है उसके तीन धागे जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति ये ही तीन हैं। इनको यज्ञरूप बनानेका कार्य यज्ञोपवीत धारण करनेवालोंको अवश्यमेव करना चाहिये । अ-उ-म के अनेक अर्थ हैं, उनका विचार यहां पाठक करेंगे तो उनको पता लग जायगा कि इस यज्ञोपवीत द्वारा कितने शुभ कर्मोंको करनेका भार यज्ञोपवीत धारियोंपर रखा गया है । विस्तार होनेके भयसे हम इन अक्षरोंके तत्त्वज्ञानका विचार यहां करके

लेख का विस्तार बढाना नहीं चाहते । ओंकार के ऊपर बहुतसे ग्रंथ निर्माण हुए हैं, यदि पाठक उनके आशयको यहां विचारार्थ ध्यानमें लायेंगे तो उनको पता लग जायगा कि इस मंत्रने कितना महत्त्व पूर्ण उपदेश किया है ।

देवोंके नगर ।

हरितं दिवः पातु । अर्जुनं मध्यात् पातु ।
अयस्मयं भूम्याः पातु ॥ (मं० ९)

" सुवर्णका द्युलोकसे, चांदीका मध्य भागसे और लोहेका भूमि स्थानसे रक्षा करे । " इस मंत्रमें शरीरके तीनों भागोंका रक्षण करनेका कार्य तीन धातुओंसे निर्मित तीन धागे करें ऐसा कहा है । शरीरमें द्युलोक सिरमें, मध्यभाग अथवा अन्तरिक्ष लोक नाभीमें और भूलोक पांवमें है । इसलिये सिरपर सुवर्ण, मध्यभागमें चांदी और पांवमें लोहा रखनेके समान यह एकही (त्रिवृत्) तिहरा यज्ञोपवीत धारण करनेवालेकी रक्षा करे । ' अयस् ' शब्दका अर्थ यद्यपि यहां हमने लोहा ऐसा किया है तथापि सुवर्ण और चांदीसे कुछ भिन्न अन्य धातु ऐसा लेनेसे किसी अन्य धातुका बोधक यह शब्द हो सकता है । यह कौनसी धातु है इस विषयमें खोज करना आवश्यक है । लोहा, तांबा या कुछ अन्य धातु यहां अपेक्षित है जिसके आभूषण बन सकते हैं ।

तिस्रः देवपुराः त्वा सर्वतः रक्षन्तु ।
त्वं ताः बिभ्रत् वर्चस्वी द्विषतां उत्तरः भव ॥ (मं० १०)

" यज्ञोपवीतके ये तीन धागे (देव-पुराः) देवोंके, मानो, नगर ही हैं, इनमें दैवी शक्ति भरी है, इसलिये ये सब प्रकार तेरी रक्षा करें । तूं उन तीनोंको धारण करके (वर्चस्वी) तेजस्वी बन और शत्रुओंकी अपेक्षा अधिक ऊंचे स्थानपर आरूढ हो । "

यज्ञोपवीतके तीन धागे ये केवल धागे नहीं हैं, ये देवोंके नगर ही हैं, अर्थात् इनमें अनंत दैवी शक्तियां भरी हैं । जो इस श्रद्धासे इस त्रिवृत यज्ञोपवीतको धारण करेगा वह तेजस्वी होगा और उसके तेजके प्रभावके कारण उसके सब शत्रु नीचे हो जांयगे ।

यह देवोंकी शक्तियोंसे परिपूर्ण त्रिवृत् यज्ञोपवीत जो मनुष्य अपने शरीरपर धारण करता है, (यः देवानां अमृतं आबेधे) जो इस देवोंके अमृतको अपने शरीर धारण करता है (तस्मै नमः कृणोमि । मं० ११) उसको नमस्कार करता हूं । अर्थात् जो यज्ञोपवीत धारण करते हैं वे नमस्कार करने योग्य हैं । यह सूत्र धारण करनेसे देवत्व प्राप्त होता है । इतने महत्त्व का यह यज्ञोपवीत होनेके कारण इसके धारण करनेका अधिकार तब प्राप्त हो सकता है, जब कि श्रेष्ठ लोग धारण करनेकी अनुमति देवें—

त्रिवृत् से आवेधे । अनुमन्यताम् । (मं० ११)

" यह (त्रिवृत्) तिहरा यज्ञोपवीत अपने शरीरपर मैं बांधता हूं अथवा धारण करता हूं, इस लिये मुझे अनुमोदन दीजिये। " आप जैसे श्रेष्ठ लोगों की अनुमती हुई तो ही मैं धारण कर सकता हूं, इस लिये आप अनुमोदन देकर मुझे कृतार्थ कीजिये। इस प्रकार की प्रार्थना पहिले की जाय, तत्पश्चात् महाजनोंकी आज्ञा मिलनेके नन्तर ही वह मनुष्य यज्ञोपवीत अपने शरीरपर धारण करे। जिसके मनमें आवे वह मनुष्य एकदम इस यज्ञोपवीत को धारण नहीं कर सकता, महाजन, महात्मा श्रेष्ठ लोग जिसको आज्ञा देवें, अर्थात् पूर्वोक्त मंत्रों द्वारा सूचित हुए कर्तव्य करनेमें जो पुरुष समर्थ हो उसीको वे आज्ञा देवें, और वही पुरुष यज्ञोपवीत धारण करे। ऐसा करनेसे यज्ञोपवीतका महत्त्व स्थिर रह सकता है। बिना योग्यताके यदि मनुष्य धारण करेगा, तो उसका वह केवल सूत्र ही होगा, परंतु पूर्वोक्त प्रकार जिसने अपना जीवन यज्ञमय बनाया है, उसके शरीर पर धारण किया हुआ यह यज्ञोपवीत देवोंके नगरोंके समान अनंत दिव्य शक्तियोंसे युक्त हो जाता है। यज्ञोपवीतको केवल सूतका धागा बनाना, अथवा उसको दिव्य शक्तियोंका केन्द्र बनाना, इस प्रकार मनुष्य समाजके आधीन है।

न्याय, पुष्टि और ज्ञान।

इस त्रिवृत यज्ञोपवीतके तीन सूत्र ' अर्यमा, पूषा और बृहस्पति ' (मं० १२) इन तीन देवताओंके साथ संबंध रखते हैं। ' अर्यमा ' = (अर्यं मिमीते) श्रेष्ठ कौन है और हीन कौन है इसका निश्चय जो करता है, उसको अर्यमा कहते हैं। पुष्टि करने-वालेका नाम ' पूषा ' होता है, और ज्ञानीका नाम ' बृहस्पति ' है। अर्थात् इन तीन धागोंसे ज्ञान, पोषण और न्यायकारिता इन तीन दैवी गुणोंकी सूचना मिलती है। जो यज्ञोपवीत धारण करना चाहते हैं, वे मानो, इन तीन गुणोंको अपने जीवन में डालनेके उत्तरदाता हैं। देखिये यज्ञोपवीतने कितनी बडी भारी कर्तव्य दक्षता मनुष्य पर रखी है। जो ये कर्तव्य पालन करेंगे वेही यज्ञोपवीत धारणके अधिकारी होते हैं।

जिस प्रकार एक वर्षमें छः ऋतु होते हैं, उसी प्रकार मनुष्यकी संपूर्ण आयुमें छः ऋतु होते हैं। मनुष्यकी आयु १२० वर्षोंकी मानी है उसमें प्रायः बीस बीस वर्षोंका एक एक ऋतु होता है। आयु कम माननेपर कम वर्षोंका भी ऋतु हो सकता है। इन ऋतुओं द्वारा आयु, बल और तेजकी प्राप्ति करनेके कर्तव्य यज्ञोपवीत द्वारा सूचित होते हैं, यह कथन तेरहवे मंत्रका है।

मनुष्यकी आयुमें जो छः ऋतु होते हैं, उन सब ऋतुओंमें अर्थात् मनुष्य अपनी आयुभरमें ऐसा यत्न करे कि जिससे उसको तेज और बल प्राप्त होकर दीर्घजीवन भी प्राप्त हो। ब्रह्मचर्यादि सुनियम पालन करनेद्वारा यह सब हो सकता है। इसलिये इस मंत्र द्वारा ये तीन गुण अपनेमें बढानेकी सूचना मिली है। यज्ञोपवीतके तीन सूत्र तेज, बल और दीर्घ आयु प्राप्त करनेकी सूचना देते हैं, यह बात तेरहवें मंत्रसे मिलती है। पाठक यह उपदेश ठीक प्रकार ध्यानमें रखें और उचित अनुष्ठान करके लाभ उठावें।

अन्तिम चौदहवे मंत्रमें इस त्रिवृत् यज्ञोपवीतके कौनसे विशेष गुण हैं, इसके धारण करनेसे कौनसे लाभ हो सकते हैं इसका वर्णन किया है। वे गुण बोधक शब्द विशेष मनन करने योग्य हैं—

यज्ञोपवीतसे लाभ।

१ पारयिष्णु=दुःखोंसे पार करनेवाला, कष्टोंसे बचानेवाला,

२ अ-च्युतं=न गिरनेवाला अथवा न गिरानेवाला, इसके पहननेसे मनुष्य गिरावटसे बच सकता है,

३ भूमि-दृंहं=मातृभूमिको बलवान बनानेवाला,

४ सपत्नान् भिन्दत=शत्रुओंका नाश करनेवाला,

५ अधरान् कृण्वत्=वैरियोंको नीचे करनेवाला, दुष्टोंको हीनबल करनेवाला,

६ मधुना समक्तं=सब मधुरतासे युक्त, मधुरताको देनेवाला,

७ घृतात् उल्लुप्तं=घृत आदि पुष्टिकारक पदार्थ देनेवाला और पोषण करनेवाला,

इस प्रकारका सामर्थ्यशाली यह यज्ञोपवीत है इसलिये हे यज्ञोपवीत ! तू—

८ महते सौभगाय मा आरोह=बडे सौभाग्यके लिये मेरे शरीरपर आरोहण कर, अर्थात् मेरे शरीर पर चढ कर विराजमान हो।

हर एक द्विजको उचित है कि वह इस प्रकारकी भावनासे और पूज्य भावसे यज्ञोपवीत पहने और अपने कर्तव्यकर्म करके अपनी उन्नतिका साधन करे।

यज्ञोपवीतकी यह महिमा है। पाठक इसका विचार करें और इस यज्ञोपवीत धारण से अपना भाग्य बढावें। यज्ञोपवीत की महिमा बढे और यज्ञोपवीत धारण करनेवालोंसे सब जगत्का कल्याण होवे।

रोग-क्रिमि-निवारण।

[२९]

(ऋषिः- चातनः । देवता—जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः ।)

पुरस्ताद् युक्तो वह जातवेदोऽग्ने विद्धि क्रियमाणं यथेदम् ।
त्वं भिषग् भेषजस्यासि कर्ता त्वया गामश्वं पुरुषं सनेम ॥ १ ॥
तथा तदग्ने कृणु जातवेदो विश्वेभिर्देवैः सह संविदानः ।
यो नो दिदेव यतमो जघास यथा सो अस्य परिधिष्पताति ॥ २ ॥
यथा सो अस्य परिधिष्पताति तथा तदग्ने कृणु जातवेदः । विश्वेभिर्देवैः सह संविदानः ॥३॥

अर्थ— हे जातवेद अग्ने! (त्वं भिषक्) तू वैद्य और (भेषजस्य कर्ता असि) औषध का करनेवाला है। (पुरस्तात् युक्तः वह) पहिलेसे सब कार्योंमें नियुक्त होकर कार्यके भारको उठा। (यथा इदं क्रियमाणं विद्धि) जैसा यह कार्य किया जा रहा है उसको तू जान। (त्वया गां अश्वं पुरुषं सनेम) तेरी सहायतासे गौ, घोडे और मनुष्योंको उत्तम प्रकार नीरोग अवस्थामें हम प्राप्त करेंगे ॥ १ ॥

हे जातवेद अग्ने! (विश्वेभिः देवैः सह संविदानः) सब देवोंके साथ मिलता हुआ (तथा तत् कुरु) वैसा प्रबंध कर कि (यथा अस्य सः परिधिः पताति) जिससे इस रोगकी वह मर्यादा गिर जावे, (यः नः दिदेव) जो हमें पीडा देता है और (यतमः जघास) जो हमें खा जाता है ॥ २ ॥

हे जातवेद अग्ने! (विश्वेभिः देवैः सह संविदानः) सब देवोंके साथ मिलता हुआ तू (तथा कुरु) वैसा आचरण कर कि (यथा अस्य सः परिधिः पताति) जिससे इस रोगकी वह सब सीमा नष्ट हो जावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—हे तेजस्वी वैद्य! तू स्वयं वैद्य है और औषध बनानेमें प्रवीण है। रोगनिवारणके उपाय जो यहां किये जाते हैं वे ठीक हैं वा नहीं, इसका निरीक्षण कर। तेरी चिकित्सासे हम गौवें, घोडे और मनुष्योंको उत्तम नीरोग अवस्थामें प्राप्त कर सकेंगे ॥१॥ तू जल, औषधि, वायु आदि देवताओंको अनुकूल बनाकर ऐसा प्रबंध कर कि जिससे पीडा देनेवाले और मांस को क्षीण करनेवाले रोगजन्तुओंकी शरीरमें बनी मर्यादा नष्ट हो जावे ॥२-३॥

अक्ष्यौ३नि विध्य हृदयं नि विध्य जिह्वां नि तृन्द्धि प्र दतो मृणीहि ।
पिशाचो अस्य यतमो जघासाग्ने यविष्ठ प्रति तं शृणीहि ॥ ४ ॥
तदस्य हृतं विहृतं यत् पराभृतमात्मनो जग्धं यतमत् पिशाचैः ।
तदग्ने विद्वान् पुनरा भर त्वं शरीरे मांसमसुमेरयामः ॥ ५ ॥
आमे सुपक्वे शबले विपक्वे यो मा पिशाचो अशने ददम्भ ।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदो३यमस्तु ॥ ६ ॥

अर्थ- हे अग्ने ! (अस्य अक्ष्यौ निविध्य) इसके आंखोंको छेद डाल, (हृदयं निविध्य) हृदयको वेध डाल, (जिह्वां नितृन्धि) जिह्वाको काट दे, (दतः प्र मृणीहि) दांतोंको भी तोड डाल। हे (यविष्ठ) बलवाले ! (अस्य यतमः पिशाचः जघास) इसको जिस रक्त भक्षकने खाया है (तं प्रति-शृणीहि) उसका नाश कर ॥ ४ ॥

हे विद्वन् अग्ने ! (पिशाचैः अस्य आत्मनः) मांस भक्षकोंने इसके अपने शरीरका (यत् हृतं, विहृतं, यत् पराभृतं) जो भाग हरा गया, छीना गया और जो लूट दिया है और (यतमत् जग्धं) जो भाग खाया गया है, (त्वं तत् पुनः आभर) तू वह फिर भर दे। और (शरीरे मांसं असुं आ ईरयामः) शरीरमें मांस और प्राणको स्थापित करते हैं ॥ ५ ॥

(यः पिशाचः आमे सुपक्वे) जो मांस भोजी क्रिमी कच्चे, अच्छे पक्के, (शबले विपक्वे अशने मा ददम्भ) आध पके, विशेष पके भोजनमें प्रविष्ट होकर मुझे हानि पंहुचाता है, (तत् आत्मना प्रजया पिशाचाः) वह स्वयं और प्रजाके साथ वे सब मांस भोजी क्रिमी (वि यातयन्तां) हटाये जांय। और (अयं अगदः अस्तु) यह पुरुष नीरोग होवे ॥ ६ ॥

भावार्थ- जिस मांस भक्षक रोगक्रिमीने इस के मांस को खाया है, उसका नाश कर, उसके सब अवयव नष्ट कर दे ॥४॥

मांस भक्षक रोगक्रिमियोंने इस रोगीके जो जो अवयव क्षीण किये हैं, उनको फिर पुष्ट कर और इसके शरीर में पुनः मांस की वृद्धि होवे ॥५॥

जो शरीर क्षीण करनेवाला क्रिमी कच्चे, आधपके, पक्के और अधिक पके हुए भोजनमें प्रविष्ट होकर सताते हैं, उनका समूल नाश किया जावे और यह मनुष्य नीरोग होवे ॥६॥

क्षीरे मा मन्थे यतमो ददम्भाकृष्टपच्ये अशने धान्ये३यः ।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदो३यमस्तु ॥ ७ ॥
अपां मा पाने यतमो ददम्भ क्रव्याद् यातूनां शयने शयानम् ।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदो३यमस्तु ॥ ८ ॥
दिवा मा नक्तं यतमो ददम्भ क्रव्याद् यातूनां शयने शयानम् ।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदो३यमस्तु ॥ ९ ॥

अर्थ—(यतमः क्षीरे मन्थे अकृष्टपच्ये धान्ये) जो दूधमें, मठेमें, विना खेती उत्पन्न हुए धान्यमें तथा (यः अशने मा ददम्भ) जो भोजनमें प्रविष्ट होकर मुझे दबाता है। (तत् आ०) वह मांसभक्षक क्रिमि अपनी संततिके साथ दूर हट जावे और यह पुरुष नीरोग होवे ॥ ७ ॥

(यतमः क्रव्यात्) जो मांसभक्षक क्रिमि (अपां पाने) जलके पान करनेमें और (यातूनां शयने शयानं) यात्रियोंके बिछोने पर सोते हुये (मा ददम्भ) मुझको दबा रहा है (तत् आ०) वह मांसभक्षक क्रिमि अपनी संततिके साथ दूर हटाया जावे और यह मनुष्य नीरोग होवे ॥ ८ ॥

(यतमः क्रव्यात्) जो मांसभोजी क्रिमी (दिवा नक्तं यातूनां शयने शयानं मां ददम्भ) दिनमें वा रात्रीमें यात्रियोंके शयन स्थानमें सोते हुए मुझको दबाता है (तत् आ०) वह अपनी संततिके साथ दूर किया जावे और यह मनुष्य नीरोग बने ॥ ९ ॥

भावार्थ -दूध, छाछ, धान्य तथा अन्य भोजन के पदार्थोंद्वारा शरीरमें प्रविष्ट होकर जो रोगकृमी सताते हैं उनको दूर किये जावे, और यह मनुष्य नीरोग बने ॥ ७ ॥

जो मांसक्षीण करनेवाले कृमि जलपानके द्वारा तथा अनेक मनुष्योंके साथ सोनेसे शरीरमें प्रविष्ट होकर सताते हैं उनको दूर करके यह मनुष्य नीरोग बने ॥८॥

जो कृमि दिनके समय अथवा रात्रीके समय अनेक मनुष्योंके साथ सोनेके कारण शरीरमें प्रविष्ट होकर सताते हैं उनको दूर करके यह मनुष्य नीरोग बने ॥९॥

क्रव्यादमग्ने रुधिरं पिशाचं मनोहनं जहि जातवेदः ।
तमिन्द्रो वाजी वज्रेण हन्तु च्छिनत्तु सोमः शिरो अस्य धृष्णुः ॥ १० ॥
सनादग्ने मृणसि यातुधानान् न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः ।
सहमूराननु दह क्रव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः ॥ ११ ॥
समाहर जातवेदो यद्धृतं यत् पराभृतम् ।
गात्राण्यस्य वर्धन्तामंशुरिवा प्यायतामयम् ॥ १२ ॥

अर्थ- हे जातवेद अग्ने ! (क्रव्यादं रुधिरं मनोहनं पिशाचं जहि) मांस भक्षक, रुधिररूप, मनको मारनेवाले,रक्त खानेवाले, क्रिमी को नाश कर। (वाजी इन्द्रः तं वज्रेण हन्तु) बलवान इन्द्र उसको वज्रसे मार देवे,(धृष्णुः सोमः अस्य शिरः छिनत्तु) निर्भय सोम इसका सिर काट देवे॥ १० ॥

हे अग्ने ! (यातुधानान् सनात् मृणसि) पीडा देनेवाले क्रिमियों को तू सदा नष्ट करता है। (त्वा रक्षांसि पृतनासु न जिग्युः) तुझे राक्षस संग्रामोंमें पराभूत नहीं करते। (सह-मूरान क्रव्यादः अनुदह) समूल मांस-भक्षकों को जला दे। (ते दैव्यायाः हेत्या मा मुक्षत) तेरे दिव्य शस्त्रसे कोई न छूटने पावे ॥ ११ ॥

हे जातवेदः! (अस्य यत् हृतं यत पराभृतं) इस का जो भाग हर लिया और नष्ट कर लिया है उस भागको (समाहर) पुनः ठीक प्रकार भर दे। (अस्य गात्राणि वर्धन्तां) इसके अंग पुष्ट हो जावें,(अयं अंशुः इव आ-प्यायतां) यह मनुष्य चन्द्रमा के समान वृद्धिको प्राप्त होवे ॥१२॥

भावार्थ- रक्त और मांसकी क्षीणता करनेवाले, मनको मोहित करनेवाले रोग क्रिमी हैं, उनको इन्द्र और सोम के प्रयोगसे दूर किया जावे ॥१०॥

अग्नि इन क्रिमियोंको सदा दूर करता है, ये क्षीणता करनेवाले क्रिमी अग्निको परास्त नहीं कर सकते। अतः अग्निद्वारा इन रोगक्रिमियोंका कुल समूल नाश किया जावे ॥११॥

इस रोगीका जो अवयव क्षीण हुआ था, वह फिर पुष्ट होवे और उसके सब अवयव पुनः पुष्ट हों, जिस प्रकार चंद्रमा बढता है उस प्रकार यह बढे ॥१२॥

सोमस्येव जातवेदो अंशुरा प्यायतामयम् ।
अग्ने विरप्शिनं मेध्यमयक्ष्मं कृणु जीवतु ॥ १३ ॥
एतास्ते अग्ने समिधः पिशाचजम्भनीः ।
तास्त्वं जुषस्व प्रति चैना गृहाण जातवेदः ॥ १४ ॥
तार्ष्टाघीरग्ने समिधः प्रति गृह्णाह्यर्चिषा ।
जहातु क्रव्याद्रूपं यो अस्य मांसं जिहीर्षति ॥ १५ ॥

अर्थ-हे जातवेदः । (अयं सोमस्य अंशुः इव आप्यायतां) यह मनुष्य चंद्रमाकी कलाके समान बढे । हे अग्ने ! इसे (विरप्शिनं मेध्यं अयक्ष्मं कृणु) निर्दोष, पवित्र व नीरोग कर और यह (जीवतु) जीवित रहे॥१३॥

हे अग्ने ! (एताः ते समिधः पिशाचजम्भनीः) ये तेरी समिधाएं मांस खानेवाले रोगक्रिमियोंको दूर करनेवाली हैं । हे जातवेद! (त्वं ताः जुषस्व) तू उनका सेवन कर और (एनाः प्रति गृहाण) इनको स्वीकार कर॥१४॥

हे अग्ने ! (तार्ष्ट-अधीः समिधः अर्चिषा प्रतिगृह्णाहि) तृषारोग का शमन करनेवाली इन समिधाओंको तू अपनी ज्वालाओंसे स्वीकृत कर। (यः अस्य मांसं जिहीर्षति) जो इसके मांसको क्षीण करना चाहता है वह (क्रव्यात् रूपं जहातु) मांसभोजी इसके रूपको छोड देवे ॥१५॥

भावार्थ— चन्द्रमाकी कलाके समान यह बढे, यह रोगी दोष रहित, पवित्र व निरोग होवे और दीर्घ कालतक जीवित रहे ॥ १३ ॥

जो समिधाएं यज्ञमें होमी जाती हैं वे रोगक्रिमियोंका नाश करने वाली हैं। इनको जलाकर अग्निद्वारा ये रोगक्रिमी दूर हों ॥१४॥

जो क्रिमी रोगीके मांस को क्षीण करते हैं उनका पूर्ण रीतिसे नाश होवे। इन समिधाओंको जलाकर प्रदीप्त की हुई अग्नि इन रोगक्रिमियों का नाश करे ॥१५॥

रोगोंके कृमि ।

इस सूक्तमें रोगजन्तुओंका वर्णन है ! कुछ जातीके कृमि हैं जो शरीरमें प्रविष्ट होते हैं और विविध यातनाएं उत्पन्न करते हैं, मनुष्यको इनसे बडे क्लेश होते हैं । इन क्रिमियोंको दूर करनेका साधन इस सूक्तमें बताया है । यह साधन वैद्य, औषधि और अग्नि है । इस सूक्तमें इन क्रिमियोंका जो वर्णन है वह पहिले देखिये—

(१) यः दिदेव-जो शरीरमें पीडा देते हैं, जिनके कारण शरीर मथित हुए समान अशक्त होता है, अवयव टूट जानेके समान जिसमें अशक्तता आती है। (मं०३)

(२) यतमः जघास-जो शरीरको खा जाता है और क्षीण करता है। (मं.३,४)

(३) पिशाच्- (पिशिताच्) मांस खानेवाला, रक्त पीनेवाला। जो रोगक्रिमि शरीरमें घुसनेके बाद रक्त मांस आदि धातु क्षीण होने लगते हैं। (मं० ४-१०)

(४) हुतं, विहुतं, पराभृतं, जग्धं- शरीरके रक्त मांसका हरण करते हैं, विशेष प्रकार लूटते हैं, शरीरकी जीवन शक्तिको नष्ट करते हैं, और खा जाते हैं। (मं० ५)

(५) क्रव्याद्- (क्रवि-अद्) जो शरीरका कच्चा मांस खाते हैं। (मं० ८-११)

(६) रुधिरः-यह रक्तरूप होता है, रक्तमें मिलजानेवाला है, रक्तमें रहता है। (मं० ११)

(७) मनोहनः-मनकी मनन शक्तिका नाश करता है। जब ये रोगक्रिमी शरीर में जाते हैं, तब मननशक्ति नष्ट होती है, मन क्षीण होता है। (मं०१०)

(८) यातुधानः -- (यातु) यातना (धानः) धारण करनेवाला। ये क्रिमी शरीरमें गये तो रोगी को यातनाएं होती हैं। (मं० ११)

(९) रक्षः-(क्षरणः) क्षीण करनेवाला। (मं०११)

ये सब शब्द रोगजन्तुओंके गुण बताते हैं। पाठक इन शब्दोंका विचार करके रोग-क्रिमियोंका स्वरूप जानें और उनसे होनेवाले रोगोंके कष्टोंका विचार करें। ये क्रिमी किस प्रकार शरीरमें प्रवेश करते हैं इस विषयमें अब देखिये—

रोगजन्तुओंका शरीरमें प्रवेश।

आमे, शबले सुपक्के, विपक्के, अकृष्टपच्ये धान्ये, अशने, क्षीरे, मन्थे, अपां पाने, यातूनां शयने ददम्भ। (मं० ६-८)
दिवा नक्तं ददम्भ। (मं० ९)

"कच्चा, आधपका, अच्छा पूर्ण पका, अधिक पका जो अन्न होता है, खेतीके विना जो उत्पन्न होता है वह धान्य, आदि पदार्थोंका भोजन, दूध, दही, मठा, छाछ, पानी आदी का पान करना, और अमंगल लोगोंके बिस्तरेपर सोना, इन कारणोंसे रोगक्रिमी दिनमें तथा रात्रीमें शरीरमें जाते हैं और रोग उत्पन्न करते हैं। यही बात अन्य रीतिसे यजुर्वेदमें आगई है देखिये—

ये अन्नेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिबतो जनान्। (यजु० १६ । ६२)

" जो अन्नमें और पीनेके पात्रोंमें रहकर जनोंके शरीरोंमें घुसते हैं और उनके स्वास्थको वेध डालते हैं। " अर्थात् बीमार करते हैं। इसी मंत्रका स्पष्टीकरण ऊपर लिखे दो तीन मंत्र हैं। पाठक इस दृष्टीसे यजुर्वेद मंत्र और अथर्ववेद मंत्र की तुलना करके मंत्रका ठीक भाव ध्यानमें धारण करें।

आरोग्य प्राप्ति।

उक्त प्रकार रोगकृमि शरीरमें जाते हैं फिर वहांसे उनको किस रीतिसे हटाना होता है इसका विचार अब करना है। इसकी पहिली रीति यह है—

युक्तः भिषक्। भेषजस्य कर्ता। क्रियमाणं अग्रे वेत्ति। (मं० १)

" सुयोग्य वैद्य, जो औषध बनाना जानता है। किया जानेवाला प्रयोग पहिलेसे जानता है। " इस प्रकारका सुयोग्य वैद्य अपने इलाजसे रोगी मनुष्यको निरोग करे। यह वैद्य—

विश्वेभिः देवैः संविदानः अस्य परिधिः पताति। (मं० २, ३)

" सब देवोंसे सहायता प्राप्त करनेकी रीति जानता हुआ, इस रोगकी अन्तिम मर्यादाको तोड डालता है। " इस प्रकार उसकी मर्यादा गिरानेके पश्चात् रोगकी जड स्वयं नष्ट हो जाती है। देवोंके साथ परिचय रखनेका तात्पर्य यही है कि प्रत्येक देवता की शक्तिसे जो चिकित्सा हो सकती है वह चिकित्सा करके रोग दूर करनेकी शक्ति रखना। मृत्तिका-चिकित्सा, जलचिकित्सा, अग्निचिकित्सा, सौरचिकित्सा, विद्युचिकित्सा, वायुचिकित्सा, औषधिचिकित्सा, मानसचिकित्सा, हवनचिकित्सा, आदि सब चिकित्साएं देवताओंकी शक्तियोंकी सहायतासे होती हैं, देवोंके साथ मिलकर रोग दूर करनेका तात्पर्य यही है। चिकित्सक उक्त देवोंके साथ रहता हुआ रोग दूर करता है। इस प्रकार—

तं प्रतिशृणीहि। (मं० ४)

अयं अगदः अस्तु। (मं० ५-९)

' उस रोगक्रिमि का नाश कर। और यह मनुष्य नीरोग होजावे और—

विरप्शिनं मेध्यं अयक्ष्मं कृणु। जीवतु। (मं० १३)

'इस रोगीको दोषरहित, पवित्र और नीरोग कर। यह मनुष्य दीर्घ आयु प्राप्त करे।' वैद्यको उचित है कि वह रोगी की ऐसी चिकित्सा करे कि रोगीके शरीरके सब दोष दूर हो जांय, रोगीका शरीर पवित्र बने और उसके शरीरसे यक्ष्म रोग हट जावे। केवल

रोगको रोकनेवाले वैद्य अच्छे नहीं होते, रोका हुआ रोग किसी न किसी रूपसे कभी न कभी बाहर प्रकट होगा ही। इस लिसे शरीर निर्दोष और मलराहितकरके रोग का बीज दूर करना चाहिये। चौदहवे मंत्रमें—

पिशाचजम्भनीः समिधः। (मं० १४)

'इन खून सुखानेवाले कृमियोंका नाश करनेवाली समिधाओंका वर्णन है।' यज्ञीय वृक्षोंकी लकडियों का यह गुण है। हवन सामग्रीको साथ रखनेसे भी यही गुण बढ जाता है। हवन चिकित्साका यह तत्त्व है, पाठक इसका अधिक विचार करें। इस प्रकार की चिकित्सासे—

गां अश्वं पुरुषं सनेम। (मं० १)

'गौवें, घोडे, और मनुष्योंको निरोग अवस्थामें प्राप्त कर सकते हैं।'

ग्यारहवे मंत्रमें अग्निचिकित्सासे इन रोगजन्तुओंको दूर करनेका संकेत है। जहां ये क्रिमि होते हैं वहां अग्नि जलानेसे अथवा हवन करनेसे वहांका स्थान नीरोग होता है।

संसर्ग रोग।

कई रोग एक दूसरेके संसर्गसे होते हैं, मलीन लोगोंके बिस्तरेमें (शयने शयानं) सोनेसे तथा उनके संसर्गमें रहनेसे रोग होते हैं। संसर्गके स्थानमें अग्नि प्रदीप्त करनेसे संसर्ग दोष दूर होता है। मिलकर हवन करनेसे भी इसी कारण संसर्ग दोष दूर होता है।

रोग हटनेका लक्षण।

रोग हटते ही मनुष्यका शरीर पुष्ट होने लगता है, यही आरोग्य प्राप्तिका लक्षण है—

शरीरे मांसं भर। असुं ऐरयामः। (मं० ५)

सोमस्य अंशु इव आप्यायतां। (मं० १२, १३)

"शरीरमें मांस बढना, प्राणकी चेतना प्राप्त होना, चन्द्रमाकी कलाओंके समान वृद्धिको प्राप्त होना।" यह नीरोगताका चिन्ह है। चन्द्रमाके समान मुख दिखाई देने लगा तो समझना की यह मनुष्य नीरोग है।

इस प्रकार इस सूक्तका विचार करनेसे अनेक बोध प्राप्त हो सकते हैं। आशा है कि पाठक इस प्रकार विचार करके बोध प्राप्त करेंगे।

मुद्रक — श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा)

R. NO. B. 1463

ॐ

वैदिक धर्म।

वैदिक तत्त्व ज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवलेकर.

वर्ष १०
अंक ११
क्रमांक ११९

कार्तिक
संवत् १९८६
नवंबर
सन १९२९

वार्षिक मूल्य— म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) विदेशके लिये

विषयसूची।

वर्ष १०

अंक ११

क्रमांक ११९

कार्तिक

संवत् १९८६

नवंबर

सन १९२९

वैदिक तत्त्वज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।

संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।

स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

परोपकार.

त्वे राय इन्द्र तोशतमाः प्रणेतारः कस्यचिदृतायोः ।
ते षु णो मरुतो मृळयन्तु ये स्मा पुरा गातूयन्तीव देवाः ॥

ऋ. १।१६९।५

" हे (इन्द्र) प्रभो ! (ये) जो (कस्य चित् ऋतायोः) किसी भी सत्याग्रही मनुष्य को (रायः प्रणेतारः) धन देते हुए उसको (तोशतमाः) अत्यंत संतोष भी देते हैं, (ते मरुतः देवाः, वे मरनेके लिये भी सिद्ध हुए देव वीर (त्वयि) तेरे आश्रय में रहकर (पुरा गातूयन्तीव) पहिलेसे ही परोपकार करने के लिये सिद्ध होकर आगे बढनेवाले लोगों के समान (नः सु मृळयन्तु) हम सबको उत्तम सुख देवें । "

ईश्वर के देवदूत सब मनुष्यों को सहायता करनेके लिये सदा ही कटिबद्ध रहते हैं। कैसा भी कठिन प्रसंग आ पडा, अथवा विशेष अवसर पर मृत्यु भी आ गया, तो भी वे अपना कर्तव्यकर्म कभी छोडते नहीं। जो लोग अपनी आयु सत्य के लिये और परोपकार के लिये पूर्णतया लगा देते हैं, उनको येही देवदूत धन, बल व यश देते हैं, ये देवदूत ईश्वर की प्रेरणासे हम सब को सुखी करें।

महाभारत ।

महाभारत की योग्यता बहुत थोडे लोग जानते हैं। आजकल आधुनिक यूरोपीय ज्ञानका प्रसार होने के कारण महाभारत का पाठ करनेके लिये लोगों को फुरसत कम मिलती है और प्राचीन काल के समान " पौराणिक सूत " भी आजकल रहे नहीं, जो महाभारत सुनकर अपनी आजीविका करते हैं। प्राचीन काल में इन सूतोंने ही जनता के हृदयोंपर महाभारत प्रभाव स्थिर किया था।

पौराणिक सूत एक जाती थी, जो प्राचीन इतिहास को मनोरंजक कथाओं के रूपमें जनता को कहकर जनता को प्राचीन इतिहास का उत्तम ज्ञान देती थी, और इस ज्ञान के द्वारा धर्म की जाग्रती भी करती थी। यह जाती अब नाम शेष हो चुकी है और जो भी कोई सूत होंगे वे अब इस कार्य को नहीं करते हैं।

महाभारत ऐसा ग्रंथ है कि जिसके पढने से अथवा सुनने से श्री. छत्रपती शिवाजी महाराज और राणाप्रताप जैसे धुरंधर वीर इस भारतभूमी में उत्पन्न हो सकते हैं, स्त्रियों में भी वीर प्रसवा लक्ष्मीबाई और अहल्याबाई जैसी स्त्रियें हो सकती हैं। आजकल चारों ओर प्रभविष्णुता का जोर कम दिखाई देने का कारण यही है कि, महाभारत का पाठ कम हुआ है और अन्य विदेशी गप्पाष्टकी पुस्तकों का पाठ अधिक हुआ है। महाभारत में धर्म के साथ राज्यकारण का जैसा उपदेश है वैसा किसी भी अन्य पुस्तक में नहीं है।

पंचम वेद ।

" महाभारत " को " पंचमवेद " कहते हैं। यह उसके महत्त्व का सूचक शब्द है। जैसे वेद बहुमोल ग्रंथ है, उसी प्रकार का यह महाभारत ग्रंथ है। वेद समझना कठिन होने के कारण भगवान व्यास देवजीने वेद का आशय बतानेवाला यह अपूर्व महाभारत ग्रंथ निर्माण किया। " सब जगत् में जो ज्ञान है वह इस महाभारत में है, परंतु जो ज्ञान इस महाभारत में है वह किसी अन्य पुस्तक में नहीं है" यह वर्णन स्वयं वेदव्यास ने महाभारत का किया है, वह नितान्त सत्य है। आज भी महाभारत जैसा उत्तम ग्रंथ हम किसी अन्य देश में देखते नहीं। वेद का आशय सुबोध रीतिसे इसमें देने के कारण इस ग्रंथ की योग्यता इतनी बडी हुई है। अर्थात् जो लोग महाभारत का पाठ करेंगे, और उसमें कहा हुआ ज्ञान अपनायेंगे, उनको करीब वेदज्ञान प्राप्त करने का फल कई अंशों में मिल सकता है।

वास्तव में प्रतिदिन एक एक अध्याय का पाठ करने का नियम पाठकों को करना चाहिये। जो लोग इस प्रकार प्रतिदिन महाभारत का पाठ करेंगे वे निःसन्देह वीर पुरुष बन सकते हैं। और परम पुरुषार्थी होकर इहपरलोक में उत्तम प्रगति प्राप्त कर सकते हैं।

यदि इतना भी नहीं हो सकता है, तो कम से कम शान्तिपर्व का तो एक एक अध्याय पाठक अवश्य पाठ करें। शान्तिपर्व ऐसा ग्रंथ है कि जिस के लिये तुलना करने के लिये दूसरा मनुष्यरचित ग्रंथ ही नहीं है। जो महाभारत के पाठ के विरोधी होंगे वे भी यदि प्रतिदिन शान्तिपर्व का पाठ नियमपूर्वक करेंगे तो वे निःसन्देह महाभारत का महत्त्व जानने में समर्थ हो जांयगे।

आजकल स्वाध्यायमंडल में महाभारतके शान्तिपर्व की छपाई चल रही है। शान्तिपर्व में प्रथम " राजधर्मपर्व " है वह करीब अगलेमास में समाप्त होगा। सात अंकोंका यह पर्व इकट्ठा ही अगलेमास में ग्राहकों के पास भेजा जायगा। आशा है कि पाठक इसका अवश्य अवलोकन करेंगे।

महाभारत का अग्रिम मूल्य ६५) है आर जो खंडशः लेना चाहते हैं उनके लिये १२०० पृष्ठों के लिये केवल ६) रु. मूल्य रखा है। म० आ०से मूल्य भेजनेपर आधा डा० व्य० माफ होता है। छः रु. मूल्य के महाभारत के ग्रंथ के लिये डा० व्य० १) से अधिक होता है।

पाठक इस अवसर से लाभ उठावें।

" संपादक "

आर्यों की सभ्यता का संसारपर प्रभाव।

आर्यों की सभ्यता का जितना ही अधिक विचार करें यही दिखाई देता है कि आज के ज्ञात जगत पर एक समय इस सभ्यता का खासा प्रभाव पडा था। आज भी निश्चय से कह सकते हैं कि एशिया, यूराप, आफ्रिका, अमेरिका आदि महाद्वीपों में प्राचीन आर्य - सभ्यता के अवशेष आज भी उपलब्ध हैं। एक समय मध्य एशिया अखिल मानव जाति का आद्य जन्मस्थान माना जाता था। इस बात को सिद्ध करने योग्य शिला-लेख भी मध्य एशिया में मिले हैं। परदेश के लोग सदैव हिन्दुस्थानियों पर आक्षेप किया करते हैं कि ये लोग मनहूस हैं इन्हे यात्रा करने का उत्साह नहीं है, अतएव इनकी दृष्टि बहुत आकुंचित है। इन आक्षेपों का जवाब देने के लिए भारती विद्वानों को आगे बढना चाहिए। तथा वर्तमान जगत के सन्मुख सिद्ध करना चाहिये कि हिन्दुस्थानियों के उपनिवेश अनेक थे। हमारे साहित्यमें देशोंके शहरोंके तथा नदियोंके जो नाम दिखाई देते हैं वे ही नाम आर्य लोगोंने जहाँ बस्ती की वे अपने साथ ले गए। यह तो निश्चित ही है कि जहाँ लोग उपनिवेश बनाते हैं वहाँ अपनी सभ्यता भी ले जाते हैं। अमेरिका या आस्ट्रेलिया जहाँ कहीं अंग्रेज लोग गए वे अपने साथ इंग्लैड के शहरों के नाम ले गए।

भरतखण्ड के चारों ओर की सभ्यता भी भारतीय सभ्यता ही थी। कम्बोडिया, सयाम, अनाम, मलाया, जावा, सुमात्रा, बाली आदि द्विपों में आर्य-सभ्यता का पालन करनेवाले लोग अब भी हैं। आर्यों का उपनिवेश सर्व प्रथम अगस्ति ऋषिने बनाया। इस अगस्ति ऋषि के कुल के लोगोंने चारों ओर यात्रा की थी। प्रथम वे सिन्धु से विंध्याचल तक आये। फिर विंध्याचल को पार कर दक्षिण में आये। यहाँ आर्य और द्रविड सभ्यताओं का मिलाप होकर अगस्ति सीधे दक्षिण दिशा में गए। अनन्तर इसी वंश का एक पुरुष सयाम मलाया की ओर गया दूसरा कम्बोडिया, जावा और सुमात्रा की ओर गया।

इन चार पांच छोटे बडे द्विपों का समूह विशेष महत्त्व का है। कम्बोडिया देश के नाम की उत्पत्ति बहुत चमत्कृतिजन्य है। अगस्ति का दूसरा नाम "कुम्भज" है। इसी कुम्भज से 'काम्भोज, काम्बोडियन' बना है। एक गांव का नाम है बोरोबुदुर। यह 'बोरोबदुर' शब्द संभवतः 'वीरभद्र' का ही बिगडाहुआ रूप होगा। आनाम देशमें भी पांडुरंग, द्वारावति आदि नाम मिलते हैं। सयाम देश का नाम भी शाम शब्द से बना होगा। शाम का अर्थ है सूर्य। पेरु, मेक्सिको जैसे दूरस्थ देशों में भी आर्य सभ्यता के अवशेष पाये जाते हैं। पेरु = पारु इसका अर्थ है सूर्य. हम लोग समझते हैं कि 'पाताल' नीचे है। यह खुला प्रदेश ही पाताल है।

पाताल में जानेपर मनुष्य नहीं लौटता। वहीं नागलोग में नागकन्या के साथ विवाह करके रहता है। हमारे पुराणों में उक्त अर्थ की जो दन्तकथा है उसका मूल इसी बात में है। जब कोई टोली उपनिवेश स्थापित करने के लिए हिंदुस्थान से बाहर जाति थी वह फिर लौट कर न आति थी। इसीको पाताल में जाना कहते हैं। मेक्सिको देश में 'राम सीता' के जुलूस निकलते हैं। यह निःसंदेह है कि यह सभ्यता उस देशमें गई थी।

मेक्सिको शब्द का 'माक्षिक' शब्द से संबन्ध है। अपने देश में माक्षिक शब्द प्रचार में है। मेक्सिको में सोना, चांदि पहले से बहुत मिलती है। वहाँ से सोना, चाँदी आती थी और उसका माक्षिक भस्म यहाँ बनता था। दूसरी मुख्य बात सूर्य की उपासना का प्रचार है। वैदिक कालसे अपने साहित्य में सूर्य की उपासना का प्रचार दिखाई देता है। उन दिनों में सूर्य देव के बडे बडे मंदिर रहते थे। सिंध में मोहों-जे-दोरो और हराप्पा में खोज हुआ है। उनसे भी स्पष्ट होता है कि ये मन्दिर कैसे

होते थे। अब भरतखण्ड के उत्तर के देशों का विचार करें। इन में तातार और अफगानिस्थान शामिल हैं। रूसी तातार और उत्तर तातार देश भी ऐसे ही महत्त्व के हैं। इसी में बल्ख शहर है। इससे मालूम होता है कि संस्कृत साहित्य में जिसका उल्लेख है वह वाल्हीक देश यही होना चाहिए। 'अफगानिस्थान' शब्द अफ (हाफो) + गानि (गण) + स्थान शब्दोंसे बना है। अर्थात् वह सर्प - गण - स्थान था। सर्प = साप = हाफ इस प्रकार का अपभ्रंश होता है। कंदहार पहले का गांधार देश है। एक फ्रेंच पुरातत्त्व वेत्ता का 'गांधार आर्किटेक्चर पर व्याख्यान हुआ। उस समय आपने एक मूर्तिका चित्र दिखलाया जिसमें फन निकाले हुए एक सर्प था। तब हमे विदित हुआ कि यह देश सर्पगण याने नाग-देश ही है। कुछ परिचय के पश्चात्।

मेडिटरेनियन = मध्यधरा;
हिरात = हैरात =हयराज

जैसे शब्द मिलते हैं।

अश्व (घोडा सूर्य) = आशिया;
यूरोप = सुरूप

ये शब्द भी ऐसे ही हैं। हेटिया, ग्रीस, फोनिशियन, फेजिनशियनस आदि लोगों की सभ्यताएँ भी इसी प्रकार समान हैं। आर्य सभ्यता इंग्लैण्ड में भी दिखाई देती है। 'ग्रीनविच' शब्द में विच् = विश् = विट अर्थात् 'देश' शब्द दिखाई देता है। इसी प्रकार 'केंट' शब्द 'कण्ठ' शब्द का अपभ्रंश दिखता है। वेल्स लोगों की भाषा के कुछ शब्द संस्कृत शब्दों से मिलते जुलते हैं।

हिप हिप हुरा = सिप सिप हरा = "शिव शिव हरा।"

अर्थात् 'हिप हिप हुरा' भारतियों के 'शिव शिव हरा' रणगीत का अपभ्रंश मालूम होने लगता है। मराठों का रणगीत जो 'हर हर महादेव' सो भी नष्ट होने के मार्गपर है। हम लोगों को सिंहावलोकन कर अपनी सभ्यता का पता लगाना चाहिए।

सुप्रजा और शराब- बंदी।

(इंग्लैण्ड के सुविख्यात डॉक्टर सी. डब्ल्यू सैलीबी महाशयने टॉरॉन्टो कनेडा में The International convention of the world league against Alcoholism 'संसार की सार्वराष्ट्रीय शराबखोरी तोडक सभा' के अधिवेशन में जो वक्तृता दी उसका सारांश।)

राष्ट्रके ऱ्हास का कारण।

संसार के इतिहास में अनेकानेक राष्ट्रों का उदय और अस्त देखने मिलता है। विचारणीय प्रश्न तो यह है कि जिन राष्ट्रोंका उत्कर्ष हुआ उनकी अवनति क्यों होनी चाहिए। राष्ट्र को गिरने के अनेक कारण हो सकते हैं। इतिहासकारोंने उनका विवेचन भी खूब किया है। परन्तु कुछ ऐसे भी कारण हैं जिनका उल्लेख सर्वमान्य इतिहास-ग्रंथों में भी नहीं है। उनमें से राष्ट्र के नाश का एक प्रमुख कारण शराबखोरी है। अबतक इस शराब ने कई राष्ट्रों को मिट्टी में मिला दिया, और अब भी कई राष्ट्रों को इस शराबखोरी के कारण कीडा लग गया है। मानव जाति का अधःपात करनेवाला शराब यह एक जातिय विष (Racial Poison) है। अन्य कई हानिकर बातें हैं, परन्तु उनका पुश्तोतक समाजपर विषतुल्य परिणाम नहीं होता। यदि कोई सिपाई लडाईमें घायल हुआ तो उसका भावी पीढीपर कोई अनिष्ट परिणाम नहीं होता। उसे जो संतती होती है वह लूली, लंगडी नहीं होती। परन्तु शराबखोरी ऐसा विष है जिसके विषका परिणाम

पुश्तान् पुश्त भुगतना पडता है। शराबखोरी बंद करना क्या है ? केवल अपघातों की संख्या घटाना है। इतना ही नहीं राष्ट्र का पुश्तान पुश्त संरक्षण करना है।

इतिहास का सबूत।

दूसरी शताब्दि से रोमन साम्राज्य की अवनति आरंभ हुई। उस समय रोम की स्त्रियां मातृधर्म से च्युत हो चुकीं थीं। वे अपने बालबच्चों को अपना खुद का दूध न पिलाती थीं किन्तु यह पवित्र काम उन्होंने गुलाम वर्गकी दाइयों के सुपुर्द कर दिया था। ये दाइयां प्रायः शराबी तथा नीतिभ्रष्ट हुआ करती थी। शराबी स्त्रियों के खून में शराब का 'अल्कोहोल' होना ही चाहिए। और नीतिभ्रष्ट होने के कारण उनमें उपदंश और प्रमेह का प्रसार भी होना स्पष्ट ही है। इस प्रकार उस समय के रोमन बालकों के खून में दुहरा विष आ रहा था। ऐसी दशा में यदि उस राष्ट्रका अंत हुआ तो आश्चर्य ही क्या ? बाइबि में Book of Judges के तेरहवें अध्याय में निम्न लिखित वाक्य हैः-

" Beware, I pray thee and drink no wine, nor strong drink, for lo, thou shalt conceive and bear a son, and he shall be a nazarite unto God from the womb and he shall begin to delivers his people from the hands of their enemies."

इसमें देवदूतनें एक माता को शराब न पीने का मद्यपान से अलिप्त रहने का उपदेश किया है। क्यों कि उस माता के पेट से परमेश्वर के पराक्रमी वीर पुरुष का अवतार होनेवाला था। अर्थात् इससे यह स्पष्ट होता है कि पराक्रमी संतती चाहनी हो, तो माता पिता को मद्यपान से अलिप्त रहना चाहिए। १९१४ के महायुद्ध में हमारे उत्तम युवक चुनकर रणक्षेत्र पर भेज दिए गए। वे जर्मनों की मशीनगन्स के भक्ष्य बन गए। उनकी जगह में हमें ऐसे लोगों को फौज में भरती करना पडा जो घृणित बस्ति में तथा शराब की दुकानों की परिस्थिति में पले थे और जिनका जन्म शराबी कुटुम्बों में हुआ था। पुरुष तो शराब पीते ही हैं पर स्त्रियों में भी शराब पीने की चाल पडी हुई है। कई मूर्ख डाक्टर कहते हैं प्रसूति काल में शराब पीना आवश्यक है। और इससे शराबका विष स्त्रियों के शरीर में भी घुस जाता है। मैं तो समझता हूं कि शराब पीने की सलाह देनेवाले डाक्टर "डाक्कर" संज्ञा को पात्र ही नहीं हैं।

शास्त्रीय प्रयोग।

न्यूयॉर्क के " कॉर्नेल हॉस्पिटल मेडिकल स्कूल" के प्रो. स्टॉकॅर्ड स्वयं मद्यपान शौकीन हैं। आपने गिनिपिग्ज नामके प्राणियों को आल्कोहोल मिश्रित वायु में प्रतिदिन एक घण्टा रखा। इस प्रकार दस वर्ष तक शास्त्रीय प्रयोग के पश्चात् आपने सिद्ध किया है कि उनके पिण्ड तत्व पर अनिष्ट असर होता है। मद्यार्क (Alcohol) से मनुष्य का यकृत (Liver) और मूत्राशय बिगड जाते हैं। यही नहीं बल्कि पुरुष और स्त्रियों के पिण्डतत्वों (Germ plasm)पर भी बहुत ही बुरा असर होता है। यह निश्चित अनुमान लॉन्सेन के डॉ. बर्थोलेट का है। आपने यह अनुमान अनेक वर्ष मुर्दों की चीरफाड करनेबाद् निकाला हुआ है।

शिष्ट शराबखोरी भी बुरी ही है।

बहुतेरे लोग कहते हैं कि शराब नियम से थोडी पी जाय तो कोई हानि नहीं होती। परन्तु यह केवल भ्रम मात्र है। साल छः माह में एकबार बहुत शराब पीकर बेहोश हो जानेवाला मनुष्य कुछ अच्छा, परन्तु प्रतिदिन नियम से थोडी शराब पीनेवाला तो बिलकुल ही बुरा है। क्यों कि वह अपनी आगामी पीढी की भारी हानि करता है। शराब पीना आरंभ हो जाने के बाद जो पहला बालक पैदा होता है वह कुछ वर्ष बाद राजयक्ष्मा या ऐसी ही किसी अन्य बीमारी से मर जाता है। उसके बाद का बालक छुटपन में ही अपनी जीवन यात्रा समाप्त कर देता है। इसके बाद प्रायः लडके बच्चे पैदा ही नहीं होते। अर्थात् शराब के कारण निरोगी और सुदृढ कुटुम्ब की भी वृद्धि रुक जाति है।

शराबखोरी और जननेंद्रिय विकार ।

जननेन्द्रिय के उपदंश और प्रमेह ये विकार शराबी के पीछे पीछे ही चलते हैं। इन रोगों से समाज की कार्यक्षमता का भारी क्षय होता है। जो व्यक्ति इनके वशमें हो जाते हैं उनके जीवन का तो सत्यानाशही हो जाता है। सब से बुरी बात यह है कि इन रोगों का असर पुश्तान्पुश्त भुगतना पडता है और इससे समाज की भारी हानि होती है। मद्य और वेश्याव्यवसाय का संबंध भी देखने योग्य है। महायुद्ध के बाद अमेरिका के जिन भागोंमें शराबखोरी बंद करने के लिए शराब की दूकाने बंद कर दी गई और पान गृह (Saloons) भी उठा दिए गए उन भागों के कुंटन खाने भी आपही आप बंद पड गए अमेरिकन सरकारद्वारा प्रसिद्ध हुए अंकों से दिख पडता है कि शराबी रोकने के कानून के चलाने से उपदंश और प्रमेह इन रोगों का प्रसार भी बहुत कुछ घट गया है।

यह चिल्लाहट मची हुई है कि मनुष्यसंख्याके हिसाब से अन्न काफी नहीं होता। परन्तु तब भी शराब बनाने के लिए लाखों मन अन्न- धान्य आदि पदार्थों का नाश किया जाता है। शराब के लिए जिस अन्न का नाश किया जाता है वह अन्न यदि बच जाय तो करोडों गरीबों को दो मुट्ठी भोजन निसंदेह अधिक मिलेगा।

शराबखोरी और बालमृत्यु ।

शराब का प्रसार और बालकों की मृत्यु का भी बहुत निकट संबंध है। १९२१ में न्यूयार्क शहर में बालकों की मृयु का प्रमाण हजार में केवल ७१ था। इसका कारण वहां शराब - बंदी का कानून जारी हो गया है। शराब - बंदी पर आक्षेप करनेवाले कहते हैं कि कानून से शराब बेचना रोक दिया जाय तो चोरी से शराब बेची जाती है। होता होगा; परन्तु अब चोरी से शराब पीना गरीबो के लिए असंभव हो गया। पैसेवालों में कुछ मूर्ख लोग अवश्य ही होते हैं। वे शराबी-रोकने के कानून को बचाकर अपनी मद्यतृष्णा को शांत करते हैं। परंतु इतना अवश्य हुआ है कि गरीब लोगोंका बचाव हुआ है और यह भी भारी महत्व की बात है। मांट्रील नगर को देखिए। वहां की बालकों की मृत्यु संख्या हजार पीछे १५५ है. मांट्रील के बालको की मृत्यु संख्या ऐसी भारी है। परंतु न्यूयॉर्क के समान जहां शराबखोरी रोक दी गई है ऐसे बोस्टन और टॅरान्टो नगरों में बालकों की मृत्युसंख्या क्रमशः हजार में ७७ और ८६ ही है। इंग्लैण्ड और वेल्स देशों में जहां शराब की खपत सब में अधिक है वहां अर्भकों की मृत्युसंख्या भी सब से अधिक है।

शराबखोरी और क्षयरोग ।

क्षयरोग का प्रसार घटाने के लिए न्यूयॉर्क शहर में पचीस वर्ष से प्रयत्न जारी था। १९१८ में क्षयरोग के कारण होनेवाली मृत्युसंख्या एक लाख में १६० थी। परन्तु शराब की रोक शुरू हो जाते ही मृत्यु की यह संख्या एकदम उतरने लगी। १९२१ साल में क्षयरोग के कारण होनेवाली मृत्युसंख्या न्यूयॉर्क शहर में केवल एक लाख में ८९ ही थी। याने शराब की रोक के कारण तीन साल में आधी हो गई। यदि कोई पूछे कि शराब की रोक से क्षयरोग का प्रसार कैसे घटा ? तो जबाब यह है कि पहले लोग शराब पीकर नालियों गिर पडते थे या सकरे कमरे में बंद हो पडे रहते थे। अब वेही लोग शुद्ध हवा में व्यायाम करने लगे, सूर्यप्रकाशमें घूमने फिरने लगे, जो पैसा पहले शराब पीने में खर्च होता था सो अब अच्छा अन्न खाने में खर्च होने लगा और इसीसे उनकी रोग- प्रतिकारक शक्ति बढ गई। फ्रांन्स में जहां शराबखोरी अधिक है वहां क्षयरोग का प्रसार भी अधिक है।

शराब की रोकथाम की झूटी खबरें ।

उपरोक्त सब हाल संसार भर में जाहिर किया जाना चाहिए। क्यों कि एक ऐसा भी पक्ष है जो शराब बंदी के विरुद्ध सारे संसार भर में हलचल करता है। यह पक्ष झूटी खबरें सब दूर फैलाया करता है। कुछ लोग योग्य जानकारी के अभाव में फंसते हैं। मिसेस ॲस्क्विथ इसी प्रकार फंस गई थीं। जब सच्चा हाल उन्हें समझाया गया और

आंकडों का पूरा सबूत उनके सन्मुख रखा गया तब उन्होंने कबूल किया कि उनका ख्याल गलत था। स्मरण रखना चाहिए कि मिसेस ॲस्क्विथ का जो गलत ख्याल हुआ वह उनका सच्चा ख्याल इसीसे काफी सबूत मिलने पर जब भूल स्पष्ट दिखाई दी तब उन्होने अपना मत बदल दिया। परतु जो इस विषय में लोगों की दिशाभूल ही करना चाहते हैं वे भला ऐसी सचाई क्यों दिखलावेगे। कई लोग अमेरिका की शराबबंदी के संबंध में चिडानेवाले भूल भरे बयान करते हैं। ऐसे बयानों पर एकदम विश्वास न कर उसकी सत्यासत्यता के निश्चयपर ध्यान देना आवश्यक है।

यदि प्रजा को नीरोग सुदृढ एवं कार्यक्षम बनाना हो तो शराबखोरी को नष्ट ही कर देना चाहिए।

Guard your race. It is your all and for that reason you must turn out the racial poison.

"अपनी भावी पिढी पर नजर रखिए। क्यों कि वही तुम्हारा सर्वस्व है। इसलिए मद्य नामका मानव जाति का संहार करनेवाला जो विष है उसे समूल नष्ट कर डालिए।"

विद्यार्थी वर्ग और गुरुजन।

(ले-श्री० व्यं. ग. जावडेकर धुळें)

ब्रह्मचारी अर्थात् विद्यार्थी गणों के गुरू के प्रति जो कर्तव्य हैं उनके बारे में लिखने का यहां विचार किया है। वर्तमान विद्यार्थी आचार्य, उपाध्याय, पुरोहित, अध्यापक, गुरू आदि शब्द सुना करते हैं। परन्तु उनके अर्थों में जो फरक हैं, उसे शायदही कोई कह सकेगा।

सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥

(मनुस्मृति)

इस प्रकार आचार्य शब्द की शास्त्रीय परिभाषा है। आचार्य पैसे के लिये या धन के लोभसे पढाने वाले नहीं होते। इनका दर्जा बहुत ऊंचा होता है। अब उपाध्याय किसे कहना चाहिए देखें —

एकदेशं तु वेदस्य वेदांगान्यपि वा पुनः।
योऽध्यापयति वृत्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते॥

इसी को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि प्राचीन "आचार्य" आधुनिक "प्रिन्सिपल" हैं और प्राचीन "उपाध्याय" आधुनिक "प्रोफेसर" हैं। पुरोहितों का काम यही है कि अपने यजमान के घर का हव्य, कव्य, विवाह, व्रतबंध, आदि कर्म करना। कई विद्यार्थियों को और कुछ गृहस्थाश्रमियों को भी शायद यह न मालूम होगा कि हव्य और कव्य किसे कहते हैं। इसलिये यहां उसे कह डालना ठीक होगा। हव्य माने देवताओं के लिये किये हुए होम, हवनादि कर्म और कव्य माने पितरों के लिये किये हुए कर्म।

जिस प्रकार आजकल के विद्यार्थी सच्चे ब्रह्मचारी नहीं रहते, उसी प्रकार आजकल के शिक्षक भी आचार्य या उपाध्याय नहीं रहते। उन्हें ज्यादा से ज्यादा अध्यापक या गुरू कह सकते हैं। गुरू के भी दो प्रकार होते हैं। एक मोक्ष गुरू और दूसरा विद्या गुरू। गुरू किसी भी प्रकार का हुआ तो भी जब शिष्य उसके पास जाता है तब शिष्य को "भिद्यते हृदयग्रंथिः छिद्यन्ते सर्व संशयाः" मालूम होना चाहिये। गुरू शब्द से पिता या पूज्य मनुष्य का बोध होता है। गुरू के नाते विद्यार्थियों को शिक्षक पूज्यही होना चाहिये। और इसलिये विद्यार्थियों को जिन नियमों का पालन करना आवश्यक है उनका विचार करना चाहिये। आचार्य या गुरु के सन्मुख ब्रह्मचारी को किस तरह बैठना चाहिये, किस तरह उठना चाहिये आदिके बारे में भी शास्त्रकर्ताओं ने नियम बना रखे हैं। केवल महत्वपूर्ण नियम यहां लिखता हूं।

नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम्।
न चैवास्यानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम्॥

शास्त्रकर्ता कहते हैं कि गुरू के नाम का उच्चार उसके पश्चात भी नहीं करना चाहिये। आधुनिक रीति के अनुसार यह कुछ विचित्रसा मालूम होगा। परन्तु गत काल की रीति को देखने से मालूम होगा कि यह कुछ विचित्र नहीं है।

प्राचीन काल में विद्यार्थी गुरू का बहुत आदर करते थे। उसी तरह वे उनपर विश्वास रखते थे। चाहे जिसे यदि उनका नाम वह बतलावें तो उनके संबंध की कोई अनादर या अश्रद्धा दर्शक बात सुनने का संभव है। अनादर या अश्रद्धा उत्पन्न होनेसे उसके अध्ययन में बाधा आने का भी संभव है। इसलिये ऐसी बातों को टालने के लिये शायद यह नियम बनाया होगा। ऊपर दिये हुए श्लोक के द्वितीयार्ध में जो कुछ बतलाया है उसका महत्व आज भी उतनाही है जितना पहले था। आजकलके लडके कितने कुत्सित बन गये हैं इसका प्रमाण मेरे विद्यार्थीदशा का एक प्रसंग दे सकता है। आजकल निवृत्तसेवा वेतन पानेवाले एक पहले दर्जे के दीवानी न्यायाधीश सन १८९३-९४ में सोलापूर हाईस्कूल की सातवीं कक्षाके उपशिक्षक थे। उन्हें आंखोंकी कमजोरीसे बहुत कम दिखता था। उनके इस दृष्टिदोषसे अनुचित लाभ उठाकर कुछ नीच लडके उनकी ओर कंकड फेंका करते थे। वे " What is that ? What is that ? " कहते थे। परन्तु नीच लडके उसकी पर्वाह न करते थे।

कई शिक्षकों को लंगडाते हुए चलने की, तुतलाकर बोलने की, कंधे हिलाने आदि की आदतें रहती हैं। तो भी विद्यार्थियों को उनकी नकल करना उचित नहीं। क्यों कि उनकी आदतें स्वाभाविक ही होती हैं। परन्तु आजकलके विद्यार्थी शिक्षकों की नकल करने में ही भूषण मानते हैं।

गुरोर्यत्र परीवादो निंदा वापि प्रवर्तते। कर्णौ
तत्रापिधातव्यौ गंतव्यं वा ततोऽन्यतः॥

यह भी एक नियम है। परिवाद का अर्थ है मौजूदा दोषों को कहना, और निन्दा से अभिप्राय है उन दोषों को बतलाना जो न हो। यदि कोई मनुष्य अपने गुरूके वास्तविक या अवास्तविक दोष बतला रहा हो तो शिष्य को कान बंद कर लेना चाहिए या वहाँ से उठ जाना चाहिए। तब शिष्य का खुद ही गुरूके दोषों की चर्चा करना कितना निन्दनीय है ? आजकल के विद्यार्थि तो ऐसी बातें बेखटके किया करते हैं। कैसी भारी अशास्त्रीयता है?

भगवान् मनूने यह भी बतला दिया है कि जो शिष्य ऐसी बातें करेगा, उसका आगे क्या होगा ?

परिवादात्खरो भवति श्वा वै भवति निंदकः।

जो परिवाद करेगा वह गधे का जन्म पावेगा और यदि वह निन्दा करेगा तो वह कुत्ते का जन्म पावेगा। संप्रति अश्रद्धा का समय है। इस समय आगे क्या होगा सो छोड भी दें, तो भी जिससे विद्या प्राप्त कर अपने भविष्यत् में अपनी जीवनी सुधारेंगे उसके संबंध में ऐसी बातें स्वयं ही करना अत्यंत अनुचित हैं। मेरी धारणा है कि आज भी ऐसी बातों को अनुचित न समझने का जडत्व सभी की बुद्धि में नहीं आया है। विद्यार्थीदशा अत्यंत पवित्र दशा है। आजकल विद्यार्थियों पर बडा अनवस्था प्रसंग गुजरा है क्यों कि स्कूलों में धार्मिक शिक्षा नहीं मिलती और घर में उस विषय का कोई योग्य नियंता नहीं है। इस दशामें से कब और किस प्रकार उचित मार्ग निकलेगा सो ईश्वर ही जान सकता है।

मेरे ब्रह्मचर्य के विवेचन पर कुछ संशयात्माएँ आक्षेप करेंगी कि प्राचीन कालके ब्राह्मचारी वेदाध्ययन करते थे, अतः उस समय लिए शास्त्रकारों ने नियम बनए होंगे। तब आजके अंग्रजी विद्या सीखनेवालों को उन नियमों से कैसे कामयाबी होगी ? इसलिये ब्रह्मचर्य की व्याख्या ही इस स्थान पर देखिये—

ब्रह्मणे वेदविद्यायै कस्यै विद्यायै वा चर्यते इति
ब्रह्मचर्यम्।

इस बात से हमारे प्राचीनों की बुद्धिमानी जैसे प्रकट होती है वैसे ही आजकल के दो अक्षरधारी ' पण्डितों ' की मूर्खता प्रकट होती है। दण्डक ही ऐसा है कि कोई विद्या सीखनी हो- ब्रह्मविद्या हो वेद-विद्या हो अथवा अन्य कोई भी विद्या हो- विद्यार्थी को सभी नियमों का पालन करना आवश्यक है।

यम और पितर।

[ले. श्री. पं. मंगलदेव (तडित्कान्त) जी वेदालंकार (गु. कु. कांगडी.) औंध.]

नवग्व पितर।

तमु नः पूर्वे पितरो नवग्वाः सप्त विप्रासो अभिवाजयन्तः। नक्षद्दाभं ततुरिं पर्वते-ष्ठामद्रोघवाचं मतिभिः शविष्ठाम् ॥

ऋ ६।२२।२॥

अथर्व. २०।३६।२॥

अर्थ- (सप्त विप्रासः) सात संख्यावाले मेधावी तथा (नवग्वाः नः पूर्वे पितरः) नवग्व हमारे पुरातन पितर (तं) उस इन्द्रको (नु) निश्चयसे (अभिवाजयन्तः) चारों ओरसे बलवान् बनाते हुए,(नक्षद्दाभं) आगत शत्रु वा पापका नाश करनेवाले (ततुरिं) तारक (पर्वतेष्ठां) पर्वतस्थ (अद्रोघवाचं) द्रोह रहित वा अनतिक्रमणीय वाणी वाले (शविष्ठं) बलवत्तम इन्द्रकी (मतिभिः) मननीय स्तोत्रोंसे स्तुति करते हैं।

सप्तविप्रासः- ५ प्राण, मन व बुद्धि ऐसा महर्षि दयानन्दजीने अर्थ किया है।

नवग्व- यह शब्द विशेष खोज करने लायक है। हम यहांपर भिन्न भिन्न आचार्योंके मतको देंगे जिससे पाठकोंको शोध करनेमें मदद मिल सके।

निरुक्तकार यास्काचार्यने ऋ. १०।१४।६ की व्याख्या करते हुए नवग्व शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है — ' नवगतयो नवनीत गतयो वा'। अर्थात् नव प्रकारकी गतिवाले अथवा नवनीत यानि मक्खन जैसी गतिवाले शुद्धाचरण वाले।

महर्षि स्वामी दयानन्दजीने 'नवीन गतिवाले' ऐसा अर्थ किया है।

सायणाचार्य निम्न लिखित अर्थ करते हैं- नवग्वाः नवभिर्मासैः सत्रमनुतिष्ठवन्तः'। अर्थात् जो नवमासवाले सत्र (यज्ञ विशेष) को करनेवाले हैं।

वेदमें नवग्व व दशग्व शब्द मिलते हैं पर उनका अभिप्राय ठीक तौरपर पता नहीं चलता है। इनपर विशेष खोजकरनी आवश्यक है। अन्य मंत्रोंकी सहायतासे इनके अर्थ जाननेका प्रयत्न करना चाहिए।

यद्यपि इस मंत्रका स्पष्ट रूपसे भाव अभीतक व्यक्त नही हुआ है तथापि ऐसा पता चलता है कि इस मंत्रमें आत्माका वर्णन व ' सप्त विप्रासः' से ५ प्राण मन व बुद्धिका अभिप्राय है। और इसप्रकार इस मंत्रमें प्राणोंको पितरसे कहा गया जान पडता हैं।

काम और पितर।

कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः। ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महाँस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥

अथर्व. ९।२।१९॥

अर्थ- (कामः प्रथमः जज्ञे) काम प्रथम पैदा हुआ। (एनं) इस को (न देवाः आपुः न पितरः न मर्त्याः) न तो देवोंने ही पाया न पितरोंने और नही मनुष्योंने। (ततः) इस कारण से हे काम ! तू (विश्वहा) सब प्रकारसे (ज्यायान्) बडा है। हे महान् काम ! (तस्मै ते) उस तेरे लिये (नमः इत् कृणोमि) मैं नमस्कार करता हूं।

यहांपर कामको जाननेमें पितरों की भी असमर्थता दर्शाई गई है।

मणि और पितर

यं देवाः पितरो मनुष्या उपजीवन्ति सर्वदा। स मायमधि रोहतु मणिः श्रेष्ठ्याय मूर्धतः॥

अथर्व० १०।६।३२॥

अर्थ- (देवाः पितरः मनुष्याः यं सर्वदा उपजीवन्ति) देव पितर व मनुष्य सदा जिस मणि के

आश्रय से जीते हैं (सः अयं मणिः) वह यह मणि (श्रेष्ठ्याय) श्रेष्ठ पद की प्राप्ति कराने के लिए (मां मूर्धतः अधिरोहतु) मेरे सिरपर स्थित होवे अर्थात् ऐसे मणि को मैं सिरपर धारण करता हूं।

इस मंत्र में यह बतलाया गया है कि देव पितर व मनुष्य मणि के आश्रय से जीते हैं। यहां यह भी पता चलता है कि पितर देव व मनुष्य से भिन्न हैं।

ब्रह्मौदन पाचक पितर।

उरुः प्रथस्व महता महिम्ना सहस्रपृष्ठः सुकृतस्य लोके। पितामहाः पितरः प्रजोपजाहं पक्ता पञ्चदशस्ते अस्मि ॥ अथर्व० ११।१।१९॥

अर्थ- हे ब्रह्मौदन! (सहस्रपृष्ठः) हजारों पीठों वाला अर्थात् अत्यंत फैला हुआ तू (सुकृतस्य-लोके) सुकृत के लोकमें (महता महिम्ना) अपनी बडी भारी महिमासे (उरुः) विस्तीर्ण होता हुआ। (प्रथस्व) फैल। (पितामहाः पितरः प्रजा उपजा) पितामहों का समूह, पितर, संतति तथा संततिकी संतति और (पंचदशः अहं) पंचदश मैं (ते पक्ता अस्मि) तेरा पकानेवाला हूं।

पंचदश- पंद्रहवां अथवा ५ प्राण, ५ इन्द्रियां व ५ भूतोंसे बना हुआ।

इस मंत्र में पितामह, पितर आदियोंको ब्रह्मौदन पाचक कहा गया है। अर्थात् ये सब ब्रह्मौदन पकाते हैं।

ब्रह्मचारी व पितर

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग् देवा अनुसंयन्ति सर्वे। गन्धर्वा एनमन्वायन् त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः षट् सहस्राः सर्वान्त् स देवांस्तपसा पिपर्ति ॥ अथर्व० ११।५।२॥

अर्थ- (पितरः देवजनः देवाः) पितरः देवजन तथा देव (सर्वे) ये सब (पृथक्) अलग अर्थात् स्वतंत्र रूप से (ब्रह्मचारिणं अनुसंयन्ति) ब्रह्मचारी का रक्षार्थ अनुगमन करते हैं। (गन्धर्वाः एनं अनु-आयन्) गन्धर्व गण इस ब्रह्मचारीके पीछे पीछे चलते हैं। (षट् सहस्राः त्रिशतः त्रयः त्रिंशत्) छे हजार तीन सौ तेंतीस (६३३३), (सर्वान् देवान्) इन सब देवों को (सः) वह ब्रह्मचारी (तपसा पिपर्ति) अपने तप द्वारा पूर्ण करता है-पालन करता है।

इस मंत्रमें दर्शाया गया है कि पितरभी ब्रह्मचारी की रक्षाके लिए उसके पीछे पीछे सदा फिरते रहते हैं ता कि ब्रह्मचारी को किसी भी प्रकार का कष्ट न पहुंच सके।

पितरों की शक्ति का नियंत्रण

मा छेद्म रश्मीँरिति नाधमानाः पितॄणां शक्ती रनुयच्छमानाः। इन्द्राग्निभ्यां कं वृषणो मदन्ति ता ह्यद्री धिषणाया उपस्थे ॥ ऋ० १।१०९।३॥

अर्थ- (रश्मीन् मा छेद्म इति नाधमानाः)संततिरूपी रश्मियों को हम मत काटें, इस प्रकार याचना करते हुए, तथा (पितॄणां शक्तीः अनुयच्छमानाः) पितरों की शक्तियों को नियंत्रित करते हुए और अतएव (वृषणः) वीर्य युक्त हुए हुए (धिषणायाः उपस्थे) बुद्धि के समीपमें अर्थात् बौद्धिक कार्योंमें (इन्द्राग्नीभ्यां) इन्द्र व अग्नि से (कं मदन्ति) सुख प्राप्त करके प्रसन्न होते हैं। (हि) निश्चय से (तौ) वे इन्द्राग्नी (अद्री) न नष्ट होनेवाले हैं।

इस मंत्र में यह दर्शाया गया है कि न तो सर्वथा संततिका उच्छेद ही करना चाहिए और नहीं सर्वथा संतति की वृद्धि ही करनी चाहिए। पितरों की शक्ति अर्थात् उत्पादक शक्तिका नियंत्रण करना चाहिए जिससे बुद्धि की व बलकी वृद्धि होती है। यहां पितरों की शक्तिसे उत्पादक शक्ति का अभिप्राय है।

देवों के पितर

ये वो देवाः पितरो ये च पुत्राः सचेतसो मे शृणुतेदमुक्तम्। सर्वेभ्यो वः परि ददाम्येतं स्वस्त्येनं जरसे वहाथ ॥ अथर्व० १।३०।२॥

अर्थ- (देवाः) हे देवो! (ये वः पितरः ये च पुत्राः) जो तुम्हारे पितर हैं और जो पुत्र हैं वे सब तुम (सचेतसः) सावधान हुए हुए (मे इदं उक्तं) मेरे इस कथन को (शृणुत) सुनो। (वः सर्वेभ्यः) तुम सब के लिए मैं (एतं) इस मनुष्य को (परि-

ददामि)सौंपताहूं, (एनं) इसे (स्वस्ति) कल्याणपूर्वक (जरसे वहाथ) वृद्धावस्था के लिए पहुंचाओ अर्थात् यह वृद्धावस्था आने के पूर्व ही अल्पायु में मरने न पावे।

परिददामि - रक्षाके लिए सौंपताहूं। परि उपसर्ग पूर्वक दा धातुका अर्थ रक्षणार्थ देना है। इस मंत्र में देवों के पितर व पुत्रों का उल्लेख है।

देवाः पितरः पितरो देवाः। यो अस्मि सो अस्मि।
अथर्व० ६। १२३। ३॥

अर्थ- (देवाः पितरः) देवगण पितर हैं और (पितरः देवाः) पितर देव हैं। (यः अस्मि) जो मैं हूं (सः अस्मि) वह मैं हूं।

इस मंत्रका वास्तविक क्या भाव है यह अभीतक ठीक नहीं कहा जा सकता। सायणाचार्यने इस मंत्रका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है जो देव वसु रुद्रादि रूप हैं वे हमारे पितर हैं और जो हमारे पितर हैं वे वसु रुद्रादि रूप हैं। इस प्रकार परस्पर के व्यतिहारसे पितरोंका देवात्मक होना दृढ किया है। (यः अस्मि) जिसका मैं हूं उसका ही मैं हूं। अर्थात् एकही पिताका हूं। क्यों कि स्त्रियां संभावितव्यतिक्रम होती हैं अतःमैं निश्चयसे कहता हूं कि मैं अपने पिताका ही पुत्रहूं। अपने इस अभिप्रायकी पुष्टिके लिए सायणाचार्यने मीमांसा सूत्रका प्रमाण दिया है- 'स्व्यपराधात् कर्तुश्च पुत्रदर्शनात्'।

अस्तु इस मंत्रका कुछभी अभिप्राय हो तथापि हमें इतना पता चलता है कि पितर देवत्वको प्राप्त होते हैं। इस मंत्रके अभिप्रायवाले और मंत्र पहिले आचुके हैं।

पितरोंके ऊर्ज, रस आदिके लिए नमस्कार

नमो वः पितरः ऊर्जे नमो वः पितरो रसाय॥
अथर्व० १८।४।८॥

अर्थ- (पितरः) हे पितरो ! (वः ऊर्जे नमः) तुम्हारे अन्न वा बलके लिए नमस्कार है। (पितरः) हे पितरो ! (वः रसाय नमः) तुम्हारे रस-अन्नरस (दुग्ध आदि) के लिए नमस्कार है।

नमो वः पितरो भामाय नमो वः पितरो मन्यवे
॥ अथर्व० १८।४।८२॥

अर्थ- (पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारे (भामाय) क्रोधके लिए (नमः) नमस्कार हो। (पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारे (मन्यवे) मन्युके लिए (नमः) नमस्कार हो। भाम तथा मन्यु दोनों क्रोधके विशेष भेद हैं। भाम साधारण क्रोधका नाम है। मन्युको हम सात्विक क्रोध कह सकते हैं।

नमो वः पितरो यद् घोरं तस्मै नमो वः पितरो यत् क्रूरं तस्मै॥ अथर्व० १८।४।८३॥

अर्थ-(पितरः) हे पितरो!(वः)तुम्हारा(यत् घोरं) जो घोर कर्म है (तस्मै)उसके लिए(नमः) नमस्कार है। (पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारा (यत् क्रूरं) जो क्रूर कर्म है, (तस्मै) उसके लिए (नमः) नमस्कार है।

नमो वः पितरो यच्छिवं तस्मै नमो वः पितरो यत् स्योनं तस्मै अथर्व० १८।४।८३॥

अर्थ— (पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारा (यत्) जो (शिवं) कल्याणमय कर्म है (तस्मै) उसके लिए (नमः) नमस्कार है। (पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारा (यत् स्योनं) जो सुखमय कर्म है (तस्मै नमः) उसके लिए (नमः) नमस्कार है।

इस प्रकार इन मंत्रोंमें पितरोंके विविध कर्मोंके लिए नमस्कार किया गया है।

पितरों का इष्टापूर्त

अशीतिभिः तिसृभिः सामगेभिरादित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभिः। इष्टापूर्तं भवतु नः पितॄणामामुदे हरसा दैव्येन॥ अथर्व० २।१२।४॥

अर्थ- (तिसृभिः अशीतिभिः) तीन अशीतियोंके साथ (सामगेभिः) साम गायकों के साथ (आदित्येभिः) आदित्यों के साथ (वसुभिः) वसुओं के साथ तथा (अङ्गिरोभिः) अङ्गिरसों के साथ मिलकर (पितॄणां) पितरोंका (इष्टापूर्तं) इष्टापूर्त (नः अवतु) हमारी रक्षा करे। (दैव्येन हरसा) दिव्य तेजद्वारा (अमुं) इस दुष्ट पुरुषको (आददे) ग्रहण करता हूं अर्थात् उसका नाश करता हूं।

इस मंत्रमें आएहुए अशीति आदि पदोंपद भिन्न भिन्न भाष्यकारोंने भिन्न भिन्न अर्थ किए हैं। अस्तु हमें उन पदोंसे यहां विशेष अभिप्राय नहीं है अतः उन-पर विचार नहीं करेंगे। इष्टापूर्तका लक्षण निम्न लिखित है—

अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम्।
आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्ट मित्यभिधीयते ॥ १ ॥
वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च।
अन्नप्रदानमारामाः पूर्त्तमित्यभिधीयते ॥ २ ॥

इस मंत्रमें पितरोंका इष्टापूर्त हमारा रक्षण करता है यह दर्शाया है। हमारे रक्षणार्थ पितरोंको इष्टापूर्त करना चाहिए ऐसी प्रतिध्वनि यहांसे निकलती है।

यदीदं मातुर्यदि वा पितु नः परिभ्रातुः पुत्रा-श्चेतसः एन आगन्। यावन्तो अस्मान् पितरः सचन्ते तेषां सर्वेषां शिवो अस्तु मन्युः ॥
अथर्व. ६।११६।३ ॥

अर्थ-- (यदि यत् इदं एनः) यदि यह जो पाप (नः मातुः, पितुःभ्रातुः, पुत्रात् चेतसः वा) हमारी माताके पाससे,पिताके पाससे भाईके पाससे,पुत्रके पाससे अथवा मनके पाससे (परि आगत्) प्राप्त हुआ है अर्थात् इनके कारण यह पाप आया है तो (यावन्तः पितरः अस्मान् सचन्ते) जितनेंभि पितर हमारे साथ संगत हुए हुए हैं (तेषां सर्वेषां) उन सबका (मन्युः) क्रोध (शिवः अस्तु) कल्याण कारी होवे। उससे हमारा नुकसान न होने पावे।

इस मंत्र में पाप के कारण से उत्पन्न पितरों के क्रोध को शांत करके उसे कल्याण कारी बनाने की प्रार्थना है।

पितरों से मिलकर श्रेष्ठ होना।

येऽत्र पितरः पितरो येऽत्रयूयं स्थ युष्माँस्ते नु यूयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्थ ॥ अथर्व० १८।४।८६ ॥

अर्थ- (ये पितरः अत्र) ये जो अन्य पितर यहां हैं और (ये) जो (यूयं पितरः) तुम पितृगण (अत्रस्थ) यहां पर हो, (ते) वे अन्य पितर (युष्मान् अनु) तुम्हारे अनुकूल होवें और (यूयं) तुम (तेषां श्रेष्ठाः भूयास्थ) उन में श्रेष्ठ होवो।

य इह पितरो जीवा इह वयं स्मः। अस्माँस्तेऽनु वयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्म अथर्व० १८।४।८७ ॥

(ये) जो (पितरः) पितृगण (इह) यहां हैं उनके अनुग्रहसे (वयं) हम (इह) यहां (जीवाः स्मः) जीवित हैं। (ते पितरः अस्मान् अनु) वे पितर हमारे अनुकूल बने रहें। (वयं) हम (तेषां श्रेष्ठाः भूयास्म) उन में श्रेष्ठ होवें। अथवा वेह-मारे अनुकूल हों और हम उनके। दोनों मिलकर परस्पर श्रेष्ठ होवें।

इन मंत्रों में पितरों के साथ पारस्परिक अनुकूल व्यवहारोंसे श्रेष्ठ बननेका उल्लेख है।

पितरों के लिए धन, बल व आयु

दमूनाः देवः सविता वरेण्यो दधद् रत्नं दक्षं पितृभ्यः आयूंषि। पिबात् सोमं ममदेनमिष्टे परि ज्मा चित् क्रमते अस्य धर्मणि ॥
अथर्व० १।१४।४ ॥

अर्थ- (दमूनाः) दानशील (वरेण्यः) श्रेष्ठ स्वी-कार करने योग्य (सविता देवः) सूर्य देव (पितृ-भ्यः) पितरों के लिए (रत्नं) रत्न को (दक्षं) बलको और (आयूंषि) आयुको (दधत्) धारण करता हुआ (सोमं) सोमको (पिबात्) पीए। (एनं) इस सविता देवको (इष्टे) यज्ञ में सोम-पान कराके (ममत्) प्रसन्न करे। (अस्य धर्मणि) इस सविता - सूर्य के धर्म में स्थित हुई हुई(ज्मा) पृथिवी (चित्) भी (परि क्रमते) परिक्रमा कर-ती है। इस मंत्र में यह दर्शाया गया है कि सूर्य पितरों के लिए धन बल आयुको देता है। यहांपर हमें 'परि ज्मा चित् क्रमते अस्य धर्मणि' से यह भी स्पष्ट पता चलता है कि पृथिवी सूर्य के चारों ओर परिक्रमा करती है। पृथिवी के सूर्य के चारों ओर घूमने के भौगोलिक सिद्धान्त का यह मंत्र पुष्ट कर रहा है। ज्मा शब्द निघण्टु में पृथिवी वाची नामों में पठित है। देखो निघण्टु।

पितर व तृतीय ज्योति।

एतद् वो ज्योतिः पितरस्तृतीयं पञ्चौदनं ब्रह्म-णेऽजं ददाति। अजस्तमांस्यप हन्ति दूरमस्मि-ल्लोके श्रद्धधानेन दत्तः ॥ अथर्व० ९।५।११ ॥

अर्थ- (पितरः) हे पितरो ! (वः)तुह्मारे लिए (एतद् तृतीयं ज्योतिः) यह तीसरी ज्योति परमात्मा (ब्रह्मणे) ब्रह्मज्ञानार्थ (पञ्चौदनं अजं) पंचौदन वाले अर्थात् ५ भूत से बने शरीर से युक्त जन्म रहित जीवात्माको (ददाति) देता है । (श्रद्धानेन दत्तः) श्रद्धा रखने के कारण दिया हुआ (अजः) यह अज जीवात्मा (अस्मिन् लोके) इस लोक में (तमांसि) अज्ञानान्धकारों को (अपहन्ति) नष्ट करता है दूर करता ह ।

इस मंत्र में यह दर्शाया कि श्रद्धा रखने के कारण परमात्मा पितरों को ऐसी आत्मा देता है कि जो सारे अज्ञानान्धकारों को दूर करके प्रकाश का मार्ग दर्शाती हैं । यहां श्रद्धा का माहात्म्य प्रकट हो रहा है।

परेत को पितरों का जानना !

इदं पितृभ्यः प्रभरामि बर्हिर्जीवं देवेभ्य उत्तरं स्तृणामि। तदारोह पुरुष मेध्यो भवन् प्रति त्वा जानन्तु पितरः परेतम् ॥ अथर्व १८ । ४ । ५१ ॥

अर्थ- (इदं बर्हि पितृभ्यः प्रभरामि) यह कुशासन पितरों के लिए रखता हूं बिछाताहूं। (देवेभ्यः जीवं उत्तरं स्तृणामि) देवों के लिए जीवको उससे ऊंचा बिछाता हूं । (पुरुष) हे पुरुष ! (मेध्य. भवन्) पवित्र होता हुआ तू (तत् आरोह) उस पर बैठ । (परेतं त्वां पितरः प्रति जानन्तु) परेत अर्थात् परे गए हुए वा उच्चासनको प्राप्त हुए हुए तुझे पितर जानें ।

एदं बर्हिरसदो मेध्यो भूः प्रति त्वा जानन्तु पितरः परेतम्। यथा परु तन्वं संभरस्व गात्राणि ते ब्रह्मणा कल्पयामि ॥

अथर्व. १८।४।५२।

अर्थ— हे पुरुष ! (इदं बर्हिः असदः)इस कुशासन पर तू बैठा है । (मेध्यः भूः) पवित्र हुआ है । (पितरः परेतं त्वां जानन्तु) इसलिए पितर परेत हुए हुए तुझको जानें। (यथा परु तन्वं संभरस्व) जोडोंके अनुसार शरीरको भर, अर्थात् जहां जोड चाहिए वहां जोड बनाता हुआ शरीरको पूर्ण कर। मैं (ते गात्राणि) तेरे अंगोंको (ब्रह्मणा) ब्रह्मद्वारा (कल्पयामि) समर्थ बनाता हूं यानि तेरे शरीरमें ब्रह्म द्वारा शक्ति देताहूं।

उपरोक्त दोनों मंत्रों का क्या अभिप्राय है यह अभीतक हमें स्पष्ट नहीं हुआ है। अतएव इन मंत्रों का कहां विनियोग होना चाहिए इस बातका निश्चय नहीं हो सकता है । संपूर्ण सूक्तोंपर विचार करते हुए हम इन मंत्रोंपर पुनः विचारकर प्रकाश डालनेका प्रयत्न करेंगे । यहा पाठकोंके सामने विचारार्थ इनको पेशकर दिया है।

पितरोंमें सुखद रस्ता बनाना ।

इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्वं क्षेत्रात् कामदुघा म एषा । इदं धनं निदधे ब्राह्मणेषु कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः ॥

अथर्व. ११।१।२८ ॥

अर्थ— (इदं हिरण्यं) यह सोना (मे अमृतं ज्योतिः) मेरा अनश्वर प्रकाश है। (क्षेत्रात्) खेतसे उत्पन्न यह (पक्वं) पका हुआ अन्न (मे एषा कामदुघा) मेरी यह कामनाओंकी पूर्ति करनेवाली गौ है । (इदं धनं ब्राह्मणेषु निदधे) यह धन मैं ब्राह्मणोंमें स्थापित करता हूं अर्थात् उन्हें देता हूं। और इस प्रकार (पितृषु पन्थां कृण्वे) पितरोंमें रस्ता बनाता हूं (यः) जो कि रस्ता (स्वर्गः) स्वर्ग है— सुख प्रापक है।

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि ब्राह्मणोंका धन दान करनेसे पितरोंके बीचमें सुखप्रद मार्ग बनाया जा सकता है । पितरोंके बीचमें यदि सुख पूर्वक विचरण करना हो तो ब्राह्मणोंको धन दान करना चाहिए ऐसा इस मंत्रका आशय प्रतीत होता है।

बभ्रेरध्वर्यो मुखमेतद् विमृड्ढ्याज्याय लोकं कृणुहि प्रविद्वान्। घृतेन गात्रानु सर्वा विमृड्ढि कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः ॥

अथर्व. ११।१।३१ ॥

अर्थ- (अध्वर्यो) हे अध्वर्यु (बभ्रेः) पोषण करनेवाले ब्रह्मौदन के (एतत् मुखं) इस मुख को अर्थात् उस के ऊपर के छिलके को (विमृड्ढि) विशेष रूपसे साफ कर। (प्रविद्वान्) हे प्रकृष्ट ज्ञान-

वान् ! (आज्याय लोकं कृणुहि) उन चावलों में घीडालनेके लिए स्थान बना। (घृतेन सर्वाणि गात्राणि विमृड्ढि) घी द्वारा उस ब्रह्मौदनके सर्व अवयवोंको परिमार्जित कर। इस ओदन द्वारा मैं (पितृषु पन्थां कृण्वे) पितरों में मार्ग बनाता हूं (यः) जो कि मार्ग (स्वर्गः) सुख प्रापक है।

इस मंत्र में यह दर्शाया गया है कि यदि पितरों में सुख पूर्वक विचरण करना हो तो खूब घी मिश्रित चावलों (ब्रह्मौदन) का होम करना चाहिये।

मृत पितरोंका अनुगमन निषेध।

आवतस्त आवतः परावतस्त आवतः।
इहैव भव मानुगा मा पूर्वाननुगाः।
पितॄनसुं बध्नामि ते दृढम् ॥ अथर्व० ५।३०।१॥

अर्थ- (ते आवतः आवतः) तेरे समीपसे समीप और (ते परावतः) तेरे दूरसे भी (आवतः) दूर देशसे (ते असुं) तेरे प्राणको (दृढं बध्नामि) दृढता से बांधता हूं। (इह एव भव) तू यहां ही रह। (मा पूर्वान् अनुगाः) पूर्व मृत पुरुषों के पीछे मत जा अर्थात् विनष्ट मत हो। और (मा पितॄन् अनुगाः) इसी प्रकार पूर्व मृत पितरों के पीछे भी मत जा।

मा ते मनस्तत्र गान्मा तिरो भून्मा जीवेभ्यः प्रमदो मानु गाः पितॄन्। विश्वे देवा अभिरक्षन्तुत्वेह ॥ अथर्व. ८।१।७॥

अर्थ- हे आयु की कामना करनेवाले मनुष्य ! (ते मनः) तेरा मन (तत्र मा गात्) वहां मृत्यु लोक में मत जाए। (मा तिरः भूत्) और तेरा मन अन्तर्हित भी मत होवे। (मा जीवेभ्यः प्रमदः) तू जीवों के लिए अर्थात् जीवित रहने के लिए असावधान मत रह। (पितॄन् मा अनुगाः) मृत पितरों के पीछे मत जा। (विश्वे देवाः) सब देवगण (त्वा इह अभिरक्षन्तु) तेरी यहां ही रक्षा करें अर्थात् सब देव तुझे यहींपर बनाए रखें, मरने न दें।

इन उपरोक्त मंत्रों में मृत पितरों के अनुगमन करने का अर्थात् मरने के विषय में अनुगमन का निषेध किया गया है। दीर्घायु प्राप्त करने के लिए कहा गया है।

पितरोंमेंसे यक्ष्मा के दूर करने की प्रार्थना।

अङ्गादङ्गाद् वयमस्या अपयक्ष्मं निदध्मसि। तन्माप्रापत् पृथिवीं मोत देवान् दिवं मा प्रापदुर्वन्तरिक्षम् अपो मा प्रापन् मलमेतदग्ने यमं मा प्रापत् पितॄंश्च सर्वान् ॥
अथर्व० १४।२।६९॥

अर्थ- (अस्या अङ्गात् अङ्गात्) इसके प्रत्येक अंगसे (वयं यक्ष्मं नि अप दध्मसि) हम यक्ष्मको बिलकुल बाहिर निकाल देते हैं। (तत् पृथिवीं मा प्रापत्) वह यक्ष्म पृथिवी को मत प्राप्त होवे। (उत देवान् मा) और देवों को भी मत प्राप्त होवे। (दिवं मा) द्यु लोक को भी मत प्राप्त होवे। (उरु अंतरिक्षं मा) विशाल अंतरिक्ष को भी मत प्राप्त होवे। (एतत् मलं) यह यक्ष्म रूपी मैल (अपः मा प्रापत्) जलों को भी मत प्राप्त होवे। (अग्ने) हे अग्नि ! (यमं मा प्रापत्) यम को भी मत प्राप्त होवे, (च) और (सर्वान् पितॄन्) सब पितरों को भी मत प्राप्त होवे।

इस मंत्र में यक्ष्म रोग के दूर करने की तो प्रार्थना है ही पर यहां एक बात विशेष लक्ष्य में रखने जैसी है और वह यह कि यम व पितरों को यक्ष्म के न प्राप्त होने की प्रार्थना अग्नि से की गई है। इसका कारण स्पष्ट ही है। हम पहिले देख आए हैं कि अग्नि यम लोक में पितरों के पास जाती है। अतः अग्निद्वारा ही यक्ष्म रोग के वहां पहुंचने की संभावना है। अतएव अग्नि से कहा गया है कि यम व पितरों को यक्ष्म प्राप्त मत होवे।

वधूदर्श पितर।

ये पितरो वधूदर्शा इमं वहतुमागमन्।
ते अस्यै वध्वै संपत्न्यै प्रजावच्छर्म यच्छन्तु ॥
अथर्व० १४।२।७३॥

अर्थ- (ये) जो (वधूदर्शाः) वधू को देखने की इच्छा वाले (पितरः) पितृगण (इमं वहतुं)

इस रथको (आगमन्) प्राप्त हुए हैं, (ते) वे पितर (संपत्न्यै अस्यै वध्वै) उत्तम पत्नी इस वधू के लिए (प्रजावत् शर्म) संततिवाले सुख को (यच्छन्त् देवें)। अर्थात् इसे संततिजन्य सुख देवें।

जब कन्या विवाहानन्तर पति गृह को जाने लगती है तब रथमे वा अन्य वाहन में सवार होनेपर उसे जो पितर देखने आए हैं उनसे प्रार्थना की गई है कि इस वधू को उत्तम संतान देकर सुखी करो।

कन्याका सदा पितरों (श्वसुरकुल) में रहना।

भगमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव स्रजम्।
महाबुध्न इव पर्वतो ज्योक् पितृष्वास्ताम् ॥
अथर्व० १ । १४ ।१॥

अर्थ- (वृक्षात् स्रजं इव) जिस प्रकार वृक्ष से फूलों की माला ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार मैं वर (अस्याः) इस कन्या का (भगं वर्चः) ऐश्वर्यशाली तेज को मैं (आदिषि) ग्रहण करता हूं अर्थात् इस कन्या को पत्नी रूप से मैं स्वीकृत करता हूं। यह वधू (महाबुध्नः पर्वतः इव) बडे मूलवाले पर्वत की तरह (ज्योक) सदा (पितृषु आस्ताम्) पितरों में अर्थात् अपने (कन्या के) श्वसुर कुल में स्थिर रह। जिस प्रकार बडी मूलवाला पर्वत जडों के खूब जमीन के अन्दर गहरा जाने से निश्चल होता है उसी प्रकार यह निश्चल श्वसुरकुल में रहे।

एषा ते कुलपा राजन् तामु ते परि दद्मसि।
ज्योक् पितृष्वासाता आशीर्ष्णः शमोप्यात् ॥
अथर्व० १ । १४ ।३॥

अर्थ- इस मंत्र में वरके श्वसुरकुल की वर के प्रति उक्ति है। कन्या का पिता कन्यादान करता हुआ वरसे कहता है कि- (राजन्) हे राजमान वर ! (एषा) यह वधू (ते कुल पा) तेरे कुलका रक्षण करनेवाली है। (तां) इस प्रकारकी इस वधू को (ते परिदद्मसि) तुझे हम सौंपते हैं। यह कन्या (ज्योक्) सर्वदा (पितृषु आसाते) तेरे (वरके) पितरों में अर्थात् श्वसुरकुल में स्थित रहे। (आशीर्ष्णः सं ओप्यात्) सिर से लेकर सब अङ्गों में इसकी वृद्धि होती रहे अर्थात् श्वसुरकुल में यह क्षीण न होवे सर्वदा वृद्धि को प्राप्त होती रहे।

इस प्रकार इन मंत्रों में पितरों का अभिप्राय श्वसुरकुल प्रतीत होता है।

पूषाकी पितरों को प्रेरणा।

आ तत्ते दस्रमन्तुमः पूषन्नवो वृणीमहे।
येन पितॄनचोदयः ॥　　ऋ० १ । ४२ । ५॥

अर्थ- (दस्र) हे दर्शनीय वा दुष्टों के नाश करने वाले (मंतुमः) ज्ञानवान् (पूषन्) पूषा (ते तत् अवः वृणीमहे) हम तेरी उस रक्षा को चाहते हैं (येन) जिस से कि तू पितॄन् अचोदयः) पितरों को प्रेरित करता रहता है।

पूषा पितरों को अपनी रक्षा द्वारा प्रेरित करता रहता है ऐसा यहांपर ज्ञात होता है।

ब्रह्मगौके दूध पीने से पितरों में पाप

क्रूरमस्या आशसनं तृष्टं पिशितमस्यते।
क्षीरं यदस्याः पीयते तद् वै पितृषु किल्बिषम् ॥
अथर्व० ५ । १९ । ५ ॥

अर्थ—(अस्याः) इस ब्रह्मगौका (आशसनं) मारना (क्रूरं) क्रूरता का काम है। यदि (पिशितं अस्यते) उसका मांस खाया जावे तो वह (तृष्टं) प्यास लगानेवाला होता है। (अस्याः यत् क्षीरं पीयते) इसका जो पिया जाता है (तद्) वह दूध पीना (वै) निश्चय से (पितृषु किल्बिषं) पितरों में पाप पैदा करनेवाला होता है।

संपूर्ण सूक्त देखने से ब्रह्म - गौका अर्थ ब्राह्मण की जमीन वा गाय प्रतीत होता है। यदि राजा ब्राह्मण की जमीन को छीन ले वा उसपर कर लगा अथवा अन्य किसीप्रकार का अत्याचार करे उसे इससे क्या नुकसान होता है, इस का यहांपर वर्णन है। इसके अनुसार पितर शब्द से राजकर्मचारियों का ग्रहण है।

पालक अर्थमें पितर

खण्वखाई खैमखाइ मध्ये तदुरि।
वर्षं वनुध्वं पितरो मरुतां मन इच्छत ॥
अथर्व० ४ । १५ । १५॥

अर्थ- (खण्वखे, खैमखे तदुरि) हे खण्वखा, खैमखा तथा तदुरि नामक जातिवाले मण्डूको ! (वर्ष मध्ये वनुध्वं) वर्षाके बीचमें आनन्दित होओ। (पितरः) हे पालक जनो ! तुम (मरुतां मन इच्छत) वायुओंका (मनः) मनन करने योग्य ज्ञान प्राप्त करो। अर्थात् किस वायुसे कब व कैसी वृष्टि होती है इत्यादि वायु संबन्धी ज्ञानके मनन करने का प्रयत्न करो।

इस मंत्रके आध्यात्मिक अर्थमें पितर इन्द्रियोंके लिए आया प्रतीत होता है। आध्यात्मिक अर्थ इस प्रकार है-

(खण्वखे) हे इडानाडि ! (खैमखे) हे पिंगलानाडि। (तदुरि) हे ब्रह्म तक पहुंचानेवाली नाडि ! तथा (मध्ये) हे मध्यमें रहनेवाली सुषुम्नानाडि ! तुम (वर्ष वनुध्वं) ब्रह्मज्ञानसे उत्पन्न आनन्द वृष्टिसे आनन्दित हो ओ। (पितरः) हे इन्द्रिय गणो ! तुम (मनः इच्छत) मनके साथ संगत होने की इच्छा करो अर्थात् मनके साथ एकाग्र होओ, ताकि ब्रह्म ज्ञानका लाभ होसके। 'खण्वखाः कण्वं आत्मानं खनतीति खण्वखाः। खकारः छांदसः। खैमखाः खैस्थैर्येसे मन् प्रत्यय। जो स्थिरता उत्पन्न करे। तदुरी तत् ब्रह्म इयर्तीति तदुरी।

मेधाके उपासक पितर

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरुस्वाहा॥
यजुः ३२।१४॥

अर्थ- (यां मेधां) जिस बुद्धिकी (देवगणाः पितरः च) देवगण तथा पितृगण (उपासते) उपासना करते हैं, हे अग्ने ! (तया मेधया) उस मेधासे (अद्य) आज (मां) मुझे (मेधाविनं) मेधावी (कुरु) कर। (स्वाहा)।

इस मंत्रमें उस मेधाको मांगा गया है जिसकी कि पितर उपासना करते रहते हैं।

पितरोंका देवत्व लाभ

महिम्न एषां पितरश्च नेशिरे देवा देवेष्वदधुरपि क्रतुम्। सम विव्यचुरुत यान्यत्विषु रैषां तनूषु नि विविशुः पुनः॥ ऋ. १०।५६।४॥

अर्थ— (एषां महिम्नः पितरः चन ईशिरे) इन देवोंकी महिमाके पितरभी स्वामी बने अर्थात् पितरोंने देवोंकी महिमाको प्राप्त किया यानि देव बनगए। और इस प्रकार (देवाः) देव हुए हुए (देवेषु अपि क्रतुं अदधुः) देवोंमेंभी कर्म करने लगे ताकि देवत्वसे भी ऊंचे पदका लाभ हो। (उत) और (यानि अत्विषुः) जो तेज प्रकाशित हो रहे हैं वे (सम विव्यचुः) एकत्रित हुए। तथा (पुनः फिर (एषां) इन पितरोंके (तनूषु) शरीरोंमें (निविविशुः) पूर्णतया प्रविष्ट होगये।

इस मंत्रका भाव स्पष्ट नहीं होता तथापि पितरोंके देवत्व लाभका इस मंत्रसे पता चलता है।

यज्ञका पितरोंमें जाना

देवान् दिवमगन् यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु मनुष्यानन्तरिक्षमगन् यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु पितॄन् पृथिवी मगन् यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु यंकंच लोकमगन् यज्ञस्ततो मे भद्रमभूत्॥ यजुः ८।६०॥

अर्थ- (यज्ञः) यज्ञ (देवान् दिवं अगन्) देवोंको व द्युको गया है (ततः) इसकारणसे (मा द्रविणं अष्टु) मुझे धनसे व्याप्त करे अर्थात् धन मिले।

इसी प्रकार यज्ञ मनुष्य व अंतरिक्ष, पितर व पृथिवी, तथा जिस किसी लोकको गया हुआ है वहांसे मुझे धन प्राप्ति करावे।

पितरोंके लिए यज्ञ करनेसे धन लाभ होता है ऐसा यहां हमें मंत्रसे पता चल रहा है। इस मंत्रमें यज्ञके महत्व का वर्णन है।

जनक अर्थमें पितर।

ऐन्द्रः प्राणो अङ्गेऽङ्गे निदीध्यदैन्द्र उदानो अङ्गे अङ्गे निधीत। देवत्वष्टर्भूरि ते संसमेतु सलक्ष्मा यद्विषुरूपं भवाति। देवत्रा यन्तमवसे सखायोऽनु त्वा माता पितरो मदन्तु॥ यजुः ६।२०॥

अर्थ- (ऐन्द्रः प्राणः) आत्मा संबन्धी प्राण (अङ्गे अङ्गे) प्रत्येक अङ्गमें (निदीध्यत्) प्रकाशित होवे। (उदानः अङ्गे अङ्गे निधीत)

उदान वायु प्रत्येक अङ्गमें स्थित होवें। (देवः त्वष्टः) त्वष्टा देव (यत् सलक्ष्मा विषुरूपं भवाति) जो एकसा होते हुएभी विविध रूपवाला होगया है उसे (सं समेतु) भली प्रकार एकत्रित करे वा एकसा बनावे। (अवसे) रक्षाके लिए (देवत्रा यंतं त्वा) देवोंके प्रति जाते हुए तेरे (माता पितरः) माता पिता (अनु मदन्तु) प्रसन्न होवें।

पितरोंके लिए भिन्न भिन्न प्राणी।

आखुः कशः मन्थालस्ते पितृणाम्॥ यजुः २४।३८।

अर्थ- (पितृणां) पितरोंके निमित्त (ते) वे (आखुः) चूहा, (कशः) छुछुंदर तथा (मान्थालः छिपकली होवें।

इस मंत्रका क्या अभिप्राय है यह कुछ पता नहीं चलता। महर्षि स्वामी दयानन्द जीका भाष्य भी कुछ प्रकाश नहीं डालता। पाठक वर्ग इस पर विचार करें। यजुर्वेदके मंत्र प्रायः करके इसी ढंगके अस्पष्ट हैं।

विषाणका ओषधि व पितर

रुद्रस्य मूत्रमस्यमृतस्य नाभिः। विशाणका नाम वा असि पितृणां मूलादुत्थिता वातीकृत-नाशिनी॥ अथर्व० ६।४४।३॥

इस मंत्रमें विषाणका नामक ओषधिका वर्णन है। हे ओषधि! तू (रुद्रस्य मूत्रं असि) भयंकर रुलाने वाले रोगसे छुडाने वाली है। अर्थात् तेरे सेवनसे भयंकर रोगका भी शमन होजाता है। तूं (अमृतस्य नाभिः) अमरताकी जननी है। तेरे सेवनसे अमरत्व प्राप्त हो सकता है। (विषाणका नाम असि) तू विषाणका नामवाली है। तू (पितृणां मूलात् उत्थिता) पितरोंके मूलसे प्रकट हुई हुई है तथा तू (वातीकृत-नाशिनी) वायुसे उत्पन्न होनेवाले रोगोंका नाश करनेवाली है।

इस मंत्र में विषाणका ओषधि को पितरों के मूल से उत्पन्न हुई हुई बताया गया है। पितरों के मूल से उत्पन्न होने का क्या अभिप्राय है तथा ये पितर कौन हैं जिनके कि 'मूल से इस ओषधिकी उत्पत्ति होती है इत्यादि वैद्यों के खोज करनेका विषय है। संभव है वैद्यगण इस पर विशेष प्रकाश डाल सकें। अतः यदि वैद्यगण इस विषय में सहायता करेंगे तो उत्तम होगा।

स्वर्ग-वणन।

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः। अश्लोणा अङ्गैरहुता स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान्॥ अथर्व० ६।१२०।३॥

अर्थ- (यत्र) जहांपर (सुहार्दः सुकृतः) साधु हृदयवाले श्रेष्ठ कर्मों के करनेवाले (स्वायाः तन्वः रोगं विहाय) अपने शरीर के रोग का त्याग करके अर्थात् रोग रहित शरीर से युक्त हुए हुए (मदन्ति) आनन्द भोगते हैं (तत्र स्वर्गे) वहां पर स्वर्ग में (अश्लोणाः) अपङ्ग न होते हुए (अङ्गैः अह्रुताः) शरीरावयोंसे कुटिल गति वाले न होते हुए अर्थात् अङ्गादि के ढेढ न होनेसे सुन्दर गति करते हुए (पितरौ) माता पिता तथा (पुत्रान्) पुत्रों को देखें।

इस मंत्र में स्वर्ग का वर्णन है। जहां पर नीरोगी होते हुए मनुष्य सुखी रहते हैं वह स्वर्ग है, ऐसा मंत्र का आशय प्रतीत होता है।

पितरों का धन आदि देना।

यन्माहुतमहुतमाजगाम दत्तं पितृभिरनुमतं मनुष्यैः। यस्मान्मे मन उदिव रारजीत्यग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु॥
अथर्व० ६।७१।२॥

अर्थ- (यत्) जो प्रथम मंत्रोक्त गाय, घोडा, सोना आदि धन (हुतं) दिया हुआ अथवा (अहुतं) किसी से न दिया हुआ स्वयं कमाया हुआ और जो (पितृभिः दत्तं) पितरों से दिया हुआ जिसकी कि (मनुष्यैः अनुमतं) मनुष्यों ने अनुमति दी है अर्थात् जो साधिकार न्याय से (मा) मुझे (आजगाम) प्राप्त हुआ है, और (यस्मात्) जिस धन से (मे मनः उत् इव रारजीति) मेरा मन उदय को प्राप्त हुआ हुआ अत्यंत शोभायमान हो रहा है (तत्) उस धन को (होता अग्निः) दाता अग्नि (सुहुतं) उत्तमतासे दिया हुआ बनावे। अर्थात् उसको मैं सन्मार्ग में लगाऊं ऐसी मुझे

सन्मति प्रदान करे।

व्रात्य व पिता,पितामह आदि

स सर्वानन्तर्देशाननु व्यचलत् ॥
अथर्व० १५ । ६ । २४

तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चानुव्यचलन् ॥ अथर्व० १५ । ६ । २५ ॥

प्रजापतेश्च वै स परमेष्ठिनश्च पितुश्च पितामहस्य च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥
अथर्व० १५।६।२६॥

अर्थ— (सः) उस व्रात्यने (सर्वान् अन्तर्देशान्) सब भीतरी देशों में (अनुव्यचलत्) विचरण किया ॥ १५।६।२४ ॥ (तं) उस व्रात्यके (अनु) पीछे (प्रजापतिः च परमेष्ठी च पिता च पितामहः च) प्रजापति अर्थात् राजा परमेष्ठी यानि ऊंचेपदवाले विद्वान् वा संन्यासी पिता तथा पितामह विचरने लगे ॥ १५।६।२५ ॥ (यः) जो व्यक्ति (एवं) इस प्रकार अर्थात् द्वितीय मंत्र (१५६।२५) में कहे अनुसार (वेद) जानता है वह प्रजापति, परमेष्ठी, पिता तथा पितामहका (प्रियं धाम) प्रिय॰ घर बनता है अर्थात् उसीके घरमें यह पूजनीय वर्ग आता है दूसरेके घरमें नहीं।

व्रात्य अर्थात् अतिथिका महत्व यहां दिखाया गया है। अतिथिके पीछे पीछे ये सब घूमते रहते हैं ताकि अतिथि इनके घरको अपने अगमनसे पवित्र करे।

स महिमा सद्रुर्भूत्वान्तं पृथिव्या अगच्छत् स समुद्रो भवत् ॥ अथर्व. १५।७।१ ॥

तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चापश्च श्रद्धा च वर्षं भूत्वानुव्यवर्तयन्त ॥
अथर्व० १५।७।२ ॥

अर्थ— (सः) उस व्रात्यने (महिमा) अपनी महिमासे (सद्रुः भूत्वा) वेगवान् होकर (पृथिव्याः अन्तं अगच्छत्) पृथिवीके अन्तको प्राप्त किया। और (सः) वह व्रात्य (समुद्रः अभवत्) समुद्र हुआ ॥ १५।७।१ ॥ (तं) उस व्रात्यके (अनु) पीछे पीछे प्रजापति, परमेष्ठी, पिता, पितामह, (आपः) श्रेष्ठ कर्म, श्रद्धा (वर्षं भूत्वा) वर्ष बनकर (व्यवर्तयन्त) वर्तमान हुए वा वर्ताव करने लगे।

यहां परभी व्रात्यकी महिमा गाई गई है। इसमंत्रका स्पष्टीकरण करना कठिन है। आसपासके ५-६ सूक्त व्रात्यके संबन्धमें हैं, उन सबपर विचार करनेसे संभव है इस मंत्रपर विशेष प्रकाश डाला जासके।

पितरोंका जल्पिके विषयमें अज्ञान

नैतां विदुः पितरो नोत देवाः येषां जल्पिश्चरत्यन्तरेदम् । त्रिते स्वप्नमदधुराप्त्ये नर आदित्यासो वरुणेनानुशिष्टाः॥ अथर्व. १९।५६।४॥

अर्थ- (येषां) जिन ३३ देवोंकी (जल्पिः) दुःस्वप्नकी कारण भूत जो यह वाणी (इदं अन्तर) इस जगत्के बीचमें (चरति) विचरण कर रही है (एतां) इस वाणीको (न पितरः विदुः न उत देवाः) न तो पितर ही जानते हैं और नहीं देव। (वरुणेन अनुशिष्टाः) वरुण द्वारा भली प्रकार उपदेश किए गए (आदित्यासः नरः) आदित्य नरोंने (स्वप्नं) स्वप्नका (आप्त्ये त्रिते) आप्त्य त्रितमें (अदधुः) स्थापित किया। आप्त्य त्रित क्या चीज है यह जबतक आप्त्य त्रितवाले सब मंत्रोंको न देखा जाए तब तक कहना कठिन है यहांपर इस पर विशेष विचार करना भी प्राकरणान्तर हो जाएगा।

इस मंत्रसे प्रकृत विषयमें इतना ज्ञात होता है कि पितर जल्पि को नहीं जानते। इस मंत्रका पूर्णतया स्पष्टीकरण करना कठिन है क्यों कि इस मंत्र विषयक खोज करनी अभी अवशिष्ट है।

नराशंस पितर।

.... पितरो नाराशंसाः॥ यजुः ८।५॥

(नाराशंसाः) नर जिनकी प्रशंसा करत हैं वे (पितरः) पितर नाराशंस पितर कहलाते हैं।

पिता-पितामह आदि पितर।

जीवं रुदन्ति विमयन्ते अध्वरे दीर्घामनु प्रसितिं दीधियुर्नरः। वामं पितृभ्यो य इदं समेरिरे मनः पतिभ्यो जनयः परिष्वजे ॥
ऋ० १० । ४० । १० ॥

यह मंत्र थोडेसे पाठ भेदके साथ अथर्व वेदमें है।

जीवं रुदन्ति विनयन्त्यध्वरं दीर्घामनु प्रसितिं दीध्युर्नरः। वामं पितृभ्यो य इदं समीरिरे मयः पतिभ्यो जनयः परिष्वजे ॥

अथर्व. १४ । १ । ४६ ॥

अर्थ- (नरः) जो नर (जीवं रुदन्ति) पत्नियोंके जीवन के उद्देश्य से रोते हैं अर्थात् जो स्त्रियों की बहुत परवाह करते हैं, उनकी दुर्दशापर रोते हैं तथा जो (अध्वरे विनयन्ते) यज्ञमें उन स्त्रियों को प्रविष्ट कराते हैं अर्थात् उनके साथ यज्ञ में बैठते हैं अथवा जो स्त्रियों की हिंसा नहीं करते, और जो (दीर्घां प्रसितिं) भुजाओंका लंबा लंबा आलिंगन स्त्रियोंको (अनुदीधियुः) देते हैं अर्थात् उनसे खूब प्रेम करते हैं, और (ये) जो (पितृभ्यः) पितरों के लिए (वामं) सुन्दर संतान को (समेरिरे) पैदा करते हैं, ऐसे (पतिभ्यः) पतियोंके लिए (जनयः) पत्नियां (परिष्वजे) आलिंगन के लिए (मयः) सुख देती हैं अर्थात् ऐसे पतियों को ही वास्तव में पत्नी सुख मिलता है।

इस मंत्रमें पत्नी सुख अर्थात् गार्हस्थ्य सुख किन॰ को मिलता है यह उत्तमतया दर्शाया गया है। पितरों के लिए संतानोत्पत्ति करने व यज्ञमें पत्नीके बैठाने का भी यहां निर्देश है।

यम।

अबतक के प्रकरणों में पितरों का विषय था वह प्रायः समाप्त हुआ है। अब हम आगे के प्रकरणों में यम पर विचार करेंगे। यम विषयक मंत्रों के हम दो विभाग करेंगे। प्रथम विभाग में उन मंत्रों का उल्लेख होगा। जिनमें यमके कोई खास विशेषण प्रयुक्त हुए हुए न होंगे। द्वितीय विभागमें विशेषण विशिष्ट यम होगा। विशेषण विशिष्ट यम वाले मंत्रों में यम की उत्पत्ति स्थिति आदि विषयों में कुछ प्रकाश डालने में सहायक हो सकेंगे ऐसा प्रतीत होता है। द्वितीय विभाग के शीर्षक का नाम ' वैवस्वत यम' रखेंगे क्योंकि वैवस्वत विशेषण ही प्रायः यमके लिए प्रयुक्त हुआ हुआ मिलता है।

प्राणापहारी यम.

यम मृत्युकी अधिष्ठात्री देवता है। प्राणियों के जीवन के अपहरण का कार्य यम करता है। मृत्यु यमका ही दूत है यह हमें आगे पता चलेगा। प्राणियोंके मारनेका काम यम करता है यह निम्न मंत्रों से स्पष्ट हो रहा है।

यदुलूको वदति मोघमेतद् यत्कपोतः पदमग्नौ कृणोति। यस्य दूतः प्रहित एष एतत्तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥ऋ० १०।१६ ५।४ ॥

अर्थ- (उलूकः यत् वदति)उल्लू जो अशुभ बोलता है (एतत्) यह उसका बोला हुआ (मोघं) निष्फल हो, अर्थात् इस उल्लूने जिस आनेवाली आपत्तिकी सूचना दी है वह निष्फल होवे। (कपोतः) और कबूतर (अग्नौ यत् पदं कृणोति) अग्निमें जो पैर करता है अर्थात् पैरसे अग्नि सेकता है वह भी निष्फल हो। इस अपशकुन से सूचित आपत्ति का भी निराकरण हो। (एषः) यह उल्लू वा कबूतर (यस्य प्रहितः दूतः) जिसका भेजा हुआ दूत है उस (मृत्यवे यमाय) मारनेवाले यम के लिए (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे।

इस मंत्र में उल्लु के बोलने वा कबूतर के पैर से अग्नि सेकनेआदि अपशकुन से उत्पन्न आपत्ति निवारण की प्रार्थना है। अथर्व वेद सू० ६ मंत्र २७, २८ तथा २९ में भी ऐसा ही वर्णन मिलता है। पाठक वहां देख सकते हैं, ऐसे अपशकुन मृत्यु की संभावना को सूचित करते हैं, ऐसा जान पडता है। अतएव इन अपशकुनोंके करनेवालों को यमका दूत कह कर पुकारा गया है। शकुन व अपशकुन संबन्धी वेदमंत्र हैं यह पाठकों को लक्ष्य में रखना चाहिए। हिन्दुओं में शकुन अप॰ शकुन का जो रिवाज है उस का मूल वेद ही है ऐसा कहना अनुचित न होगा। अस्तु, यहां यम उसी अर्थ में है जिस अर्थ में कि वह प्रसिद्ध है।

यः प्रथमः प्रवतमाससाद बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानः। योऽस्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदस्तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥

अथर्व० ६ । २८ । ३ ॥

अर्थ- (यः) जिसे यमने (अनुपस्पशानः) खोज करते हुए (बहुभ्यः प्रथमः) बहुतोंसे पहिले होकर (प्रवतं पन्थां आससाद) प्रकृष्ट मार्ग को

प्राप्त किया तथा (यः) जो (अस्य द्विपदः) इस दोपैरोंवाले मनुष्य जगत् का व (अस्य चतुष्पदः) इस चारपैरोंवाले पशु जगत् का (ईशे) स्वामी है (तस्मै) उस (मृत्यवे यमाय) मृत्यु करनेवाले यम के लिए (नमः अस्तु) नमस्कार होवे ।

इस मंत्र के पूर्वार्धका भाव पता नहीं चलता। अस्तु, तथापि हमारा अभिप्राय यम से है। यहां पर भी यम उसी अर्थ में है जिस अर्थ में कि पूर्व मंत्र-में प्रयुक्त हुआ हुआ है।

नमोऽस्तु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयान् वि-
चृता बन्धपाशान् । यमो मह्यं पुनरित् त्वां
ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥
अथर्व० ६ । ६३ । २ ॥

अर्थ- हे (तिग्मतेजः निर्ऋते) हे तेज नष्ट करने-वाली निर्ऋति ! (ते नमः अस्तु) तेरे लिए नम-स्कार है ! (अयस्मयान् बन्धपाशान्) लोहे की बनी हुई बेडियों को(विचृत)खोलदे काटदे। (यमः)यमने (त्वां) तुझ (मह्यं)मेरे लिए (पुनःइत्) फिर भी (ददाति) दिया ह अर्थात् पुनः यमने मुझको तुझे सौंपा है। (तस्मै) उस (मृत्यवे यमाय) प्राणापहरण करनेवाले यम के लिए (नमः अस्तु) नमस्कार होवे।

तिग्म तेज- 'तिग गतौ हिंसायांच' से हिंसा अर्थ में तिग शब्द बनानेपर इसका अर्थ होगा कि जो तेज का नाश करे वह तिग्मतेज ।

निऋति का अर्थ है कष्ट, दुःख, अनिष्ट।

यम यहां पर भी उपरोक्त अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ हुआ है।

एवोष्वस्मान् निर्ऋते नेहा त्वमयस्मयान् वि-
चृता बन्धपाशान् । यमो मह्यं पुनरित् त्वा
ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥
अथर्व० ६ । ८४ । ३ ॥

अर्थ-(निर्ऋते) हे निर्ऋति ! (त्वं) तू (अनेहा)न मारनेवाली होती हुई(अस्मान्) हमारे (एवो) उसी पूर्वोक्त प्रकारसे (अयस्मयान्)लोहमय लोह के बने हुए(बन्ध पाशान्) बेडियों को(विचृत)खोलदे काट-दे (यमः त्वा पुनः इत्)यमने तुझको फिर भी मह्यं ददाति) मुझे सौंपा है। (तस्मै मृत्यवे यमाय) उस प्राणापहरण करने वाले यम के लिए (नमः अस्तु) नमस्कार होवे ।

'यमो मह्यं पुनरित् त्वां ददाति' का भाव पता नहीं चलता। इसपर पाठक आशा है विचार कर किसी परिणामपर पहुंचेंगे ।

मा वो मृगो न यवसे जरिता भूदजोष्यः ।
पथा यमस्य गादुप ॥ ऋ० १ । ३८ । ५ ॥

अर्थ- हे मरुतो ! (यवसे मृगः न) जिस प्रकार पशु घास आदि भक्ष्य पदार्थोंसे पृथक् नहीं होता अर्थात् सृष्टि में उसे जैसे सदा घास आदि भक्ष्य पदार्थ स्वतंत्रासे मिलते रहते हैं, उसी प्रकार (वः जरिता)तुम्हारी स्तुति करनेवाला (अजोष्यः)अप्री-तिकर अथवा असेवनीय अर्थात् उपभोग सामग्री की प्राप्तिसे रहित (मा) मत होवे। उपासकको भी मृग की तरह स्वतंत्रतासे उपभोग सामग्री प्राप्त होती रहे । और वह उपासक (यमस्य पथा)यम के मार्ग से (मा उपगात्)मत जावे यानि शीघ्र मृत्युको प्राप्त मत होवे ।

इस मंत्र में भी स्पष्ट रूपसे प्राणापहरण करने-वाले यम का ही उल्लेख है।

देवेभ्यः कमवृणीत मृत्युं प्रजायै किममृतं नावृ-
णीत । बृहस्पतिं यज्ञमकृण्वत ऋषिं प्रियां यम-
स्तन्वं प्रारिरेचीत् ॥ ऋ० १० । १३ । ४ ॥

इस मंत्र का उत्तरार्ध थोडे से पाठभेद के साथ अथर्व वेद में इस प्रकार से आया है ।-

बृहस्पतिर्यज्ञमतनुत ऋषिः प्रियां यमस्तन्वं
मा रिरेच ॥ अथर्व- १८।३।४१ ॥

अर्थ- (देवेभ्यः) देवोंके लिए (कं मृत्युं) किस मृत्युको (अवृणीत) स्वीकृत किया है अर्थात् देवोंके लिए मृत्यु कौनसी है? (प्रजायै) उत्पन्न होने-वाली मनुष्यादि संतति के लिए (किं अमृतं न अवृणत) क्यों अमरता स्वीकृत नहीं की ? अर्थात् प्रजाको अमर क्यों नहीं बनाया? मनुष्योंने (बृहस्पतिं ऋषिं) बृहस्पति ऋषिको अमरता प्राप्तिके लिए (यज्ञं अकृण्वत) यज्ञ बनाया, तोभी (यमः) यमने उनके(प्रियां तनूं) प्रिय शरीरको छीन लिया अर्थात् तोभी उन्हें अमरता का लाभ न हुआ । अथवा अथर्व वेदके पाठभेदानुसार इस मंत्रका अर्थ इस प्रकारभी

हो सकता है-

(देवेभ्यः कं मृत्युं न अवृणीत) देवोंमेंसे कौन मरता न था ? अर्थात् देवभी सब मरते थे। तब (बृहस्पतिः ऋषिः यज्ञं अतनुत) देवोंमेंसे बृहस्पति ऋषिने अमरताकी प्राप्तिके लिए यज्ञ किया और देवों के लिए (अमृतं अवृणीत) अमरताको प्राप्त किया पर (प्रजायै) प्रजाके लिए (किं अपि अमृतं) कोईभी अमरता न प्राप्त की अतएव (यमः) प्राणोंके अपहरण करनेवाला यम प्रजाओंसे (प्रियां तन्वं) उनकी प्यारी देह (प्रारिरेचीत्) छीन लेता है अर्थात् प्रजाकी मृत्यु होती है।

यहां पर आलंकारिक रूपसे देवोंकी अमरता व मनुष्योंकी नश्वरता का वर्णन किया गया है।

ये दक्षिणतो जुह्वति जातवेदो दक्षिणाया दिशोऽभि दासन्त्यस्मान्। यममृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान् प्रतिसरेण हन्मि॥ अथर्व. ४।४०।२॥

अर्थ- (हे जातवेदः) हे जातवेद!(ये) जो शत्रु (दक्षिणतः) दाहिनी ओरसे (जुह्वति) यज्ञ करके हमारे पर आक्रमण करते हैं और जो (दक्षिणायाः दिशः) दक्षिण दिशासे(अस्मान् अभिदासन्ति) हमें दास बनानेके लिए आक्रमण करते हैं (ते) वे शत्रु (यमं ऋत्वा) यमको प्राप्त करके (पराञ्चः) पीठ मोडकर भागते हुए (व्यथन्तां) व्यथित होवें अर्थात् उनका दुर्दशा पूर्वक नाश होवे। (एनान्) इन शत्रुओंको मैं (प्रतिसरेण) प्रति सरसे (हन्मि) मारता हूं।

प्रतिसर- सायणाचार्य ने इसका अर्थ किया है कि जिससे आभिचारिक कर्मका निवारण हो। यह किस अस्त्र वा शस्त्रका नाम है यह कहना कठिन है।

रुद्रो वो ग्रीवा अशरैत् पिशाचाः पृष्टीर्वोऽपि शृणातु यातुधानाः। वीरुद् वो विश्वतो वीर्या यमेन समजीगमत्॥ अथर्व. ६।३२।२॥

अर्थ-(पिशाचाः)हे पिशाचो! (वः ग्रीवाः)तुह्मारी गर्दनोंको(रुद्रः)रुद्रने(अशरैत्) काट डाला है।(यातुधानाः)हे पीडा देनेवालो! (वः पृष्टीः अपि) तुह्मारी पसलियां भी वह रुद्र(शृणातु)काट डाले। (विश्वतः वीर्या वीरुद्)सम्पूर्ण तथा वीर्यसे युक्त ओषधि(वः) तुम्हें (यमेन सं अजीगमत्) यमके साथ भली भांति संयुक्त करे अर्थात् मार डाले।

इस मंत्रमें शत्रु विनाशार्थ ज़हरी औषधियोंके प्रयोग करनेका निर्देश है। यमका अर्थ यहां अत्यन्त स्पष्ट है।

यमो मृत्युरघमारो निर्ऋथो बभ्रुः शर्वोऽस्ता नीलशिखण्डः। देवजनाः सेनयोत्तस्थिवांसस्ते अस्माकं परिवृञ्जन्तु वीरान्

अथर्व० ६।९३।१।

अर्थ- (यमः)यम,(मृत्युः)मृत्यु,(अघमारः) पापसे वा पाप के कारण मारनेवाला, (निर्ऋथः) निरन्तर पीडा देनेवाला,(बभ्रुः)पालक,(शर्वः)हिंसक(अस्ता) उठाकर फैंक देनेवाला,(नील शिखण्ड)नील शिखण्ड ते उपरोक्त (देवजनाः) तथा देवजन मिलकरके (सेनया उत्तस्थिवांसः)सेना द्वारा आक्रमण के लिए तैयारहुए हुए (अस्माकं वीरान्)हमारे वीर सैनिकोंको (परिवृञ्जन्तु) छोड देवें अर्थात् लडाई में हमारे सैनिकों का विनाश न हो, अपितु उपरोक्त सब शत्रु सैन्यका विनाश करें। यहां पर भी यम की गिनती मारने वालों में की गई है।

ज्येष्ठघ्न्यां जातो विचृतोर्यमस्य मूलबर्हणात् परि पाह्येनम्। अत्येनं नेषद् दुरितानि विश्वा दीर्घायुत्वाय शतशारदाय॥ अथर्व० ६।११०।२॥

अर्थ- (ज्येष्ठघ्न्यां जातः) ज्येष्ठघ्नीमें पैदा हुए हुए तथा (विचृतोः) विचृत् में पैदा हुए हुए इस कुमारकी (यमस्य मूलबर्हणात्)यम के मुलोच्छेदन से हे अग्नि! (परि पाहि) रक्षा कर। इसे मरनेसे बचा। (एनं) इस पुत्र को (विश्वानि दुरितानि) सर्व पापों विघ्नों से (अति) बचाकर (शतशारदाय दीर्घायुत्वाय) सौ वर्ष की दीर्घायु के लिए (नेषत्) लेचल। इसे सौ वर्ष की पूर्ण दीर्घायु प्रप्त होवे।

ज्येष्ठघ्नी- ज्येष्ठा नामक नक्षत्रमें उत्पन्न संतान ज्येष्ठका नाश करती है। इस विषयमें- तैत्तिरीय ब्राह्मण का निम्न वचन है- 'ज्येष्ठ एषां अवधिष्मेति तज्जेष्ठघ्नी'। तै० ब्रा० १।५।२।८॥

विचृत्- हिंसक स्वभाववाले मूल नक्षत्र का नाम है। इसमें पैदा हुई हुई संतान नष्ट हो जाती है। इसमें निम्न तै० ब्रा० का वचन है- 'मूलं एषां

अवृक्षामेति तन्मूलबर्हिणी ' ॥ तै० ब्रा० १।५।२।८

यहांपर यम का जो संततिका मूलोच्छेदन अर्थात् जडसे नाश करना है उससे बचानेकी प्रार्थना है। एवं यम यहांपर विनाश करने के अर्थमें ही प्रयुक्त है।

> विवस्वान् नो अमृतत्वे दधातु परैतु मृत्यु रमृतं न एतु । इमान् रक्षतु पुरुषाना जरिम्णो मोष्वेषामसवो यमं गुः ॥
>
> अथर्व० १८।३।६२

अर्थ- (नः) हमें (विवस्वान् अमृतत्वे) विवस्वान् सूर्य अमरतामें (दधातु) स्थापित करे। (मृत्युः परएतु) मृत्यु दूर भाग जाए। (अमृतं नः एतु) हमें अमरत्व प्राप्त होवे। (इमान् पुरुषान्) इन पुरुषोंकी (विवस्वान्) सूर्य (जरिम्णः आरक्षतु) बुढापेतक रक्षा करे। (एषां असवः मो यमं गुः) इनके प्राण यमको मत जावें।

इस प्रकार इन मंत्रोंके अवलोकनसे यम एक नाशक शक्ति है, यह प्राणियोंके प्राण हरण करनेवाला है यह हमें स्पष्ट रूपसे पता चलता है। यम अन्य अर्थों में भी वेदों में प्रयुक्त है जैसा कि हम आगे चल कर दिखायंगे भी, पर इसके साथ साथ यम नाश करने के अर्थ में भी प्रयुक्त है। इसीको हम यूंभी कह सकते हैं कि प्राणियों को प्राण हरण करने के महकमे के अधिकारी का नाम यम है। हम आगे चलकर देखेंगे कि यम इस महकमेका राजा है। इसकी बाकायदा प्रजा है, इसका लोक है, इसके दूत हैं इत्यादि।

आश्विनौ व यम

> वीळुपत्मभिराशुहेमभिर्वा देवानां वा जूतिभिः शाशदाना। तद्रासभो नासत्या सहस्रमाजा यमस्य प्रधने जिगाय ॥
>
> ऋ० १।११६।२

अर्थ- हे (शाशदाना) चीरा फाडी करनेवाले, (नासत्या) अश्विनौ ! (वीळुपत्मभिः) बलसे गिरनेवाले अर्थात् शक्तिशाली, (आशुहेमभिः) शीघ्र गामी घोडोंसे (वा) अथवा (देवानां जूतिभिः) देवोंकी प्रेरणाओंसे (तत् रासभः) उस रासभ अर्थात् गर्दभ ने जो कि तुम्हारी अश्विनौकी (सवारी है) (यमस्य) यम के (प्रधने आजौ) जिसमें बहुत धनकी प्राप्ति होती है ऐसे संग्राममें (सहस्रं) हजारोंको जीत लिया।

इस मंत्रमें अश्विनौ व यमकी लडाई का आलंकारिक वर्णन है। यम मारनेवाला है, वह अश्विनौ देवोंके वैद्य होनेसे जीलानेवाल हैं। यहांपर यमका पराजय व अश्विनौके रासभकी जीतका वर्णन है।

शाशदाना- शद्लृशातने से यह शब्द बना है। इसका अर्थ चीराफाडी करनेवाले अर्थात् Surgery के जानने वाले।

रासभ- गर्दभ, गधा। यह अश्विनौ की सवारी है। देखो निघण्टु १।१५

> अमुत्र भूयादध यद् यमस्य बृहस्पते अभिशस्तेरमुञ्चः। प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्माद्देवानामग्ने भिषजा शचीभिः ॥
>
> यजुः २७।९ अथर्व० ७।५३।१

अर्थ- (बृहस्पते) हे बृहस्पति! (यमस्य अमुत्र भूयात् अभिशस्तेः) इस परलोक में यमके कष्टसे (अमुञ्चः) हमें छुडा अर्थात् यम हमें मारने न पावे। (अग्ने) हे अग्नि! (देवानां भिषजा अश्विना) देवोंके वैद्य अश्विनौ (शचीभिः) अपनी शक्तियों से-सामर्थ्यों से (अस्मत् मृत्युं) हमारी मृत्यु को (प्रत्यौहतां) दूर करें।

आश्विनौ मृत्यु दूर करने में समर्थ हैं ऐसा यहां पर व्यक्त होता है। यम की हिंसा से बचाने के लिए प्रार्थना की गई है।

इस प्रकार अश्विनौ का जिस यम से मुकाबला पडता है वह भी यम वही है जो हम ऊपर दर्शा आए हैं। उपरोक्त यम की ही पुष्टि इन मंत्रों से हो रही है।

विष्टारी ओदन व यम

> विष्टारिणं ओदनं ये पचन्ति नैनानवर्तिः सचते कदाचन। आस्ते यम उपयाति देवान्त्सं गन्धर्वैर्मदते सोम्येभिः ॥ अथर्व० ४।३४।३॥

अर्थ— (ये) जो (विष्टारिणं ओदनं) विस्तार वाले अर्थात् फैले हुए ओदन को (पचन्ति) पकाते हैं, (एनान्) उनको (अवर्तिः) दरिद्रता (कदाचन) कभी भी (न सचते) प्राप्त नहीं होती अर्थात् वे कभी भी गरीब नहीं होते। वह ओदन पाचक (यमे आस्ते) यममें स्थित होता है, (देवान् उपयाति) देवों को प्राप्त होता है और (सोम्येभिः गन्धर्वैः) सोम्य गंधर्वों के साथ (संमदते) आनन्दित होता है।

विष्टारी ओदन पाचक की यम में स्थिति होती है ऐसा यहां दर्शा गया है।

एवं इस मंत्रमें विष्टारी ओदन की महिमा का वर्णन किया गया है। यहां यम का अर्थ योगशास्त्रोक्त अहिंसादि षड्यम प्रतीत होता है। परन्तु इससे अगले मंत्र अर्थात् ४। ३४। ४ में यम उपरोक्त अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ हुआ प्रतीत होता है। वह मंत्र इस प्रकार है—

विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनान् यमः परि मुष्णाति रेतः। रथीह भूत्वा रथयान ईयते पक्षी ह भूत्वाति दिवः समेति ॥

अथर्व० ४। ३४। ४॥

अर्थ- (ये) जो (विष्टारिणं ओदनं पचन्ति) विस्तृत ओदन को पकाते हैं (एनान् रेतः यमः न परिमुष्णाति) उनका वीर्य-सामर्थ्य यम अपहरण नहीं करता। (ह) निश्चयसे वह ओदन पाचक (रथी भूत्वा) रथ पर सवार होकर (रथयाने) रथ से जाने योग्य अर्थात् उत्तम मार्ग में (ईयते) विचरण करता है। अर्थात् वह रथादि यानों से संपन्न हुआ हुआ सर्वत्र विचरण करता है। (पक्षी भूत्वा) पक्ष-पंखों वाला होकर अर्थात् विमानादि वायुयानों में सवार होकर (दिवः समेति) द्युलोक में विचरण करता है। वह आकाश भूमि आदि सर्वत्र स्थानों में अव्याहत गति से विचरण कर सकता है। उसके जाने के लिए कहीं भी रोक टोक नहीं।

यम जो सब का सामर्थ्य हरण कर लेता है वह भी इसका वीर्य नहीं हरता। इस प्रकार इन दोनों मंत्रों में विष्टारी ओदन की महिमा गाई गई है। यम को भी इसके पाचक के सामने हार माननी पडती है ऐसा इस सारे का अभिप्राय व्यक्त होता है।

विष्टारी ओदन-विष्टारी का अर्थ है विस्तारवाला अर्थात् जिसका परिणाम बडा विस्तृत है। ओदन शब्द यहांपर अन्न का उपलक्षण है। विष्टारी यज्ञ ओदन से किया जाता है। इस अन्नदान यज्ञ की महिमा इस सूक्त में दर्शाई गई है।

यम का कर्ता अग्नि

अयं यो होता किरु स यमस्य कमप्यूहे यत्स-मञ्जन्ति देवाः। अहरहर्जायते मासि मास्यथा देवा दधिरे हव्यवाहम्॥ ऋ० १०। ५२। ३॥

अर्थ- (अयं यः होता) यह जो दान-आदान करनेवाली अग्नि है (स) वह (यमस्य किः) यमकी कर्ता है। वह (कं अपि ऊहे) अन्नका भी वहन करती है (यत्) जिस अन्न को (देवाः समञ्जन्ति) देवलोक खाते हैं। यह अग्नि (अहः अहः जायते), प्रतिदिन हवन के समय उत्पन्न होती है अर्थात् इसे प्रज्वलित किया जाता है। और यह (मासि मासि) प्रत्येक मासमें वा प्रत्येक पक्षमें मासिक व पाक्षिक यज्ञमें प्रकट होती है। (अथ) और (देवाः) देवगण (हव्यवाहं) हव्य का वहन करनेवाली इस अग्नि को (दधिरे) स्थापित करते हैं।

इस मंत्रमें अग्नि को यम की करनेवाली बताया गया है। यहांपर यम का अर्थ वायु भी हो सकता है क्यों कि अग्नि वायु को शुद्ध करती है। प्रचण्ड अग्नि की उद्दीप्त होनेपर हवा खूब जोर से चलने लगती है।

इसके अतिरिक्त इस मंत्रसे यह भी पता चलता चलता है कि दैनिक, पाक्षिक तथा मासिक य[ज्ञ] करने चाहिए।

क = अन्न। मास = मास तथा पक्ष।

यमकी बेडी।

मुञ्चन्तु मा शपथ्यादथो वरुण्यादुत।
अथो यमस्य पड्वीशात् सर्वस्माद्देवकिल्बिषात्।
॥ ऋ० १०।९७।१६ ॥ यजुः १२।९० ॥
अथर्व० ६।९६।२ ॥ तथा ७।११२।२ ॥

अर्थ- (मा) मुझे औषधियां (शपथ्यात्) शाप देनेसे होनेवाले पापसे (मुञ्चन्तु) छुडावें। (अथ उत) और (वरुण्यात्) वरुण संबन्धी किए गए पापसे छुडावें। (अथ) और (यमस्य) यमकी (पड्वीशात्) पैरोंके बडियोंसे छुडावें। (सर्वस्मात् देवकिल्बिषात्) सभी देवोंके संबन्धी पापोंसे औषधियां मुझे छुडावें। पड्वीश- पाद बंधन शृंखला= पैरोंकी बेडी।

> उत् त्वाहार्षं पञ्च शलादथो दशशलादुत।
> अथो यमस्य पड्वीशाद् विश्वस्माद् देवकिल्बिषात्॥ अथर्व. ८।७।२८॥

अर्थ- (त्वा) तुझे (पंचशलात्) पंचभूतमें होनेवाले पापसे(अथ उत) और (दशशलात्) दशों दिशाओंमें होनेवाले पापसे (अथ) और (यमस्य पड्वीशात्) यमकी पैरोंकी बेडियोंसे तथा (विश्वस्मात्) सारे (देवकिल्बिषात्) देवोंके प्रति किए गए पापोंसे (उत् आहार्षं) बचाकर ऊपर ले गया हूं।

इन मंत्रोंमें यमकी बेडियोंसे छूटनेकी प्रार्थना है। यहां पर भी यम मारनेवाला ही है यह स्पष्ट पता चला रहा है। आगे चलकर यम विषयक वर्णन जब हम देखेंगे तो यमकी पड्वीश आदिका खुलासा स्वयमेव हो जाएगा।

२ वैवस्वत यम।

> यत्ते यमं वैवस्वतं मनो जगाम दूरकम्। तत्त आवर्तयामसीह क्षयाय जीवसे॥ ऋ० १०।५८।१

अर्थ- (ते) तेरा (यत् मनः) जो मन (दूरकं) बहुत दूर (वैवस्वत यमं) विवस्वान् के पुत्र यमके पास (जगाम) चला गया है (ते तत्) तेरा वह मन पुनः (इह) इस लोकमें (क्षयाय) निवास करनेके लिए व (जीवसे) जीवन धारण करनेके लिए हम (आवर्तयामसि) लौटाते हैं।

यहां पर वैवस्वत यम के पास चले गए मनके प्रत्यावर्तनका उल्लेख है। यमको वैवस्वत विशेषण दिया गया है। वैवस्वतका अर्थ है विवस्वान् की संतान। इससे यह पता चलता है कि मारनेवाला यम विवस्वान् का लडका है इसपर हम थोडासा प्रकाश आगे चलकर डालेंगे।

क्षयाय= निवास करनेके लिए, रहनेके लिए 'क्षि निवासगत्योः'॥

> यमादहं वैवस्वतात् सुबन्धोर्मन आभरम्।
> जीवातवे न मृत्यवेऽथो अरिष्टतातये॥
> ऋ. १०।६०।१०

अर्थ- (अहं) मैं (वैवस्वतात् यमात्) विवस्वान् के पुत्र यमसे (सुबन्धोः मनः आभरम्) सुबन्धु अर्थात् उत्तम बन्धुका मन छीन करके ले आता हूं। किस लिए? (जीवातवे) इस लोकमें जीनेके लिए (मृत्यवे न) मरनेके लिए नहीं। (अथ) और (अरिष्टतातये) सुखके विस्तारके लिए।

इस मंत्रका भाव भी पूर्वके मंत्रसे मिलता है। यहां परभी यमको विवस्वान् के पुत्रके नामसे कहा गया है।

निम्न लिखित मंत्र हमारी ऊपरकी स्थापनाको स्पष्ट रूपसे पुष्ट कर रहा है इसमें यमकी माता व पिता विवस्वान् दोनोंका उल्लेख है। विवस्वान् कौन है यहभी पाठकोंको इससे स्पष्ट रूपमें पता चल जायगा। मंत्र इस प्रकार है-

> त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीतीदं विश्वं भुवनं समेति। यमस्य माता पर्युह्यमाना महोजाया विवस्वतो ननाश॥ ऋ० १०।१७।१
> अथर्व० १८।१।५३॥

अर्थ- (त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोति) त्वष्टा अपनी पुत्री का विवाह रचता है (इति) इस कारण (इदं विश्वं भुवनं) यह सारा भुवन (समेति) इकट्ठा होता है। परि (उह्यमाना) व्याही जाती हुई (यमस्य माता) यम की जननी व (महः विवस्वतः जाया) महान् विवस्वान् की पत्नी (ननाश) नष्ट हो जाती है।

इसी सूक्तके प्रथम मंत्रसे पता चलता है कि त्वष्टा की पुत्री का नाम सरण्यू है और उस का त्वष्टा विवस्वान् के साथ विवाह करता है। इस मंत्र से हमें यह पता चलता है कि त्वष्टा की पुत्री सरण्यू

यमकी माता है व विवस्वान् की पत्नी है अर्थात् विवस्वान् यम का पिता है। अब हमें यह देखना है कि यम का पिता यह विवस्वान् कौन है।

यास्काचार्य इस मंत्र के उत्तरार्ध की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि 'यमस्य माता पर्युह्यमाना महतो जाया विवस्वतो ननाश, रात्रिरादित्यस्यादित्योदयेऽन्तर्धीयते।' अर्थात् यम की माता ब्याही जाती हुई जो कि महान् विवस्वन् की जाया है नष्ट हो गई। आगे 'जाया विवस्वतो ननाश' का स्पष्टीकरण करते हैं कि-' रात्रि सूर्य की जाया, सूर्य के उदय होनेपर छिप जाती है।'

इस प्रकार विवस्वान् का अर्थ हुआ आदित्य अर्थात् सूर्य। इस उपरोक्त विवेचन से हम निम्न परिणाम पर पहुंचते हैं- यम की माता का नाम सरण्यू है व पिता का नाम विवस्वान् अर्थात् सूर्य है अर्थात् यम विवस्वान् (सूर्य) का पुत्र है अतएव उसे वेदमंत्रों में 'वैवस्वत' के नाम से पुकारा गया है। वैवस्वत यम का ही सर्वत्र विशेषण है अन्य का नहीं, अत एव वैवस्वत के साथ यम न भी प्रयुक्त हुआ हुआ हो, तो भी उसीका ग्रहण होता है।

निम्न लिखित मंत्रों में अकेले 'वैवस्वत' शब्द का ही प्रयोग है।

> भद्रं वै वरं वृणते भद्रं युञ्जन्ति दक्षिणम्।
> भद्रं वैवस्वते चक्षुर्बहुत्रा जीवतो मनः॥
> ऋ० १०। १६४। २॥

इस मंत्र में दुष्ट स्वप्नके नाश करने की प्रार्थना है। अर्थ इस प्रकार है—

अर्थ— सब लोक (वै) निश्चयसे (भद्रं वरं वृणते) कल्याणकारी वर को ही चाहते हैं। (दक्षिणं भद्रं)बढे हुए कल्याण से ही अपना (युञ्जन्ति) योग रखना चाहते हैं। (वैवस्वते भद्रं चक्षुः) विवस्वान् के पुत्र की मैं कल्याणकारी चक्षु को अर्थात् उसकी कृपादृष्टि चाहता हूं ताकि दुःस्वप्न हमें बाधा न पहुंचावे। क्यों कि (बहुत्रा) बहुत से विषयों में (जीवतः) जीते हुए अर्थात् लगे हुए मेरा (मनः) मन उनमें विचरण करता रहता है अतः दुःस्वप्न आने की संभावना है।

इस मंत्र में यह दर्शाया गया है कि कल्याणकारी विचार व वातावरण रहनेसे दुःस्वप्न नहीं आ सकता। दुःस्वप्न न आने के लिए वैवस्वतसे प्रार्थना की गई है। यह वैवस्वत यम ही है यह उपरोक्त विवेचनसे तो पुष्ट हो ही रहा है पर आगे चलकर 'यम व स्वप्न' इस प्रकरण में हमें स्पष्ट रूपसे ज्ञात होगा कि स्वप्नका यम से कितना संबन्ध है। दुःस्वप्न यम का साधन है अर्थात् दुःस्वप्न से मृत्यु भी हो सकती है। अस्तु वहां पर यह सब स्पष्ट रूप से हम दर्शानेका प्रयत्न करेंगे।

> वैवस्वतः कृणवद् भागधेयं मधुभागो मधुना सं सृजाति। मातुर्यदेन इषितं न आगन् यद् वा पितापराद्धो जिहीडे॥ अथर्व. ६।११६।२॥

अर्थ- (वैवस्वतः) विवस्वान् का पुत्र (भागधेयं कृणवत्) भागको करे अर्थात् बँटवारा करे। (मधुभागः) उत्तम भाग करने वाला वह हमें (मधुना संसृजाति) हमें मधुसे युक्त करे। अर्थात् हमभी उत्तम बंटवारा करनेवाले हों व सर्वप्रिय बनें। (यत् एनः) जो पाप (मातुः नः आगन्) मातासे हमें प्राप्त हुआ है अर्थात् माताका अपराध करनेसे यदि हमने कोई पाप किया है तो वह (यद् वा) अथवा जिस पापसे (पिता अपराद्धः) हमने पिता का अपराध किया है जिससे कि पिता (जिहीडे) क्रोधित हुआ है वह सब उपरोक्त शांत होवे।

इस प्रकार इस प्रकरणमें हमें यमके संबन्धमें निम्न लिखित मुख्य बातोंका पता चलता है-

(१) यम नामक कोई प्राणियोंके जीवनोंका अपहरण करनेवाला है।

(२) उसके पिताका नाम विवस्वान् (सूर्य) है अतएव उसका दूसरा नाम वैवस्वत भी है।

(३) उसकी माताका नाम सरण्यू है जो कि त्वष्टाकी पुत्री है।

इतने यम संबन्धी विवेचन के बाद हम यह देखेंगे कि यम का रहने का कोई स्थान है वा नहीं वह प्राणियोंको मार कर कहां पर लेजाता है इत्यादि।

यमलोक व यमराज्य।

इस प्रकरणमें हम यमके लोक व उसके राज्यके संबन्धमें विचार करेंगे अर्थात् यम लोक यदि है,

तो कहां पर है इस पर प्रकाश डालनेका प्रयत्न करेंगे।

निम्न लिखित मंत्र यह प्रतिपादन कर रहे हैं कि यमका एक खास लोक है—

उग्रंपश्ये राष्ट्रभृत् किल्बिषाणि यदक्षवृत्तमनु-
दत्तं न एतत् । ऋणान्नो नर्णमेर्त्समानो यमस्य
लोके अधि रज्जुरायात् ॥

अथर्व० ६ । ११८ । २ ॥

अर्थ- हे (उग्रंपश्ये) तीव्रदृष्टिवाली तथा हे (राष्ट्रभृत्) राष्ट्र का भरण पोषण करनेवाली अप्सरा ओ ! (किल्बिषाणि) सर्व पाप व (यत् अक्षवृत्तं) जो पाप इन्द्रियों द्वारा किया है (तत्) वह पाप (नः) हमें (अनुदत्तं) अनुकूलतासे दिया हुआ हो अर्थात् उस पापसे हमें हानि न पहुंचे इस प्रकार सेदो-उस पापको दूर करो। और (ऋणात् ऋणं एर्त्समानः) ऋण से व्याज आदि द्वारा ऋण को बढाता हुआ उत्तमर्ण अर्थात् ऋण देनेवाला (यमस्य लोके) यम के लोक में (अधि-रज्जुः) हाथ में रस्सी लिए हुए (नः न आयात्) हमें प्राप्त न होवे अर्थात् हमें ऋण से भी मुक्त कर दो ताकि यम लोक में हम सुख पूर्वक रह सकें।

इस मंत्र से ऐसा पता चलता है कि जब तक ऋण न चुकाया जावे तब तक मनुष्य उससे मुक्त नहीं हो सकता । मरने वाला यदि ऋण बिनाचुकाए मरेगा तो यम लोक में भी उसे वह ऋण चुकाना पडेगा। उत्तमर्ण वहां पर भी अपना ऋण लेने के लिए पीछा करता हुआ आ पहुंचेगा। ऋण लेना कितना कष्ट प्रद है यह इस से पता चलता है।

पुनर्देहि वनस्पते य एष निहितस्त्वयि ।
यथा यमस्य सादन आसातै विदथावदन् ॥

अथर्व० १८ । ३ । ७० ॥

अर्थ- (वनस्पते) हे वनस्पति ! (यः एषः) जो यह (त्वयि निहितः) तेरे में रखा है उसे (पुनः) फिर वापिस (देहिं) दे। (यथा) जिस से (यमस्य सादने) यमके घरमें यह (विद्था वदन्) विज्ञानों को (वदन्) बोलता हुआ (आसातै) स्थित होवे।

इस मंत्र का आशय क्या है यह व्यक्त नहीं होता। पाठक इसपर विचार कर सहायता करेंगे ऐसी आशा है।

यथायाद् यमसादनात् पापलोकान् परावतः ॥

अथर्व० १२ । ११ । ३ ॥

इस मंत्र के अर्थ के स्पष्टीकरण के लिए पूर्व मंत्र को भी साथ में लेना चाहिए। पूर्व मंत्र इस प्रकार है—

ब्रह्मज्यं देव्यघ्न्य आ मूलादनु संदह ॥

अथर्व० १२ । ११।२॥

हे (अघ्न्ये) अहिंसा करने के अयोग्य ! हे देवी ब्रह्मगौ ! (ब्रह्मज्यं) ब्रह्मकी हिंसा करनेवाले घात को (आमूलात्) जडसे लेकर ऊपरतक (अनुसंदह) संपूर्ण ला दे ॥ १२ । ११ । २ ॥ (यथा)जिस से कि वह ब्रह्म घातक (यमस्य सादनात्) यमके सदन से भी (परावतः) दूर स्थित (पाप लोकान्) पापियों के लोक को (अयात्) जावे।

इस मंत्र से ऐसा पता चलता है कि घोर कर्म करनेवाली पापियों को यम लोक में स्थान नहीं मिलता वे उस यम लोक से भी परेस्थित पाप लोक में जाते हैं। इस के उलट यह भी ज्ञात होता है कि यम लोक में जानेवाले पापियों के अतिरिक्त जन हैं। अतः यम लोक निकृष्ट स्थान नहीं है।

इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते ।
इयमस्य धमते नाळीरयं गीर्भिः परिष्कृतः ॥

ऋ० १० । १३५ । ७ ॥

अर्थ (इदं यमस्य सादनं) यह यम का घर है। (यत् देवमानं उच्यते) जो कि देवों द्वारा बनाया गया है इस प्रकार कहा जाता है। (अस्य इयं नाळीः) इस यम की प्रीति के लिए यह स्तुतिरूपी वाणी (धमते) उच्चारण की जाती है। (अयं) यह यम (गीर्भिः) स्तुति युक्त वाणियों से (परिष्कृतः) शोभित होवे।

इन मंत्रों से हमें साधारणतया इतना पता चलता है कि यम लोक करके कोई स्थान अवश्य है। निम्न लिखित मंत्रों के देखने से ऐसा पता चलता है कि यम का उस लोकमें राज्य है अर्थात् यम वहां का राजा है। उस लोक का यम राजा होने से उस का नाम यम लोक पड़ा है। अतएव वह लोक उस

के नामसे अर्थात् यम लोक के नाम से प्रसिद्ध है।

पुमान् पुंसोधितिष्ठ चर्मेहि तत्र ह्वयस्व यतमा प्रिया ते। यावन्तावग्रे प्रथमं समेयथुस्तद् वां वयो यमराज्ये समानम्॥

अथर्व० १२। ३। १॥

अर्थ- (पुमान् पुंसः अधितिष्ठ) हे पुरुष! पुरुषों का अधिष्ठाता बन अर्थात् उच्चाधिकार को प्राप्त कर। (चर्म) सुख को (इहि) प्राप्त कर। (तत्र) उस सुख में (यतमा ते प्रिया) जो तेरी प्यारी है उसे (ह्वयस्व) बुला। (अग्रे) पहिले (यावन्तौ) जितने समर्थ हुए हुए तुम पतिपत्नी दोनों (प्रथमं) मरने से पूर्व की आयु में (समेयथुः) प्राप्त किया है (तत् वां वयः) वह तुम्हारा अन्न वा आयु (यमराज्ये) यम के राज्य में समान हो।

इस मंत्र में बडे महत्व का उपदेश है। सब से पूर्व मनुष्य को उन्नति करनेके लिए कहा गया है। तदनन्तर सुख प्राप्त कर के अपने अनुसार पत्नी के चुनने के लिए कहा गया है। इसी को स्वयंवर कह सकते हैं अथवा जिस अंग्रेजी में Choice marriage कहते हैं इस प्रकार के विवाह के बाद दम्पती मिलजुलकर अपने भविष्य को उज्वल बनाने का प्रयत्न करें। जितना वे इस लोक में कमावेंगे उतना यमलोक में मिलेगा यह 'वां वयः यमराज्ये समानं' से दर्शाया है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि स्त्रियां भी पति के साथ यम लोक में जाती हैं। अर्थात् जितना मृत पितरों के प्रति हमारा कर्तव्य है उतना ही मृत माता, दादी आदि स्त्री वर्ग के लिए भी है।

समस्मिंल्लोके समु देवयाने सं स्मा समेतं यमराज्येषु। पूतौ पवित्रैरुप तद्ध्वयेथां यद् यद् रेतो अधिवां संबभूव॥ अथर्व० १२। ३। ३॥

अर्थ- (अस्मिन् लोके) इस लोक में (सं) अच्छी तरह वा साथ साथ तुम पतिपत्नी (एतं) विचरण करो। (उ) और (देवयाने) देवों के मार्ग में (सं) मिलकर विचरण करो। (यमराज्येषु) यम राज्यों में (सं एतम्) साथ मिलकर विचरण करो। (यत् यत् रेतः) जो वीर्य (वां अधि संबभूव) तुम दोनों में उत्पन्न हुआ है (तत्) उस वीर्य को (पवित्रैः) पवित्राचरणों द्वारा (पूतौ) पवित्र हुए हुए तुम दोनों (उपह्वयेथां) अपने पास बुलाओ, अर्थात् पवित्र कार्योंमें ही वीर्य का उपयोग करो व्यर्थ नष्ट मत करो।

इस मंत्र में वीर्य के सदुपयोग के लिए गृहस्थ दंपतीको उपदेश दिया गया है।

इसके सिवाय एक महत्वपूर्ण बात यह दर्शाई गई है कि पतिपत्नी में इतना अधिक प्रेम होना चाहिए कि वे सर्वत्र साथ ही रहें। चाहे वे इस लोकमें हों चाहे यम लोक में वा अन्य किसी लोकमें। उन्हें ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि वे किसी भी हालत में जुदा न हो सकें। मरें भी वो साथ ही मरें। यह वैदिक आदर्श यहां स्पष्ट रूपसे दर्शाया गया है। इस प्रकार यह मंत्र विशेष महत्वका है। इस का मनन करना चाहिए।

सर्वान् कामान् यमराज्ये वशा प्रददुषे दुहे।
अथाहुर्नारकं लोकं निरुन्धानस्य याचिताम्॥

अथर्व० १२। ४। ३६॥

अर्थ- (वशा) वशा गौ (यमराज्ये) यम के राज्य में (प्रददुषे) प्रकृष्टके दानीके लिए (सर्वान् कामान्) सर्व प्रकार की कामनाओं को (दुहे) पूर्ण करती है। (अथ) और (याचितां) मांगी हुई के (निरुन्धानस्य) रोकनेवालेका अर्थात् यदि कोई सुपात्र वशा को मांगे और उसको यदि न दी जावे तो न देनेवालेका (लोकं) लोक को (नारकं) महाकष्टप्रद (आहुः) कहते हैं अर्थात् न देनेवाले को नरक मिलता है।

इस मंत्र में वशा गौकी महिमा का वर्णन है। वशा गौके दान करनेवाले को यमराज्यमें किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं होता। उसकी सर्व कामनायें पूर्ण होती हैं और इसके प्रतिकूल वशा को न देनेवाले को नरक मिलता है।

एतत् ते देवः सविता वासो ददाति भर्तवे।
तत्त्वं यमस्य राज्ये वसानस्तार्प्यं चर॥

अथर्व० १८। ४। ३१॥

अर्थ- हे पुरुष! (सविता देवः) प्रेरक देव (ते) तेरे लिए (भर्तवे) पहिननेके लिए (एतत्

वासः) यह वस्त्र (ददाति) देता है। (तत्-तार्प्यं) उस तृप्ति करनेवाले वस्त्र को (वसानः) पहिनकर (यमस्य राज्ये) यम के राज्य में (चर) विचरण कर।

इस मंत्रपर हम विशेष विचार संपूर्ण सूक्त में करेंगे। इस मंत्र में मृत पुरुष को जो कि यम लोक में पहुंच गया है उसको वस्त्र देने का विधान है।

निम्न लिखित मंत्रमें उस मृत पुरुष को तिल मिश्रित धान देने का उल्लेख है तथा यम राजासे इन को उस पुरुष के देने के लिए अनुमति मांगी गई है-

यास्ते धानाः अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधा-
वतीः। तास्ते सन्तूद्भ्वीः प्रभ्वीः तास्ते यमो
राजानुमन्यताम्॥ अथर्व० १८।४।४३॥

अर्थ- (ते) तेरे लिए (याः तिलमिश्राः स्वधा वतीः धानाः) जिन तिलों से मिश्रित अर्थात् तिल मिले हुए स्वधावाले धानों को (अनु किरामि) अनुकूलता से फैंकता हूं, (ताः) वे धान (ते) तेरे लिए (उद्भ्वीः) उदय करनेवाले व (प्रभ्वीः) प्रभूत मात्रामें यानि बहुत मात्रा में (सन्तु) होवें। (ताः) उन्हें (ते) तुझे देने के लिए (यमः राजा) यम राजा (अनुमन्यतां) अनुमति देवे। यम के राज्यमें बिना यम की अनुमतिके किसीको कुच्छ नहीं दिया जा सकता अतः उसकी अनुमति मांगी है।

इस मंत्र में यमलोक में गए हुए के लिए अर्थात् मृतके लिए तिलमिश्रित धाना देने का उल्लेख है। ये तिलमिश्रित धान यमराज्यमें जाकर किस रूप-में परिणत हो जाते हैं यह निम्न लिखित मंत्र बतला रहा है—

धाना धेनुरभवद् वत्सो अस्यास्तिलोऽभवत्।
तां वै यमस्य राज्ये अक्षितामुपजीवति।
अथर्व० १८।४।३२॥

अर्थ- यम लोकमें जाकर ऊपरोक्त मंत्रानुसार दिए गए (धाना) धान (धेनुः) तृप्त करनेवाली गौ (अभवत्) बनता है। (अस्याः) और इस धान रूपी गौका (वत्सः) बछडा (तिल) तिल (अभवत्) बनता है। (वै) निश्चयसे (यमस्य राज्ये) यमके राज्यमें वह (तां) उस धानों की बनी हुई गाय परही (उप जीवति) आश्रित हुआ हुआ जीता है।

यहां पर धान तथा तिल यम राज्यमें जाकर किस स्वरूप में परिणत हो जाते हैं यह दर्शाया गया है। इन दोनों मंत्रानुसार धान व तिल यम लोकमें रहते हुए के लिए देने चाहिए क्यों कि उसके जीने के ये एक मात्र आधार हैं।

इन मंत्रों में हमने देखा कि यम लोक में यम का राज्य है। यमराज्य सेभी यमलोक का ही ग्रहण है। वहीं पर यम मृतों को ले जाकर रखता है।

निम्न लिखित मंत्रमें यम का आए हुए मृत पुरुष को अपने राज्यमें स्थान देनेका उल्लेख है-

ददाम्यस्मा अवसानमेतद् य एष आगन्
ममचेदभूदिह। यमश्चिकित्वान् प्रत्येतदाह
ममैष राय उपतिष्ठतामिह॥
अथर्व० १८।२।३७॥

अर्थ- (अस्मै) इस मृत पुरुष के लिए (एतत् अवसानं) इस स्थानको (ददामि) मैं देता हूं। क्योंकि (एषः यः) यह जो है वह (आगन्) यम लोकमें आया है और (इह) यहांपर आकर (मम चेत्) मेराही (अभूत्) होगया है अर्थात् क्योंकि यह यहां आकर मेरी ही प्रजा बन गया है, अतः मैं इसे स्थान देता हूं। अपने राज्य से नहीं निकालता। इस उपरोक्त प्रकार से (चिकित्वान् यमः) ज्ञान-वान् यम (एतत्) यह उपरोक्त 'ददाम्यस्मै' इत्यादि वाक्य (प्रति आह) यमलोक में आए हुए के प्रति कहता है। और यहभी कहता है कि (एषः) यह आगन्तुक (मम राये) मेरे धनके लिए (इह) यहां यम राज्यमें (उप तिष्ठताम्) उपस्थित होवे अर्थात् उसेभी इस मेरे धन का भाग मिले अथवा यह भी अन्य प्रजाजनकी तरह मेरे धन का भाग मिले अथवा यह भी अन्य प्रजा जनकी तरह मेरे लिए दिया जानेवाला उचित कर प्रदान करे।

इस प्रकार इस मंत्रमें यमकी यमराज्यमें आए हुए के प्रति उक्ति है। अबतक के मंत्रोंसे यह पता चला कि यम का यमलोकमें राज्य है अर्थात् वह वहां का राजा है। अब हम यह देखेंगे कि यमलोक

कहांपर है अर्थात् इसकी स्थिति कहां है।

यमकी दक्षिण दिशा।

इन्द्रः प्राङ् तिष्ठन् दक्षिणा तिष्ठन् यमः॥
अथर्व० ९।७।२०

अर्थ— (इन्द्रः प्राङ् तिष्ठन्) इन्द्र पूर्व दिशामें स्थित हुआ हुआ है। (यमः) और यम (दक्षिणा तिष्ठन्) दक्षिण दिशामें ठहरा हुआ है।

इस मंत्र से हमें इतना पता चलता है कि यम दक्षिण दिशामें रहता है यानि यम लोक दक्षिण दिशामें है।

द्युलोकमें यम लोक

नरा वा शंसं पूषणमगोह्यमग्निं देवेद्धमभ्यर्चसे गिरा। सूर्यामासाचन्द्रमसा यमं दिवि त्रितं वात मुषसमक्तुमश्विना॥

ऋ० १०।६४।३

अर्थ- (नराशंसं, पूषणं, अगोह्यं, देवेद्धं अग्नि) नरोंसे प्रशंसा करने योग्य, पुष्टि करनेवाले, सर्व साधारण से जानेके अयोग्य तथा जिसको देवोंने प्रज्वलित किया है वैसी अग्नि की (गिरा अभ्यर्चसे) स्तुति युक्त वाणियोंसे तू अभ्यर्चना करता है। (सूर्यामासा चन्द्रमसौ) सूर्य तथा पक्षोंके निर्माण करने वाले चन्द्रमा की, (दिवि यमं) द्युलोकमें विद्यमान यम की, (त्रितं वातं) तीनों लोकों में विस्तृत वायुकी, (उषसं) उषाकी, (अक्तुं) रात्रिकी व (अश्विनौ) देवों के वैद्य अश्विनों की भी स्तुति कर।

यहांपर इतना बताया गया है कि यम की द्युलोकमें स्थिति है। पूर्व मंत्रसे यह पता चला था कि यम की दिशा दक्षिण है। इसका मतलब यह हुआ की द्युमें दक्षिण की ओर कहीं पर यम लोक है।

हमें पितृलोक के प्रकरण में 'उदन्वती द्यौरवमा' इत्यादि मंत्रसे पता चलाथा कि तीन द्यु हैं।। उनमें से प्रथम में जल रहता है, द्वितीयमें सूर्यादि नक्षत्र गण रहते हैं तथा तृतीय में पितर रहते हैं।

अब हमने यह देखना है कि इन तीनमेंसे यमकी द्यु कौनसी है। इसके निर्णय के लिए हमें पितृलोक में आया हुआ 'तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थां' इत्यादि मंत्र सहायता देता है। इस मंत्र में यह कहा गया है कि तीन द्यु लोक हैं जिनमेंसे दो सूर्यके समीप हैं। ये दो सूर्य के समीप की द्यु जलवाली व नक्षत्रोंवाली है। बीचमें सूर्य है और उसके ऊपर नीचे ये दोनों द्यु हैं। आगे चलकर इसी मंत्रमें कहा है कि तीसरी जो द्यू है वह यमलोक में है जिसमें वीरगण निवास करते हैं। इसी द्यु को लक्ष्यमें रखते हुए संभवतः गीता में कहा है कि 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं'। वीर लडाईमें मरनेपर स्वर्गमें जाता है और वह स्वर्ग यही यम लोकमें विद्यमान द्यु है। जैसा कि 'विरा-षाट्' विशेषण से प्रतीत हो रहा है।

इस प्रकार इन दोनों मंत्रोंका अभिप्राय यह हुआ कि यमलोकमें जो द्यु है, वह उदन्वती अर्थात् जिसमें जल रहता है वह भी नहीं है और जिसमें नक्षत्र रहते हैं वह भी नहीं है। परिशेष न्यायसे जो तीसरी बच गई वह यम लोकमें है, यह मानना पडेगा। तीसरी द्यू में पितर रहते हैं अतः पितर यमलोक में रहते हैं यह भी इसका अभिप्राय हुआ। यमलोकका यमराजा है, अतः पितर उसकी प्रजा हुए। पितर यम राज्यमें रहते हैं इस परिणाम को निम्न मंत्र पुष्टि कर रहा है-

ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये।
तेषां लोकः स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पताम्॥
यजुः १९।४५

अर्थ— (यम-राज्ये) यमके राज्यमें (ये पितरः समानाः समनसः) जो पितर समान तथा समनस अर्थात् एक संकल्प वाले हैं, (तेषां) उन पितरोंके अर्थ दिए गए (लोकः, स्वधा, नमः, यज्ञः) लोक, स्वधा, नमस्कार व यज्ञ (देवेषु कल्पतां) देवोंमें समर्थ होवे अर्थात् विफल न हो।

इस मंत्र में पितर यमराज्यमें हैं यह दर्शाया है। पितरों का स्थान तीसरी द्यू है। अतः वह द्यू यमके राज्यमें ही है यह इस मंत्रसे स्पष्ट हो रहा है।

यमका राज्य तीसरी द्युमें है और उसके आगे द्यु लोक समाप्त हो जाता है यह निम्न लिखित मंत्र बता रहा है—

यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः।
यत्रामूर्यह्वतीरापस्तत्र मामृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥ ९।११३।८॥

अर्थ... (यत्र) जहां का (वैवस्वतः राजा) विवस्वान् का पुत्र यम राजा है, जहां कि (दिवः अवरोधनं) द्यु लोककी समाप्ति है वहां तथा जहां (अमूः) ये (पयस्वतीः आपः) बडे बडे जल हैं (तत्र) वहां (मां अमृतं कृधि) मुझे अमृत बना। (इन्दो) हे इन्दु ! (इन्द्राय) ऐश्वर्य के लिए (परिस्रव) चारों ओर से बह अर्थात् मुझे ऐश्वर्य दे ।

इस उपरोक्त विवेचन से हम निम्न लिखित परिणाम पर पहुंच सकते हैं...

यमलोक जहां कि यम का राज्य है,दक्षिण दिशा की ओर स्थित तृतीय द्यु में है। वहां पितर रहते हैं। यम उनका राजा है व वे उसकी प्रजा हैं । यह बात 'पितर व यमके सहकार्य' नामक शीर्षक में और भी अधिक स्पष्ट हो जाएगी।

निम्न मंत्रमें अलंकार रूपमें उस विराट् का वर्णन प्रतीत होता है । उस विराट को बैल की कल्पना करके उसका वर्णन किया गया है—

प्रजापतिश्च परमेष्ठी च शृङ्गे इन्द्रः शिरो अग्निर्ललाटं यमः कृकाटम् ॥ अथर्व० ९।७।१

अर्थ–उस विराट् बैलको (प्रजापतिः च परमेष्ठी च) प्रजापति व परमेष्ठी ये दोनों (शृङ्गे) दो सींग हैं यानि शृङ्ग स्थानीय हैं। (इन्द्रः) इन्द्र उसका सिर है अर्थात् इन्द्र शिरःस्थानीय है। (अग्निः) अग्नि उसका ललाट (माथा) है। और (यमः) यम उसकी (कृकाटं) गरदन का भाग है।

यम को विराट् की रचनामें गरदन में स्थान मिलता है अर्थात् यमकी स्थिति उसके शरीरमें गर्दन स्थानीय है।

इस प्रकरण से हमें यमलोक, यमराज्य तथा उस की स्थिति का पता लगा है। अब अगले प्रकरणमें इस यम राजा के दूतों पर विचार करेंगे।

यमके दूत ।

इस प्रकरण में यम के दूतों का अस्तित्व, स्वरूप तथा कार्य दर्शाया जाएगा।

निम्न लिखित मंत्रों में यम के दूत होने के विषय में उल्लेख है-

कृणोमि ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति । वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतांश्चरतो ऽप सेधामि सर्वान् ॥ अथर्व० ८। २। ११

अर्थ- (ते) तेरे (प्राणापानौ) प्राण और अपान को (कृणोमि) स्थिर करता हूं। और (दीर्घं आयुः) दीर्घ आयु को तथा (स्वति) कल्याण को भी तेरे लिए स्थिर करता हूं। (जरां मृत्युं) बुढापे व मृत्यु को दूर भगाता हूं। (वैवस्वतेन प्रहितान् चरतः सर्वान् यमदूतान्) विवस्वान् के पुत्र यमद्वारा भेजे हुए, संसार में विचरण करते हुए सब यम के दूतों को (अपसेधामि) दूर भगा देता हूं।

इस मंत्र में यमदूतों का उल्लेख है। यम उन्हें प्राणियों को ले आने के लिए संसार में भेजता है; उन दूतों को दूर भगाने का निर्देश यहां है।

नयतामून् मृत्युदूता यमदूता अपोम्भत ।
परः सहस्रा हन्यतां तृणेढ्वेनान् मत्यं भवस्य ॥
अथर्व० ८।८।११॥

अर्थ- (मृत्युदूताः) हे मृत्यु के दूतो ! (अमून्) इन शत्रुओं को (नयत) ले जाओ। हे (यमदूताः) यम के दूतो ! (उप अम्भत) इन्हें कसकर बांध लो ताकि छूट कर भाग न जावें। (परः सहस्राः) हजारों की संख्याओं से भी अधिक (हन्यताम्) मारडालो। (एनान्) इन शत्रुओं को (भवस्य मत्यं) भवकी मुट्ठी अर्थात् घूंसा (तृणेढु) चूर चूर कर डाले।

इस मंत्रमें शत्रुओं के विनाश के लिए यम दूतों से कहा गया है। मारना यमदूतों का कार्य है यह यहांपर स्पष्ट हो रहा है।

इस प्रकार इन मंत्रों में यम दूतों का उल्लेख व कार्य दर्शाया गया है। अब हम देखेंगे कि ये यम दूत कौन हैं व इनका स्वरूप क्या है।

यमदूत—श्वान (कुत्ते)

अतिद्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा। अथा पितॄन्त्सुविदत्रां उपेहि यमेन ये सधमादं मदन्ति॥

ऋ० १०।१४।१०॥

यही मंत्र अथर्व वेदमें थोडेसे पाठ भेद के साथ इस प्रकार है -

अतिद्रव श्वानौ सारमेयौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा। अथा पितॄन्त्सुविदत्रां अपीहि यमेन ये सधमादं मदन्ति॥

अथर्व० १८।२।११॥

अर्थ- (सारमेयौ) सारमेय, (चतुरक्षौ) चार आंखोंवाले (शबलौ) चित्र विचित्र रंग बिरंगी (श्वानौ) दो कुत्तों से (अति) बचकर के (साधुना पथा) उत्तम मार्ग से (द्रव) जा। (अथ) और (सुविदत्रान् पितॄन्) उत्तम ज्ञान वा धन से उपेत- युक्त - पितरों के (उप इहि) समीप जा। (ये) जो कि पितर (यमेन सधमादं मदन्ति) यम के साथ अत्यन्त आनन्दित हो रहे हैं।

'सारमेयौ-सायणाचार्यने इसका अर्थ किया है कि सरमा नाम की देवोंकी कुत्ती है उसके बच्चे। सरमा शब्द सृगतौ धातुसे बाहुलकसे अम करनेपर बनता है। जिसका अर्थ है बहुत दौडनेवाली'। उसका पुत्र सारमेय। स्त्रीभ्यां ढक् से ढक्। लौकिक साहित्य में सारमेय का अर्थ कुत्ता प्रचलित है। अस्तु तथापि हम सारमेय का अर्थ बहुत दौडनेवाला ऐसा कर सकते हैं।

इस मंत्र में इस प्रेतको कहा गया है कि यमके दोनों कुत्तोंसे जो कि रंग बिरंगे हैं, उनसे बचाकर उत्तम मार्गसे पितरों के पास जा, जो कि पितर यम के साथ आनन्दित हो रहे हैं। यद्यपि यहां इस मंत्र में यम के कुत्तोंको यम दूतके नामसे नहीं कहा गया है तथापि आगे आने वाले मंत्रोंमें उन्हें यमदूतके नामसे कहा गया है। व उन में से प्रत्येक के रंग आदिका वर्णन है। यहांपर उन्हें शबल कहा है जिसका कि स्पष्टीकरण वहां है।

यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ। ताभ्यामेनं परिदेहि राजन् स्वस्ति चास्मा अनमीवञ्च धेहि॥ ऋ० १०।१४।११॥

अथर्व० १८।२।२॥

अर्थ- (यम) हे यम (ते यौ) तेरे जो (रक्षितारौ) रक्षाकरनेवाले (चतुरक्षौ) चार आखों वाले (पथिरक्षी) यम लोक में जाने के रस्ते की रक्षा करनेवाले तथा (नृचक्षसौ) मनुष्यों के देखनेवाले (श्वानौ) दो कुत्ते हैं, हे राजन्। ताभ्यां) उन दोनों कुत्तों द्वारा (एनं) इसको (स्वस्ति) कल्याण (देहि) दे अर्थात् वे कुत्ते इसे हानि न पहुंचावें ऐसा कर। (च) और (अस्मै अनमीवं धेहि) इसके लिए नीरोगिता रोगरहितता दे। इसे कभी रोग न सतावें।

इस मंत्र में यम से कहा गया है कि वह अपने कुत्तों से किसी भी प्रकार का अकल्याण न होने देवे सर्वदा कल्याण व आरोग्य देता रहे।

उरूणसावसुतृपा उदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु। तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम्॥ ऋ० १०।१४।१२॥

अथर्व० १८।२।१३॥

अर्थ- (उरूणसौ) लम्बी नाकवाले, (असुतृपौ) प्राणों के भक्षण से तृप्त होनेवाले, (उदुम्बलौ) विस्तृत बलवाले अर्थात् अत्यन्त बलवान् (यमस्य दूतौ) यम के दूत उपरोक्त दोनों कुत्ते (जनाँ अनुचरतः) मनुष्यों के पीछे पीछे विचरण करते रहते हैं। ताकि अवसर मिलते ही उनके प्राणों से अपनी तृप्ति करें। (तौ) ऐसे वे यम दूत कुत्ते (अस्मभ्यं) हमारे लिए (सूर्याय दृशये) सूर्य के दर्शनार्थ अर्थात् इस लोकमें जीने के लिए (अद्य) आज (इह) यहां (भद्रं असुं) कल्याणकारी प्राण को (पुनः) फिर (दातां) देवें। वे हमारे प्राणों को छीनकर हमें मार न डालें अपितु उलटा प्राणों को देवें ताकि हम यहां जीवित रह सकें।

इस मंत्र में पूर्व मंत्रोक्त यमदूत कुत्तों के स्वरूप का वर्णन है। वे लम्बी लम्बी नाकवाले अत्यन्त बलवान् व प्राणों के भक्षण से तृप्त होनेवाले हैं। उनसे प्राणों की भिक्षा उत्तरार्ध में मांगी गई है।

श्यामश्च त्वा मा शबलश्च प्रेषित्तौ यमस्य यौ पथिरक्षी श्वानौ अर्वाङेहि मा वि दीध्यो मात्र तिष्ठः पराङ्मनाः ॥ अथर्व० ८।१।९॥

अर्थ-(श्यामः) काला (च) और (शबलः) चितकबरा ऐसे रंग बिरंगी (यौ) जो दो(यमस्य) यमके (पथिरक्षी) यम लोकके मार्ग की रक्षा करने वाले (श्वानौ) कुत्ते हैं वे (त्वा) तुझे (मा) मत बाधा पहुंचावें। (अर्वाङ् एहि) हमारे सन्मुख आ। (मा विदीध्यः) विरुद्ध मत हो अर्थात् हमें छोडकर चले जाने की कोशिश मत कर। अत्र यहां इस संसारमें (पराङ्मनाः) विक्षिप्त चित्त हुआ हुआ (मा तिष्ठः) मत स्थित हो। संसारसे उदासीन वृत्ति धारण मत तर।

इस मंत्रसे ऐसा पता चलता है कि यमके जो दोनों कुत्ते हैं उनमेंसे एक तो काले रंगका है तथा दूसरा काले सफेद आदि रंगोंसे मिश्रित चितकबरा है।

इस मंत्रमें जो काला व चितकबरा करके यमके दूत कुत्तोंका वर्णन है वह आलंकारीक रूपसे रात व दिनका वर्णन प्रतीत होता है। काला कुत्त रात है वह शबल कुत्ता दिन है। ये दिवरात मनुष्योंके पीछे प्राण हरण करने के लगे हुए हैं। ज्यों ज्यों दिन व रात गुजरते जाते हैं त्यों त्यों मनुष्यकी आयु क्षीण होती जाती है। अतः संभव है ये दिन व रात वास्तवमें यमके दूत हों और उनका यमके श्वान(कुत्ते) करके वर्णन किया हो। यहां पर एक और भी शंका उठ सकती है और वह यह कि श्वान शब्दसे ही क्यों यमके इन कुत्तोंका उल्लेख किया गया ? कुत्तेके लिए दूसरे अनेक शब्द विद्यमान हैं ही। परन्तु पाठकोंको ध्यानमें रखना चाहिए कि श्वान शब्द हमारी उपर कि कल्पना को औरभी दृढ करता है। श्वान शब्दके अर्थ पर विचार करनेसे उपरोक्त शंका स्वयमेव शांत हो जाती है और इस श्वान द्वारा किए गए आलंकारिक वर्णन का महत्व प्रतीत होने लगता है। श्वानका अर्थ है (श्वा=श्वः= कल, न=नहीं) जो आनेवाली कलमें न रहे अर्थात् जो आज तो है पर वह कल न रहेगा। जो दिन व रात एक वार निकल गए वे फिर दुबारा लौटकर नहीं आते। अब पाठक श्वान शब्दके महत्व को समझ गए होंगे कि क्यों यमके दूतोंको श्वानके नामसे कहागया है और उससे किससे किस प्रकार दिन व रातका वर्णन किया गया है। परन्तु जबतक इस विषयमें पूर्ण खोजन की जावे तबतक निश्चयसे कुछभी नहीं कहा जासकता। पाठक इस पर विचार करेंगे ऐसी आशा है।

उपरोक्त मंत्रके उत्तरार्धके भावको नीचे लिखे मंत्रमें अधिक स्पष्ट किया गया है।

इहैधि पुरुष सर्वेण मनसा सह।
दूतौ यमस्य मानुगा अधि जीवपुरा इहि॥
अथर्व० ५।३०।६

अर्थ- हे पुरुष! (सर्वेण मनसा सह) संपूर्ण मनकेसाथ अर्थात् मन लगाकर (इह) यहां इस संसारमें रहता हुआ (एधि) वृद्धिको प्राप्त कर (यमस्य दूतौ) उपरोक्त यमके दोनों दूतों के (मा अनुगाः) पीछे मतजा अर्थात् यम लोकमें मतजा। (जीवपुराः) जीवोंके पुरों को अर्थात् शरीरोंको (अधि इहि) प्राप्त कर। शरीर को छोडकर यम-लोकमें मतजा।

उपरोक्त मंत्रके उत्तरार्धका इस मंत्र में स्पष्ट रूपसे पक्षपोषण किया गया है। यमके दूतों का अनुकरण करने अर्थात् मरनेका निषेध करते हुए देह-धारण कर मन लगाकर संसारमें रहनेका उपदेश है।

इन ऊपरोक्त मंत्रोंसे निम्न सारांश निकलता है-

(१) यम के दूत दो कुत्ते हैं।
(२) वे दोनों कुत्ते लम्बी नाक वाले व चार आंखों वाले हैं।
(३) उनमें से एक कुत्ता काला व एक चितकबरा है
(४) उनकी तृप्ति प्राणों के भक्षण सेहोती है। वे मनुष्यों के पीछे सर्वदा प्राणापहरण के लिए- लगे रहते हैं। यम लोकमें जानेके मार्ग की वे सर्वदा रक्षा करते रहते हैं।

यमका दूत-मृत्यु।

अपेमं जीवा अरुधन् गृहेभ्यस्तं निर्वहत् परिग्रामादितः। मृत्युर्यमस्यासीद्दूतः प्रचेता असून्

पितृभ्यो गमयां चकार ॥ अथर्व० १८।२।२७॥

अर्थ-प्राणधारीलोकोंने इस शवको घरोंसे बाहिर कर दिया है । उसको तुम लोक इस ग्रामसे बाहिर अंत्येष्टि संस्कार के लिए स्मशान भूमिमें ले जाओ यम का दूत जो मृत्यु है उसने इसके प्राणों को पितरोंके पास यम लोकमें भेज दिया है । अतः क्योंकि यह विगत प्राण हो चुका है इसवास्ते इसके शवको ग्राम से बाहिर दहनादि क्रिया के लिए ले जाओ ।

इसमंत्रमें यह दर्शाया गया है कि मृत्यु यमका दूत है वह मृतके प्राणोंको पितरों के पास पहुंचता-है । इसका अभिप्राय यह हुआ कि मरनेपर जीव पितृलोकमें जाता है ।

यह मंत्रभी पूर्वोक्त निम्न लिखित परिणामों को पुष्ट करता है ।

(१) यम प्राणोंका अपहरण करनेवाला है, क्यों कि मृत्यु उसका ही दूत है ।

(२) पितृलोक यम के राज्यमें है, क्यों कि मृतके प्राणों को पितरों के पास पितृलोकमें यमका दूत मृत्यु पहुंचाता है ।

पाठक गण यमके दूतों संबन्धी इस उपरोक्त विवेचनसे यह कदापि न समझें कि यमके ये तीन दो कुत्ते व तीसरा मृत्यु ही दूत हैं । और भी अनेक दूत हैं पर ये उनमें से प्रधान-मुख्य हैं, अतः इनका विशद रूपसे वर्णन किया गया है । हम इस प्रकरण के प्रारंभमें ही एक ऐसा मंत्र देख आए हैं जिससे सहज पता चलता है कि यम के अनेक दूत हैं । उनका निर्देश मात्र है । विशेषों का मात्र विगतवार वर्णन है । उस यमके अनेक दूत बतानेवाले मंत्रको मूल रूप से हम पुनः यहां दिग्दर्शन कराते हैं-

नयतामून् मृत्युदूता यम दूता अपोम्भत । पर
सहस्त्राः हन्यतां तृणेढ्ढेनान् मत्यं भवस्य ॥
अथर्व० ८। ८।११ ॥

इसके अतिरिक्त अन्य भी ऐसे मंत्र हैं जिनमें यम के अनेक दूत होनेका उल्लेख है ।

यमके कार्य

यमका पितृयाणमार्ग जानना ।

यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूति रपभर्तवा उ। यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्या अनु स्वाः ॥ ऋ० १०। १४। २॥
अथर्व० १८। १। ५० ॥

अर्थ- (प्रथमः यमः) वह प्रसिद्ध यम (नः गातुं विवेद) हमारे मार्ग को जानता है । (एषागव्यूतिः) यह मार्ग किसीसेभी (अपभर्तवै न) अपहरण नहीं किया जा सकता । (यत्र) जिस मार्ग में (नः पूर्वे पितरः) हमारे पुरातन पितर (परेयुः) गए हुए हैं। (एना) इस मार्गसे (जज्ञानाः) उत्पन्न प्राणीमात्र (स्वाः पथ्याः) अपने अपने पथ्यों के अनुसार (अनु) जाते हैं।

यहांपर यम उस मार्ग को (पितृयाणको) जानता है जिससे कि पितर जाते हैं व अन्य उनका अनुगमन करते हैं यह दर्शाया है ।

यमकी स्वर्गमें पहुंचानेके लिए सहमति ।

नमः सुते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयं विचृता बन्धमेतम् । यमेन त्वं यम्या संविदानोत्तमे नाके अधि रोहयैनम् ॥ यजुः १२।६३ ॥

अर्थ- हे (निर्ऋते) निर्ऋति ! (ते नमः) तेरे लिए नमस्कार है । (तिग्मतेजः) उत्कट तेजवाली तू (अयस्मयं एतं बन्धं) लोहेके इस बन्धनको (विचृत) काट डाल । (त्वं) तू (यमेन यम्या संविदाना) यम व यमीके साथ मिलकर (एनं) इसको (उत्तमे नाके) उत्तम स्वर्गमें (अधिरोहय) पहुंचा ।

इस मंत्रमें निर्ऋतिका यमके साथ एकमत होकर स्वर्गमें पहुंचानेका उल्लेख है। अर्थात् यम स्वर्गमें जानेके लिए यमकी भी सहमति चाहिए ।

यमका दीर्घायु देना

ऊर्जो भागो य इमं जजानाश्मान्नानामाधिपत्यं जगाम। तमर्चत विश्वमित्रा हविर्भिः स नो यमः प्रतरं जीवसे धात्॥ अथर्व. १८।४।५४॥

अर्थ-- (यः)-जिस (ऊर्जः भाग) अन्नके विभाग करनेवालेने (इमं) इस अन्नको (जजान) पैदा किया है और जो (अश्मा) अश्मा होनेसे (अन्नानां अधिपत्यं) अन्नोंके स्वामीत्वको प्राप्त हुआ है ऐसे (तं) उसकी हे सबके मित्रो ! (हविर्भिः) हवियों-द्वारा (अर्चत) पूजा करो। (सः) वह (यमः) यम (नः) हमें (प्रतरं जीवसे धात्) बहुत जीनेके लिए धारण करे अर्थात् दीर्घायु देवे।

यमकी मनुष्योंसे रक्षा।

सूर्यो माहः पात्वग्निः पृथिव्या वायुरन्तरिक्षाद् यमो मनुष्येभ्यः सरस्वति पार्थिवेभ्यः॥

अथर्व० १६।४।४॥

अर्थ- (सूर्यः) सूर्य (अहः) दिनसे अर्थात् दिन में होनेवाले कष्टों से (मा पातु) मेरी रक्षा करे। (अग्निः) अग्नि (पृथिव्याः) पृथिवीसे, (वायुः अन्तरिक्षात्) वायु अंतरिक्षसे, (यमः मनुष्येभ्यः) यम मनुष्यों से तथा (सरस्वती पार्थिवेभ्यः) सरस्वती पार्थिव पदार्थोंसे मेरी रक्षा करे।

यम की मृत्यु से रक्षा

अपन्यधुः पौरुषेयं वधं यमिन्द्राग्नी धाता सविता बृहस्पतिः। सोमो राजा वरुणो अश्विना यमः पूषास्मान् परिपातु मृत्योः॥

अथर्व १९।२०।११॥

अर्थ- (यं पौरुषेयं वधं) जिस पुरुष संबन्धी वधको अर्थात् पुरुष के खूनको शत्रुओंने (अपन्यधुः) छिपकर किया है, उस वध के कारण होनेवाली (मृत्योः) मृत्युसे (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि, (धाता) धारण करनेवाला, (सविता) प्रेरणा करनेवाला, (बृहस्पतिः वाणियोंका अधिपति, (सोमः राजा) सौम्य स्वभाव वाला राजा, (वरुणः)वरुण, (अश्विना) देवों के वैद्य अश्वीनौ, (यमः) यम तथा (पूषा) पोषक देव (अस्मान्) हमारी (पातु)रक्षा करें।

मंत्रोक्त प्रत्येक देवतासे पुरुष की हिंसा से रक्षा करने की प्रार्थना की गई है। सबके साथ यम से भी मृत्युसे रक्षा करके लिए कहा गया है। यम के अनेक कार्य हैं जैसा कि पाठकोंको यम के प्रकरणसे पता चलेगा। यहां पर सिर्फ थोडेसे मंत्रों को जिनका कि अन्यत्र समावेश नहीं हो सका है दर्शाए गए हैं।

यम के प्रति हमारे कार्य।

यमके लिए हवि।

परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनु पस्पशानम्। वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य॥ ऋ० १०।१४।१॥

अर्थ- (प्रवतः) प्रकृष्ट, उत्तम तथा निकृष्ट योनिगत प्राणियों का (अनु) लक्ष्य करे (महीः परेयिवांसं) पृथिवीपर आए हुए तथा (बहुभ्यः) बहुतोंके लिए (पन्थां) यम लोकके मार्ग को (अनुपस्पशानं) दर्शाते हुए (जनानां सङ्गमनं) जिसमें मनुष्य जमा होते हैं ऐसे (वैवस्वतं) विवस्वान् के पुत्र (यमं राजानं) यम राजा की (हविषा. दुवस्य) हवि देकर पूजा कर।

हमने पहिले देखा है कि यम के दूत मनुष्यों के पीछे सर्वदा लगे हुए हैं। यहांपर उसी भाव को भिन्न रूप से दर्शाया है। यम सबके पीछे लगा हुआ है। जिस जिसकी अवधि पूर्ण हुई कि उसे यमलोक का मार्ग वह दर्शाता है।

यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहुता हविः
यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरङ्कृतः॥
ऋ० १०।१४।१३॥

यम मंत्र थोडे से पाठ भेदके साथ अथर्व वेद में है—

यमाय सोमः पवते यमाय क्रियते हविः।
यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्नि दूतो अरङ्कृतः॥
अथर्व० १८।२।१॥

अर्थ- (यमाय सोमं सुनुत) यम के लिए यज्ञमें सोम को निचोडो। (यमाय हविः जुहुत) यमके लिए यज्ञ में हवि दो। (ह) निश्चयसे (अरङ्कृतः

अग्निदूतः यज्ञः यमं गच्छति) शीघ्रता करता हुआ, अग्नि जिसका दूत है ऐसा यज्ञ यम को जाता है ।

इस मंत्र में यम के लिए सोम व हवि देनेका उल्लेख है। यम के लिए किया गया यज्ञ उसे प्राप्त होता है यह भी साथ दर्शाया गया है।

यमाय घृतवद्धविर्जुहोत प्र च तिष्ठत।
स नो देवेष्वा यमद्दीर्घायुः प्रजीवसे॥
ऋ० १० । १४ । १४ ॥

अथर्व वेदमें थोडेसे पाठभेदके साथ यह मंत्र इस प्रकार है—

यमाय घृतवत् पयो राज्ञे हविर्जुहोतन।
स नो जीवेष्वा यमद्दीर्घायुः प्रजीवसे॥
अथर्व० १८ । २ । ३ ॥

अर्थ- (यमाय) यम के लिए (घृतवत् हविः) घी से परिपूर्ण हविको (जुहोत) दो । और इस प्रकार (प्रतिष्ठत) प्रतिष्ठित होओ । (सः) वह यम (नः) हमें (प्रजीवसे) उत्तम प्रकार से जीनेके लिए (देवेषु) देवोंमे (नः)हमें (दीर्घायुः आयमत्) दीर्घायुष्य को देवे ।

इस मंत्र में यम के लिए घीसे परिपूर्ण हवि के देने का व दीर्घायु देने की प्रार्थना का उल्लेख है।

यम के लिये अन्न की हवि।

यद् यामं चक्रु निखनन्तो अग्रे कार्षीवणा अन्नविदो न विद्यया । वैवस्वते राजनि तज्जुहोम्यथ यज्ञियं मधुमदस्तु नोऽन्नम्॥
अथर्व० ६ । ११६ । १ ॥

अर्थ— (अग्रे) पहिले (निखनन्तः) भूमि खोदते हुए अर्थात् कृषि करते हुए (अन्नविदः) अन्नको जाननेवाले अर्थात् अन्नकी प्राप्ति किस प्रकारसे होती है इस बातके जाननेवाले अथवा अन्नकी प्राप्ति करनेवाले (कार्षीवणाः) किसानोंने (न विद्यया) अज्ञान के कारण (यत् यामं चक्रुः) जो यम संबंधी अपराध किया अथवा (अन्न विदः न) अन्नोंको प्राप्त करनेवालोंकी तरह (यत् यामं चक्रुः) जो कृषि संबन्धी नियम समूह बनाया (तत्) उस उत्पन्न अन्नको (वैवस्वते राजनि) वैवस्वत राजा यममें (जुहोमि) देता हूं (अथ) और तब (नः) हमारा (यज्ञियं अन्नं मधुमत् अस्तु) यज्ञके योग्य जो अन्न है वह मधुरतावाला होवे ।

इसमंत्रमें नवीन उत्पन्न अन्न का अंश यमके लिये देनेका निर्देश है।

यमकी पूजा !

ते हि द्यावापृथिवी भूरिरेतसा नराशंसश्चतुरङ्गो यमोऽदितिः। देवस्त्वष्टा द्रविणोदा ऋभुक्षणः प्ररोदसी मरुतो विष्णुरर्हिरे
ऋ० १०।९२।११

अर्थ— (ते भूरि रेतसा द्यावा पृथिवी) वे बहुत जलवाली द्यु और पृथिवी, (यमः) यम, (अदितिः) अदिति, (त्वष्टा देवः) त्वष्टा देव (द्रविणोदाः) अग्नि, (ऋभुक्षणः) ज्ञानी वा कारीगर गण, (रोदसी) रुद्रकी पत्नी, (मरुतः) देव गण तथा (विष्णुः) विष्णु ये सब (नराशंसः चतुरङ्ग) नराशंस चतुरंग यज्ञमें (अर्हिरे) पूजे जाते हैं। यहां अन्योंके साथ यम की भी पूजाका उल्लेख है।

यम के लिए घर बनाना।

यथा यमाय हर्म्यमवपन् पंचमानवाः।
एवा वपामि हर्म्यं यथा मे भूरयोऽसत॥
अथर्व० १८।४।५५

अर्थ- (यथा) जिस प्रकार (पंचमानवाः) पांचमानवोंने (यमाय) यमके लिए (हर्म्यं) घरको (अवपन्) बनाया है (एव) उसी प्रकार मैं भी (हर्म्यं वपामि) घर बनाता हूं (यथा) जिससे कि (मे) मेरे (भूरयः) बहुत से घर (असत) हो जावें ।

पंचमानवाः- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ये चार वर्ण व पांचवा निषाद। अथवा देव मनुष्यादि पूजन, जैसा कि ऐतरेय ब्राह्मण में कहा है- 'सर्वेषां वा एतत् पंचजनानां उक्थ्यं देवमनुष्याणां गन्धर्वाप्सरसां सर्पाणां पितृणांच। एतेषां वा एतत् पंचजनानां उक्थाम्' इति। ऐ. ब्रा. ३।३१ ॥

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि जिसको अपने घरोंके बढाने की इच्छा हो वह यमके लिए घर बंधवावे। पंच मानव यमके लिए घर बनाते हैं।

यमके लिये स्वधा-नमः

यमाय पितृमते स्वधा नमः॥ अथर्व० १८।४।७४

अर्थ- (पितृमते यमाय) उत्कृष्ट पिता के पुत्र यमके लिए स्वधा और नमस्कार है। यहां यमके लिए स्वधा का निर्देश है।

इस प्रकार इस विभागमें संक्षेप से यमके लिए हमें क्या करना चाहिए यह दर्शाया गया है।

यम और स्वप्न ।

इस प्रकरण में यमके साथ स्वप्नका क्या संबन्ध है उसकी उत्पत्ति कैसे होती है इत्यादि बातों की चर्चा होगी।

स्वप्नका पिता यम ।

यो न जीवोसि न मृतो देवानाममृतगर्भोऽसि स्वप्न। वरुणानी ते माता यमः पितारुर्नामासि ॥ अथर्व० ६।४६।१॥

अर्थ— हे स्वप्न ! (यः) जो तू (न जीवः असि न मृतः) न तो जीवित ही है और नहीं मरा हुआ ही है वह तू (देवानां अमृतगर्भः असि) देवोंका अमृत गर्भ है अर्थात् देवोंमें सर्वदा रहनेवाला है। (ते) तेरी (वरुणानी माता) वरूणानी माता है और (यमः पिता) यम पिता है। (अररुः नाम असिः) तू अररु नामवाला है।

देवानां- यहां देवानां का अर्थ इन्द्रियोंका है। स्वप्न इन्द्रियोंमें अमृत रूपसे बसा हुआ है। क्योंकि जागृत अवस्थामें इन्द्रियोंके अनुभवों से उत्पन्न वासनाओंसे उत्पन्न होता है। हमारे अन्दर वासनायें स्थायी हैं अतः स्वप्न उन वासनाओंसे उत्पन्न होनेसे अमृत हैं अतएव उसे यहां अमृत गर्भसे कहा गया है।

अररुः- पीडा देनेवाला। हिंसक। 'ऋगतिर्हिंसनयोः' से बना है। तै.ब्रा. ३।२।९।४ के अनुसार अररुनामवाला असुर।

वरुणानी- वरुण अर्थात् अंधकार की पत्नी।

इस प्रकार इस मंत्रमें यमको स्वप्नका पिता कहा गया है। अर्थात् स्वप्न यमका पुत्रहै। अतएव कईवार स्वप्नसे मृत्युभी हो जाती है।

यमस्य लोकादध्या बभूविथ प्रमदा मर्त्यान् प्रयुनक्षि धीरः। एकाकिना सरथं यासि विद्वान्त्स्वप्नं मिमानो असुरस्य योनौ ॥ अथर्व० १९।५६।१॥

अर्थ- हे स्वप्न ! तू (यमस्य लोकात्) यम के लोक से (अधि आबभूविथ) प्रकट हुआ हुआ है। (धीरः) धीठ (Bold) तू (प्रमदा) बडे अभिमान से (मर्त्यान्) मरणधर्मा मनुष्यों को (प्रयुनक्षि) अपने साथ संयुक्त करता है-अर्थात् अपने प्रभाव से उनमें प्रविष्ट हो जाता है, अतएव मनुष्यों को स्वप्न आता है। (विद्वान्) जानता हुआ अर्थात् जानबूझकर तू (असुरस्य योनौ) आत्मा के उपलब्धि के स्थान हृदय में (स्वप्नं मिमानः) स्वप्न को उत्पन्न करता हुआ (एकाकिना) अकेले स्वप्नदर्शी पुरुष वा मृत्यु के साथ (सरथं) समान वाहनपर सवार हुआ हुआ (यासि) विचरण करता है।

पूर्व मंत्र में यम को स्वप्न का पिता दर्शाया गया है। इस मंत्र में उसी की पुष्टि के रूपमें बताया गया है कि स्वप्न यमलोक में उत्पन्न होकर यहांपर संसार में आकर मनुष्यों में प्रविष्ट हुआ हुआ है।

स्वप्न, यम का करण

विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रोऽसि यमस्य करणः। अन्तकोऽसि मृत्युरसि। तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुष्वप्न्यात् पाहि ॥ अथर्व० ६।४६।२॥

अर्थ-हे स्वप्न ! (ते जनित्रं विद्मः) तेरी उत्पति को हम जानते हैं। तू (देवजामीनां पुत्रोऽसि) देवों की पत्नियों का पुत्र है। और (यमस्य करणः) यम के कार्यों का साधक है। तू (अंतकः असि) अंत करनेवाला है। (मृत्युः असि) तू मारनेवाला है। हे स्वप्न ! (तं त्वा) उस तुझ को (तथा) वैसा उपरोक्त जैसा (सं विद्म) हम जानते हैं। (सः) वह तू स्वप्न ! (नः दुष्वप्न्यात्) बुरे स्वप्न से हमारी (पाहि) रक्षा कर।

इस मंत्र में स्वप्न को देव पत्नियों का पुत्र कहा गया है। पूर्व मंत्र की टिप्पणी में हमने स्वप्न की

उत्पत्ति दर्शाते हुए यह बताया था कि देव अर्थात् इन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न वासनाओं से स्वप्नकी उत्पत्ति होती है । उसी कथन की पुष्टि इस मंत्र में 'देवजामीनां पुत्रः असि ' से की गई है। देवों अर्थात् इन्द्रियों की पत्नियां इन्द्रिय विषयजन्य वासनायें हैं। उनका स्वप्न पुत्र है। यहां पर विशेष बात कही गई वह यह कि स्वप्न को यमका करण बताया गया है। पाणिनि मुनिने करण का लक्षण अष्टाध्यायी में किया है कि- 'साधकतमं ' (अष्टा. १।४।४२)अर्थात् जो कार्य साधनेमें समीपतम साधन है वह करण है। कार्य साधक सब साधनों में जो साधन अधिक आवश्यक है वह करण कहलाता है। इस लक्षणानुसार यमका स्वप्न करण है इसका अभिप्राय यह हुआ कि यम के मारने के कार्य में स्वप्न सब से अधिक आवश्यक साधन है। पाठक स्वप्न के इस विशेषण से उसकी भयंकरता का अनुमान सहज कर सकते हैं।

इसी मंत्र के भाव को ही नीचे लिखे मंत्र में शब्द भेदसे कहा गया है-

देवानां पत्नीनां गर्भ यमस्य कर यो भद्रः स्वप्न।
स मम यः पापस्तद्द्विषते प्रहिण्मः।
मा तृष्टानामसि कृष्णशकुनेर्मुखम्॥
अथर्व॰ १९।५७।३

अर्थ- हे (देवानां पत्नीनां गर्भ) देवों की पत्नियों के गर्भ रूप तथा (यमस्य कर) यमके हाथ स्वप्न ! (यो भद्रः) जो कल्याणकारी तेरा अंश है (सः) वह अंश (मम) मेरा होवे। (यः पापः) और जो तेरा पापी - अनिष्टकारी अंश है (तत्) उस अंश को (द्विषते) द्वेष करनेवाले के प्रति (प्रहिण्म) हम भेजते हैं। (तृष्टानां) तृषितों-लोभियों - क्रूरों के बीचमें तू (कृष्ण शकुनेः) काले पक्षी के (कौएके) (मुखं) मुखकी तरह तू (मा असि) हमारे लिए बाधक मत हो, अर्थात् जिस प्रकार लोभियों को वा क्रूरों के लिए कौए का मुख अनिष्टकारी होता है उस प्रकार तू हमारे लिए अनिष्टकारी मत हो।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं ग्राह्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः॥ अथर्व॰ १६।५।१॥

अर्थ—हे स्वप्न ! (ते जनित्रं विद्म) तेरी उत्पत्ति को हम जानते हैं। तू (ग्राह्याः पुत्रः असि) ग्राही का पुत्र है और (यमस्य करणः) यम के कार्यों का साधक है।

इस मंत्र में स्वप्न को ग्राही का बेटा कहा गया है। गठिया आदि शरीर के जकडनेवाले रोग ग्राही कहलाते हैं। उन रोगों के कारण शरीर में पीडा बनी रहती है जिससे निद्रा नहीं आती और यदि आई भी तो स्वप्नकीसी अवस्था बनी रहती है। अतएव स्वप्न को ग्राही का पुत्र कहा है। यमस्य करण की व्याख्या ऊपर कर आए हैं।

अन्तकोऽसि मृत्युरसि॥ अथर्व॰ १६।५।२
" १६।५।९॥

हे स्वप्न तू (अन्तकः असि) प्राणान्त करनेवाला है। तू (मृत्युः असि) मारनेवाला है।

निद्रा बराबर न आनेसे व रोज स्वप्न आने से स्वास्थ्य बिगडकर अंतमें मृत्यु हो जाती है अतएव स्वप्न को यहां अन्तक व मृत्यु के नामसे कहा गया है।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं निर्ऋत्याः पुत्रोऽसि
यमस्य करणः। अन्तकोऽसि मृत्युरसि। तं त्वा
स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुष्वप्न्यात्
पाहि॥ अथर्व॰ १६।५।४॥

मंत्रका अर्थ हम ऊपर दे आए हैं। वहां पर ऐसा ही मंत्र आया है। इस मंत्र में स्वप्न को निर्ऋति का पुत्र कहा गया है। निर्ऋति से स्वप्न की उत्पत्ति का अभिप्राय यह है कि निर्ऋति अर्थात् कष्ट, दुःख आदि से मनुष्य को निद्रा नहीं आती। स्वप्न वह अवस्था है जिस अवस्था में कि गाढ निद्रा का अभाव होता है। और कष्टादि की दशामें मनुष्य को गाढ निद्रा नहीं आती। इसी अभिप्राय से स्वप्नको निर्ऋति का पुत्र कहा है। शेष मंत्र की व्याख्या पूर्ववत् ही है।

विद्म ते स्वप्न जनित्रमभूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य
करणः। अन्तऽकोसि॰ इत्यादि॰
अथर्व॰ १६।५।४ वत्॥
अथर्व॰१६।५।५।

अर्थ पूर्ववत्। इस मंत्रमें स्वप्न को अभूति अर्थात् अनैश्वर्य-दारिद्र्य का पुत्र कहा है। दरिद्रता के परितापसे भी मनुष्य को निद्रा नहीं आती। इस प्रकार गरीबी से भी स्वप्न (वास्तविक निद्रा का न आने) की उत्पत्ति है। शेष व्याख्या पूर्ववत् ही समझनी चाहिए।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं निर्भूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः। अन्तकोऽसि०। इत्यादि पूर्ववत्॥
अथर्व० १६।५।६॥

अर्थ पूर्ववत्। इस मंत्रमें स्वप्न को निर्भूति का पुत्र कहा गया है। निर्भूति का अर्थ है ऐश्वर्य-सम्पत्ति का निकल जाना-नष्ट हो जाना। सम्पत्तिशाली की सम्पत्ति नष्ट हो जानेसे उसे भी निद्रा नहीं आती। वह सुखकी निद्रा से नहीं सो सकता। इस प्रकार संपत्ति विनाश का भी स्वप्न पुत्र है।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं पराभूत्याः पुत्रो सि यमस्य करणः। अन्तकोऽसि०। इत्यादि॥
अथर्व० १६। ५। ७॥

अर्थ पूर्ववत्। इस मंत्र में स्वप्न को पराभूतिका पुत्र कहा गया है। पराभूतिका अर्थ है पराभव अर्थात् हारजाना, तिरस्कार को प्राप्त होना। पराभवसे वा तिरस्कार से मनुष्य को इतना मानसिक कष्ट होता है कि उसके लिए निद्रा हराम हो जाती है। और इस प्रकार पराभूति से स्वप्न की उत्पत्ति होती है।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रोऽसि यमस्य करणः॥ अथर्व० १६। ५। ८॥

हे स्वप्न तेरी उत्पत्ति को हम जानते हैं तू देवोंकी पत्नियों का पुत्र है और यमके कार्यों का साधक है। इस मंत्रका भाव हम पूर्व दर्शा आए हैं। देव पत्नियोंका पुत्र स्वप्न किस प्रकार है यह वहां विशद रूप से दर्शा आए हैं।

इस प्रकार यह अथर्ववेदके १६ वें काण्ड का ५ वां सूक्त संपूर्ण यम व स्वप्न विषयक है जो कि हमने ऊपर दिया है। इस सूक्त से व इससे व दिए गए पहिले के मंत्रोंसे यम व स्वप्न का संबन्ध स्पष्ट होता है। स्वप्न यमलोकमें रहता है वहांसे मनुष्यों में प्रविष्ट हुआ हुआ है, उसका पिता यम है, वरुणानी उसकी माता है। वह अपने पिता यम के कार्योंका निकटतम साधक है॥ इसके अतिरिक्त स्वप्न अर्थात् वास्तविक निद्रा का अभाव किन किन कारणोंसे होती है तथा उससे क्या दुष्परिणाम होते हैं, स्वप्न यम का करण किस प्रकार है इत्यादि बातों का उल्लेख इस सूक्त में स्पष्ट रूपसे हमें देखने को मिला है। इस प्रकार यह सूक्त तथा स्वप्न विषयक अन्य मंत्र भी यमके स्वरूप दर्शानेमें पर्याप्त सहायक हैं। यम विषयक पूर्व स्थापना को ये मंत्रभी पुष्ट कर रहे हैं यह पाठक इस विवेचनसे समझ सके होंगे।

परिशिष्ट।

इस प्रकरण में यम विषयक वे मंत्र दिए जायंगे जो कि निर्धारित प्रकरणोंमें से किसी में भी शालीम नहीं किए जा सके हैं। इस से पूर्व पितर विषयक प्रकरणोंके अंतमें जो परिशिष्ट करके प्रकरण दिया गया है वह पितर विषयक मंत्रोंका परिशिष्ट है। इस प्रकरण में दिए गए मंत्र भी अबतक आए हुए यम से ही संबन्ध रखते हैं यह बात पाठकों को भूलनी नहीं चाहिए। परिशिष्टसे यह न समझना चाहिए कि इस प्रकरणान्तर्गत मंत्रोंमें शायद यम अन्य अर्थों वाला हो। अन्य अर्थोंमें प्रयुक्त यम हम सबसे अंतमें 'भिन्न भिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त यम' नामक शीर्षकमें देंगे।

यम कौन है ?

यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतत्। वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत॥ अथर्व० १८।३।१३

अर्थ- (यः) जो (मर्त्यानां प्रथमः ममार) मनुष्यों में सबसे प्रथम मरा और (यः) जो (एतं लोकं प्रथमः प्र ईयाय) इस लोक यम लोक को सब से पहिले गया उस (जनानां संगमनं) जनों के संगमन(वैवस्वतं यमं राजानं)विवस्वान् के पुत्र यम राजाकी (हविषा सपर्यत) हवि द्वारा पूजा करो।

इस मंत्र से ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्योंमेंसे सबसे प्रथम मनुष्य विवस्वान् का पुत्र, सबसे पहिले इस लोकमें आकर मरा और फिर सबसे पहिले

मृत्यु लोकमें गया अतः उस लोक का नाम उसके नामसे यमलोक ऐसा पडा। इस का अभिप्राय यह हुआ कि जो मनुष्य सबसे प्रथम मरता है वह इस कल्पमें यम बनता है।

संगमनका अर्थ है जिसमें प्राणी जाकर जमा होते हैं। यमराजाकी हवि द्वारा पूजा करनेकाभी यहां निर्देश है। अर्थात् यम को भी हवि देनी चाहिए।

यम व विवस्वान्।

यमः परोवरो विवस्वान् ततः परं नातिपश्यामि किंचन। यमे अध्वरो अधि मे निविष्टो भुवो विवस्वानन्वाततान॥

अथर्व० १८।२।३२॥

अर्थ- (यमः परः) यम परे है अर्थात् दूर है और (विवस्वान्) सूर्य उससे (अवरः) समीप है। (ततः परं) उस यम से परे मैं (किंचन न अति पश्यामि) कुछ भी दूर स्थित हुआ हुआ नहीं देखता हूं। वा नहीं समझता हूं (यमे मे अध्वरः अधिनिविष्टः) यमके अन्दर मेरा अध्वर अर्थात् हिंसारहित यज्ञ स्थित है (विवस्वान् भुवः अनु-आततान) सूर्यने द्युलोक को अपने प्रकाशसे फैला रखा है।

इस मंत्र में पिता पुत्र यम व विवस्वान् की स्थान की दृष्टिसे तुलना की गई है। यम का स्थान सूर्य से परे है और उससे परे कोई नहीं है। हमने यमलोक नामक प्रकरण में देखा था कि तीन प्रकार की द्युमें से दो सूर्यके समीप हैं तथा तीसरी यम के राज्य में है। उसको दृष्टीमें रखते हुए इस मंत्र के यम विवस्वान् से परे है इस कथन का अभिप्राय यह हुआ कि यम जिस द्युमें है वह सब से परे है अर्थात् वह द्युलोककी समाप्ति पर है। उसके आगे द्युलोक समाप्त हो जाता है। हमारी समझमें यहां पर स्थान की दृष्टिसे ही तुलना है। पर का अर्थ उत्कृष्ट भी हो सकता है और अवर का अर्थ अधम भी हो सकता है पर ऐसा अर्थ करने से उस का भाव ध्यानमें आना कठिन है। उपरोक्त अर्थ की पुष्टि करनेवाले मंत्र हम पूर्व देख आए हैं और अतः उस दृष्टि से इस मंत्र का अर्थ विशेष संगत प्रतीत होता है।

भुवः-इस का अर्थ द्युलोक है जैसा कि 'भु-भुर्वः स्वः' इस में भुवः का अर्थ है।

इषुमान् यम।

दक्षिणायै त्वा दिश इन्द्रायोधिपतये तिरश्चिराजये रक्षित्रे यमायेषुमते। एतं परिदद्मस्तं नो गोपायतास्माकमैतोः। दिष्टं नो अत्र जरसे नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह संभवेम॥ अथर्व० १२।३।५६॥

अर्थ- (दक्षिणायै दिशे अधिपतये) दक्षिण दिशाके स्वामी, के लिए (तिरश्चिराजये रक्षित्रे) कीट पतङ्गादि तिर्यक् गमन करनेवालों से रक्षा करनेवाले (इषुमते इन्द्राय यमाय रक्षार्थ) बाणधारक ऐश्वर्यशाली यम के लिए (एतं त्वा) इस तुझ को (परिदद्मः) सौंपते हैं। (अस्माकं ऐतोः) हमारी गतिसे (तं) उस की तथा (नः) हमारी (गोपयत) रक्षाकर। (दिष्टं नः अत्र जरसे निनेषत्) हमारि पूर्वजन्म के कर्म अर्थात् नसीब हमें यहां बुढापे तक पहुंचावें। (नः) हमें (जरा) बुढापा (मृत्यवे परि ददातु) मृत्यु को सौंपे अर्थात् वृद्धावस्था से पूर्व हमरी मृत्यु न हो। (अथ) मरने के बाद (पक्वेन सह संभवेम) पक्व परिपूर्ण परमात्मासे जा मिलें।

यम और ऋण

अपमित्यमप्रतीतं मदस्मि यमस्य येन बलिना चरामि। इदं तदग्ने अनृणो भवामि त्वं पाशान् विचृतं वेत्था सर्वान्॥

अथर्व ६।११७।१॥

अर्थ- (यत्) क्यों कि मैं (अपमित्यं) जो देना है पर वह (अप्रतीतं) नहीं दिया है ऐसा ऋण हूं अर्थात् मेरे पर वह ऋण है। (यमस्य येन बलिना) यम के जिस बलवान् ऋण से मैं ऋणी हुआ हुआ (चरामि) विचरण कर रहा हूं, (अग्ने) हे अग्नि! (तत्) वह उपरोक्त जो ऋण है उससे मैं तेरे द्वारा (अनृणः) ऋण रहित होऊं। क्यों कि (त्वं) तू (सर्वान् पाशान्) सब पाशों को (विचृतं

वेत्थ) काटना वा खोलना जानती है ।

इस मंत्र में यह दर्शाया गया है कि अग्नि की सहायता से यमके ऋण से मुक्त हुआ जा सकता है । अग्नि सर्व प्रकार के बंधनों को काटना जानती है।

यम की अग्निको स्थिर करना

इषीकां जरतीमिष्ट्वा तिल्पिञ्जं दण्डनं नडम् ।
तमिन्द्र इध्मं कृत्वा यमस्याग्निं निरादधौ ॥
अथर्व० १२।२।५४॥

अर्थ--(इन्द्रः) इन्द्रने (जरतीं इषीकां) जरती इषीका से (इष्ट्वा) याग करके और (तिल्पिञ्जं) तिलिंपज, (दण्डनं) दण्डन व (नडं) नडको (इध्मं) समिधा बना करके (यमस्य)यम की (तं अग्निं) उस अग्निका (निः आदधौ)निश्चय से स्थापित किया ।

जरती इषीका = बूढे अर्थात् सूखे हुए कानें ।

तिल्पिञ्ज - तिलों के गुच्छे । दण्डन-यह भी एक प्रकार की काने की जातकी वनस्पति है । नड-नडे जिसकी कलमें बनती हैं ।

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि यम की अग्निमें इन चीजों से याग करना चाहिए जिससे कि यम की अग्नि स्थिर बनी रहे ।

यम के भाग जल

यमस्य भाग स्थ । अपां शुक्रमापो देवी वर्चो अस्मासु धत्त। प्रजापतेर्वो धाम्नाऽस्मै लोकाय सादये ॥ अथर्व० १०।५।१२॥

अर्थ—हे जलो ! तुम (यमस्य भाग स्थ) यम के भाग हो । (देवीः आपः) हे दिव्यजलो ! (अपां शुक्रं वर्चः अस्मासु धत्त) जलों का शुद्ध तेज हमारे में स्थापित करो । (वः) तुम्हें (प्रजापतेः धाम्ना) प्रजापति के तेजसे (अस्मै लोकाय सादये) इस लोक के लिए स्थित करता हूं।

इस मंत्र में जलों को यम का अंश बताया गया है । उन से तेज मांगने की प्रार्थना की गई है ।

...... यमनेत्रेभ्यो देवेभ्यो दक्षिणासद्भ्यः स्वाहा ... ॥ यजुः अ० ९।३५॥

अर्थ -(यमनेत्रेभ्यः) यम जिनका नेता है ऐसे (दक्षिणासद्भ्यः) दक्षिण दिशामें बैठनेवाले (देवेभ्यः स्वाहा) देवों के लिए यह आहुति है ।

... ये देवा यमनेत्रा दक्षिणा सदस्तेभ्यः स्वाहा .... ॥ यजुः अ० ९।३५॥

अर्थ—(ये देवाः यमनेत्राः) जो देव यमनेत्र अर्थात् यम जिनका नेता हैं ऐसे तथा (दक्षिणासदः) दक्षिण दिशामें बैठनेवाले हैं (तेभ्यः) उन के लिए (स्वाहा) स्वाहा पूर्वक यह आहुति हो ।

इन मंत्रों से दक्षिण दिशावालों का यम नेता है ऐसा पता चलता है ।

... यमस्य त्रयोदशी ... ॥ यजुः २५। ४ ॥

अर्थ- यम की त्रयोदशी है ।

यम की त्रयोदशी का क्या अभिप्राय है यह विचारणीय है । पाठकगण विचार कर किसी अभिप्राय पर पहुंचें गे ऐसी आशा है ।

... यमाय कृष्णः ॥ यजुः २४ । ३० ॥

अर्थ- यमके लिए काला पशु होवे ॥ यजुर्वेदके इस मंत्रमें भिन्न भिन्नके लिए भिन्न भिन्न पशुओंका विधान है। परन्तु इस विधान का क्या रहस्य है यह एक विचारणीय समस्या है । स्वामीजीके भाष्यसे भी इसपर कुछ भी प्रकाश नहीं पडता ।

तस्या यमो राजा वत्स आसीद्
रजतपात्रं पात्रम्॥

(तस्याः) उस विराट्रूपी गौका (यमः राजा) यमराजा (वत्सः आसीत्) बछडा था व दूध दोहनेके लिए (पात्रं) बरतन (रजतपात्रं) चान्दीका बरतन था ।

यहां पर आलंकारिक वर्णन प्रतीत होता है पर यह अलंकार किसका किस प्रकार है यह एक विचाणीय बात है ।

परिशिष्ट में आए हुए कई मंत्र खासकरके पिछले विशेष विचारणीय हैं क्यों कि इनका अभिप्राय बरारबर व्यक्त नहीं हो रहा है ।

यम व पितरोंका संबन्ध ।

यम व पितर विषयक के अबतक के विवेचन से पाठक गण पितर व यमके पारस्परिक संबन्धसे कुछ न कुछ अवश्य परिचित हो गए होंगे । यमके

तथा पितरों के अलग अलग दिए गए विवरणों-से यम क्या है, व पितर क्या हैं, यह भी पाठकों-के ध्यानमें सहज आ गया होगा। यम व पितरों के संबन्ध का खास खास स्थानोंपर हमने निर्देश भी किया है। उन निर्देशोंसे जो बातें हमें पता चली हैं उनसे यह स्पष्ट है कि यम पितरों का राजा है व पितर उसकी प्रजा हैं। पितर यमलोकमें रहते हैं। उसीका नाम पितृलोक भी है।

इन्हीं उपरोक्त परिणामों की पुष्टि निम्न मंत्र स्पष्ट रूपमें करते हुए दिखाई दे रहे हैं।

यम पितरोंका अधिपति

यमः पितॄणामधिपतिः स मावतु। अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठा-यामस्यां चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ अथर्व० ५।२४।१४॥

अर्थ — (सः पितॄणां अधिपतिः) वह पितरोंका स्वामी (राजा) (यमः) यम (मा अवतु) निम्न लिखित कर्मोंमें मेरी रक्षाकरे। (अस्मिन् ब्रह्मणि) इस ब्रह्मज्ञान की प्राप्तिमें। (अस्मिन् कर्मणि) इस श्रेष्ठ कर्ममें। (अस्यां पुरोधायां) इस पुरोहिताईके काममें। (अस्यां प्रतिष्ठायां) इस प्रतिष्ठाके कार्य में। (अस्यां चित्यां) इस चेतना युक्त कार्योंमें। (अस्यां आकूत्यां) इस संकल्पमें। (अस्यां आशिषि) इस आशीर्वादके कार्यमें। (अस्यां देवहूत्यां) इस देवोंके आह्वाहनके कार्योंमें।

इस मंत्रमें यमको पितरों का स्वामी कहा गया है। पितरोंके ऊपर यमके अधिकार को यहां पर स्पष्ट किया गया है। यह अधिकार किस रूपमें है अर्थात् यम पितरोंका किस तरह स्वामी है यह नीचेके मंत्रसे स्पष्ट हो रहा है-

स यत् पितॄननुव्यचलद् यमो राजा भूत्वाऽ
नुव्यचलत् स्वधाकारं अन्नादं कृत्वा॥
अथर्व. १५।१४।१३॥

अर्थ — (सः) वह व्रात्य (यत्) जब (पितॄन् अनुव्यचलत्) पितरोंका लक्ष्य करके चला अर्थात् पितरोंमें आया तब (यमः राजा भूत्वा) यम पितरोंका राजा बनकरके तथा पितरों के लिए (स्वधाकारं अन्नादं कृत्वा) स्वधा करके दिए हुए को जीवनयात्रा का साधन भूत अन्न बनता हुआ (अनुव्यचलत्) उस व्रात्य के पीछे पीछे पितरों में आया।

व्रात्य नाम अतिथि का है। यहां पर यम पितरोंका राजा बनकर उनमें रहता है यह दर्शाया गया है।

पितरों का यम राजा है इस बात की निम्न मंत्र भी पुष्टि कर रहे हैं।

मा त्वा वृक्षः संबाधिष्ट मा देवी पृथिवी मही।
लोकं पितृषु वित्त्वैधस्व यमराजसु॥
अथर्व० १८।२।२५॥

अर्थ—(त्वा वृक्षः मा संबाधिष्ट) तुझ वृक्ष अर्थात् वनस्पतियां बाधा मत पहुंचावें। वृक्ष यहां वनस्पतियों का उपलक्षण है। (देवी मही पृथिवी मा) और दिव्य गुणोंवाली विस्तृत पृथिवी भी तुझे बाधा मत पहुंचाए। (यमराजसु पितृषु लोकं वित्त्वा) यम जिनका राजा है ऐसे पितरों में स्थान प्राप्त करके (एधस्व) वृधि को प्राप्त हो।

इस मंत्रमें स्पष्ट रूपसे यम का पितरों के राजा होने को दर्शाया गया है। पितर यमकी प्रजा हैं। यमराज में भी पितर रहते हैं इसका यहांपर स्पष्ट रूपसे उल्लेख है। यह मंत्र प्रेत को लक्ष्य कर के कहा गया है। इसी प्रकार निम्न मंत्र में भी उपरोक्त मंत्र के भाव को ही पुष्ट किया गया है।

प्राणो अपानो व्यान आयुश्चक्षुर्दृशये सूर्याय।
अपरिपरेण पथा यमराज्ञः पितॄन् गच्छ॥
अथर्व० १८। २।४६॥

अर्थ- (प्राणः) प्राण, (अपानः) अपान, (व्यानः) व्यान, (आयुः) आयु और (चक्षुः) आंख (सूर्याय दृशये) सूर्यके दर्शन के लिए अर्थात् इस संसार में जीवन धारण करने के लिए होवें। और आयु के पूर्ण होनेपर देह का त्याग करनेपर हे प्रेत! तू (अपरिपरेण पथा) अकुटिल मार्ग द्वारा (यमराज्ञः पितॄन्) यम जिनका राजा है ऐसे पितरों को (गच्छ) जा-प्राप्त हो।

अपरिपरः- परि परितः सर्वतः परः परभावः कुटिलभावः अथवा शत्रुः न विद्यते यस्मिन् सः अपरिपरः। अर्थात् जिसमें सर्वथा कुटिलता वा शत्रु आदि नहीं है वह अपरिपर।

७ इस मंत्र में भी पितरों का जो विशेषण दिया गया है वह यम का पितरों के राजा होने को ही सिद्ध कर रहा है।

यम श्रेष्ठ पितर !

सप्तर्षीन् वा इदं ब्रूमोऽपो देवीः प्रजापतिम्।
पितॄन् यमश्रेष्ठान् ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥
अथर्व ११।६।११॥

अर्थ- (सप्त ऋषीन्) सात ऋषियों को (इदं ब्रूमः) यह कहते हैं। (देवीः अपः) दीव्य जलों को हम कहते हैं। (प्रजापतिं) प्रजापति को हम कहते हैं और (यमश्रेष्ठान् पितॄन्) यम के कारण से जो श्रेष्ठ हैं ऐसे पितरों को हम (ब्रूमः) कहते हैं कि (ते) वे उपरोक्त सब (नः) हमें (अंहसः मुञ्चतु) पाप से छुडावें।

यहां पर पितरों को यमश्रेष्ठ कहा गया है। यहां पर यम का अर्थ योग में कहे गए अहिंसा अस्तेय आदि भी हो सकता है। जो इन षड् यमों के पालने से श्रेष्ठ हुए हैं वे यमश्रेष्ठ ऐसा भी इसका अर्थ हो सकता है।

अस्तु उपरोक्त विवरण से यह पता चला कि यम पितरों का राजा है व पितर उसकी प्रजा हैं।

यम व पितरों के सहकार्य

इसमें यह दिखाया जायगा कि कौन कौन से कार्य यम तथा पितर मिलकर करते हैं।

यमके साथ हवि खाना

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः। तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥ ऋ० १०।१५।८॥
यजुः अ० १९।५१॥

अर्थ- (ये पूर्वे सोम्यासः वसिष्ठाः पितरः) हमारे जिन पुरातन सोम संपादन करनेवाले तथा उत्तमधनवाले पितरोंने यज्ञमें (सोमपीथं) सोमपान को (अनु ऊहिरे) किया था, (तेभिः) उन (उशद्भिः) यम के साथ सोमपान की कामना करते हुए पितरों के साथ, (उशन् यमः) पितरों के साथ सोमपान की इच्छा करता हुआ यम (संरराणः) पितरों के साथ रमण करता हुआ (हवींषि) हवियों को (प्रतिकामं) यथेच्छ (अत्तु) खावे।

इस मंत्र में पितरों के साथ हवि खाने की इच्छा करता हुआ यम उनके साथ हवि खाता है यह दर्शाया गया है।

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा अनूजहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः। तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥ अथर्व० १८।३।४६

इस मंत्रका उत्तरार्ध उपरोक्त ऋ० १०।१५।८ के साथ सर्वथा मिलता है

अर्थ- (नः ये पितुः पितरो ये पितामहाः) हमारे जिन पिता के पितरों ने और उन के भी जिन पितामहों ने जो कि उत्तम धन संपन्न थे, (सोमपीथं) यज्ञ में सोमपान (अनुजहिरे) स्वीकृत किया था अर्थात् सोमपान किया था उन पितरों के साथ० इत्यादि पूर्ववत् ॥

इस मंत्र में भी प्रथम मंत्रोक्त बात को ही पुनः कहा गया है। इस प्रकार यम का पितरों के साथ हवि लेने का कार्य ये मंत्र बता रहे हैं।

यम व पितरों के साथ जाना

ह्वयामि ते मनसा मन इहेमान् गृहाँ उपजुजुषाण एहि। सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेन स्योनास्त्वा वाता उपवान्तु शग्माः॥ अथर्व० १८।२।२१॥

अर्थ- (ते मनः मनसा ह्वयामि) तेरे मन को मन द्वारा बुलाता हूं। (इह) यहां (इमान् गृहान्) इन घरों से (जुजुषाणः उप एहि) प्रीति करता हुआ अन्दर आ। तू (पितृभिः) पितरों के (सं गच्छस्व) साथ विचरण कर। (यमेन सं) यमके साथ विवचरण कर। (स्योनाः) सुखदायक (शग्माः) शक्तिशाली (वाताः) वायु (त्वा उपवान्तु) तेरे लिए बहें।

यहां पर यम व पितरोंके साथ जानेको कहा गया है उसका अभिप्राय यह हुआ कि यम व पितर साथ साथ विचरण करते हैं।

पितर व यमका मिलकर सुखदेना

दक्षिणां दिशमभि नक्षमाणौ पर्यावर्तेथामभि पात्रमेतत्। तस्मिन् वां यमः पितृभिः संवि-

दानः पक्वाय शर्म बहुलं नियच्छात् ॥

अथर्व० १२।३।८॥

अर्थ—(दक्षिणां दिशं) दक्षिण दिशा की (अभिनक्षमाणौ) ओर जाते हुए तुम दोनों (एतत् पात्रं अभि) इस पात्र की ओर (परि आवर्तेथाम्) लौट आओ। (तस्मिन्) उस पात्र में (पितृभिः संविदानः यमः) पितरों के साथ मिला हुआ यम (पक्वाय) पक्व होने के लिए अर्थात् पूर्ण आयु देने के लिए (वां) तुम दोनों को (बहुलं शर्म) बहुत सुख (नि यच्छात्) देवे ।

इस मंत्र में यह दर्शाया गया है कि यम पितरों के साथ मिल झुलकर सुख देता है। यहां पात्र शब्द से किस का अभिप्राय है यह व्यक्त नहीं होता।

यम व पितरोंकी सहमति से स्वर्ग प्राप्ति

अयस्मये द्रुपदे बेधिषे इहाभिहितो मृत्युभिर्ये सहस्रम्। यमेन त्वं पितृभिः संविदान उत्तमं नाकं अधिरोहयेमम् ॥ अथर्व० ६।६३।३॥
" ६।८४।४॥

अर्थ—(इह) यहां (अभिहितः) सर्वत्र स्थित हुई हुई हे निऋति! तू (ये सहस्रं) जो हजारों हैं ऐसे (मृत्युभिः) मृत्यु के पाशों से (अयस्मये द्रुपदे) लोहमयी लकडी की बनी हुई वेडी में (बेधिषे) बांधती है। (त्वं) तू (यमेन पितृभिः सं विदानः) यम और पितरों के साथ मिलकर उनकी सहमति से (इमं) इसको (उत्तमं नाकं आधिरोहय) उत्तम स्वर्ग में पहुंचा।

निऋति से यहां प्रार्थना की गई है कि वह यम व पितरों से मिलकर स्वर्ग में पहुंचावे। परन्तु इसका क्या अभिप्राय है अर्थात् निऋति किस प्रकार स्वर्ग को पहुंचाती हैं, उसका स्वर्ग से क्या तालुक है यह विचारणीय है।

पितरों का स्थूणा धारण करना व यम का स्थान देना।

उत्तेस्तभ्नाभि पृथिवीं त्वत्परीमं लोगं निदधन्मो अहं रिषम्। एतां स्थूणां पितरो धारयन्तु तेऽत्रा यमः सादना ते मिनोतु ॥

ऋ० १०।१८।१३॥

यह मंत्र थोडे से पाठभेद के साथ अथर्ववेदमें भी आया है—

उत्ते स्तभ्नामि पृथिवीं त्वत्परीमं लोगं निदधन्मो अहं रिषम्। एतां स्थूणां पितरो धारयन्तु ते तत्र यमः सादना ते कृणोतु ॥

अथर्व० १८।३।५२॥

अर्थ- (ते) तेरे लिए (पृथिवीं) पृथिवी को (उत् स्तभ्नामि) ऊपर को उठाकर रखता हूं। फिर (त्वत् परि) तेरे पर उस (लोगं) मिट्टी के ढेले को जो कि उठा रखा है। (निदधत्) रखता हुआ (मो अहं रिषम्) मैं मत नष्ट होऊं। (एतां स्थूणां) इस खंभेको तेरे लिए (पितरः धारयन्तु) पितर धारण करें। (अत्र) औरउस आधारस्तंभ पर (ते) तेरे लिए (यमः) यम (सादना) घरों को (मिनोतु) बनावे।

आङ्गिरस् पितर व यम

मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः। याँश्च देवा वावृधुर्ये च देवान्त्स्वाहान्ये स्वधयान्ये मदन्ति ॥

ऋ० १०।१४।३॥

यह मंत्र पाठान्तर से अथर्ववेद में है-

मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पति ऋक्वभिर्वावृधानः। याँश्च देवा वावृधुर्ये च देवाँस्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥ अथर्व० १८।१।४७॥

अर्थ- (मातली) इन्द्र (कव्यैः) कव्य खाने वाले पितरों से, (यमः) यम (अङ्गिरोभिः) अङ्गिरस् पितरों से तथा (बृहस्पतिः) बृहस्पति (ऋक्वभिः) ऋचाओं से (वावृधानः) वृद्धिको प्राप्त होता है। (यान् देवाः वावृधुः) जिनको देव बढाते हैं (ये च) और जो (देवान्) देवोंको बढाते हैं, (अन्ये) उनमें से अन्य मातली, यम और बृहस्पति तो (स्वाहा मदन्ति) वषट्कार से दी हुई हवि से प्रसन्न होते हैं और (अन्ये) इन से भिन्न दूसरे कव्य, अङ्गिरस् आदि (स्वधया) स्वधाकार से प्रसन्न होते हैं।

अथर्व वेदमें जो थोडासा पाठभेद है वह इस मंत्र के अर्थ को अधिक स्पष्ट करता है। उसके अनुसार मंत्रार्थ इस प्रकार है—

इन्द्र कव्य पितरों से, यम अङ्गिरस् पितरों से तथा बृहस्पति ऋचाओं से स्तुति करनेवाले पितरों से बढता है। जिन पितरों को ये उपरोक्त देव बढाते हैं तथा जिन देवों के ये उपरोक्त पितर बढाते हैं ऐसे वे पितर बुलाए जानेपर हमारी रक्षा करें।

इस प्रकार इस मंत्र में यह दर्शाया गया है कि यम अङ्गिरस् पितरों से बढता है यानि यशस्वी होता है।

इमं यम प्रस्तर मा हि सीदाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः। आ त्वा मंत्राः कविशस्ताः वहन्त्वेना राजन् हविषा मादयस्व ॥
ऋ० १०।१४।४॥ अथर्व० १८।१।६०॥

अर्थ- हे यम। (अङ्गिरोभिः पितृभिः संविदनः) अङ्गिरस् पितरों से मिला हुआ तू (इमं प्रस्तरं) इस फैलाए हुए आसन पर (आसीद) बैठ। (त्वां कविशस्ताः मंत्राः) तुझे कविशस्त मंत्र (आ वहन्तु) बुलावें (एना) इस (हविषा) हविद्वारा (मादयस्व) प्रसन्न हो।

कविशस्तमंत्र— कवि अर्थात् क्रान्तदर्शी ज्ञानी लोकों से जिनकी प्रशंसा की गई है ऐसे मंत्र प्रशंसनीय मंत्र।

इस मंत्र में प्रशंसापरक मंत्रोंद्वारा यमके अङ्गिरस् पितरों के साथ बुलाकर यज्ञमें विस्तृत आसन पर बैठानेका उल्लेख है।

यमका अङ्गिरस् पितरों के साथ आना।

अङ्गिरोभिरागहि यज्ञियेभिः यम वैरूपैरिह मादयस्व। विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन् यज्ञे बर्हिष्या निषद्य ॥ ऋ० १०।१४।५

यह मंत्र थोडेसे पाठ भेद के साथ अथर्व वेदमें भी है-

अङ्गिरोभिर्यज्ञियैरागहीह यम वैरूपैरिह मादयस्व। विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन् बर्हिष्या निषद्य ॥ अथर्व० १८।१।५९

अर्थ- हे यम (वैरूपैः) विविध रूपवाले (यज्ञियेभिः)पूजनीय यज्ञके योग्य(अङ्गिरोभिः) अङ्गिरस् पितरों के साथ (इह आगहि) इस यज्ञमें आ। और (मादयस्व) प्रसन्न हो। (विवस्वन्तं हुवे) मैं विवस्वान् को भी बुलाता हूं (यः) जो कि विवस्वान् (ते पिता) तेरा पिता है। वह तेरा पिता (अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञमें (बर्हिषि आ निषद्य) आसन पर बैठकर यजमान को आनन्दित करे।

इस मंत्रमें यम को अङ्गिरस् पितरोंके साथ यज्ञ में बुलाया गया है। इसके अतिरिक्त यह मंत्र यमका पिता विवस्वान् है इस पूर्वोक्त परिणाम का समर्थन कर रहा है। विवस्वान् को भी यज्ञमें बुलानेका यहां निर्देश है।

अबतक के इन मंत्रोंसे अङ्गिरस् पितर व यम के संबन्ध का व परस्पर के व्यवहारों का हमें पता चलता है। ये सब मंत्र यमका पितरोंसे विशेष संबन्ध है यह स्पष्ट रूपसे प्रतिपादन कर रहे हैं। यम बहुत से काम पितरोंसे मिलकर ही करता है। इससे यम राज्यमें पितरोंकी स्थिति पर भी थोडासा प्रकाश अवश्य पडता है।

इस प्रकार विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त यम संबन्धी मंत्र समाप्त होते हैं। पाठक इन पर गंभीरता पूर्वक विचार करें तथा जो उचित हो वह ग्रहण करें तथा शेष त्याग दें। अब हम अगले प्रकरण में उन मंत्रों पर विचार करेंगे जिनमें कि यम इस अर्थ के अतिरिक्त अर्थोंमें प्रयुक्त हुआहुआ है।

भिन्न भिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त यम।

इस प्रकरण में हम यह विचार करेंगे कि यम अन्य किन किन अर्थोंमें वेदमें प्रयुक्त हुआ हुआ है। इस प्रकरण में हम सिर्फ मंत्रार्थ देंगे ताकि पाठकोंको यम का अर्थ पता लग सके। कहीं कहीं जरूरत हुई तो दो चार शब्द लिखेंगे।

युगल अर्थमें यम।

प्रात र्यावाणा रथ्येव वीराजेव यमा वरमा सचेथे। मेने इव तन्वा शुंभमाने दम्पतीव क्रतुविदा जनेषु॥
ऋ० २।३९।२

अर्थ- (प्रातः यावाणौ) प्रातः काल आनेवाले (रथ्या इव) रथमें जुते हुए दो घोडों की तरह (वीरौ) वीर (अजा इव) दो बकरों की तरह (यमा) युगल (तन्वा शुंभमाने मेने इव) शरीर से सुशोभित होती हुई दो मैनाओंकी तरह सुन्दर शरीरवाले, (दम्पती इव क्रतु विदौ) पती-पत्नीके जोडेकी तरह सर्व कार्य कुशल हे अश्विनौ तुम दोनों (जनेषु) जनतामें (वरं आसचेथे) उत्तम कर्मका योग करते हो अर्थात् जनतामें वांच्छनीय कार्यों की वृद्धि करते हो।

इस मंत्रमें अत्यन्त सुन्दर रीतिसे उपमालंकार-द्वारा अश्विनौ का वर्णन है। प्रत्येक उपमा को देखते-ही बनती है। अजौ इव यमौ- अश्विनौकी उत्पत्ति युगलमें है अर्थात् वे सहोत्पन्न हैं। और बकरी के पेटसेभी प्रायः जोडा ही पैदा होता है अतः उनकी इस युगल उत्पत्ति का दर्शाने के लिए यमौ अजौ अर्थात् युगलोत्पन्न दो बकरों से दी गई है। युगलोत्पत्ति दर्शानेके लिए और ऐसी उत्तम उपमा मिलनी दुर्लभ है। एक उपमा का सौन्दर्य हमने दर्शाया है। पाठक इसी एक उपमा के देखनेसे अन्यों का महत्व स्वयमेव समझ सकते हैं।

यमा चिदत्र यमसूरसूत जिह्वाया अग्रं पतदा ह्यस्थात् वपूंषि जाता मिथुना सचेते तमोहना तपुषो बुध्न एता॥ ऋ० ३।३९।३॥

अर्थ— इस मंत्रमें उषा कालका वर्णन प्रतित होता है-

(अत्र) यहां (यम) जोडेको उत्पन्न करनेवाली उषाने (यमौ) जोडेको (असूत) उत्पन्न किया। अतः (हि) निश्चयसे(जिह्वायाः अग्रं पतत् आ अस्थात्) जीभका अग्रभाग स्तुतिकरने के लिए चंचलसा हुआ हुआ स्थित है अर्थात् उसकी स्तुति करना चाहता है। (तपुषः बुध्ने) दिनके मूलमें अर्थात् प्रातः कालमें (आइतौ) आए हुए (तमोहनौ) अंधकारका नाश करनेवाले (मिथुनौ) युगलोत्पन्न (वपूंषि) रूपोंको (सचेते) प्राप्त करते हैं।

यहां संभवतः सूर्य चन्द्रका वर्णन प्रतीत होता है। इस मंत्र के भाव को स्पष्ट रूपसे खोलने के लिए विशेष विचार अपेक्षित है।

वातत्विषो मरुतो वर्षनिर्णिजो यमा इव सुसदृशः सुपेशसः। पिशङ्गाश्वा अरुणाश्वा अरेपसः प्रत्वक्षसो महिना द्यौरिवोरवः॥ ऋ० ५।५७।४॥

अर्थ- (वात त्विषः) वायु की तरह जो तेजस्वी हैं अर्थात् वायु के समान वेगवाले, (वर्ष निर्णिजः) वर्षका निर्णय करनेवाले, (यमाः इव सु सदृशः सुपेशसः) युगलोत्पन्नों की तरह जो देखनेमें एक जैसे व सुन्दर (पिशङ्गाश्वाः)पीले घोडोंवाले तथा (अरुणाश्वाः) लाल घोडोंवाले, (अरेपसः) पाप रहित (प्रत्वक्षसः) अत्यन्त सूक्ष्म कार्यों के भी करनेवाले, (महिना) अपनी महिमासे (द्यौः इव) द्यु की तरह (उरवः) महान् (मरुतः) ये मनुष्य हैं।

वळित्था महिमा वामिन्द्राग्नी पनिष्ठ आ। समानो वां जनिता भ्रातरा युवं यमाविहेह मातरा ऋ० ६।५९।२॥

अर्थ- हे इन्द्राग्नी ! (इत्था) इस उपरोक्त प्रकारसे (वां महिमा) तुम्हारी महिमा (वट्) सत्य है और (पनिष्ठः) स्तुत्य प्रशंसनीय है। (वां जनिता समानः) तुम्हारा उत्पन्न करनेवाला समान अर्थात् एक ही है। (युवं यमौ भ्रातरौ तुम दोनों सहोत्पन्न (युगल) भाई हो। और तुम दोनों (इह इह मातरा) यहां यहां अर्थात् सर्वत्र विद्यमान मातावाले हो।

पनिष्ठ-पणि व्यवहारे स्तुतौ च से बना है। अत्यन्त प्रशंसनीय-स्तुत्य।

वि यो ममे यम्या संयती मदः साकं वृधा पयसा पिन्वदक्षिता। मही अपारे रजसी विवेविददभिव्रजन्नक्षितं पाजआदद॥ ऋ० ९। ६८। ३॥

अर्थ—(यः मदः) जिस मदने (यम्या) युगलमें रहनेवाली (संयतीः) साथ साथ गति करनेवाली द्यावा पृथिवीको (विममे) निर्माण किया। और फिर (साकं वृधा) साथ साथ बढनेवाली तथा (अक्षिता) न क्षय होनेवाली द्यावा पृथिवीको (पयस्य पिन्वत्) जल से सींचा। फिर उसने (मही) महान् (अपारे) पार रहित (रजसी) द्यावा पृथिवी का (विवे विदत्) ज्ञान कराया। (अभिव्रजन्) चारों ओर भ्रमण करते हुए उसने फिर (अक्षितं पाजं) अक्षय बलको (आददे) ग्रहण कि

या र्थात् अत्यन्त बलवान् हुआ ।

उषः उषो हि वसो अग्रमेषि त्वं यमयोरभवो विभावा । ऋताय सप्त दधिषे पदानि जनयन्मित्रं तन्वे स्वायै ॥ ऋ० १० । ८ । ४ ॥

अर्थ- (वसो) हे वसु! तू (उषः उषः हि अग्रं एषि) प्रत्येक उषाके आगे आगे आता है। (त्वं) तू (यमयोः) युगलभूत दिनरात का (विभावा अभवः) प्रकाशित करनेवाला है। (स्वायै तन्वे) अपने शरीर के लिए (मित्रं जनयन्) आदित्यको उत्पन्न करता हुआ (ऋताय) यज्ञके लिए (सप्त पदानि) धिष्ण्यादि सात स्थानों को (दधिषे) धारण करता है।

यमस्य मा यम्यं काम आगन्त्समाने योनौ सहशेय्याय । जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां विचिद्वृहेव रथ्येव चक्रा ॥ ऋ० १० । १० ॥ ७ तथा अथर्व० १८ । १ । ८

अर्थ- (मा यम्यं) मुझ युगलोत्पन्न बहिनको (यमस्य) सहोत्पन्न (युगलोत्पन्न) यम की (समाने योनौ सहशेय्याय) एकही स्थानपर साथ सोनेके लिए (कामं आगन्) इच्छा हुई है। मैं यमी (पत्ये जाया इव) जिस प्रकार पतिके लिए जाया अपना शरीर फैलाती है उस प्रकार (तन्वे) अपना शरीर इस यमके लिए फैला हूं। और फिर हम दोनों (रथ्या चक्रा इव) रथके दोनों पहियोंकी तरह (विवृहेव) उद्यम करें।

विवृहेव = वि पूर्वक वृहू उद्यमने।

रात्रीभिरस्मा अहभिर्दशस्येत् सूर्यस्य चक्षुर्मुहुरुन्मिमीयात् । दिवा पृथिव्या मिथुना सबन्धू यमी यमस्य बिभृयादजामि ॥ ऋ. १०।१०।९॥ अथर्व. १८।१।१०

अर्थ— (रात्रीभिः अहभिः) रात्रियों व दिनोंके साथ (अस्मै) इस यम युगलोत्पन्न भाईके लिए (सूर्यस्य चक्षुः) सूर्यकी आंख प्रकाशको (दशस्येत्) देवे तथा (मुहुः) बार बार वह सूर्य की आंख यानि प्रकाश (उन्मिमीयात्) उदय होती रहे। अर्थात् यह यम दीर्घायु बने। और तब जिस प्रकार (सबन्धू) समान बन्धू होते हुए भी (पृथिव्या दिवा) पथिवी और द्यु (मिथुना) पतिपत्नीके जोडेवाले हैं उसी प्रकार यह सबन्धु होती हुई भी यमी (यमस्य) यमके साथ (अजामि) अ बहिन का व्यवहार यानि पत्नीका व्यवहार (बिभृयात्) धारण करे। यमकी सहोदर बहिन होती हुई भी पत्नी बनकर रहे।

बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयं चाविदाम। अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तं परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम् ॥ ऋ. १०।१०।१३ अथर्व. १८।१।१५॥

अर्थ- (बत) हाय! हे (यम) युगलोत्पन्न भाई! (बत असि) तू बडा निर्बल है। (ते) तेरे (मनः हृदयं च) मन व हृदयको (न एव अविदाम) हम नहीं जान पाए। (किल) निश्चयसे (अन्या) दूसरी कोई स्त्री (त्वां) तुझे (कक्ष्या इव) जिस प्रकार घोडेपर काठी वा जीन बांधने की पेटी घोडेको आलिंगन करती है तथा (वृक्षं लिबुजा इव) जिस प्रकार वृक्षको बेल आलिंगन करती है उस प्रकार (परिष्वजातै) आलिंगन करेगी।

अन्यमुषु त्वं यम्यन्य उ त्वां परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम् । तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तवाधा कृणुष्व संविदं सुभद्राम् ॥ ऋ. १०।१०।१४॥ अथर्व. १८।१।१६॥

अर्थ - हे (यमी) युगलोत्पन्न बहिन! (त्वं) तू परिष्वजातै) आलिङ्गन के लिए (अन्यं दूसरे पुरुषको (सु) अच्छी तरह प्राप्त हो। (अन्यः) दूसरा पुरुष (त्वां) तुझे अलिंगन के लिए प्राप्त हो। किस प्रकार जिस प्रकारकि (वृक्षं लिबुजा इव) वृक्षको बेल प्राप्त होती है। (तस्य त्वं मन इच्छा) हे यमी उस पुरुषके मनकी तू इच्छा कर (अधा) और (सः) वह तेरे मनकी इच्छा कर। और इस प्रकार (सुभद्रां संविदं) कल्याणकारी मिलनको (कृणुष्व) कर।

यमे इव यतमाने यदैतं प्रवां भरन्मानुषा देवयन्तः। आसीदतं स्व मुलोकं विदाने स्वासस्थे भवतमिन्दवे नः ॥ ऋ. १०।१३।२॥

अर्थ- इस मंत्र का देवता हविर्धानशकट है। हे (यमे इव) जिस प्रकार युगलोत्पन्न संतान संचार करती है उस प्रकार (यतमाने) अपने कामोंमें प्रवर्तमान (युवां) तुम दोनोंको (यदा) जब तुम (एतं) जातेहो तब (देवयन्तः मानुषाः) देव बननेकी इच्छावाले मनुष्य (प्रभरन्) भरते हैं । तुम (स्वं-लोकं विदाने) अपने स्थान को जानते हुए (आसिदतं) बैठजाओ। तब (नः) हमारे (इन्द्रवे) इन्दु के लिए (स्वासस्थे भवतम्) उत्तम निवासस्थान बनो।

समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः सम्मातरा चि-
न्न समं दुहाते। यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि
ज्ञाती चित्सन्तौ न समं पृणीतः ॥
ऋ० १० । ११७ । ९ ॥

अर्थ- (समौ चित् हस्तौ) दोनों हाथों के समान होते हुए भी (समं न विविष्टः) कार्य को समा न नहीं करते । (संमातरौ चित्) एक जैसी दो मातायें (गौएं) होने परभी (समं न दुहाते) समान दूध नहीं देतीं । (यमयोःचित् न वीर्याणि समानि) युगलोत्पन्न दो पुत्रों के भी सामर्थ्य समान नहीं होते। और इसी प्रकार (ज्ञाती चित्) एक कुलोत्पन्न संबन्धी होते हुए भी (समं न पृणीत) समान दान नहीं करते ।

इतश्च मामुतश्चावतां यमे इव यतमाने यदैतम् ।
प्र वां भरन् मानुषा देवयन्तो आ सीदतां स्वमु-
लोकं विदाने ॥ अथर्व० १८।३।३८

अर्थ- (यमे इव यतमाने) युगलकी तरह प्रयत्न शील तुम दोनों (यत्) जब (एतं) आओ तब (इतः च अमुतः च) इस लोकसे व उस लोकसे (मां) मेरी (अवतां) रक्षा करो। (देवयन्तः मानुषाः) देवत्व की कामनावाले मनुष्यों ने (वां) तुम दोनों को (भरन्) भरा है। (स्वलोकं विदाने) अपना अपना स्थान जानते हुए (आसीदतां) बैठो।

इस प्रकार इन मंत्रों के अवलोकन से पाठकों के ध्यान में सहज आ जाए गा कि इन मंत्रों में प्रयुक्त यम शब्द युगल अर्थ में प्रयुक्त हुआ हुआ है।

२– नियमन अर्थ में यम।

इस विभागमें उन मंत्रों का उल्लेख होगा जिनमें कि यम नियमन, नियामक आदि इन्हीं के सदृश अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ हुआ है।

एता ते अग्न उचथानि वेधो जुष्टानि सन्तु मनसे
हृदे च। शकेम रायः सुधुरो यमं तेऽधि श्रवो
देवभक्तं दधानाः ॥
ऋ० १।७३।१०

अर्थ- (वेधः अग्ने) हे मेधावी अग्नि! (एता उचथानि) ये वैदिक स्तोत्र (ते मनसे हृदे च) तेरे मन व हृदय के लिए (जुष्टानि सन्तु) प्रीति उत्पन्न करनेवाले हों। (देवभक्तं श्रवः दधानाः) देवोंसे सेवित अन्न वा धन को धारण करते हुए हम (ते सुधुरः रायः यमं शकेम) तेरे उत्तम तथा धारण करने योग्य अथवा जो उत्तम प्रकारसे दारिद्र्यका नाश करनेवाले धनका नियमन कर सकें। श्रवः अन्न। निघण्टुः- २। ७ ॥ श्रवः=धन। निघ० २।१०

यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रत-
पा वेन आजनि। आ गा आजदुशना काव्यः
सचा यमस्य जातममृतं यजामहे॥ ऋ० १। ८३।५॥

अर्थ- (अथर्वा) स्थिर प्रकृति विद्वान् ने (प्रथमः) सबसे पहिले (यज्ञैः) यज्ञोंद्वारा(पथः तते) मार्ग का विस्तार किया। (ततः) तब (व्रतपाः वेनः सूर्यः) व्रतरक्षक चमकीला सूर्य (आजनि) उत्पन्न हुआ। और फिर (उशनाः काव्यः सचा) कामना करते हुए कविको पुत्र के साथ मिलकर सूर्यने (गाः आ आजत्) किरणों को फैंका अर्थात् सर्वत्र प्रकाश किया। (यमस्य जातं अमृतं) नियमन के लिए उत्पन्न अमृत का हम (यजामहे) यजन करते हैं- उसकी पूजा करते हैं। यहां सूर्योदय का वर्णन है। सचा सह। निघ० ४। २॥

यमेन दत्तं त्रित एनमायुनगिन्द्र एनं प्रथमो अ-
ध्यतिष्ठत्। गन्धर्वो अस्य रशनामगृभ्णात् सू-
रादश्वं वसवो निरतष्ट॥ ऋ० १। १६३। २॥
यजुः २९।१३ ॥

इस मंत्रका देवता अश्व है। अर्थ – (वसवः सूरात् अश्वं निरतष्ट) वसुओंने सूर्य से घोडे

को ब नाया यानि उत्पन्न किया । फिर (यमेन दत्तं) नियामक अग्निसे दिए हुए उस घोडेको (त्रितः) तीनों लोकोंमें विस्तृत वायुने (आयुनक्) रथादिमें जोडा। (इन्द्रः एनं प्रथमः अध्यतिष्ठत्) इन्द्र उसपर सबसे पहिले सवार हुआ । (गन्धर्वः अस्य रशनां अगृभ्णात्) गन्धर्वने उस घोडे की लगाम पकडी । रशना=घोडेके बांधनेके रस्सी ।

असि यमो अस्यादित्यो अर्वन्नसि त्रितो गुह्येन व्रतेन । असि सोमेन समया विपृक्त आहुस्ते त्रीणि दिवि बन्धनानि ॥

ऋ० १।१६३।३
यजुः २९।१४

अर्थ- हे (अर्वन्) घोडे । तू (यमः असि) नियामक है। तू (आदित्यः असि) सूर्य है। तू (गुह्येन व्रतेन त्रितः असि) गोप्य व्रतसे तीनों लोकों में फैला हुआ है । तू (सोमेन समया विपृक्तः असि) सोमके समीपके संपर्क से रहित है अर्थात् सोमसे दूर स्थित है । (ते) तेरे (दिवि) द्युलोक में (त्रीणि बन्धनानि आहुः) तीन बन्धन हैं ऐसा विद्वान् लोक कहते हैं ।

इन सब मंत्रोंमें अश्वादिके नामसे आलंकारिक वर्णन है । इन मंत्रों का गूढाशय व संगति करण हम यहां पर करने का प्रयत्न नहीं करेंगे । हमारा उद्देश केवल यम का पदार्थ दिखाना है। फिर किसी समय हो सका तो इन मंत्रों पर विशेष विचार करेंगे ।

साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजं षळिद् यमा ऋषयो देवजा इति । तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः ॥

ऋ० १।१६४।१५

अर्थ- (साकं जानां) साथ उत्पन्न हुई हुई ऋतुओंमें (सप्तथं) सातवीं ऋतुको काल तत्वके जाननेवाले (एकजं आहुः) एकही महीनेसे उत्पन्न हुई हुई कहते हैं । अर्थात् १२ मासकी ६ ऋतुएं बनती हैं । परन्तु जिस वर्ष एक अधिक मास आता है उस वार इस एक महीने की एक और अलग अधिक सातवी ऋतु बनती है । इस सातवीं ऋतुमें एक ही मास होता है । इसी बातको ' सप्तथं आहुः एकजं ' से कहा गया है । आगे चलकर कहते हैं कि वास्तव में तो (देव जाः) सूर्यसे उत्पन्न होने वाली (यमाः) सर्व कार्यों की नियामक (षड् इति ऋषयः) ६ ही आने जानेवाली ऋतुयें हैं । परन्तु कभी कभी यह एक अधिक मास आकर सातवीं ऋतु बनाता है। (तेषां इष्टानि धामशः विहितानि) इन ऋतुओंके स्वरूप आदि स्थानानुसार जैसे चाहिए वैसे बनाए गये हैं । अर्थात् जिस ऋतुमें जो जो आवश्यक है वह वह उस ऋतुमें उत्पन्न होता है । और (रूपशः विकृतानि) और ऋतुओं के स्वरूपानुसार इष्ट पदार्थ विविध स्वरूपवाले बनाए हैं । ये सब ऋतुएं (स्थात्रे रेजन्ते) अपने अधिष्ठाता का बीचमें चक्कर लगाती हुई गतिकर रही हैं ।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ ऋ० १।१६४।४६॥

अर्थ- (विप्राः) बुद्धिमान् लोक (इन्द्रं) इन्द्र, (मित्रं) मित्र, (वरुणं) वरुण,अग्नि आदि अनेक नामों से (एकं सत्) उस एक कोही (बहुधा) बहुत प्रकार के नामों से (वदन्ति) कहते हैं। (अथ) और इसी प्रकार कई उसे कहते हैं कि (सः) वह (दिव्यः सुपर्णः गरुत्मान्) दिव्य है, उत्तम गतिवाला है, महानात्मा है । कोई उसे (अग्निं यमं मातरिश्वानं आहुः) अग्नि, नियामक, मातरिश्वा आदि नाम से कहते हैं । इस प्रकार उस अकेलेही को इन भिन्न भिन्न नामों से कहते हैं ।

यह मंत्र निरुक्त में भी व्याख्यात है । देखो निरु० ७।१८॥

अग्ने शकेम ते वयं यमं देवस्य वाजिनः ।
अति द्वेषांसि तरेम ॥ ऋ० ३।२७।३॥

अर्थ- (अग्ने) हे अग्नि ! (वयं) हम (वाजिनः देवस्य ते) बलवान् दिव्यगुणों वाले तेरा (यमं शकेम) नियमन करने में समर्थ हों । और इस प्रकार (द्वेषांसि) द्वेषों के (अति तरेम) पार हो जावें । अर्थात् द्वेषों से सर्वथा मुक्त हो जावें ।

क्व वोऽश्वाः क्वाभीशवः कथं शेक कथा यय ।
पृष्ठे सदो नसोर्यमः ॥ ऋ० ५।६१।२॥

अर्थ-हे मनुष्यो! (वः अश्वाः क्व) तुम्हारे घोडे कहां हैं! (अभीशवः क्व) उन घोडों के बांधनेकी रसियां कहां हैं अथवा तुम्हारी अभीशव अर्थात् अंगुलियां कहां हैं यानि तुम्हारी कार्य कुशलता कहां गई ? (कथं शेक) बिना घोडों के जल्दी कैसे पहुंच सकेंगे ? (कथायय) कैसे जाओगे? (पृष्ठे सदः) घोडों के पीठपर की जीन, काठी आदि कहां हैं ? (नसोर्यमः) और नासिकाओं की नियमन करनेवाली नाथ आदि कहां है ?

त इन्निण्यं हृदयस्य प्रकेतैः सहस्रवल्शमभि सं चरन्ति। यमेन ततं परिधिं वयन्तोऽप्सरस उपसेदुर्वसिष्ठाः ॥ ऋ. ७।३३।९ ॥

अर्थ-(ते इत् वसिष्ठाः) वे हि वसिष्ठ (हृदयस्य प्रकेतैः) हृदय के प्रकृष्ट ज्ञानों से (निण्यं सहस्रवल्शं) छिपे हुए हजारों शाखाओंवाले संसार में (अभिसंचरन्ति) संचार करते हैं। और वे वसिष्ठ (यमेन ततं परिधिं वयन्तः) नियामक परमात्मा द्वारा फैला हुए जन्मादि प्रवाहरूपी वस्त्र को बुनते हुए (अप्सरसः उपसेदुः) अप्सराओं के समीप बैठते हैं ।

स्तुहीन्द्रं व्यश्ववदनूर्मिं वाजिनं यमम् ।
अर्यो गयं मंहमानं वि दाशुषे ॥ ऋ० ८।२४।२२॥

अर्थ—(अनूर्मिं) किसी से भी जिसकी हिंसा नहीं की जा सकती अथवा जो शत्रुओं से अगन्तव्य हैं ऐसे (वाजिनं) बलवान् व (यमम्) सबका नियमन करनेवाले (इन्द्रं) इन्द्र की (व्यश्ववत्) व्यश्व की तरह (स्तुहि) स्तुति कर। (अर्यः) सबका स्वामी वह इन्द्र (दाशुषे) दान करनेवाले के लिए (मंहमानं गयं) पूजनीय धन वा घर को (वि) विशेष रूपसे देता है ।

व्यश्व के विषय में सायणाचार्य ने लिखा है कि विश्वनामक किसी व्यक्ति का पिता।

प्रेष्ठमु प्रियाणां स्तुह्यासावातिथिम् ।
अग्निं रथानां यमम् ॥ ऋ० ८।१०३।१०॥

अर्थ- हे (आसाव) स्तुति करने वाले! (प्रियाणां प्रेष्ठं) प्रियोंमें सबसे अधिक प्रिय (अतिथिं) आई हुई (रथानां यमं) रथों के नियमन करनेवाली अर्थात् ले जानेवाली (अग्निं स्तुहि) अग्निकी स्तुति कर।

इस मंत्रमें आहु हुए अग्निके विशेषण ' रथानां यमं ' से अग्निद्वारा रथ चलानेका निर्देश मिलता है। अग्नि रथ से अग्निके द्वारा चलनेवाले रथ का ग्रहण किया जा सकता है।

सं दक्षेण मनसा जायते कविर्ऋतस्य गर्भो निहितो यमा परः। यूना ह सन्ता प्रथमं विजज्ञतु र्गुहाहितं जनिमनेममुद्यतम् ॥

ऋ० ९।६८।५

अर्थ- (दक्षेण मनसा संजायते) प्रवृद्ध मनसे उत्पन्न होता है। उस (कविः) कान्तदर्शी (ऋतस्य गर्भः) सत्यके गर्भ अर्थात् सत्यमें स्थित को (यमा) यम द्वारा नियम द्वारा देवोंने (परः निहितः) दूर स्थापित किया है। (यूना सन्तौ) उन दोनोंने जवान होनेपर (प्रथमं विजज्ञतुः)सबसे प्रथम जाना। उन दोनोंका (जनिम गुहाहितं) जन्म गुफामें स्थित है अर्थात् छिपा हुआ है सबको मालूम नहीं है। उनका जन्म (नेमं) आधा (उद्यतं) प्रकाशित है अर्थात् उनके जन्म के विषयमें आधा मालूम है।

अग्निर्जातो अथर्वणा विदद् विश्वानि काव्या।
भुवद्दूतो विवस्वतो वि वो मदे प्रियो यमस्य काम्यो विवक्षसे ॥

ऋ० १०।२१।५

अर्थ- (अथर्वणा जातः अग्नि) अथर्वा से उत्पन्न हुई हुई (अग्निः) अग्नि (विश्वानि काव्या) सर्व काव्यों को (विदत्) जानती है। विवस्वतः दूतः भुवत्) वह अग्नि विवस्वान् का दूत बनती है। (वः विमदे प्रियः)और तुह्मारे विशेष आनन्द के लिए वह अग्नि प्रिय होती है। (यमस्य काम्यः) यमकी कमनीय चाहने योग्य बनती है। अतः हे अग्नि! तू (विवक्षसे) महान् है।

अहमत्कं कवये शिश्नथं हथैरहं कुत्समावमाभिरूतिभिः। अहं शुष्णस्य श्नथिता वधर्यमं न यो रर आर्यं नाम दस्यवे ॥

ऋ. १०।४९।३

अर्थ — (अहं) मैं इन्द्र (कवये) क्रान्तदर्शीके लिए (अत्कं) आच्छादक-आक्रमण कारी शत्रुको

हथैः) हथियारोंसे (शिश्नथं) मार डालता हूं। (मैं) मैं इन्द्र (कुत्सं) कुत्सकी (आभिः ऊतिभिः) इन रक्षणों द्वारा (आवं) रक्षा करता हूं। (अहं) मैं (शुष्णस्य श्नथिता)हिंसा करनेवाले की हिंसा करता हूं। (यः वधः यमं) इस प्रकार मैने जो वध है उसका नियमन किया है। हिंसाको रोका है। (दस्यवे) दस्युके लिए (आर्यं नाम न ररे) मैं आर्य नाम नहीं देता। अर्थात् दस्युओंको आर्य का नाम नहीं देता। वे आर्योंमें शामिल नहीं हो सकते।

इस मंत्रके अभिप्रायको अच्छीतरह जाननेके लिए पाठक ऋ. १।३३।१४ तथा ऋ. १।१०३।८ का इस मंत्रसे मिलान करके देखें।

भूम्या अन्तं पर्येके चरन्ति रथस्य धूर्षु युक्तासो अस्थुः। श्रमस्य दायं विभजन्त्ये-भ्यो यदा यमो भवति हर्म्ये हितः॥

ऋ. १०।११४।१०॥

अर्थ- (रथस्य धूर्षु युक्तासः अस्थुः)रथके जूओं में जुते हुए होकर (एके) कुछ सूर्यकी किरण रूपी घोडे (भूम्याः अन्तं परिचरन्ति) भूमिकी समाप्ति तक विचरण करते हैं। (यदा) जब (यमः) उन घोडोंका नियामक सूर्य (हर्म्ये हितः भवति) अपने घरमें वापिस लौटकर स्थित होता है तब (एभ्यः) इन सूर्य रश्मिरूपी घोडोंके लिए (श्रमस्य दायं विभजन्ति) श्रम- थकावटको दूर करने वाली वस्तुओंको देते हैं। यहां आलंकारिक रूपसे सूर्यका पृथिवीपर भ्रमण दर्शाया गया है। दायं-दो अवखण्डनेसे यह शब्द बना है। इसका अर्थ है टुकडे टुकडेकर देनेवाला। श्रमस्य दायं=जो थकावट के टुकडे टुकडे कर दे अर्थात् जो थकावट को दूर कर दे।

दीर्घं ह्यङ्कुशं यथा शक्तिं बिभर्षि मन्तुमः। पूर्वेण मघवन्पदाजो वयां यथा यमो देवी जनित्र्यजीजनद्भद्रा जनित्र्यजीजनत्॥

ऋ १०।१३४।६॥

अर्थ- हे (मन्तुमः) ज्ञानवान् इन्द्र ! (यथा दीर्घं अङ्कुशं) जिस प्रकार महावत हाथी को काबुमें रखनेके लिए दीर्घ अङ्कुश को धारण करता है उस प्रकार तू (शक्तिं बिभर्षि) शत्रुओंको वश करने के लिए शक्ति को धारण करता है। और हे मघवन् ! (यथा) जिसप्रकार (पूर्वेण पदा अजः वयां) अपने अगले पैरोंसे बकरा वृक्षकी शाखा को खींचकर काबु करता है उस प्रकार तू (यमः) शत्रुओंका नियमन करता है। इस प्रकार (देवी जनित्री) दिव्य गुणोंवाली माताने (अजीजनत्) ऐसा पुत्ररत्न पैदा किया अतः वह (भद्रा) कल्याण कारिणी हुई। इस मंत्रमें प्रशस्त पुत्र के जन्म देनेसे जननी प्रशस्त होती है यह दर्शाया है। इन्द्रके दृष्टान्त द्वारा प्रशस्त पुत्र उत्पन्न करने का यहां उपदेश दिया गया है।

...यमाय त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीय हयो दात्र एधि वयो मह्यं प्रति ग्रहीत्रे॥

यजुः ७। ४७॥

अर्थ- (यमाय) यम नियमादिके पालन के लिए (त्वा वरुणः मह्यं ददातु) तुझे वरुण मेरे लिए देता है। (सः) वह मैं (अमृतत्वं अशीय) अमरत्व को प्राप्त करूं। (दात्रे हयः एधि) दाता के लिए ज्ञान वा घोडों को बढा। (प्रति ग्रहीत्रे) लेनेवाले (मह्यं) मेरे लिए (वयः) अन्न आयु प्राण बढा।

प्रथमा ह व्युवास सा धेनुरभवद् यमे। सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम्॥

अथर्व० ३। १०। १॥

अर्थ - (प्रथमाह वि उवास) सबसे प्रथम उषा अन्धकारका नाश करती हुई प्रकट हुई। (सा यमे धेनुः अभवत्) वह यज्ञमें धेनु अर्थात् तृप्त करने वाली हुई। अर्थात् जो सुनियमोंका पालन करता है उसके लिए यह काम धेनु जैसी है। (सा) वह (पयस्वती) दूध देने वाली होती हुई (नः उत्तरां उत्तरां समां दुहां) हमारे लिए उत्तरोत्तर अर्थात् अनेवाले वर्षोंमें दूध देती रहे।

यद् राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशं यमस्यामी सभासदः। अविस्तस्मात् प्रमुञ्चति दत्तः शितिपात् स्वधा॥ अथर्व० ३। २९। १॥

अर्थ- (यमस्य अमी राजानः सभासदः) नियम से चलनेवाले राजाके ये राज्य करनेवाले सभासद (यत् इष्टापूर्तस्य षोडशं विभजन्ते) जो अन्नादिका सोलहवां भाग विभक्त करते हैं। वह (दत्तः) दीया हुआ भाग(अविः)रक्षक बनकर(शिति-पात्)

हिंसकों को गिरानेवाला (स्व-धा) और अपना धारण करनेवाला होता हुआ (तस्मात् प्रमुञ्चति) उस भयसे छुडाता है। इस मंत्रमें प्रजासे राजाको मिलने वाले करका वर्णन है।

अवैरहत्यायेदमा पपत्यात् सुवीरताया इदमा ससद्यात्। पराङेव परा वद पराचीमनु संवतम्। यथा यमस्य त्वा गृहेऽरसं प्रति चाकशानाभूकं प्रति चाकशान्॥ अथर्व० ६। २९।३॥

अर्थ- (इदं) यह जो उपरोक्त मंत्रानुसार उल्लू वा कपोत जन्य अपशकुन (दुर्निमित्त) है वह (अवैरहत्याय)वीरोंकी हत्याके लिए मत (आपपत्यात्) समर्थ होवे। (इदं) यह दुर्निमित्त (सुवीरतायै आससद्यात्) सु वीरताके लिए होवे। हे उल्लु! (पराङ् एव) पराङ्मुख होकर ही (पराचीं संवतं अनु) अधोगत संगतिका लक्ष्य करके (वद) बोल। (यथा) जिस प्रकार (यमस्य) तेरे नियमन करने वाले स्वामी के (गृहे) घरमें (त्वा) तुझे (अरसं) निःसार (प्रतिचाकशान्) सब लोक देखते हैं अर्थात् जिस प्रकार अपने स्वामी के घर में तू हानि पहुंचानेवाला नहीं है उसी प्रकार तुझे (आभूकं) यहां सामर्थ्य विहीन सब (प्रति चाकशान्) देखें।

ऐसे मंत्रों के संबन्धमें हम पहिले थोडासा निर्देश कर आए हैं। विशेष विचार पाठक स्वयं कर सकते हैं।

अष्टेन्द्रस्य षड् यमस्य ऋषीणां सप्त सप्तधा।
अपो मनुष्यानोषधीस्ताँ उ पंचानु सेचिरे॥
अथर्व० ८।९।२३॥

यमाय असूम्॥ यजुः ३०।१४॥

अर्थ- नियम निर्माण करने के लिए (असूम्) निष्पक्षपातीको प्राप्त करे।

यमाय यमसूम्॥ यजुः ३०।१५॥

अर्थ- (यमाय) नियमों के ज्ञानके लिए नियम बनानेवाले को प्राप्त करे।

यत् संयमो न वि यमो वियमो यन्न संयमः।
इन्द्रजाः सोमजा आथर्वणमसि व्याघ्रजम्भनम्॥
अथर्व० ४।३।७॥

अर्थ- (यत् संयमः न वियमः) जिसका संयम किया हो उस को विशेष दबाव में न रखो। (यत् न वियमः संयमः) जिसको विशेष दबाव में न रखा हो उस को अच्छी प्रकार संयम में रखो। (इन्द्रजाः सोमजाः) यह इन्द्रसे और सोमसे उत्पन्न हुआ हुआ (आथर्वणं जंभनं असि) अथर्व विद्यासे व्याघ्रादिको दबाने का उपाय है।

त्रिकद्रुकेभिः पवते षडुर्वीरेकमिद् बृहत्।
त्रिष्टुब् गायत्री छन्दाँसि सर्वा ता यम अर्पिता॥
ऋ० १०।१४।१६॥
अथर्व० १८।२।६॥

अर्थ- (एकं इत् बृहत्) वह अकेला ही महान् (त्रिकद्रुकेभिः) तीन कद्रुकों से (षट् उर्वीः) ६ पृथिवियोंको (पवते) पवित्र करता है। त्रिष्टुप् गायत्री छन्दांसि) त्रिष्टुप्, गायत्री तथा छन्द आदि (ता सर्वा) वे सब (यमे अर्पिता) नियामक ब्रह्म में अर्पित हैं स्थित हैं। ता सर्वा= तानि सर्वाणि= त्रिकद्रुक का अभिप्राय कुछ स्पष्ट नहीं होता। षट् उर्वी निम्न लिखित हैं- द्यु, पृथिवी, दिन, रात, जल तथा ओषधियां।

तिग्मं चिदेम महि वर्पो अस्य भसदश्वो न यमसान आसा। विजेहमानः परशुर्न जिह्वां द्रविर्न द्रावयति दारु धक्षत्॥
ऋ० ६।३।४॥

अर्थ- (आसा यमसानः अश्वः न) मुखद्वारा नियमन किए हुए घोडे की तरह अर्थात् जिसप्रकार मुखमें लगाम डालकर घोडे को काबु में करके प्राप्त किया जाता है उसी प्रकार (अस्य) इस अग्निको जो (तिग्मं चित्) तेजस्वी होता हुआ (महि वर्पः भसत्) महान् रूप प्रकाशित हो रहा है उसे अग्निका नियमन करके (एम) प्राप्त करें जो कि अग्नि (परशुः न) परशु की तरह (जिह्वां विजेहमानः) ज्वालाओंको फेंकती हुई (दारु धक्षत्) काष्ठको जलाती है और (द्रविः न) धातुओंके पिघलानेवाले की तरह (द्रावयति) सबको पिघला डालती है।

इस प्रकार इन मंत्रों में प्रयुक्त यम शब्दका अभिप्राय क्या है यह पाठकों को पता लग गया होगा।

में यम भिन्न भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ हुआ है। यम प्राणियोंके प्राण हरण करने के अर्थ में भी वेदमें प्रयुक्त हुआ हुआ है इस बातसे इस यम संबन्धी विवेचन देखने के बाद इनकार नहीं किया जा सकता। यह संभव है कि यम विषयक दिए गए मंत्रों में से कुछ मंत्रों के विषयमें मत भेद हो तथापि उपरोक्त सिद्धान्त यम विषयक मंत्रों से स्थापित नहीं किया जा सकता यह कहना असंभव है।

३ जीवात्मा अर्थ में यम।

यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः।
अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनुवेनति॥
ऋ० १०।१३५।१॥

अर्थ- (यस्मिन् सुपलाशे वृक्षे) जिस उत्तम पत्तोंवाले अर्थात् हरेभरे, भोगसामग्री से परिपूर्ण संसाररूपी वृक्षपर (यमः) इन्द्रियों का संयमन करनेवाला जीवात्मा (देवैः) दिव्य गुणोपेत इन्द्रियों के साथ (संपिबते) सांसारिक सुख दुःखों का उपभोग करता है (अत्र) उस संसाररूपी वृक्षपर (विश्पतिः) मनुष्य प्रजाका रक्षक (पिता) उत्पादक परमात्मा (पुराणान् नः) पुरातन समय से भक्ति करते आए हुए हमारी (अनुवेनति) अनुकूलता से कामना करता है।

इस मंत्रपर विशेष सम्पूर्ण सूक्त की व्याख्या करते हुए लिखनेका प्रयत्न करेंगे।

४ ज्ञानेन्द्रियां–यम।

इदं सवितर्विजानीहि षड्यमा एक एकजः।
तस्मिन् हापित्वमिच्छन्ते य एषामेक एकजः॥
अथर्व० १०।८।५॥

अर्थ- हे (सवितः) सविता! (इदं विजानीहि) इस बात को तू भली प्रकार समझ कि (षड् यमाः) पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा एक मन ये मिलकर छह यम हैं। तथा (एकः एकजः) एक जीवात्मा अकेला ही जन्म लेनेवाला है। और (एषां यः एकः एकजः) इनमें जो एक अकेला उत्पन्न होनेवाला है (तस्मिन्) उस जीवात्मा में ये छह मन सहित ज्ञानेन्द्रियां (ह) निश्चय से (आपित्वं) बन्धुत्व को (इच्छन्ते) चाहती हैं।

५ आचार्य - यम।

मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मिनिर्याचन् भूतात् पुरुषं यमाय। तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयैनं मेखलया सिनामि॥ अथर्व० ६।१३३।३॥

अर्थ- (यत्) क्यों कि (अहं) मैं (मृत्योः ब्रह्मचारी) मृत्युका ब्रह्मचारी (अस्मि) हूं अतः (भूतात् पुरुषं) प्राणीमात्रमें से पुरुष को (यमाय) यम के लिए अर्थात् आचार्य के लिए (निर्याचन्) मांगता हुआआया हूं। (तं एनं) उस इस पुरुष को (अहं) मैं (ब्रह्मणा) ब्रह्मज्ञान से (तपसा) तपद्वारा, (श्रमेण) श्रमद्वारा तथा (अनया मेखलाया) इस मेखला द्वारा (सिनामि) बांधता हूं।

६ वायु - यम।

यमाय त्वाङ्गिरस्वते पितृमते स्वाहा।
स्वाहा घर्माय। स्वाहा घर्मः पित्रे॥ यजुः ३८।९॥

इस मंत्र की शतपथ १४। २। २। ११ में व्याख्या है। वहां पर यम का अर्थ निम्न लिखित किया गया है- 'यमाय त्वाङ्गिरस्वते पितृमते स्वाहेति। अयं वै यमो योऽयं पवते तस्मा एवैनं जुहोति तस्मादाह यमाय त्वेत्यङ्गिरस्वते पितृमत इति… ॥' तदनुसार इस मंत्रका अर्थ इस प्रकार हुआ- (पितृमते अङ्गिरस्वते यमाय त्वा स्वाहा) पितृमान् अङ्गिरस्वत् वायुके लिए तुझे स्वाहा करके दी गई आहुति हो। (घर्माय स्वाहा) यज्ञ के लिए स्वाहा। (घर्मः पित्रे) यज्ञ रक्षक के लिए स्वाहा।

७ सूर्य - यम।

यमाय त्वा मखाय त्वा सूर्यस्य त्वा तपसे।
देवस्त्वा सविता मध्वानक्तु पृथिव्याः सँ स्पृशस्पाहि अर्चिरसि शोचिरसि तपोऽसि॥
यजुः ३७।११॥

इस मंत्र की व्याख्या करते हुए शतपथ ब्राह्मणने इस मंत्र में आए हुए यम का अर्थ सूर्य किया है। शतपथ ब्राह्मणका वचन इस प्रकार है- 'स प्रोक्षति यमाय त्वेत्येष वै यमो य एष तपत्येष हीद सर्वं यमयत्येतेनेद सर्वं यतमेष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्

प्रीणाति तस्मादाह यमाय त्वेति॥ श० १४। १। ३। ४॥' शतपथ के इस वचनानुसार इस मंत्रका अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है (यमाय त्वा) सूर्य के लिए तुझे, (मखाय त्वा) यज्ञ के लिए तुझे, (सूर्यस्य तपसे त्वा) सूर्य के तपके लिए तुझे, (सविता देवः त्वा) सविता देव तुझे (मध्वा अनक्तु) मधु से युक्त करे। तू (पृथिव्याः संस्पृशः पाहि) पृथिवी के संस्पृश् अर्थात् उपद्रव्यजन्य संस्पर्शों से रक्षा कर। तू (अर्चिः) दीप्यमान असि है। (शोचिः असि) दुष्टों को शोक करानेवाला है। (तपः असि) दुष्टों को तपाने वाला है।

''' आप्यायमानो यमः सूयमानः '''॥
यजुः ८। ५७॥

इस मंत्र में यम किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ हुआ है यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। भाष्यकार भिन्न भिन्न सम्मतियां रखते हैं। अस्तु, तथापि यम और पितर वाला यम यह नहीं है ऐसा कहने में किसी भी प्रकार की आपत्ति नहीं आती।

इस प्रकार यहांपर यमवाले मंत्र तथा बहुवचनान्त पितृ शब्दवाले मंत्र समाप्त होते हैं। यम व पितर विषयक जो जो भी सिद्धान्त स्थापित किए जा सकते हैं वे सब इनमें आ चुके हैं। यम व पितर विषयक नवीन सिद्धान्त अब आगे संभवतः देखने को नहीं मिलेंगे। इस से आगे हम जैसा कि अन्यत्र निर्देश भी कर आए हैं, यम व पितर संबन्धी संपूर्ण सूक्तोंपर विचार करेंगे, जिस से कि यदि कोई महत्व पूर्ण मंत्र जिस में कि यम वा पितृ शब्द न होने से छूट गया होगा तो वह भी पाठकों के सामने आ सकेगा। सम्पूर्ण सूक्तोंपर विचार करने से प्रकृत विषयपर विचार करने के लिए व विशेष निर्णयपर पहुंचने के लिए पर्याप्त सहायता मिलने की संभावना है।

समाज बल विचार

(ले०— पं० महादेव शास्त्री दिवेकर, अनुवादक पं भोलानाथराव)

(अस्पृश्यता निवारण)

किसी भी समाजको सामाजिक बलवृद्धिके लिये उसकी जन संख्या बल का भी विचार करना पडता है। जिस प्रकार समाज की जन संख्या बहुत विशेष व अस्त व्यस्त होना ठीक नहीं है इसी प्रकार अत्यन्त अल्प भी होना ठीक नहीं। आज संसार में १७२ किंवा १७५ कोटि लोक संख्या मानी जाति है। जिसमें ७० । ७२ कोटि क्रिश्चियन संप्रदाय के अनुयायि हैं और ५० । ५२ कोटि लोग बुद्धधर्म के। हिंदुस्थानमें ७ कोटि व विदेशमें २६ करोड मिलाकर करीव करीब ३३कोटि संख्या मुसलमानी धर्म की है। हिंदु लोक केवल २१ । २२ कोटि ही है। संसार में इन चार संस्कृतियों का परस्पर प्रबल विग्रह चल रहा है। इस कलह और इस स्पर्धा में हिंदु समाज किस प्रकार स्थिर रहेगा सबसे प्रथम यही प्रश्न उपस्थित होता है। क्रिश्चियन राष्ट्र अत्यन्त प्रभावशाली, उनकी जनसंख्या विशेष, उनका शोध, उनके शस्त्र प्रखर, ऐसे सत्तावान राष्ट्र के सन्मुख हिंदुसमाज की दाल कैसे गलेगी ! पूर्व की ओर चीन, जापान इत्यादि बौद्ध धर्मावलम्बी जिनकी जन संख्या करीब करीब ५२ करोड है और यह लोग भी शोध, व शास्त्र में पाश्चात्यों का अनुकरण कर रहे हैं। हिंदुस्तान में मुसलमान लोग शनैः शनैः कैसे उद्दंड हो रहे हैं इसका भी अनुभव पगपगपर होही रहा है। हिंदुस्थान के बाहर के मुसलमान स्वतंत्र सत्तावान हैं इस कारण उन्हें भी एक प्रकार का जोश मालूम पडता है ! क्या इस संसार के चित्रपटपर यह नहीं दिखता कि हिंदुसमाज, मुसलमान खिश्चन, बौद्ध समाजोंकी सर्व समृद्धता की दृष्टि से दुर्बल हो रहा है ? हिंदुस्थान अर्थात हिंदुओंका रहने का स्थान। लेकिन उस घर में घर के मालिक की अपेक्षा पाहुने लोगों का ही रोब बहुत है। यह न्याय है, अथवा अन्याय? घरके, अधिपति तो हिंदु हैं परंतु उन बिचारों को अपने घर हिंदुस्थान पर कुछ भी सत्ता नहीं है। इसके उपरान्त पडोस के निवासी लोगोंने इतना शोर मचा रखा है कि उससे हिंदुसमाज बचानेके लिये कोई भी जाता नहीं है। ऐसी स्थितीमें जब कि

है। समाजका २१ कोटि समुदाय एक ही स्थान पर है और इससे कुछ लाभ उठानेके लिये अर्थात सामाजिक अंतर्बल बढाने के लिये अस्पृश्यता निवारण ऐसे महत्वशाली उपाय की योजना करनी चाहिये ।

हिंदु समाज की उन्नति के लिये अस्पृश्यता का कलंक धोकर सब लोगों को स्पृश्य बना लेना चाहिये। इस सम्मति से सहानुभूति रखनेवालो की जन संख्या बहुत है। परतु अब भी बहुत से मनुष्य हिंदु समाज में ऐसे हैं जो अन्ध परम्परा के ही विश्वासी हैं और सब कुछ देखते हुए भी उन्हें इस कार्य में सहयोग करने में कठिनता प्रतीत होती है। तथापि शास्त्रकारों के स्पर्शास्पर्श की अपेक्षा इतर समाजों में जो स्पर्शास्पर्श की कल्पना है उसी को मानना चाहिये । समझिये कि सहभोजन के लिये स्वयंपाक बना हुआ तैय्यार है, इतने में ही एक कुत्ता आकर उसमें मुंह डाल देता है तो क्या इतने प्रयत्न से तैय्यार किया हुआ इतना सामान फेंक दिया जायगा? कदापि नहीं! शास्त्र में लिखे हुए के अनुसार जितने स्थान पर कुत्ते का मुंह लगा है उतने ही स्थान की वस्तु को फेंक देना उचित है और शेष पर " अपवित्रः पवित्रो वा " कह कर पानी छिडक कर आनन्दसे उसे खाना चाहिये। यदि ऐसा नहीं किया जायगा तो सैंकडों मनुष्यों के प्रयत्न की अपेक्षा उस कुत्ते का आगमन ही श्रेष्ठ सिद्ध होगा और सब सामान भी नष्ट होगा। इसके अतिरिक्त यदि किसी मनुष्यने केवल अपने ही लिये खाना बनाया हो और उसे कुत्ता उच्छिष्ट कर दे तो उसे फेंक देना चाहिये। कारण कि वहां का विषय व क्षेत्र अल्प है इससे वहां शुद्धाशुद्ध का विचार अवश्य करना चाहिये। परंतु जहाँ जहाँ क्षेत्र महत हो वहां शुद्धाशुद्ध के विचार करने की आवश्यकता नहीं है। सत्यमें सब दोष छोटे को ही लगता है बडे को कुछ नहीं "नाल्पे सुखमस्ति" अल्प में सुख नहीं है और महत के लिये कुछ दोष नहीं है। साढे तीन हाथ शरीर का अभिमान धारण करके जो स्वयं अपनेको बडा समझता है उसी को दोष है।

परंतु जिसे सर्वजग का अहंकार है जो अपने को ब्रह्म और विश्व समझता है वही ईश्वर है, इसी कारण वह सर्वदा निर्दोषी है;इसप्रकार की विचारसरणी वेदान्त में भरी हुई है और इसी कारण उसे व्यवहार में चालू करना उचित समझा जाता है। गंगाके पानी के लिये घाट तथा गंगाकी धार पर कोई अशुद्धता नही है परंतु वही पानी यदि घडेमें भरकर घर ले आया जाय, तो ब्राह्मणों के घरोंमें शूद्र स्पर्शका विचार किया जाता है । इसका कारण यही है कि वह पवित्र पानी बर्तनद्वारा अल्पावधि में लाया गया । अर्थात अल्पत्व दोष से पवित्रता में कमी हो गई । महावस्त्र में शुद्धाशुद्धता का विचार नहीं है परन्तु वही साधारण धोतीमें है । मृतक पुरुष के नीचे बिछी हुई दरी तथा हलके वस्त्र तुरंत धोबी को दिये जाते हैं परंतु तकिये गद्दे तथा रजाइयों को धोना शक्य नहीं है। इन सबका कारण एक का महत्व तथा दूसरे का अल्पत्व ही है। शास्त्रकारों ने कहा भी है । (अंगिरास्मृति का वचन)

तूलिका चोपधानानि पुष्परक्तांबराणि च ॥
शोषयित्वार्कतापेन प्रोक्षणेन विशुध्यति ॥ १४२॥

इस वचन द्वारा यह भलीभांति विदित हो जायगा कि व्यवहार सौकर्य को अर्थ और पावित्र्य-कल्पना का संयोग किस प्रकार किया गया है ।

मृतकके छूत माननेकी भी पद्धति शास्त्रमें है परंतु उस क्षेत्र में भी राजाको छूत नहीं लगती है " (न राज्ञामघदोषोस्ति । मनु. अ. ५ श्लो०३) (महीपालानां नाशौचं-या.व. अ. ३ श्लो. २७) कारण कि यदि राजा स्पृश्यास्पृश्य का विचार करता हुआ स्वस्थ बैठा तो राज्य किस प्रकार चलेगा ? श्रीवर्धनके भट्टों को पेशवाई की प्राप्ति होनेपर पहले पहले तो उन्हें भी छुआछूतका विचार करना पडा तथा अन्त में शास्त्रका विचार कर राजमाचीकरों को जहागीर देकर सुतक पूरकर दिया । विद्वान ब्राह्मणों को दस दिवस तक मृत छूत मानने का कोई कारण नहीं है उसी प्रकार से वैद्य, डाक्टर, शिल्पकार, न्हावी, स्वयंपाकी, मजूर इनको भी समाजके धारणपोषण की दृष्टिसे दस दिन का अशौच नहीं है । यदि वैद्य दस दिवस अशौचतामें बैठेगा तो रोगियों की देखरेख कौन करेगा। नाई की ओर से हजामतमें रोक

मजूर की ओर से अन्य कार्यो मे रोक होजायगी तो लोकव्यवहार किस प्रकार चलेगा। इस प्रकार की कोई आपत्ति न हो इसी कारण शास्त्र में कहा है।

एकाहात् शुध्यते विप्रो योऽग्निवेदसमन्वितः।
त्र्यहात् केवलवेदस्तु निर्गुणो दशभिर्दिनैः॥अत्रि॥
कारवः शिल्पिनो वैद्यदासीदासास्तथैव च।
राजानो राजभृत्याश्च सद्यः शौचाः प्रकीर्तिताः॥
प्रचेताः स्वस्थकाले तथा सर्वं सूतकं परिकीर्तितम। आपद्गतस्य सर्वत्र सूतकेऽपि न सूतकम्॥ दक्षस्मृति

शास्त्रलिखित यह बातें अत्यंत विचारणीय हैं। अर्थात् इसी प्रकार के वचन शास्त्रकारों ने अस्पृश्यों को स्पृश्य बनाने के बारेमें भी कहा हैं। यदि शास्त्रोंमें अस्पृश्यता के बारे में कहा गया है तो उस का निराकरण भी बतलाया गया है। इसीसे उन शास्त्रवाक् प्रमाणों द्वारा आपत् प्रसंगी व महाप्रसंगी स्पर्शदोष नहीं है यह सिद्ध होता है।

(१) दीर्घकाष्ठे शिलापृष्ठे नौकायामापणे तथा।
देवगारे तथाऽराले स्पर्शदोषो न विद्यते॥
वृद्धवचन॥

(२) देवयात्रा विवाहेषु यज्ञप्रकरणेषु च।
उत्सवेषु च सर्वेषु स्पृष्टास्पृष्टिर्विद्यते॥
अत्रि श्लो. २५०

(३) तीर्थे विवाहे यात्रायां संग्रामे देशविलवे।
नगरग्रामदाहे च स्पृष्टास्पृष्टिर्न विद्यते॥
धर्मसिंधु

(४) प्रकाररोधे विषमप्रदेशे सेनानिवेशे भवनस्य दाहे। आरब्धयज्ञेषु महोत्सवेषु तथैव दोषा न विकल्पनीयाः॥ अत्रि५

(५) रजकं चर्मकारं च नरं धीवरमेव च।
बुरुडं च तथा स्पृष्ट्वा शुद्धेदाचमनाद्विजः॥
अंगिरस्मृति

(६) रजकश्चर्मकृच्चैव व्याधतालोपजीविनौ।
निर्णेजकः सौनिकश्च नरः शैलूषकस्तथा॥

(७) मुखे भगस्तथा श्वा च वनिता सर्ववर्णगा!
चक्री ध्वजी वध्यघाती ग्राम्यकुक्कुटसूकरैः

(८) एतैर्यदंगंस्पृष्टं स्याच्छिरोवर्जं द्विजातिषु।
तोयेन क्षालनं कृत्वा आचांतः प्रयतो मतः॥
शातातपः

पहिले श्लोक में कहा गया है कि बाजार, नौका, अड्डा, विशालकाष्ठ में स्पर्शा स्पर्श का विचार नहीं है। २, ३, और ४ श्लोकों में विवाह, यात्रा, यज्ञ, तीर्थ, उत्सव, आग, विषम प्रदेश के बारे में कहा है। यहाँ तक यह साफ साफ बतला दिया है कि इन स्थानोंपर आपत् प्रसंगी व महाप्रसंगी स्पर्शदोष नहीं जानना चाहिये। शूद्रस्पर्श से शुद्ध होने के लिये केवल स्नान ही नहीं परंतु आचमन भी कर लेने से प्रायश्चित हो सकता है। ५, ६, ७, ८, " श्लोकोंमें कहा गया है कि यदि १९, २० मनुष्योंके बीचमें यदि किसी शूद्र को स्पर्श कर लिया हो तो केवल आचमन ही कर लेना चाहिये। जहाँ साक्षात स्पर्श हुआ हो वहाँ पानीसे धोकर पैर धोकर शुद्ध हो जाना चाहिये। पराशरस्मृति में कहा गया है कि यदि पानी न मिले तो कानों को स्पर्श करनेसे ही आचमन हो जाता है। इन आठ श्लोकोंमें हमारे पूर्वजोंके विचार लिखे गये हैं अतः सद्यः परिस्थिति को लक्षमें रखते हुए इन्हीं विचारों के अनुकुल हमें कार्य करना चाहिये। यदि अस्पृश्यवर्ग हिंदू जनताको जीवित रखना है तो प्राचीन विचारों को त्यागकर नवीन विचारों ग्रहण करना ही पडेगा। विचारोंके परिवर्तनके लिये समय अनुकूल उपस्थित हुआ है और शास्त्र भी उसे मान्यता देते हैं। पांच छह करोड अस्पृश्योंके संग यदि जनता मनुष्यताका व्यवहार नहीं करेगी तो इस प्रचंड स्पर्धामें हिंदुसमाज कभी भी बलवान नहीं हो सकता। यदि पांच करोड अस्पृश्योंको उनकी उसी गिरी हुई अवस्थामें रखा जायगा तो बडा अन्याय होगा और हिंदू समाजपर शनैः शनैः इन्हीं अस्पृश्योंका आधिपत्य होगा। उस समय उसे कुछ भी कहनेका अधिकार न होगा।

आधुनिक समय लोकशाही का समय है। ऐसी अवस्थामें प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत मत प्रकट करने का समान अधिकार है। विषेश तथा आज कल तो सब बातें बहुमत ही से होती हैं। बहुमतका महत्व देखते हुए स्पृश्य लोगोंको पाँच छह करोड अस्पृश्यों को स्पृश्य बनानेमें मदत देनी चाहिये। नेताओंको चाहिये कि अस्पृश्यों की उन्नति करनेके लिये उनको अनेक प्रकार के प्रसंग उपस्थित कर

तदनन्तर उन उपस्थित प्रसंगोंसे लाभ उठायें ! इसे सफल करनेके लिये ऐसी योजना करनी चाहिये कि दसहरा, प्रतिपदा, मकर संक्रात अपना शिवाजी, टिळक, गांधी गोखले के उत्सवोंमें स्पृश्य और अस्पृश्य सब एकत्रित होकर एक दूसरेसे सहर्ष मिलें। ऐसी योजनासे एक दूसरेमें प्रेमकी वृद्धि होगी। स्पृश्य व अस्पृश्य जब बराबरी के नाते से एक दूसरेसे मिलने लगेंगे तभी लोकशाहीके तत्व की वृद्धि होगी। व्यक्तिगत स्वतंत्रता, अधिकार और मतका सुंदर मेल ही लोकशाहीका असली तत्व है। उस तत्वको प्रचार करनेके लिये तथा अस्पृश्य वर्गोंकी उन्नति करनेके लिये स्पृश्य और अस्पृश्यों को सहवास में लाना ही बहुत जरुरी है। हिंदु समाज परधर्मीय, क्रिश्चियन व मुसलमान से जितना व्यवहार रखता है उससे कहीं अधिक स्वधर्मीय अस्पृश्य जातियोंसे रखना चाहिये।

मुसलमान व क्रिश्चियनकी अपेक्षा अस्पृश्य अधिक संव्यवहार्य है। कुछ भी हो अस्पृश्य कम से कम हिंदू तो हैं, गोरक्षा का तो उसे विचार है, अपने आर्य देश की भलाई तो चाहता है। जब मुसलमान लोग घर में चले आते हैं तो अस्पृश्यों को नहीं रोकना चाहिये। क्रिश्चियन को यदि घरमें आकर कुर्सीपर बैठने का अधिकार है तो अश्पृश्य को उससे पहले अधिकार है। जलस्थान, पाठशाला, सभा और सामुदायिक प्रसंगोंपर स्पृश्य और अस्पृश्योंको एक दूसरेसे प्रेमपूर्वक मिलना चाहिये। शास्त्रों में अस्पृश्यों की अपेक्षा परधर्मीयोंके ही स्पृश्यास्पर्श का विचार बतलाया है। उनमें से गोभक्षकों से तो विशेष रीतिसे छूत मानना चाहिये।

> सभायां स्पर्शनं चैव म्लेच्छेन सह संविशेत्।
> कुर्यात्स्नानं सचैलं तु दिनमेकमभोजनम्॥
> देवलस्मृति॥
>
> एतेऽन्त्यजाः समाख्याता ये चान्ये च गवाशनाः।
> एषां संभाषणात्स्नानं दर्शनादर्कवीक्षणम॥
> वेदव्यास स्मृति॥

इन श्लोकों के अनुसार म्लेच्छके छू लेनेपर स्नान व उपास करना चाहिये। और गोभक्षकों से यदि संभाषण भी हो, या दृष्टादृष्ट भी हो, तो स्नान तथा सूर्यदर्शन द्वारा प्रायश्चित करना चाहिये। डोम चमार, भंगी को स्पर्श करने पर यदि केवल स्नान है तो मुसलमान से स्पर्श होने पर स्नान, उपवास को और सूर्य दर्शन का प्रायश्चत्त बतलाया गया है। परंतु हिंदू समाज, को इस अन्तर का कुछ भी ज्ञान नहीं है। सारांश यह है कि हिंदुओं को भली भांति स्वयं समझकर औरों में भी इस विचार का प्रचार करना चाहिये परधर्मी की अपेक्षा स्वधर्मी ही श्रेष्ठ है।

अस्पृश्यों को भी बतला देना चाहिये कि उन लोगों को भी स्वजाति के अन्तर्गत जातियों के स्पर्शास्पर्श के विचार को कम कर देना चाहिये। चमार डोम को नहीं छूता तथा भंगी चमार को नहीं छूता। इतना भेद कहाँ तक ठीक है? अस्पृश्यों को अपने वर्ग में स्वच्छता समता और देश प्रेम का प्रचार करना चाहिये तथा रोजगार में भी प्रविष्ट होना चाहिये। अब अस्पृश्यों का निर्वाह उनके प्राचीन रोजगार से नहीं होता है। जूते बनाने से चमार का कार्य नहीं चलता, डोम भी अपने कार्यसे संतुष्ट नहीं हैं, इस कारण अब इन लोगों को कलई करने टांगा चलाने, तथा पीने की दारु व आतश बाजी के दारु के रोजगार की इन्हें आज्ञा देनी चाहिये। साग व फल बेचने का भी रोजगार इन्हीं को सौंप देना चाहिये। जब अस्पृश्य लोग इन धंदों को अपने हाथ में ले लेंगे तभी हिंदुसमाज की सांपत्तिक अवस्था की वृद्धि होगी। नागपूर-सिताबर्डी में फल भाजी इत्यादि बेचनेवाले सब चमारही हैं। स्टेशनपर कुली लोग भी सब चमारही हैं। अकोला में बैंड बजाने वाले डोम लोग हैं। अस्पृश्यों को अपनी जाति में संघटन कर के इन सब कामों को अपने हाथ में ले लेना चाहिये। शिक्षित अस्पृश्य लोग यदि इतर शिक्षित लोगों के अपेक्षा स्वजाति हित न देखते हुए यदि सार्वजनिक कार्यमें अग्रसर होंगे और प्रत्येक कार्य में सहायता देंगे तो अस्पृश्यता को दूर करने में बडी सहायता मिलेगी। शिक्षण व सार्वजनिक कार्यों में स्पृश्यास्पृश्य का विचार बिलकुल ही हटा देना चाहिये।

दीर्घायुकी प्राप्ति ।

[३०]

(ऋषिः— उन्मोचनः आयुष्कामः । देवता—आयुः)

आवतस्त आवतः परावतस्त आवतः ।
इहैव भव मा नु गा मा पूर्वाननु गाः पितृनसुं बध्नामि ते दृढम् ॥ १ ॥
यत् त्वाभिचेरुः पुरुषः स्वो यदरणो जनः ।
उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते ॥ २ ॥
यद् दुद्रोहिथ शेपिषे स्त्रियै पुंसे अचित्त्या ।
उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते ॥ ३ ॥

अर्थ- (ते आवतः आवतः) तेरे समीपसे समीप और (ते परावतः आवतः) तेरे दूरसे दूरसे भी (ते असुं दृढं बध्नामि) तेरे अंदर प्राण को मैं दृढ बांधता हूं । (इह एव भव) यहां ही रह । (पूर्वान् मा नु गाः) पूर्वजों के पीछे न जा, (मा पितॄन् अनु गाः) पितरोंके पीछे न जा अर्थात् शीघ्र न मर ॥ १ ॥

(यत् स्वः पुरुषः) यदि तेरा अपना संबंधी पुरुष अथवा (यत् अरणः जनः) यदि कोई हीन मनुष्य (त्वा अभिचेरुः) तेरे ऊपर कुछ घातक प्रयोग करता है, तो उस के लिये मैं (वाचा ते) अपनी वाणीसे तुझे(उभे उन्मोचन-प्रमोचने वदामि) दोनों छूटने और दूर रहनेकी विद्या कहता हूं॥२॥

(यत् स्त्रियै पुंसे अचित्या दुद्रोहिथ) यदि स्त्रीसे अथवा पुरुषसे विना जाने द्रोह किया है किंवा (शेपिषे) शाप दिया है, तो (वाचा०) वाणीसे छूटने और दूर रहनेकी दोनों विद्याएं मैं तुझे कहता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—हे रोगी ! तेरे प्राणको मैं दूरके अथवा समीपके उपायसे तेरे अन्दर स्थिर करता हूं । तूं इस मनुष्य लोकमें दीर्घकाल तक रह । मरे हुए पूर्वजोंके पीछेसे शीघ्र न जा ॥ १ ॥

जो तेरा अपना संबंधी अथवा कोई पराया मनुष्य,जो कुछ भी घातक प्रयोग करता है; उससे बचनेके दो उपाय हैं एक उन्मोचन और दूसरा प्रमोचन ॥ २ ॥

यदेनसो मातृकृताच्छेषे पितृकृताच्च यत्। उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते ॥४॥
यत् ते माता यत् ते पिता जामिर्भ्राता च सर्जतः।
प्रत्यक् सेवस्व भेषजं जरदष्टिं कृणोमि त्वा ॥ ५ ॥
इहैधि पुरुष सर्वेण मनसा सह। दूतौ यमस्य मानु गा अधि जीवपुरा इहि ॥ ६ ॥
अनुहूतः पुनरेहि विद्वानुदयनं पथः। आरोहणमाक्रमणं जीवतोजीवतोयनम् ॥ ७ ॥

अर्थ- (यत् मातृकृतात् एनसः) यदि माताके किये हुए पापसे अथवा (यत् पितृकृतात् च शेषे) यदि पिताके लिये पापसे (शेषे) तू सोया है (वाचा०) तो वाणीसे छूटने और दूर रहनेकी दोनों विद्याएं तुझे कहता हूं ॥४॥ (यत् ते माता) जो तेरी माता व (यत ते पिता) जो तेरे पिताने तथा (जामिः भ्राता च सर्जतः) जो तेरी बहिन और भाईने तैयार किया है; (भेषजं प्रत्यक् सेवस्व) उस औषधको ठीक प्रकार सेवन कर; (त्वा जरदष्टिं कृणोमि) वृद्ध अवस्थातक रहनेवाला मैं तुझको करता हूं ॥ ५ ॥ हे (पुरुष) मनुष्य! (सर्वेण मनसा सह इह एधि) संपूर्ण मन के साथ यहां रह। (यमस्य दूतौ मा अनु गाः) यमके दूतोंके पीछे मत जाओ। (जीवपुराः अधि इहि) जीवकी पुरीमें निवास कर ॥ ६ ॥ (उद्यनं पथः विद्वान्) ऊपर चढनेके मार्गको जानता हुआ (अनुहूतः पुनः आ इहि) बुलाया हुआ फिर यहां आ (जीवतः जीवतः आरोहणं आक्रमणं अयनम्) प्रत्येक जीवित मनुष्यका चढना और आक्रमण करना ये दो गतियां हैं ॥७॥

भावार्थ- स्त्री का अथवा पुरुषका द्रोह, माताका पाप और पिताका पाप, आदिके कारण जो घात होता है उससे बचनेके लिये भी वे ही दो उपाय हैं ॥ ३-४ ॥

माता, पिता, भाई, बहिन, आदिकों द्वारा तैयार किया हुआ औषध रोगी सेवन करे और दीर्घजीवी बने ॥ ५ ॥

अपने मनकी संपूर्णशक्ति रोगनिवृत्तिमें ही विश्वाससे लगाई जावे। कोई मनुष्य यमदूतोंके वशमें न जावे, और इस शरीरमें-अर्थात् जीवात्माकी नगरीमें-दीर्घकाल तक रहे ॥ ६ ॥

उन्नतिका मार्ग जानना चाहिये। अर्थात् मनुष्य आरोग्य की उन्नति करनेके उपाय जाने और रोगोंपर आक्रमण करके उनको परास्त करे ॥७॥

मा बिभेर्न मरिष्यसि जरदष्टिं कृणोमि त्वा। निरवोचमहं यक्ष्ममङ्गेभ्यो अङ्गज्वरं तव ॥८॥

अङ्गभेदो अङ्गज्वरो यश्च ते हृदयामयः ।
यक्ष्मः श्येन इव प्रापप्तद् वाचा साढः परस्तराम् ॥ ९ ॥
ऋषी बोधप्रतीबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः ।
तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ दिवा नक्तं च जागृताम् ॥ १० ॥

अयमग्निरुपसद्य इह सूर्य उदेतु ते। उदेहि मृत्योर्गम्भीरात् कृष्णाच्चित् तमसस्परि ॥११॥

अर्थ— (मा बिभेः, न मरिष्यसि) मत् डर, तू कभी नहीं मरेगा । (जरदष्टिं त्वा कृणोमि) वृद्धअवस्थातक रहनेवाला तुझे मैं बनाता हूं । (तव अङ्गेभ्यः अङ्गज्वरं यक्ष्मं अहं निरवोचं) तेरे अङ्गोंसे शरीरके ज्वरको और क्षयरोगको मैं बाहर निकाल देता हूं ॥ ८ ॥ (अङ्गभेदः अङ्गज्वरः) अवयवोंकी पीडा, अंगोंका ज्वर (यः च ते हृदयामयः) और जो तेरा हृदयरोग है (वाचा साढः यक्ष्मः) वचासे पराजित हुआ यक्ष्मरोग (श्येन इव परस्तरां प्रापप्तत्) श्येनपक्षी की तरह परे भाग जावे ॥ ९ ॥ (बोध-प्रतिबोधौ ऋषी) बोध और प्रतिबोध ये दो ऋषि हैं । (अस्वप्नः यः च जागृविः) एक निद्रारहित है और दूसरा जागता है । (तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ) वे दोनों तेरे प्राणके रक्षक हैं, वे तेरे अन्दर (दिवा नक्तं च जागृतां) दिन रात जागते रहें ॥ १० ॥ (अयं अग्निः उपसद्यः) यह अग्नि उपासनाके योग्य है । (इह ते सूर्यः उदेतु) यहां तेरे लिये सूर्य उदय होवे । (गंभीरात् कृष्णात् तमसः मृत्योः चित्) गहरे काले अन्धकार रूपी मृत्युसे भी (परि उदेहि) परे उदयको प्राप्त हो ॥ ११ ॥

भावार्थ-हे रोगी ! तू मत् डर, तू मरेगा नहीं । तेरी पूर्ण आयु बनाता हूं। तेरे संपूर्ण अवयवोंसे ज्वर और क्षय दूर करता हूं ॥८॥ शरीरका दुखना, अंगोंका ज्वर, हृदयरोग और क्षयरोग ये सब तेरे शरीरसे दूर हों ॥९॥ तेरे अन्दर बोध और प्रतिबोध ये दो मानो ऋषि हैं। एक सुस्ती आने नहीं देता और दूसरा जगा देता है। ये तेरे प्राण रक्षक हैं, ये दिनरात जागते रहें ॥१०॥ यहां प्राणाग्नि की तुम्हें उपासना करनी चाहिये । इससे तेरे अन्दर आत्मारूपी सूर्य प्रकाशित होता रहे । ऐसा करनेसे गूढ अन्धकार रूपी मृत्युसे तू दूर होगा और अपने प्रकाशसे प्रकाशित होगा ॥ ११ ॥

नमो॑ य॒माय॒ नमो॑ अस्तु मृ॒त्यवे॒ नमः॑ पि॒तृभ्य॑ उ॒त ये नय॑न्ति ।
उ॒त्पार॑णस्य॒ यो वेद॒ तम॒ग्निं पु॒रो द॑धे॒स्मा अ॑रि॒ष्टता॑तये ॥ १२ ॥
ऐतु॑ प्रा॒ण ऐतु॒ मन॒ ऐतु॒ चक्षु॒रथो॒ बल॑म् ।
शरी॑रमस्य॒ सं वि॒दां तत् प॒द्भ्यां प्रति॑ तिष्ठतु ॥ १३ ॥
प्रा॒णेना॑ग्ने॒ चक्षु॑षा॒ सं सृ॑जे॒मं समी॑रय त॒न्वा॒३॒॑ सं बले॑न ।
वेत्था॒मृत॑स्य॒ मा नु गा॒न्मा नु भू॑मिगृ॒हो भु॑वत् ॥ १४ ॥

अर्थ-(यमाय नमः) यमके लिये नमस्कार है। (मृत्यवे नमः अस्तु) मृत्युके लिये नमस्कार होवे। (उत ये नयन्ति, पितृभ्यः नमः) जो हमें ले जाते हैं, उन पितरोंके लिये नमस्कार है। (यः उत्पारणस्य वेद) जो पार करना जानता है (तं अग्निं अस्मै अरिष्ट-तातये पुरः दधे) उस अग्निको इस कल्याणवृद्धि के लिये आगे धर देते हैं ॥ १२ ॥

(प्राणः आ एतु) प्राण आवे, (मनः आ एतु) मन आवे, (चक्षुः अथो बलं) आंख और बल आवे। (अस्य शरीरं विदां सं ऐतु) इसका शरीर बुद्धिके अनुसार चले। (तत पद्भ्यां प्रति तिष्ठतु) वह पांवोंसे प्रतिष्ठाको प्राप्त होवे ॥ १३ ॥

हे अग्ने! (प्राणेन चक्षुषा संसृज) प्राण और चक्षुसे संयुक्त कर। (तन्वा बलेन इमं सं सं ईरय) शरीर और बलसे इसको प्रेरित कर। (अमृतस्य वेत्थ) तूं अमृतको जानता है। (मा नु गात्) तेरा प्राण न चला जावे। (भूमिगृहः मा नु भुवत) भूमिको घर करनेवाला न हो अर्थात् मरकर मिट्टीमें न मिल ॥ १४ ॥

भावार्थ-यम और मृत्युके लिये नमस्कार है, तथा जो मृत्युके पश्चात ले जाते हैं उन पितरोंके लिये भी नमस्कार है। मृत्युसे पार होनेकी विद्या जो जानता है उस अग्निसे कल्याण प्राप्त करते हैं ॥ १२ ॥

प्राण, मन, चक्षु, बल ये सब शक्तियां शरीरमें फिरसे निवास करें और यह शरीर अपने पांवसे खडा रह सके ॥ १३ ॥

यह प्राण और चक्षु की शक्तियोंसे युक्त हो। शरीरके बलसे यह प्रेरित होवे। अमृत प्राप्तिका उपाय जान और उससे तेरा प्राण शीघ्र न चला जावे ॥ १४ ॥

मा ते प्राण उप दसन्मो अपानोपि धायि ते ।
सूर्यस्त्वाधिपतिर्मृत्योरुदायच्छतु रश्मिभिः ॥ १५ ॥
इयमन्तर्वदति जिह्वा बद्धा पनिष्पदा ।
त्वया यक्ष्मं निरवोचं शतं रोपीश्च तक्मनः ॥ १६ ॥
अयं लोकः प्रियतमो देवानामपराजितः ।
यस्मै त्वमिह मृत्यवे दिष्टः पुरुष जज्ञिषे ।
स च त्वानु ह्वयामसि मा पुरा जरसो मृथाः ॥ १७ ॥

अर्थ-(ते प्राणः मा उपदसत्) तेरा प्राण नष्ट न होवे । (ते अपानः मो अपि धायि) तेरा अपान न आच्छादित होवे । (अधिपतिः सूर्यः रश्मिभिः त्वा उदायच्छतु) अधिपति सूर्य किरणोंसे तुझे ऊपर उठावे ॥ १५ ॥

(पनिष्पदा इयं अन्तः बद्धा जिह्वा) शब्द बोलनेवाली यह अंदर बंधी हुई जिह्वा (वदति) बोलती है । (त्वया यक्ष्मं) तेरे साथ रहनेवाला क्षयरोग और (तक्मनः च शतं रोपीः) ज्वरकी सौ प्रकार की पीडा (निः अवोचं) दूर करता हूं ॥ १६ ॥

(अयं अपराजितः लोकः देवानां प्रियतमः) यह पराजित न हुआ हुआ लोक देवोंका प्यारा है । (यस्मै मृत्यवे दिष्टः पुरुषः त्वं इह जज्ञिषे) जिस लोककी मृत्युको निश्चित प्राप्त होनेवाला तू पुरुष यहां उत्पन्न होता है । (सः च त्वा अनुह्वयामसि) वह और तुझे बुलाते हैं । और कहते हैं कि (जरसः पुरा मा मृथाः) बुढापेसे पूर्व मत मर ॥ १७ ॥

भावार्थ-तेरा प्राण और अपान तेरे शरीरमें दृढतासे रहे । सूर्य अपनी किरणोंसे तुझे ऊपर उठावे अर्थात जीवन देवे ॥ १५ ॥

अपनी वाक्शक्तिसे मैं कहता हूं कि क्षय, ज्वर तथा अन्य पीडाएं इस प्रकार दूर की जाती हैं ॥ १६ ॥

तूं देवोंका प्रिय है, यद्यपि तू इस मृत्युलोकमें जन्म लेनेके कारण मरनेवाला है, तथापि हम यह ही कहते हैं कि, तू वृद्धावस्थाके पूर्व न मर ॥ १७ ॥

आरोग्य युक्त दीर्घ आयु।

इस सूक्तमें आरोग्यपूर्ण दीर्घ आयु प्राप्त करनेके बहुतसे निर्देश हैं। पाठक इनका मनन करेंगे, तो उनको बहुत लाभ हो सकता है। यहां दीर्घायुके विषयमें मुख्य प्रश्न आत्मविश्वासका है, इस विषयमें प्रथम मंत्रका निर्देश देखने योग्य है—

आत्मविश्वाससे दीर्घायु।

इह एव भव, पूर्वान् पितॄन् मा अनुगाः।
ते असुं दृढं बध्नामि। (मं० १)

" यहां अर्थात् इस शरीरमें रह, प्राचीन पूर्वजोंके पीछे मत जा अर्थात् शीघ्र न मर। तेरे शरीरमें प्राणोंको दृढतासे बांधता हूं। " ये मंत्र स्पष्ट शब्दों द्वारा बता रहे हैं कि आत्मविश्वाससे दीर्घआयु होनेमें सहायता होती है। " तू मत् मर जा " यह उसीको कहा जा सकता है, कि जिसके आधीन शीघ्र या देरीसे मरना हो। यदि मनुष्यके आधीन यह बात न होगी, तो ' इस समय न मर, वृद्धावस्थाके पश्चात मर ' इत्यादि आज्ञायें व्यर्थ होगी। ये आज्ञाएं कंठरवसे कह रहीं हैं, कि मनुष्यकी इच्छाशक्तिपर मृत्युको शीघ्र या देरीसे प्राप्त होना अवलंबित है। मैं शीघ्र न मरूंगा, मैं दीर्घायु होऊंगा, मैं अपनी आयु धर्म कार्यमें समर्पण करूंगा ' इस प्रकारकी मनकी सुदृढ भावना रही,तो सहसा अल्प आयुमें मृत्यु न होगी,परंतु यदि कोई विश्वकी क्षणभंगुरताका ही ध्यान करेगा, तो वह स्वयं क्षणभंगुर बनेगा। आत्मविश्वास यह अन्य दीर्घायुप्राप्तिके अनुष्ठानोंकी बुनियाद है। अन्य अनुष्ठान तब सिद्ध होसकते हैं,जब कि यह बुनियाद ठीक सुदृढ हुई हो।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि ' उन्मोचन और प्रमोचन ' ये दो उपाय हैं जिनसे नीरोगता और दीर्घायु सिद्ध हो सकती है। ये विधि क्या हैं, इसकी खोज करनी चाहिये। इनमेंसे एक विधि आरोग्य बढानेवाला और दूसरा अकालमृत्यु हरण करनेवाला है।

कुविचारसे अनारोग्य।

तृतीय मंत्रमें स्त्री पुरुषोंको शाप देना, गालीयां देना,अथवा बुरे शब्द प्रयुक्त करना बुरा है ऐसा कहा है। किसीके साथ द्रोह करना भी घातक है। बुरे शब्द बोलनेसे प्रथम अपना मन बुरे विचारोंसे भर जाता है और जो वैसे हीन विचारके शब्द सुनते हैं उनमें वैसे ही हीन भाव जम जाते हैं। इस प्रकार मनका स्वास्थ्य बिगडनेके लिये ये बुरे शब्द कारण होते हैं। मनका स्वास्थ बिगडनेसे ही शरीरमें रोग बीज प्रविष्ट होते हैं

और वे रोगबीज उसी कारण वहां स्थिर होते हैं ।

मातापिता का पाप ।

माता पिताके पापाचरणसे भी रोग होते हैं यह बात चतुर्थ मंत्रमें कही है—

मातृकृतात् पितृकृतात् च एनसः शेषे ॥ (मं० ४)

" माता और पिता के किये पापाचरणसे तू बीमार होकर पडा है । " इस मन्त्र भागमें स्पष्ट कहा है कि बीमारीका एक हेतु मातापिताके पापाचरण भी है। मातापिताके पापी आचारव्यवहार के कारण जन्मतः ही लडके का शरीर निर्बल होता है और बालक जन्मसे ही बीमारियोंका घर बन जाता है । गृहस्थ धर्ममें रहनेवाले लोग इस मंत्रका अवश्य विचार करें, क्यों कि यदि वे कुछ भी पाप करेंगे, तो वे अपने वंशको दुःखमें डालनेके दोषी हो सकते हैं ! इससे पता चलता है कि, व्यभिचार, मद्य पान आदि दुष्ट व्यसनोंमें फंसे हुए लोग न केवल स्वयं दुःख भोगते हैं, प्रत्युत अपने वंशजोंको भी बीमारियोंके महासागरमें डाल देते हैं। वेदने यह मंत्र कह कर जनता के स्वास्थ्यके विषय में बडा उत्तम उपदेश दिया है, परंतु पाठकोंको चाहिये कि वे इसका मनन करें और आचरणमें लावें ।

पंचम मंत्रमें कहा है कि [भेषजं सेवस्व । त्वा जरदष्टिं कृणोमि । (मं०५)] योग्य औषधिका सेवन कर, इतना पथ्य करेगा तो मैं तुम्हें दीर्घायु बनाता हूं ।" संदेह मत कर, तू पथ्य पालन करनेसे अवश्य दीर्घायुवाला हो जायगा ।

मानसशक्ति ।

षष्ठ मंत्रमें मनकी शक्तिका वर्णन किया है जो विशेष महत्त्वका है--

पुरुष ! सर्वेण मनसा सह इह एधि ।
यमस्य दूतो मा अनुगाः । जीवपुरा अधि इहि ॥ (मं० ६)

"हे मनुष्य ! अपनी सब मानसिक शक्तिके साथ तूं यहां रह । यमके दूतोंके पीछे न जा ! जीवोंकी पुरियोंमें अर्थात् शरीरमें यहां स्थिर रह । "

इस मंत्रका संबंध पहिले मंत्रके कथनके साथ बहुत ही घनिष्ट है । अपनी सब मानसिक शक्तिके साथ इच्छा पूर्वक 'मैं दीर्घायु बनूंगा' ऐसा मनमें निर्धार करना चाहिये । मनकी शक्ति विलक्षण है, मनकी शक्ति जितनी प्रबल होगी उतनी निश्चयसे सिद्धि हो सकती है । मनकी कल्पनासे रोगी मनुष्य नीरोग और नीरोग मनुष्य रोगी बनता है । बलवान निर्बल होता है और निर्बल भी सबलके समान कार्य करनेमें समर्थ हो जाता है । मनकी यह विलक्षण शक्ति होनेके कारण हरएक मनुष्यको उचित है कि

वह अपने मनमें सुविचारोंकी धारणा करता हुआ नीरोगता पूर्वक दीर्घायु प्राप्त करे। हीन विचार मनमें न आने दें। क्यों कि हीन विचारोंसे मनुष्य क्षीणायु हो जाता है। मरनेके विचार कभी मनमें न आने दें। पूर्ण स्वास्थ्यके विचार ही मनमें स्थिर किये जावें।

उन्नति का मार्ग।

अपनी उन्नतिका मार्ग कौनसा है, इसका ज्ञान श्रेष्ठ मनुष्योंसे प्राप्त करें और तद्-नुसार आचरण करें, आरोग्य प्राप्तिके मार्गका नाम ' उद्यनं पथः ' है, अर्थात् उच्चतर अवस्था प्राप्त करनेका यह राजमार्ग है। इस परसे ' आरोहणं आक्रमणं ' अर्थात् इस आरोग्यके मार्ग पर आना और उसपरसे चलना मनुष्यके लिये लाभ दायक है—

उद्यनं पथः विद्वान् ऐहि।
आरोहणं आक्रमणं जीवतः अयनम् ॥ (मं० ७)

" उन्नतिके मार्गको जान कर ही इस संसारमें रह। इस मार्गपर आना और इसी मार्गपरसे चलना जीवित मनुष्यके लिये हित कारक है। " इसलिये हरएक मनुष्यको उचित है कि वह अपने आरोग्यके बढानेके उपायोंको जानें और उनका आचरण करके अपनी आयु और आरोग्य बढावे। इस प्रकार करनेसे कितने लाभ हो सकते हैं इसका वर्णन अष्टम मंत्रमें किया है—

मा बिभेः। न मरिष्यसि। त्वा जरदष्टिं कृणोमि। (मं० ८)

यदि तू पूर्वोक्त मंत्रोंमें कहे मार्गके अनुसार आचरण करेगा, तो " तू शीघ्र नहीं मरेगा, तू मत डर, मैं तुझे दीर्घायु करता हूं। " जो मनुष्य पूर्वोक्त प्रकार आचरण करेगा, उसके लिये यह आशीर्वाद अवश्य मिलेगा। पाठक! विचार करके देखिये, तो मालूम होगा कि यह मार्ग सीधा है, परंतु मनुष्य प्रलोभनमें पडता है और फंसता है—

मार्गदर्शक दो ऋषी।

अपने ही अंदर मार्ग बतानेवाले दो ऋषि बैठे हैं ये ऋषि दशममंत्रमें देखिये—

बोधप्रतिबोधौ ऋषी। अस्वप्नः जागृविः।
तौ प्राणस्य गोप्तारौ दिवानक्तं च जागृताम् ॥ (मं १०)

" मनुष्यके अन्दर बोध और प्रतिबोध अर्थात् ज्ञान और विज्ञान ये दो ऋषि हैं। इनसे सच्चा ज्ञान प्राप्त होता है। इनमेंसे एक (अ-स्वप्नः) सुस्त नहीं है और दूसरा सदा जागता रहता है। ये ही दो ऋषि मनुष्यके प्राणोंके रक्षक हैं। अतः ये दिन रात यहां जागते रहें। " ये दो ऋषि यहां जागते रहनेसे ही मनुष्य नीरोग, स्वस्थ और दीर्घायु हो सकता है। ज्ञान विज्ञानसे उसको यहांका व्यवहार कैसा करना चाहिये

इसका ज्ञान हो सकता है। ठीक व्यवहार करके यह मनुष्य अपना स्वास्थ्य उत्तम रखता है और दीर्घायु होता है। व्यक्तिमें और समाजमें ये बोध और प्रतिबोध अर्थात् ज्ञान और विज्ञान जागते रहें। जब तक इनकी जाग्रति रहेगी तबतक उन्नति होना स्वाभाविक है। इसलिये कहा है—

गम्भीरात् कृष्णात् तमसः परि उदेहि ॥ (मं० ११)

"गहरे काले अन्धकार रूपी मृत्युसे ऊपर उठ" अर्थात् मृत्युके अंधकारमें न फंस और जीवनके प्रकाशमें नित्य रह। यहां पूर्वोक्त दो ऋषियोंकी सहायतासे मृत्युसे बचनेका उपदेश है। क्यों कि वेही मृत्युको दूर करके दीर्घ जीवन देनेवाले हैं।

मृत्युको दूर करना।

यहां एक बात लक्ष्यमें रखने योग्य कही है वह यह है कि "मृत्यु अन्धकार है" और 'जीवन प्रकाशमय है।" यह अनुभव सत्य है। जीवित मनुष्यका प्रकाशवर्तुल आकाशभर व्यापक होता है, यह प्रकाशवर्तुल मरनेके समय शनैःशनैः छोटा छोटा हो जाता है। जब यह प्रकाश वर्तुल अंगुष्ठ मात्र रह जाता है उस समय मनुष्य मरा होता है। मरनेवाले मनुष्यको मरनेसे पूर्व कुछ घण्टे ऐसा अनुभव आता है कि जगत्के अंदर व्यापनेवाला प्रकाश अब घरके अंदर ही रहा है और बाहर अन्धकार है। मृत्युको छाया रूप वर्णन किया है इसका कारण यह है। यह कविकल्पना नहीं है परंतु सत्य बात है। अपने आपको अन्धेरेसे वेष्टित होने न देना आवश्यक है, यही मृत्युको दूर करनेका तात्पर्य है। प्रकाशका महत्त्व इतना है, यह प्रकाश अपने आत्माका ही है बाहरका नहीं।

जीवनका लक्षण।

बारहवे मंत्रमें उन पितरोंको नमन किया है कि जो जीवको इस लोकसे यमलोकमें ले जाते हैं। वे कृपा करें और हमारे (उत्पारण) मृत्युपार होनेके अनुष्ठानमें सहायता करें। बारहवे मंत्रमें यह कहनेके पश्चात् तेरहवें मंत्रमें जीवन का लक्षण बताया है। 'मनुष्यके शरीरमें प्राण, मन, चक्षु, और बल रहे और यह अपने पांवके बलसे खडा रहे।' (मं० १३) यह जीवनका लक्षण है, मृत्युका लक्षण भी इसीसे ज्ञात हो सकता है, वह इस प्रकार है—'शरीरमें प्राण, मन, आंख, और बल न रहे और शरीर अपने पांवपर खडा न रह सके।' इन शक्तियोंका यहां होना और न होना जीवन और मृत्यु है। और पूर्वोक्त प्रकार मृत्युको दूर और जीवनको पास किया जा सकता है।

पाठक इन मंत्रोंका अच्छी प्रकार विचार करेंगे तो उनको इस सूक्तमें कही जीवन विद्याका ज्ञान हो सकता है।

घातक प्रयोगको दूर कराना ।

[३१]

(ऋषिः—शुक्रः । देवता—कृत्यादूषणम्)

यां ते॑ चक्रुरा॒मे पात्रे॒ यां चक्रुर्मि॒श्रधा॑न्ये ।
आ॒मे मां॒से कृ॒त्यां यां च॒क्रुः पुन॒ः प्रति॑ हरामि॒ ताम् ॥ १ ॥
यां ते॑ च॒क्रुः कृ॑क॒वाका॑व॒जे वा॒ यां कु॒रीरि॑णि ।
अव्यां॑ ते कृ॒त्यां यां च॒क्रुः पुन॒ः प्रति॑ हरामि॒ ताम् ॥ २ ॥
यां ते॑ च॒क्रुरेक॑शफे प॒शूना॑मु॒भ॒याद॑ति ।
ग॒र्द॒भे कृ॒त्यां यां च॒क्रुः पुन॒ः प्रति॑ हरामि॒ ताम् ॥ ३ ॥
यां ते॑ च॒क्रुर॑मू॒लायां॑ व॒ल॒गं वा॑ न॒रा॒च्याम् ।
क्षेत्रे॑ ते कृ॒त्यां यां च॒क्रुः पुन॒ः प्रति॑ हरामि॒ ताम् ॥ ४ ॥

अर्थ- (यां ते आमे पात्रे चक्रुः) जिसको वे कच्चे बर्तन में करते हैं, (यां मिश्रधान्ये चक्रुः) जिसको मिश्रधान्यमें करते हैं, (आमे मांसे यां कृत्यां चक्रुः) कच्चे मांसमें जिस हिंसा प्रयोग को करते हैं (तां पुनः प्रति- हरामि) उसको मैं हटा देता हूं ॥ १ ॥

(यां ते कृकवाकौ चक्रुः) जिसको वे पक्षिविशेषमें करते हैं, (यां वा कुरीरिणि अजे) अथवा जिसको सींगवाले मेढे में अथवा बकरेमें करते हैं (यां कृत्यां ते अव्यां चक्रुः) जिस घातक प्रयोग को वे भेडीमें करते हैं (तां०) उसको मैं दूर करता हूं ॥ २ ॥

(यां ते एकशफे चक्रुः) जिसको वे एक खुरवाले पशुमें करते हैं, (पशूनां उभयादति) पशुओंमें जिनको दोनों ओर दांत होते हैं, उनमें जो प्रयोग करते हैं, (यां कृत्यां गर्दभे चक्रुः) जिस घातक प्रयोगको गधे- में करते हैं (तां०) उसको मैं दूर करता हूं ॥ ३ ॥

(यां ते अमूलायां चक्रुः) जिसको वे अमूला औषधिमें करते हैं, और (नराच्यां वा वलगं) नराची औषधीमें वल घटानेका जो प्रयोग करते हैं (यां कृत्यां ते क्षेत्रे चक्रुः) जिस घातक प्रयोगको वे खेतमें करते हैं (तां० उसको मैं हटाता हूं ॥ ४ ॥

यां ते॑ च॒क्रुर्गार्ह॑पत्ये पूर्वा॒ग्नावु॒त दु॒श्चितः॑ ।
शाला॑यां कृ॒त्यां यां च॒क्रुः पुन॒ः प्रति॑ हरामि॒ ताम् ॥ ५ ॥
यां ते॑ च॒क्रुः स॒भायां॒ यां च॒क्रुर॑धि॒देव॑ने ।
अ॒क्षेषु॑ कृ॒त्यां यां च॒क्रुः पुन॒ः प्रति॑ हरामि॒ ताम् ॥ ६ ॥
यां ते॑ च॒क्रुः सेना॑यां॒ यां च॒क्रुरि॑ष्वायु॒धे ।
दु॒न्दु॒भौ कृ॒त्यां यां च॒क्रुः पुन॒ः प्रति॑ हरामि॒ ताम् ॥ ७ ॥
यां ते॑ कृ॒त्यां कूपे॑ऽवद॒धुः श्म॑शा॒ने वा॑ निच॒ख्नुः ।
सद्म॑नि कृ॒त्यां यां च॒क्रुः पुन॒ः प्रति॑ हरामि॒ ताम् ॥ ८ ॥
यां ते॑ च॒क्रुः पु॑रुषा॒स्थे अ॒ग्नौ संक॑सुके च॒ याम् ।
म्रो॒कं नि॑र्दा॒हं क्र॒व्यादं॒ पुन॒ः प्रति॑ हरामि॒ ताम् ॥ ९ ॥

अर्थ-(यां ते गार्हपत्ये चक्रुः) जिसको गार्हपत्य अग्निमें करते हैं, (उत दुश्चितः पूर्वाग्नौ) और जिसको बुरी तरहसे प्रज्वलित पूर्व अग्नि में करते हैं तथा (यां कृत्यां शालायां चक्रुः जिस घातक प्रयोगको शालामें करते हैं (तां०) उस को मैं दूर करता हूं ॥ ५ ॥

(यां ते सभायां चक्रुः) जिसको वे सभामें करते हैं, (यां अधिदेवने चक्रुः) जिसको खेलमें करते हैं, (यां कृत्यां अक्षेषु चक्रुः) जिस घातक प्रयोगको पासोंमें करते हैं, (तां०) उसको मैं दूर करता हूं ॥ ६ ॥

(यां ते सेनायां चक्रुः) जिसको वे सेनामें करते हैं, (यां इषु-आयुधे चक्रुः) जिसको बाण और धनुष्यपर करते हैं, (यां कृत्यां दुन्दुभे चक्रुः) जिस घातक प्रयोगको दुन्दुभी पर करते हैं, (तां०) उसको मैं हटाता हूं ॥ ७ ॥

(यां कृत्यां ते कूपे अवदधुः) जिस घातक प्रयोग को वे कूएमें करते हैं, (श्मशाने वा निचख्नुः) अथवा जिसको श्मशानमें गाड देते हैं, (यां कृत्यां सद्मनि चक्रुः) अथवा जिस घातक प्रयोगको घरमें ही करते हैं, (तां०) उसको मैं हटाता हूं ॥ ८ ॥

(यां ते पुरुषास्थे चक्रुः) जिसको वे मनुष्यकी हड्डीमें करते हैं, (संकसुके अग्नौ चक्रुः) प्रज्वालित अग्निमें जो करते हैं, (म्रोकं निर्दाहं क्रव्यादं प्रति) चोरीसे प्रज्वालित किये मांस खानेवाले अग्नि के प्रति (पुनः तां प्रति हरामि) फिर उसको मैं हटा देता हूं ॥ ९ ॥

अपथेना जभारैणां तां पथेतः प्र हिण्मसि ।
अधीरो मर्याधीरेभ्यः सं जभाराचित्त्या ॥ १० ॥
यश्चकार न शशाक कर्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम् ।
चकार भद्रमस्मभ्यमभगो भगवद्भ्यः ॥ ११ ॥
कृत्याकृतं वलगिनं मूलिनं शपथेय्यम् ।
इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेनाग्निर्विध्यत्वस्तया ॥ १२ ॥

॥ इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

॥ पञ्चमं काण्डं समाप्तम् ॥

अर्थ-(अपथेन एनां आजभार) कुमार्गसे इस हिंसाको लाया है (तां पथा इतः प्रहिण्मसि) उसको सुमार्गसे यहांसे हटाते हैं। (अधीरः मर्याधीरेभ्यः) मूढ मनुष्य मर्यादा धारण करनेवाले पुरुषोंसे (अचित्त्या संजभार) विना सोचे उपाय प्राप्त कर सकता है ॥ १० ॥

(यः कर्तुं चकार) जिसने हिंसा करनेका यत्न किया, वह (न शशाक) वह समर्थ नहीं हुआ। परन्तु (पादं अंगुरिं शश्रे) उसने ही पांव और अंगुलिको तोड दी है। (अभगः) उस अभागीने तो (अस्मभ्यं भगवद्भ्यः भद्रं चकार) हम सौभाग्यवानोंके लिये तो उसने कल्याणही किया है ॥ ११ ॥

(इन्द्रः वलगिनं) इन्द्र इस नीच (मूलिनं शपथेय्यं) जडमें दुःख देनेवाले और गालियां देनेवालोंको (महता वधेन हन्तु) बडे वधोपायसे मारे और (अग्निः अस्तया विध्यतु) अग्नि अस्त्रसे वेध डाले ॥ १२ ॥

भावार्थ- कच्चा बर्तन, मिश्रधान्य, कच्चा मांस, कृकवाक पक्षी, मेढे, बकरी, भेडी, एक खुरवाले पशु, दोनों ओर दांत वाले पशु, गधा, अमूला औषधि, नराची वनस्पति, खेत, गार्हपत्य अग्नि, पूर्वाग्नि, घर या कमरा, सभा, खेल का स्थान, पासे, सेना, बाण और धनुष्य, दुन्दुभी, कूवा, स्मशान, घर, पुरुषकी हड्डी, प्रज्वलित अग्नि, मांस जलाने वाला अग्नि आदि स्थानोंमें दुष्ट लोक घातक प्रयोग करते हैं। उनसे बचनेका उपाय करना चाहिये ॥ १-९ ॥

कुमार्गसे ही यह हिंसक और घातक प्रयोग हुआ करते हैं। यद्यपि दूसरेने कुमार्गसे ऐसे प्रयोग किये, तो भी उनको ठीक प्रकार दूर करनेका उपाय हमें करनाही चाहिये। मनुष्य स्वयं उपाय न जानता हो, तो ज्ञानी पुरुषोंसे उपाय को जान सकता है॥ १०॥

जो दूसरे की हिंसा करनेका यत्न करता है वह दूसरे की हिंसा करनेके पूर्व अपनी ही करता है। जो दूसरे की हिंसा करना चाहता है वह अभागी है, उससे ईश्वरभक्त होनेसे जो भाग्यवान होते हैं उनका कल्याणही होता है॥ ११॥

ईश्वरही नीच मनुष्योंको दण्ड देवे॥ १२॥

[इस सूक्तका विषय संदिग्ध होनेसे इसका विशेष स्पष्टीकरण करना कठिन है। यह सोचका विषय है।]

षष्ठ अनुवाक समाप्त।

पञ्चम काण्ड समाप्त।

अथर्ववेद का स्वाध्याय।

पञ्चम काण्डकी विषय सूची।

मुद्रक तथा प्रकाशक —श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
स्वाध्याय मंडल; भारतमुद्रणालय, औंध (जि. सातारा)

महाभारत।

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास।

इस समय तक छपकर तैयार हैं

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्यय
१ आदिपर्व	[१से ११]	११	११२५	६) छः	रु १)
२ सभापर्व	[१२ " १५]	४	[illegible]	२) दो	" ।-)
३ वनपर्व	[१६ " ३०]	१५	[illegible]	८) आठ	" १।)
४ विराटपर्व	[३१ " ३३]	३	[illegible]	१।) डेढ	" ।-)
५ उद्योगपर्व	[३४ " ४२]	९	[illegible]	५) पांच	" १)
६ भीष्मपर्व	[४३ " ५०]	८	८००	४) चार	" ।।।)
७ द्रोणपर्व	[५१ " ६४]	१४	१३६४	७।।) साडेसात	१।=)
८ कर्णपर्व	[६५ " ७०]	६	६३७	३।।) साढेतीन	" ।।)
९ शल्यपर्व	[७१ " ७४]	४	४३५	२।।) अढाई	" ।=)
१० सौप्तिकपर्व	[७५]	१	१०४	।।।)	।)
११ स्त्री पर्व	[७६]	१	१०८	।।)	।)

कुल मूल्य ४१।।) कुलडा. व्यय ७।।=)

सूचना— ये पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज देंगे तो आधा डाकव्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु० के मूल्यके ग्रंथका तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देने होंगे।

मंत्री— स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

मुद्रक — श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा)

ॐ

वैदिक धर्म।

वैदिक तत्त्व ज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

वर्ष १०

अंक १२

क्रमांक १२०

मार्गशीर्ष

संवत् १९८६

दिसंबर

सन १९२९

वार्षिक मूल्य— म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) विदेशके लिये ५)

विषयसूची।

वर्ष १०

अंक १२

क्रमांक १२०

मार्गशीर्ष

संवत् १९८६

दिसंबर

सन १९२९

वैदिक धर्म.

वैदिक तत्त्वज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।

संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।

स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

परोपकारकी सदिच्छा।

उभा शंसा नर्या मामविष्टामुभे मामूती अवसा सचेताम्।
भूरिचिदर्यः सुदास्तरायेषा मदन्त इषयेम देवाः ॥ ८ ॥

ऋ० १।१८५।९

" (उभौ शंसौ नर्यौ) दोनों प्रशंसनीय मनुष्य (मां अविष्टां) मेरी रक्षा करें। (उभे ऊती) दोनों प्रकार की संरक्षक शक्तियां (अवसा मां सचन्तां) वेगसे मुझे प्राप्त हों। हे देवो! (अर्यः) श्रेष्ठ मनुष्य और (भूरिचित् मदन्तः) बहुत प्रकारसे हर्षित हुए हुए हम सब (इषा सुदास्तराय इषयेम) अंदरकी सदिच्छासे उत्तम दान देनेकी सदा इच्छा करें। "

माता और पिता ये दोनों प्रशंसनीय और पूज्य मनुष्य हैं। प्रथम आयुमें इनकी सहायतासे हमारी पालना और पोषणा उत्तम प्रकारसे होवे। स्थूल और सूक्ष्ममें दो प्रकार की संरक्षक शक्तियां हैं। यौवन अवस्थामें ये दोनों शक्तियां हमारे अंदर बढें। श्रेष्ठ महात्मा लोग और बहुत लाभ होने के कारण हर्षित हुए हम सब अन्तःकरण की सदिच्छासे परोपकार करनेके लिये आत्मसमर्पणरूपी उत्तम दानयज्ञ करनेकी इच्छा करें। अर्थात् केवल स्वार्थ भोगकी इच्छा हमारे अंदर न बढे। हमारे अंदर परोपकार की सदिच्छा सदा जाग्रत रहे।

वैदिकधर्म का १० वां वर्ष !

यह अंक ग्राहकोंके पास पहुंचतेही इस वैदिकधर्म मासिक के लिये १० वां वर्ष समाप्त होगा। और ग्यारहवां वर्ष अगले अंक से प्रारंभ होगा।

'वैदिकधर्म' में इस समय ७२ पृष्ठ दिये जाते हैं। ये ७२ पृष्ठ प्रायः वेद विषयपर ही निबंधरूपमें होते हैं। इतना बडा मासिक केवल ४) रु० में देना अब असंभव हो गया है। यदि प्रत्येक पाठक इस महिने में दो दो नये ग्राहक बना देंगे, तो इतने ही मूल्य में यह दिया जा सकता है। पाठक इसका विचार करें और ग्राहक संख्या बढाकर इस धर्म कार्य की उचित सहायता करें।

महाभारत।

महाभारत का शान्तिपर्व छप रहा है। उसका पहिला 'राजधर्म पर्व' छपकर तैयार हुआ है और वह ग्राहकों के पास भेजा गया है। इस 'राजधर्म पर्व' के करीब ६९२ पृष्ठ हो गये हैं अर्थात् सात अंकोंमें यह पर्व समाप्त हुआ है। इसका मूल्य ३॥) है और डा० व्य. ॥) है। जो पाठक इसके ग्राहक होना चाहते हैं वे ४।) भेज दें और शीघ्र मंगवायें। इस पर्व में तो प्रतिदिन के व्यवहार चातुर्यका इतना अच्छा उपदेश है, कि जो पाठक इसका पाठ करेंगे वे निःसन्देह व्यवहार दक्ष हो जायंगे।

अथर्ववेद सुबोध भाष्य।

अथर्ववेद सुबोधभाष्य का पञ्चम काण्ड समाप्त हुआ है और इस अंकसे षष्ठ काण्ड का प्रारंभ हुआ है। यह भाष्य इतना सुबोध है कि जो इस का पाठ नियमपूर्वक करते हैं, उनको तो उसकी सरलताके विषयमें कहने की आवश्यकता ही नहीं। जो संस्कृत बिलकुल नहीं जानते वे भी इसके पाठसे अथर्ववेदका रहस्य जान सकते हैं और जो इसका मनन करेंगे वे तो बहुत ही लाभ उठा सकते हैं। 'वैदिकधर्म' मासिक के ग्राहकों को तो यह करीब उपहार में ही मिल रहा है, अतः जो इस मासिक के ग्राहक होंगे उनको इसका पाठ करने का अवसर प्रतिमास मिल सकता है। अतः जो अथर्ववेद पढना चाहते हैं वे 'वैदिकधर्म' मासिक के ग्राहक शीघ्र बनें।

यजुर्वेद प्रथम अध्याय।

यजुर्वेद स्वाध्याय का प्रथम अध्याय तैयार हुआ है। करीब दो मासमें छप जायगा। यजुर्वेद स्वाध्याय का सिलसिला अन्य कार्य की व्यग्रता के कारण स्थगित हुआ था। वह पुनः प्रारंभ हुआ है और अब एकएक अध्याय प्रकाशित किया जायगा। यजुर्वेद का भाषामें रूपान्तर करने का कार्य बडा कठीन है, इसलिये बहुत शीघ्रतासे यह नहीं हो सकता। तथापि इसका अब प्रारंभ हुआ है और प्रथम अध्याय का पुस्तक शीघ्रही पाठकों के पास पंहुंचेगा।

जो पाठक वेद विषय का मनन करना चाहते हैं वे इन पुस्तकों का पठन अवश्य करें। ये सब पुस्तक अत्यंत सुबोध रीतिसे लिखे गये है।

मंत्री-स्वाध्याय मंडल.
औंध (जि. सातारा)

कल्याण प्राप्ति का मार्ग।

स्रक्त्योऽसि प्रतिसरोऽसि प्रत्यभिचरणोऽसि।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ अथर्व०२।११।२

मंत्रका शब्दार्थ।

"हे मनुष्य, तूं (स्रक्त्यः असि) उत्पादक शक्ति युक्त है; (प्रतिसरः असि) तूं आगे जानेवाला है; (प्रत्यभिचरणः असि) तूं दुष्टता को दूर करनेवाला है। अतः (समं) अपने समान लोगों के (अति क्राम) आगे जा और (श्रेयं आप्नुहि) कल्याण प्राप्ति कर ले।"

सामान्य विवेचन।

जो अपनी उन्नति करलेना चाहते हैं वे इस मंत्र को पढें और उसपर विचार करें। इसका प्रत्येक भाग मनुष्य की उन्नति के मार्गकी एक एक सीढी का बोध करता है। इससे क्रमशः उनका विचार करना चाहिए।

मनुष्य के शरीर में जो स्वाभाविक शक्तियां हैं वे निम्न लिखित शब्दोंसे इस मंत्रमें बतलाई गई हैं।

शक्ति, साधन और साध्य।

१ स्रक्त्यः = विधायक शक्तिसे युक्त, उत्पादक शक्तिसे युक्त।

२ प्रतिसरः = अग्रगामी, नेतबन कर कार्य करनेवाला; अग्रसर।

३ प्रत्यभिचरणः = शत्रु पर हम्ला करके उसका नाश करनेवाला।

मनुष्य को अपनी उन्नति के लिए तीन शक्तियां अत्यंत आवश्यक हैं: (१) विधायक शक्ति, (२) अग्रसर होने की महत्वाकांक्षा और (३) विरोध का प्रतिकार करने की शक्ति। ये तीन शक्तियां मनुष्यमें जन्म से विद्यमान रहती हैं।

वह मनुष्य अपनी उन्नति नहीं कर सकता जिसमें कुछ विशेष कार्य करने की इच्छा नहीं, आगे बढकर कार्य करने का उत्साह नहीं, तथा विरोध करनेवालेसे दो दो हाथ करके उसे हराकर अपनी श्रेष्ठता साबित करने की शक्ति नहीं। यह तो स्पष्ट ही है कि जो अपनी उन्नति नहीं कर सकता उसकी दिन प्रति दिन अवनति ही होती जाती है; क्यों कि इस संसार में कोई भी स्थिर नहीं रह सकता। या तो वह आगे जावे या घुरते हुए पीछे पडा रहे। इन दो बातोंके सिवा कोई तीसरी बात हो नहीं सकती।

इस प्रकार मंत्र के पूर्वार्ध में मनुष्य की स्वाभाविक शक्तियोंका विचार करके उत्तरार्ध में उसे अपना कल्याण कर लेने का उपदेश किया है। उसमें दो बातें हैं (४) अपने समान लोगोंके आगे बढ जाना और (५) भलाई कर लेना। इन पांचों में से पहली तीन अपनी निजकी शक्तियां हैं, उन्हें विकसित और व्यवस्थित कर लेना चाहिए। अनंतर चौथे उपदेश के अनुसार काम करने से पांचवां साध्य प्राप्त होता है।

अब देखें कि संसार में मंत्र की प्रथम तीन शक्तियां किस प्रकार काम करती हैं:-

परमेश्वरने सूर्य, चंद्र, वायु, अग्नि, झाडपात पशुपक्षि आदि अनेक पदार्थ निर्माण किए हैं। देखिए उनमें ये शक्तियां कैसे काम करती हैं।

सूर्य।

सूर्य में उत्पादक शक्ति है। यह तो अब सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं। क्यों कि सूर्य के कारण ही सूर्यमालिका में गति उत्पन्न होती है। सूर्यके जीवनपूर्ण किरणों से ही वृक्ष, वनस्पतियों की बाढ होती है। सारे जीवन का आधार ही सूर्य है। जब हम यह देखते हैं तब इसमें स्थित जीवनशक्ति का हमें विश्वास और निश्चय हो जाता है। अपनी सूर्यमालिका में सूर्य को ही अग्रसर होने का आदर प्राप्त है। यहभी अलग से सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं।

तीसरी शक्ति विरोध का प्रतिकार करने की है। यहभी सूर्य में पूरी पूरी है। सूर्य तो प्रकाश का देव है,इससे वह प्रथम अपना विरोधी जो अंधकार है उसका नाश करता है। वह, जीवन का देव होने से जीवन देकर मृत्युका प्रतिकार करता है। इस प्रकार सूर्य में तीनों शक्तियां काम करती हैं।

इसी प्रकार वायु, अग्नि और अन्य देवता के बारे में जानिए। स्थूल सृष्टि में इन शक्तियों का काम देख लिया। अब अर्धचेतन सृष्टि की ओर झुकें।

अर्धचेतन सृष्टिमें वृक्ष-वनस्पतिकी ओर देखिए। वहां भी तीनों शक्तियां अच्छी तरह काम करती हुई दिखाई देंगी। वृक्ष में उत्पादक शक्ति है इसीसे उन्हे फल, फूल आते हैं। और उनकी वृद्धि होती है। जान बूझकर अग्रसर होनेका गुण इनमें नहीं है। पर जहां वे स्थित हैं वहां अपने से छोटे झाडों का बढने न देनेकी अहमहमिका उनमें है। इसे देखकर कौन कहेगा कि उनमें खुदही बढने की इच्छा नहीं है? विरोध का प्रतिकार करके ही उनकी बाढ होती है। छोटासा अंकुर भी बढकर ऊपर आते समय मिट्टी के बडे ढेले को दूर कर देता है।

जड और अर्ध चेतन सृष्टि में यद्यपि ये शक्तियां कार्य करती हैं तब भी अपनी अधिक प्रगति होवे, स्वतः की अधिक उन्नति के लिए दूसरों के आगे जावें और अपना श्रेय संपादन करें ये बातें इनसे इच्छापूर्वक होना असंभव है। क्यों कि उक्त शक्तियां भी इनमें निसर्ग-नियमों के अनुसार ही कार्य करती हैं। अतः इनका स्वतः प्रेरक धर्म कार्य नहीं करता और ऐसा होना भी असंभव है। क्यों कि इन सब के लिए जो महत्वाकांक्षा चाहिए वही उनमें नहीं होती। तथापि महत्वाकांक्षा के अभाव में यद्यपि प्रगति रुक जाती है तब भी निसर्ग-नियम के अनुसार उक्त शक्तियों का कार्य वहां चलता है। इस बात का कोई इन्कार नहीं कर सकता।

जड और अर्धचेतन सृष्टिमें निसर्ग की प्रेरणासे चलनेवाला उक्त शक्तियों का कार्य हम देख चुके। अब देखें उक्त शक्तियां पूर्णचेतन सृष्टिमें किस प्रकार स्वभावतः कार्य करती हैं।

इसे देखने के लिए अपन बालकों के कार्यों का सावधानी से अवलोकन करें। छोटे बालकों में विधायक शक्ति तो स्पष्ट ही दिखाई देती है। वह कुछ न कुछ कार्य करने के लिए लगातार चेष्टा करता ही रहता है। उनमें यह इच्छा तो बिलकुलही स्वाभाविक रहती है कि हम सबसे आगे रहें, सब लोग हमारी तारीफ करें। उनकी सदैव यही इच्छा रहती है कि हम आगे जावें, जहां पर हैं वहीं सडते हुए पडे न रहें। इसीसे बालक सदैव आगे की ओर खिसकने की चेष्टा करता रहता है। उसकी कृतिसे हम देख सकते हैं कि वह यही चाहता है कि बुराई नष्ट हो, उसका अपने साथ कदापि संबंध न होवे।

छोटे बालकोंके इन कार्यों के अवलोकन से विदित होगा कि उनमें मनुष्य के समान उक्त तीनों शक्तियां विद्यमान हैं। जब मनुष्य बडा होता है और गुलामी की परिस्थिति की आदत पडजानेसे परतंत्रसे बर्ताव करता है यह बात भिन्न है। परन्तु योग्य स्वतंत्रता रहने पर उक्त शक्तियां मनुष्य में निःसंदेह कार्य करती हुई दिखाई देंगी।

इन स्वाभाविक शक्तियों की वृद्धि करना, उन शक्तियों को योग्य मार्ग में लगाना, उनसे योग्य काम करा लेना आदि बातें मनुष्य के लिए संभव हैं, क्यों कि मनुष्य विद्यमान परिस्थितिमें बदल कर सकता है। यह बात स्थिरचर सृष्टि में अन्य कोई भी नहीं कर सकता। इसीसे उपरोक्त मंत्र के उपदेश की सत्यता हमें मनुष्यमें ही देखनी चाहिए।

मनुष्य में ये शक्तियां स्वभावसे हैं। उनकी उचित वृद्धिसे मनुष्य अपने समान लोगों के आगे बढ कर अपने ही प्रयत्न से श्रेष्ठता प्राप्त कर सकता है। इसी से प्रत्येक मनुष्य को इस मंत्रका मनन अत्यंत आवश्यक है। हमे निश्चय है मनुष्य जितना इस मंत्र पर अधिक विचार करेगा उतना ही स्पष्ट अपनी उन्नति का मार्ग उसे दिखाई देगा।

उत्पादक शक्ति।

मनुष्य दो प्रकारके कार्य करता है। उसके कुछ प्रयत्न उत्पादक तथा कुछ अनुत्पादक होते हैं। कुछ उपयोग का पदार्थ निर्माण करना उत्पादक कार्य कहलाता है। बढई लकडी से मेज तैयार करता है

यह उत्पादक कार्य है। जिससे मनुष्य की, कुलकी, जातिकी वा राष्ट्र की सांपत्तिक उन्नति हो सकती है उसीको उत्पादक कर्म कहते है।

हिन्दुस्थान के लोग ग्रंथ पठन करते हैं, न्याय-शास्त्र सीखकर तर्कवितर्क करते हैं। पर इनसे धन-वृद्धि, सुख वृद्धि नहीं होती इससे इन्हे उत्पादक कार्य नहीं कह सकते। मंत्र यह नहीं कहता कि बहुतों को उत्पादक कार्योंमें जन्म के जन्म व्यतीत करना चाहिए। वह इतना ही सुझाता है अपनी उत्पादक अर्थात् निर्माण करनेकी शक्ति बढाओ।

मनुष्य में यह शक्ति है। उसे उस शक्तिको विशेष शिक्षासे विकसित करना होगा।

" सृज् " उत्पन्न करना- धातुसे इस मंत्रका स्रष्टव्य शब्द बना है,अतः इसका विशेष अर्थ 'उत्पादक' है। इस में कुछ नवीन उत्पन्न करनेका, नवीन बनानेका भाव है। इस शब्द से मनुष्य की उत्पादक शक्ति दिखलाई गई।

शिक्षासे यह शक्ति विकसित होनी चाहिए। वर्तमान शिक्षा से मनुष्य की उत्पादक शक्ति विकसित नहीं होती, उसकी सब मसाला तैयार मिलनेपर काम पूरा करनेकी शक्ति भर बढती है। अतः इस शिक्षा से राष्ट्र का घात हो रहा है।

शिक्षा ऐसी जिसके प्राप्त करने से यह लगे कि मैं कुछ कर दिखाऊं, मैं कुछ न कुछ करके दिखला दूंगा। ऐसी ही शिक्षा से व्यक्ति और राष्ट्र दोनोंकी वृद्धि हो सकती है।

अपने राष्ट्र की प्रतिष्ठा संसार के प्रमुख राष्ट्रों में बढाने के लिए किसी एक विषय का अभ्यास कर उसमें नए खोज कर, उसका शास्त्रीय ज्ञान विशेष रीतिसे प्राप्त करना चाहिए। परमेश्वरने ऐसे अनेक विषयों का निर्माण किया है कि उसके एक विषयके एक भाग के ज्ञान से भी राष्ट्रीय उन्नति हो सकती है और वह ज्ञान पूर्ण रीतिसे प्राप्त करने के लिए एक पूरा जन्म काफी न होगा।

ऐसे विषयों में से अपनी रुचि का कोई भी एक विषय लेकर सारे संसार को चकित कर सकते हैं। इतना उसका व्याप बढाने का कोशिश करना विधायक या उत्पादक शक्ति का दर्शक है।

यह विशेष कार्य कर दिखाने की शक्ति आज संसार के अनेक राष्ट्रोंमें से अकेले जर्मनीने ही अधिक संपादित की है। महायुद्ध में हारजाने पर भी उस अकेले राष्ट्र ने विविध शास्त्रों में जितनी तरक्की की है, उतनी अन्य किसी राष्ट्र को अब करते न बनी। विधायक कार्य करने की शक्ति ऐसी होनी चाहिए।

अग्रसरत्व।

इसके बाद का मंत्र का दूसरा उपदेश अग्रसरत्व है। अर्थात् आगे बढकर स्वतः कार्य करनेकी और दूसरों को काम करने को लगाने की शक्ति है। जबतक मनुष्य व्यक्तिशः काम करते रहेगा, तब तक उसमें अग्रसर हो काम करने की बुद्धि ही उत्पन्न न होगी। अर्थात् अग्रसरत्व का गुण प्राप्त करने के लिए संघशः कार्य करने की परिस्थिति बढानी चाहिए। संघसे जब कोई कार्य कराना होता है तब इस गुण का उपयोग होता है।

अपनी खुद की विधायक शक्ति बढाने की सूचना पहले ही की गई है। वह शक्ति बढ जानेपर विधायक या उत्पादक शक्तिका अधिक से अधिक उपयोग कैसे ले सकें? इसका विचार करें तो संघ बनाकर कार्य कर दिखानेकी आवश्यकता प्रतीत होगी और इसी समय इस गुण की महत्ता विदित होगी।

एक राष्ट्र में व्यक्तिशः उत्पादक शक्ति की वृद्धि हुई हो और दूसरे में संघशः उत्पादक शक्ति की वृद्धि हुई हो, तो पहला राष्ट्र दूसरे को मारेगा। क्यों कि व्यक्तिगत शक्ति की अपेक्षा संघशक्ति ही सदैव बलवती होती है।

सांघिक कार्य का विचार करने से विदित होगा कि जो राष्ट्रीय स्वतंत्रता का इच्छुक होता है वही नेता बनकर कार्य का बोझ सम्हालने के लिए योग्य होता है। ऐसा कार्य करते समय सुस्ती और अव्यवस्था का त्याग करना होगा। अपने कार्य में सहायता करनेवाले जो मित्र होंगे, उनको अपने साथ ले जाना आवश्यक है। साधारण लोग अज्ञ होते हैं। जब तक कोई साहस करके आगे कदम

नहीं रखता, तब तक आगे जाने की उनकी हिम्मत नहीं होती। यद्यपि जनता अज्ञ है, तब भी वह उत्तम अनुयायी है। कडी शिस्त का, तेजस्वी स्वाभिमानका, प्रेमका, आत्मविश्वास का, निःसीम स्वार्थत्याग का आदर्श जिस समय उनके सन्मुख उपस्थित होता है उस समय जनता अपना सर्वस्व उस आदर्श के लिए अर्पण करने को तैयार होती है। कायर आदर्शों से जनता अनुयायी बनाई नहीं जा सकती। जो साहस से कार्य करने को आगे बढता है वही अग्रगामी होता है।

विरोध का प्रतिकार।

व्यक्ति या राष्ट्र के मार्ग में जो रुकावट होती है वही विरोध है। ऐसे विरोध का प्रतिकार मनुष्य को करना ही चाहिए। यह तीसरा वैदिक आदेश है। उसके लिए आवश्यक जो ज्ञानादि साधन वे भी परमेश्वरने मनुष्य को जन्मतः दीए हैं। विरोध के प्रतिकार बिना उन्नति हो नहीं सकती। विरोध अनेक हैं पर अनीति का विरोध सब में बडा है। इसीसे उसे अत्यंत आवश्यक है कि वह अनीति के आचार को रोक दे। जो बात व्यक्ति की है वही राष्ट्र की है। राष्ट्रों को भी आवश्यक है कि अपनी शक्ति केवल पाशवी स्वार्थ साधन में व्यर्थ व्यय न करें, किन्तु उसका उपयोग राष्ट्र की नीति बढाने में संसार के अन्याय के कामों को रोकने के लिए किया जावे।

विरोध सदैव दूसरों से ही नहीं होता। अपने अज्ञान या अनीति से भी अपनी प्रगति में विरोध या रुकावटें उत्पन्न हो जाती हैं।

प्रतिबंध अपने से होवे या दूसरों से उसे दूर कर अपनी उन्नति का मार्ग खुला कर देना चाहिए।

इस प्रकार मंत्र के पूर्वार्ध में बतलाए हुए तीन नियम किस प्रकार बर्ताव किए जावें सो तो अपन देख चुके, अब उत्तरार्ध के उपदेशों को देखें।

आगे होना।

उत्तरार्ध में बतलाए हुए मार्ग का आक्रमण करने का अधिकार आने के पूर्व पूर्वार्ध का उपदेश आचरण में उतरना चाहिए। चौथे चरण ने यह बतलाया है कि " अपने समान स्थिति में जो लोग हैं उनके आगे बढो।" इसका उचित आचरण होने के लिए अपने में उत्पादक शक्ति, अग्रसर होने की शक्ति और प्रतिबंधों को दूर करने की शक्ति विकसित होनी चाहिए। अन्यथा वह अपने समान लोगों के आगे न जा सकेगा।

आगे होना कोई आसान बात नहीं है। उसके लिए मिहनत करनी पडती है। अपनी कक्षा के विद्यार्थियों के आगे जाने के लिए उनसे अधिक मिहनत करनी पडती है। ऐसी मिहनत किए बिना उनके आगे जाना असंभव है। मनुष्य को अपने समान मनुष्यों से अधिक तरक्की करना और राष्ट्र को भी अपने समान राष्ट्रों से अधिक अभ्युदय कर लेना, ये बातें केवल इच्छा से नहीं होतीं। उसके लिए भरसक प्रयत्न होना चाहिए। कक्षामें पचास विद्यार्थी हों तो पहला नंबर आने के लिए घर में मनःपूर्वक मिहनत करनी पडती है। इसका अनुभव तो सभी को है।

मंत्र में कहा है कि (समं अतिक्राम) अपने समान लोगों के आगे जाओ। अपने से कम योग्यता वालों के आगे जाना नहीं है किन्तु बुद्धि और कर्तृत्वशक्ति से जो अपने समान हैं उनके आगे जाना है।

आगे जानेपर जो अपने समान होंगे उनके भी आगे जाना होगा। इस प्रकार अखंड उन्नति होती रहेगी। आज यदि अपने अपने समान लोगों के आगे चले भी गए तो अपना कार्य समाप्त नहीं होता किंतु आगे जानेपर जो अपने बराबरी के होंगे उनके भी आगे जाना है। दूसरों के आगे अपन सदैव रहें। इसी इच्छा से प्रयत्न करना होगा।

किसी भी बात में यही नियम उपयोगी है। वाचक इसे स्मरण रखें और इस नियम की व्यापकता पर ध्यान दें।

श्रेयःप्राप्ति।

इस प्रकार जब अपनी उन्नति होने लगेगी तब अपना ध्यान " श्रेय " प्राप्त करने की ओर लगाना

होगा। श्रेय ही सच्चा कल्याण है। मनुष्य को यदि कुछ समझता नहीं है तो वह यही है। वह यहीं नहीं समझता कि सच्चा कल्याण किसमें है।

'प्रेय' और 'श्रेय' ऐसे यदि दो मार्ग आगे आए तो मनुष्य प्रेय के पीछे पड जाता है। ऊपर से प्रिय लगनेवाला परन्तु परिणाम में घात करने वाला 'प्रेय' है। प्रथम कटु लगनेवाला पर अंतमें सच्चा कल्याण करनेवाला 'श्रेय' है। मनुष्य इन दो मार्गोंमें से प्रेय पसंद करता है और श्रेय मार्ग छोड देता है। इसीसे वेदमंत्र में कहा है कि सब प्रयत्न करके अपना श्रेय प्राप्त करो। वर्ना प्रेय का स्वीकार करेगा और सब प्रयत्न मिट्टी में मिल जावेगा।

गीतामें दैवी और आसुरी संपत्ति बतलाई गई है। श्रेय का स्वीकार करना दैवी संपत्तिका और प्रेय का स्वीकार आसुरी संपत्ति का लक्षण है। छुटपन में विद्याध्ययन करना, व्यायाम से शरीर सुदृढ करना, ब्रह्मचर्य का पालन करके अपनी आयु की नींव दृढ करना श्रेय मार्ग का और दैवी संपत्ति का लक्षण है। परंतु जो इसके विपरीत प्रेयमार्ग से जाते हैं वे अकाल में खुद को कुमार्ग में ले जाते हैं, उनका शरीर नष्ट हो जाता है और उनसे कोई भी पुरुषार्थ होना असंभव हो जाता है। ऐसे अनेकों उदाहरण वाचक स्वयं जानते होंगे। यदि उन्हीं को वाचक ध्यानपूर्वक देखें तो श्रेय और प्रेय मार्ग का भेद वे समझ लेंगे।

इस एक मंत्र ने बतलाया कि मनुष्य किस प्रकार अपनी उन्नति कर लेवे। वाचक इसका जितना अधिक विचार करें उतना ही उन्नति का मार्ग उन्हे स्पष्ट दिखाई देगा और उस मार्ग से जानेपर उन्हें अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति निःसंदेह होगी।

योग का चमत्कार।

योग की परंपरा।

योग की परंपरा बहुत प्राचीन है। वैदिक ऋषियोंतक यह परंपरा पहुंचती है। वेद में यही दिखाई देता है कि भगवान् वसिष्ठ ऋषि ज्ञानयोग के प्रतिष्ठाता थे। इसके जानने का कोई उपाय नहीं है कि वसिष्ठजी के पास यह विद्या कहां से आई। तथापि उनके वैदिक सूक्तों में ज्ञानयोग की गुप्त विद्या ही अधिकांश में प्रकट हुई है। तदनंतर वैदिक ऋषियों में से वह मंडल जिसका विशेष संबंध योगविद्यासे है, अथर्वांगिरस ऋषियों का हैं। इनके मंत्रों में प्राणायाम, ध्यान, धारणा, समाधि, आत्मदर्शन आदि विषय विस्तृत रूप से आए हुए हैं। हस्तस्पर्शसे अथवा मानसिक शक्ति की प्रेरणा से रोग दूर करना तथा इसके सदृश अन्य बहुतसे विषय उनके सूक्तों में दिखाई देते हैं। सप्तर्षि के दशम मण्डल के मंत्रों में भी यह विद्या दिखाई देती है। वैदिक सूक्तों के ऋषियों में बहुत ऋषि ऐसे हैं कि जिनके सूक्तोंमें योगविद्या का कुछ न कुछ वर्णन अवश्य है। तब भी उक्त तीन मण्डल अर्थात् वसिष्ठमण्डल, अथर्वांगिरस मंडल और सप्तर्षि मण्डल, मुख्य हैं।

सब योग-ग्रंथों में, श्रीशंकरजी की प्रसिद्धि इस लिए है कि वे निवृत्ति की ओर झुकनेवाले दोनों योगों के अर्थात् हठ और राज योगों के प्रवर्तक हैं। सब मानते हैं कि ये योगों के आद्यगुरु हैं। इसके बाद श्रीकृष्णजी सर्व-संमति से योगेश्वर पदवी के योग्य हुए। महाभारत में हमें यह बात दिखाई देती है। महाभारत कालमें एक भी माननीय पुरुष न था जो भगवान् श्रीकृष्णजी के योग सामर्थ्य को न जानता था। स्वपक्ष और परपक्ष के श्रेष्ठ पुरुष उनके योग बल से पूर्ण परिचित थे। यहांतक कि उनके शत्रु भी उन्हे 'जादूगर' कहकर अपनी निंदा से यह दिखलाते थे कि उनके पास कोई अद्भुत सामर्थ्य है। भगवान् श्रीकृष्णजी के पश्चात् 'योगेश्वर' की अति आदर पदवी का अधिकारी कोई न हुआ। वे राजनैतिक, सामाजिक धार्मिक आदि उच्च

यावत् बातोंमें दखल रखते थे यही नहीं बल्कि इन बातों के जटिल प्रश्नों को हल करने की सामर्थ्य उनमें थी। इसीसे उन्हे 'पूर्ण पुरुष' यह अत्यंत आदर की उपाधि प्राप्त हुई थी। महाभारत को पढनेवाले इस बातको खूब जानते ही हैं।

आज भी योग-साधन करनेवाला पुरुष यदि श्रीकृष्णचन्द्रजी को 'आदर्श पुरुष' के नाते अपने सन्मुख रखे तो गैर-वाजिब न होगा, यही नहीं बल्कि प्रत्येक को चाहिए कि उन्हे आदर्श पुरुष समझे और उनके सदृश होने का पूर्ण प्रयत्न करे। यह किसीको भी न भूलना चाहिए कि यदि किसी के जीवन चरित्र में योग दिखाई देता है तो वह श्रीकृष्णजी के ही जीवन चरित्र में है।

इसके पश्चात् योगदर्शनकार पतंजलि महामुनि योगाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए। उनका योगदर्शन इतना उत्कृष्ट एवं सर्वांग-परिपूर्ण है कि वह योगाभ्यासी लोगोंको निःसंदेह सदैव मार्गदर्शक होगा।

योगग्रंथोंमें जो परंपरा सर्वमान्य हुई है वह इस प्रकार है- १ आदिनाथ अर्थात् श्री शिवाजी

२ मत्स्येन्द्रनाथ	३ शाबर
४ आनन्दभैरव	५ चौरंगी
६ मीननाथ	७ गोरखनाथ
८ विरूपाक्ष	९ बिलेशय
१० मंथान	११ भैरव
१२ सिद्धि	१३ बुद्ध
१४ कंथडि	१५ कोरंटक
१६ सुरानन्द	१७ सिद्धपाद
१८ चर्पटि	१९ कानेरी
२० पूज्यपाद	२१ नित्यनाथ
२२ निरंजन	२३ कपाली
२४ बिंदुनाथ	२५ काकचण्डीश्वर

इत्यादि अनेक पूर्वकालीन महायोगी हो गए। वे सब योग में प्रगति की इच्छा करनेवालों को सदैव वंदनीय ही हैं। क्यों कि इन लोकोत्तर पुरुषोंने आजन्म तपस्या की,योगमार्ग का आक्रमण किया, अद्भुत सामर्थ्य प्राप्त की और योगमार्ग जीवित रखा।

योग में अनंत विभाग हैं। उनमें से एक एक विभाग में भी प्राविण्य प्राप्त करना कठिन है। ऊपर लिखे हुए सिद्ध पुरुषों को परिस्थिति जैसी अनुकूल थी वैसी प्राप्त होना अब तो प्रायः असंभव ही है। तथापि आजभी यदि कोई मनुष्य इस मार्ग में पदार्पण करनेवाला हो तो उसे योग्य मार्ग बतलानेवाले योगी आज भी जगह, जगह मिलेंगे। हिमालय, गंगाका किनारा, नर्मदा-तट, गिरनार पर्वत आदि स्थान ऐसे हैं जहां परंपरामें तैयार हुए योगिजन आज भी दर्शन देते हैं। और यदि उनकी कृपा हो जाय तो वह अनुभव जिसके लिए वर्षोंतक प्रयत्न करना पडता, थोडे ही परिश्रम से प्राप्त हो सकता है। सारांश यही कि इस योग मार्ग की परंपरा बिलकुल आदि वैदिक कालसे आज दिनतक अ-बाधित चली आई है। इतनी भारी राज्य क्रान्तिके कारण भी उस परंपरामें जरा भी खण्ड न पडा और न विघ्न ही हुआ। आर्यों के वैदिक धर्म में यदि जीवित रस मिलने की कहीं संभावना है तो वह इसी योगसाधनमें ही मिलेगा। अन्य सब वैदिक मार्ग परंपरा की दृष्टि से लुप्त हो चुके हैं। परन्तु यह मार्ग आज दिन तक अव्याहत चला है। क्या यह बात हिन्दूमात्र को आल्हादकारी नहीं है।

मुगलोंका साम्राज्य बढा। उन्होंने अपनी तलवार के बल पर जो मन में आए सो और जो कर सके सो भी सब अत्याचार किए। परन्तु दण्डीस्वामीका बल भी बाँका करने का साहस सिकंदर तक को न हुआ। अंग्रेजी साम्राज्य में नवीन नास्तिकता की लहर उठी। प्रायः सब धर्ममार्गोंपर उसका असर हुआ। परन्तु, तब भी योगाश्रम आजदिनतक यथापूर्व बने हुए हैं और वे अबाधित हैं। हमारे धर्म के जीवितपन का यह बडा भारी चिन्ह है। सब लोग चाहे आज योग सीखें या न सीखें,परन्तु यदि आज योग मार्गसे जानेकी किसी की इच्छा हुई तो अपने धर्म के आदि कालमें जिस परंपरा का आरंभ हुआ, वह परंपरा आज भी देखने मिलेगी।

यम और पितर।

[ले०-श्री. पं. मंगलदेव (तडित्कान्त) जी वेदालंकार (गु. कु. कांगडी.) औंध.]

अब हम यम और पितरोंसे संबन्ध रखनेवाले सूक्तोंपर अर्थात् जिन सूक्तोंका देवता यम अथवा पितर है, उनपर सूक्तके क्रमसे विचार करेंगे। यद्यपि इन सूक्तोंमें आए हुए बहुतसे मंत्रोंपर पहिले विचार किया जा चुका है तथापि यहांपर पूर्वापर प्रकरणके साथ उन पर विचार करनेसे उनका भाव अधिक खुल सकेगा। साथ ही पाठकों के लक्ष्यमें यह बात भी आ सकेगी कि उनके जो पहिले अर्थ दे आए हैं वे कहांतक संगत हैं और उनसे निकाला हुआ परिणाम कहांतक ठीक है। संपूर्ण सूक्तके भाव के साथ यदि तो उन मन्त्रोंकी संगति लग सकती है तो तो उन मंत्रोंका अर्थ ठीक है अन्यथा अवश्यमेव अर्थमें खींचा तानी की गई है यह स्पष्ट हो जाएगा। और इसीलिए पाठकोंसेभी निवेदन है कि वेभी यदि किसी मंत्रके अर्थ वा भावसे असहमत हों तो वे प्रथम उस मंत्रके सूक्तके भावके साथ उस मंत्रकी संगति देखें और फिर अर्थ पर विचार करें। संपूर्ण सूक्त के साथ संगतिकरण करते हुए मंत्रका अर्थ करना अधिक पूर्ण व ठीक होगा। यद्यपि सबके सब मंत्रोंके अर्थों की कसौटी के लिए हम यहां साधन उपस्थित नहीं कर सकते तथापि जिन सूक्तों पर यहां विचार करना है उनमें वे प्रायः सभी मंत्र आ जायंगे जो कि प्रकृत विषय में एक बडा भारी महत्त्व पूर्ण भाग ले रहे हैं अर्थात् जिनके आधारपर यम व पितर विषयक परिणाम निकाले गए हैं। पहिले ऋग्वेदके सूक्तोंपर क्रमशः विचार करेंगे। ऋग्वेदमें ५ सूक्त ऐसे हैं जो कि प्रकृत विषय से संबन्ध रखते हैं। पहिले तीन सूक्त अर्थात् १४, १५ और १६ लगातार इसी विषयसे संबन्ध रखने वाले हैं।

१—ऋग्वेद-मं० १०। सू० १४॥

१-१६ यम ऋषिः। देवताः-१-५, १३-१६ यमः। ६ लिङ्गोक्ताः। ७-९ लिङ्गोक्ताः पितरो वा। १०-१२ श्वानौ।

परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम्। वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य ॥ ऋ० १०।१४।१ ॥

अर्थ— (प्रवतः) प्रकृष्ट कर्म करनेवालों को, उत्तम कर्म करने वालोंको तथा निकृष्ट कर्म करनेवालोंको (महीः) भूमि प्रदेशोंको (अनुपरेयिवांसं) प्राप्त कराते हुए तथा (बहुभ्यः पन्थां अनुपस्पशानं) बहुतों के लिए मार्गको दिखलाते हुए और (जनानां सङ्गमनं) जिसमें मनुष्य जाते हैं ऐसे (वैवस्वतं) विवस्वान् के पुत्र (यमं राजानं) यम राजाकी (हविषा दुवस्य) हविदान पूर्वक पूजा कर। "प्रवतः महीः अनु परेयिवांसं" इसका अभिप्राय यह है कि सबको उन उनके कर्मानुसार उचित स्थान पर जन्म देता है। जैसे कोई भारत वर्षमें जन्म लेता है तो कोई अन्यत्र। भारतवर्षमें भी जीव स्वकर्मानुसार भिन्न भिन्न प्रान्तमें जन्म लेता है। इस जन्मस्थानकी व्यवस्था यम करता है ऐसा इसका भाव प्रतीत होता है। अथवा इस मंत्र भाग का अर्थ यूं भी किया जा सकता है- (प्रवतः अनु महीः परेयिवांसं) प्रकृष्ट, उत्कृष्ट तथा निकृष्ट योनिस्थ जीवोंके उद्देश्य से पृथिवी पर आए हुए यमको... इत्यादि। इसका अभिप्राय यह है कि अन्तमें नाना योनिस्थ जीवोंको यमने यम लोकमें ले जाना है अतः वह पृथिवी पर आया हुआ है। और उसका यह कार्य है इसकी पुष्टि आगे 'जनानां संगमनं' यह कर रहा है।

बहुभ्यः पन्थां अनुपस्पशानम्- इसका अभिप्राय यह है कि नाना योनिस्थ जीवोंमेंसे जिस जिसकी आयु संपूर्ण होती जाती है उस उसको वह यमलोकका रस्ता दिखाता जाता है। इस प्रकार इन कर्मों के करनेवाले यम राजाको हवि देकर उसकी पूजा करनी चाहिए यह मंत्रका आशय है।

यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ। यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्या अनु स्वाः ॥ ऋ० १०।१४।२ ॥

अर्थ— (यमः नः गातुं प्रथमः विवेद) यमने हमारा मार्ग सबसे पहिले जाना। (एषा गव्यूतिः न अपभर्तवै) यह मार्ग अपहरणके लिए नहीं है अर्थात् इस मार्गसे छुटकारा पाया नहीं जा सकता। वह मार्ग कौनसा है यह मंत्र के उत्तरार्धसे दर्शाते हैं- (यत्र नः पूर्वे पितरः परेयुः) जहां पर हमारे पूर्वज पितर गये हुए हैं। और (एना) इस मार्गसे (जज्ञानाः) जात प्राणीमात्र (स्वाः पथ्याः अनु) अपने अपने पथ्योंके अनुसार जाते हैं।

इस मंत्रको प्रथम मंत्रके ' जनानां सङ्गमनं यमं राजानं ' का स्पष्टीकरण कहा जा सकता है। अन्त में यमलोकमें सब प्राणियों के जानेके लिए जो मार्ग है उसका यहां निर्देश है। यम हमारा यमलोकमें जानेका मार्ग सबसे पहिले जानता है क्यों कि वह उस मार्गका अधिष्ठाता है। इस मार्ग से छुटकारा पाना कठिन है क्यों कि जो उत्पन्न हुआ है वह अवश्य मरेगाही। इसी भावको, और भी अधिक स्पष्ट मंत्र के उत्तरार्ध से करते हुए कहा गया है कि उस मार्ग में से हमारे पूर्वज गए और जात प्राणीमात्र भी अपने अपने कर्मानुसार जायगा।

इस प्रकार इस मंत्र में यमलोकके जानेके मार्गका वर्णन है। उस मार्गसे सबको जाना होगा। कोई भी इससे बच नहीं सकता। अतएव यमको पूर्व मंत्रमें ' जनानां संगमनं ' कहा है। ' पथ्याः ' का भाव विशेष रूपसे स्पष्ट नहीं होता है। यह मंत्र अथर्ववेदमें (१८।१।५०) भी है।

अगले तृतीय मंत्रसे छठे मंत्र तक नया प्रकरण शुरु होता हुआ प्रतीत होता है। इन चार मंत्रोंमें यम व अङ्गिरस् पितरों की चर्चा है।—

मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः। याँश्च देवा वावृधुर्ये च देवान्त्स्वाहान्ये स्वधयान्ये मदन्ति ॥

ऋ० १० । १४ । ३॥

अर्थ- (मातली) इन्द्र (कव्यैः) कव्यों से,(यमः अङ्गिरोभिः) यम अङ्गिरसों से और (बृहस्पतिः ऋक्वभिः) बृहस्पति ऋचाओं से अर्थात् ऋचा संबन्धी ज्ञान रखनेवालों से (वावृधानः) वृद्धिको प्राप्त होता है। (यान् देवाः वावृधुः) जिनको देवों ने बढाया है तथा (ये देवान्) जो देवों को बढाते हैं, उनमें से (अन्ये) अन्य अर्थात् मातली, यम तथा बृहस्पति (स्वाहा) वषट्कार से दी गई हविद्वारा (मदन्ति) प्रसन्न होते हैं और (अन्ये) दूसरे कव्य, अङ्गिरस् तथा ऋक्व (स्वधया) स्वधाकार से दी गई हविद्वारा प्रसन्न होते हैं। यह मंत्र अथर्ववेद (१८ । १ । ४७) में है। वहां पर जो चतुर्थ पाद है वह इस मंत्रके चतुर्थ पाद से भिन्न है। अथर्ववेद के पाठानुसार कव्य, अङ्गिरस् कौन है यह स्पष्ट हो जाता है। अथर्ववेद में आए हुए इस मंत्रका चौथा पाद इस प्रकार है- ' तेनोऽवन्तु पितरो हवेषु।' अर्थात् मंत्रोक्त कव्य, अङ्गिरस् आदि जो पितर हैं वे हमारी आह्वान करनेपर रक्षा करें।

कव्य- पितरों को प्रायः बहुत से मंत्रों में कवि के नाम से कहा गया है। और अतएव उन्हें जो हवि दी जाती है उसका नाम कव्य है। देवों के लिए दी जाती हवि हव्य के नाम से कही जाती है। दोनों हवियों का भेद करने के लिए पितरों की हवि को कव्य के नाम से कहा गया है। तथापि कई स्थानोंपर पितरों के लिए हवि शब्द से भी हव्यका विधान है ही। यहां पर कव्य शब्द से कव्य खानेवाले पितरों का ग्रहण है। इस मंत्रका पूर्वार्ध अभी विशेष विचारणीय है। इनका एक दूसरे से बढने का क्या अभिप्राय है यह पता नहीं चलता है।

इमं यम प्रस्तर मा हि सीदाङ्गिरोभिः
संविदानः। आ त्वा मंत्राः कविशस्ता
वहन्त्वेना राजन्हविषा मादयस्व ॥

ऋ० १० । १४ ।४॥

अर्थ- (अङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः) अंगिरस् पितरों के साथ एकमत हुआ हुआ हे यम ! तू (इमं प्रस्तरं) इस विस्तृत फैले हुए आसनपर (आसीद) बैठ। (त्वा) तुझे (कविशस्ताः मंत्राः) क्रान्त दर्शीयों द्वारा स्तुति किए गए मंत्र (आ वहन्तु) बुलावें। (एना) इस (हविषा) हविद्वारा (मादयस्व) प्रसन्न हो।

इस मंत्र में यम का अङ्गिरस् पितरों के साथ यज्ञ में विस्तृत आसनपर बैठजाने का वर्णन है।

उसको मंत्रों द्वारा स्तुति करके उसे यज्ञमें हवि दी जाती है। ये अङ्गिरस् पितर कौन हैं इस पर स्वतंत्र विचार करेंगे। इन तीन चार मंत्रों से उनका व यम का संबन्ध दिखाया गया है। उपरोक्त मंत्र के भाव को अगले मंत्र में और भी अधिक स्पष्ट किया गया है —

अङ्गिरोभिरागहि यज्ञियेभिः यम वैरूपैरिह मादयस्व। विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन् यज्ञे बर्हिष्या निषद्य ॥　　ऋ० १०। १४। ५॥

अर्थ-हे यम! (वैरूपैः) विविध स्वरूपवाले, (यज्ञियेभिः) यज्ञ के योग्य पूजनीय (अङ्गिरोभिः) अङ्गिरस् पितरों के साथ (इह आ गहि) इस हमारे यज्ञ में आ। यज्ञमें आकर दी गई हवि को खाकर (मादयस्व) आनन्दित हो। (विवस्वन्तं हुवे) विवस्वान् (सूर्य) को मैं बुलाता हूं (यः) जो कि विवस्वान् (ते पिता) तेरा पिता है। वह विवस्वान् (अस्मिन् यज्ञे बर्हिषि आ निषद्य) इस यज्ञमें आकर आसनपर बैठकर दी हुई हवि को खाकर आनन्दित होवे।

यज्ञ में यम व अङ्गिरस् पितरों को बुलाकर उन्हें हवि दी जाती है, यह यहांपर हमें स्पष्ट रूप से पता चलता है। यम का पिता विवस्वान् (सूर्य) है, उसे भी साथ में यज्ञ में बुलाया जाता है व हवि खाने के लिए दी जाती है। अङ्गिरस् पितर नाना रूपवाले हैं अर्थात् उनके स्वरूप भिन्न भिन्न हैं। इस भिन्न भिन्न स्वरूप का अगले मंत्रमें स्पष्टीकरण किया गया है। यह मंत्र थोडेसे पाठन्तर के साथ अथर्ववेद (१८। १। ५९) में भी आया है।

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः। तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥

ऋ० १०। १४। ६॥

अर्थ—(नः नवग्वाः अथर्वाणः भृगवः सोम्यासः अङ्गिरसः पितरः) हमारे नवग्व, अथर्वा, भृगु, सोमसंपादन करनेवाले अङ्गिरस् पितर हैं। (तेषां यज्ञियानां) उन यज्ञार्ह अङ्गिरस् पितरों की (सुमतौ) उत्तम सलाहों में तथा (भद्रे सौमनसे) शुभ संकल्पों में (स्याम) होवें।

वेदमें नवग्व तथा दशग्व शब्द कई स्थानोंपर आते हैं। नवग्व तथा दशग्व शब्दवाले मंत्रों का समन्वय करके अर्थ निश्चय करना चाहिए। यह शब्द अभी शोध के लिए अवकाश रखता है निरुक्तकार यास्काचार्यने इस मंत्र में आए हुए नवग्व आदि शब्दों के निर्वचन निम्न लिखित किए हैं-

नवग्व—नवगतयो नवनीतगतयो वा।

नि०। ११।१८॥

अर्थात् नव प्रकार की गतिवाले अथवा नवनीत अर्थात् मक्खन की तरह गतिवाले। नव प्रकार की गतिवाले अथवा मक्खन की सी गतिवाले का अभिप्राय व्यक्त नहीं होता। महर्षि स्वामी दयानन्दजी ने इसका अर्थ नवीन गतिवाले ऐसा किया है। सायणाचार्य अपने भाष्यमें इस शब्द का अर्थ इस प्रकार करते हैं-' नवग्वाः नवभिर्मासैः सत्रमनुतिष्ठन्तः।' अर्थात् नव मासका सत्र याग करने से इनका नाम नवग्व है।

अथर्वा-अथर्वाणोऽथर्वणवन्तः, थर्वतिश्चरति कर्मातत्प्रतिषेधः।　　निरु० ११। २। १८॥

अथर्वा स्थिर अर्थात् निश्चल प्रकृतिवाला होता है। चलनार्थक थर्व धातु से थर्वन् शब्द बनता है। जिसका अर्थ है अस्थिर-चलायमान। इससे उलटा अथर्वा-निश्चल।

भृगु—अर्चिषि भृगः संबभूव। भृगुः भृज्यमानः, देहे। निरु० ३। ३॥ भृगु अग्निकी ज्वालाओं में पैदा हुआ था। भृगु का अर्थ है जो आगमें भुना हुआ हो, जिसकी शरीर में आस्था न हो। सोम्यासः-सोम संपादिनः। निरु०। ॥ जो यज्ञ में सोम रस तैयार करते हैं वे सोम्य कहलाते हैं।

इस प्रकार इन विशेषणों से पूर्व मंत्रोक्त ' वैरूपैरिह मादयस्व ' में अङ्गिरस् पितरों को जो वैरूप कहा था उसका इस मंत्रमें स्पष्टीकरण करके दिखाया है कि अङ्गिरस् पितर वैरूप किस प्रकार से हैं। मंत्र के उत्तरार्ध में उनकी नेक सलाह में रहने को कहा गया है। यह मंत्र अथर्व (१८। १। ५८) में तथा यजुर्वेद (१९। ५०) में भी आया हुआ है। यहांपर तीसरे मंत्र से अङ्गिरस् पितर का जो प्रकरण प्रारंभ हुआ था वह समाप्त होता है।

❀

अब अगले दो मंत्रों में अर्थात् ७ वें व आठवें में पुनः उसी प्रकरण का निर्देश करते हुए मृत पुरुष की आत्मा को यम लोक में जहां कि पूर्व पितर गए हुए हैं वहां यम व वरुण के दर्शन करने के लिए कहा गया है।

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिः यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः। उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम्॥
ऋ० १० । १४ । ७॥

अर्थ—हे मृत पुरुष! (यत्र) जिस लोकमें (नः पूर्वे पितरः) हमारे पूर्वज पितर (परेयुः) गए हुए हैं, उस लोकमें (पूर्व्येभिः पथिभिः) पहिले के मार्गोंद्वारा (प्रेहि प्रेहि) अवश्य जा। उस लोक में जाकर (स्वधया मदन्तौ) स्वधासे आनन्दित होते हुए अथवा तृप्त होते हुए (उभा राजाना) दोनों राजा (यमं वरुणं देवं च) यम तथा वरुण देव को (पश्यासि) देख।

इस मंत्र में प्रथम दो मंत्रों के भाव को बिलकुल व्यक्त कर दिया है। सबसे प्रथम यहां यह बात पूर्ण रूपसे स्पष्ट हो जाती है कि जिस लोक में हमारे पितर गए हुए हैं वह लोक यम लोक है अथवा उस लोक में यम का राज्य है क्यों कि यम उस लोक का राजा है ऐसा उत्तरार्ध में कहा है। दूसरी बात यम भी स्वधासे तृप्त होता है यह यहांपर स्पष्ट होती है। तीसरी बात यम के साथ ही वरुण भी रहता है। चौथी बात यम लोक में जानेके मार्ग पितृयाण कहलाते हैं। इस प्रकार प्रथम दो मंत्रों के भाव को किस प्रकार अधिक स्पष्ट किया गया है यह पाठक स्वयं देख सकते हैं। यह मंत्र थोडेसे पाठान्तर के साथ अथर्ववेद (१८। १। ५४) में भी है।

सं गच्छस्व पितृभिः संयमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्। हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः ऋ० १० । १४ । ८॥

अर्थ– हे मृत पुरुष! (परमे व्योमन्) उत्कृष्ट व्योम में अर्थात् स्वर्गमें (पितृभिः सं गच्छस्व) पितरों के साथ जा। (यमेन सं) यमके साथ जा॥ (इष्टापूर्तेन) इष्टा पूर्त के साथ अर्थात् अपने उपार्जित कर्मों के साथ जा। (अवद्यं हित्वाय) निन्दित कर्मों का त्याग करके अर्थात् सुकर्मों के साथ (पुनः) फिर (अस्तं एहि) अपने घरको वापस आ अर्थात् पुनर्जन्म लेकर आ और तब (सुवर्चाः) उत्तम तेज-कान्ति से युक्त हुआ हुआ तू (तन्वा सं गच्छस्व) शरीर को धारण करके संसार में विचरण कर।

इस मंत्र से हमें कई बातें पता चलती हैं। सबसे प्रथम ये दोनों मंत्र अर्थात् सातवां व आठवां मृत पुरुष को संबोधन करके कहे गए हैं। मंत्रका उत्तरार्ध इस बातकी पूर्ण रूप से पुष्टि कर रहा है। दूसरी बात स्वर्ग में जानेके लिए पितर तथा यम मृत पुरुष की आत्मा को पृथिवी पर लेने आते हैं। तीसरी बात 'परमे व्योमन्' से यम लोक उत्कृष्ट लोक है। उसमें अच्छे कर्म करनेवाले जाते हैं। अथवा यम लोक में कई विभाग हैं और उनमें कर्मानुसार जीव जाता है। इष्टापूर्त के साथ जाने का कथन इसी बातकी पुष्टि कर रहा है। इष्टापूर्त का लक्षण निम्न लिखित है–

अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम्।
आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते॥१॥
वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च।
अन्नप्रदानमारामाः पूर्तमित्यभिधीयते ॥२॥

अथर्व वेद (१८।३।५८) में भी यह मंत्र आया हुआ है।

अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन्। अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्ववसानमस्मै॥ ऋ० १०।१४।९

अर्थ– (अपइत) हे विघ्नकारी जनो! यहांसे चले जाओ। (वीत) भाग जाओ। (वि सर्पतातः) सर्वथा यह स्थान छोडकर हट जाओ। (अस्मै) इस प्रेतके लिए (पितरः) पितरोंने (एतं लोकं अक्रन्) यह स्थान किया है। (अस्मै) इस मृतके लिए (यमः) यमने (अहोभिः) दिनोंसे व (अद्भिः) पेय जलोंसे तथा (अक्तुभिः) रात्रियों से (व्यक्तं अवसानं) स्पष्ट समाप्ति (ददातु) दी है।

इस मंत्रमें शव की अंत्येष्टि क्रिया के लिए स्थान को पितर निर्धारित करते हैं ऐसा उल्लेख है। यहां

शरीरसे प्राणों के निकल जाने के बादका वर्णन है ऐसा उत्तरार्धसे प्रतीत हो रहा है। उत्तरार्ध में यह स्पष्ट कहा है कि इसके लिए अब दिन रात आदि की समाप्ति हो चुकी है अर्थात् यह मर गया है। अब पूर्वार्धानुसार मरने पर पितर इसके लिए स्थान बनाते हैं इसके दो ही अभिप्राय हो सकते हैं(१) या तो जो पितर स्थान बनाते हैं वह स्मशान भूमिका हो सकता है अथवा (२) वह यम लोक का हो सकता है। प्रथम विकल्पके पक्षमें हमें अन्य मंत्रभी मिलते हैं जिनको कि हम अंत्येष्टि के प्रकरणमें दर्शा आए हैं। यदि दूसरा विकल्प माना जाए जिसके कि विषयमें अभीतक हमारे पास कोई प्रमाण नहीं तो इससे यम लोक पर थोडासा प्रकाश अवश्य पड सकता है और वह यह कि जैसा उत्तरार्ध में दर्शाया है यम लोकमें दिन व रात नहीं होते और वहां जल भी नहीं है।

अवसान= समाप्ति। यह मंत्र अथर्व वेद (१८।१। ५५) में भी है।

अब यम के दूत दो श्वानोंका वर्णन अगले तीन मंत्रों में अर्थात् मंत्र १० से लेकर १२ तक में है।

अति द्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शबलौ
साधुना पथा। अथा पितॄन्त्सुविदत्राँ उपेहि
यमेन ये सधमादं मदन्ति॥ ऋ० १०।१४।१०

अर्थ- हे पितृ लोक में जाते हुए जीव! (सारमेयौ चतुरक्षौ) सारमेय, चार आंखोंवाले (शबलौ) चितकबरे (श्वानौ) दो कुत्तोंसे (अति) बचकर के (साधुना पथा) कल्याण कारी उत्तम मार्गसे (द्रव) जा। (अथ) तब (सुविदत्रान् पितॄन्) उत्तम धन या ज्ञान से युक्त पितरों को (उप इहि) प्राप्त हो। (ये) जो कि पितर (यमेन सधमादं मदन्ति) यमके साथ आनन्दित होते हुए तृप्त होते हैं।

सारमेय- सायणाचार्यने सारमेयका अर्थ किया है कि-सरमा नामकी देवोंकी कुत्ती है। उसका बच्चा सारमेय। सरमा शब्द सृगतौ धातु से बाहुलकसे अम करनेपर बनता है जिसका अर्थ है बहुत दौडने वाली। उसका पुत्र सारमेय। स्त्रीभ्यो ढक् से ढक्। सारमेय का अर्थ हुआ बहुत दौडनेवाली का पुत्र। लौकिक साहित्यमें सारमेय का अर्थ कुत्ता प्रचलित है।

यमके कुत्तों का वर्णन इस मंत्रमें किया गया है। उनकी चार आंखें हैं तथा चितकबरे रंगके हैं। इस मंत्र में यम व पितरों का संबंध भी व्यक्त हो रहा है।

अगले मंत्र में यम से कहा गया है कि वे इस जीव को उन कुत्तोंसे कल्याण तथा आरोग्य प्रदान करे।

यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी
नृचक्षसौ। ताभ्यामेनं परि देहि राजन् स्वस्ति
चास्मा अनमीवं च धेहि॥ ऋ० १०।१४।११

अर्थ- हे यम (ते) तेरे (यौ) जो (रक्षितारौ) रक्षा करनेवाले (चतुरक्षौ) चार आंखोंवाले (पथिरक्षी) यम लोकमें जानेके मार्ग की रक्षा करनेवाले तथा (नृचक्षसौ) मनुष्योंके देखनेवाले (श्वानौ) दो कुत्ते हैं, हे राजन्! (ताभ्यां) उन दोनों कुत्तों द्वारा (एनं) इस जीवको (स्वस्ति) कल्याण (देहि) प्रदान कर। (च) और (अस्मै) इस जीवके लिए (अनमीवं) रोग रहितता अर्थात् आरोग्य (धेहि) धारण कर। इसे नीरोगी बना।

इस मंत्रमें जीवित पुरुषके लिए यमके कुत्तोंसे कल्याण व आरोग्य मांगा गया है ऐसा प्रतीत होता है। यह मंत्र अथर्व (१८।२।१२) में है।

उरूणसा वसुतृपा उदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो
जनाँ अनु। तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दाता-
मसुमद्येह भद्रम्॥ ऋ० १०।१४।१२

अर्थ- (उरूणसौ) लम्बी नाकवाले, (असुतृपौ) प्राणोंके खानेसे तृप्त होनेवाले, (उदुम्बलौ) विस्तृत बलवाले अर्थात् अत्यन्त बलवान् (यमस्य दूतौ) यमके दूत उपरोक्त दोनों कुत्ते (जनाँ अनुचरतः)मनुष्योंके पीछे पीछे विचरण करते हैं। (तौ) इस प्रकारके वे यम दूत कुत्ते (अस्मभ्यं) हमारे लिए (सूर्याय दृशये) सूर्यके दर्शनार्थ अर्थात् इस लोकमें जीवन धारण करने के लिए (अद्य) आज (इह) इस संसारमें (भद्रं असुं) कल्याण देनेवाले प्राणको (पुनः) फिर (दाताँ) दे वें।

इस मंत्रमें यमके कुत्तोंका थोडासा और अधिक वर्णन हमें मिलता है। वे लम्बी नाकवाले, प्राणोंको खाकर तृप्त होनेवाले, अत्यंत बलशाली हैं। वे सर्वदा मनुष्योंके पीछे लगे रहते हैं।

इसी सूक्तके आठवें मंत्रमें हम देख आए हैं कि वहां पुनर्जन्मका वर्णन मिलता है। इस मंत्रका उत्तरार्ध भी पुनर्जन्म विषयक निर्देश कर रहा है। 'सूर्याय दृशये' से ऐसा पता चलता है कि संभवतः इस लोकमें रहकर ही सूर्य दर्शन हो सकता है अन्यत्र नहीं। यह मंत्र भी अथर्व वेद (१८।२।१३) में है।

यमके कुत्तों पर अधिक प्रकाश डालनेके लिए हम प्रसंग वश अथर्व० ८।१।९ को उद्धृत करते हैं, जिससे कि यमके श्वान विषयक कल्पनाको जो कि हम आगे देने वाले हैं समझनेमें पाठकोंको सहायता मिलेगी।

> श्यामश्च त्वा मा शबलश्च प्रेषितौ यमस्य यौ पथिरक्षी श्वानौ। अर्वाङेहि मा वि दीध्यो मात्र तिष्ठः पराङ्मनाः॥ अथर्व० ८।१।९॥

अर्थ- (श्यामः) काला (च) और (शबलः) चितकबरा ऐसे (यौ) जो दो (यमस्य) यमके (पथिरक्षी) यम लोकके मार्ग की रक्षा करनेवाले (श्वानौ) कुत्ते हैं वे (त्वा) तुझे (मा) मत बाधा पहुंचावें। (अर्वाङ् एहि) तू हमारे सन्मुख आ। (मा विदीध्यः) विरुद्ध मत हो अर्थात् हमें छोडकर चले जाने की कोशिश मत कर। (अत्र) यहां इस संसारमें (पराङ्मनाः) विक्षिप्त चित्तवाला होकर (मा तिष्ठः) मत स्थित हो। अर्थात् संसार से उदासीन वृत्ति धारण मत कर।

इस मंत्रके पूर्वार्धमें यमके कुत्तोंका स्वरूप दर्शाया है। उनमेंसे एक काला है व दूसरा चितकबरा है। इस प्रकार १० वें मंत्रसे १२ वें मंत्रतकमें तथा इस अथर्ववेदके मंत्रमें जो यमके श्वानोंके लिए विशेषण प्रयुक्त किए गए हैं उनसे ऐसा पता चलता है कि आलंकारिक रूपसे दिन व रातका वर्णन इन मंत्रोंमें है। यमके दोनों कुत्ते दिन व रात हैं। काला कुत्ता रात है व चितकबरा कुत्ता दिन है।

इस कल्पनाका आधार इन मंत्रोंमें कुत्तोंके लिए प्रयुक्त हुए हुए विशेषण हैं। हम खास खास विशेषणोंके आधार पर पाठकोंको उपर्युक्त कल्पना का दिग्दर्शन करायंगे। यमके श्वानोंके लिए कहा है कि (जनान् अनुचरतः) अर्थात् वे मनुष्योंके पीछे पीछे प्राणापहरणके लिए लगे हुए विचरण कर रहे हैं। ज्यों ज्यों रात व दिन गुजरते जाते हैं त्यों त्यों मनुष्यकी आयु क्षीण होती जाती है। और एक दिन व रात आती है जब मनुष्य का प्राणान्त हो जाता है। दिन व रात सारमेय भी है क्यों कि जल्दी जल्दी आकर चले जाते हैं। ये शबल अर्थात् चितकबरे भी हैं। दिन सफेद है व रात काली है इस प्रकार दोनों मिलकर शबल हैं। ये नृचक्षस अर्थात् मनुष्यों को देखने वाले भी हैं। ये असुतृप अर्थात् प्राणोंको खाकर तृप्त होनेवाले हैं। जब तक शरीर से प्राण नहीं छूटता तबतक मनुष्यके साथ दिन रात लगे ही हुए हैं। प्राण छूटेकि दिन रात उसके लिए समाप्त हुए। उसके प्राणोंके लेनेके लिए ही मानो दिन रात पीछे पीछे लगे हुए थे। वे प्राण मिलेके उस मनुष्यका दिन रातसे पीछा छूटा। यहां पर एक और भी शंका उठ सकती है कि और वह यह कि श्वान शब्दसे ही क्यों यमके दूत कुत्तोंका उल्लेख किया गया? क्या कुत्तेके वाचक अन्य शब्द नहीं हैं? परन्तु पाठकों को यहां पर ध्यानमें रखना चाहिए कि यह श्वान शब्द हमारी उपरोक्त कल्पना को विशेष दृढ करता है। श्वान शब्दके अर्थ पर विचार करनेसे उपरोक्त शंका का तो उत्तर मिलही जाता है पर दिन रात का यमके श्वान होनेका रहस्यभी पूर्ण रूपसे खुल जाता है। श्वान का अर्थ है- (श्वा=श्वः=कल To-morrow+न-नहीं) जो आनेवाली कलमें नहीं रहेगा अर्थात् जो आज तो है पर कल न रहेगा। पाठक देख सकते हैं कि यह अर्थ पूर्ण रूपसे दिन व रात पर घट रहा है। जो दिन व रात आज हैं वे ही फिर दुबारा लौटकर कल नहीं आयंगे। इस प्रकार आलंकारिक वर्णन से यमके दूत श्वान दिन और रात हैं ऐसी हमारी सम्मति है। अभी इस विषयमें विशेष खोजके लिए अवकाश है। पाठक इस पर विशेष विचार कर सकते हैं।

यहां पर यमके स्थान विषयक प्रकरण समाप्त होता है। अब आगेके तीन मंत्रोंमें अर्थात् १३ से १५ तकमें यमके लिए हवि देने यज्ञ करने आदिका निर्देश है।

यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहुता हविः।
यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरङ्कृतः॥
ऋ० १०।१४।१३॥

अर्थ— (यमाय सोमं सुनुत) यमके लिए यज्ञमें सोमको निचोडो। (यमाय हविः जुहुत) यमके लिए हवि प्रदान करो। (अरङ्कृतः) नाना प्रकारके द्रव्यों के डालनेसे जो अलङ्कृत किया हुआ, (अग्निदूतः) अग्निको अपना दूत बना करके (ह) निश्चय से (यज्ञः) यज्ञ (यमं गच्छति) यम को प्राप्त होता है।

भावार्थ- यमके लिए सोम, हवि आदि यज्ञ में देने चाहिए। यज्ञ यम को निश्चय से प्राप्त होता है।

यह मंत्र थोडेसे पाठान्तर के साथ अथर्ववेद (१८ । २ । १) में है।

यमाय घृतवद्धविर्जुहोत प्र च तिष्ठत।
स नो देवेष्वा यमद् दीर्घायुः प्रजीवसे॥
ऋ० १० । १४ । १४॥

अर्थ- (यमाय) यमके लिए (घृतवत् हविः) घीवाली हवि (जुहोत) प्रदान करो। और हवि देकर (प्र तिष्ठत) प्रतिष्ठा को प्राप्त करो अथवा दीर्घ जीवन का लाभ करो। (सः) वह यम (प्रजीवसे) अच्छी प्रकार से जीनेके लिए (देवेषु) देवों में (नः) हमें (दीर्घायुः) लम्बी आयुष्य (आ यमत्) देवे।

भावार्थ-यमके लिए घीसे मिश्रित हवि देकर प्रतिष्ठा वा दीर्घ जीवन प्राप्त करो। यम को हवि देनेसे वह देवोंमें दीर्घायु देता है।

यह मंत्र भी अथर्व० (१८ । २ । ३) में कुछ पाठभेद के साथ आया है।

[टिप्पणी- प्रतिष्ठत- ऐसा प्रतीत होता है कि यम के लिए घीवाली हवि देनेसे मनुष्यकी सांसारिक व पारलौकिक स्थिति उत्कृष्ट हो सकती है।]

यमाय मधुमत्तमं राज्ञे हव्यं जुहोतन।
इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः॥
ऋ० १० । १४ । १५॥

अर्थ—(यमाय राज्ञे) यम राजा के लिए (मधुमत्तमं हव्यं) अत्यन्त मधुर हव्य का (जुहोतन) प्रदान करो। (पथिकृद्भ्यः) रस्ता बनानेवाले मार्ग प्रदर्शक (पूर्वजेभ्यः) जो सबसे पूर्व उत्पन्न हुए हैं व (पूर्वेभ्यः) हमसे पूर्वके हैं ऐसे (ऋषिभ्यः) ज्ञानियों के लिए (इदं नमः) यह नमस्कार है।

इस मंत्र में यम राजा के लिए मधुरतम हवि देनेका व प्राचीन ऋषियों के लिए नमस्कार का विधान है।

इस प्रकार इस प्राणापहारी यम का वर्णन करने के बाद अन्तिम मंत्रमें उपसंहार करते हैं। इस उपसंहार के मंत्रमें उस यम (सर्व नियन्ता परमात्मा) का वर्णन है।

इस मंत्रकी सम्पूर्ण सूक्त के साथ संगति किस प्रकार लग सकती है यह हम आगे मंत्रार्थ के बाद दर्शायेंगे।

त्रिकद्रुकेभिः पतति षळुर्वीरेकमिद् बृहत्।
त्रिष्टुब्गायत्री छन्दांसि सर्वा ता यम आहिता॥
ऋ० १० । १४ । १६॥

अर्थ- (एकं इत् बृहत्) अकेला ही वह सर्वनियन्ता महान् यम (त्रिकद्रुकेभिः) तीन कद्रुकों से (षट् उर्वीः) छहों उर्वियों को (पतति) प्राप्त होता है अर्थात् व्याप्त करके स्थित है। (त्रिष्टुप् गायत्री) त्रिष्टुप् गायत्री आदि (ता सर्वा छंदांसि) वे सब छन्द (यमे) उस नियन्ता परमात्मा में (आहिता) स्थित हैं।

षट् उर्वी- द्यु, पृथिवी, आप, ओषधी, दिन व रात ये छह उर्वियां हैं।

त्रिकद्रुक का क्या अभिप्राय है यह कुछ ठीक ठीक पता नहीं चलता। सायणाचार्य ने इन्हें याग विशेष करके लिखा है। पं. क्षेमकरण दासजीने उत्पत्ति, स्थिति व प्रलयको त्रिकद्रुक कहा है।

यद्यपि त्रिकद्रु का अर्थ निश्चय न होनेसे मंत्र के पूर्वार्ध का भावार्थ ठीक ठीक पता लगना कठिन है तथापि छहों उर्वियों में वह यम व्याप्त है इतना अवश्य पता चलता है। उत्तरार्ध स्पष्ट है। त्रिष्टुप् गायत्री आदि सर्व उस यम (नियामक परमात्मा) में स्थित हैं।

अब इस मंत्रका संपूर्ण सूक के साथ संगति-करण कैसे हो सकता है इसपर विचार करना है। संसार में हम देख रहे हैं कि परमात्मा की भिन्न भिन्न शक्तियां अपनी स्वतंत्र सत्ता रखती हुई कार्य कर रही हैं। सूर्य, चन्द्र, अग्नि, विद्युत् आदि शक्तियां यद्यपि अन्तमें परमात्मा में ही समाविष्ट होती हैं तथापि इनकी अपनी स्वतंत्र सत्तासे इनकार नहीं किया जा सकता। अर्थात् ये परमात्मा की शक्तियां होतीं हुई भी अपनी स्वतंत्र सत्ता रखतीं हुई संसार में कार्य कर रही हैं। ये सब परमात्मा की ही भिन्न शक्तियां हैं अर्थात् इनके नामसे परमात्मा की ही सत्ता व महत्ता का बोध होता है जैसा कि हमें ऋ० १।१६४ मंत्र ४६ दर्शा रहा है—

> इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ ऋ० १।१६४।४६

परन्तु इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं कि इन्द्र मित्रादि की स्वतंत्र सत्ता ही नहीं। इनकी स्वतंत्र सत्ता से इनकार करना परमात्माकी भिन्न भिन्न सत्ताओंसे इनकार करना है। उपरोक्त मंत्रमें बताई गई परमात्माकी भिन्न भिन्न सत्ताओं में यम भी एक है। यमका सर्वत्र अर्थ वायु करनेका यह मंत्र विरोध करता है इस प्रकार इस सूक्तमें जो यमका वर्णन है वह परमात्मा की विनाश शक्ति व मरने के बाद जीवों की व्यवस्था करनेवाली शक्ति का वर्णन है। यह शक्ति अग्नि वायु आदि की तरह अपनी स्वतंत्र सत्ता रखती है। जिस प्रकार वायु आदि की स्वतंत्र सत्तासे इनकार नहीं किया जा सकता उसी प्रकार यम की भी स्वतंत्र सत्तासे इनकार नहीं किया जा सकता। परमात्मा की भिन्न शक्तियों में से एक यम नामक शक्ति है जिसका कि यम व पितर में उल्लेख किया गया है। कोई यह न समझ ले कि यम परमात्मा की शक्तियों से भिन्न कोई अलग ही शक्ति है अतः इस सूक्तके अंतमें इस शंकाके निवारणार्थ इस मंत्रसे उपसंहार करते हुए ऋ० १।१६४।४६ मंत्र के आशय को दर्शाया गया है। इस अंतिम मंत्रका यह प्रयोजन है कि अन्तिम यम तो वही एक परमात्मा है पर जो सूक्तमें यमका वर्णन है वह उस की एक देशीय शक्ति का वर्णन है। हमारे ख्याल में इसी प्रकार इस मंत्र की सूक्तके साथ संगति है। यम यह एक स्वतंत्र सत्तावाली परमात्मा की शक्ति है जो वायु अग्नि आदिसे भिन्न है। सुज्ञ पाठक इस विवेचन पर और भी अधिक विचार कर निष्कर्ष निकाल सकते हैं।

सम्पूर्ण सूक्तका मंत्रवार सारांश

प्रथम मंत्र।

१ कर्मानुसार जन्म स्थानका निर्णय यम करता है।
२ यम विवस्वान् (सूर्य) का पुत्र है।
३ यम को सब जन प्राप्त होते हैं।

द्वितीय मंत्र।

४ यम ने यम लोक में जाने के मार्ग को सबसे प्रथम जाना।
५ यम लोक के मार्ग से कोई भी बच नहीं सकता। अर्थात् प्रत्येक को यम लोक में अवश्य जाना पडता है।
६ यम लोकमें हमारे पूर्व पितर गए हुए हैं।

तृतीय मंत्र।

७ यम अङ्गिरस् पितरों से बढता है।

चतुर्थ व पंचम मंत्र।

८ यम को अङ्गिरस् पितरों के साथ यज्ञ में बुलाया जाता है।
९ अङ्गिरस् पितर नाना स्वरूपवाले हैं।
१० यम के पिता विवस्वान् को भी यज्ञ में बुलाया जाता है।

षष्ठ मंत्र।

११ अङ्गिरस् पितरों के नानारूप नवग्व, अथर्वन् भृगु आदि हैं।

सप्तम मंत्र।

१२ प्रेत पितृलोक (यमलोक) में भेजा जाता है।
१३ यम लोकमें यम व वरुण राजा हैं।
१४ यम व वरुण स्वधासे आनन्दित होते हैं।

अष्टम मंत्र।

१५ प्रेत को यम व पितर लेने आते ह। वह अपने इष्टापूर्त के साथ लेकर उनके साथ यम लोक में जाता है।

१६ प्रेत यम लोक से पुनः वापिस लौटता है।

नवम मंत्र।

१७ श्मशान भूमि से विघ्न कारियों को भगाया जाता है।

१८ यम लोक में दिन रात नहीं होते।

दशम मंत्र।

१९ यमके दो कुत्ते हैं जिनकी चार आंखें हैं तथा वे स्वयं चितकबरे हैं।

२० मृत आत्मा पितरों को प्राप्त होती है।

२१ पितर यमके साथ आनन्दित होते हैं।

एकादश मंत्र।

२२ यमके श्वान यमलोक के मार्ग की रक्षा करते हैं।

२३ वे मनुष्यों को सर्वदा देखते रहते हैं।

द्वादश मंत्र।

२४ यमके श्वान लम्बी नाकवाले हैं।

२५ प्राणों को खाकर तृप्त होनेवाले हैं।

२६ ये श्वान यमके दूत हैं।

२७ वे मनुष्योंके सर्वदा पीछे पीछे फिरते रहते हैं।

२८ यमके दोनों श्वानों में से एक काला व दूसरा चितकबरा है।

२९ संभवतः ये यमके दोनों श्वान दिन व रात हैं।

त्रयोदश मंत्र।

३० यमके लिए यज्ञमें सोम निचोडा जाता है व हवि दी जाती है।

३१ अग्नि को अपना दूत बनाकर यज्ञ यमके पास पहुंचता है।

चतुर्दश मंत्र।

३२ यमके लिए घी मिश्रित हवि दी जाती है जिससे कि उत्कृष्ट स्थिति उपलब्ध होती है।

३३ यम देवों में जीने के लिए हविर्दाता को दीर्घायु देता है।

पंचदश मंत्र।

३४ यमराजा के लिए अतीव मधुरतम हव्य देना चाहिए।

३५ पूर्वज सब ऋषियों का सत्कार करना चाहिए।

षोडश मंत्र।

३६ छहों उर्वियों को अकेले ही इस महान् ब्रह्मने व्याप्त कर रखा है।

३७ त्रिष्टुप् आदि सब छंद भी उसी यम(सर्वनियामक-परमात्मा)में स्थित हैं-यमके अन्तर्गत हैं।

२—ऋग्वेद मं०१० सू०१५॥

इस सूक्तमें जीवित तथा मृत दोनों पितरों को यज्ञमें बुलाने आदिका वर्णन है। किस मंत्रमें जीवित पितरों के प्रति कथन है और किसमें मृत पितरोंके प्रति यह निर्णय प्रत्येक मंत्र स्वयं करता है।

उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः। असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञा स्ते नो ऽवन्तु पितरो हवेषु॥ ऋ० १०। १५। १॥

अर्थ-हे (सोम्यासः) सोम संपादन करनेवाले (अवरे) निकृष्ट (उत् परासः) और उत्कृष्ट (उत्) तथा (मध्यमाः) मध्यम (पितरः) पितरो! (उदीरतां) उन्नति को प्राप्त होओ। (ये अवृकाः) जिन हिंसा न करनेवाले पितरोंने (असुं ईयुः) प्राण को प्राप्त किया है अर्थात् जो प्राणधारी पितर हैं (ते) वे (ऋतज्ञाः) सत्य व यज्ञको जाननेवाले (पितरः) पितर (हवेषु) बुलाए जानेपर (नः) हमारी (रक्षन्तु) रक्षा करें।

निरुक्त०

सोम्यासः—सोम संपादन करनेवाले।

अवृकाः—अनमित्राः-शत्रुरहित।

उदीरतां = उत् ईरताम्। उत् उपसर्ग पूर्वक ईर गतौ धातु। ऊपर गति करना अर्थात् उन्नति करना।

भावार्थ- सब प्रकार के उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट पितर अपनी उन्नति करें। हमारे सहायतार्थ बुलानेपर आकर हमारा रक्षण करें।

'असुं य ईयुः' पदसे यह ज्ञात होता है कि इस में जीवित पितरों से प्रार्थना की गई है। यह मंत्र अथर्ववेद (१८।१।४४) में तथा यजुर्वेद (१९। ४९) में भी आया है।

इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य अपरास ईयुः। ये पार्थिवे रजस्यानिषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षु॥ ऋ० १०। १५। २॥

अर्थ- (अद्य) आज (पितृभ्यः) पितरों के लिए (इदं नमः अस्तु) यह नमस्कार हो। जिन-

पितरों के लिए ? (ये) जो कि (पूर्वासः) पूर्व-कालीन पितर (ईयुः) स्वर्ग को गए हुए हैं और (ये) जो कि (अपरासः) अर्वाचीन काल के पितर स्वर्गको गए हुए हैं। और (ये) जो कि पितर (पार्थिवे रजसि) पार्थिव रजस् पर अर्थात् पृथिवीपर (आ निषत्ताः) स्थित हैं. (वा) अथवा (ये) जो कि (नूनं) निश्चय से (सुवृजनासु विक्षु) उत्तम बल वा धन युक्त प्रजाओं में स्थित हैं।

भावार्थ- पुरातन कालके अर्वाचीन कालके जो पितर हैं और जो इस समय पृथिवी लोकपर विद्यमान हैं अथवा उत्तम धनधान्य संपन्न प्रजाओं में विद्यमान हैं उन सब पितरों के लिए नमस्कार है।

विश् शब्द निघण्टु में मनुष्यवाची नामों में पठित है। देखो निघण्टु २।३॥

वृजन का अर्थ निघण्टु में बल ऐसा किया गया है। निघण्टु २।९॥

इस मंत्र में सर्व प्रकार के पितरों का अर्थात् प्राचीन, अर्वाचीन, जीवित, मृत सबके लिए नमस्कार का निर्देश है। पूर्वासः अर्थात् प्राचीन काल के पितर इस वखत मृत ही हैं। जो पार्थिव लोक पर विद्यमान हैं वे ही जीवितों में गिने जा सकते हैं। अतः इसके सिवाय शेष दोनों अर्वाचीन व प्राचीन पितर निःसंदेह मृत पितर ही हैं यह मंत्र से स्पष्ट है। इससे यह स्पष्ट हुआ कि मृत पितरों को भी नमस्कार करना चाहिए।

यह मंत्र अथर्ववेद (१८।१।४६) तथा यजुर्वेद (१९।६८) में भी आया हुआ है।

आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ अविित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः। बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः॥ ऋ० १०।१५।३

अर्थ- (सुविदत्रान् पितॄन्) उत्तम धनसंपन्न पितरों को (आ अवित्सि) अच्छी प्रकार प्राप्त करता हूं। (विष्णोः नपातं विक्रमणं च) और सर्व व्यापक परमात्मा के न गिरानेवाले अर्थात् उन्नति करानेवाले शौर्य को प्राप्त करता हूं। (बर्हिषदः पितरः) कुशासन पर बैठनेवाले पितर जो कि (स्वधया) स्वधाके साथ (सुतस्य पित्वः) उत्पादित अर्थात् तैयार किए हुए अन्नका (भजन्त) सेवन करते हैं यानि खाते हैं (ते) वे पितर (इह) इस यज्ञमें (आगमिष्ठाः) आवें।

भावार्थ- धनधान्य संपन्न पितरों को व व्यापक परमात्मा के शौर्य को मैं प्राप्त करता हूं। स्वधा के साथ पक्व अन्न को खानेवाले पितरो ! इस यज्ञमें आओ।

सुविदत्र— सुविदत्रः कल्याणविद्यः। निरु० अ० ६। पा० ३। खं० १४। सुविदत्र का अर्थ निघण्टु में धन भी है। निघ० ७।१०

पित्वः = पितु + अस् = पित्वः= अन्नका। नपात = न पातयति = जो न गिरावे।

इस मंत्र में पितर का निर्णय करना ज़रा कठिन है। तथापि ' आहं सुविदत्रान् पितॄन् अविित्सि ' से जीवित पितर प्रतीत होते हैं। क्यों कि सुविदत्र पितरों को तभी प्राप्त किया जा सकता है जब कि उनके यहां उनसे जन्म लिया जावे। और जन्म जीवित पितरों से ही मिलता है।

यह मंत्र अथर्ववेद (१८।१।४५) में तथा यजुर्वेद (१९।५६) में आया है।

बर्हिषदः पितरः ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम्। त आ गतावसा शन्तमेनाथा नः शंयोररपो दधात॥ ऋ० १०।१५।४॥

अर्थ- हे। (बर्हिषदः पितरः) हे बर्हिषत् पितरो! (अर्वाक्) हमारे प्रति (ऊति) रक्षणार्थ आओ। (वः) तुम्हारे लिए (हव्या) हव्यों को (चकृम) करते हैं उनका (जुषध्वम्) प्रीतिपूर्वक सेवन करो। (ते) वे तुम (शंतमेन अवसा) कल्याण कारी रक्षण के साथ (आगत) आओ। (अथ) और तब (नः) हमें (अरपः) पाप रहित आचरण, (शं) कल्याण और (योः) दुखवियोग (दधात) दो।

भावार्थ- बर्हिषत् पितर हमारा रक्षण करें और उसके बदले में हम उनका हव्यादि प्रदान द्वारा सत्कार करें वे हमारे रोग तथा भयोंको दूर करते हुए हमारा संरक्षण करें।

बर्हिषदः — बर्हिष् में अथवा बर्हिष् पर बैठनेवाले। निघण्टु में बर्हिषशब्द अन्तरिक्ष एवं जलवाची है।

अंतरिक्षमें जल रहता है अतः जलका भी नाम बर्हिष् पडगया ऐसा प्रतीत होता है।

बर्हिष्=अंतरिक्ष। निघण्टु १। ३॥ बर्हिष्=जल। निघण्टु- १। १२॥

अंतरिक्ष में पितर रहते हैं ऐसा हमें वेद मंत्रोंसे (जैसा कि हम पूर्व दर्शा आए हैं) पता चलता है। तदनुसार 'बर्हिषदः पितरः' का अर्थ हुआ अन्तरिक्षस्थ पितर। निघण्टु- ३। ३। में बर्हिषत्, महत् वाची नामों में भी पठित है। तदनुसार महान् पितर ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है। बर्हिष् कुशाघास का भी नाम है। तदनुसार इसका अर्थ कुशाघास के आसनपर बैठनेवाले ऐसा भी हो सकता है। वेदमें बर्हिष् यज्ञ के लिए भी प्रयुक्त हुआ हुआ है अतः यज्ञ में बैठनेवाले ऐसा अर्थ भी हम कर सकते हैं। प्रसङ्गानुसार उचित अर्थ लेना चाहिए। बर्हिषत् पितरों के विषय में विशद विवरण हम अन्यत्र प्रकाशित करेंगे।

शंयोः- शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्॥
निरुक्त० ४। ३। २४॥

अरपः- रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः॥ निरुक्त० ४। ३। २४॥ न रपः = अरपः-पापरहित।

इस मंत्रमें बर्हिषत् पितर जीवितों के लिए प्रयुक्त हुआ है वा मृतों के लिए, इसका निर्णय करना कठिन है। मंत्र में कोई भी ऐसा शब्द नहीं है जिस के आधारपर कोई परिणाम निकाला जावे। यह मंत्र यजुर्वेद (१९। ५५) में तथा अथर्ववेद (१८। १। ५१) में भी है।

उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु। त आ गमन्तु त इह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥ ऋ० १०। १५। ५॥

अर्थ- (ते) वे (सोम्यासः) सोम संपादन करनेवाले (पितरः) पितर (प्रियेषु बर्हिष्येषु) प्रीतिकारक यज्ञ संबन्धी निधियों में (उपहूताः) बुलाए गए हैं। (ते) वे पितर (इह) इस यज्ञमें (आगमन्तु) आवें। (ते अभिश्रुवन्तु) वे पितर हमारी प्रार्थनायें ध्यान देकर सुनें, (अधिब्रुवन्तु) हमें उपदेश करें तथा (अस्मान् ते अवन्तु) हमारी वे रक्षा करें।

भावार्थ- याज्ञिक कार्यों में पितर हमारे बुलाए जानेपर आवें। आकर हमें उपदेश दें, हमारी प्रार्थनायें सुनें तथा हमारी रक्षा करें।

बर्हिष्य- बर्हिष् नाम यज्ञका है। उसमें होनेवाला बर्हिष्य अर्थात् यज्ञ संबन्धी।

सोम्यासः—यास्काचार्यने निरुक्तमें 'सोम्यासः' का अर्थ 'सोम का संपादन करनेवाले' ऐसा किया है।

निधि—निधिः शेवधिरिति। नि० अ० २। पा. १। खं० ४। अर्थात् सेवा का भण्डार।

इस मंत्र में भी जीवित पितरों के प्रति निर्देश है अथवा मृत पितरों के प्रति इसका निर्णय करना कठिन है। मंत्र से किसी भी प्रकार का निर्देश उपलब्ध नहीं होता। यह मंत्र यजुर्वेद (१९। ५७) में तथा अथर्ववेद (१८। ३। ४५) में है।

आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभि गृणीत विश्वे। मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम॥
ऋ० १०। १५। ६॥

अर्थ- (विश्वे) तुम सब पितरो! (जानु आच्य) दांयां घुटना टेककर (दक्षिणतः निषद्य) दांईं ओर बैठकर (इमं यज्ञं) इस यज्ञ का (अभिगृणीत) स्वीकार करो। (पितरः) हे पितरो! (यत् वः आगः) जो तुम्हारा अपराध (पुरुषता कराम) पुरुषत्व के कारण अर्थात् मनुष्यत्व के कारण हम करते हैं ऐसे (केन चित्) किसी भी अपराध के कारण (मा हिंसिष्ट) हमारी हिंसा मत करो।

भावार्थ- हे पितरो दांईं ओर दांयां घुटना टेककर इस यज्ञमें बैठो। यदि हम मनुष्यों से किसी प्रकार का अपराध अनजाने हो जाए तो उसके कारण हमारा विनाश मत करो।

जानु आच्य—इसका अर्थ हमने 'दांयां घुटना टेककर' ऐसा किया है जिसका आधार भूत शतपथ ब्राह्मण का निम्न वचन है-'अथैनं पितरः। प्राचीनावीतिनः सव्यं जान्वाच्योपासीदंस्तानब्रवीत्....' इत्यादि। शतपथ २। ४। २। २॥

इस मंत्रमें जिन पितरोंका उल्लेख है वे जीवित पितर हैं ऐसा 'आच्याजानु' से प्रतीत होता है। मृत पितर देह रहित होनेसे यज्ञमें घुटना टेककर नहीं बैठ सकते। देहधारी पितरोंके लिए ही यह करना संभव है और देहधारी पितर जीवित पितर ही हो सकते हैं मृत पितर नहीं। यह मंत्र यजुर्वेद (१९।६२) में तथा अथर्व (१८।१।५२) में है।

आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय। पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्रयच्छत त इहोर्जं दधात ॥ ऋ० १०।१५।७ ॥

अर्थ- (अरुणीनां उपस्थे आसीनासः) यज्ञमें प्रदीप्त की गई अग्निकी लाललाल ज्वालोंओंके समीपमें बैठे हुए अर्थात् यज्ञमें उपस्थित हुए हुए पितरो! (दाशुषे मर्त्याय) दानी मनुष्यके लिए (रयिं धत्त) धनको दो। (तस्य) उस दानीके (पुत्रेभ्यः वस्वः प्रयच्छत) पुत्रोंके लिए धनका दान करो। (ते) वे तुम (इह) यहांपर उस दानी व दानीके पुत्रोंके लिए (ऊर्जं) अन्नसे (दधात) पुष्ट करो।

भावार्थ- हे पितरो! यज्ञमें बैठकर जो दान करने वाला है उसके लिए तथा उसके पुत्रोंके लिए धन व अन्नका दान करके उन्हें पुष्ट करो।

अरुणी- यद्यपि निघण्टु १।१५ ॥ में उषाकी किरण ऐसा अर्थ है तथापि यहां पर प्रकृत प्रकरण में यज्ञका वर्णन होनेसे यज्ञकी रक्तवर्ण ज्वालाओं सेही अभिप्राय है। ऊर्जः— अन्न। निघण्टु २।७ ॥

इस मंत्रमें जिन पितरोंका उल्लेख है उनका निर्णय करना कठिन है। जीवित तथा मृत दोनों प्रकारके पितरोंके विषयमें उपरोक्त मंत्रोक्ति घट सकती है जैसा कि हमें इसी सूक्त के आगे आने वाले मंत्र दर्शायेंगे। यह मंत्र अथर्व वेद (१८।३।४३) में तथा यजुर्वेद (१९।६३) में आया है।

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः। तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥ ऋ० १०।१५।८ ॥

अर्थ- (ये) जिन (नः) हमारे (पूर्वे सोम्यासः वसिष्ठाः पितरः) पुरातन सोमसंपादन करनेवाले वसिष्ठ अर्थात् उत्तम धनवाले पितरोंने (सोम पीथं) सोमपान को यज्ञमें (अनु ऊहिरे) प्राप्त कियाथा, (तेभिः) उन (उशद्भिः) यमके साथ सोमपान करने वा हवि खाने की कामना करते हुए वसिष्ठ पितरोंके साथ (उशन्) पितरोंके साथ सोमपान करने वा हवि खानेकी कामना करता हुआ, (संरराणः) पितरोंके साथ रमण करता हुआ अर्थात् आनन्दित होता हुआ (यमः) यम (हवींषि) हवियोंको (प्रतिकामं) इच्छानुसार (अत्तु) खावे।

भावार्थ- हमारे जिन पुरातन पितरोंने यज्ञमें बैठकर सोमपान कियाथा उन पितरोंके साथ मिल कर यम हमारे द्वारा दी गई हवियोंको खावे। हमें यम व पितरोंके लिए यज्ञमें पर्याप्त मात्रामें हवि देनी चाहिए।

*वसिष्ठ- यद्वै नु श्रेष्ठः तेन वसिष्ठो अथो यद्वस्तृतमो वसति तेनो एव वसिष्ठः। श० ८।१।१।६ ॥

इस वचनानुसार वसिष्ठ का अर्थ उत्तम वास करानेवाला अर्थात् उत्तम आश्रय दाता ऐसा अर्थ भी किया जा सकता है। वसु नाम धनका भी है। तदनुसार उत्तम धनवाले ऐसा अर्थ भी हो सकता है।

इस मंत्रके वर्णन से यहां मृत पितरोंका उल्लेख है ऐसा मालूम होता है। यम के साथ हवि खानेवाले पितर जीवित नहीं हो सकते।

इस मंत्रसे लेकर इस सूक्तकी समाप्ति पर्यन्त मृत पितरोंके संबंधमें निर्देश है ऐसा प्रतीत होता है। पाठक मंत्रोंके देखनेसे स्वयमेव इस बातका निर्णय कर सकेंगे। यह मंत्र यजुर्वेद (१९।५१)में आया है।

---

* टिप्पणी – वसिष्ठके विषयमें निम्न लिखित ब्राह्मणों के वचन हैं-

(१) यद्वै नु श्रेष्ठः तेन वसिष्ठो अथो यद्वस्तृतमो वसति तेनो एव वसिष्ठः॥ श० ८।१।१।६ (२) येन वै श्रेष्ठः तेन वसिष्ठः ॥ गो. उ. ३।९ (३) एष (प्रजापतिः) वै वसिष्ठः ॥ श० २।४।४।२ (४) प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिः ॥ श० ८। १। १। ६ (५) सा ह वागुवाच- (हे प्राण !) यद्वा अहं वसिष्ठास्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीति ॥ श० १४।९।२।१४ (६) अग्निर्वै देवानां वसिष्ठः ॥ऐ० १।२८ यह वचन ऋ० २।९।१ पर है। (७) वाग्वै वसिष्ठा ॥श० १४।९।२।२

निम्न दो मंत्रों (११-१२) में अग्निको पितरोंके साथ यज्ञमें बुलाया गया है—

ये तातृषुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविदः स्तोमतष्टासो अर्कैः। आग्ने याहि सुविदत्रेभिर्वाङ् सत्यैः कव्यैः पितृभिर्घर्मसद्भिः ॥ ऋ० १०।१५।९॥

अर्थ- (देवत्रा जेहमानाः) देवोंको प्राप्त होते हुए अर्थात् देव बनते हुए (होत्राविदः) यज्ञोंके जानने वाले (स्तोम तष्टासः) स्तोमोंके बनाने वाले (ये) जो पितर (अर्कैः) अर्चनीय स्तोत्रोंसे (तातृषुः) इस संसार सागरसे सर्वथा तर गए हैं ऐसे (सुविदत्रेभिः सत्यैः कव्यैः, घर्मसद्भिः पितृभिः) उत्तम धनवाले अथवा कल्याणकारी विद्यावाले अर्थात् उत्तम ज्ञानी, (सत्यैः) सत्यवचनी, (कव्यैः) कव्य नाम है पितरोंके उद्देश्यसे दी गई हविका, उसको खाने वाले तथा यज्ञमें आकर बैठने वाले पितरोंके साथ (अर्वाङ्) हमारे प्रति (अग्ने) हे अग्नि ! तू (आयाहि) यज्ञमें आ।

भावार्थ- देवत्वको प्राप्त हुए हुए पितरोंको अग्निके साथ यज्ञमें बुलाया जाता है व अग्नि उन पितरोंके साथ यज्ञमें आती है अर्थात् पितर अग्निके साथ हमारे यज्ञमें आते हैं।

घर्म-यज्ञ। निघण्टु. ३।१७॥

* अर्क- मंत्र- स्तोत्र।

इस मंत्रके ' देवत्रा जेहमानाः ' के भावको अगला मंत्र विशेष रूपसे स्पष्ट करता है। उसमें भी अग्नि द्वारा देवयोनिमें गए हुए पितरोंकाही आह्वाहन किया गया है।

ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः। आग्ने याहि सहस्रं देववन्दैः परैः पूर्वैः पितृभिर्घर्मसद्भिः॥

ऋ. १०।१५।१०॥

अर्थ- (ये) जो पितर (सत्यासः) सत्यवचनी, (हविरदः) हविके खानेवाले, (हविष्पाः) हविकी रक्षा करनेवाले तथा (इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः) जो इन्द्र व देवोंके साथ समान रथपर आरूढ होते हैं ऐसे (सहस्रं देववन्दैः) हजारों बार देवोंसे स्तुति किए गए (पूर्वैः परैः) पुरातन तथा अर्वाचीन (घर्मसद्भिः पितृभिः) यज्ञमें बैठने वाले पितरोंके साथ (अग्ने) हे अग्नि ! तू (आयाहि) आ।

भावार्थ- देवोंके साथ एक रथारूढ अर्थात् देवोंके साथ विचरण करणेवाले पितरोंको यज्ञमें अग्नि लाती है।

यह मंत्र पूर्वमंत्रकेही आशय को स्पष्ट कर रहा है। प्राचीन पितर तथा देवोंमें विचरण करनेवाले पितर जीवित पितर नहीं हो सकते। इसके सिवाय यहां एक और भी महत्व पूर्ण बातका पता चलता है और वह यह कि मरनेके बाद जीव एकदम पुनर्जन्म नहीं लेता, कमसे कम सबके सब जीव तो एकदम नहीं ही लेते। यदि यह कहा जाए कि इस मंत्र में मुक्त पितरोंका वर्णन है तो इस बातको मानना पडेगा कि मुक्त जीवोंका भी सांसारिक जीवोंसे संबंध रहता है व वे बुलानेपर हमारे कार्योंमें शामिल होते हैं। दूसरे शब्दोंमें इसे यूं भी कह सकते हैं कि परलोकवासी जीवोंका इस लोकवासी जीवोंसे संबन्ध बना रहता है। वे इस लोकमें आकर यहांके जीवोंके कार्योंमें हिस्सा बटोरते हैं व समय समय पर रक्षा आदिके कार्य भी करते हैं। उनको हमारे समाचार पहुंचानेवाली अग्नि है। अतः जिवित पितरोंकी तरह उनका भी समय समयपर सत्कार करना चाहिए ऐसा इसका अभिप्राय हुआ। इस विषयमें विशेष प्रकाश डालनेवाले मंत्रको मूल लेखमें उद्धृत किया जा चुका है। उन मंत्रोंपर विशेष विचार करना जरूरी है।

अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदः सदः सदत सुप्रणीतयः। अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिं सर्ववीरं दधातन ॥

ऋ. १०।१५।११॥

---

* टिप्पणी— अर्कके अनेक अर्थ हैं 'अर्को देवो भवति, यदेनमर्चति। अर्को मंत्रो भवति, यदनेनार्चन्ति। अर्कमन्नं भवति, अर्चति भूतानि, अर्को वृक्षो भवति संवृतः कटुकिम्ना। निरुक्त. ५।१।५॥ सुविदत्रः--सुविदत्रः कल्याणविद्यः। निरु० ७।३।१४ इसका अर्थ धनभी है। निरु० ७।४।९॥

अर्थ— हे (सुप्रणीतयः) उत्तम प्रकारसे ले जानेवाले (Leaders) (अग्निष्वात्ताः पितरः) अग्निष्वात्त पितरो ! (इह) इस यज्ञ में (आगच्छत) आओ। (सदः सदः सदत) घर घर में स्थित हो ओ। (अथ) और (बर्हिषि प्रयतानि हवींषि अत्त) यज्ञमें दी गई हवियोंको खाओ। और हमें (सर्ववीरं रयिं दधातन) सर्व प्रकार की वीरतासे परिपूर्ण पुत्र रूपी धन दे कर पुष्ट करो।

भाव— हे अग्निष्वात्त पितरो घर घर में आओ। यज्ञों में तुम्हारे उद्देश्य से दी गई हवियों को खाओ तथा उसके बदले में वीर संतति का प्रदान करो।

अग्निष्वात्त पितर— अग्निष्वात्तका अर्थ भिन्न भिन्न भाष्यकारों ने भिन्न भिन्न किया है। इस पर विशेष विचार इस सूक्त के अन्तिम मंत्र पर करेंगे। यहां पर पितृ निर्णय के लिए इतना लिखनाही पर्याप्त है कि जिनका अंत्येष्टि संस्कार अग्निसे किया जाता है उन्हें अग्निष्वात्त पितर कहा जाता है। तदनुसार इस मंत्र में मृत पितरोंको बुला गया है व उन्हें हवि दी गई है तथा उसके बदले में वीर संतान देने की प्रर्थना की गई है। इस प्रकार यह मंत्र भी मृतों का जीवितों के साथ संबन्ध है इस मतकी स्थापना को पुष्ट करता है।

सुप्रणीति— जिसकी नीति (Leading) उत्तम है। अर्थात् जो उत्तम पथप्रदर्शक है। यह मंत्र यजुर्वेद (१९। ५९) में तथा अथर्व वेद (१८।३।४४) में भी आया हुआ है।

त्वमग्न ईळितो जातवेदोऽवाड् ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी। प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि॥ ऋ० १०।१५।१२

अर्थ— हे (जातवेदः अग्ने) जातवेदस् अग्नि ! (ईळितः त्वं) स्तुति किया गया तू (हव्यानि) हव्योंको (सुरभीणि कृत्वी) सुगंधित बनाकर (अवाट्) बहनकर (पितृभ्यः) उन हव्योंको पितरोंके लिए (प्रादाः) दे। (ते) वे पितर (स्वधया अक्षन्) उन हव्योंको स्वधाके साथ खावें। (देव) हे प्रकाशमान अग्नि ! (त्वं) तूभी (प्रयता हवींषि) दी गई हवियोंको (अद्धि) खा।

भावार्थ— अग्निकी स्तुति करने पर वह पितरोंके लिए हविको सुगंधित बना कर ले जाती है। और पितरोंको ले जाकर देती है ताकि वे खावें।

इस मंत्रसे ऐसा पता चलता है कि दूरस्थ पितरोंके पास हवि पहुंचानेका साधन अग्नि है। अतः अग्नि द्वारा दूरस्थ पितरोंको हवि पहुंचाना चाहिए।

[सूचना- अग्नि व पितर विषयक विशेष विवेचन अग्नि व पितर नामक शीर्षक के नीचे दिया गया है वहांसे पाठक देख सकते हैं। वहां पर अग्नि व पितर संबन्धी मंत्रोंकी संगति लगाकर उनका अभिप्राय दर्शाया गया है।]

जीवित पितरोंको अग्नि द्वारा हवि देनेसे तृप्ति नहीं हो सकती अतः अग्नि द्वारा हवि मृत पितरोंकोही दी जा सकती है और उसीके द्वारा वे तृप्त होसकते हैं। स्थूल रूपमें विद्यमान हवि जीवितोंके लिए उपयोगी है और अग्नि द्वारा सूक्ष्म रूपमें की गई हवि मृतों के लिए उपयोगी है। इस में हेतु यह है कि जीवित पितरोंका भौतिक देह उस अग्नि द्वारा की गई सूक्ष्म रूप हवि से तृप्त नहीं हो सकता यह बात निर्विवादही है। इसके प्रतिकूल मृत पितरोंका भौतिक देह नहीं है अर्थात् उनके पास स्थूल हविके ग्रहण करनेका एक मात्र साधन स्थूल शरीर नहीं है अतः उनके लिए स्थूल हवि निरुपयोगी है पर सूक्ष्म शरीरके अवशिष्ट होनेसे उसके संरक्षणके लिए उन्हें सूक्ष्म रूपमें हवि चाहिए जो कि अग्नि द्वारा उन्हें मिल सकती है और उससे वे तृप्त हो सकते हैं। जीवित दशामें स्थूल शरीर होते हुए भी सूक्ष्म शरीर विद्यमान रहता है व स्थूल शरीरके साथ साथ तृप्त होता रहता है। स्थूल शरीर की खोराकमेंसे सूक्ष्म शरीरको थोडा बहुत अंश मिलता रहता है पर स्थूल देहके अलग होजाने पर सूक्ष्म देहको स्थूल शरीरके द्वारा जो खोराक उपलब्ध होती थी वह बंद हो जाती है। अन्नके विना देहकी स्थिति नहीं रह सकती अतएव अग्नि द्वारा सूक्ष्म देहको खोराक पहुंचाई जाती है। और यही कारण प्रतीत होता है कि अग्निको सर्वत्र कहा गया है कि वह मृत पितरोंके पास हवि ले जाए, उनको हवि खानेके लिये ले आए,इत्यादि। हमारी समझमें अग्नि

द्वारा मृत पितरोंको हवि पहुंचनेका कारण यही है कि उनके सूक्ष्म शरीरको अन्न मिलता रहे । मृत पितरोंका स्वसूक्ष्म देह संरक्षणार्थ हविकी आवश्यकता रहती है और अतएव वेदमें ऐसे मंत्र हमें उपलब्ध होते हैं।

इसके अनुसार इस मंत्रमें मृत पितरोंके उद्देश्य से हवि देनेका उल्लेख है ऐसा हम मान सकते हैं। यह मंत्र अथर्व वेद (१८।३।४२) में तथा यजुर्वेद (१९।६६) में भी आया हुआ है :

ये चेह पितरो ये च नेह याँश्च विद्म याँ उ च न प्र विद्म । त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जुषस्व ॥ ऋ० १०।१५।१३ ॥

अर्थ— (ये च इह पितरः) जो पितर यहां पर विद्यमान हैं, (ये च न इह) और जो पितर यहांपर विद्यमान नहीं हैं, (यान् च विद्म) और जिन पितरोंको हम जानते हैं, (यान् च न प्रविद्म) और जिन पितरोंको हम नहीं जानते, इस प्रकारके (यति ते) जितनेभी वे पितर हैं उन सबको (त्वं) तू (वेत्थ) जानती है। (स्वधाभिः) स्वधाओंके साथ (सुकृतं यज्ञं) उत्तम प्रकारसे किए हुए यज्ञको तू (जुषस्व) प्रीतिपूर्वक सेवन कर।

भावार्थ— जो पितर इस संसार में विद्यमान् हैं और जो नहीं हैं तथा जिनको हम जानते हैं और जिनको हम नहीं जानते अर्थात् जो हमारे जन्म सेभी पहिले इस लोकसे चले गए हैं उन सब पितरों को अग्नि जानती है।

पूर्व मंत्रमें मृत पितरों को हवि की आवश्यकता क्यों है यह दर्शाते हुए हमने यह भी दर्शाया था कि अग्नि द्वारा उन्हें हवि पहुंचाने में हेतु क्या है। इस मंत्र में अग्नि द्वारा हवि पहुंचाने का दूसरा हेतु दर्शाया गया है और वह यह कि अग्नि सब प्रकार के पितरों के विषयमें परिचय रखती है। अतएव वही एक ऐसी है कि जो पितरों के पास, चाहे वे कहीं पर भी हों हवि पहुंचा सकती है। यह दूसरा हेतु है जिसके कि कारण अग्नि द्वारा हवि पहुंचाने का वेदमंत्रों में निर्देश है। अग्नि संबन्धी विशेष विवेचन हम पहिले अग्नि व पितर में कर आए हैं वहां से पाठक देख सकते हैं। यह मंत्र यजुर्वेद (१९। ६७) में है।

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते । तेभिः स्वराडसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयस्व ॥ ऋ० १० । १५ । १४

अर्थ- (ये) जो पितर (अग्निदग्धाः) अग्नि द्वारा जलाए गए हैं, (ये) और जो (अनग्निदग्धाः) अग्नि द्वारा नहीं जलाए गए हैं ऐसे जो दोनों प्रकार के पितर (दिवः मध्ये स्वधया मादयन्ते) द्यु लोक के बीचमें स्वधासे आनन्दित हो रहे हैं (तेभ्यः) उन दोनों प्रकार के पितरों के लिए (स्वराट्) स्वयं प्रकाशमान अग्नि वा यम (यथावशं) कामना के अनुसार (एतां असुनीतिं तन्वं कल्पयस्व) इस प्राणों द्वारा ले जाए जानेवाले शरीर को बना॥

भावार्थ-जिनका अंत्येष्टि संस्कार अग्निद्वारा किया गया है व जिनका अग्निद्वारा नहीं किया गया ऐसे द्यु लोक में रहनेवाले पितरों का पुनर्जन्म होता है।

असुनीति—जो प्राणों द्वारा ले जाया जावे। अर्थात् जिसका संचालन प्राणों द्वारा होता है। यह शरीर असुनीति है क्यों कि प्राण निकल जानेपर इसका संचालन बन्द हो जाता है।

अग्निदग्ध और अनग्निदग्ध

[' ये निखाता ये परोप्ताः ' इत्यादि अथर्व. १८। २। ३४ में जो प्रेत के अंत्येष्टि संस्कार के चार प्रकार दर्शाए हैं उनमें से दग्ध को छोडकर शेष तीन संस्कार अर्थात् गाडना, बहाना और हवामें खुला छोडना इन विधियोंसे जिन प्रेतोंका अंत्येष्टि संस्कार हुआ है वे अनग्निदग्ध हैं तथा जिनकी अंत्येष्टि अग्नि से हुई है वे अग्निदग्ध हैं। सूचना- इसपर विशेष प्रकाश प्रेत व अंत्येष्टि नामक शीर्षक में डाला गया है। पाठक वहां से देख सकते हैं।]

अग्निष्वात्त व अनग्निष्वात्त

प्रसंगवश थोडासा यहांपर अग्निष्वात्त व अनग्निष्वात्त के विषयमें लिखना जरूरी है। उपरोक्त

मंत्र (ऋ० १० । १५ । १४) यजुर्वेद (१९ । ६०) में आया हुआ है । वहांपर जो थोडासा पाठभेद है वह अग्निष्वात्त व अनग्निष्वात्त के अर्थ निर्णय को स्वयमेव कर देता है । ऋग्वेद का पाठ उपर हम दे आए हैं । यजुर्वेद का पाठ इस प्रकार है -

> ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते । तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयाति ॥ यजुः १९ । ६०॥

इन दोनों मंत्रों की तुलना करने से पाठकों को दोनों मंत्रोंमें कितना व कहां पाठभेद है यह बात सुगमता से पता चल सकती है । ऋग्वेदस्थ मंत्रमें जहां 'अग्निदग्धाः' पद है वहांपर यजुर्वेदस्थ मंत्र में 'अग्निष्वात्ताः' ऐसा पद है और इसी प्रकार ऋग्वेद के मंत्र में जहां 'अनग्निदग्धाः' है वहांपर यजुर्वेद के मंत्रमें 'अनग्निष्वात्ताः' ऐसा आया है । शेष भाग दोनों वेदों के मंत्र में सर्वथा समान है । थोडासा लकार व पुरुष भेद अंतिम पद में है और वह यह कि यजुर्वेदस्थ मंत्रमें 'कल्पयाति' है और उसके स्थानमें ऋग्वेदमें 'कल्पयस्व' है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि -

अग्निदग्धाः = अग्निष्वात्ताः, और अनग्निदग्धाः =अनग्निष्वात्ताःअर्थात् जो अग्नि दग्धका अर्थ है वही अग्निष्वात्तका अर्थ है और जो अनग्निदग्धका अर्थ है वही अनग्निष्वात्त का। अनग्निदग्ध का अर्थ स्पष्ट ही है कि जो अग्निसे जला हुआ हो । अतः अग्निष्वात्तका भी अर्थ हुआ कि जो अग्नि से जला हुआ हो। इसी प्रकार अनग्निदग्धका अर्थ है कि जो अग्नि से न जला हुआ हो । अतः अनग्निष्वात्तका भी अर्थ हुआ कि जो अग्नि से न जला हुआ हो ।

'अग्निष्वात्ताः' का विग्रह इस प्रकार है-'अग्निना स्वात्ताः स्वादिताः ते अग्निष्वात्ताः ।' अर्थात् जिनका अग्नि ने स्वाद लिया है- जिनको अग्नि ने चखा है अर्थात् जिनको अग्नि ने जलाया है । इस प्रकार व्याकरण शास्त्र भी उपरोक्त कथन का ही पोषक है ।

अग्निष्वात्त के अर्थ के विषय में शतपथ का निम्न लिखित वचन है-

> यानग्निरेव दहन्त्स्वदयति ते पितरो अग्निष्वात्ताः। श० २ । ६ । १ । ७॥

अर्थात् जिनको अग्नि ही जलाती हुई स्वाद लेती है वे पितर अग्निष्वात्त कहलाते हैं । इसका यह अभिप्राय हुआ कि जिनका अंत्येष्टि संस्कार अग्निद्वारा होता है वे अग्निष्वात्त पितर हैं। अंत्येष्टि संस्कार के विना अग्नि को पितरों के जलाने का अन्य कोई अवसर ही नहीं। इस प्रकार शतपथ ब्राह्मणानुसार भी उपरोक्त विवेचन की पुष्टि होती है । अतः अग्निष्वात्तका अर्थ हुआ कि जिसका अंत्येष्टि संस्कार अग्नि से हुआ है और अनग्निष्वात्त का अर्थ हुआ जिसका अंत्येष्टि संस्कार अग्निसे नहीं हुआ है ।

अग्निष्वात्त व अग्निदग्ध के इस विवेचनानुसार उपरोक्त मंत्र में मृत पितरों का ही उल्लेख है यह साबित होता है ।

संपूर्ण सूक्तका मंत्रवार सारांश ।

मंत्र १ ।

१ जीवित पितर संग्रामों में अथवा रक्षार्थ बुलाए जानेपर हमारी रक्षा करते हैं ।

मंत्र २ ।

२ प्राचीन, अर्वाचीन, पृथिवीस्थ आदि पितरों के लिए नमस्कार करना चाहिए ।

मं. ३ ।

३ बर्हिषत् पितरों को यज्ञ में बुलाना चाहिए ।

मं. ४ ।

४ बर्हिषत् पितरों को हवि देनी चाहिए ।

५ बर्हिषत् पितर हमारे रोग, भयादि को दूर करते हैं ।

मंत्र ५ ॥

६ पितर यज्ञमें आकर हमारी प्रार्थनाओं को सुनते हैं, हमें उपदेश देते हैं तथा हमारी रक्षा करते हैं ।

मंत्र ६ ॥

७ पितर यज्ञ में दांयां घुटना टेककर बैठते हैं, व यज्ञ का स्वीकार करते हैं ।

मंत्र ७ ॥

८ पितर यज्ञ में बैठकर दानी मनुष्य को व इस

के पुत्रों को धन देते हैं। उसे अन्नादि देकर पुष्ट करते हैं।

मंत्र ८ ॥

९ सोमपान करनेवाले पुरातन मृत पितरों के साथ यम हवि को खाता है।

मंत्र ९ ॥

१० अग्नि देवत्व को प्राप्त किए हुए यज्ञादि में बैठनेवाले पितरों के साथ यज्ञमें आती है।

मंत्र १० ॥

११ पितर इन्द्र तथा देवों के साथ समान रथपर आरूढ होकर विचरण करते हैं।

मंत्र ११ ॥

१२ अग्निष्वात्त पितर बुलानेपर घरघर में आते हैं। हवियां खाते हैं व सर्ववीरगुणोपेत संतति देते हैं।

मंत्र १२ ॥

१३ अग्नि हव्यों को सुगंधित बनाकर ले जाती है व ले जाकर पितरों को खानेके लिए देती है।

मंत्र १३ ॥

जो पितर यहां हैं व जो यहां नहीं हैं, जिन पितरों को हम जानते हैं व जिनको हम नहीं जानते इत्यादि सर्व प्रकार के पितरों को अग्नि जानती है।

मंत्र १४ ॥

१५ द्युलोक के मध्यमें स्वधासे तृप्त होनेवाले पितर चाहे अग्निदग्ध हों चाहे अनग्निदग्ध हों, उनका पुनर्जन्म होता है।

३-ऋग्वेद मं.१० । सू०१६ ॥

इस सूक्तमें विशेषतः अंत्येष्टि संस्कार संबंधी मंत्रों का उल्लेख है। इस सूक्तका देवता अग्नि है।

मैनमग्ने विदहो माभिशोचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्। यदा शृतं कृणवो जातवेदोऽथेमेनं प्र हिणुतात् पितृभ्यः ॥

ऋ० १०। १६। १॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्नि ! (एनं मा विदहः) इस प्रेत को इस प्रकार से मत जला कि जिससे इसे विशेष कष्ट प्रतीत हो। (मा अभि शोचः)इसे शोकाकुल मत कर। (अस्य त्वचं मा चिक्षिपः) इस की त्वचा अर्थात् चमडी को मत फैंक। इसके शरीर में विद्यमान त्वचा मांस आदि को इस प्रकार से जला दे कि कोई भी भाग अवशिष्ट न रहने पावे। (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि ! (यदा शृतं कृणवः) जब तू इस प्रेत को परिपक्व बना दे अर्थात् पूर्णतया जलादे (अथ) तब (एनं) इस प्रेतकी आत्मा को (पितृभ्यः प्रहिणुतात्) पितरोंके पास भेज दे अर्थात् पितृलोकमें इस प्रेत की आत्मा चली जावे।

प्रेत दहन के समय अग्नि से किस प्रकार की प्रार्थना करनी चाहिए इस बातका इस मंत्रमें उल्लेख है। इस मंत्र के उत्तरार्ध से एक महत्व पूर्ण बातका निर्देश मिलता है और वह यह है कि जब तक देह संपूर्णतया जल नहीं जाती अथवा संपूर्णतया नष्ट नहीं हो जाती तबतक आत्मा उस देह को छोडकर स्थानान्तर में नहीं जाती। उस देह के आसपासही मंडलाती रहती है। उस देहका मोह उसे खींचे रखता है। इस निर्देशानुसार आत्मा को देहसे शीघ्र मुक्त कराने के लिए व उसके लिए निर्धारित भावी स्थानपर शीघ्रतासे पहुंचाने के लिए शरीर का शीघ्र दहन करना ही अधिक उत्तम है, क्यों कि अग्निदहन के सिवाय शरीर को संपूर्णतया शीघ्र नष्ट करनेका अन्य कोई सुगम उपाय नहीं है।

मंत्र के चतुर्थ पाद से यह भी पता चल रहा है कि मृतात्मा शरीर से पृथक् होकर पितृलोक में जाती है। अग्नि आत्मा को पितृलोक में भेजती है। इस मंत्र से जो महत्व पूर्ण निर्देश मिलते हैं वे विशेष विचारणीय हैं। यह मंत्र अथर्ववेदमें थोडेसे पाठ भेदके साथ है। (अथर्व० १८। २। ४)

शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं परिदत्तात् पितृभ्यः। यदा गच्छात्यसुनीतिमेतामथा देवानां वशनीर्भवाति ॥ ऋ० १०। १६। २॥

अर्थ—(जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि! (यदा शृतं करसि) जब तू इस प्रेत को पूर्णतया पक्व अर्थात् दग्ध कर दे, (अथ) तब (एनं पितृभ्यः परि दत्तात्) इसको पितरों के लिए सौंप दे। (यदा) जब यह प्रेत (एतां असुनीतिं गच्छाति)

इस प्राणों के नयन को प्राप्त होता है अर्थात् जब इसके प्राण निकल जाते हैं (अथ) तब प्राणों के निकल जानेपर प्रेत (मृत शरीर), (देवानां वशनीः भवाति) देवोंके वश हो जाता है।

भावार्थ-अग्नि शरीर को पूर्णतया दग्ध करके आत्मा को पितृलोकमें भेज देती है। अग्निद्वारा पृथक् पृथक् हुएहुए शरीर के तत्त्व अपने अपने स्थानमें चले जाते हैं।

यह मंत्र अथर्ववेद (१८ । २ । ५) में भी आया है। इस मंत्रका पूर्वार्ध प्रथम मंत्रके उत्तरार्ध के समान है। आत्मा से युक्त शरीर के, जिस समय आत्मा शरीर से पृथक् होती है जिसे कि हम लौकिक भाषा में मरना कहते हैं, शरीर व आत्मा इस प्रकार दो विभाग हो जाते हैं। उन दो विभागों का आगे चलकर क्या होता है अर्थात् वे कहां कहां जाते हैं यह बात इस मंत्र में दर्शाई गई है। मंत्रके पूर्वार्ध में आत्मा का क्या होता है यह बताया गया है तथा उत्तरार्ध में शरीर का क्या होता है यह दर्शाया गया है। पूर्वार्ध स्पष्ट है। उत्तरार्धमें कही गई बातका स्पष्टीकरण अगला मंत्र तीसरा स्वयं स्पष्ट कर रहा है। यहांपर सिर्फ इतना ही कहा गया है कि जब प्राण निकल जाते हैं तब यह मृत देह देवों के वश हो जाता है। यह मृत देह देवोंके वश किस प्रकार हो जाता है इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार से है-

सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा। अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः॥

ऋ० १० । १६ । ३॥

अर्थ- हे प्रेत! तेरी (चक्षुः सूर्यं गच्छतु) आंख सूर्य को जावे। (आत्मा वातं) तेरी आत्मा (प्राण) वायु को जावे। और हे प्रेत! (धर्मणा) धर्म से अर्थात् कर्म फल जन्य धर्म से अथवा पार्थिवादि तत्वों के धर्म से अर्थात् जो पार्थिव तत्व हैं वे पृथिवी में जा मिलें जो जलीय हैं वे जल में जा मिलें इत्यादि प्रकार से (द्यां च पृथिवीं च) द्यु व पृथिवी लोक को जा अर्थात् पार्थिव तत्व पृथिवी में जा मिले और जो द्युलोक का अंश हो वह द्युलोक में जा मिले। जहां जहां से जो जो अंश तेरे शरीर में आया हो, वहां वहां वह वह अंश चला जावे। (वा) अथवा (अपो गच्छ) जलों में जलीय अंश जावे। (यदि तत्र ते हितं) यदि वहां का कोई अंश तेरे में विद्यमान हो। और इसी प्रकार ओषधियों में शरीरांशों से स्थित हो अर्थात् ओषधिका अंश ओषधि में चला जावे।

भावार्थ-मरनेपर शरीर में विद्यमान तत्व अपने अपने स्थानपर जहां से आए हुए होते हैं वहां चले जाते हैं। सूर्यादि देवों के अंश उन उनमें वापिस चले जाते हैं। हरेक देव अपना अपना अंश शरीर से खींच लेता है।

इस प्रकार इस मंत्र में तृतीय मंत्रके चतुर्थ पाद 'अथ देवानां वशनीर्भवाति' का स्पष्टीकरण किया गया है। यह मंत्र अथर्ववेद (१८ । २ । ७) में भी आया हुआ है।

अजो भागस्तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः। यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम्॥

ऋ० १० । १६ । ४॥

अर्थ- हे अग्नि! इस प्रेतका जो (अजः भागः) अज अर्थात् न जन्म लेनेवाला भाग (आत्मा) है (तं) उसको तू (तपसा तपस्व) अपने तप से तपा। (तं) उस अज भाग को (ते शोचिः) तेरी दीप्यमान ज्वाला (तपतु) तपावे। (तं) इस अज भागको (ते अर्चिः) भास्मान तेरी ज्वाला (तपतु) तपावे। और फिर (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि! (याः ते शिवाः तन्वः) जो तेरे कल्याणकारी ज्वालायें रूपी तनू अर्थात् शरीर हैं (ताभिः) उन शरीरों द्वारा इस अज भाग को (सुकृतां लोकं) सुकर्म करनेवालों के लोक में (वह) प्राप्त करा।

भावार्थ- हे अग्नि! तू इस शरीर के अज भाग आत्मा को अपनी नाना गुण विशिष्ट ज्वालाओं से शुद्ध करके पुण्यलोकमें ले जा।

जैसा कि हम उपर दर्शा आए हैं कि मरने पर शरीर दो विभागोंमें विभक्त हो जाता है जिसमेंसे एक भाग तो मृत शरीर तथा दूसरा भाग अज

आत्मा है। मृत शरीर को क्या करना चाहिए तथा अग्निदाह के अनन्तर वह किस किस रूपमें कहां कहां जाता है यह तृतीय मंत्रमें स्पष्टरूपसे दर्शाया जा चुका है। द्वितीय मंत्रमें संकेतरूपसे अज भाग आत्माके लिए भी निर्देश किया जा चुका है। इस मंत्रमें उसीका विशदरूपसे वर्णन वा स्पष्टी करण है। वस्तुतस्तु तृतीय व चतुर्थ मंत्र द्वितीय मंत्रके ही स्पष्टीकरण हैं। जैसा कि पाठक स्वयं देख सकते हैं। इस मंत्रसे भी यही पता चलता है कि अग्नि ही मृतात्माको सुकृतोंके लोकमें लेजाती है। यह मंत्र भी अथर्ववेदमें (१८।२।८) में पाया जाता है।

अवसृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभिः। आयुर्वसान उपवेतु शेषः सं गच्छ-तां तन्वा जातवेदः॥ ऋ १०।१६।५॥

अर्थ- (अग्ने) हे अग्नि! (यः) जो (ते आ-हुतः) तेरेमें अंत्येष्टिके समय आहुत किया हुआ (स्वधाभिः चरति) स्वधाओंसे विचरण करता है उसको (पुनः) फिर (पितृभ्यः) पितरोंके लिए लाकर छोड अर्थात् वह पुनर्जन्म ले। अथवा 'पि-तृभ्यः' को पंचमी मानकर भी अर्थ कर सकते हैं, और वह इस प्रकार कि फिर पितृलोकमें विद्यमान पितरोंसे लाकर इस संसारमें छोड। दोनों प्रकारके अर्थोंका भाव एकही है। दोनों प्रकारके अर्थोंमें विरोध नहीं है। इस प्रकार यह पुनर्जन्म लिया हुआ (शेषः) अपत्य (संतान) (उपयातु) कुटुंबियों को प्राप्त करे तथा (जातवेदः) हे जात वेदस् अग्नि! (तन्वा संगच्छतां) यह अपत्य शरीरसे भली भांति संगत होवे अर्थात् उत्तम शरीर संपत्ति से संपन्न बने।

अथवा इस मंत्रका अर्थ निम्न लिखित प्रकारसे भी किया जा सकता है-

हे अग्नि! जो मृत पुरुष तेरेमें अंत्येष्टिके समय आहुत किया हुआ स्वधाओंसे विचरण कर रहा है उसे पितरोंके लिए दे अर्थात् उसे पितृलोकमें विद्यमान पितरोंके पास लेजाकर छोड। क्यों कि इस भावके अन्य मंत्र मिलते हैं जिनमें कि अग्निका मृत को पितृलोकमें पहुंचानेका उल्लेख है अतः यह अर्थ भी हो सकता है। यहां शेष अर्थात् पीछे शेष रह गई मृतकी संतान दीर्घायुको प्राप्त हुई हुई घरोंको वापिस जाए। वह संतान सुंदर शरीरको प्राप्त करे।

इस अर्थानुसार मंत्रके पूर्वार्धमें मृत पुरुषके लिए प्रार्थना की गई है व उत्तरार्धमें उस पुरुषकी जीवित संततिके लिए दीर्घायु आदिकी प्रार्थनाका उल्लेख है। शेष नाम संतान का है। 'शेष इत्यपत्य नाम शिष्यते इति'। निरु० ३।२।

इस मंत्रसे अग्निके एक और विशेष कार्य का पता चलता है और वह यह कि पुनर्जन्मके लिए जीवात्माको पितरोंके पास पहुंचानेका कार्य भी अग्नि का ही है।

यह मंत्र थोडेसे पाठभेदके साथ अथर्व वेद (१८। ३।१०) में भी आया हुआ है।

यत्ते कृष्णः शकुनः आतुतोद पिपीलः सर्प उत वा श्वापदः। अग्निष्टद्विश्वादगदं कृणोतु सो-मश्च यो ब्राह्मणाँ आ विवेश॥ ऋ० १०।१६।६॥

अर्थ- हे प्रेत! (ते) तेरे (यत्) जिस अं-गको (कृष्णः शकुनः) काले अनिष्टकारी पक्षीने (आतुतोद) पीडा पहुंचाई है, (उत वा) अथवा (पिपीलः, सर्पः श्वापदः) कीडी की जातिके जन्तु और वा, सर्पने या जंगली हिंसक पशुने तुझे पीडा पहुंचाई है, तो (अग्निः) अग्नि (विश्वात्) इन उपरोक्त सबसे (तत्) उस तेरे अंगको (अगदं कृणोतु) रोगरहित करे। (सोमः च) और सोम भी तेरे उस अंगको नीरोग करे। (यः) जो कि सोम (ब्राह्मणान् आविवेश) ब्राह्मणोंमें प्रविष्ट हुआ हुआ है।

भावार्थ- काले अनिष्टकारी पक्षी वा कीडी म-कोडे आदि जन्तु, सर्पादि विषयुक्त प्राणियों व जंगली जनावरों से पहुंचाए गए कष्ट को अग्नि व सोम दूर करें।

जिनकी मृत्यु सर्पादि मंत्रोक्त प्राणियोंसे होती है उनकी अंत्येष्टिमें इस मंत्रका विनियोग होता है ऐसा इस मंत्रका अभिप्राय प्रतीत होता है। मंत्रके शब्दार्थ स्पष्ट हैं।

इन प्राणियोंसे काटे गए अंगोंको अग्नि नीरोग करती है इसका अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि

वह उन प्राणियों के विषसहित उस अंगको ऐसा जला देती है कि फिरसे वह रोग औरोंमें नहीं जा सकता। उस शवकी भस्म में इन प्राणियोंके विषके जन्तु किसीभी अवस्थामें बचने नहीं पाते।

इस मंत्रमें सर्पादि विषैले प्राणी व जंगली हिंस्रक जानवरोंसे आक्रांत देह सोमसे * भी नीरोग की जासकती है ऐसा कहा गया है।

> अग्नेर्वर्म परि गोभिर्व्ययस्व सं प्रोर्णुष्व पीवसा मेदसा च। नेत्त्वा धृष्णुर्हरसा जर्हृषाणो दधृग् विधक्ष्यन् पर्यङ्खयाते ॥ ऋ० १०।१६।७ ॥

अर्थ- हे प्रेत ! (गोभिः) घृतसे उत्पन्न हुई हुई (अग्नेः वर्म) अग्निकी ज्वाला रूपी कवचसे (परि व्ययस्व) अपनेको चारों ओरसे ढकले। अर्थात् अग्निकी ज्वालाओंके बीचमें तू आ जा जिससे कि तेरा पूर्ण रूपसे दहन हो सके। (सः) वह तू (पीवसा मेदसा) अपने अन्दर विद्यमान स्थूल चर्बीसे (प्रोर्णुष्व) अपने आपको आच्छादित कर। इस प्रकार करनेसे (हरसा धृष्णुः) अपने तेजसे धर्षण करने वाला, (दधृक्) प्रगल्भ, (जर्हृषाणः) अत्यन्त प्रसन्न हुआ हुआ अतएव (विधक्ष्यन्) तुझ प्रेतको विविधरूपसे जलाता हुआ अग्नि (त्वां) तुझे (नेत्) नहीं (पर्यङ्खयाते) इधर उधर बखेरेगा अर्थात् पूर्णरूपसे जला कर भस्मावशेष कर डालेगा।

भावार्थ— मुरदेको जलाते हुए घी पर्याप्त मात्रामें डालना चाहिए ताकि अग्नि खूब जोरसे प्रज्वलित होकर उसे जला डाले। उसका कोईभी भाग जले बिना रहने न पावे।

इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें अग्निसे कहा गया है कि हे अग्नि ! तू ' मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्' अर्थात् इस प्रेतकी चमडी तथा शरीरको बिना जला ए हुए इधर उधर मत बखेर। संपूर्णतया इसे जलादे। यहां पर उसी संपूर्ण दहन को लक्ष्यमें रखते हुए मुरदेसे कहा गया है कि तू अग्निकी ज्वाला रूपी कवच को पहिन ले व अपने अंदर विद्यमान चर्बीसे अपने आपको लपेट ले जिससेकि अग्नि तुझे पूर्णतया जलादे। मंत्रका अभिप्राय यह है कि प्रेतका पूर्णरूपसे दहन होना चाहिए व उसके लिए पर्याप्त घृतका उपयोग करना चाहिए।

गो- घी। वेदमें गौसे उत्पन्न पदार्थोंका नाम भी गो शब्दसे कहा गया है। देखो निरुक्तमें गो शब्दकी व्याख्या। निरु० अ० २। पा. २ ॥

> इममग्ने चमसं मा वि जिह्वरः प्रियो देवानामुत सोम्यानाम्। एष यश्चमसो देवपानस्तस्मिन् देवा अमृता मादयन्ते ॥ ऋ० १०।१६।८ ॥

अर्थ— (अग्ने) हे अग्नि ! (इमं चमसं) इस शरीररूपी चमसको (मा वि जिह्वरः) मत विचलित कर। क्योंकि यह चमस (देवानां उत सोम्यानां) देवों और सोम संपादन करने वालोंका (प्रियः) प्यारा है। (एषः) यह (यः) जो (चमसः) चमस है वह (देव पानः) देवपान है अर्थात् इसमें देव पान करने योग्य द्रव्यको पीते हैं। (तस्मिन्) उस चमसमें (अमृताः देवाः) अमरण शील देव (मादयन्ते) पान करके प्रसन्न होते हैं।

भावार्थ— यह शरीर देवोंके पान करनेका चमस है। यह देवोंका प्रिय है। इसमें देव पान करते हैं अतः हे अग्नि इस शरीर की दुर्दशा मत कर।

चमस- चमचा। यज्ञमें जिस पात्रमें सोम रस डालकर पान किया जाता है उसका नाम चमस है।

आप इसी सूक्तके दूसरे व तीसरे मंत्रमें देख आए हैं कि इस शरीरका किस प्रकार देवोंसे संबन्ध है। इसके अतिरिक्त स्थान स्थानपर वेदोंमें ऐसा वर्णन

---

* टिप्पणी— सोमके इस महत्त्व पूर्ण गुण को लक्ष्य में रखते हुए वैद्यों को चाहिए कि वे इस सोमका पता करें उसके द्वारा जनताकी इन दुष्ट प्राणियोंसे रक्षा करें। वेदमें सोम विषयक अनेक सूक्त हैं जिनका समन्वय करके सोमके विशेष गुणोंका पता करना चाहिए व उसे प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिए। यदि यह महत्त्व पूर्ण औषध प्राप्त हो गई तो इन दुष्ट प्राणियों द्वारा होनेवाली जनताकी आकस्मिक मृत्युके कम होनेके साथ साथ जनताका बडा उपकार होगा। अतः सूज्ञ वैद्योंको चाहिए कि वे इस ओर अपना शीघ्रही ध्यान आकर्षित करें। ऋ० मं० ९ सम्पूर्ण तथा १० वें मण्डलके कुछ सूक्त सोम विषयक हैं।

है। अथर्व वेद १० काण्ड सू० २ में भी ऐसा ही वर्णन है।

अबतक के मंत्रों में अंत्येष्टि संबन्धी वर्णन किया गया है। अगले तीन मंत्रोंमें क्रव्याद् अग्निको उपलक्ष्य करके कहा गया है। इस अंत्येष्टि संस्कार में प्रयुक्त अग्नि का नाम क्रव्याद् अग्नि है ऐसा ज्ञान पडता है। क्रव्याद् अग्नि का अर्थ है मांस भक्षक अग्नि। और यह मांस भक्षण अंत्येष्टि में शव दहन द्वारा अग्निको करना पडता है। जैसा कि अबतकके मंत्रों द्वारा स्पष्ट है। इस प्रकार शवके खानेसे मांस भक्षक (क्रव्याद् अग्नि) इस अग्नि का क्या करना चाहिए इस विषयमें अगले तीन मंत्र प्रकाश डाल रहे हैं।

क्रव्यादमग्निं प्र हिणोमि दूरं यमराज्ञो गच्छतु रिप्रवाहः। इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्॥ ऋ. १०।१६।९॥

अर्थ- (क्रव्यादं अग्निं दूरं प्रहिणोमि) मांस भक्षक अग्नि को दूर भिजवाता हूं। (रिप्रवाहः) पाप का वहन करने वाली वह अग्नि (यमराज्ञः) गच्छतु) जहां का यम राजा है उन प्रदेशों को चली जावे। (इह) यहांपर (अयं इतरः जातवेदाः प्रजानन्) यह दूसरी क्रव्यात् अग्नि से भिन्न जातवेदस् अग्नि सर्व कर्मों को यथावत् जानती हुई (देवेभ्यः हव्यं वहतु) देवोंके लिए हव्यों का वहन करे अर्थात् उन्हें पहुंचावे।

भावार्थ- यह शव दहन करने वाली अतएव मांस भक्षक (क्रव्यात्) अग्नि फिर लौटकर हमारे घरों में वापिस न आजावे अतः मैं इसे दूर भेज देता हूं वह यम लोक में चली जावे। यहां के कार्य संपादन करने के लिए जातवेदस् अग्नि है। वही देवोंके लिए हव्यों का वहन करती रहे।

इस मंत्रमें क्रव्यात् अग्निको यमराजके देशों में भेजनेका उल्लेख है। इससे ऐसा पता चलता है कि शवदहनानन्तर वह क्रव्यात् नाम पाई हुई अग्नि पृथिवी लोकसे यम लोकमें जाती है। प्रथम द्वितीय व चतुर्थ मंत्रों के साथ इस मंत्रपर विचार करनेसे यह परिणाम निकलता है कि शवदाहके अनन्तर यह क्रव्यात् अग्नि आत्माको यमलोकस्थ पितृलोक में ले जाती है। एकवार जिस अग्नि से शवदहन किया जा चुका वह अग्नि फिर देवोंके लिए हव्यादि के वहन के लिए अर्थात् यज्ञादि कर्म के लिए उपयुक्त नहीं रहती यह बात भी इस मंत्र से स्पष्ट होती है।

क्रव्यात्-क्रव्य=मांस, उसका भक्षक क्रव्यात्। निरु० अ. ६। पा. ३। खं १२॥

रिप्रवाहः-रिप्रं पापं तस्य वोढा। निरु० अ० ४। पा. ३। खं. २१॥

यह मंत्र यजुर्वेद (३५।१९) में तथा अथर्ववेद (१२।२।८) में भी आया हुआ है।

यो अग्निः क्रव्यात् प्रविवेश वो गृहमिमं पश्यन्नितरं जातवेदसम्। तं हरामि पितृयज्ञाय देवं स घर्ममिन्वात् परमे सधस्थे॥ ऋ० १०।१६।१०॥

अर्थ- (यः क्रव्यात् अग्निः) जो मांसाहारी अग्नि (इमं इतरं जातवेदसम् पश्यन्) इस दूसरी जातवेदस् नामक अग्निको देखकर (वः गृहं प्रविवेश) तुम्हारे घर में घुस गई है (तं) उस (देवं) देदीप्यमान-अत्यन्त प्रकाशमान क्रव्यात् अग्निको (पितृयज्ञाय हरामि) पितृ यज्ञके लिए हरता हूं हटाता हूं। (सः) वह क्रव्यात् अग्नि (परमे सधस्थे) परम सधस्थ में (घर्मं) यज्ञको (इन्वात्) प्राप्त करे।

भावार्थ- तुम्हारे घरों में जातवेदस् अग्नि के रहते हुए भी जो क्रव्यात् अग्नि घुस गई है उसे मैं दूर करता हूं ताकि तुम पितृयज्ञ कर सको। यह अग्नि परमलोकमें यज्ञ को प्राप्त करती रहे।

इस मंत्र से पूर्व के मंत्र में क्रव्यात् अग्निको दूर भगाकर यमलोकमें भेजनेका निर्देश है। उस मंत्रके साथ इस मंत्र की संगति लगाने के लिए व विरोध हटानेके लिए इस मंत्रके 'तं हरामि पितृयज्ञाय देवं' इस तृतीय पाद का अर्थ ऐसा करना चाहिए कि 'पितृयज्ञ करने के लिए उस क्रव्यात् अग्निको हटाता हूं'। अर्थात् यह क्रव्यात् अग्नि पितृयज्ञके

टिप्पणी— क्रव्याद अग्नि के विषयमें विशेष वक्तव्य हम पहिले 'अग्नि और पितर' नामक प्रकरण में प्रकाशित कर आए हैं।

लिए अनुपयुक्त है। यह तो परमसधस्थ जो यम लोक है उस में चली जावे और वहीं पर अपने भागको प्राप्त करती रहे। इस प्रकार इस मंत्र का अर्थ पूर्व मंत्रके भाव को लक्ष्य में रखते हुए करने से दोनों मंत्रोंकी संगति की जा सकती है। क्रव्यात् अग्निका घरों मेंसे निकालने का व उसे यम लोकमें भेजनेका अभिप्राय जनतामेंसे मृत्यु दूर करने का अभिप्राय प्रतीत होता है।

परम सधस्थ- वह बडा स्थान जिसमें सब इकट्ठे रहते हैं। यहांपर पूर्व मंत्र के साहचर्य से यम लोक ऐसा अर्थ है। वैसे तो यमलोकभी परम सधस्थ है ही।

यह मंत्र कुछ पाठभेद के साथ अथर्ववेद (१२। २। ७) में आया है।

इस प्रकार यहांपर क्रव्यात् अग्निका विषय समाप्त हो जाता है। अब आगेके मंत्रों में अग्निके प्रति सामान्य कथन का उल्लेख है।

यो अग्निः कव्यवाहनः पितॄन् यक्षदृतावृधः।
प्रेदु हव्यानि वोचति देवेभ्यश्च पितृभ्य आ॥
ऋ० १०। १६। ११॥

अर्थ- (यः अग्निः) जो अग्नि (कव्यवाहनः) कव्य का अर्थात् पितरों की हविका वहन करनेवाली है और जो (ऋतावृधः) यज्ञ वा सत्य से बढने वाले (पितॄन्)पितरों का यजन करती है वह अग्नि, (देवेभ्यः पितृभ्यः च हव्यानि प्रवोचति) देवों और पितरोंके लिए हव्यों का प्रवचन करे अर्थात् वह देवों व पितरोंको कहे कि मैं तुम्हारे लिए यह हवि ले आई हूं।

भावार्थ- अग्नि पितरों का कव्य से सत्कार करती है व उनके लिए तथा देवों के लिए मनुष्यों द्वारा दी गई हवियों का वहन करती है।

कव्य- उस हव्य का नाम है जो कि पितरों के उद्देश्य से दिया जाता है।

ऋतावृधः- ऋत नाम है यज्ञ व सत्य का। जो यज्ञ व सत्य के बढाने वाले अथवा जो सत्य व यज्ञ से बढने वाले हों।

यह मंत्र यजुर्वेद (१९। ६५) में है।

उशन्तस्त्वा निधीमह्युशन्तः समिधीमहि।
उशन्नुशत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे॥
ऋ० १०। १६। १२॥

अर्थ—हे अग्नि ! (उशन्तः) तेरी कामना करते हुए हम (त्वा) तेरी (निधीमहि) स्थापना करते हैं। और (उशन्तः) तेरी कामना करते हुए हम (समिधीमहि) तुझे प्रदीप्त करते हैं। (उशन्) हमारी कामना करती हुई हे अग्नि ! तू (हविषे अत्तवे) हविके खानेके लिए (उशतः पितॄन्) कामना करते हुए पितरोंको (आवह) प्राप्त करा-ले आ।

भावार्थ- हे अग्नि ! हम यज्ञादिमें तेरी कामना करते हुए तेरी स्थापना करें व तुझे प्रकाशित करें। तू हमारे यज्ञोंमें पितरोंको हवि खानेके लिए ले आया कर।

इस मंत्रमें अग्नि पितरोंको यज्ञादिमें हवि भक्षणार्थ ले आती है ऐसा हमें निर्देश मिलता है। अग्नि पितरोंको यज्ञादिमें हवि भक्षणार्थ किस प्रकार ले आती है यह एक विचारणीय समस्या है। पाठक इस पर विचार कर प्रकाश डाल सकेंगे तो बडा अनुग्रह होगा।

यह मंत्र यजुर्वेद (१९।७०) में व अथर्ववेद (१८।१।५६) में भी आया हुआ है।

अगले दो मंत्रोंमें स्मशानभूमिके उस स्थानका वर्णन प्रतीत होता है जहां कि मुरदा जलाया गया हो।

यं त्वमग्ने समदहस्तमु निर्वापया पुनः।
कियाम्ब्वत्र रोहतु पाकदूर्वा व्यल्कशा॥
ऋ० १०। १६। १३॥

अर्थ— (अग्ने) हे अग्नि ! (यं) जिस प्रेत को तूने (समदहः) जलाया है (तं उ) उसे (पुनः) फिर सम्पूर्णतया दहन हो चुकने पर (निर्वापय) बुझा डाल। (अत्र) इस मुर्दे के जलनेके स्थान पर (कियाम्बु) कितना जल छिडकना चाहिए कि जिससे (व्यल्कशा) विविध शाखाओं वाली (पाकदूर्वा) परिपक्व दूर्वा घास (रोहतु) उगे।

भावार्थ- शवके सम्पूर्णतया दहन हो चकुने पर आग को बुझा डालना चाहिए व वहां पर इतना पानी छिडकना चाहिए कि जिस से फिर से वहां पर दूर्वा घास निकल आवें।

इस मंत्र से ऐसा ज्ञात होता है कि शव का पूर्ण दहन हो चुकनेपर उसआग को बुझाकर ही घर वापिस लौटना चाहिए।अग्नि को विना बुझाए जलती अवस्थामें ही स्मशान भूमि से नहीं जाना चाहिए। आगको भी इतना पानी डालकर बुझाना चाहिए कि उस आग से जो जमीनपर परिणाम हुआ है वह दूर हो जावे और उसपर पुनः नाना शाखाओंवाली दूर्वाघास उग सके और जमीन वैसी की वैसी ही फिरसे हरीभरी हो जावे। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि जिस स्थानपर एक शवको जलाया गया हो वहांपर पुनः दूसरा शव नहीं जलाना चाहिए। इस मंत्र से स्मशान भूमि संबन्धी वैदिक कल्पना की जा सकती है और इस कल्पना के अनुसार वर्तमान समय की स्मशान भूमियों के विषयमें विचार पाठक स्वयंकर सकते हैं व स्मशान भूमिके वास्तविक स्वरूप को समझ सकते हैं। इस प्रकार यह मंत्र अन्त्येष्टि क्रिया की समाप्ति किस प्रकार से होनी चाहिए इस बातपर विशेष प्रकाश डाल रहा है।

शीतिके शीतिकावति ह्लादिके ह्लादिकावति।
मण्डूक्यासु सङ्गम इमं स्वग्निं हर्षय॥

ऋ० १०। १६। १४॥

अर्थ- (शीतिके) हे शैत्ययुक्त ! (शीतिकावति) हे शैत्य गुणसंपन्न ओषधियोंवाली ! (ह्लादिके) हे हर्षित करनेवाली ! (ह्लादिकावति) तथा हे आनन्दित करनेवाले फलफूल युक्त वृक्षोंवाली पृथिवी ! (मण्डूक्या) मेंडकी के साथ (सु सङ्गम) अच्छीतरह संगत हो अर्थात् तेरे में इतना अधिक पानी हो कि मेण्डक आनन्द से तेरे अन्दर रह सकें। मेण्डक पानीवाली जमीन में रहता है। अतः मेंण्डकी के साथ संगत होनेका अभिप्राय यह है कि जमीन अत्यंत जलवाली हो। (इमं अग्निं सुहर्षय) इस अग्नि को आनन्दित कर अर्थात् यह पूर्ण रूप से तेरेपर प्रज्वलित हो सके।

पूर्व मंत्रके कथनानुसार जल छिडकने से पृथिवी का कैसा स्वरूप हो जायगा यह इस मंत्र में दर्शाया गया है ऐसा जान पडता है परन्तु इस मंत्र के चतुर्थ पादका संपूर्ण मंत्र के साथ कैसे संगतिकरण किया जा सकता है यह विचारणीय है। चारों पादों को मिलाकर इस मंत्रका भाव व्यक्त नहीं होता है। सुज्ञ पाठक इसपर विचार करके उचित परिणामपर पहुंच सकेंगे ऐसी आशा है।

इस प्रकार यह सूक्त यहांपर समाप्त होता है। सामान्यतया इस सूक्तमें अंत्येष्टि पर विचार किया गया है यह पाठक स्वयं जान सके होंगे। इसपर विशेष विचार करना पाठकों के उपर निर्भर है।

सम्पूर्ण सूक्तका मंत्रवार सारांश।

मंत्र १।

१ अग्नि मृत देहको सम्पूर्णतया जला देनेपर आत्मा को पितृलोक में भेजती है।

२ इसका अभिप्राय यह हुआ कि जबतक मृत देह रहती है तबतक उसकी आत्माभी वहीं रहती है।

मंत्र २ व ३।

३ शरीर के पूर्ण रूपसे जल जानेपर देहके घटक अपने अपने स्थानपर चले जाते हैं अर्थात् हरेक देव अपना अपना अंश वापिस लौटा लेता है। आंख सूर्य में चली जाती है, प्राण वायुमें जा मिलाते हैं इत्यादि।

मंत्र ४।

४ शरीर का जो अज भाग आत्मा है उसे अग्नि अपनी नानाविध अर्चियों से शुद्ध कर के सुकृतों के लोक में ले जाती है।

मंत्र ५।

५ अग्नि फिर जीवात्मा को पितृलोक से वापिस लौटा लाती है व इहस्थ पितरों को सौंपती है अर्थात् पुनर्जन्म देती है।

मंत्र ६।

६ काले पक्षी से, कीडीमकोडे आदि छोटे छोटे जन्तुओं से, सर्पादि से तथा जंगली हिंसक जानवरों से पहुंचाए गए कष्टों का अग्नि निवारण करती है।

७ सोम भी यही कार्य करता है।

मंत्र ७।

८ शवके पूर्ण दहनके लिए घृत की पर्याप्त मात्रा डालनी चाहिए जिस से कि अग्नि की बडी

ज्वालाएं निकलें व शवको शीघ्र ही भस्माव-शेष कर डालें।

मंत्र ८।

९ यह शरीर सूर्यादि देवों का रसपान करनेका चमस है। इसीमें ये देव अपने अपने अंश से आकर बसते हैं।

मंत्र ९।

१० क्रव्यात् अग्नि पाप का वहन करनेवाली है। उसका वास स्थान यमलोक है।

११ वह यज्ञादि कार्यों के लिए अनुपयुक्त है।

मंत्र १०।

१२ क्रव्यात् अग्नि को घरमें प्रविष्ट नहीं होने देना चाहिए। उसे घरों में से निकाल डालना चाहिए।

मंत्र ११।

१३ अग्नि पितरों के निमित्तसे दी गई हविका वहन करती है। वह देवों व पितरों की हवि द्वारा पूजा करती है।

मंत्र १२।

१४ अग्नि पितरों को हवि खाने के निमित्त ले आती है।

मंत्र १३।

१५ शव के पूर्ण दहन के अनन्तर अग्नि को बुझा डालना चाहिए।

१६ वहांपर इतना अधिक पानी डालना चाहिए कि नाना शाखाओंवाली दूर्वाघास उग आवे।

१७ और इसके लिए जहांपर एक शवका दहन किया गया हो वहांपर दूसरे का नहीं करना चाहिए अन्यथा पानी डालने से अग्नि का प्रभाव दूर न हो सकेगा व उस स्थानपर घास न उग सकेगी।

मंत्र १४।

१८ जमीन इतनी पानी से तरबतर होनी चाहिए कि उसके गर्भ के अंदर मण्डूक निवास कर सकें।

४-ऋग्वेद० मं०। १० सू०१३५

इस सम्पूर्ण सूक्तका देवता यम है। यमका अर्थ इस सूक्तमें क्या है यह एक विचारणीय विषय है। यास्काचार्यने निरुक्तमें इस मंत्रमें आए हुए यमका अर्थ आदित्य किया है। निरु० १२।२९। परन्तु इस स्थापनाके अनुसार सम्पूर्ण सूक्त लगाना पर्याप्त कठिन है। जो कि सायणाचार्यने लगानेका प्रयत्न किया है। सम्पूर्ण सूक्तमें आलंकारिक वर्णन प्रतीत होता है पर वह अलंकार अभीतक हमारे ध्यानमें नहीं बैठा है। अतः यहांपर हम सायणाचार्यका भाष्य व महाशय ग्रिफित (Griffith) का अंग्रेजी अनुवाद तत् तत् मंत्रके साथ देंगे। इसके अति-रिक्त किसी मंत्रपर यदि विशेष सामग्री मिलेगी तो उसे हम टिप्पणीके रूपमें पाठकोंके सामने रखेंगे। जो भी सामग्री सूक्तपर प्रकाश डालनेके लिए हमारे सामने उपस्थित है वह सबकी सब प्रकशित कर दी जायगी ताकि विचारकोंको सामग्री जमा करने के लिए विशेष प्रयत्न करना न पडे।

यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः।
अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनुवेनति ॥
ऋ. १०।१३५।१॥

सायणभाष्य- (वृक्षे) यह लुप्तोपमा है। वृक्षकी तरह (सुपलाशे) शोभन उद्यानसे युक्त, अथवा सुन्दर पत्तोंवाले वृक्षमें। इस प्रकारके वृक्षका मूल जिस प्रकार गरमी आदिके दूर करनेसे सुखकर होता है उस प्रकार सुखकर जिस स्थानमें (देवैः) परिजन भूत देवों के साथ (यमः) नियंता वैवस्वत (विवस्वान् का पुत्र) (सं पिबते) पान करता है। (विश्पतिः) प्रजाओंका अधिपति (नः पिता) मुझ नचिकेताका जनक वाजश्रवस (अत्र) इस यमके स्थानमें (पुराणान्) यहांपर चिरकालसे निवास करते हुए पितरोंके (अनु) समीप यह नचिकेता रहे इस प्रकार की मेरे लिए कामना करता है। 'नः' यहांपर व्यत्ययसे बहुवचन हुआ हुआ है। नचिकेता नामके कुमारको वाचश्रवस पिताने यम लोक भेज दिया था। वहांपर वह यमको प्रसन्न कर के फिर इस लोकमें वापिस लौट आया था। यह बात इन मंत्रोंसे प्रतिपादन की जा रही है। अथवा कुमार नाम वाला नचिकेतासे भिन्न दूसरा कोई ऋषि था। उसने यम (यच्छतीति यमः आदित्यः) अर्थात् आदित्य की इस सूक्तद्वारा स्तुतिकी-उत्तम

पत्तोंवाले वृक्ष की तरह सुंदर स्थानमें(यमः)आदित्य (देवैः संपिबते) रश्मियों के साथ गमन करता है। उपसर्ग के साथ आने से पिबति यहांपर गत्यर्थक है। व्यत्यय से आत्मनेपद हुआ हुआ है। (अत्र) इस स्थान में स्थित (विश्पतिः) प्रजाओं का प्रकाश वर्षा आदि देनेसे पालक और प्राण रूपसे सब का जनक वह आदित्य (पुराणान्) पुरातन स्तुति करनेवाले हम लोकों की (अनुवेनति) अनुग्रह पूर्वक कामना करता है। अथवा इस स्थान में स्थित हमारे पूर्व पुरुषों की (अनुवेनति) अनुक्रमसे कामना करता है। *

ग्रिफित- सुन्दर पत्तों से युक्त वृक्ष में यम देवों के साथ पान करता है। पिता, जो कि घरका स्वामी है वह हमारे पुरातन पितरों को प्रसन्न करे।

वृक्षः= जहां पर कि श्रेष्ठ मृत आत्मायें कर्मों की थकान्द को दूर करने के लिए विश्रान्ति लेती हैं।
पिताः= यम।

पुराणां अनुवेनन्तं चरन्तं पापयामुया।
असूयन्नभ्य चाकशं तस्मा अस्पृहयं पुनः॥
ऋ० १० । १३५ । २॥

सायणभाष्य- (पुराणान् अनुवेनन्तं) पुरातन पितरोंके प्रति मेरे अनुगमन करने की कामना करते हुए अर्थात् मैं पुरातन् मृत पितरों का अनुगमन करूं यानि यम लोक में जाऊं इस प्रकार की इच्छा करते हुए (अमुया पापया चरन्तं) इस पापपूर्ण निकृष्ट बुद्धि के साथ वर्तमान पिता वाजश्रवस को (सुख पूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए मुझको पिताने मृत्यु के पास जा इस प्रकार कहा अतः) (असूयन्) मानसिक दुःख से दुःखित हुए हुए मैंने (नचिकेताने) सबसे पहिले देखा। अर्थात् जब मैं सुख पूर्वक जीवन व्यतीत कर रहाथा, ऐसी हालत में जब पिताने मुझे यह कहा कि मृत्यु के पास जा तो मैंने बडी दुःख भरी निगाह से उसकी ओर देखा और फिर (तस्मै अस्पृहयम्) पिताकी आज्ञानुसार उस मृत्यु को प्राप्त करने की इच्छा की।

---

* टिप्पणी— यह मंत्र निरुक्त १२।२९ में इस प्रकार से व्याख्यात है—
यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे स्थाने वृतक्षये वा, अपि वोपमार्थे स्याद् वृक्ष इव सुपलाशे इति। वृक्षो व्रश्चनात्, पलाशं पलाशदनात्। देवैः संगच्छते यमो रश्मिभिरादित्यः, तत्र नः सर्वस्य पाता वा पालयिता वा पुराणाननुकामयेत।

दुर्गाचार्य ने जो इस निरुक्त भाष्य पर वृत्ति लिखी है वह निम्न लिखित है—
यमः यस्मिन्वृक्षे सुपलाश इति। कुमारस्य यामायनस्यार्षम्। यस्मिन् वृक्षे आदित्ये। स हि स्वगत्या कालमतिक्रामयन् सर्वभूतानामायूंषि क्षपयति। 'वृश्चतीति वृक्षः। वृतः क्षये वा' पुण्यकृद्भिर्वृतो निवास इत्यर्थः। सुपलाशे सुष्ठु पराशीर्णमले दीप्तिमति देवैः सह अस्तं गच्छन्नादित्यः। तत्र
'सुपलाशे'वृक्षे इत्यस्य विशेषणम् कमिति। अत्र नः अस्मान् पुण्येन कर्मणा विद्यया च तत्प्रापिकया गतात्मनः पुराणान् इव तन्निवासिनः अनुवेनतु कामयताम्। संप्रीणतामित्यर्थः।
'वृक्षे इव सुपलाशे इति' ऐतिहासिक पक्षे। स्वगृहमुपगतानस्मान् सुपलाशवृक्षप्रख्यं सुख-
अथवा वृक्षे इव सुपलाशे इत्युपमा निवासं पितृराजो यमः पुराणान् इव तल्लोकनिवासिनः पितॄन् अनु कामयतु। अस्मिन् पक्षे देवैः संपिबते इति तदनुचारिणो गृह्यन्ते देवा इति।

निरुक्तकार यास्काचार्य की सम्मतिमें यहां यमका अर्थ आदित्य ऐसा है। जैसा कि सायणाचार्यने भी मानकर तदनुसार एक अर्थ किया है। ऊपर दी गई दुर्गाचार्य की वृत्ति से पता चलता है कि ऐतिहासिक पक्ष वालोंके मत में इस सूक्तमें भी यम वही है जो कि पितृलोक वा यमलोक का राजा है जहां कि मरकर सब जाते हैं। अस्तु तथापि ये पक्ष विशेष विचार की अपेक्षा रखते हैं।

(आदित्य के पक्षमें) अथवा (पुराणान्) पुरातन स्तुति करनेवाले पितरों की अनुक्रमसे कामना करते हुए (चरंतं) उदय और अस्त के रूपमें द्युलोकमें परिभ्रमण करते हुए आदित्य की ओर (अमया पापया) इस निकृष्ट बुद्धिद्वारा (असूयन्) निन्दा करता हुआ कि यह आदित्य सामान्य सी वस्तु है इस प्रकार से (अभ्यपश्यं) मैंने दृष्टि पात किया। असूया- गुणों में दोषारोपण करना । (पुनः) अब फिर उस आदित्यकी महिमा को जानता हुआ (तस्मै अस्पृहयं) उस आदित्य को, स्तुतियों द्वारा व परिचर्यादि कर्मों द्वारा प्राप्त करने की इच्छा करता हूं।

ग्रिफित- मैंने उसकी ओर अनिच्छा से देखा जो कि पुरातन कालीन मनुष्यों के साथ बडी नरमाईसे व्यवहार करता है और जो बुराई के मार्ग को कुचल डालता है। और तब मैंने इस संसार में पुनः लौटने की इच्छा की।

म. ग्रिफित के अनुसार यह मंत्र कुमार की आत्मा की उक्ति है।

यं कुमार नवं रथमचक्रं मनसा कृणोः।
एकेषं विश्वतः प्रांचमपश्यन्नधि तिष्ठसि ॥
ऋ० १० । १३५ । ३॥

सायणभाष्य—नचिकेता नामवाले कुमार को यम इस ऋचासे व अगली ऋचासे ललचानेका प्रयत्न करता है-हे कुमार। (नवं) बिलकुल नया जिसको कि इससे पहिले तूने कभी नहीं देखा और जो (अचक्रं) पहियों से रहित व (एकेषं) एकेष है तो भी (विश्वतः प्रांचं) सर्वत्र प्रकर्ष रूपसे गति करता है ऐसे (यं रथं) मेरे पास आनेके लिए अध्यवसाय रूपी जिस रथ को तूने (मनसा अकृणोः) मन से बनाया और बनाकर (अपश्यन्) कर्तव्य अकर्तव्य विभागको न जानता हुआ उस रथ पर तू (अधितिष्ठसि) सवार हुआ हुआ है। आदित्य के पक्षमें-अथवा स्तुतिकरनेवाले कुमार नामक ऋषि को आदित्य प्रत्यक्ष हुआ हुआ देह व आत्मा के विवेकको बतला रहा है-हे कुमार ऋषि ! चक्रसे रहित (एकेषं) एक प्राण ईषा स्थानीय है जिसका ऐसे इस अभिनव, सर्व ओर गति करनेवाले शरीररूपी जिस रथको अन्तःकरण द्वारा तूने किया है उस शरीररूपी रथको मेरा स्वरूप न जानने के कारण न जानता हुआ, भोगायतन के स्वरूपमें स्वीकार करता है अर्थात् शरीर से भोग भोगता है।

मनद्वारा शरीर का निर्माण इस प्रकार से होता है- संकल्पात्मक मनसे काम अर्थात् इच्छा उत्पन्न होती है। कामना उत्पन्न होनेपर पुण्यात्मक वा अपुण्यात्मक कर्म किया जाता है। और उस कर्मद्वारा भोग देनेके लिए इस शरीर का आरंभ होता है। इस प्रकार परंपरा रूपसे मन का शरीर निष्पादकत्व है।

ग्रिफित—हे कुमार ! यद्यपि तू नये चक्र रहित रथपर चढता है पर उसे देखता नहीं है। जिस रथ को कि तूने मनद्वारा बनाया है जो कि एकेष (one-poled) होता हुआ भी सर्वत्र गति करता है।

एकेष—एक है ईषा जिसको। ईषा-धुरा।

इस मंत्रमें कुमार के प्रति यमकी उक्ति है ऐसा म. ग्रिफित का कथन है।

यं कुमार प्रावर्तयो रथं विप्रेभ्यस्परि ।
तं सामानु प्रावर्तत समितो नाव्याहितं ॥
ऋ० १० । १३५ । ४॥

सायणभाष्य— हे कुमार नचिकेता ! (यं रथं) जिस पूर्वोक्त अधिष्ठित रथको जिसमें कि तू सवार होकर आया है (विप्रेभ्यः परि) मेधावी-ज्ञानी लोकों के ऊपर से अर्थात् अंतरिक्ष में से मेरे पास (प्रावर्तयः) ले आया है, (तं) उस रथका जो कि रथ (नावि सं आ हितं) नौका कि तरह तारनेवाली बुद्धि में स्थित है उसका (साम) पिताद्वारा की गई सान्त्वनाने (अनु प्रावर्तत) अनुगमन किया है। अर्थात् जब तू भूलोक से संकल्परूपी रथमें चढकर आया तब तेरी रक्षार्थ तेरा अनुकरण पिता की सान्त्वनाने किया।

आदित्य के पक्षमें-अथवा हे कुमार ऋषि ! तूने जिस शरीररूपी रथ को उसपर सवार होकर संसार में प्रवृत्त किया है, उस रथके पीछे पीछे मेधावियों के बीचमें साम अर्थात् ऋक् सामादि साध्य स्तोत्र व (नावि) नौका की तरह तारक वेदरूपी

वाणी में स्थित कर्म इस लोकसे प्रवृत्त होते हैं। उसका अनुकरण करते हैं।

ग्रिफित- हे कुमार ! जिस रथ को तूने इस मार्ग से पितरों के बीचमें से चलाया है उस रथका साम ने इस लोकसे अनुकरण किया है अर्थात् साम उस के पीछे पीछे आया है। जो कि रथ नौकापर रखा हुआ है।

कः कुमारमजनयद्रथं को निरवर्तयत्।
कः स्वित्तपद्य नो ब्रूयादनुदेयी यथाभवत्॥
ऋ० १०। १३५। ५॥

सायणभाष्य- (कः कुमारं अजनयत्) किस पुरुषने इस कुमार को उत्पन्न किया ? निन्दा अर्थमें किं शब्द है। इस प्रकार के बालकको यमके पास भेजनेवाला पिता कैसे अच्छा हो सकता है। अच्छा यह बात जाने दो। (कः) किस पुरुषने इस बालक को यम के पास जानेके लिए (रथं) रथको (निरवर्तयत्) प्रवृत्त किया ? वह भी मूर्ख था, यह प्रश्न का अभिप्राय है। (यथा) जिस प्रकारसे यह कुमार (अनुदेयी अभवत्) अनुदेयी होता है (तत्) इस बातके कथन को (अद्य) इस कालमें (नः) हमें (कः स्वित् ब्रूयात्) भला कौन कहेगा। पहिले यम के पास जाकर फिर वहां से उससे छूटनेका उपाय बताता हुआ भी बुद्धिमान् नहीं कहा जा सकता, यह इसका अर्थ है। (आदित्य के पक्षमें) अथवा कुमार नामक ऋषि अपने सर्वात्म्यभाव को जानता हुआ अपने अतिरिक्त दूसरे की सत्ता की असंभवता को निन्दावाची किं शब्द से दिखलाता है-मुझ कुमार को किस पिताने पैदा किया ? किसी ने भी नहीं। 'अजो नित्यः शाश्वत' इति श्रुत्युक्तरूप मैं हूं। और किसने शरीरात्मक रथका संचालन किया ? मेरे सिवाय दूसरा संचालक नहीं है और वैसेही अन्यनिर्वर्त्य (संचालन करने योग्य) का होना भी असंभव है। इस समय सर्वात्म्यानुभव दशा में उस उस प्रकार को कौन भला हमें कह सकता है जिस प्रकार से कि अनुदान करने योग्य मेरेसे भिन्न अन्य पदार्थ की सत्ता होवे। वह प्रकार भी दुनर्नेनीय है ऐसा इसका अर्थ है।

ग्रिफित- कुमार का पिता कौन था ? किसने रथ को चलाया ? आज हमें कौन बतला सकता है कि किस प्रकार से अनुदेयी (Funeral Gift) हुआ था।

म. ग्रिफित ने अनुदेयीका अर्थ Funeral Gift किया है पर वे लिखते हैं कि इस का अर्थ अनिश्चित है। म. विलसन इसका अर्थ '(Restitution) करते हैं। प्रो. झिमर(Zimmers) इसका अर्थ ' (Surender) या (Delivery)ऐसा करते हैं।

यथा भवदनुदेयी ततो अग्रमजायत। पुरस्ताद्बुध्न आततः पश्चान्निरयणं कृतम्॥ ऋ० १०।१३५।६॥

सायण भाष्य- (अनुदेयी) पिताको पीछेसे पुनः वापिस देनेयोग्य (यथा) जिस प्रकारसे यह कुमार होवे ऐसा (ततः) उस वाजश्रवस पितासे (अग्रं) यमके पास जा इस प्रकार के वचनके आगे वर्तमान वचन कि नचिकेताको यमके साथ जानना चाहिए ' तं वै प्रवसंतं गंतासीति होवाच ' इत्यादि (तै. ब्रा. ३।११।८)ब्राह्मणमें कहा गया वचन उत्पन्न हुआ। (पुरस्तात्) उससे पहिले (बुध्नः) उक्त अग्रका मूल भूत यमके घरको जा यह वचन अति विस्तृत हुआ हुआ था। अतः उसका परिहार नहीं हो सकता था इस वास्ते पीछेसे क्रोधको छोड कर (निरयणं कृतं) उस यमसे बचकर निकल आनेके उपायको पिताने किया। (आदित्यपक्षमें) अथवा अनुदेयी अपनेको अनुदातव्य आत्मस्वरूपसे भिन्न अन्य पदार्थकी सत्ता जिस प्रकार से है, उसके गुणानुसार (ततः) उस माया विशिष्ट आत्माका (अग्रं) स्रष्टव्य विकार का आद्य मनः तत्व उत्पन्न करनेकी इच्छाका कारण उत्पन्न हुआ। (पुरस्तात्) सृष्टिसे पहिली अवस्थामें (बुध्नः) मूल अव्याकृत मायात्मक कारण ही विस्तृत था। (पश्चात्) तमस् की उत्पत्तिके बाद (निरयणं) तद्गत कार्योंका उस कारणसे निर्गमन अर्थात् घट पटादिभेदसे स्वरूपका आलंभन ब्रह्माने किया। अर्थात् कारण जगत् को कार्य जगत्के स्वरूपमें लाया। तथा मिट्टीका विकार घटादि मिट्टीसे भिन्न नहीं होता

उसी प्रकार आदित्यके अनुग्रहसे ब्रह्मभावको प्राप्त मेरा विकार यह प्रपंच मेरेसे भिन्न नहीं है। इस प्रकारसे व्यतिरिक्त पितादिका पूर्वोक्त आक्षेप का समर्थन किया है ।

ग्रिफित-जब अनुदेयी(Funeral Gift)रखा गया तब ज्वालाका अग्रभाग सीधा प्रकट हुआ । अर्थात् ज्वाला सीधी दीखने लगी। पहिले मूल (A depth) विस्तृत हुई। और तब पीछेसे निरयण A passage किया गया ।

म.ग्रिफितके अनुवाद के अनुसार इस मंत्रका यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि शवको जब दहन किया गया तब अग्निकी ज्वालायें सीधी जलने लगी । और शवके जलनेके बाद पीछेसे अस्थि संचय,आदि किया गया। उन्होंने अनुवाद करते हुए बुध्नका अर्थ किया है (A depth) जिसपर निम्न टिप्पणी दी है । (A depth: the meaning is obscure) अर्थात् इसका अर्थ अस्पष्ट है । उन्होंने जो कल्पना करके अर्थ किया है उसके अनुसार इस शब्दका अर्थ नहीं घटता, अतएव उन्हें ऐसा लिखना पडा है । इसी प्रकार निरयणका अर्थ उन्होंने (A passage) ऐसा किया है । (A passage out probably for the removal of the ashes) अर्थात् इसका अर्थ संभवतः अस्थि संचय, अवशिष्ट भस्मादिको उक्त स्थानसे हटाना है ।

इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते । इयमस्य
धमते नाळीरियं गीर्भिः परिष्कृतः॥ ऋ० १०।१३५।७

सायण भाष्य- यह (यमस्य) नियन्ता आदित्यका वा विवस्वान् के पुत्रका (सदनं) स्थान है । जो कि सदन (देवमानं उच्यते) देवों द्वारा बनाया गया है ऐसा कहा जाता है । अथवा देव अर्थात् रश्मियों का निर्माण साधन कहा जाता है । इस यमकी प्रीत्यर्थ (इयं नाळीः) यह वाद्य विशेष-वंश-बजाया जाता है । अथवा नाळी यह वाणीका नाम है । यह स्तुति रूप वाणी इसकी प्रीत्यर्थ उच्चारण की जाती है। इस प्रकार होनेपर यह यम स्तुतियोंसे परिष्कृत अर्थात् शोभायमान होता है । 'परिष्कृतः संपर्युपेभ्यः' इत्यादिसे सुडागम होता है। ' परिनिविभ्यः ' इत्यादिसे षत्व हुआ है । ' गतिरनंतर ' इत्यादिसे गतिका प्रकृति स्वरत्व ।

ग्रिफित- यह स्थान है जहां यम रहता है । जो कि स्थान देवोंका घर कहलता है । यहां पर उसके लिए वाद्यंत्र बजानेवाले वंशी बजाते हैं। यहांपर वह गायनोंसे सुशोभित किया जाता है ।

इस प्रकार यह सूक्त समाप्त होता है । मंत्रोंकी परस्पर संगति किस प्रकार लग सकती है व संपूर्ण सूक्तका वस्तुतः क्या अभिप्राय है यह कहना पर्याप्त कठिन है । उपरोक्त दोनों भाष्यों से भी कोई विशेष सहायता मिलती हुई प्रतीत नहीं होती ।

म. विलसन ने इस सूक्त पर निम्न लिखित वक्तव्य प्रकाशित किया है । म. ग्रिफित के अर्थोंसे ऐसा पता चलता है। कि उन्होंने म. विलसनके वक्तव्यानुसार अपनी सम्मति बनाकर मंत्रार्थ किया है । अस्तु म. विलसन का वक्तव्य का सारांश इस प्रकार है—

" प्रकृत सूक्तकी ऋचाओंका विषय कुमार का अंत्येष्टि संस्कार (Funaral ceremony) है ऐसा प्रतीत होता है । कुमार यह मनुष्यका नाम है ऐसा कई कहते हैं। सायणाचार्यने इस सूक्तका भाष्य करते हुए जो कथानक उद्धरण किया है उसके अनुसार नचिकेता नामक कुमार को उसके पिताने यमके राज्यमें भेज दिया था । उस यमने उसके साथ दयालुताका व्यवहार किया व उसे पुनः इस संसारमें वापिस भेज दिया । इस सूक्तकी ऋचाओंको सायणाचार्यने यम व आदित्यपर घटाया है परन्तु फिर भी वे बहुत अंश तक अस्पष्ट ही रही हैं । तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।११।८) में तथा कठ उपनिषद् में मरनेके बाद आत्मा का क्या होता है इस संबंधी वाद विवादके आधार नचिकेता व यम की बात चीतके रूपमें पाये जाते हैं ।

यद्यपि सायणाचार्यने इन्हीके आधारपर उपरोक्त सूक्तकी व्याख्या करनेका प्रयत्न किया है। परन्तु फिर भी यह सूक्त समस्या की समस्या ही बना रह गया है। उपरोक्त सूक्त का संबन्ध तैत्तिरीय ब्राह्मण (३। ११ । ८) से व कठोपनिषद् से सायणाचार्य ने कैसे जोडा है यह कहना कठिन है क्यों

कि सूक्त का कोई मंत्र ऐसा नजर में नहीं आता जिस से इनका संबन्ध जुडता हो। सूक्त में आए हुए कुमार शब्द से नचिकेता का ग्रहण करके संबन्ध जोडा गया होगा ऐसा भासमान होता है कोई प्रबल प्रमाण (अन्तः प्रमाण) इस विषय में ढूंढना चाहिए ता कि उस के आधार से सूक्त को हल किया जा सके।

३—ऋग्वेद मं० १०। सू० १५४ ॥

यह सूक्त अंत्येष्टि संस्कार विषयक है। इसमें प्रेत से कहा गया है कि तू किन किन को प्राप्त हो, जैसा कि मंत्रों को देखने से पाठकों को स्वयं स्पष्ट हो जायगा। इस सूक्त का ऋषि विवस्वान् की दुहिता यमी है। म्रियमाण यजमानादियों का वर्तन इसमें प्रतिपादित किया जाएगा अतः वे इस सूक्त के देवता हैं।

सोम एकेभ्यः पवते घृतमेक उपासते।
येभ्यो मधु प्रधावति ताँश्चिदेवापि गच्छतात् ॥
ऋ० १०। १५४। १॥

अर्थ— (एकेभ्यः) कईयों के लिए (सोमः पवते) सोमरस बहता है। और (एके) कई (घृतं उपासते) आज्य का उपभोग करते हैं। इनको व (येभ्यः मधु प्रधावति) जिनके लिए मधुधारा रूपसे बहता है, (तान् चित् अपि) हे प्रेत उनको भी तू (गच्छतात्) प्राप्त हो।

भावार्थ- जिनके लिए सोम रस बहता रहता है व जो आज्य का उपभोग करते रहते हैं तथा जिन के लिए मधु की कुल्यायें बहती रहती हैं ऐसे यज्ञ कर्ताओं को हे प्रेत तू प्राप्त हो।*

शव दहनादि अंत्येष्टि क्रिया प्रेतकी आत्मा के प्रति इस सूक्त की ऋचाओं के अनुसार उसके संबंधी आदियों का कथन है।

तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः।
तपो ये चक्रिरे महस्ताँश्चिदेवापि गच्छतात् ॥
ऋ० १०। १५४। २॥

अर्थ- (ये) जो लोक (तपसा) कृच्छ्रचांद्रायणादि नानाविध तप करने कारण से (अनाधृष्याः) किसी भी प्रकार से कष्टों को नहीं पहुंचाए जा सकते, जिनको पाप नहीं सता सकते, व (ये) जो लोक (तपसा) तपके कारण से (स्वः ययुः) स्वर्ग को गए हुए हैं, और (ये) जिन्हों ने (महः तपः चक्रिरे) महान् तप किया है, हे प्रेत! इन (तान् चित् अपि गच्छतात्) उन तपस्वियों को भी तू जाकर प्राप्त हो अर्थात् इनमें तेरी स्थिति होवे।

भावार्थ- हे प्रेत जो तप के कारण किसी भी प्रकार पराभूत नहीं हो सकते, व जो तप ही के कारण स्वर्ग को प्राप्त हुए हुए हैं, तथा जिन्होंने महान् तप किया है उनको तू यहांसे जाकर प्राप्त हो।

प्रथम मंत्र में यज्ञादि कर्म काण्ड का माहात्म्य दर्शाकर प्रेत को तत्कर्म करनेवालोंमें जाने को कहा है। व इस मंत्रमें तपः प्रभाव दिखलाकर तपस्वियों में जानेका निर्देश किया गया है।

ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः।
ये वा सहस्रदक्षिणास्ताँश्चिदेवापि गच्छतात् ॥
ऋ० १०। १५४। ३॥

अर्थ—हे प्रेत! (ये शूरासः) जो शूरवीर गण (प्रधनेषु) संग्रामों में (युध्यन्ते) युद्ध करते हैं और (ये) जो उन संग्रामों में (तनूत्यजः) शरीरों का त्याग करते हैं अर्थात् अपने प्राण दे देते हैं, (वा) अथवा (ये) जो लोक (सहस्रदक्षिणाः) हजारों दान करते हैं (तान् चित् अपि) उनको भी तू (गच्छतात्) प्राप्त हो।

---

* टिप्पणी—सायणाचार्य ने इस मंत्र की व्याख्या करते हुए यह दर्शाया है कि जिनके गोत्रज ब्रह्मयज्ञ के समय साम पढते हैं उनके लिए सोम कुल्या रूप में बहता रहता है। इसी प्रकार जिनके गोत्रज ब्रह्मयज्ञ के समय यजु को पढते हैं उनके लिए घृतकी कुल्या बहती रहती है। इसी तरह जिनके गोत्रज ब्रह्मयज्ञ के समय आथर्वण मंत्रों को पढते हैं उनके लिए मधुकी कुल्या बहती रहती है।

भावार्थ- जो शूरवीर गण युद्धोंमें अपने प्राण देकर वीर गति को प्राप्त हुए हुए हैं वा जो लोक नानातरह के दानों को देकर अपने को संसार में अमर कर गए हैं ऐसे लोकों को हे मृतात्मा तू प्राप्त हो-तेरे सद्गति होवे।

इस मंत्र से यह स्पष्ट होता है कि दानी व शूरवीर गण भी मृत्युके पश्चात् सद्गति को प्राप्त करते हैं। गीता में 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं' आदि युद्ध में मरने से सद्गति होती है ऐसे द्योतक वाक्यों की यह वेद मंत्र पुष्टि करता है। शूरवीरता से युद्धमें शरीर त्याग करनेवाले को परलोक में सुख मिलता है यह आर्य लोकों का बडा पुराना दृढ विश्वास चला आता है, उस विश्वास के मूलभूत ऐसे ऐसे वेद मंत्र ही हैं।

ये चित्पूर्व ऋतसाप ऋतावान ऋतावृधः।
पितॄन्तपस्वतो यम तांश्चिदेवापि गच्छतात्॥
ऋ० १०। १५४। ४॥

अर्थ—(ये चित्) और जो (पूर्वे) पूर्व पुरुष (ऋतसापः) सत्य का पालन करनेवाले अथवा यज्ञों के नित्य नियमपूर्वक करनेवाले, (ऋतावानः) सत्य वा यज्ञसे युक्त और इसीलिए(ऋतावृधः)सत्य व यज्ञके वर्धक थे, तथा (तपस्वतः) तपसे युक्त (पितॄन्) पूर्व पितरों को (तान् चित् अपि) इन सबको भी हे(यम)नियमवान् प्रेतात्मा तू प्राप्त हो।*

भावार्थ- जो पितर सत्यके रक्षक हैं, यज्ञादि नित्यनियमसे करने वाले हैं तथा तपस्वी हैं ऐसे पितरों को हे मृतात्मा तू परलोकमें जाकर प्राप्त हो।

सहस्रणीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम्।
ऋषीन्तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात्॥
ऋ. १०। १५४।५॥

अर्थ- (ये) जो (कवयः) क्रांतदर्शी ज्ञानी लोक (सहस्रणीथाः) हजारों प्रकारों की नीतियोंवाले हैं और जो (सूर्यं गोपायन्ति) इस सूर्यका रक्षण करते हैं ऐसे (तपस्वतः ऋषीन्) तप से युक्त ऋषियोंको जो कि (तपोजान्) तप से ही उत्पन्न हुए हुए हैं- ऐसोंको भी हे नियममें स्थित प्रेतात्मा! तू यहां से जाकर प्राप्त हो।

भावार्थ— जो क्रान्तदर्शी ऋषिगण नाना प्रकार के विज्ञानों से परिपूर्ण हैं व जो तपस्वी तथा तपसे उत्पन्न हुए हुए हैं ऐसों को हे प्रेतात्मा तू इस लोकसे जाकर प्राप्त हो। उनमें जाकर तू स्थित हो। निकृष्ट लोकों में मत जा।

इस सूक्त के मंत्रों पर दृष्टि पात करनेसे साधारणतया हमें पता चलता है कि इस संसार में रहकर कैसे अर्थात् किस प्रकारके कर्मों को करने से मृत्यु के अनन्तर उत्तम गति, उत्तम लोक वा उत्तम स्थान-स्वर्ग प्राप्त होता है। इस सूक्तमें ५ मंत्र हैं। पांचों मंत्रों में भिन्न भिन्न कर्म करनेवाले लोकों को गिनाया गया है और प्रेतात्मा से कहा गया है कि इन इन को तू इस लोकसे जाकर प्राप्त कर। अर्थात् इन ५प्रकार के जनोंमें से ही किसी को तू जाकर प्राप्त हो। इन से हीन इतरों को प्राप्त मत हो। ये पांच प्रकार के जन इस लोक के नहीं, अपितु पर लोक के हैं, ऐसा मंत्रों से पता चलता है। अतः 'तान् चित् अपि गच्छतात्' का अर्थ यह नहीं किया जा सकता कि इन ५प्रकार के इस लोकमें स्थित जनोंमें जाकरके तू पुनर्जन्म ले। सद्गति की प्राप्ति के लिए इस सूक्तमें यज्ञादि करना, तप करना,लडाईमें पराक्रम के साथ शरीरत्याग करना, नानाविध दान

---

* इस मंत्र में यम प्रेतात्माके लिए आया है अतः इसका अर्थ नियममें स्थित ऐसा प्रतीत होता है। ग्रिफित आदि युरोपियन अनुवादकों ने यमका यहांपर क्या अर्थ है इस पर कुछभी प्रकाश डालने का प्रयत्न नहीं किया है। इससे ऐसा पता चलता है कि उन्हें यहांपर यमका क्या अर्थ है यह पता ही नहीं चला है। डा. जे. मूर नेभी. Oriental Sanskrit Texts Volume V, पृ. ३१०में यह सूक्त अर्थ सहित दिया है पर उन्होंने भी यम के स्थान पर यम ही रहने दिया है। सायणाचार्यने यम का अर्थ 'नियन' ऐसा किया है।

करना, सत्याचरण इत्यादि कई साधन बताए गए हैं। यह संपूर्ण सूक्त अथर्व वेद (काण्ड १८। सूक्त ३। मं. १४ से १८) में ऐसा का ऐसा है।

सम्पूर्ण सूक्तका मंत्रवार सारांश।

मंत्र १।

१-यज्ञ करने से सद्गति, उत्तम लोक प्राप्त होता है।

मंत्र २।

२-तप करनेसे पराभव नहीं होता व तपस्वी को स्वर्ग मिलता है।

मंत्र ३।

३-जो संग्रामों में युद्धकर शरीर छोडते हैं, उन्हें भी स्वर्ग उपलब्ध होता है।

४-जो अत्यन्त दानी हैं वे भी स्वर्ग को प्राप्त करते हैं।

मंत्र ४।

५-तपस्वी सत्यरक्षक उत्तम गतिका लाभ करते हैं।

मंत्र ५।

६-हजारों प्रकारकी नीतियों वाले व सूर्य रक्षक ऋषिगण स्वर्गको प्राप्त करते हैं।

संस्कृत का प्रचार कैसे हो !

(ले० —श्री० रुलिया रामजी कश्यप एम० एस० सी०)

आज कल प्रायः जनता संस्कृत भाषाको मृत भाषा (Dead Language) समझती है। किस अंशमें यह सत्यभी है। क्योंकि आजकल कोई जाति या देश ऐसा नहीं जिस की मातृभाषा संस्कृत हो। अर्थात् जहां के नर नारी तथा बालक इस भाषा में स्वभाविक रीति से पारिवारिक सम्भाषण करते हों। इसी कारण लिपि तथा साहित्य के रूप में चाहे जीवित ही है पर भाषा के रूप में संस्कृत आज वास्तव में एक मुर्दा जबान है क्योंकि भाषा वही होती है जो कोई जाति बोलती हो।

मेरी सम्मति में संस्कृत को पुनर्जीवित करने का एक मात्र उपाय यह है कि जो जन समूह ऐसा करने का भार अपने ऊपर ले। उसका प्रत्येक व्यक्ति यह प्रतिज्ञा करे कि मैं इस जन समूह में संस्कृत से भिन्न भाषा में कभी वार्तालाप आदि व्यवहार न करूंगा। यदि कोई सभा इस कार्यको अपने ऊपर ले तो उसे चाहिये कि जितने कार्य कर्ता वह वेतन पर नियुक्त करे उन सबसे नियुक्तिसे पूर्व यह प्रण ले ले कि वह किसी कार्य कर्तासे संस्कृतसे भिन्न भाषा में व्यवहार न करेगा। इसी प्रकार यदि कोई दानी महाशय अपने दानसे संकृतके विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति देना स्वीकार करें तो उसकी भी यह शर्त होनी चाहिये कि वह विद्यार्थि संस्कृत प्रचारके लिये नियत छात्र वृत्तिको पानेवाले अपने जैसे दूसरे विद्यार्थियों से केवल संस्कृत में ही वार्तालाप करे।

इसका परिणाम यह होगा कि एक जन समूह ऐसा बन जावेगा जो स्वाभाविक रीतिसे संस्कृत भाषामें ही वार्तालाप आदि व्यवहार करेगा और ऐसा होनेके कारण आशा की जा सकती है कि कुछ ही समयमें संस्कृत उसकी पारिवारिक भाषा और तदन्तर्गत बच्चों की मातृभाषा बन जावे।

आजकल की इस विषयमें पूरा यत्न करनेवाली संस्था आर्य समाज में इस नियमका अनुसरण नहीं

किया गया। परिणाम यह हुआ कि यद्यपि आर्य समाज की हार्दिक कामना है कि संस्कृत फिरसे जीवित भाषा बने और इसी लिये उसने इतने गुरुकुल, कालिज, स्कूल, लाईब्रेरियां आदि बनाई परन्तु जनता के किसी भी भाग की मातृभाषा अथवा पारिवारिक भाषा आजतक संस्कृत नहीं बनी दूसरे शब्दोंमें यद्यपि संस्कृत साहित्यमें कई लुप्त ग्रन्थ प्रकाशित हुए और संस्कृत में हिन्दि अनुवाद संयुक्त अनेक नवीन ग्रन्थ भी रचे गये तो भी संस्कृत भाषा अब तक जीवित नहीं वरञ्च मृत भाषा ही कही जाती है।

मेरी तुच्छ सम्मति में सन्ध्योपासना में रुचि न रहना भी इसका परिणाम है। स्वभावतः मनुष्य अपने प्यारे के प्रति अपने प्रेमभाव अपनी मातृभाषा में ही प्रकट करता है तो यह कैसे सम्भव है कि मातृभाषा पंजाबी होते हुए और १०, १५ वर्षतक बराबर अंग्रेजी का अभ्यास करते हुए कोई भक्त अपने प्रियतम भगवान के प्रति अपना प्रेम उस संस्कृतभाषा में प्रकट करे जो वह स्वयं नहीं समझता। परिणाम यह होता है कि उसका जी तो पञ्जाबी या अंग्रेजीमें भगवद् आराधन करनेको चाहता है और उसे करनी पडती है संकृतमें संध्या। उसका दिल सर्वथा उसके वश में नहीं रहता। लोकाचार वश वह संध्याके मंत्र आंख मूंद कर पढ लेता और दिल भगवान से कोसों दूर होता है। अंत में वर्षों इस प्रकार संध्या करके बिलकुल कोरा रहकर निराश हो संध्या छोड़ बैठता है या जिसको संध्या छोडने से आर्थिक हानिका भय हो वह उसी प्रकार संध्या का ढोंग रचता रहता है। यह संध्या में जी न लगने का वास्तविक कारण है जो केवल तब दूर हो सकता है जब कि उपासक लोग अपनी पारिवारिक भाषा और अपने बालकों की मातृभाषा संस्कृत बनाने का उपरोक्त साधनस्वीकार करें। अर्थात् आर्य समाजें अपने सभासदों को बाधित करें कि वह परस्पर संस्कृत वार्त्तालाप करने की योग्यता पैदा करके यह नियम करें कि सभासद आपस में केवल संस्कृत में वार्त्तालाप किया करेंगे जो पं० सातवलेकर जी की पुस्तकों द्वारा प्रत्येक केवल १ घंटा प्रतिदिन लगाकर एक वर्ष के भीतर सीख सकता है।

दूसरा साधन यह है कि संस्कृत के प्रचार के इच्छुक जब कोई नौकर किसी भी कार्य्य क्षेत्रमें अपने आधीन रख सकें तो वह संस्कृत जाननेवाले को वैसेही संस्कृत न जाननेवालेसे उत्तम समझकर पहले उसे नौकर रखकर देखें अगर वह काम न चला सके तो दूसरे को रखें।

तीसरा साधन यह है कि जो कोई संस्कृत विद्या का प्रेमी अपनी जीविका की चिन्ता में पडकर वह कार्य छोड अन्य कार्य में लगा हुआ हो, दानी महाशय उस की योग्यता अनुसार उस की जीविका का तथा स्वाध्याय का उत्तम प्रबन्ध कर दें जिससे कि जीविका वश उसे संस्कृत प्रचार से विमुख न होना पडे।

चौथा साधन यह है कि संस्कृत में आधुनिक वैज्ञानिक विषयों पर गवेषणा पूर्ण निबन्ध लिखने के लिये ऐसे संस्कृतज्ञ वैज्ञानिक तय्यार किये जावें जिन को वैज्ञानिक आचार्य प्रमाण मानकर उनके निबन्धों का आदर करते हों। इस कार्य के लिये रुपया जितना हो उतना ही थोडा है।

पांचवां साधन पुराने ऋषियों की १४ विद्यायों को जिनमें सर्प विद्या, देवजनविद्या, भूतविद्या आदि भी हैं, पुनर्जीवित करना है। इस विषय में अथाह कार्यक्षेत्र खुला पडा है। लेखक का एक सम्बन्धि सर्प विद्या में ऐसा कुशल है कि सर्प का डसा हुआ चाहे कैसी ही शोचनीय दशा में हो मगर वह अभी मर न गया हो तो उसे वह स्वस्थ करने की शक्ति रखता है। इसी प्रकार अन्य विद्याओं के विज्ञाता भी मिल सकते हैं।

इन पांच साधनों के द्वारा संस्कृत भाषा फिर जीवित भाषा बन सकती है। गुरुकुल से विद्या प्राप्त दम्पतियों को चाहिये कि अपनी पारिवारिक भाषा संस्कृत बनाकर जनता का इस विषय में उत्साह बढावें।

अथर्ववेद

स्वाध्याय।

(अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।)

षष्ठं काण्डम्।

लेखक और प्रकाशक।

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,

स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

प्रथमवार

संवत् १९८६, शक १८५१, सन १९२९

अऋण होना ।

अनृणा अस्मिन्ननृणा परस्मिन्तृतीये लोके अनृणाः स्याम ।
ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान्पथो अनृणा आक्षियेम ॥

अथर्व० ६।११७।३

" हम इस लोकमें अऋण, परलोकमें अऋण और तीसरे लोक में भी अऋण होवें। जो देवयान और पितृयाण लोक हैं, उनके सब मार्गोंमें हम अऋण होकर चलेंगे।"

मुद्रक तथा प्रकाशक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर, स्वाध्यायमंडल,
भारतमुद्रणालय, औंध (जि. सातारा).

अथर्ववेदका स्वाध्याय ।

[अथर्ववेदका सुबोधभाष्य ।]

षष्ठ काण्ड ।

इस षष्ठ काण्डके प्रथम सूक्तमें 'सविता' देवताका वर्णन है । सविता देवता सबकी उत्पत्ति करनेवाली, सबको प्रकाश देनेवाली और उत्तम चेतना देनेवाली है । संध्याके गुरुमन्त्रमें इसी का वर्णन है । इससे पाठक जान सकते हैं कि यह मंगलवाचक पहिला सूक्त है और इसका मनन करनेसे सबका शुभ मंगल हो सकता है ।

इस षष्ठ काण्डमें प्रायः तीन मंत्रवाले सूक्त हैं । इस कारण इस काण्डकी 'प्रकृति तीन मंत्रवाले सूक्तोंकी है' ऐसा कहते हैं; इससे भिन्न मंत्रसंख्यावाले सूक्त इस काण्डमें विकृति है । परंतु यहां स्मरण रखना चाहिये कि, अधिक मंत्रवाले कई सूक्त भी पुनरुक्त मंत्रभागोंको अलग करनेसे तीन मंत्रवाले सूक्त बनाये जा सकते हैं । तथापि कुछ सूक्त ऐसे रहेंगे कि जो निश्चयसे इस काण्डमें विकृति सूक्तही कहे जायेंगे ।

इस काण्डकी सूक्त व्यवस्था इस प्रकार है—

इस काण्डमें	१२२ सूक्त	३ मन्त्रवाले हैं,	इनकी मंत्रसंख्या	३६६	है ।
"	१२ "	४ "	"	४८ "	
"	८ "	५ "	"	४० "	
" कुल	१४२ सूक्तसंख्या		कुलमंत्रसंख्या	४५४	

इस प्रकार इस काण्डके १४२ सूक्तोंमें ४५४ मंत्र हैं । इस काण्ड में १३ अनुवाक हैं, बहुधा प्रत्येक अनुवाकमें दस दस सूक्त हैं; तथापि तृतीय, सप्तम, एकादश और द्वादश इन चार अनुवाकोंमें प्रत्येक में ग्यारह सूक्त हैं और त्रयोदशवे अनुवाकमें अठारह सूक्त हैं ।

काण्डोंकी मंत्रसंख्या क्रमपूर्वक बढ रही है। प्रथम काण्डमें १५३, द्वितीयमें २०७, तृतीयमें २३०, चतुर्थमें ३२४, पञ्चममें ३७६ और इस षष्ठ काण्डमें ४५४ मंत्र हैं। यह संख्या प्रथम काण्डकी मंत्रसंख्यासे तीन गुणा, तृतीयसे दुगणी और पञ्चमसे देवढी है। सूक्त संख्या भी बहुत है। परंतु सूक्त प्रायः तीन मंत्रवाले होनेके कारण बढी संख्या का महत्व विशेष नहीं है, तथापि कुल अभ्यास इस काण्डमें पहिलेकी अपेक्षा अधिकही होना है। प्रथम पाठ छोटा देकर पश्चात् बडे पाठ देनेके समान ही यह व्यवस्था यहां दिखाई देती है—

सूक्तोंके ऋषि-देवता-छन्द।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
१ प्रथमोऽनुवाकः॥१३त्रयोदशः प्रपाठकः।				
१	३	अथर्वा	सविता	उष्णिक्, त्रिपदा पिपीलिकमध्या साम्नी जगती।२,३पिपीलिकमध्या पुरउष्णिक्।
२	३	,,	वनस्पतिः, सोमः,	उष्णिग्,१-३परोष्णिक्।
३	३	,,(स्वस्त्ययनकामः)	नानादेवताः	जगती।१ पथ्याबृहती।
४	३	,,	,,	१ पथ्याबृहती, २संस्तारपंक्तिः, ३ त्रिपदा विराड्गर्भा गायत्री।
५	३	,,	इन्द्राग्नी	अनुष्टुप्,२ भुरिक्।
६	३	,,	ब्रह्मणस्पतिः;सोमः	,,
७	३	,,	सोमः,३विश्वेदेवाः	गायत्री,१ निचृत्।
८	३	जमदग्निः	कामात्मदेवता	पथ्यापंक्तिः
९	३	,,	,,	अनुष्टुभ्
१०	३	शन्तातिः	नानादेवताः (अग्निः,वायुः,सूर्यः)	१ साम्नी त्रिष्टुप्, २ प्राजापत्या बृहती,३साम्नीबृहती.
२ द्वितीयोऽनुवाकः।				
११	३	प्रजापतिः	रेतः, मंत्रोक्ताः	अनुष्टुप्
१२	३	गरुत्मान्	तक्षकः	,,
१३	३	अथर्वा(स्वस्त्ययनकामः)	मृत्युः	,,
१४	३	बभ्रुपिंगलः	बलासः	,,
१५	३	उद्दालकः	वनस्पतिः	,,

१६	४	शौनकः	चन्द्रमाः(मन्त्रोक्तदेवताः)	अनुष्टुप् १ निचृत् त्रिपदा गायत्री, ३ बृहतीगर्भा ककुम्मत्य-नुष्टुप्, ४ त्रिपदाप्रतिष्ठा.
१७	४	अथर्वा	गर्भदृंहणं	,,
१८	३	,,	इर्ष्याविनाशनं	,,
१९	३	शन्तातिः	चन्द्रमाः(नानादेवताः)	गायत्री,अनुष्टुप्
२०	३	भृग्वंगिराः	यक्ष्मनाशनं	१अतिजगती, २ककुम्मती प्रस्तारपंक्तिः,३सतःपंक्तिः

३ तृतीयोऽनुवाकः

२१	३	शन्तातिः	चन्द्रमाः	अनुष्टुप्
२२	३	,,	आदित्यरश्मिः,मरुतः	त्रिष्टुप्, चतुष्पदा भुरिग्जगती.
२३	३	,,	आपः	अनुष्टुप्,२ त्रिपदागायत्री ३ परोष्णिक्
२४	३	,,	,,	,,
२५	३	शुनःशेपः	मंत्रोक्तदैवतं	,,
२६	३	ब्रह्मा	पाप्मा	,,
२७	३	भृगुः	यमः।निर्ऋतिः	जगती,२ त्रिष्टुप्
२८	३	,,	,, ,,	त्रिष्टुप्,२ अनुष्टुप्, ३ जगती,
२९	३	,,	,, ,,	बृहती,१-२ विराण्नाम गायत्री, ३ त्र्यवसाना सप्तपदा विराडष्टी
३०	३	उपरिबभ्रवः	शमी	जगती,२ त्रिष्टुप्, ३ चतुष्पदा ककुम्मत्यनुष्टुप्
३१	३	,,	गौः	गायत्री.

४ चतुर्थोऽनुवाकः ।

३२	३	१-२चातनः, ३अथर्वा	अग्निः	त्रिष्टुप्,२ प्रस्तारपंक्तिः ।
३३	३	जाटिकायनः	इन्द्रः	गायत्री,२ अनुष्टुभ् ।
३४	५	चातनः	अग्निः	,,
३५	३	कौशिकः	विश्वानरः	,,
३६	३	अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)	अग्निः	,,
३७	३	,, ,,	चन्द्रमाः	अनुष्टुभ्,
३८	४	,, (वर्चस्कामः)	बृहस्पतिः,त्विषिः	त्रिष्टुप्
३९	३	,, ,,	,,	१ जगती २ त्रिष्टुप्, ३ अनुष्टुभ्

४०	३	,,(१-२अभयकामः, ३ स्वस्त्ययनकामः)	मन्त्रोक्तदेवताः	जगती ३ ऐन्द्रीअनुष्टुप्
४१	३	ब्रह्मा	चन्द्रमाः, बहुदैवत्यम्.	अनुष्टुप्, १ भुरिक्, ३ त्रिष्टुप्

५ पञ्चमोऽनुवाकः।

४२	३	भृग्वंगिराः (परस्परं चित्तैकीकरणकामः।)	मन्युः	अनुष्टुप् १—२ भुरिक्
४३	३	,, ,,	मन्युशमनं	,,
४४	३	विश्वामित्रः	वनस्पतिः (मन्त्रोक्तदेवता)	,, ३ त्रिपदा महाबृहती
४५	३	अंगिराः प्राचेतसो यमश्च.	दुष्वप्ननाशनम्	१ पथ्यापंक्तिः, २ भुरिक् त्रिष्टुप्३अनुष्टुप्।
४६	३	,,	स्वप्नं	१ ककुम्मती विष्टारपंक्तिः। २ त्र्यवसाना शक्वरीगर्भा पञ्चपदा जगती, ३अनुष्टुप्
४७	३	,,	अग्निः,२विश्वेदेवाः ३ सुधन्वा	त्रिष्टुप्
४८	३	,,	मन्त्रोक्तदेवताः	अनुष्टुप्
४९	३	गार्ग्य	अग्निः	१अनुष्टुप्२-३जगती(३विराट्)
५०	३	अथर्वा (अभयकामः)	अश्विनौ	१ विराड् जगती, २,३ पथ्यापंक्तिः
५१	३	शन्तातिः	आपः, ३वरुणः	त्रिष्टुप्, १ गायत्री, ३ जगती

६ षष्ठोऽनुवाकः। १४ चतुर्दशः प्रपाठकः।

५२	३	भागलिः	मन्त्रोक्तदेवताः	अनुष्टुप्
५३	३	बृहच्छुक्रः	नानादेवताः	त्रिष्टुप्, १ जगती
५४	३	ब्रह्मा	अग्नीसोमौ	अनुष्टुप्
५५	३	,,	१ विश्वेदेवाः २-३ रुद्रः	१जगती २ त्रिष्टुप्, ३ जगती.
५६	३	शन्तातिः	१ विश्वेदेवाः २-३ रुद्रः	१ उष्णिग्गर्भा पथ्यापंक्तिः २ अनुष्टुप्, ३ निचृत्
५७	३	,,	रुद्रः	१-२अनुष्टुप्,३पथ्यापंक्तिः
५८	३	अथर्वा (यशस्कामः)	बृहस्पतिः, मंत्रोक्तदेवता	१ जगती, २ प्रस्तारपंक्तिः; ३ अनुष्टुप्
५९	३	,,	रुद्रः, ,,	अनुष्टुप्
६०	३	,,	अर्यमा	,,
६१	३	,,	रुद्रः	त्रिष्टुप्, २-३ भुरिक्

७ सप्तमोऽनुवाकः ।

६२	३	अथर्वा.	रुद्रः।मन्त्रोक्तदेवताः	त्रिष्टुप्
६३	४	द्रुह्वणः(आयु-र्वर्चोबलकामः)	निर्ऋतिः, यमः, ४ अग्निः	जगती, १अतिजगतीगर्भा ४ अनुष्टुप्
६४	३	अथर्वा	सांमनस्यं । विश्वेदेवाः	अनुष्टुप्. २ त्रिष्टुप्
६५	३	,,	चन्द्रः, इन्द्रः,पराशरः	,, १ पथ्यापंक्तिः
६६	३	,,	,, ,,	,, १ त्रिष्टुप्
६७	३	,,	,, ,,	,,
६८	३	,,	मन्त्रोक्तदेवताः	१ पुरोविराडतिशक्करीग-र्भा चतुष्पदा जगती, २ अनुष्टुप्, ३ अतिजगती-गर्भा त्रिष्टुप्.
६९	३	,,(वर्चस्कामो यशस्कामश्च)	बृहस्पतिः,अश्विनौ	अनुष्टुप्
७०	३	कांकायनः	अघ्न्या.	जगती
७१	३	ब्रह्मा	अग्निः ३ विश्वेदेवाः	,, ३ त्रिष्टुप्
७२	३	अथर्वांगिराः	शेपोऽर्कः	अनुष्टुप्, १ जगती, ३ भुरिक्

८ अष्टमोऽनुवाकः ।

७३	३	अथर्वा.	सांमनस्यं, नानादेवताः	त्रिष्टुप् १,२ भुरिक्
७४	३	,,	,, त्रिणामा	अनुष्टुप्, ३ त्रिष्टुप्
७५	३	कवन्धः (सपत्न-क्षयकामः)	इन्द्रः, मन्त्रोक्ताः	,, षट्पदा जगती
७६	४	,,	सांतपनाग्निः	,, ३ ककुम्मती.
७७	३	,,	जातवेदाः,	,,
७८	३	अथर्वा	१,२ चन्द्रमाः,३त्वष्टा.	,,
७९	३	,,	संस्फानः	गायत्री, ३ त्रिपदा प्राजापत्या जगती
८०	३	,,	चन्द्रमाः	अनुष्टुप्, १ भुरिक्, ३
८१	३	,,	आदित्यः,मंत्रोक्ताः	,, प्रस्तारपंक्तिः
८२	३	भगः(जाया-कामः)	इन्द्रः	,,

९ नवमोऽनुवाकः।

८३	४	अंगिराः	मन्त्रोक्तदेवताः	अनुष्टुप्,४ एकावसाना द्विपदा निचृदार्षी अनुष्टुप्
८४	४	,,	निर्ऋतिः	१ भुरिग्जती,२ त्रिपदा आर्षी बृहती, ३-४ जगती, ४ भुरिक्त्रिष्टुप्।
८५	३	अथर्वा (यक्ष्मनाशनकामः)	वनस्पतिः	अनुष्टुप्.
८६	३	,,(वृषकामः)	एकवृषः	,,
८७	३	,,	ध्रुवः	,,
८८	३	,,	,,	,, ३ त्रिष्टुप्
८९	३	,,	रुद्रः, मन्त्रोक्तदेवताः	,,
९०	३	,,	रुद्रः	१,२ अनुष्टुप् ३ आर्षी भुरिगुष्णिक्
९१	३	भृग्वंगिराः	मन्त्रोक्तदेवताः, यक्ष्मनाशनं	अनुष्टुप्
९२	३	अथर्वा	वाजी	त्रिष्टुप् १ जगती

१० दशमोऽनुवाकः।

९३	३	शन्तातिः	रुद्रः, ३बहुदैवत्यम्	त्रिष्टुप्
९४	३	अथर्वांगिराः	सरस्वती	अनुष्टुप् २विराड् जगती,
९५	३	भृग्वंगिराः	वनस्पतिः, मंत्रोक्ताः	,,
९६	३	,,	,, ३ सोमः	,, ३त्रिपदाविराण्नाम गायत्री
९७	३	अथर्वा	मित्रावरुणौ.	त्रिष्टुप्, २ जगती, भुरिक्.
९८	३	,,	इन्द्रः	,, २ बृहती गर्भाष्टारपंक्तिः
९९	३	,,	,, ३ सोमः सविता च.	अनुष्टुप्, ३भुरिक् बृहती.
१००	३	गरुत्मान्	वनस्पतिः	,,
१०१	३	अथर्वांगिराः	ब्रह्मणस्पतिः	,,
१०२	३	जमदग्निः (अभिसंमनस्कामः)	अश्विनौ	,,

११ एकादशोऽनुवाकः।१५पञ्चदशःप्रपाठकः।

१०३	३	उच्छोचनः	इन्द्राग्नी, बहुदैवत्यं.	अनुष्टुप्
१०४	३	प्रशोचनः	,, ,,	,,

१०५	३	उन्मोचनः	कासः	अनुष्टुप्	
१०६	३	प्रमोचनः	दूर्वाशाला,	,,	
१०७	४	शन्तातिः	विश्वजित्	,,	
१०८	५	शौनकः	मेधा, ४अग्निः,	,,	२ उरोबृहती,३पथ्याबृहती
१०९	३	अथर्वा	पिप्पली, भैषज्यं	,,	
११०	३	,,	अग्निः,	त्रिष्टुप्,	१ पंक्तिः
१११	४	,,	,,	अनुष्टुप्,	१ परानुष्टुप् त्रिष्टुप्.
११२	३	,,	,,	त्रिष्टुप्	
११३	३	,,	पूषा.	,,	३ पंक्तिः

१२ द्वादशोऽनुवाकः।

११४	३	ब्रह्मा	विश्वेदेवाः	अनुष्टुप्	
११५	३	,,	,,	,,	
११६	३	जाटिकायनः	वैवस्वतः	जगती,	२ त्रिष्टुप्
११७	३	कौशिकः(अनृण कामः)	अग्निः	त्रिष्टुप्.	
११८	३	,,	,,	,,	
११९	३	,,	,,	,,	
१२०	३	,,	मन्त्रोक्तदेवताः	१ जगती २ पंक्तिः, ३ त्रिष्टुप्	
१२१	४	,,	,,	१-२ अनुष्टुप्, ३,४ अनुष्टुप्	
१२२	५	भृगुः	विश्वकर्मा	त्रिष्टुप्,	४,५ जगती
१२३	५	,,	विश्वेदेवाः	,,	३ द्विपदा साम्नी अनुष्टुप्, ४ एकावसाना द्विपदा प्राजापत्या भुरिगनुष्टुप्
१२४	३	अथर्वा(निर्ऋत्यपसरणकामः)	मंत्रोक्तदेवता दिव्या आपः	त्रिष्टुप्.	

१३ त्रयोदशोऽनुवाकः।

१२५	३	अथर्वा	वनस्पतिः	त्रिष्टुप्,	२ जगती.
१२६	३	,,	वानस्पत्यो दुन्दुभिः	भुरिक्त्रिष्टुप्	
१२७	३	भृग्वंगिराः	वनस्पतिः, यक्ष्मनाशनं	अनुष्टुप्,	३ त्र्यवसाना षट्पदा जगती.
१२८	४	अंगिराः (अथर्वांगिराः)	चन्द्रमाः, शकधूमः	अनुष्टुप्	
१२९	३	,,	भगः	,,	

१३०	४	अथर्वांगिराः	स्मरः	अनुष्टुप्	१ विराट्पुरस्ताद्बृहती.
१३१	३	,,	,,	,,	
१३२	५	,,	,,	,,	१ त्रिपदानुष्टुप्, ३ भुरिक्, २, ४, ५ त्रिपदा महाबृहती २, ४ विराट्
१३३	५	अगस्त्यः	मेखला	त्रिष्टुप्	१ भुरिक्; २, ५ अनुष्टुप् ४ जगती.
१३४	३	शुक्रः	मन्त्रोक्तदेवताः	अनुष्टुप्;	१ परानुष्टुप् त्रिष्टुप्; २भुरिक् त्रिपदागायत्री.
१३५	३	,,	,,	,,	
१३६	३	अथर्वा (केशवर्धनकामः) [वीतहव्यः]	वनस्पतिः	अनुष्टुप्,	२ एकावसाना द्विपदा साम्नीबृहती.
१३७	३	,, ,,	,,	,,	
१३८	५	,, ,,	,,	,,	३ पथ्यापंक्तिः
१३९	५	,,	,,	,,	१ न्यव० षट्प० विराड् जगती.
१४०	३	,,	ब्रह्मणस्पतिः, मंत्रोक्ताः	,,	१ उरोबृहती; २ उपरिष्टाज्ज्योतिष्मती त्रिष्टुप् ३ आस्तारपंक्तिः
१४१	३	विश्वामित्रः	अश्विनौ	,,	
१४२	३	,,	वायुः	,,	

इस प्रकार षष्ठ काण्डके सूक्तोंके ऋषि, देवता, छंद हैं। अब इनका ऋषिक्रमानुसार विभाग देखिये—

ऋषिक्रमानुसार सूक्तविभाग ।

१ अथर्वा ऋषिके १-७; १३; १७; १८; ३२; ३६-४०; ५०; ५८—६२; ६४-६९; ७३; ७४; ७८-८१; ८५-९०; ९२; ९७-९९; १०९-११३; १२४-१२६; १२९-१३२: १३६-१४० ये ६१ सूक्त हैं।

२ शन्तातिं ऋषिके १०; १९; २१-२४; ५१; ५६; ५७; ९३; १०७ ये ग्यारह सूक्त हैं।

३ भृग्वंगिराः ऋषिके २०; ४२; ४३; ९१; ९५; ९६; १२७ ये सात सूक्त हैं।

४ ब्रह्मा ऋषिके २६; ४१; ५४; ५५; ७१; ११४; ११५ ये सात सूक्त हैं।

५ कौशिक ऋषिके ३५; ११७-१२१ ये छः सूक्त हैं।
६ भृगु ऋषिके २७-२९; १२२; १२३ ये पांच सूक्त है।
७ आङ्गिराः प्राचेतस्, ऋषिके ४५-४८ ये चार सूक्त हैं।
८ विश्वामित्र ऋषिके ४४; १४१; १४२ ये तीन सूक्त हैं।
९ अथर्वाङ्गिरा ऋषिके ७२; ९४; १०१ ये तीन सूक्त हैं।
१० जमदग्नि ऋषिके ८; ९; १०२ ,, ,, ,,
११ आङ्गिरा ,, ८३; ८४; १२८ ,, ,, ,,
१२ कबन्ध ,, ७५-७७ ,, ,, ,,
१३ गरुत्मान् ,, १२; १०० ये दो सूक्त है।
१४ शौनक ,, १६; १०८ ,, ,, ,,
१५ उपरिबभ्रव,, ३०; ३१ ,, ,, ,,
१६ चातन ,, ३२; ३४ ,, ,, ,,
१७ जाटिकायन,, ३३; ११६ ,, ,, ,,
१८ शुक्र ,, १३४; १३५ ,, ,, ,,
१९ प्रजापति ऋषिका ११ यह एक सूक्त है।
२० बभ्रुपिंगल,, १४ ,, ,, ,,
२१ उद्दालक ,, १५ ,, ,, ,,
२२ शुनःशेप ,, २५ ,, ,, ,,
२३ यम ,, ४५ ,, ,, ,,
२४ गार्ग्य ,, ४९ ,, ,, ,,
२५ भागलि ,, ५२ ,, ,, ,,
२६ बृहच्छुक्र ,, ५३ ,, ,, ,,
२७ काङ्कायन ,, ७० ,, ,, ,,
२८ भग ,, ८२ ,, ,, ,,
२९ उच्छोचन ,, १०३ ,, ,, ,,
३० प्रशोचन ,, १०४ ,, ,, ,,
३१ उन्मोचन ,, १०५ ,, ,, ,,
३२ प्रमोचन ,, १०६ ,, ,, ,,
३३ अगस्त्यः ,, १३३ ,, ,, ,,

इस प्रकार ३२ ऋषि नामोंसे इस काण्ड का संबंध है। प्रथम काण्डमें ८, द्वितीय काण्डमें १७, तृतीय काण्डमें ८, चतुर्थ काण्डमें १७, पञ्चम काण्डमें १२ और इस षष्ठ काण्डमें ३२ ऋषियोंका संबंध है। अब देवताक्रमानुसार सूक्तविभाग देखिये—

देवताक्रमानुसार सूक्तविभाग।

१ नाना देवताः, बहुदेवतम्, मन्त्रोक्त दैवतं के ३; ४; १०; ११; १६; १९; २५; ४१; ४४; ४८; ५२; ५३; ५८; ६२; ६८; ७३; ७९; ८१; ८३; ८९; ९१; ९३; ९५; १२०; १२१; १२४; १३४; १३५; १४० ये २९ सूक्त हैं।

२ सोम, चन्द्रमाः के २; ६; ७; १६; १९; २१; ३७; ४१; ६५-६७; ७८; ८०; ९६; ९९; १२८; ये १६ सूक्त हैं।

३ अग्निके १०; ३२; ३४; ३६; ४७; ४९; ६३; ७१; १०८; ११०-११२; ११७-११९; ये १५ सूक्त है।

४ वनस्पति के २; १५; ४४; ८५; ९५; ९६; १००; १२५; १२७; १३६—१३९ ये १३ सूक्त हैं।

५ विश्वेदेवाः देवता के ७; ४७; ५५; ५६; ६४; ७१; ११४; ११५; १२३ ये ९ सूक्त हैं।

६ रुद्र देवता के ५५-५७; ५९; ६१; ६२; ८९; ९०, ९३ ये ९ सूक्त हैं।

७ इन्द्र देवता के ३३; ६५-६७; ७५; ८२; ९८; ९९ ये ८ सूक्त हैं।

८ बृहस्पति के ३८; ३९; ५८; ५९; ६९ ये पांच सूक्त हैं।

९ निर्ऋति के २७— २९; ६३; ८४ ये पांच सूक्त हैं।

१० ब्रह्मणस्पति के ६; १०१; १०२; १४० ये चार सूक्त हैं।

११ अश्विनौ के ५०; ६९; १०२; १४० ,, ,,

१२ यम के २७-२९; ६३ ,, ,,

१३ आपः के २३, २४, ५१, १२४ ,, ,,

१४ सांमनस्य के ६४, ७३; ७४ ये तीन सूक्त हैं।

१५ पराशर के ६५—६७ ,, ,,

१६ स्मर के १३०—१३२ ,, ,,

१७ वायु के १०, १४२ ये दो सूक्त हैं।

१८ यक्ष्मनाशन के २०, १२७ ,, ,,

१९ ध्रुव के ८७, ८८ ये दो सूक्त हैं।
२० कालात्मा के ८, ९ ,, ,,
२१ सविता के १, ९९ ,, ,,

शेष सूक्त एक देवताका एक है देखिये, इन्द्राग्नी ५, सूर्य १०, रेतः ११, तक्षकः १२, मृत्युः १३, बलासः १४, गर्भदृंहणं १७, ईर्ष्याविनाशनं १८, आदित्यरश्मिः २२, मरुतः २२, पाप्मा २६, शमी ३०, गौः ३१, विश्वानरः ३५, त्विषिः ३८, मन्युः ४२, मन्युशमनं ४३, दुष्वप्ननाशनं ४५, स्वप्नं ४६, सुधन्वा ४७, वरुणः ५१, अग्नीषोमौ ५४, अर्यमा ६०, अघ्न्या ७०, शेपोऽर्कः ७२, त्रिणामा ७४, सांतपनाग्निः ७६, जातवेदाः ७७, त्वष्टा ७८, संस्फानः ७९, आदित्यः ८१, एकवृषः ८६, वाजी ९२, सरस्वती ९४, मित्रावरुणौ ९७, कासः १०५, दूर्वाशाला १०६, विश्वजित् १०७, मेधा १०८; पिप्पली १०९, भैषज्यं १०९, पूषा ११२, वैवस्वतः ११६, विश्वकर्मा १२२, वानस्पत्यो दुन्दुभिः १२६, शकधूमः १२८, भगः १२९, मेखला १३३ ये अठतालीस देवताओंके प्रत्येकका एक एक ऐसे सूक्त हैं।

पहिले २१ और ये ४८ मिलकर ६९ देवताएं इस काण्डमें हैं। अर्थात् इतनी देवताओंका विचार इस काण्डमें हुआ है अब इस काण्डके गणों की व्यवस्था देखिये—

इस काण्डमें सूक्तोंके गण।

१ बृहच्छान्तिगण के १९, २३, २४, ५१, ५७, ५९, ६१, ९३, १०७ ये नौ सूक्त हैं।
२ स्वस्त्ययनगण के ३, ४, ७, १३, ३२, ३७, ४०, ९३ ये आठ सूक्त हैं।
३ तक्मनाशनगण के २०, २६, ४२, ८५, ९१, १२७ ये छः सूक्त हैं।
४ पुष्टिकमंत्रगण के ४, १५, ३३, ७९, १०२ ये पांच सूक्त हैं।
५ अपराजितगण के ६५-६७, ९७ ये चार सूक्त हैं।
६ वर्चस्यगण के ३८, ५८, ६९ ये तीन सूक्त हैं।
७ पवित्रगण के ५१, ६२, ७३ ,, ,,
८ रौद्रगणके ५५, ६१, ९० ,, ,,
९ वास्तुगण के १०, ७३, ये दो सूक्त हैं।
१० चातनगण के ३२, ३४ ,, ,,

११ अंहोलिङ्गगण के ३५, ३६ ये दो सूक्त हैं।
१२ अभयगण के ४०, ५० ,, ,,
१३ इन्द्रमहोत्सवके ८६, ८७ ,, ,,
१४ दुष्वप्ननाशनगणका ४६ यह एक सूक्त है।
१५ सांमनस्यगणका ७३ यह ,, ,,

इस प्रकार इन सूक्तों के गण हैं। पाठक यदि इन सूक्तोंका गण सूक्तोंके साथ साथ मिलकर विचार करेंगे, तो सूक्तोंका तात्पर्य समझनेमें बडी सुगमता होगी।

इतना विचार ध्यानमें रखकर अब इस काण्डका मनन कीजियेः-

अथर्ववेदका स्वाध्याय।

षष्ठ काण्ड।

अमृतदाता ईश्वर !

[१]

(ऋषिः— अथर्वा । देवता-सविता ।)

दोषो गाय बृहद् गाय द्युमद्धेहि ।
आथर्वण स्तुहि देवं सवितारम् ॥ १ ॥
तमु ष्टुहि यो अन्तः सिन्धौ सूनुः ।
सत्यस्य युवानमद्रोघवाचं सुशेवम् ॥ २ ॥
स घा नो देवः सविता साविषदमृतानि भूरि ।
उभे सुष्टुती सुगातवे ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (आथर्वण) अथर्वाके अनुयायी ! (सवितारं देवं) सविता देवकी (स्तुहि) स्तुति कर । (दोषो गाय) रात्रीके समय गा, (बृहत गाय) बहुत भजन कर, (द्युमत् धेहि) तेजयुक्त की धारणा कर ॥ १ ॥

(यः सिन्धौ अन्तः सत्यस्य सूनुः) जो भवसमुद्रके बीचमें सत्यकी प्रेरणा करनेवाला, तथा (युवानं) युवा, (सुशेवं) उत्तम सुख देनेवाला और (अ-द्रोघ-वाचं) द्रोह हीन वाणीसे युक्त है (तं उ स्तुहि) उसीका गुण-वर्णन कर ॥ २ ॥

(सः घ सविता देवः) वही सर्व प्रेरक देव (उभे सुष्टुती सुगातवे) दोनों प्रकारकी स्तुति करने योग्य उत्तम मार्गोंपरसे हम जांय, इस के लिये

(नः भूरि अमृतानि साविषत्) हमें बहुतसे अमृतमय सुख देता रहता है ॥ ३ ॥

भावार्थ— हे योगमार्ग में प्रवृत्त मनुष्य ! तूं सर्वप्रेरक एक ईश्वर की उपासना कर । रात्रीके समय उसका गुणगान कर, उसका बहुत भजन कर, और उसके तेजकी मन में धारणा कर ॥ १ ॥

वही एक ईश्वर इस भव समुद्र के बीचमें सत्यकी प्रेरणा करनेवाला है, वह न बाल होता है और न वृद्ध होता है। परंतु सदा तरुण रहता है। वही सब सुखोंको देने वाला है और हिंसारहित वाणीका प्रवर्तक है, उसी का गुणगान कर ॥ २ ॥

वही सबको प्रेरणा देनेवाला एक देव हम दोनों प्रकारके प्रशंसनीय मार्गोंपरसे प्रगति करें, इसलिये हमें अनंत सुख सदा देता रहता है ॥ ३ ॥

एकदेवकी भक्ति ।

इस सूक्तमें एक देव की भक्ति करनेका उत्तम उपदेश है। विशेष विचार न करते हुए इस सूक्तका अर्थ देखनेसे, यह सूक्त सूर्य देवकी उपासना करनेका उपदेश कर रहा है, ऐसा प्रतीत होता है । सूर्य परमात्माका प्रतिनिधि इस सूर्य माला में है, इसलिये उसकी उपासना करनेसे परंपरया परमात्माकी उपासना हो सकती है, इसमें संदेह नहीं है; परंतु यह प्रतीकोपासना साधारण अज्ञ बालबुद्धि जनोंकी मनःस्थिरता के लिये उपयोगी है । वेदमें अग्नि, विद्युत् और सूर्य इनके द्वारा पार्थिव, अन्तरिक्षीय और द्युलोक संबंधी तीन् दृश्य तेजों का दर्शन कराके परमात्मोपासना का ही पाठ दिया होता है; इसी नियमके अनुसार यहां सविता देव के द्वारा सूर्यका दर्शन कराते हुए एक अद्वितीय परमात्मा की ही उपासना कही है इस का उत्तम प्रमाण यह है—

दोषो गाय (मं० १)

' रात्रीके समय उसका गुणगान कर, उसकी भक्ति कर, उसकी उपासना कर. यदि ' दिनमें दिखाई देनेवाले सूर्य की ही उपासना इस सूक्तमें होती, तो ' रात्रीके समय उसके गुण गान कर ' ऐसा कहना अनुचित था, क्योंकि सूर्य की उपासना दिनके समय ही हो सकती है और रात्रीके समय नहीं । इस सूक्तमें तो रात्रीके एकान्त समय में उस सूर्य देवका खूब भजन करो ऐसी आज्ञा है, देखिये—

दोषो गाय, बृहद् गाय। (मं० १)

"रात्रीके समय भजन कर, बहुत भजन कर" इस प्रकार रात्रीके समय भजन करने को ही कहा है। यदि इस सूर्य की ही उपासना इस सूक्त में अभीष्ट होती, तो उसकी उपासना रात्रीका नामनिर्देश करके कैसी कही होती? इस सूक्तमें दिनका नाम तक नहीं है, परंतु रात्रीका स्पष्ट उल्लेख है, इतनाही नहीं परंतु उस रात्रीमें—

द्युमत् धेहि। (मं० १)

" तेजवाले स्वरूप की मनमें धारणा कर।" सूर्य का तेज दिनमें दिखाई देता है, रात्रीके समय नहीं। परंतु यहां तो रात्रीके समय सूर्यके तेजका ध्यान करना लिखा है; इस लिये, जो सूर्य रात्रीके समय उपासनाके लिये प्राप्त हो सकता है, और जिसके तेज की धारणा रात्रीके समय में भी की जा सकती है, उस सूर्यका वर्णन इस सूक्तमें है ऐसा हम कह सकते हैं। अर्थात् सूर्यकाभी जो सूर्य परमात्मा है, जिसके शासन से यह सूर्य यहां प्रकाश रहा है, उस परमात्मरूपी सूर्यकी उपासना इस सूक्त द्वारा कही है। इस के गुण जो उपासनाके समय मनन करने चाहियें, उसका वर्णन निम्न लिखित प्रकार इस सूक्त में हुआ है—

१ बृहत्= वह सबसे बडा है, उससे बडा कोई नहीं है,

२ द्युमत्= वह प्रकाशवाला है,

३ देव=वह सब प्रकारसे दिव्य है, वह दाता प्रकाशक और ऐश्वर्य युक्त है,

४ सविता= वह सबकी उत्पत्ति करनेवाला और सबका ऐश्वर्य बढानेवाला है,

५ सिन्धोः अन्तः= इस संसारसमुद्रके गहरे स्थानमें भी वह विद्यमान है,

६ सत्यस्य सूनुः= सत्यकी प्रेरणा करनेवाला, वह सत्य स्वरूप है,

७ युवा= वह सदा जवान है, वह न कभी बाल था और न कभी बुड्ढा होगा, सदा तरुण जैसा शक्तिशाली है,

८ सुशेवः= उत्तम सुख देनेवाला, किंवा (सु-सेवः) उत्तम प्रकार सेवा करने योग्य,

९ अ-द्रोघ-वाक्= हिंसारहित शब्दोंकी प्रेरणा करनेवाला,

१० अमृतानि भूरि साविषत्= अनंत सुखोंको देता रहता है.

ये दस गुण इस परमात्माके इस सूक्त में कहे हैं, उपासक को इन गुणोंका मनन करना चाहिये। परमात्माके इन गुणोंका मनन करके, इनकी धारणा मनमें करके अपने अन्दर जहांतक हो वहांतक इन गुणों की वृद्धि करनी चाहिये।

सर्वथा इन गुणोंका उत्कर्ष मनुष्यमें न भी हो सके, तो कोई हर्ज नहीं है, जिस अवस्था तक हो सके, उस अवस्थातक उत्कर्ष करना आवश्यक है।

परमात्माके इन गुणोंका मनन करनेसे उसके तेजःस्वरूपका साक्षात्कार सर्वत्र होने लगता है। योगमार्गमें प्रवृत्त होकर प्राणायाम ध्यान धारणा की ओर थोडीसी प्रवृत्ति होनेसे ही प्रकाशदर्शन होने लगता है। इस प्रकाशदर्शनका नित्य स्मरण करनेसे और इसीको ध्यानमें स्थिर करनेसे योगसिद्ध उन्नतिका प्रकाशका मार्ग सिद्ध होजाता है। यह तेजका केन्द्र इस संसार महासागरमें सर्वत्र उपस्थित देखना और उसके विना कोई पदार्थ नहीं है, ऐसा मनका निश्चय करना चाहिये। उसका तेज, उसके सत्यनियम और उसकी दया सर्वत्र अनुभव करनेसे उसकी सर्वत्र उपस्थिति जानी जा सकती है।

अहिंसक वाणी।

परमात्मा स्वयं हिंसारहित वाणीका प्रवर्तक है, अतः जो मनुष्य उसके भक्त होना चाहते हैं,वे सदा द्रोहरहित वाणीका प्रयोग करें। " अद्रोघवाक् " अर्थात् जिन शब्दोंमें थोडा भी द्रोह नहीं; थोडी भी हिंसा नहीं, दूसरोंको कष्ट देनेका थोडा भी आशय नहीं, उस प्रकारकी वाणी मनुष्योंको बोलना उचित है। इस शब्द द्वारा ईश्वरभक्तको किस प्रकारका आचरण करना चाहिये यह दर्शाया है। यदि स्वयं परमेश्वर कभी द्रोहमय शब्दोंका प्रयोग नहीं करता, तो उसके भक्तको भी ऐसे ही शब्द प्रयोग करना चाहिये। अर्थात् भगवद्भक्त अपने मनमें हिंसाका भाव न रखे, हिंसाभाव वाणीसे प्रकट न करे, और हिंसाका कोई कर्म न करे। इस प्रकार प्रयत्न करनेसे कोई समय ऐसा आ जाता है, कि जिस समय उपासकके मनमें हिंसाकी लहर उठती ही नहीं। यह अवस्था जब प्राप्त होती है तब उसके सन्मुख हिंसक जन्तु भी हिंसावृत्ती भूल जाते हैं। आत्मोन्नतिके लिये इस प्रकार ' अद्रोह वृत्ती ' की परम आवश्यकता रहती है।

अद्रोह वृत्ती केवल द्रोह निषेधको ही व्यक्त करती है, ऐसा कोई न समझे। द्रोह निषेधकी अपेक्षा ' दूसरोंका सुख बढानेके लिये आत्मसमर्पण ' करनेकी इस वृत्तीमें आवश्यकता है। अहिंसा अद्रोह ये शब्द केवल हिंसा निवृत्ती ही नहीं बताते, प्रत्युत जनताकी सेवा करने द्वारा जो भगवानकी सेवा होती है, उसके करनेकी भी इसमें आवश्यकता है।

सत्य का मार्ग।

अहिंसाके साथ ' सत्य, ' का मार्ग भी इस सूक्तमें बताया है। परमात्माको 'सत्यस्य सूनुः ' कहा है, यहां ' सूनु ' शब्दका अर्थ (सु-प्रसवे) प्रसव करना है। सत्यका

प्रसव करनेका तात्पर्य सत्य मानना, सत्य बोलना और सत्य करना, अर्थात् सत्यरूप बनना है। परमात्मा सत्यका प्रवर्तक है, ऐसा कहनेसे ईश्वर भक्तको उचित है कि वह सत्यनिष्ठ बने। अपनी उन्नतिके लिये सत्यकी अत्यंत आवश्यकता है।

अहिंसा वृत्ति और सत्यनिष्ठा इन दो भावनाओंसे मनुष्यकी उन्नति हो सकती है और परमात्माका साक्षात्कार होता है।

दो मार्ग।

अहिंसा और सत्य ये दो प्रशंसनीय मार्ग हैं, इनसे ही मनुष्यमात्रका इहपरलोकमें कल्याण हो सकता है। इन दो मार्गोंके विषयमें इस सूक्तमें इस प्रकार कहा है।—

उभे सुष्टुती सुगातवे सः भूरि अमृतानि सावियत। (मं० ३)

"दोनों उत्तम प्रशंसनीय मार्गोंपरसे (सु) उत्तम रीतिसे (गातवे) जाने के लिये वह परमात्मा बहुत सुखसाधन हमें देता है।" यही उसकी अपार दया है। इस जगत्में उसने अनंत सुखसाधन निर्माण किये हैं, और मनुष्योंको दिये हैं। इस का उद्देश्य यह है कि मनुष्य उन सुखसाधनों का अवलंबन करके अहिंसा और सत्यके साधनद्वारा अपनी उन्नतिका साधन करे और अन्तमें परमात्माको प्राप्त करे। परमेश्वरकी अपार दया इस प्रकार अनुभव करके उसके उपर दृढ श्रद्धा रखनी योग्य है।

उक्त दो मार्ग ऐहिक अभ्युदयसाधन और पारमार्थिक निःश्रेयससाधन ये भी हो सकते हैं। धर्मके ये दो अंग ही हैं। परमात्माने इस जगत् में जो सुखसाधन निर्माण किये हैं उनको लेकर अभ्युदय और निःश्रेयस साधन करके परमगतिको मनुष्य प्राप्त हो।

अथर्वाका अनुयायी।

इस सूक्तका उपदेश 'आ-थर्वण' के लिये किया है। 'थर्व'का अर्थ कुटिलता, हिंसा, चंचलता आदि। 'अ+थर्व' का अर्थ है 'अकुटिलता, अहिंसा और स्थिरता' जो मनुष्य अकुटिलता और अहिंसा वृत्तीसे चलते हुए मनःस्थैर्य प्राप्त करते हैं अर्थात् योगमार्गका अनुष्ठान करके चित्तवृत्तियोंका निरोध करते हैं, उनको अथर्वा कहते हैं। इस योगमार्गके जो अनुयायी होते हैं, उनको 'आथर्वण' कहते हैं। इन आथर्वणोंकी उन्नति किस प्रकार होती है, इसका वर्णन इस सूक्तमें किया है। इस दृष्टिसे पाठक इस सूक्तका विचार करेंगे, तो उनको आत्मोन्नतिके वेदप्रतिपादित योगमार्गका ज्ञान हो सकता है।

आशा है कि पाठक इस सूक्तसे अहिंसा और सत्यका महत्त्व जानकर उसके अवलंबनसे अपनी उन्नतिका साधन करें और वेदका उपदेश अपने दैनिक आचरणमें लाकर इहपरलोकमें परम उन्नति प्राप्त करें।

विजयी इन्द्र।

[२]

(ऋषिः-अथर्वा। देवता-सोमः, वनस्पतिः।)

इन्द्राय सोममृत्विजः सुनोता च धावत।
स्तोतुर्यो वचः शृणवद्धवं च मे ॥ १ ॥
आ यं विशन्तीन्दवो वयो न वृक्षमन्धसः।
विरप्शिन् वि मृधो जहि रक्षस्विनीः ॥ २ ॥
सुनोता सोमपाव्ने सोममिन्द्राय वज्रिणे।
युवा जेतेशानः स पुरुष्टुतः ॥ ३ ॥

अर्थ-हे (ऋत्विजः) ऋतुओंके अनुकूल यज्ञ करनेवालो! (इन्द्राय सोमं सुनोत) इन्द्र के लिये सोमरस निचोडो, (च आ धावत) और उसको अच्छी प्रकार शोधो। (यः स्तोतुः मे वचः) जो स्तुति करनेवाले मेरी स्तुति और (हवं च) मेरी प्रार्थना (शृणवत्) सुने ॥ १ ॥

(यं अन्धसः इन्दवः) जिसके प्रति अन्नरसके अंश (आविशन्ति) पंहुच जाते हैं (वृक्षं वयः न) वृक्षके प्रति जैसे पक्षी जाते हैं। हे (विरप्शिन्) विज्ञानयुक्त वीर! (रक्षस्विनीः मृधः वि जहि) आसुरी वृत्तीके शत्रुओंको नाश कर ॥ २ ॥

(सोमपाव्ने वज्रिणे इन्द्राय) सोमपान करनेवाले शस्त्रधारी इन्द्रकेलिये (सोमं सुनोत) सोमका रस निचोडो। (सः पुरुष्टुतः जेता युवा ईशानः) वह प्रशंसनीय विजयी युवा ईश है ॥ ३ ॥

भावार्थ— हे याजको! इन्द्र देवके लिये सोमरस निचोडो और उस रसको छानकर पवित्र बनाओ। वह प्रभु ऐसा है कि जो हमारी प्रार्थना सुनता है और हमारे मनोरथ पूर्ण करता है ॥ १ ॥

उसी प्रभुके प्रति यह सोमयज्ञ पंहुचता है। हे वीर! आसुरी भाववाले शत्रुओंको परास्त कर ॥ २ ॥

सोमपान करनेवाले वज्रधारी इन्द्रके लिये सोमरस तैयार करो। वही इन्द्र प्रशंसनीय विजयी युवा वीर है और वही सबका प्रभु है ॥ ३ ॥

इन्द्रके लिये सोमरस।

सोमरस निकालकर उसको छानकर पवित्र करके उसका प्रभुके लिये समर्पण करना चाहिये और अवशिष्ट रहे हुए रसका स्वयं सेवन करना चाहिये। यह सोमरस बडा बलवर्धक, पौष्टिक, आरोग्यवर्धक, उत्साहवर्धक और तेजस्विता बढानेवाला है! ईश्वर को भक्तिपूर्वक समर्पण करनेके बाद अवशेष भक्षण करनेका महत्व इस सूक्तमें है।

तृतीय मंत्रमें " ईशान " शब्द है जो इन्द्र शब्दका विशेषण होनेसे यहांका वर्णन परमात्मपरक होनेका निश्चय कराता है। 'युवा, जेता, इन्द्र' आदि शब्दभी उसी प्रभु-के वाचक प्रसिद्ध हैं।

रक्षाकी प्रार्थना।

[३]

(ऋषिः— अथर्वा । देवता—नानादेवताः)

पातं न इन्द्रापूषणादितिः पान्तु मरुतः ।
अपां नपात् सिन्धवः सप्त पातन पातु नो विष्णुरुत द्यौः ॥ १ ॥
पातां नो द्यावापृथिवी अभिष्टये पातु ग्रावा पातु सोमो नो अंहसः ।
पातु नो देवी सुभगा सरस्वती पात्वग्निः शिवा ये अस्य पायवः ॥२॥
पातां नो देवाश्विना शुभस्पती उषासानक्तोत न उरुष्यताम् ।
अपां नपादभिह्रुती गयस्य चिद् देव त्वष्टर्वर्धय सर्वतातये ॥ ३ ॥

अर्थ— (इन्द्रापूषणौ नः पातं) इन्द्र और पूषा ये दो देव हमारी रक्षा करें, (अदितिः मरुतः पान्तु) अदिति और मरुत् देव हमारी रक्षा करें। (अपां नपात, सप्त सिन्धवः पातन) मेघोंको न गिरानेवाला पर्जन्यदेव और सातों समुद्र हमारी रक्षा करें, (विष्णुः उत द्यौः नः पातु) व्यापक देव और द्युलोक हमें बचावे ॥ १ ॥

(द्यावापृथिवी अभिष्टये नः पातां) द्युलोक और पृथिवी लोक अभीष्ट

अवस्था प्राप्त होनेके लिये हमारी रक्षा करें। (ग्रावा सोमः नः अंहसः पातु) पत्थर और सोम औषधि हमें पापसे बचावें,(सुभगा सरस्वती देवी नः पातु) उत्तम ऐश्वर्यवाली विद्यादेवी हमारी रक्षा करे। (अग्निः पातु) अग्नि हमारी रक्षा करे और (ये अस्य पायवः) जो इसके रक्षक गुण हैं, वे भी हमारी रक्षा करें ॥ २ ॥

(शुभस्पती अश्विनौ देवौ नः पातां) उत्तम पालक अश्विनीदेव हमारी रक्षा करें। (उत उषासानक्ता नः उरुष्यतां) तथा उषा और रात्री हमारी रक्षा करें। (अपां नपात् त्वष्टः देव) हे जलोंको न गिरानेवाले त्वष्टा देव ! (गयस्य अभिन्हुती चित्) घरकी दुरवस्थासे भी दूर करके (सर्वतातये वर्धय) सब प्रकारके विस्तारके लिये हमारी वृद्धि कर ॥ ३ ॥

देवोंद्वारा हमारी रक्षा।

इस सूक्तमें कई देवोंके नामोंका उल्लेख करके उनसे हमारी रक्षा होनेकी प्रार्थना की है। इसमें पृथ्वीस्थानीय देव ये हैं—

१ पृथिवी= भूमि जिसपर सब मानव जाती रहती है,
२ सप्त सिन्धवः= सात समुद्र, जिनमें जल भरा पडा है,
३ अग्निः, अस्य पायवःच= अग्नि और उसकी सब रक्षक शक्तियां,
४ सोमः= सोम आदि सब वनस्पतियां और औषधियां,
५ ग्रावा= पत्थर तथा अन्यान्य खनिज पदार्थ

ये पांच देव पृथिवी स्थानीय हैं, ये अपनी शक्तियोंसे हमारी रक्षा करें। इनके अन्दर विविध शक्तियां हैं,इसलिये उन शक्तियोंसे मनुष्यका सुख बढे ऐसा उपाय अवलंबन करना चाहिये। उदाहरण के लिये अग्निका उपयोग पाक करने आदि कार्योंमें करनेसे लाभ और गृहादिके जलानेमें करनेसे हानि होती है। इसी प्रकार अन्यान्य देवताओंके विषयमें जानना चाहिये। अब अन्तरिक्षस्थानीय देवोंके विषयमें देखिये—

६ इन्द्र= जो पर्जन्य देता है, विद्युत् का संचार करता है,
७ मरुतः= सब प्रकारके वायु, जो प्राणादि रूपसे सबकी रक्षा करते हैं,
८ अपां नपात= जलोंको मेघोंमें धारण करनेवाला देव,
९ त्वष्टा= जो तोडने मोडने का कार्य करता है और जो रूपोंको बनाता है,

ये देवभी विविध शक्तियोंके द्वारा मनुष्योंकी रक्षा करते हैं। इसलिये इनकी शक्तियोंसे मनुष्य का लाभ हो और कदापि हानि न हो ऐसा प्रबंध करना चाहिये। अब द्युस्थानीय देवताओंका विचार देखिये--

१० द्यौः= द्युलोक जहां सब तेजधारी सूर्यादि गोलक रहते हैं,

११ पूषा= सूर्य जो अपने किरणोंसे सबको पुष्ट करता है।

ये देव द्युलोक में रहते हुए मनुष्यकी रक्षा कर रहे हैं; इसी प्रकार अन्य देवोंके विषयमें देखिये—

१२ अश्विनौ= श्वास और उच्छ्वास, प्राण और अपान, तारक (जर्भरी), मारक (तुर्फरी) शक्ति, यह प्राण शक्ति है।

१३ उषासानक्ता = उषा और रात्री, यह काल है।

१४ सरस्वती= विद्या देवी, ज्ञानदेवता, शास्त्रविद्या, सभ्यता,

१५ अदितिः= अखंडित मूल शक्ति, और

१६ विष्णुः = सर्वव्यापक ईश्वर।

ये सब देव और देवताएं मनुष्यकी रक्षा करें। मनुष्यको चाहिये कि वह इनसे ऐसा व्यवहार करे, की जिससे इनकी शक्ति इसकी सहायक बने और कभी विरोधक न बने।

इनमें सब शक्ति एक अद्वितीय सर्वव्यापक देवसे आती है, तथापि मनुष्य का इन के साथ अलग अलग संबंध आता है, और इनसे मनुष्यके विविध कार्यसिद्ध भी होते हैं और इनका विरोध होनेसे मनुष्यकी बडी हानि भी होती है, इसलिये इनकी सहाय्यताकी याचना यहां की है।

दो उद्देश्य।

मानवी उन्नति के दो उद्देश हैं। (१) गयस्य अभिह्रुती = घरकी कुटिलता, हानि आदि दूर करना, और (२) सर्वतातये वर्धय = सब प्रकारका विस्तार होने के लिये बढना। उक्त देवताओंकी शक्तियों से ये दो उद्देश्य सिद्ध हों, ऐसा व्यवहार करना चाहिये। पूर्वोक्त देव अपने शरीरमें अंश रूपसे हैं, उनकी शक्तियोंकी उन्नति करके भी मनुष्यका बडा लाभ हो सकता है। इस सूक्तका विचार करनेसे इस ढंगसे बहुत लाभ हो सकता है।

अगला सूक्त भी इसी विषयका है, वह अब देखिये—

[४]

(ऋषिः—अथर्वा । देवता–नानादेवताः)

त्वष्टा॑ मे॒ दैव्यं॒ वचः॑ प॒र्जन्यो॒ ब्रह्म॑ण॒स्पतिः॑ ।
पु॒त्रैर्भ्रातृ॑भि॒रदि॑ति॒र्नु पा॑तु नो दु॒ष्टरं॒ त्राय॑माणं॒ सहः॑ ॥ १ ॥
अं॒शो भगो॒ वरु॑णो मि॒त्रो अ॑र्य॒मादि॑तिः पान्तु॑ म॒रुतः॑ ।
अप॒ तस्य॒ द्वेषो॑ गमेदभि॒ह्रुतो॑ यावय॒च्छत्रु॒मन्ति॑तम् ॥ २ ॥
धि॒ये समश्वि॑ना॒ प्राव॑तं न उ॒रुष्या॑ ण उरुज्म॒न्नप्र॑युच्छन् ।
द्यौ॑३ष्पित॑र्या॒वय॑ दु॒च्छुना॒ या ॥ ३ ॥

अर्थ--(त्वष्टा) सबका निर्माण करनेवाला, पर्जन्य, ब्रह्मणस्पति और (पुत्रैः भ्रातृभिः अदितिः) पुत्र और भाइयोंके साथ अदिती देवी (मे दैव्यं वचः) मेरे देवोंके संबंधके वचनको सुनें, और (नः दुष्टरं त्रायमाणं सहः पातु) हमसबके अजेय और पालना करनेवाले बल की रक्षा करें॥१॥

अंश, भग, वरुण, मित्र, अर्यमा, अदिति और मरुत देव ये सब देव मेरी (पान्तु) रक्षा करें। (तस्य अभिन्हुतः द्वेषः अपगमेत) उस शत्रुका कुटिल द्वेष दूर होवे। (अन्तितं शत्रुं यावयत) ये सब पास आये शत्रु को दूर भगा दें॥ २॥

हे (अश्विनौ) अश्विदेवो ! (धिये नः सं प्रावतं) बुद्धिके लिये हमारी उत्तम रक्षा करो। हे (उरु-ज्मन्) विशेष गतिवाले ! (अप्रयुच्छन्) भूल न करता हुआ तूं (नः उरुष्य) हम सबकी रक्षा कर। हे (द्यौः पितः) द्युलोक के पालक ! (या दुच्छुना) यावय) जो दुर्गति है, उसको दूर कर॥ ३॥

इस सूक्तमें पूर्व सूक्तोंमें कहे जो देवोंके नाम आगये हैं वे ये हैं- "त्वष्टा, अदिति, मरुतः"। जो देवोंके नाम पूर्व सूक्तमें नहीं आये वे ये हैं— " पर्जन्य, ब्रह्मणस्पति, अंश, भग, वरुण, मित्र, अर्यमा, द्यौष्पिता।" पूर्वके अनुसंधानसे ही इस सूक्तका अर्थ देखना चाहिये।

१ पर्जन्यः = मेघ, जलदेनेवाला देव,
२ ब्रह्मणस्पतिः = ज्ञानका स्वामी, ज्ञान देनेवाला,
३ अंशः = प्रकाश देनेवाला,

४ भगः = भाग्यवान्, भाग्य देनेवाला,

५ वरुणः = वरिष्ठ देव, सबसे श्रेष्ठ देव,

६ मित्रः = सबका हितकारी,

७ अर्य-मा = श्रेष्ठ कौन है इनका निश्चय करनेवाला,

८ द्यौष्पिता = द्युलोक का पालक देव।

९ पुत्रैः भ्रातृभिः सह अदितिः = लडकों और भाइयोंके समेत अदिति देवी। अखंडित मूल शक्तिका नाम अदिति देवी है, इससे सूर्यादि तेजके गोलक उत्पन्न होते हैं इस लिये ये इसके पुत्र हैं। तथा उसके समान जो हैं वे उसके भाई हैं। अर्थात् मूल प्रकृति अथवा मूल शक्ति और उससे उत्पन्न हुए सब पदार्थ इस मंत्र भागसे लेने योग्य हैं।

यह सब दैवी शक्तियोंका समूह हम सबकी रक्षा करे।

रक्षा का कार्य।

रक्षा करनेका क्या तात्पर्य है यह इस सूक्तमें बताया है, इसलिये इसके सूचक वाक्य देखिये। रक्षाके लिये अपनी बुद्धि उत्तम रहनी चाहिये। यह दर्शानेके लिये कहा है—

१ धिये नः सं प्र अवतं-' उत्तम बुद्धिके विस्तार होनेके लिये हम सबकी उत्तम प्रकार विशेष रक्षा करो।' मनुष्यको बुद्धिकी ही विशेष आवश्यकता है। मनुष्यकी रक्षा भी इसीलिये होनी चाहिये कि उसकी बुद्धि विशेष शुद्ध, पवित्र, निर्दोष और कुशाग्र हो और कभी हीन न हो। (मं० ३)

२ मे दैव्यं वचः- मेरा भाषण दिव्य हो, अर्थात् उसमें देवके गुणोंका वर्णन हो, शुद्ध भाव हो, और कभी हीन भाव न हो। वाणीकी इस प्रकार शुद्धी होनेसे ही ऊपर कही बुद्धिकी उन्नति हो सकती है। इस सूक्तमें एक वाणीका उल्लेख करके सब अन्य इंद्रियोंकी प्रवृत्ति शुद्ध करनेका उपदेश सूचित किया है। जिस नियमसे वाणीकी शुद्धि होती है, उसी नियमसे नेत्र कर्ण आदि अन्यान्य इंद्रियोंकी भी शुद्धी होती है। इंद्रियों-को शुभ कर्ममें सदा निमग्न रखनेसे ही सब इंद्रिय शुद्ध हो सकते हैं। यह नियम सब इंद्रियोंके विषयमें समानही है। अपने इंद्रियोंमें " दिव्य भाव " स्थिर करना चाहिये, यह इस विवरणका तात्पर्य है। इस प्रकार सब इंद्रियां शुद्ध होनेसे बुद्धि भी इसी कारण से शुद्ध होती है और विकसित होती है। (मं० १)

३ द्वेषः अपगमेत् = द्वेषभाव, निंदा करनेका स्वभाव, शत्रुत्व करनेका आशय अन्तःकरणसे दूर हो जावे। यह पवित्र बननेका मार्ग है। द्वेषभाव मनसे पूर्णतया हटा, तो मन शुद्ध हुआ। (मं०२)

४ दुच्छुना यावय = सब दुर्गतिको दूर कर। अपने इंद्रिय हीन कर्मोंमें प्रवृत्त रहनेसेही सब प्रकार की दुर्गति प्राप्त होती है। इस लिये पूर्वोक्तप्रकार आत्मशुद्धि होगयी तो दुर्गति अपने पास कदापि रहेगी ही नहीं। (मं० ३)

५ शत्रुं यावय = शत्रुको दूर भगा दे। अपने अंदर कामक्रोधादि शत्रु हैं, समाजमें कामी क्रोधी ये शत्रु हैं और राष्ट्रके भी शत्रु होते हैं। इन सब शत्रुओंको दूर करना चाहिये। पूर्वोक्तप्रकार आत्मशुद्धि करनेसे सब आंतरिक शत्रु दूर होते हैं, सामाजिक और अन्य शत्रु दूर करनेका उपाय भी वहांकी शुद्धता करनाही है। इस कार्यके लिये अपने अंदर बल चाहिये, उसका उपदेश इस प्रकार किया है–

६ नः दुष्टरं त्रायमाणं सहः = हमारे अन्दर शत्रुद्वारा पार करनेके लिये कठिण और जिससे अपनी रक्षा होती है इस प्रकारका बल हमारा हो। बलके दो लक्षण यहां कहे हैं, वह बल ऐसा चाहिये कि जिसका (दुः+तरं) उल्लंघन शत्रु न कर सके। जब शत्रु आक्रमण करे उस समय वह पूर्ण रीतिसे परास्त हो, ऐसा अपना बल रहना चाहिये। इसी प्रकार उस बलसे हरएक कठिन प्रसंगमें हमारी रक्षा होवे, ऐसा हमारा बल हमेशा रहना चाहिये। इस प्रकारका बल बढ जानेसे स्वयमेव सब शत्रु दूर होंगे।

इस प्रकार का बल बढाना ब्रह्मणस्पतिका कार्य है। ब्रह्मणस्पति यह ज्ञान और विज्ञान का देव है और वह अपने ज्ञानके दानसे पूर्वोक्त बल मनुष्योंमें बढाता है। इसीलिये उसकी उपासना और स्तुति प्रार्थना मनुष्यों को करनी चाहिये। उपासना के समय इस प्रकार का मनन करनेसे और श्रद्धाभक्तियुक्त अन्तःकरणसे उपासना करनेसे ये सब फल प्राप्त होते हैं।

यज्ञसे उन्नति

[५]

(ऋषिः–अथर्वा। देवता–इन्द्राग्नी)

उदेनमुत्तरं नयाग्ने घृतेनाहुत।
समेनं वर्चसा सृज प्रजया च बहुं कृधि॥ १॥
इन्द्रेमं प्रतरं कृधि सजातानामसद् वशी।
रायस्पोषेण सं सृज जीवातवे जरसे नय॥ २॥

यस्यं कृण्मो हविर्गृहे तमंग्ने वर्धया त्वम् ।
तस्मै सोमो अधि ब्रवद्यं च ब्रह्मणस्पतिः ॥ ३ ॥

अर्थ-हे (घृतेन आहुत अग्ने) घीसे आहुती पाये हुए अग्नि ! (एनं उत्तरं उन्नय) इस मनुष्यको अधिक ऊंचा उठा। (एनं वर्चसा संसृज) इसको तेजसे संयुक्त कर। (च प्रजया बहुं कृधि) और प्रजासे समृद्ध कर ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! (इमं प्रतरं कृधि) इस मनुष्यको ऊंचा कर। यह (सजातानां वशी असत्) यह मनुष्य स्वजातिके पुरुषोंके बीच सबको वशमें करनेवाला होवे। (रायस्पोषेण संसृज) इसको धन और पुष्टी उत्तम प्रकार प्राप्त हो और (जीवातवे जरसे नय) दीर्घजीवनके लिये बुढापेतक सुख पूर्वक लेजा ॥ २ ॥

हे अग्ने ! (यस्य गृहे हविः कृण्मः) जिसके घरमें हम हवन करते हैं, (त्वं तं वर्धय) तू उसको बढा; (सोमः अयं च ब्रह्मणस्पतिः) सोम और यह ब्रह्मणस्पति (तस्मै अधि ब्रवत्) उसको आशीर्वाद देवे ॥ ३ ॥

हवनसे आरोग्य।

जिसके घरमें हवन होता है उसकी वृद्धि होती है, और सब प्रकार की उन्नति होती है। इसके विषयमें देखिये—

१ एनं उत्तरं। = जिसे घरमें हवन होता है वह (उत्+तरः) अधिक उच्च बनता है, पूर्वकी अपेक्षा अधिक उन्नत होता है।

२ वर्चसा सं। = जिसके घरमें हवन होता है वह तेजस्वी होता है।

३ प्रजया बहुः। = जिसके घरमें हवन होता है उसको उत्तम संतानें होती हैं।

४ इमं प्रतरं। = जिसके घरमें हवन होता है, वह अधिक ऊंचा बनता है। हर एक प्रकारसे श्रेष्ठ होता जाता है।

५ सजातानां वशी = स्वजातियोंको अपने आधीन करनेवाला होता है, जो प्रतिदिन हवन करता है।

६ रायस्पोषेण सं = उसका धन बढता है और पुष्टी भी बढती है। वह हृष्ट पुष्ट होता है।

७ जीवातवे जरसे नय = उसको दीर्घ आयु प्राप्त होती है।

अर्थात् जिसके घरमें हवन होता है उसकी हरएक प्रकारसे उन्नति होती है। प्रतिदिन उसको सुख और सौभाग्य प्राप्त होता है ! इसलिये प्रतिदिन हवन करना लाभकारी है। हवनसे आरोग्य, बल, दीर्घआयु प्राप्त होकर, धन यश और अन्य सब प्रकार का अभ्युदय और निश्रेयस भी प्राप्त होता है।

शत्रुका नाश।

[६]

(ऋषिः- अथर्वा। देवता—ब्रह्मणस्पतिः, सोमः)

योऽस्मान् ब्रह्मणस्पतेऽदेवो अभिमन्यते।
सर्वं तं रन्धयासि मे यजमानाय सुन्वते ॥ १ ॥
यो नः सोम सुशंसिनो दुःशंस आदिदेशति।
वज्रेणास्य मुखे जहि स संपिष्टो अपायति ॥ २ ॥
यो नः सोमाभिदासति सनाभिर्यश्च निष्ट्यः।
अप तस्य बलं तिर महीव द्यौर्वधत्मना ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (ब्रह्मणस्पते) ज्ञानपते ! (यः अदेवः अस्मान् अभिमन्यते) जो ईश्वरकी भक्ति न करनेवाला हमें नीचे करनेकी इच्छा करता है, (तं सर्वं) उस सब शत्रुको (सुन्वते यजमानाय मे रन्धयासि) सोमरससे यजन करनेवाले मेरे कारण नाश कर ॥ १ ॥

हे सोम ! (यः दुःशंसः) जो दुराचारी (सुशंसिनः नः आदिदेशति) सदाचार करनेवाले हम सबको आज्ञा करता है अर्थात् हमें आधीन करना चाहता है, (अस्य मुखे वज्रेण जहि) इसके मुखमें वज्रसे आघात कर, जिससे (सः संपिष्टः अप अयति) वह चूर चूर होकर दूर होवे ॥ २ ॥

हे सोम ! (यः सनाभिः) जो स्वजातीय (यः च निष्ट्यः) और जो सबसे नीचे बैठने योग्य नीच मनुष्य (नः अभिदासति) हमें दास बनाना चाहता है, अथवा हमारा घात करता है, (तस्य बलं वधत्मना अप तिर) उसके बलको अपने वधसाधनसे नीचे कर, (मही द्यौः इव) जिस प्रकार बडा द्युलोक अपने प्रकाशसे अंधकारको दूर करता है ॥ ३ ॥

शत्रुका लक्षण।

इस सूक्त में शत्रुके लक्षण निम्नलिखित प्रकार दिये हैं—

१ अदेवः = जो एक अद्वितीय ईश्वर को नहीं मानता, देव की भक्ति नहीं करता जो नास्तिक और सत्य धर्मपर अविश्वास रखता है।

२ अभिमन्यते = जो अभिमान से भरा है, जो घमंडी है।

३ दुःशंसः = जिसके विषयमें सब लोग बुरा कहते हैं, सब लोग जिसकी निंदा करते हैं, अर्थात् जो अकेला सब का अहित करता है।

४ आदिदेशति = जो दूसरोंपर हुकुमत करनेका अभिलाषी है, जो दूसरोंको आज्ञा करना जानता है। जो दूसरों पर जिस किसी रीतिसे अधिकार जमाना चाहता है।

५ अभिदासति = जो दूसरोंको दास बनाना चाहता है, दूसरोंका नाश करता है, दूसरोंको लूटता है।

शत्रुके ये पांच लक्षण हैं। इन लक्षणोंसे बोधित होनेवाले शत्रुको दूर करना चाहिये, फिर वह (सनाभिः) स्वजातीय, अपने कुलमें उत्पन्न हुआ हो, अथवा (निष्ट्यः) निकृष्ट जातीका अथवा किसी हीन कुलमें उत्पन्न अथवा आचारहीन हो, या कैसा भी हो, उसको दूर करना चाहिये।

अद्रोहका मार्ग।

[७]

(ऋषिः— अथर्वा। देवता–सोमः, ३ विश्वेदेवाः)

येन॑ सो॒माऽदि॑तिः प॒था मि॒त्रा वा॒ यन्त्य॒द्रुहः॑।
तेना॑ नोऽव॒सा ग॑हि ॥ १ ॥
येन॑ सोम साह॒न्त्यासु॑रान् र॒न्धया॑सि नः।
तेना॑ नो॒ अधि॑ वोचत ॥ २ ॥
येन॑ दे॒वा असु॑राणा॒मोजां॒स्यवृ॑णीध्वम्।
तेना॑ नः॒ शर्म॑ यच्छत ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (सोम) शान्तदेव! (येन पथा अदितिः) जिस मार्ग

पृथिवी) वा मित्राः अद्रुहः यन्ति) अथवा सूर्य आदि देव परस्पर द्रोह न करते हुए चलते हैं, (तेन अवसा नः आगहि) उसी मार्गसे अपनी रक्षाके साथ हमें प्राप्त हो ॥ १ ॥

हे (साहन्त्य सोम) विजयी शक्तिसे युक्त सोम ! (येन असुरान् नः रन्धयासि) जिससे असुरोंको हमारे लिये तू नष्ट करता है, (तेन नः अधि वोचत) उस शक्तिके साथ हमें आशीर्वाद दे ॥ २ ॥

हे (देवाः) देवो ! तुम (येन असुराणां ओजांसि अवृणीध्वं) जिससे असुरोंके बलोंको निवारण करते हैं, (तेन नः शर्म यच्छत) उस बलसे हमें सुख दो ॥ ३ ॥

प्रार्थना !

अद्रोहका विचार।

हे शान्त और सुख दायक ईश्वर! जिस तेरे सुनियम के कारण सूर्य चन्द्रादि सब विविधलोक लोकान्तर एक दूसरे के साथ न टकराते हुए अपने मार्ग से भ्रमण करके कार्य कर रहे हैं, वह बल हमें दे। इस बलसे युक्त, उस विचारसे युक्त होते हुए हम एक दूसरे के साथ, आपसमें विरोध और लडाई न करते हुए, और अपना संघबल बढाते हुए हम अपनी उत्तम रक्षा कर सकेंगे। इस लिये " अद्रोहका विचार " हमारे में स्थिर हो जावे।

बलकी वृद्धि।

हे ईश्वर! जिस बलसे तू असुरों राक्षसों और दस्युओंको नष्ट करते हो; उस बलका दान करनेका आशीर्वाद हमें दो। अर्थात् वह बल हमें प्राप्त हो और इस बलके प्राप्त होनेसे हम पूर्वोक्त शत्रुओंको दूर कर सकेंगे।

हे ईश्वर! जिस बलसे शत्रुओंके बलोंको रोका जाता है, वह बल हमें प्राप्त हो, और उसके द्वारा हमें सुख प्राप्त हो।

तीन उपदेश।

इस सूक्त में " (१) आपसमें अद्रोह का व्यवहार करना, (२) अपना बल बढाना, (३) और शत्रुओंके बलोंको रोकना अथवा अपना बल उन से अधिक प्रभावशाली, करना " ये तीन उपदेश हैं। इससे निःसन्देह सुख प्राप्त

हो सकता है । इस सूक्तमें इन बलोंकी प्रार्थना ईश्वरसे की है, इस कारण यह उत्तम प्रार्थनासूक्त है । इस में बलवाचक दो शब्द हैं, "सहः और ओजः" । इनमें 'सहः' शब्द मानसिक और आत्मिक बलका बोधक और " ओजः " शब्द शारीरिक अथवा पाशवी बल का वाचक है । अर्थात् अपना सब प्रकार का बल बढे, यह इस प्रार्थना का भाव है ।

दम्पतीका परस्पर प्रेम ।

[८]

(ऋषिः—जमदग्निः । देवता-कामात्मा)

यथा वृक्षं लिबुजा समन्तं परिषस्वजे ।
एवा परि ष्वजस्व मां यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥ १ ॥
यथा सुपर्णः प्रपतन् पक्षौ निहन्ति भूम्याम् ।
एवा नि हन्मि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥ २ ॥
यथेमे द्यावापृथिवी सद्यः पर्येति सूर्यः ।
एवा पर्येमि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥ ३ ॥

अर्थ—(यथा लिबुजा वृक्षं समन्तं परिषस्वजे) जिस प्रकार बेल वृक्षको सब ओरसे लिपट जाती है, (एव मां परिष्वजस्व) इसप्रकार तू मुझे आलिंगन दे. (यथा मां कामिनी असः) जिससे तू मेरी कामना करनेवाली हो और (यथा मत् अपगा न असः) जिससे तू मुझसे दूर जानेवाली न हो ॥ १ ॥

(यथा प्रपतन् सुपर्णः) जैसे उडनेवाला पक्षी (भूम्यां पक्षौ निहन्ति) भूमीकी ओर अपने दोनों पंखोंको दबाता है, (एव ते मनः निहन्मि) इस प्रकार तेरा मन मेरे अंदर खींचता हूं, (यथा०) जिससे तू मेरी इच्छा करनेवाली और मुझसे दूर जानेवाली न हो ॥ २ ॥

(यथा इमे द्यावापृथिवी) जिस प्रकार इस द्युलोक और पृथ्वीलोकके बीच (सूर्यः सद्यः पर्येति) सूर्यका प्रकाश तत्काल फैलता है,(एव ते मनः पर्येमि) इसी प्रकार तेरे मनको मैं व्यापता हूं (यथा०) जिससे तू मेरी कामना करनेवाली और मुझसे दूर जानेवाली न हो ॥ ३ ॥

[९]

वाञ्छं मे तन्वं१पादौ वाञ्छाक्ष्यौ३ वाञ्छं सक्थ्यौ।
अक्ष्यौ वृषण्यन्त्याः केशा मां ते कामेन शुष्यन्तु ॥ १ ॥
मम त्वा दोषणिश्रिषं कृणोमि हृदयश्रिषम्।
यथा मम क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ २ ॥
यासां नाभिरारेहणं हृदि संवननं कृतम्।
गावो घृतस्य मातरोऽमूं सं वानयन्तु मे ॥ ३ ॥

अर्थ— (मे तन्वं पादौ वाञ्छ) मेरे शरीरकी और दोनों पैरोंकी इच्छा कर, (अक्ष्यौ वाञ्छ) मेरे दोनों आंखों की इच्छा कर, (सक्थ्यौ वाञ्छ) दोनों जंघाओंकी इच्छा कर। (वृषण्यन्त्याः ते अक्ष्यौ केशाः) बल की इच्छा करती हुयी तेरी आंखें और बाल (कामेन मां शुष्यन्तु) कामसे मुझे सुखावें ॥ १ ॥

(त्वा मम दोषणिश्रिषं) तुझे मेरी भुजाओंमें आश्रित और (हृदयश्रिषं कृणोमि) हृदयमें आश्रय करनेवाली करता हूं। (यथा मम क्रतौ असः) जिससे तू मेरे कार्यमें दक्ष हो और (मम चित्तं उपायसि) मेरे चित्तके अनुसार चल ॥ २ ॥

(यासां) जिनसे (नाभिः) मिलना (आरेहणं) आनन्ददायक है, जिनके (हृदि संवननं कृतं) हृदयमें प्रेमकी सेवा है, (घृतस्य मातरः गावः) घी को निर्माण करनेवाली यह गौवें, (अमुं मे संवानयन्तु) इस स्त्री को मेरे साथ मिला देवें ॥ ३ ॥

स्त्री और पुरुष का प्रेम !

गृहस्थधर्ममें रहनेवाले स्त्री और पुरुष परस्पर प्रेम करें और सुखसे गृहस्थाश्रमका व्यवहार करें, यह उपदेश इन दोनों सूक्तोंमें कहा है।

अष्टम सूक्तमें कहा है कि स्त्री पुरुष गृहस्थाश्रममें परस्पर मिलकर रहें, एक दूसरेपर प्रेम करें और उनमें से कोई भी एक दूसरेसे दूर होनेका यत्न न करे। पुरुष यत्न करके अपनी स्त्रीका मन अपनी ओर आकर्षित करे और उसको अपने पास संतुष्ट रखे, जिससे वह वारंवार पतिगृहसे दूसरी ओर भाग न जावे। जिस प्रकार सूर्य इस जगत् में अपने प्रकाशसे फैला रहता है, इसी प्रकार पति भी ऐसा आचरण करे कि जिससे स्त्रीके मन-